हिन्दी एवं मराठी के वैष्णव साहित्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

[विक्रम संवत् १४०० से १७०० तक]

(सागर विश्वविद्यालय की पी-एच डी उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

डॉ. नरहरि चिन्तामणि जोगलेकर

हिन्दी विभाग :
पूना विश्वविद्यालय, पूना-७

जवाहर पुस्तकालय, मथुरा.

प्रकाशक :
कुंजबिहारीलाल पचौरी, एम० कॉम
जवाहर पुस्तकालय,
सदकुन्डा बाजार, मथुरा।

*

लेखक :
डॉ० नरहरि चिन्तामणि जोगलेकर, पी-एच डी

*

*

मूल्य :
तीस रुपया

*

मुद्रक :
ओमप्रकाश अग्रवाल
अजन्ता फाइन आर्ट प्रिन्टर्स,
हनुमान गली, मथुरा.

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर्य स्वर्गीय

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी को

सादर समर्पित

आशीर्वचन

प्रिय शिष्य श्रीमान् डॉ० न० चि० जोगलेकर जी ! आपके प्रबन्ध प्रकाशित होने के सुअवसर पर मेरे आशीष वचनों की जो अभ्यर्थना आपने की है वे आशीर्वाद ग्रन्थ प्रकाशन के पूर्व ही आप प्राप्त कर चुके हैं। केवल भगवान् श्री गणेशजी की असीम कृपा से ही आज कई मोरचों से गुजरा हुआ आपका प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है। यह निश्चित रूप से प्रकाशमान है और होगा। हिन्दी जगत में उसका उचित स्वागत हो ऐसी मैं भगवान् श्री गणेश जी से प्रार्थना करता हूँ।

विद्वद्रत्न डॉ० पारनेरकर
पी-एच डी.,
१७५, तिलक पथ, इन्दौर (म प्र)

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा सं० २०२५,
दिनाङ्क ५-१०-६८ ई०

प्राक्कथन

भारतवर्ष बहुभाषा-भाषी और विविध संस्कृतियों का देश है। इसके अन्तर्गत बोली जाने वाली भाषाओं का अपना साहित्य है जिसके अन्तर्गत विविध संस्कृतियों और विचारधाराओं का प्रवाह मिलता है। हम अपनी मातृभाषा के साहित्य से अवगत होने के अनन्तर इन्हीं भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन कर सकते हैं और इस प्रकार अपना ज्ञानवर्धन कर सकते हैं। इस अनुशीलन के परिणामस्वरूप जिन निष्कर्षों की उपलब्धि हमें होती है, वे अयत महत्त्वपूर्ण हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हमने दो भाषाओं के माध्यम से प्राय एक ही विचारधारा या संस्कृति को दो दृष्टिकोणों से समझा है और कभी-कभी यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न भाषाओं के आवरण पहने वास्तव में यह एक ही संस्कृति अथवा मानव जीवन की सौन्दर्यप्रतिमा है जो वेशभूषा की भिन्नता के कारण ही भिन्न जान पड़ती है, पर वास्तव में भिन्न नहीं है। अत भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन का अपना निजी और विशिष्ट महत्व है।

इस तुलनात्मक अनुशीलन के विविध रूप हो सकते हैं। भाषाशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय सांस्कृतिक आदि आदि। इन तुलनात्मक अनुशीलनों से हमें यह भी अनुभव होता है कि यदि हम दंभ करते हैं कि हमारी भाषा का साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ है, तो यह दम्भ मिथ्या है। इन अध्ययनों से हमें श्रेष्ठता की गगनचुंबी ऊँचाइयाँ प्राप्त होती हैं और लगता है कि मानवगुणों और बुद्धि-वैभव की कोई सीमा नहीं। इसके साथ ही साथ इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रदेशों की भाषाभूमियों के बीच बहने वाली हमारी वैचारिक एवं भावनात्मक जीवन-सरिता एक है। हमारे देश के वर्तमान सन्दर्भ में यह अनुभूति अपने आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

तुलनात्मक अध्ययनों के माध्यम से हम दो भाषाओं के महापुरुषों एवं विचारक कृतिकारों के सान्निध्य में आते हैं और यह भी अनुभव करते हैं कि समसामयिक अथवा भिन्नसामयिक इन कृतिकारों ने एक दूसरे से भिन्नता प्राप्त की है। साथ ही साथ इस बात का ज्ञान होता है कि देश और समाज को सुधारने, मोड़ने और प्रगत बनाने की कितनी क्षमता इनमें विद्यमान थी।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से भारतीय भाषाओं के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण युग मध्ययुग है। इस मध्ययुग में अपने पूर्ववर्ती, जीवन, ज्ञान और अनुभूति का निचोड़ लेकर विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप विकसित दृष्टिकोण एवं उदार समन्वय भावना को अपनाकर जीवन की एक ऊँची व्याख्या प्रस्तुत की गयी,

जो सार्वभौम और शाश्वत होने के साथ-साथ मनोरम और श्रेयस्कर है। इस दिशा में भारतीय भाषाओं के भक्त कवियों का योगदान बहुमूल्य है।

उपर्युक्त तथ्य को सामने रखकर किये जाने वाले तुलनात्मक अध्ययन अन्य अध्ययनों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अन्य युगों की अपेक्षा इस युग के कवियों ने जीवन को अनन्त गहराई से लेकर उच्चतम ऊँचाईयों तक देखा है। इतना ही नहीं वरन् जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण गम्भीर अनुभवों पर आधारित तथा वैचारिक आत्ममथन का परिणाम है। अतः इनके काव्यों में जीवन के मथन का नवनीत प्राप्त होता है।

उपर्युक्त भाव से प्रेरित होकर डा० नरहरि चिन्तामणि जोगळेकरजी ने हिन्दी एवं मराठी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन सागर विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत अदम्य प्रतिभा-मंडित एवं विवेक-भास्कर स्व० आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयीजी के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। डा० जोगळेकर इस विषय पर अनुशीलन करने के लिए पूर्णतया योग्य व्यक्ति है। इनके सात्विक संस्कार, साधनामय जीवन, गुरु-ज्ञानालोकित दृष्टि एवं अनवरत श्रम-शीलता के परिणाम स्वरूप यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। हिन्दी और मराठी में समान गति रखने वाले तथा निष्ठा और भक्ति से सिक्त होकर जोगळेकरजी ने जो अनुशीलन प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त रोचक एवं उपादेय है। अपने जीवन के उत्तम क्षणों में जहाँ एक ओर इन्होंने ज्ञानेश्वरी की ओवियों से ओतप्रोत होकर कार्य किया है, वहीं दूसरी ओर उनकी सहज भक्ति-भावना तुलसी और सूर के पदों को विभोर करने वाले स्वर में भी निनादित होती रही है। अतः मैं कह सकता हूँ कि इस प्रकार के विषय के लिए डा० जोगळेकर के रूप में एक सर्वथा योग्य व्यक्ति मिला तथा इस कार्य के परिणामस्वरूप उन्हें सागर विश्वविद्यालय ने पी-एच. डी. की उपाधि से विभूषित किया।

आज इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकाशित ग्रन्थ से इस विषय का अवगाहन करने वाले सुधीजनों को तुष्टि प्राप्त होगी। इसके साथ ही मुझे आशा है कि डा० जोगळेकरजी के द्वारा इसी प्रकार के अन्य सांस्कृतिक महत्व वाले ग्रन्थों का प्रणयन होगा।

सागर
अनन्तचतुर्दशी
१९६८

डा० भगीरथ मिश्र
एम. ए., पी एच डी,
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

दो शब्द

मैंने डॉ० न० चि० जोगलेकर का हिन्दी एव मराठी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक शोध-ग्रन्थ पढा। इसमे तत्वान्वेषी लेखक ने वैष्णव धर्म और दर्शन के क्रमिक विकास और उसकी विभिन्न शाखाओ और सम्प्रदायों पर ऐतिहासिक दृष्टि से अच्छा प्रकाश डाला है क्योकि इसी पृष्ठभूमि पर भारतीय वैष्णव साहित्य की विवेचना सम्भव हो सकती थी। ग्रन्थ दश अध्यायो मे विभक्त है।

ग्रियर्सन और उनके सहचिन्तको की यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि भारतीय भक्ति-साहित्य पर ईसाई मत का प्रभाव है। लेखक ने इस भ्रांति का सप्रमाण खडन किया है। हिन्दी-मराठी वैष्णव साहित्य पर किसी भी अभारतीय मत का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। उनका विकास भारतीय चिन्तन का ही सुपरिणाम है। लेखक ने हिन्दी और मराठी मे वैष्णव-साहित्य के साहित्यिक और आध्यात्मिक पक्ष की विद्वत्तापूर्ण विवेचना की है। विभिन्न भारतीय भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य बहुत अच्छी तरह से उभर कर सामने आता है कि भारतीय चिन्तन-धारा मे कहीं विरोध नहीं है। भारत भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से भले ही खण्डित रहा हो पर सास्कृतिक स्तर पर वह अखण्डित रहा है। उसमे भारतीय आचार-विचार की समता (Unity in Diversity) (विभिन्नता मे एकता) का अच्छा उदाहरण है। राम, कृष्ण और विठ्ठल के प्रति श्रद्धा समन्वित भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति दोनो भाषाओ के साहित्य मे विद्यमान है। इन दोनो पात्रो के ऐतिहासिक अस्तित्व मे भले ही कुछ बुद्धजीवियो को सदेह हो पर वे भारतीय जन-जीवन मे नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणा के सतत स्रोत रहे हैं, इसमे तनिक भी सदेह नही। उन्होने नैराश्य-अंधकारग्रस्त जन-मन को सदा आशा की ज्योति से उल्लसित किया है। भारतीय भाषाओ के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन राष्ट्रीय एकता मे सहायक ही सिद्ध होगा। इस दिशा मे किए गए इस महत्व-पूर्ण और विदग्धभावपूर्ण कार्य का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। इस शोध-ग्रन्थ का साहित्य मे उचित सम्मान होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

विनयमोहन शर्मा
अध्यक्ष तथा प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
(हरियाना प्रदेश)

दिनाङ्क १६-६-६८

भूमिका

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन की उन्मेषकारिणी काव्य-गङ्गा ने भारतीय जन-जीवन और जन-भाषाओं के साहित्य को आप्लावित कर वैष्णव भक्ति साहित्य सर्जना में भावनात्मक एकता के सांस्कृतिक अन्तःस्पर्शी तथ्यों को जीवनाभिमुख बनाकर अभिव्यक्ति करने की दिव्य प्रेरणा प्रदान की है। एक विशाल महाद्वीप-वत् इस भारत देश में निहित सार्वभौम मानवतावाद वैष्णव साहित्य में पूर्ण रूप से गौरवान्वित और प्रतिष्ठित हो उठा है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि इस आस्था पूर्ण भक्ति आन्दोलन में पूर्णरूपेण अनुप्राणित हो उठे हैं। अपनी-अपनी प्रादेशिक मर्यादाओं के रहते हुए भी वैष्णव साहित्य ने उच्चकोटि का प्रेम और सहानुभूति सारी मानवता को प्रदान करने में कोई कसर बाकी नहीं उठा रखी। सदाचार और नीति पक्ष के मानवी सांस्कृतिक मूल्यों के ठोस आधार पर महाराष्ट्र क्षेत्रीय और हिन्दी भाषी क्षेत्रों के जन-जीवन को हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य ने सुरक्षित रखा। इसी तथ्य को समझने के लिए यह तुलनात्मक अध्ययन उपादेय और समयोचित सिद्ध हो सकेगा ऐसी लेखक की निजी धारणा है।

प्रस्तुत प्रबंध की कालगत सीमा रेखाएँ विक्रमी १४ वीं से १७ वी विक्रमी शताब्दी का मध्य आत्मसात कर लेती है। इस युग में देशव्यापी भक्ति आन्दोलन में जनवादी परम्परा का जो सांस्कृतिक अभ्युदय उत्थान और विकास हुआ उसमें हिन्दी और मराठी के वैष्णव भक्त कवियों ने जो योगदान दिया उसके आध्यात्मिक और साहित्यिक पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का अभिप्रेत लक्ष्य लेखक का रहा है। मूलत. जिन वैष्णव भक्त कवियों को लेखक ने अध्ययनार्थ लिया है उनमें हिन्दी के कबीर, तुलसी, सूर और मीरा हैं और मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास हैं।

मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों का उपास्य के नाते विष्णु के किसी न किसी स्वरूप से मूर्ति विग्रह एवम् अवतार में सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। सर्वोपरि उपास्य के रूप में 'विष्णु' को यह स्थान कब और कैसे प्राप्त हुआ, अन्य देवताओं का उनसे क्या सम्बन्ध था आदि बातों का ऊहापोह करते हुए 'विष्णु' शब्द की भाषा शास्त्रीय चर्चा प्रथम की गई है। विद्वानों के निष्कर्ष को हंस-क्षीर-न्याय से ग्रहण किया गया है। हिन्दी और मराठी के वैष्णव भक्त कवियों की परम्परा इतनी व्यापक, बृहद् और क्रमबद्ध है कि उन सभी वैष्णव भक्तों की

सम्पूर्ण रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन एक ही प्रबन्ध में प्रस्तुत करना एक दुरूह एवं असम्भव कार्य है। अतः इस विशिष्ट काल के हिन्दी और मराठी भाषा-भाषी प्रदेशों के प्रतिनिधि नवरत्नों की साहित्यिक और आध्यात्मिक कान्ति की परख की गई है और इनकी साहित्यिक कृतियों को वैष्णव भक्ति-सूत्र में पिरोकर एकत्र कर लिया गया है।

अपने प्रबन्ध के लिये लेखक ने कुल ग्यारह अध्याय प्रस्तुत किये थे। परन्तु अब पुस्तक रूप में इसके केवल दस अध्यायों को ही लिया गया है। प्रथम दो अध्यायों में क्रमशः वैष्णव धर्म और विकास क्रम के साथ उसका स्वरूप विवेचन करते हुए वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ एवं सम्प्रदायों का हिन्दी और मराठी के क्षेत्रों में जो क्रम विकास हुआ उसकी मीमांसा की गई है। तृतीय अध्याय में हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य में अभिव्यंजित भारतीय और अभारतीय मतों के प्रभावों की परीक्षा की गई है। सगुण साधक, निर्गुणोपासक, ऐकेश्वरवादी, बहुदेववादी तथा प्रेम की पीर से पीडित आदि सभी संतों और भक्तों ने भगवान से प्रेम का सम्बन्ध जोड़ा है। उपासना-परक पद्धतियों में भिन्नता होते हुए भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में उनका पारस्परिक आदान प्रदान भी हुआ था। अतएव लेखक ने इसका सम्यक दिग्दर्शन करने का नवीन प्रयत्न किया है। चौथे और पाँचवें अध्यायों में मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के प्रतिनिधि भक्त एवं संत कवि ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास तथा कबीर, तुलसी, सूर और मीरा की काव्य रचनाएँ, जीवनी और साम्प्रदायिक मान्यताएँ अंकित की गई हैं। साथ-साथ तद्युगीन सामाजिक जीवन में अभिव्यंजित प्रभावों का आकलन करने का लेखक ने प्रयास किया है। हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक का अभिप्राय हिन्दी और मराठी के उस वैष्णव साहित्य से है जो वैष्णव भक्त कवियों द्वारा रचा गया है। स्पष्ट ही है कि ये विष्णु के उपासक थे तथा इनका आचार धर्म वैष्णवों का था। अतः 'वैष्णव' संज्ञा के ये पात्र थे। किसी भी जीवधारी के प्रति मत्सर न रखते हुए जीवनयापन करना सर्वेश्वर की पूजा है ऐसा अटल विश्वास भी वैष्णव भक्त कवियों का होने से इन सब में परस्पर मैत्रीभाव विद्यमान था। प्रस्तुत अध्ययन में आये हुए मराठी हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के पूर्व सूरियों में प्रथम वे वैष्णवाचार्य आते हैं जिन्होंने संस्कृत भाषा में उनके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक शास्त्रीय उपासना-परक सिद्धान्तों और आचार पक्ष की बातों को प्रतिष्ठित किया। इसके बाद वे वैष्णव भक्त कवि हैं जो समाज के सभी स्तर के व जाति के लोग थे, जिन्होंने जन-भाषाओं में अपनी-अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। अपनी-अपनी वैष्णवी साधना में अपने आपको

पवित्र करते हुए सबके लिए भक्ति के अनेक विश्व-सोपान इन भागवतों ने उपलब्ध कर दिए हैं। इनके द्वारा प्रदत्त और अभिव्यक्त सिद्धान्त सार्वजनिक रूप से सुगम और मानवीय होने से सामाजिक और आध्यात्मिक होने से धार्मिक हैं। सांस्कृतिक और मानवीय धरातल पर 'हरि को भजै सो हरि का होई', इस तत्व को उन्होंने सत्य सिद्ध कर जीवन की विषमतापूर्ण खाई को पाटने का बहुमूल्य कार्य करते हुए एक राष्ट्रीय देन को प्रदत्त किया है।

तुलनात्मक अध्ययन के रूप में छठें, सातवें, आठवें और नवें अध्यायों में क्रमशः मराठी और हिन्दी के आध्यात्मिक और साहित्यिक पक्षों पर रामोपासना, कृष्णोपासना और विट्ठलोपासना का इन दोनों दृष्टियों से विचार-मंथन किया गया है। यहाँ पर यह भी देखने की चेष्टा की गई है कि इन कवियों की स्वानुभूत अभिव्यंजनाओं में राष्ट्रीय भावनात्मक एकता में कितना सामर्थ्य और बल प्राप्त हो सका है। एकान्तिक निष्ठा, नाम-स्मरण एवम् संकीर्तन के साथ-साथ लोक जागृति तथा आस्था और आस्तिकता की प्रतिष्ठा स्थापित करने में इन वैष्णव कवियों ने जो जी-तोड़ मेहनत की है उसको आध्यात्मिक और साहित्यिक सदर्भ में यथास्थान तुलनात्मक विवेचन के साथ अंकित करने का मौलिक उद्योग लेखक ने किया है। दसवाँ एवम् अन्तिम अध्याय 'तुलनात्मक निष्कर्ष' नाम का है। ब्रह्म जीव, माया, मोक्ष और जगत सम्बन्धी धारणाएँ, जीवन के कर्तव्य, उद्देश्य और दृष्टिकोण आदि बातों के तथ्य एवं निष्कर्ष लेखक के सामने प्रत्यक्ष हो उठे हैं। इसमें मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों की भक्ति साधना की विभिन्न पद्धतियों का तुलनात्मक रूप में सत्य बोध हो गया है। जीवन में भक्ति की आवश्यकता तथा तद्युगीन समाज और जीवन पर उसका गहरा प्रभाव एक सांस्कृतिक प्रदेय के रूप में तथ्य-बोध कराते हैं।

मराठी और हिन्दी के यह वैष्णव कवि आचार्य, दार्शनिक, भक्त और कवि के रूपों में हमारे सम्मुख आये हैं। आचार्य के रूप में ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, एकनाथ और रामदास को हम ले सकते हैं। भक्त के रूप में कबीर, तुकाराम, मीरा, सूरदास, नामदेव, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास को प्रतिष्ठित कर सकते हैं तो दार्शनिक रूप में कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ और तुलसीदास को देखते हैं और कवि के रूप में ज्ञानेश्वर, तुलसी, सूर, रामदास, एकनाथ, कबीर, मीरा, तुकाराम और नामदेव को देख सकते हैं। इन सबने अपने अनुगामी युगों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में स्व० गुरुवर परमपूज्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सर्व प्रथम और सबसे अधिक प्रेरणा, मार्गदर्शन और सहयोग प्रदान

किया है। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, वात्सल्य पूर्ण व्यवहार और उदार दृष्टिकोण ने लेखक को वाराणसी से सागर तक सदा अभिभूत किया है। उनकी ही सत्प्रेरणा, शुभाशीष और सदिच्छा के कारण एकबार भयङ्कर आँधी में नष्ट हो जाने पर, दूसरी बार अग्नि में जल जाने पर तथा तीसरी बार स्लेन काय में नष्ट हो जाने पर भी यह प्रबन्ध पूर्ण हो सका। इसमें जो विशेषताएँ हैं वे पूज्य पण्डितजी के समीक्षात्मक एवं दोष पूर्ण निष्कर्षों की प्रतिक्रियाएँ हैं, और जो दोष हैं वे लेखक की असमर्थता और अयोग्यता के प्रतीक हैं।

परमश्रद्धास्पद विद्वद्रत्न सद्गुरु डाक्टर रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकरजी ने लेखक को समय-समय पर वैष्णव भक्तों की दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टियों को सुलझाने में जो पथ प्रदर्शन किया है उसके लिए लेखक उनका बहुत कृतज्ञ है। इस पुस्तक के लिए आशीर्वाद देकर लेखक को आपने चिर उपकृत किया है। श्रद्धेय डा० भगीरथजी मिश्र सम्प्रति अध्यक्ष हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर ने समय-समय पर जो महत्वपूर्ण सुझाव दिये और प्राक्कथन लिखकर लेखक को अपना कृपापात्र बना लिया उसके लिए वह उनका चिर ऋणी है लेखक इसे पूज्य मिश्रजी का अपने प्रति स्नेह और सद्भाव का परम सौभाग्य मानता है। आचार्य विनय-मोहनजी शर्मा अध्यक्ष हिन्दी विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ने 'दो शब्द' देकर इस पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि की है, लेखक उनका भी हृदय से अत्यन्त आभारी है।

स्वर्गीय गुरुदेव आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र, वाराणसी, स्व० क्षितिमोहनसेन शांति निकेतन, स्व० गुरुदेव रानडे निम्बाल, स्व० प्राध्यापक श्री म० माटे, पूना, का लेखक चिर ऋणी रहेगा, क्योंकि उसे इनके द्वारा समय-समय पर प्रोत्साहन एवं परामर्श प्राप्त हुये थे। तथा प० परशुरामजी चतुर्वेदी, बलिया, प्राध्यापक बी आर कुलकर्णी, बम्बई, आचार्य प्रवर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र, वाराणसी, मुन्शीरामजीशर्मा, कानपुर, डा० रघुवंशजी इलाहाबाद की कृतियों से तथा व्यक्तिगत रूप से लेखक ने आवश्यक सहयोग एवं लाभ उठाया है। इसके साथ-साथ जिनकी अन्य कृतियों का लेखक ने उपयोग किया है उनका यथास्थान उसने उल्लेख कर दिया है। अपने अनुजतुल्य डा० भगवानदास तिवारी एम ए, पी-एच डी., सोलापुर को लेखक विशेष रूप से साधुवाद देता है जिन्होंने वैष्णव भक्तों के चित्र बनाने में और अन्य रूपों में लेखक को नित्य कार्य-प्रवण किया है।

इस पुस्तक के प्रूफ देखकर प्रो० गोपालशंकरजी नागर एवं मूलशंकरजी नागर महोदय ने मुझे आजीवन अपना ऋणी बनाया है जिनके अथक परिश्रम के

बिना पुस्तक इतनी शीघ्र तथा सुन्दर रूप मे छपना प्राय असंभव सा ही था। लेखक उनको साधुवाद के अतिरिक्त और क्या दे सकता है। श्री केदारनाथजी पचौरी तथा श्री कुजबिहारीजी पचौरी, जवाहर पुस्तकालय, असकुडा बाजार, मथुरा–के प्रति लेखक चिर कृतज्ञ रहेगा जिनके सहयोग के बिना पुस्तक का इतना अच्छा प्रकाशन शायद न हो पाता। पुस्तक की सुन्दर एवम् आकर्षक छपाई के लिए लेखक उनको बार-बार धन्यवाद देता है।

लेखक बुद्धिदाता एव विघ्नहर्ता श्री मगलमूर्ति की कृपा को भी स्मरण करता है जिससे यह कार्य सम्पन्न हो सका है। अपने पूज्य पिताजी और पूज्या माताजी के शुभाशीर्वादो तथा पत्नी श्रीमती श्रद्धा जोगलेकर की बहुमुखी प्रेरणा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करता है। इनके ही कारण वह सदा क्रियावान रह सका है। यदि एक ओर महाराष्ट्र लेखक की जन्मभूमि रही है तो हिन्दी भाषी प्रदेश लेखक की संस्कार भूमि कहला सकती है, जहाँ रहकर ही इसने हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की। तटस्थ अध्ययन के अतिरिक्त किसी भी एकागी भावना को लेखक ने ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया है। यह अनुशीलन यदि सुधी पाठको मे हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य के प्रति आस्था जगाने मे सहायक सिद्ध हुआ तो लेखक अपने आपको बहुत कृतकृत्य मानेगा।

अन्त मे मुद्रण सम्बन्धी भूलों तथा अन्य ज्ञात-अज्ञात त्रुटियो के लिए सुधी पाठको से क्षमा चाहते हुए .. ..।

विजयादशमी
हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय,
पूना ७, दिनाङ्क १–१०–६८

विनयानत
न. चि. जोगलेकर

अनुक्रमणिका

तुलसीदासजी के उपास्य का स्वरूप, माया महिमा, राम की दिव्यता, नाम-माहात्म्य, राम का करुणामूलक स्वभाव, विनय-भावना, तुलसी का जीवन विषयक दृष्टिकोण। महात्मा सूरदास एवं तन्मय वैष्णव कवि और गायक के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष, सगुण लीलागान क्यों ? श्रीकृष्ण का परब्रह्म स्वरूप सूर की दृष्टि में, अद्भुत् विराट स्वरूप की विचित्र आरती, सूर की वैराग्य-भावना, सूर का सारगर्भित आत्मनिवेदन, श्रीकृष्ण परमात्मा तो प्रेम के वश अवश्य हो जाते हैं। सूर की आत्मग्लानि एवं विनय भावना, गुरु-महिमा, जीवन विषयक दृष्टिकोण। मेड़तणी-मतवाली प्रेम-साधिका एवं कृष्ण की अनन्य एवं निस्सीम, आराधिका-मीरा के काव्य का आध्यात्मिक पक्ष। मीरा की भक्ति भावना, मीरा की दार्शनिकता,मीरा की भागवती भगवद्-भक्ति मीरा का श्रीकृष्ण के साथ स्वप्न में परिणय, मीरा की अपने उपास्य में अनुरक्ति, मीरा की कृतज्ञता मीरा का अनोखा और अद्वितीय आत्म-समर्पण, सगुणोपासना, मीरा की निर्गुणोपासना। वियोगिनी मीरा का अनुनय। मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष की तुलना का सार।

अष्टम् अध्याय **पृष्ठ ५२५ से ६२५**

मराठी वैष्णव कवियों का साहित्यिक पक्ष—

ज्ञानेश्वरी का अध्ययन कैसे किया जाय ? ज्ञानेश्वर द्वारा अपने ग्रन्थ का नामकरण, ज्ञानेश्वर की करामात, ज्ञानेश्वरी अध्ययन की पात्रता व अधिकार, ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन, ज्ञानेश्वर का प्रसाद-दान,ज्ञानेश्वर की वर्णन-शैली और विशेषता, मानवता की समतापूर्ण दृष्टि। कवि के लिए पोषक साधन और रसत्व की स्फूर्ति, मराठी का गौरव। सहज कवित्व का प्रभाव, काव्य स्फूर्ति, रमणीय कला विलास में से सम्प्राप्त होने वाला कला-बोध। ज्ञानेश्वर द्वारा शब्दों का व्यापकत्व और रस विदग्धता का प्रदर्शन, नादमधुर शब्द, नाद-चित्रों से युक्त कल्पना-चित्र, रस-संवेदना, गन्ध-संवेदना, उपमाओं का प्रयोग। आध्यात्मिक विचारों का साहित्यिक शैली में निरूपण। नामदेव के अभगों का साहित्यिक पक्ष। नामदेवकृत बाललीला वर्णन, कृष्णजन्म, पूतना-वध। नामदेव कृत कुनाचार के कुछ सांस्कृतिक प्रसङ्ग, वात्सल्य और अद्भुत् रस का वर्णन, भक्ति की सरसता का साहित्यिक स्वरूप, गोपियों की विरहव्यथा। ज्ञानदेव 'आदि' प्रकरण। ज्ञानी और भावुक भक्तों की महयात्रा, भगवान् का भक्त के लिए विरह। 'समाधि' प्रकरण। ज्ञानदेव परिवार - मूल्यांकन। नामदेव की अलङ्कार - योजना। नामदेव का काव्य - सङ्कल्प। भिन्न भाषा - भाषी ग्वालिनें, नामदेव की आत्म-

हिन्दी साहित्य के प्रमुख वैष्णव संत-कवि

महात्मा कबीर

भक्त सूरदास

गोस्वामी तुलसीदास

भक्त मीराबाई

मराठी साहित्य के प्रमुख वैष्णव संत-कवि

ज्ञानेश्वर महाराज

भक्त नामदेव

एकनाथ महाराज

संत तुकाराम

समर्थ रामदास

प्रथम—अध्याय

वैष्णव धर्म और दर्शन का क्रम-विकास

वैष्णव धर्म, दर्शन तथा विष्णु की उपासना बहुत प्राचीन और व्यापक है। एक सर्वोपरि और सर्वोत्तम आराध्य के रूप मे विष्णु की प्रतिष्ठा कब हुई इसका निर्णय करना बहुत ही कठिन कार्य है। विष्णु-उपासना का विकास कैसे हुआ इसका विवेचन यहाँ पर करना अत्यावश्यक है। तुकाराम जैसे महान् सत तो इस ससार को 'विष्णुमय जग वैष्णवाचा धर्म' अर्थात् 'समग्र ससार ही विष्णुमय है ऐसा दृढ विश्वास के साथ मानते हैं। यही वैष्णवो का धर्म है।' यो तो वैष्णव धर्म किसी भी युग मे तथा अपने किसी भी स्वरूप मे सकुचित नही रहा, इसे प्रमाणो के आधार पर सिद्ध भी किया जा सकता है।

विष्णु' शब्द की भाषा शास्त्रीय व्याख्या :

'विष्णु' शब्द की भाषा-शास्त्रीय व्याख्या करने के पश्चात् हम विष्णु के स्वरूप की कुछ कल्पना निश्चित कर सकने की परिस्थिति मे पहुँच सकेंगे। 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित मत हैं —

१ 'विष्णु' 'विष्' धातु से बना हुआ धातुसाधित रूप है। सामान्य रूप से इसका अर्थ सततोद्योगी, क्रियाशील एवम् व्यवसायी रहना है। थाऊरबेगी, मॅकडॉनल जैसे विद्वान् इसी अर्थ को ग्राह्य मानते हैं। वे विष्णु को सूर्य का पर्याय भी मानते हैं क्योकि सूर्य भी क्रियाशील और शीघ्रता सूचक व्यापार बतलाने वाला है।

२ 'विष्णु' 'विश्' धातु से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है समाना, फैलना, अथवा प्रवेश करना। पौराणिक साहित्य भी इसी मत की पुष्टि करने वाला है। जगत् की निर्मिति करके विष्णु उसमे प्रविष्ट हो गये, और उन्होंने सारा ससार व्याप लिया। यही व्यपनशीलता 'विष्णु' शब्द से प्रतीत होती है।

३ ब्लूम-फील्ड 'विष्णु' शब्द के दो हिस्से मानते हैं। प्रथम 'वि' यह उपसर्ग है तथा 'स्नु' अर्थात् सानु (पृष्ठभाग) यह शब्द है। दोनों मिलकर वि+सानु=विष्णु शब्द बना है। विष्णु ने इस विश्व के पृष्ठ भाग का पदन्यास किया। अत पृष्ठ भागों से आक्रमण करने वाला विष्णु है। हम इस मत को

इसलिए ग्राह्य नहीं मानते क्योंकि यह अर्थ किसी तरह खींच तानकर लगाया गया है।

४. ग्युटर्ट और ही दूसरे प्रकार से विष्णु शब्द का विग्रह करते हैं। उनके मतानुसार 'वि' का अर्थ एक को दूसरे से पृथक् या अलग करना है। तब इसका रूप वि+स्नु (सानु)='विष्णु' होगा। इससे तीन अर्थ निकलते हैं— (१) जिसके सानु याने पृष्ठ भाग पृथक हो गये हैं ऐसा व्यक्तित्व। (२) सानु-विहीन व्यक्तित्व तथा (३) जिसके लिये सानु याने विश्व के सानु पृथक हो गये हैं ऐसा व्यक्तित्व। यह व्युत्पत्ति भी हमें समाधानकारक नहीं जँचती।

५ 'सुपर्णो अग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वोजातः।' इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में आया है। ब्लॉक आदि वैदिक 'सुपर्ण' का तात्पर्य सूर्य-पक्षी से संबद्ध बतलाते हैं।

६ योहॉन्सन तथा शार्पेन्तिए का यह मत है कि विष्णु पक्षी-स्वरूपी सूर्य देवता है। ऋग्वेद में सोमापहरण की एक कथा आती है। इस कथा में उल्लिखित पक्षी विष्णु ही है ऐसा इन दोनों विद्वानों का मत है। अनुमानत पुराणों में वर्णित गरुड तथा वेदों का सुपर्ण एक ही हो सकते हैं। प्राचीन देवता शास्त्र में वाहन और वाह्य का सारूप्य प्रसिद्ध है। विष्णु की 'श्रीवत्स' और 'कौस्तुभ, तथा 'नाभिकमल' और चतुर्भुजाएँ आदि विशेषताएँ उनके पक्षीस्वरूप की ओर ही इङ्गित करती हैं। सामान्य रूप से ऋग्वेद में विष्णु को पक्षीस्वरूपी सूर्य देवता ही माना गया है। विश्व में तीन विभागों में से होने वाले आरोहण और अवतरण का गौरव विष्णु के तीन पदन्यासों में चित्रित किया गया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में निम्नलिखित रूप से विष्णु का उल्लेख आया है।[1]

'विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।
आसा यदस्य पयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र॥'

७ संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान डा० रा० ना० दांडेकर के मत में 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'वि' धातु में 'स्नु' प्रत्यय लगाकर 'विष्णु' शब्द बना है। संस्कृत के अन्य शब्द जैसे— जिष्णु, अलङ्करिष्णु, और क्षेष्णु ये शब्द भी इसी प्रकार बने हैं। 'वि' यह मूल धातु युरो भारतीय uei (वेइ-उड़ना इस धातु से संबद्ध है) इसी धातु से संबद्ध युरोभारतीय शब्द आवेस्ता का vis (विस) है, तथा लॅटिन का auis (अविस) है तो उच्च जर्मन भाषा का wis और नूतन

१ ऋग्वेद दशम मण्डल।

जर्मन का weih यह शब्द है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि 'विष्णु' शब्द का मूल अर्थ उडनेवाला हो सकता है। डा० रा० ना० दाडेकरजी का कथन है कि वैदिक उपासना शास्त्र प्रगतिशील रहा है। वैदिक देवता मण्डल मे प्रथम विष्णु को उतना महत्व नही प्राप्त हुआ था जितना आगे चमकर प्राप्त हुआ। इसके पूर्व, सूर्य, इन्द्र, वरुण रुद्र आदि देवता उपास्य रूप मे प्रमुख थे। इनकी महत्ता को कम करते हुए विष्णु ने अपना महत्त्व प्रस्थापित किया। वेदों के अध्ययन से यह बात प्रतीत होती है कि विष्णु इन्द्र के सखा के रूप में हमारे सामने आते हैं। ब्राह्मण वाङ्मय मे विष्णु यज्ञ के समान हैं, तथा यज्ञो के दोष निवारणार्थ उनकी प्रार्थना की गयी है। विष्णु का मूल स्वरूप क्या था इसका अनुमान लगाना बड़ा कठिन कार्य है। उनके व्यक्तित्व मे कुछ विशेषताएँ जरूर ऐसी रही होंगी जिनको लेकर वेदोत्तर उपासनाशास्त्र मे 'विष्णु' सर्वोपरि गौरव प्राप्त कर सके। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक सम्बन्धो ने अपने-अपने उपास्यों का भी समन्वय कर दिया हो। डा० दाडेकरजी का यह मत है कि वेदपूर्वकालीन भारतीय आदिवासियो के उपास्य 'विष्णु' थे। इन आदिवासियो के साथ आर्यों का सस्कृतिसगम हुआ। ऋग्वेद काल मे अपने आपको अधिक प्रगतिशील मानने वालो मे से एक आर्य समूह के लोग विष्णु को उतना प्राधान्य नही देते थे जितना कि अन्य आर्य समूह वाले, जिनके कि ये परम उपास्य थे। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि विष्णु के स्वरूप मे ही कुछ ऐसी विशेषताएँ रही होंगी जो वैदिक ऋषियो को अच्छी न लगी हो। परिणामतः अधिकृत देवता मडल मे उन्होंने आसानी से विष्णु को प्रवेश नहीं करने दिया। उन्होंने विष्णु के जिन अशो को छिपाया उनमे से महत्व का अश बतलाने वाला शब्द 'शिपिविष्ट' है।[1] 'शिपिविष्ट' शब्द से जिस स्वरूप का बोध होता है उसे वैदिक ऋषियो ने स्पष्ट नही किया बल्कि और अधिक जटिल बनाकर प्रस्तुत किया और उसका उल्लेख भी अत्यन्त गौण रूप मे ही करना उचित समझा।

शिपिविष्ट शब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार मिलती हैं :

१ पशवः शिपिरिति श्रुत्यन्तरात् शिपि शब्द पशुवाची।

—तैत्तिरीय सहिता।

२. शिपयो रश्मय तैः आविष्ट। —ताण्ड्य महा ब्रा० भाष्य।

३ शिपिविष्टो इति विष्णोर्द्वे नामनी भवत,। कुत्सितार्थीयम् पूर्वं भवति इति औपमन्यव — निरुक्त।

---

१. अभिनव दैवत शास्त्र—डा० रा० ना० दाडेकर।

धाची है। विष्णुसहस्रनाम में 'वृषाकपि' शब्द के मिलने से इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[१]

इस प्रकार से अवध्यत्व, सृजनशीलत्व तथा सुलभ प्रसन्नत्व की कल्पनाओं से विष्णु का निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। यों तो भगवान् शंकर के बारे में भी, ये ही बातें मिलती हैं। आज भी शिवलिंग पूजा जाता है अतः शिव और विष्णु में प्राचीन कौन है यह भी निर्णय करना कठिन है। आदिवासियों का उपास्य कौन था इसका भी निर्णय नहीं कर सकते। रुद्र के लिए भी शिपिविष्ट' शब्द आया है जैसे—रुद्रस्तुति के पाँचवे अनुवाक में यह उल्लेख हैं—

'नमो गिरीशायच शिपिविष्टायच।'

अतः 'शिपिविष्ट' शब्द केवल विष्णु के लिए ही है और रुद्र के लिए नहीं ऐसा भी नहीं कह सकते।[२]

यह स्पष्ट है कि विष्णु के सभी अवतार उत्तर में हुए हैं और शंकर के सभी अवतार दक्षिण में। उदाहरणार्थ—शंकराचार्य, और हनुमानजी को शंकर का अवतार माना गया है। दक्षिण का रावण भी शंकरोपासक था। लंकाधिपति, कैलास पर्वत के शंकर का भक्त कैसे हुआ? अतः हमे इस पचड़े में नहीं पड़ना है आदिवासियों का उपास्य कौन था। हमे तो यह देखना है कि विष्णुविषयक उल्लेख कहाँ-कहाँ और कैसे २ मिलने गये और कौन सी विशेषताएँ विष्णु के व्यक्तित्व में मिलती रही हैं। यों तो ऋग्वेद में ही एक अलग सूक्त 'विष्णु सूक्त' नाम से मिलता है। वामनीय सूक्त में 'विष्णो अश्वस्य रेत' के रूप में विष्णु का उल्लेख आया है। वामनीय सूक्त।

वदिक युग में विष्णु—

ऋग्वेद में विष्णु को विशेष उत्कर्ष के साथ तेजयुक्त बतलाया गया है। विष्णु की चार विशेषताएँ ये हैं—(१) दीर्घ पदन्यास अथवा शीघ्रगतित्व—(२) नियमित मार्गक्रमण—(३) यौगपदिक प्राचीनत्व तथा—(४ अभिनवत्व। भगवान सूर्य के बारे में भी ये विशेषताएँ प्रसिद्ध हैं। विष्णु की प्रतिष्ठा देखिये। भगवान विष्णु और सूर्य एक दूसरे के स्वरूप भी माने जाते हैं।[३]

---

१. विष्णु सहस्रनाम।

२. रुद्रस्तुति अनुवाक।

३. 'यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुः। त्रिधा नियतेपदं त्रेधा भवाय।
पृथिव्यां अन्तरिक्षे दिवि इति शाकपूणि.।
समारोहणे विष्णुपदे मध्य शिरसि इति और्णवाभः।"

वेदोत्तर काल मे विष्णु का सुदर्शनचक्र सूर्य के चक्र का प्रतीक, विष्णु के हाथ के कमल को सूर्य का जीवनदायी प्रकाश, तथा विष्णु का पीताबर सूर्य के तेजस्वी किरणो का द्योतक समझा गया है। व्यापनशील होने से भी विष्णु सूर्य के प्रतीक हैं। सूर्य की नानाक्रियाओं तथा दशाओं की विभिन्नता से ऋग्वेद के अनेक देवताओं की कल्पना की जाती है। सूर्य प्रातःकाल प्राचीन के क्षितिज से उठकर दोपहर मे ठीक आकाश के मध्य मे आ विराजता है तथा सायकाल मे पश्चिम दिशा मे अस्त हो जाता है। इसे सूर्य का उद्योग-सम्पन्न एव क्रियाशील रूप कहते हैं जिसकी कल्पना विष्णु के रूप से ली गयी। उसके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले-भ्रमण करने वाले भयानक पशु (सिंह) से की गई है। (मृगो न भीम : कुचरोगिरि।)

—ऋग्वेद १–१५४–२

विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य तीन पगो मे इस विश्व को व्याप लेना है। (एकोविम मे त्रिभिरिद् पदेभि) इन तीन डगो या क्रमो के कारण विष्णु को 'उरुक्रम' या 'उरुगाय' कहते हैं। विष्णु के बारे मे विद्वानों मे अनेक मत प्रचलित हैं। 'योहॉनसन' विष्णु को पितरो की आत्मा मानते हैं। 'घोष' विष्णु को विद्युत देवता समझते है तो 'याकोबी' साहब विष्णु को अत्यन्त पुरातन कालो मे प्रचलित अमूर्ततात्विक कल्पना की द्योतक शक्ति समझते हैं। *'रुडॉल्फ आटो'* के कथनानुसार विष्णु अनेक हैं। श्री दास महोदय विष्णु को इजिप्शियन देवता 'वेस' के समकक्ष मानते हैं। गुण्यन मौर ग्रश विष्णु के व्यक्तित्व मे प्रधान है। उसका परमपद आकाश के उच्च स्थान मे है। 'और्णवाभ' कहते हैं कि विष्णु अपने पदन्यासो मे अखिल विश्व का आक्रमण करते हैं। यह पदन्यास पृथ्वी से प्रारम्भ होकर उसका अन्त उच्चतम आकाश मे होता है। निरुक्त १२–१६ मे किए गये 'यास्क' के उल्लेखानुसार आचार्य और्णवाभ के मत मे प्रात, मध्यान्ह तथा सायकाल मे सूर्य के द्वारा अङ्गीकृत आकाश के तीन स्थान-बिन्दुओं का निर्देश है। अन्य आचार्य शाकपूणि के मत मे त्रिक्रमणो से पृथ्वी अतरिक्ष तथा आकाश इन तीनो लोको के व्यापने तथा अतिक्रमण करने का सकेत है। इन दोनो मतो मे से द्वितीय की पुष्टि ऋग्वेदीय मत्रो से स्वत हो जाती है जिनमे तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक मे मानी गयी है। विष्णु के परमपद को उच्च लोक मे मधु का उत्स या झरना बतलाया गया है। वहाँ पर भूरिश्रृङ्गा-नानागीगोवाली चचल गायों का अस्तित्व माना गया है।[१] ये गायें सूर्य की किरणें ही हैं जो आकाश के

१. यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयास—ऋ० १–१५४–६।

मध्य में नाना दिशाओं में प्रसरण करती हैं। विष्णु की स्तुति में ऋग्वेद का यह मंत्र अत्यंत प्रसिद्ध और उनके स्वरूप का परिचायक है :—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूलमस्य पांसुरे॥ ऋ० १२२–७।

विष्णु की यह विशेषता है कि वे अपने मूल स्वरूप से भिन्न स्वरूप धारण कर सकते हैं, तथा संकटग्रस्तों की सहायता के लिए तीन पदन्यासों जैसा पराक्रम भी करते हैं। ऋग्वेद की इन कल्पनाओं के पीछे विष्णु के अवतार विषयक बीज निहित हैं। इन्द्र प्रधान ऋग्वेदीय देवतामण्डल में इन्द्र और विष्णु का संबंध एक सहायक के रूप में हुआ और आगे चलकर वे इन्द्र सखा से उपेन्द्र बन गये।

विष्णु के उन्नयन के चित्र वेदोत्तरकालीन ब्राह्मणवाङ्मय में भी मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु सर्वश्रेष्ठ आराध्य है, यह बतलाया गया है, तो ऐतरेय ब्राह्मण में—*'अग्निर्वै देवनाम् अवम विष्णु परम तदन्तरेण सर्वा देवता'* ऐसा उल्लेख है।[1] भारतीय संस्कृति के विकासक्रम में आगे चलकर यही विष्णु, गोपालकृष्ण का रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु से संबंधित ऋचायें, जो ऋग्वेद में प्रायः कम ही हैं। सौ से अधिक बार उनका नामोल्लेख आया है। विष्णु की प्रशंसा में लिखी गयी प्रार्थनायें पूर्ण रूप से केवल पाँच हैं। वैदिक देवता-मण्डल में विष्णु को प्रधान स्थान, प्रथम प्राप्त नहीं था पर अचानक आगे चलकर हिन्दु-उपासना-शास्त्र के प्रधान और सर्वोपरि उपास्य के रूप में विष्णु प्रतिष्ठित हो गये। राय चौधुरी के मतानुसार विष्णु को वैदिककाल के आरम्भिक युग में भी महत्व का स्थान प्राप्त था पर डा० दाडेकर इसे नहीं मानते।

धार्मिक दृष्टि से वैष्णव धर्म ने पुराने वर्णाश्रम धर्म में आस्था और श्रद्धा रखी है, किन्तु उपासना की दृष्टि से भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्णों को तथा स्त्री शूद्रादि को समान अधिकार दे दिया है। वैष्णव धर्म हृदय प्रधान प्रवृत्तियों पर आधारित होने से मानव हृदय की उदारता और विशालता को उसमें सन्निहित होने का सदा सुअवसर मिला है। भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बाहर से आने वाली अनेक जातियों और धर्मों को उसने आत्मसात् कर लिया। अनेक विदेशी जातियों को भी वैष्णव धर्म में प्रवेश और प्रश्रय मिला है। हूण, यवन, आंध्र, आभीर, पुलिंद, और ग्रीक जैसी जातियों को भगवान् विष्णु की उपासना का आश्रय लेने से आदरपूर्वक उनका उल्लेख भागवत में किया

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १–१।

वेदोत्तर काल मे विष्णु का सुदर्शनचक्र सूर्य के चक्र का प्रतीक, विष्णु के हाथ के कमल को सूर्य का जीवनदायी प्रकाश, तथा विष्णु का पीताम्बर सूर्य के तेजस्वी किरणों का द्योतक समझा गया है। व्यपनशील होने से भी विष्णु सूर्य के प्रतीक है। सूर्य की नानाक्रियाओं तथा दशाओं की विभिन्नता से ऋग्वेद के अनेक देवताओं की कल्पना की जाती है। सूर्य प्रातःकाल प्राचीन के क्षितिज से उठकर दोपहर मे ठीक आकाश के मध्य मे आ विराजता है तथा सायंकाल मे पश्चिम दिशा मे अस्त हो जाता है। इस सूर्य का उद्योग-सम्पन्न एवं क्रियाशील रूप कहते हैं जिसकी कल्पना विष्णु के रूप से ली गयी। उसके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले-भ्रमण करने वाले भयानक पशु (सिंह) से की गई है। (मृगो न भीम कुचरोगिरि।)

—ऋग्वेद १-१५४-२

विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य तीन पदों में इस विश्व को व्याप लेना है। (एकोमिम मे त्रिभिरित् पदेमि) इन तीन डगो या क्रमो के कारण विष्णु को 'उरुक्रम' या 'उरुगाय' कहते हैं। विष्णु के बारे मे विद्वानों मे अनेक मत प्रचलित हैं। 'ओल्डेनबर्ग' विष्णु को पितरो की आत्मा मानते हैं। 'घोष' विष्णु को विद्युत देवता समझते है तो 'याकोबी' साहब विष्णु को अत्यन्त पुरातन कालो मे प्रचलित अमूर्तनात्मिक कल्पना की द्योतक शक्ति समझते हैं। 'रुडॉल्फ आटो' के कथनानुसार विष्णु अनेक हैं। श्री दास महोदय विष्णु को इजिप्शियन देवता 'बेस' के समकक्ष मानते हैं। मुख्यत और प्रत्य विष्णु के व्यक्तित्व में प्रधान है। उसका परमपद आकाश के उच्च स्थान मे है। 'और्णवाभ' कहते हैं कि विष्णु अपने पदन्यासों से अखिल विश्व का आक्रमण करते हैं। यह पदन्यास पृथ्वी से प्रारम्भ होकर उसका अन्त उच्चतम आकाश मे होता है। निरुक्त १२-१९ मे दिए गये यास्क के उल्लेखानुसार आचार्य और्णवाभ के मत मे प्रात, मध्याह्न तथा सायंकाल मे सूर्य के द्वारा अङ्गीकृत आकाश के तीन स्थान-बिन्दुओं का निर्देश है। अन्य आचार्य शाकपूणि के मत मे त्रिक्रमणों से पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा आकाश इन तीनो लोकों के व्यापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत है। इन दोनो मतों मे से द्वितीय की पुष्टि ऋग्वेदीय मंत्रों मे स्वत. हो जाती है जिनमे तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक मे मानी गयी है। विष्णु के परमपद को उच्च लोक में मधु का उत्स या झरना बतलाया गया है। वहाँ पर भूरिशृङ्गा-नानासींगोवाली चंचल गायों का अस्तित्व माना गया है।[1] ये गायें सूर्य की किरणें ही है जो आकाश के

---

१. यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः—ऋ० १-१५४-६।

मध्य में नाना दिशाओं मे प्रसरण करती हैं। विष्णु की स्तुति मे ऋग्वेद का यह मंत्र अत्यंत प्रसिद्ध और उनके स्वरूप का परिचायक है :—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्।
समूलमस्य पासुरे॥ ऋ० १२२-७।

विष्णु की यह विशेषता है कि वे अपने मूल स्वरूप से भिन्न स्वरूप धारण कर सकते हैं, तथा संकटग्रस्तो की सहायता के लिए तीन पदन्यासो जैसा पराक्रम भी करते हैं। ऋग्वेद की इन कल्पनाओ के पीछे विष्णु के अवतार विषयक बीज निहित हैं। इन्द्र प्रधान ऋग्वेदीय देवतामण्डल मे इन्द्र और विष्णु का संबंध एक सहायक के रूप मे हुआ और आगे चलकर वे इन्द्र सखा से उपेन्द्र बन गये।

विष्णु के उन्नयन के चित्र वेदोत्तरकालीन ब्राह्मणवाङ्मय में भी मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु सर्वश्रेष्ठ अराध्य है, यह बतलाया गया है, तो ऐतरेय ब्राह्मण मे—'अग्निर्वै देवनाम् अवम विष्णु परम तदन्तरेण सर्वा देवता' ऐसा उल्लेख है।[1] भारतीय संस्कृति के विकासक्रम मे आगे चलकर यही विष्णु, गोपालकृष्ण का रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु से संबंधित ऋचायें, यो ऋग्वेद मे प्राय कम ही हैं। सौ से अधिक बार उनका नामोल्लेख आया है। विष्णु की प्रशंसा मे लिखी गयी प्रार्थनायें पूर्ण रूप से केवल पाँच हैं। वैदिक देवता-मण्डल मे विष्णु को प्रधान स्थान, प्रथम प्राप्त नही था पर अचानक आगे चलकर हिन्दु-उपासना-शास्त्र के प्रधान और सर्वोपरि उपास्य के रूप मे विष्णु प्रतिष्ठित हो गये। राय चौधुरी के मतानुसार विष्णु को वैदिककाल के आरम्भिक युग मे भी महत्त्व का स्थान प्राप्त था पर डा० दाडेकर इसे नहीं मानते।

धार्मिक दृष्टि से वैष्णव धर्म ने पुराने वर्णाश्रम धर्म मे आस्था और श्रद्धा रखी है, किन्तु उपासना की दृष्टि से भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्णों को तथा स्त्री शूद्रादि को समान अधिकार दे दिया है। वैष्णव धर्म हृदय प्रधान प्रवृत्तियो पर आधारित होने से मानव हृदय की उदारता और विशालता को उसमे सन्निहित होने का सदा सुअवसर मिला है। भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बाहर से आने वाली अनेक जातियाँ और धर्मो को उसने आत्मसात् कर लिया। अनेक विदेशी जातियो को भी वैष्णव धर्म मे प्रवेश और प्रश्रय मिला है। हूण, यवन, आंध्र, आभीर, पुलिंद, और ग्रीक जैसी जातियो को भगवान् विष्णु की उपासना का आश्रय लेने से आदरपूर्वक उनका उल्लेख भागवत मे किया

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १-१।

गया।[१] सच है 'समाना हृदयानि वः' इस भाव से नया भगवान का प्रेम ही ऐसा है जो किसी को भी प्रेम करने से वंचित नहीं रख सकता इसलिये ये भी सब वैष्णव धर्म में दीक्षित थे।

विदेशियों के वैष्णवानुरागी होने का प्रमाण 'बेसनगर' के शिलालेख में मिलता है जिसमें परम भागवत, हे लियोडोरस' की चर्चा आती है। इस दूत को पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीक शासक एन० टी० अलकिडास ने विदिशा मण्डल के राजा काशी पुत्र भागभद्र के दरबार में भेजा था। इस परम भागवत ने विष्णु की पूजा के निमित्त गरुडध्वज स्थापन किया था। वैष्णव धर्म का विकास कई रूपों में सामने आता है। विष्णु भक्ति का प्रचलन वेदों में ही निहित था। ब्राह्मण-काल में विष्णु परमश्रेष्ठ उपास्य के रूप में मान लिये गये हैं। वैदिक काल विभिन्न शक्तियों की पूजा का काल है। उस समय के लोगों ने जिस शक्ति या तत्व को सर्व शक्ति का प्रतीक माना, उसे परब्रह्म के सोपान पर बैठाया। तात्पर्य यह कि उसे परब्रह्म का स्वरूप ही साक्षात् माना। विष्णु के प्रति सान्निध्य लालसा का उल्लेख वैदिक ऋचाओं में यत्रतत्र मिलता है। जैसे—'तदस्य प्रिय मभि पाथो अस्याम।' विष्णुलोक के प्रति कामना है।

'महस्ते विष्णो. सुमति भजामहे।' हे विष्णु आप महान् हैं। आपकी सुमति पूर्वक हम भक्ति करते हैं और कृपा करें ऐसी प्रार्थना करते हैं। 'अवतार-वाद के रूप में स्पष्ट उल्लेख वेदों में भले ही न मिले किन्तु उसके बीज अवश्य वहाँ हमें उपलब्ध हो जाते हैं। जिन बीजों के आधार पर अवतार की कल्पना पुराणों में विकसित हुई उसमें वामनावतार मुख्य है।[२]

शतपथ ब्राह्मण में विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है। 'मैत्रेयी उपनिषद' में विष्णु को जगत का पालक, अन्न का स्वरूप और 'कठोपनिषद' में आत्मा की ऊर्ध्वगामी गति को—विष्णु को परमधाम की ओर जाने वाला पथिक कहा गया है। सूर्य और विष्णु के संबंध का हम पहले ही

---

१. 'किरात हूणाध्र-पुलिंद पुल्कसा आभीर-कङ्का यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥'
—भागवत स्कंध २ अ. ४ श्लोक-१८।

२ महाकवि सूरदास पृ० २–३, प० नंददुलारे वाजपेयी और
वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए० आचार्य शास्त्री 'कल्याण'—वर्ष १६, अङ्क ४।

विवेचन कर चुके हैं। जीवन का परम ध्येय विष्णु की प्राप्ति होने से प्रमुख उपास्य के रूप में विष्णु की स्थापना अनिवार्य ही थी। प्रथम इन्द्र के सहायक, बाद में लोक पालक और फिर भगवान के रूप में विष्णु का विकास हम रख सकते हैं। वैष्णव धर्म के इस उपास्य का एक नाम 'नारायण' भी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों में आता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर इस प्रकार बतलाया गया है कि आकाश, पृथ्वी और देवताओं के भी पहले वह कौन सी वस्तु सर्व प्रथम गर्भाङ रूप में जल पर ठहरी थी जिसमें सब देवता विद्यमान थे? वह सकते हैं कि सब से प्रथम जल था जिस पर ब्रह्माण्ड ठहरा हुआ था। यही आगे चलकर जगत सृष्टा या ब्रह्मदेव बना। नारायण के नाभिकमल पर यह ब्रह्माण्ड तैरता हुआ मिलता है। विष्णु और नारायण ब्रह्माण्ड युग में एक ही शक्ति के दो नाम माने गये। नर के अयन या अन्तिम लक्ष्य नारायण हैं। इसीलिए वे उनके आधार-स्वरूप भी हैं। नारायण नाम के एक ऋषि भी थे जिनका लिखा पुरुषसूक्त प्रसिद्ध है। विष्णु के अनेक नाम जैसे हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, ऋषभ, वैकुठ और बृहत्‌च्छ्रवस आदि मिलते हैं। ये नाम पहले इन्द्र के लिये प्रयुक्त होते थे। धीरे-धीरे वे विष्णु के नाम अर्थात् पर्याय बन गए। चक्रपाणि तथा कृष्ण जैसे शब्द वैदिक देवता-चरित्र वाले वर्णनों में लिये गये जान पड़ते है?[1]

वैदिक युग में विष्णु का यज्ञ से सम्बन्ध था। ब्राह्मणकाल में नारायण के रूप में सृष्टि-विकास से वे सम्बन्धित हो गये। इस काल के बाद सात्वत धर्म का प्रचार मिलता है। प्रथम विष्णु और नारायण दोनों देवता भिन्न थे। फिर भी दोनों नामों का प्रयोग एक ही परमात्मा के लिए किया जाता था। इनका एकीकरण तैत्तिरीय, आरण्यक की रचना के समय तक नहीं हुआ था।[2] अभी तक किसी दयालु भगवान् की स्थापना का अभिप्रान नहीं हो पाया था। वैष्णव-धर्म का विकसित रूप सात्वत या भागवत धर्म में ही मिलता है। सात्वतों के आराध्य वासुदेव-कृष्ण उनके धर्म के मूल प्रवर्तक भी बने।

'नाना घाट' की गुफा में एक शिलालेख मिलता है जिसमें संकर्षण और वासुदेव का नाम द्वंद्व समास के रूप में आया है।[3] वासुदेव और कृष्ण, नारायण और विष्णु की भाँति पृथक्-पृथक् रूप में प्रयुक्त होते थे किन्तु आगे चलकर एक दूसरे के पर्याय बन गए। अन्त में वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु-नारायण में मिलकर

१. वैष्णव धर्म-पृ० १६, आ. परशुराम चतुर्वेदी।
२. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, खंड ४ पृ० ४-५।
३. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, खंड ४ पृ० ४-५।

अभिन्न हो गये। 'वासुदेव' का नाम वैदिक साहित्य में किसी संहिता या प्राचीन उपनिषद में नहीं मिलता है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें प्रपाठक में कहा गया है—'नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।' डा० राजेन्द्रलाल मित्र का कहना है कि इस आरण्यक की रचना बहुत पीछे की है। इसमें भी यह उल्लेख परिशिष्ट के रूप में आया है। डा० कीथ आरण्यक का समय ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी मानते हैं। इसलिए कम से कम उस काल तक वासुदेव तथा विष्णु-नारायण की एकता सिद्ध हो जाती है। महाभारत में स्वयं भगवान् 'वासुदेव' शब्द का अर्थ बतलाते हैं—'मैं वासुदेव इसलिए हूँ कि मैं सभी प्राणियों को अपनी माया या अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित किये रहता हूँ, तथा सूर्य के रूप में रहकर अपनी किरणों से सारे विश्व को ढँक लेता हूँ और सभी प्राणियों का अधिवास होने के कारण भी मेरा नाम वासुदेव है।' 'वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।' अर्थात् वासुदेव मानवी समाज के सामुदायिक वासनाओं के प्रतीक समझे जाते हैं। ये वासुदेव वसुदेव के पुत्र भी हैं। एक बनावटी वासुदेव की कथा भी उस में आती है। यह वस्तुतः पौण्ड्रों का राजा था। पतञ्जली और वैष्णव धर्म के पद्मतंत्र में ऐसे दो वासुदेवों की चर्चा की गयी है जिनमें से एक 'तत्र भवत्' और दूसरा क्षत्रिय है। इसी महाभारत की भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण परमात्मा से कहते हैं—

'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।' इसमें वासुदेव का वृष्णिकुल से संबंध ज्ञात हो जाता है। जातकों में भी वासुदेव मथुरा के पास के एक राजा थे ऐसा उल्लेख आया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में 'वृष्णिसंघ' का उल्लेख आता है। बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस' में वासुदेव-सम्प्रदाय का उल्लेख है।[1] डा० भांडारकर के अनुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णि वंशियों का उपनाम था। तथा इन्हीं सात्वतों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हुए। भीष्म ने वासुदेव की पूजा पर विशेष जोर दिया है।

ऋग्वेद के अष्टम मंडल में 'कृष्ण' नाम के एक वैदिक ऋषि का उल्लेख है जो आंगिरस गोत्री हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद' के कृष्ण घोर-आंगिरस के शिष्य थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक कृष्ण और उपनिषद के कृष्ण एक ही गोत्र के होने से दोनों एक ही थे। घोर-आंगिरस की शिक्षाओं को कृष्ण ने गीता में सुरक्षित कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि 'छान्दोग्य' और 'गीता' की बहुत सी बातें मिलती हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद' में देवकी-पुत्र कृष्ण का नाम आता है।

१. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, पृ० ११-१२।

यदि कृष्ण आंगिरस हैं तो हम कह सकते हैं कि कृष्ण नामक ऋषियों की परम्परा ऋग्वेद से छान्दोग्य उपनिषद तक चली आयी है। सात्वतधर्म यादवों का धर्म था। जिस प्रकार वासुदेव-नारायण का एकीकरण हुआ उसी प्रकार से ऋषि कृष्ण भी वासुदेव से मिल गये। श्रीकृष्ण का धर्म भागवत धर्म कहलाता है। कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति और क्षत्रिय थे। सात्वत उन्हे ब्रह्म मानते थे। महाभारत-काल मे उनको ईश्वर नहीं माना जाता था। शिशुपाल उन्हे गाली देता था। भीष्म उन्हे सर झुकाते थे। इसी भागवत धर्म का दूसरा नाम एकान्तिक धर्म भी है।

सात्वत धर्म के वासुदेव कृष्ण और कंसारि कृष्ण की एकता—

देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण की एकता मान लेने पर भी उनके जीवन काल और जीवन चरित्र की ऐतिहासिक बातों का ठीक-ठीक पता लगाना बड़ा कठिन कार्य है। किन्तु कृष्ण और वासुदेव की प्राचीनता जिन बातों से सिद्ध होती है उनके प्रमाण इस प्रकार है—

१. गाथा या जातक टीकाकारों का मत है कि 'कृष्ण' एक गोत्र का नाम है। कार्ष्णायन गोत्र प्रचलित हुआ था। यह गोत्र वसिष्ठ और पाराशर गोत्र के अन्तर्गत आता है। ब्राह्मणों का गोत्र होने पर भी यज्ञ के समय क्षत्रिय अपने अनुष्ठानादि और अन्य कर्मादि उस गोत्र मे करा सकते थे। 'आश्वलायन सूत्र' के अनुसार यज्ञ मे क्षत्रिय का गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्र के अनुसार ही होता है। इस तरह वासुदेव कृष्णायन गोत्र के हो गये। वस्तुत यह गोत्र ब्राह्मणों का ही था। ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन कृष्ण सम्बन्धी समस्त ज्ञान वासुदेव में निहित था।

२ छान्दोग्य उपनिषद और गीता मे जो समानता मिलती है वह भी हमारी जिज्ञासा को शान्त करने वाला प्रमाण है। हमारी इस धारणा को वह प्रमाण और दृढ कर देता है कि गीता के कृष्ण और घोर आंगिरस कृष्ण एक ही थे। आंगिरस कुल मे 'कृष्ण' ऋषियों को कहा जाता था। वासुदेव की जब परम्परा बतायी गयी तो आंगिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को जो उपदेश दिये वे ही वासुदेव कृष्ण मे मिलते हैं।

'ईशोपनिषद'[1] के तृतीय प्रपाठक के १६ वें खंड के आरम्भ मे ऋषि ने पुरुष या मनुष्य को यज्ञ रूप माना है और आगे चलकर १७ वें खंड मे उनके

१. वैष्णवधर्म-पृ० २८-२९, परशुराम चतुर्वेदी और ईशोपनिषद।

जीवन सम्बन्धी विविध कर्मों की समानता, यज्ञ की दीक्षा उपसद स्तुतिशास्त्र, अभीष्ट एवम् अवभृथ के साथ दिखलाई है। अन्त में वे इस पुण्य यज्ञ-विद्या को समझाते हुए, देवकी पुत्र कृष्ण से कहते हैं कि मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपने अन्तिम समय में इन तीन पदों का उच्चारण करे। अर्थात् हे परमात्मन् आप अविनाशी हैं, आप सदा एकरस रहने वाले हैं, तथा आप सब के प्राणप्रद एवम् अतिसूक्ष्म हैं और इस संबन्ध में 'ऋग्वेद' एवम् 'यजुर्वेद' के दो आवश्यक मन्त्रों का भी उल्लेख करते हैं। इस उपदेश को श्रवण कर लेने के कारण कृष्ण की जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। ठीक इसी प्रकार का उपदेश भगवद्गीता में अध्याय १६, श्लोक १, २ अध्याय ८ श्लोक ५, ८, ६, १०, ११ आदि में भी है।[1]

यह समानता[2] केवल अकस्मात या संयोगवश ही नहीं है। इससे अवश्य तथ्य प्रतीत होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण, वास्तव में एक ही रहे होंगे। और उस महापुरुष ने अपने शिष्य रूप में ग्रहण किये हुए सिद्धान्तों के आधार पर ही उसने अर्जुन आदि भागवतानुयायियों को वह शिक्षा प्रदान की होगी। स्वयं कृष्ण के श्रीमद्-भगवद्गीता के ७ वें अध्याय के १६ वें श्लोक में—'बहूनाम् जन्मनामन्ते ज्ञान वान्मां प्रपद्यते। वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥ यह निष्कर्ष सत्य प्रतीत होता है।

उपलब्ध होने वाले शिला लेखों तथा प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत के कृष्ण, युधिष्ठिर आदि आज से करीब-करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान थे और वेद उनसे भी पूर्वकाल के हैं और वेदों की ऋचाएँ उनसे भी पूर्व काल की हैं। इस में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये।[3] भगवान् श्रीकृष्ण ने एवम् वासुदेव श्रीकृष्ण ने जिन-जिन सिद्धान्तों और बातों का उपदेश दिया था, जिनको सात्वतों और भागवतों ने अपनाया था, उन सब का मूलरूप भगवद्गीता में अवश्य सुरक्षित है और दार्शनिक दृष्टि से दो प्रमुख धाराएँ चलीं जिनको 'सांख्य' और 'योग' कहने लगे। इनके दूसरे नाम ज्ञान-योग और कर्मयोग भी थे।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥[4]

इनसे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। कंस को

---

१. भगवद्गीता, १६–१–२, ८–५–८–६–१० और ११ तथा ७–१६।

२ वैष्णव धर्म–परशुराम चतुर्वेदी।

३. पातञ्जल योग दर्शन–संपादक—डा० मनोरथ मिश्र, हरिकृष्ण अवस्थी, बृजकिशोर मिश्र—पृ० १।

४. भगवद्गीता–अध्याय ३, श्लोक ३।

मारकर महाभारत के युद्ध मे उन्होंने पाण्डवो की सहायता की थी। सांख्य और योग की अलग-अलग धारणाओं में सामंजस्य खोजा और निवृत्ति परक साम्य को प्रवृत्तिपरक कर्मयोग मे परिणत किया। वे ही निष्काम-प्रवृत्ति-परक-पथ के जन्मदाता भी थे। मनुष्य निमित्त मात्र है। सब कुछ भगवान् ही करते हैं। इसलिए भक्तों के लिए भगवान् की शरण ही सर्वस्व है। वैष्णव भक्ति-साहित्य और भक्तिशास्त्र इस बात का साक्षी है कि वासुदेव कृष्ण भक्ति के चरम आलम्बन बन गये। अद्वितीयता, विराटता और लोकोत्तरता से वे अपने आपको परम आराध्य देव सिद्ध कर चुके है।

वैष्णवों के भक्तिमार्ग का उद्‌गम्—

किसी गुण या गुणी के प्रति श्रद्धा, प्रेम और सेवा समन्वित भाव भक्ति कहा जा सकता है। भगवान् और मानव का हार्दिक सबन्ध हार्दिक भक्ति से जुड़ जाता है। इस शब्द के अन्तर्गत एक निष्ठा, अव्यभिचारित्व, एकान्तित्व आदि विशेषताएँ आती हैं। शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' इसका स्वरूप वर्णित है।[१] इसके दो रूप हैं एक भोगप्रधान और दूसरा त्यागप्रधान। प्रथम रूप मे ऐहिक एवम् लौकिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा बलवती रहती है। दूसरा रूप वह है जहाँ उपास्य देवता ही साध्य होता है। अत लौकिक सुख अनित्य और तुच्छ माना जाता है। भारतवर्ष को भक्ति के लिये किसी का ऋणी होना जरूरी नही है।

भक्ति रस भारत मे परिपूर्ण रूप से लहलहाता रहा है। संसार मे सर्वप्रथम वेदों में ही भक्ति का उद्‌गम खोजा जा सकता है। आचार्य ग्रियरसन और अन्य यूरोपीय विद्वान संसार के इतिहास मे ईसाई मत मे सर्वप्रथम भक्ति का उदय मानते हैं, परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक और गलत सिद्ध हो चुकी है। भक्ति के अलग-अलग रूप अलग-अलग युगो मे अलग-अलग ढङ्ग पर सामने आते रहे हैं। अनुराग-सूचक भक्ति शब्द ब्राह्मण और संहिता ग्रन्थो मे नही मिलते। पर भक्ति के अन्य रूपो का उसमे अवश्य दर्शन हो जाता है। वैदिक ऋषी पूर्ण उल्लास के साथ अपने उपकारक मित्र तथा सुहृद देवताओं के प्रति प्रेम भरे मंत्रों का उच्चारण करते थे। ये प्रेम भरे मन्त्रोच्चारण, स्तुतियाँ, सूक्त, ऋचाएँ प्रार्थनाएँ आदि नामो से प्रसिद्ध हैं।

मानव जीवन का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि कई तरह की प्रवृत्तियो के चक्रावर्तन होते रहे हैं। जब मानव की सामाजिक और

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र–सूत्र १।

जीवन सबन्धी विविध कर्मों की समानता, यज्ञ की दीक्षा उपसद स्तुतिशास्त्र, अर्थात् एवम् अवभृथ के साथ दिखलाई है। अन्त में वे इस पुरुष यज्ञ-विद्या को समझाते हुए, देवकी पुत्र कृष्ण से कहते हैं कि मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपने अन्तिम समय में इन तीन पदों का उच्चारण करे। अर्थात् हे परमात्मन् आप अविनाशी है, आप सदा एकरस रहने वाले हैं, तथा आप सब के प्राणप्रद एवम् अतिसूक्ष्म है और इस सबन्ध में 'ऋग्वेद' एवम् 'यजुर्वेद' के दो आवश्यक मंत्रों का भी उल्लेख करते हैं। इस उपदेश को श्रवण कर लेने के कारण कृष्ण की जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। ठीक इसी प्रकार का उपदेश भगवद्गीता में अध्याय १६, श्लोक १, २ अध्याय ८ श्लोक ५, ८, ९, १०, ११ आदि में भी है।[1]

यह समानता[2] केवल अकस्मात या सयोगवश ही नहीं है। इसमें अवश्य तथ्य प्रतीत होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण, प्राचीनकाल में एक ही रहे होंगे। और उस महापुरुष ने अपने शिष्य रूप में ग्रहण किये हुए सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने अर्जुन आदि भागवतानुयायियों को वह शिक्षा प्रदान की होगी। स्वय कृष्ण के श्रीमद्-भगवद्गीता के ७ वें अध्याय के १९ वें श्लोक से—'बहूनाम् जन्मनामन्ते ज्ञान वान्मा प्रपद्यते। वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥ यह निष्कर्ष सरल प्रतीत होता है।

उपलब्ध होने वाले शिला लेखो तथा प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत के कृष्ण, युधिष्ठिर आदि आज से करीब-करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान थे और वेद उनसे भी पूर्वकाल के हैं और वेदों की ऋचाएँ उनसे भी पूर्व काल की है। इस में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये।[3] भगवान् श्रीकृष्ण ने एवम् वासुदेव श्रीकृष्ण ने जिन-जिन सिद्धान्तों और वार्तों का उपदेश दिया था, जिनको सात्वतों और भागवतों ने अपनाया था, उन सब का मूलरूप भगवद्गीता में अवश्य सुरक्षित है और दार्शनिक दृष्टि से दो प्रमुख धाराएँ चलीं जिनको 'सांख्य' और 'योग' कहने लगे। इनके दूसरे नाम ज्ञान-योग और कर्मयोग भी थे।

लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ॥[4]

इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। कस को

१. भगवद्गीता, १६–१–२, ८–५–८–९–१० और ११ तथा ७–१९।

२. वैष्णव धर्म–परशुराम चतुर्वेदी।

३. पातञ्जल योग दर्शन–सपादक—डा० भगीरथ मिश्र, हरिकृष्ण अवस्थी, बृजकिशोर मिश्र—पृ० १।

४. भगवद्गीता–अध्याय ३, श्लोक ३।

मारकर महाभारत के युद्ध मे उन्होंने पाण्डवो की सहायता की थी। सांख्य और योग की अलग-अलग धारणाओं मे सामजस्य खोजा और निवृत्ति परक सांख्य को प्रवृत्तिपरक कर्मयोग मे परिणत किया। वे ही निष्काम-प्रवृत्ति-परक-पथ के जन्मदाता भी थे। मनुष्य निमित्त मात्र है। सब कुछ भगवान् ही करते हैं। इसलिए भक्तों के लिए भगवान् की शरण ही सर्वस्व है। वैष्णव भक्ति-साहित्य और भक्तिशास्त्र इस बात का साक्षी है कि वासुदेव कृष्ण भक्ति के परम आलम्बन बन गये। अद्वितीयता, विराटता और लोकोत्तरता से वे अपने आपको परम आराध्य देव सिद्ध कर चुके है।

वैष्णवों के भक्तिमार्ग का उद्गम्—

किसी गुण या गुणी के प्रति श्रद्धा, प्रेम और सेवा समन्वित भाव भक्ति कहा जा सकता है। भगवान् और मानव का हार्दिक सबन्ध हार्दिक भक्ति से जुड जाता है। इस शब्द के अन्तर्गत एक निष्ठा अव्यभिचारित्व, एकान्तिकत्व आदि विशेषताएँ आती हैं। शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' इसका स्वरूप वर्णित है।[१] इसके दो रूप हैं एक भोगप्रधान और दूसरा त्यागप्रधान। प्रथम रूप में ऐहिक एवम् लौकिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा बलवती रहती है। दूसरा रूप वह है जहाँ उपास्य देवता ही साध्य होता है। अत लौकिक सुख अनित्य और तुच्छ माना जाता है। भारतवर्ष को भक्ति के लिये किसी का ऋणी होना जरूरी नही है।

भक्ति रस भारत मे परिपूर्ण रूप से लहलहाता रहा है। ससार मे सर्वप्रथम वेदो मे ही भक्ति का उद्गम खोजा जा सकता है। आचार्य ग्रियरसन और अन्य यूरोपीय विद्वान ससार के इतिहास मे ईसाई मत मे सर्वप्रथम भक्ति का उदय मानते हैं, परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक और गलत सिद्ध हो चुकी है। भक्ति के अलग-अलग रूप अलग-अलग युगो मे अलग-अलग ढङ्ग पर सामने आते रहे हैं। अनुराग-सूचक भक्ति शब्द ब्राह्मण और सहिता ग्रन्थो मे नहीं मिलते। पर भक्ति के अन्य रूपो का उसमे अवश्य दर्शन हो जाता है। वैदिक ऋषी पूर्ण उल्लास के साथ अपने उपकारक मित्र तथा सुहृद देवताओ के प्रति प्रेम भरे मत्रो का उच्चारण करते थे। ये प्रेम भरे मन्त्रोच्चारण, स्तुतियाँ, सूक्त, ऋचाएँ प्रार्थनाएँ आदि नामो से प्रसिद्ध हैं।

मानव जीवन का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि कई तरह की प्रवृत्तियों के चक्रावर्तन होते रहे हैं। जब मानव की सामाजिक और

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र–सूत्र १।

वैयक्तिक दशा शान्तिपूर्ण होती है तब वह चाहता है कि कुछ काम किया जाय। अत वह ऐसे साधन और दर्शन खोज लेता है जिसमें कर्म-प्रवणता आ जाय। कर्मप्रधान मानव जब उसकी अति में थक जाता है तब उसकी थकान उसे चिन्तन और मनन की ओर चलने की प्रेरणा दे देती है, जिससे वह ज्ञानप्रवण बनने की चेष्टा करता है। इसी ज्ञान से वह विचार-प्रवण बनने लगता है। अपने और अपने से बाह्य अर्थात् शेष चेतन और अचेतन सृष्टि के नियमन और उसके नियामक के बारे में कुतूहल, जिज्ञासा, शान्तता, कृतज्ञता आदि भावों का उसके अन्त करण में उदय होने लगता है। उसकी गति भावना बढ़ने लगती है। कृतज्ञता सूचक, प्रशंसा करने वाली अर्चनाएँ, प्रार्थनाएँ, सूक्त आदि का निर्माण होने लगता है। इसी से भक्ति का रागात्मक उदय हो जाता है। इसका मूलत. सबन्ध भावना से है। हम भगवद्विषयक 'रति' शब्द का उल्लेख पुराने साहित्य में अधिक क्यों पाते हैं इसका कारण यही बार-बार आने वाली प्रवृत्तियों का चक्रावर्तन ही कहा जा सकता है। भक्ति के स्थान पर 'रति' शब्द अधिक रूढ था, बाद में यह 'भक्ति' में कैसे परिणित हुआ इसे देखा जाय तो वैष्णव साहित्य का मर्म समझ में आ सकेगा। 'रति' के स्थान पर 'भक्ति' शब्द का रूढ होना उसका ऐतिहासिक महत्त्व बतलाता है। 'भक्ति' शब्द क्यों रूढ हुआ इसके कारण खोजना समाजशास्त्र का विषय हो जायगा। यहाँ पर हम सक्षेप में भारत की वैष्णव-भक्ति के विकास पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि भक्ति के अनेक रूपों में से किस युग में कौन सा रूप अधिक प्रभावशाली रहा है।

आर्य जाति व्यक्तिनिष्ठ नहीं थी, अत. आर्य समाज का कोई व्यक्ति इस बात की कतई चेष्टा नहीं करता था कि उसका नाम इतिहास में अजरामर हो जाय उसने कभी इसकी परवाह भी नहीं की। इसका कारण लौकिक जीवन के प्रति उपेक्षा-वृत्ति ही हो सकता है। ऋग्वेद काल में भक्ति का रूप किस प्रकार का था यह देखना पड़ेगा। प्राचीन भारतीय अपना अन्तिम ध्येय पुरुषार्थ की सिद्धि मानते थे। इस पुरुषार्थ की सफलता के लिए की जाने वाली प्रार्थनाएँ या सूक्त मिलते हैं जो अनेक हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि बाह्य जगत पर सत्ता चलाने वाली देवताओं की इष्ट तथा योग्य आराधना करने से वे प्रसन्न होते थे और उस पुरुषार्थ का फल भी प्रदान करते थे। ऋग्वेद काल में इस लोक का सुखोपभोग ही उच्च पुरुषार्थ माना जाता था। विश्व में अनेक स्वरूपों में प्रकट होने वाली शक्तियों के प्रतीक एक या अनेक देवताओं को यज्ञादि मार्ग से सोमवल्ली प्रदान कर, स्तोत्रों की रचना करके सेवा या अनुराग से उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली जाती थी। धीरे-धीरे कर्म-मार्ग का जोर शोर बढ़ा और आर्य अन्तर्मुख होकर आत्म निर्भर होने

लगे। यज्ञादि कर्मों की विफलता लोग समझने लगे। फलतः अध्यात्म-विद्या को लोग अपने अन्तर्गत यज्ञ से, विचार, श्रद्धा, शुचिता से ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव किया जा सकता है यह प्रतिपादन करने लगे। उपनिषद्-काल में सारे विश्व के मूल कारण 'ब्रह्म' का महत्व बढ़ा और उपनिषद्काल के अन्तिम भाग में भक्ति की पुनः स्थापना हुई। श्वेताश्वतर उपनिषद में इसका उल्लेख यों मिलता है—

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यै ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'[1]

अर्थात् भक्ति का अर्थ प्रेम या अनुराग ही यहाँ पर प्रकट किया गया है। सर्वान्तर्यामिन् भगवान् ही जग की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करते हैं उनकी ज्ञानमय जानकारी मुक्ति का साधन है। परमात्मा का अनुग्रह जिस पर हो जाता है उसे ही सत्य-रूप-दर्शन होता है। भक्ति करने वाले इनसान पर ही यह अनुग्रह होता है। मुण्डकोपनिषद का यह स्वर देखिये—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुस्वाम्॥[2]

इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद में भी भक्ति की श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है।

मनोमय प्राणशरीरोभारूपः सत्य सकल्प आकाशात्मा।
सर्वकर्मा सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यातो अवाक्य नादरः॥[3]

यही कल्पना सगुण साकारोपासना में परिणत हुई जिसका मुख्य आधार भक्ति की कल्पना ही था। ईश, नारायण, महेश्वर, शिव आदि अनेक नाम और रूप प्रस्थापित होकर इनके अलग-अलग सगुण भक्ति-संप्रदाय भी प्रस्थापित हो गये। भगवद्गीता में भी यही बात निनादित हुई।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच॥[4]

---

१. तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड श्लोक १।
२. छान्दोग्यपनिषद ३–१४–२।
३. भगवद्गीता ६–३४।
४. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ६५–६६

इस तरह कहा जा सकता है कि वस्तुत सारे जग का अधिष्ठाता-एक ही सर्वात्मक विश्वेश्वर रूप परमात्मा है। उसके इन्द्र, वरुण अग्नि, मातरिश्वा आदि देवताओं के रूप भी उसी एक के विविध स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त ऋग्वेद से ही अनुस्यूत हुआ है। ब्रह्म तथा आत्मा को सत्य तथा जगत् को अनृत, उपनिषदकाल मे माना जाता था। ऋग्वेद काल की भक्ति का लक्ष्य सुखों की प्राप्ति के लिये आराधना ही परिलक्षित होता है। वेदों के भीतर जो विभिन्न स्तुतियाँ देखी जा सकती हैं उनसे यह अनुमान लगाना उपयुक्त ही होगा कि भक्त अपनी भाग्य हीनता से छुटकारा या दुःख की निवृत्ति तथा सकट का परित्राण ही चाहता था। ऐहिक सुखों के उपभोगों की प्राप्ति ही ऊँचा ध्येय तथा उच्च पुरुषार्थ है ऐसा भाव ऋग्वेद कालीन की गई स्तुतियों मे स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

मरणोत्तर जीवन के और विशेषत वहाँ प्राप्त होने वाले सुखों का या टाले जा सकने वाले दुखों का तथा उनके अनर्थों का उल्लेख प्राय कम ही मिलता है। स्वर्ग-लोक, अमृत-लोक, यम-लोक तथा विष्णु-लोक आदि का उल्लेख परमोच्च और नित्य स्थानों के लिए ही आया है। जैसे—

तदस्यप्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमेमध्व उत्स ॥
ता वां वास्तू न्युश्मसिगमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण' परम पदमवभाति भूरि ॥[१]

'जहाँ पर भक्तगण आनन्द से काल व्यतीत करते हैं वही विष्णु का प्रिय स्थान मुझे प्राप्त हो जाय। वहाँ जाने मे उरुक्रम विष्णु का सख्य प्राप्त हो जाता है। जिस स्थान पर न थकने वाले बहुशृङ्गी बैल रहते हैं और जो उषादेवी के रथो मे जोड़े जाते हैं, जहाँ पर निरन्तर अमृत का मधुर उत्स बहता रहता है— उस प्रदेश के प्रसाद मे रहने के लिये तुम दोनों को जाना चाहिये यही मेरी इच्छा है। यही पर उरुगाय पराक्रमी विष्णु भगवान् का परमोच्च तेजस्वी निवास स्थान अपने दिव्यतम तेज से प्रकाशित होता रहता है।'

भक्ति में अनिवार्यत [illegible] आवश्यक होती है। इस श्रद्धा का बीज-रूप इन स्तुतियों में दे[illegible] [illegible]न-भक्ति को 'हृदा मनसा' कहा गया है। ऋग्वेदकाली[illegible] [illegible] का है। दूसरे प्रकार का स्वरूप मानवीय स[illegible] [illegible] प्रकट

हुआ है। ऋग्वेदकालीन भक्ति प्रवृत्तिमूलक है। पादवदन तथा सकीर्तनादि भागवत पुराणों मे वर्णित नवविधा भक्ति का आंशिक रूप भी ऋग्वेद मे मिलता है।

पुरुषसूक्त[1] मे अवतारवाद के सिद्धान्तों का आधार मिलता है जिसमें ब्रह्म की नराकार रूप मे स्तुति की गई है। इस सूक्त मे उपास्य के प्रति स्वजन की तथा परिचय और सामीप्य की भावना निहित है।[2] इसमें नराकार भावना प्रथम बार आई है। अत हम यह कह सकते हैं कि सगुण भक्ति का बीज यहाँ पर विद्यमान है।

वेदोत्तरकाल की तरह अपनी देवताओं की निर्हेतुक भक्ति और निरतिशय प्रेम वेदकालीन भक्ति मे मिलना सभव नहीं है। अनासक्ति भावना तथा सुखोपभोगो के प्रति विरक्ति-जन्य भावना भी वहाँ पर नहीं मिलती। आर्यों का जीवन संघर्षमय था इसलिए ऐहिक जीवन के विषय मे निर्वेद या वैराग्य के बदले भक्ति को जीवन में सफलता प्राप्त करने का प्रमुख साधन समझा गया। प्रो वेलणकर[3] के मत से सगुण साकार या निर्गुण निराकार की भी अनत मूर्ति की कल्पना किये बिना निरासक्त विरक्ति पूर्ण भक्ति असभव है। क्योंकि भक्ति के लिये आलबन पक्ष की सहज प्राप्य प्रतिमा चाहिए। सपूर्ण प्रतिमा जिसका ध्यान पूजा आदि की जा सके वे ऋग्वेद मे नहीं मिलती है।[4] परन्तु इन देवताओं की प्रार्थना करने की दृष्टि से जो अत्यन्त आवश्यक अगो या मानवी अवयवों की जैसे—आँख, कान, मुह, पेट आदि की कल्पना ऋग्वेद मे मिलती है जैसे देखिए—

श्रवण—सेदु श्रवो मिर्युज्य चिद्भ्यसत्।[5]

चेतन जीव ध्यान गम्य परमात्मा का उसके यश श्रवण द्वारा प्राप्त करने का अभ्यास करें।

---

१. अतो देवा अवतुनो यतो विष्णुर्विचक्रमे ॥ पृथिव्याः सप्त धामभि ॥
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पद ॥ समूल्ह अस्य पांसुरे ॥
त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ॥ —पुरुषसूक्त ३-४।

२. ऐसा कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में पुरुषसूक्त भले ही आगया हो पर वह बाद का जोड़ा हुआ है। अनुमानत नारायणीय धर्म की स्थापना के बाद नारायण रूप का वर्णन करने वाले सूक्त एवम् रचनाएं लिखी गई होंगी।

३. ऋग्वेदांतील भक्तिमार्ग-प्रो. ह. दा. वेलणकर।

४ वेदमें नवधा भक्ति—कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए० आचार्य शास्त्री, 'कल्याण', वर्ष २० अङ्क ५।

५. ऋग्वेद १-१५६-२।

उपनिषदकाल मे ब्रह्म की भावना अपनी चरम पराकाष्ठा पर जा पहुँची। पुरुष नारायण ने पाचरात्र मत्र की विधि चलाई और ब्राह्मणकाल मे नारायण सगुण परमेश्वर के रूप में अर्थात् नर समष्टिका आश्रय बनकर उपस्थित हुए। भारतीय भक्ति-मार्ग मे ब्रह्म की उपासना बाहर और भीतर अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द के रूपो मे करनी चाहिए यही कहा गया है। यही पूर्णोपासना की भक्ति पद्धति भारत मे ग्रहण की गई है। ब्रह्म को इस मार्ग के भक्त बाहर और भीतर अर्थात् सर्वत्र देखते हैं। निर्गुणी स्वातन्त्र्य ब्रह्म का निरूपण करते हैं तो सगुणी, तुलसी, सूर जैसे भक्त राम के नाम लेने पर अन्तर्यामिन् और पँज पडने पर पाहन से भी प्रकट होते हैं यह कहते हुए दिखाई देते हैं। वैदिक-भक्ति, ज्ञान, कर्म व उपासना इन तीनो के समुज्ज्वल रूप मे विकसित हुई, जिसका स्वरूप निर्मल था और समस्त निवृत्ति-परक और प्रवृत्ति-परक अशो से वह युक्त थी।

भक्त की उपास्य से समरसता—

प्रेम वही उच्च कोटि का समझा जाता है जिसमे भक्त अपना अस्तित्व भूलकर उपास्य से समरस हो जाता है। यही स्थिति पराभक्ति अनुरक्ति-भक्ति की है। सच्ची भक्ति का यही मूल बीज ऋग्वेदकालीन भक्ति मे विद्यमान था। अत कहा जा सकता है कि भक्ति की दोनो अवस्थाएँ ऋग्वेदकालीन भक्ति मे विद्यमान थी।

आगे चलकर के वैष्णव भक्ति को प्रभावित करने वाले उपनिषदो मे निम्नलिखित तत्त्व प्रमुख हैं जिनका यहाँ पर स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

उपनिषद-काल का आरम्भ २५०० विक्रमपूर्व माना जाता है। श्री चितामणि विनायक वैद्य ने उपनिषदो की प्राचीनता के विषय मे दो साधन निर्णयार्थ प्रस्तुत कर दिये हैं। (१) विष्णु या शिव का परम उपास्य के रूप में वर्णन, तथा (२) प्रकृति पुरुष-तत्त्व तथा सत्व, रज, तम इन त्रिविध गुणों के साख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन। यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदो मे वैदिक देवताओं के परे एक अनामरूप ब्रह्म को ही इस विश्व का सृष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया गया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित उपनिषदो को सर्व प्राचीनता नितान्त रूप से मान्य है, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य। इसके अनन्तर कठोपनिषद का क्रम आता है। इसमे विष्णु को परमपद पर प्रतिष्ठित किया गया है।[1] अत प्रथम श्रेणी मे छान्दोग्य से माण्डूक्य तक के उपनिषद आ

१. देखिये—वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, ० २४९-५०।

जाते हैं क्योंकि ये तत्वत वेदों के आरण्यकों के अग होने से निसदिग्ध रूप से प्राचीन हैं। द्वितीय श्रेणी में कठोपनिषद तथा श्वेताश्वतर और कौषितकी, तथा मैत्रायणीय उपनिषद तृतीय श्रेणी में रखे जाते हैं।

ईश उपनिषद कर्मसंन्यास का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि यावज्जीवन निष्काम क्रिया का सपादन करने का प्रतिपादन करता है। इसी का अनुवर्तन श्रीमद्भगवद्गीता अनेक युक्तियों के उपन्यास के साथ कराती है। अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन एवम् ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, तथा विद्या-अविद्या, सभूति असभूति का भी विवेचन इसमें किया गया है। कठोपनिषद में 'नेह नानास्ति किंचन' का गभीर उद्घोष है। यमराज के द्वारा अद्वैत तत्त्व नाचिकेता को समझाया गया है। नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन रहने वाला यह ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा का निवासी है। इसका दर्शन करना ही शान्ति का एकमात्र साधन माना गया है। मुज में जैसे इषीका[१] बनती है वैसे ही इसी शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि करनी चाहिये। यही इसका व्यावहारिक उपदेश माना जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह मन्त्र प्रधान है। वेदान्त में यह शब्द सर्व प्रथम यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इसे हम द्वैतवाद का प्रधान स्तभ मान सकते हैं। ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में अस्त होने से की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद—यह सामवेदीय उपनिषद प्राचीनता, गभीरता तथा ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितान्त प्रौढ, प्रामाणिक तथा प्रमेय बहुल है। इसके तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। गायत्री का वर्णन, घोर-आंगिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्मशिक्षा मिलना (३-१७) तथा अत में अड से सूर्य जन्म का विवेचन (३-१६) इन सारी बातों का सुन्दर प्रतिपादन है। इस अध्याय का (३-१४-१) 'सर्वम् खलु इदम्-ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है इस अद्वैत सिद्धान्तों के मुख्य सूत्र का विजय घोष करता है। बृहदारण्यक में तो अध्यात्मिक शिक्षा का यह महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया है तथा औपनिषदिक युग का सर्वमान्य तत्त्वज्ञान माना जाता रहा है। याज्ञवल्क्य ने इसे प्रसारित किया है।[२]

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिधासितव्यो मैत्रेयि।[३]

---

१ इषीका=सींक।

२. वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, पृ० २५६-६०।

३. बृहदारण्यक उपनिषद ४-५-६।

ब्रह्म को आत्मा के परे देखा, सुना और ध्यान मे रखा जाता है अतः उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ऐसा कहा गया है। यह दार्शनिकता अपूर्व है।

श्वेताश्वतर उपनिषद मे गुरुभक्ति-देवभक्ति का रूप है—'यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरो।'[१] भक्ति तत्त्व का प्रथम प्रतिपादन उपनिषद की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब साख्य का वेदान्त से पृथक्करण नहीं हुआ था तथा वेदान्त मे माया का सिद्धान्त प्रस्थापित नहीं हो पाया था। त्रिगुणो की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का निस्सन्देह विवेचन है। 'अजा मेका लोहित-कृष्णा शुक्लाम्।[२] 'परन्तु इसे हम पूर्ण रूप मे साख्य तत्त्व नही कह सकते। गीता ने क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वो का समावेश यही से किया है। शिव परमात्म तत्त्व के रूप मे अनेकश वर्णित है। वेदान्त तथा साख्य के उदयकालीन सिद्धान्तो के लिये यह महत्त्वपूर्ण उपनिषद है।[३] 'अमृताक्षर हर।'

यहाँ पर हमने केवल उन्ही उपनिषदो का सक्षिप्त विवेचन किया है जिन्होंने वैष्णवदर्शन को विशेष रूप से प्रभावित किया है।[४]

वैदिक साहित्य कर्मकाण्ड से ओतप्रोत था। उपनिषदों में ज्ञान तत्त्व विशेष रूप मे परिलक्षित हुआ जो पौराणिक युग मे भाव या उपासना तत्त्व बनकर सामने आया। औपनिषदिक ज्ञान दो रूपों में विशेष द्रष्टव्य है। (१) जगत के विराट का ज्ञान देने वाला जो आगे चलकर 'साख्य' बनकर सामने आया (२) आत्मज्ञान पर आधारित योग (Self Realization) बनकर सामने आया जो आत्मा का ज्ञान देने वाला है। ब्रह्म के विविध स्वरूपो का विस्तारपूर्वक वर्णन यहीं पर मिलता है।

ब्रह्म साक्षात्कार के विविध मार्ग भी इसी युग मे फैले। ज्ञान प्रधान काल होने से भक्ति भी ज्ञानाश्रित हो गयी। यहाँ पर दो स्वतंत्र धाराएँ हमें स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाती हैं। प्रथम योग, तथा दूसरी भक्ति कहलाई। एक मे हृदयपक्ष-समन्वित-ज्ञान था, तथा दूसरे मे बुद्धि या केवल विशुद्ध ज्ञान था। उपास्य के सगुण सविशेष तथा निर्गुण निर्विशेष दोनो रूप उपासकों के सामने आये। 'त्व ब्रह्मा त्वं च वै विष्णु त्व रुद्र त्व प्रजापति।'[५] इस तरह सगुण विष्णु स्वरूप की प्रतिष्ठा

१. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–२३।
२. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–४–५।
३. श्वेताश्वतर उपनिषद १–१०।
४. वैदिक साहित्य–बलदेव उपाध्याय, २५९–६०।
५. मैत्रायण्युपनिषद ४–१२–१३।

वृद्धिगत होती गयी और उनको जगतपालक एवम् अन्न का स्वरूप समझा जाने लगा। कठोपनिषद में आत्मा की ऊर्ध्वगामी गति को विष्णु के परमधाम की ओर जाने वाला पथिक बतलाया गया है।[१] पुरुषनारायण ने विष्णु की नराकार भावना में और उपास्य के सान्निध्य की उत्कंठा में पांचरात्र यज्ञ की विधि चलाई।[२] यहीं से अहिंसा तत्त्व का समावेश वैष्णव धर्म के अन्तर्गत हो गया। इस प्रकार सत्वगुण प्रधान होने से वैष्णव धर्म सात्वत धर्म कहलाया। इसी का दूसरा नाम भागवत धर्म है। गीता इस धर्म का साररूप धर्म ग्रन्थ है। 'नूनम् एकान्त-धर्मः अयं श्रेष्ठो नारायण प्रियः।'[३] भागवतों की दृष्टि से एकान्तिक धर्म सर्व श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि यह स्वयं नारायण या भगवान को प्रिय है। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक कार्य करते समय कार्य करने वाले को अपनी यह धारणा बना लेनी चाहिये कि इस कार्य में वह भगवान की इच्छा पूर्ति में एक साधन मात्र है।[४] निरंतर इस प्रकार की मनोवृत्ति रखकर कार्य करने से मानसिक विकारों से छुटकारा मिल जाता है। सर्वव्यापक ईश्वर में दृढआस्था तथा सभी वस्तुओं को समभाव से देखने का अभ्यास बढ़ जाता है। इस लोक में तथा सर्वत्र सभी चीजें प्रकृति के सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से युक्त हैं। इनसे कोई भी मुक्त नहीं है। देह धारण करने वाले देही के शरीर में आसक्ति डालने का कार्य ये तीन गुण ही करते रहे हैं। इसलिए सभी प्राणियों के हृदयों में रहकर उन्हें अपनी माया से किसी यन्त्र पर चढ़ाये गये वस्तु की तरह घुमाने वाले भगवान में विश्वास कर उसकी शरण में 'सर्व भाव' से जाना चाहिये। तब उसी के अनुग्रह में परमशान्ति एवम् नित्य स्थान पाने का वह अधिकारी बन जाता है। अर्जुन को बार-बार श्रीकृष्ण समझते हैं कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है अतः उसी की एकनिष्ठ उपासना करनी चाहिये। वे कहते हैं—[५]

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझ में अपना मन लीन करते हुए अपनी बुद्धि मुझ में ही स्थिर कर।

---

१. कठोपनिषद ३–९।

२. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—
कृष्णदत्त भारद्वाज–कल्याण, वर्ष १६ अङ्क ४।

३. महाभारत १२–३४८–४।

४ श्रीमद्भगवद्गीता १८–४०, १४–५, ३–२७, १८–६१, १८–६२।

५. श्रीमद्भगवद्गीता १२–८।

इसका फल यह होगा कि निस्सन्देह तू मुझ मे ही निवास करेगा। आत्म समर्पण तथा एकान्त निष्ठा इस धर्म की सर्व प्रमुख बातें हैं।

नारायणीय धर्म या नारायणीय सम्प्रदाय—

इस धर्म का प्रतिपादन महाभारत के शान्ति-पर्व में किया गया है। इस दार्शनिक सिद्धान्त को मेरु पर्वत पर सप्तऋषियो को और स्वायंभुव मनु को सुनाया गया था। इसी परम्परा से यह चलता रहा ऐसा भगवान् का कहना है। बृहस्पति तक परम्परा से प्राप्त यह धर्म वसु-उपरिचरतक सम्प्राप्त होता गया। इस मत मे दीक्षित हो जाने पर उन्होने एक अश्वमेध यज्ञ किया था जिसमें पशुबली नही दी गई, तथा यज्ञ का सपूर्ण विधान आरण्यक के अनुसार हुआ। यज्ञकर्ता वसु को विष्णु ने दर्शन देकर यज्ञ भाग ग्रहण किया था। अन्य पुरोहितो अथवा ऋषियो को दर्शन नही हुआ। बृहस्पति इसलिए क्रोधायमान हुए। तब अपने अनुभवो के आधार पर एक्ता, द्विता और त्रिता ऋषियो ने उन्हे समझाया कि हरि के दर्शन प्रत्येक को नही होते। उनकी कृपा जिन पर होती है वे ही उनके दर्शनों के अधिकारी हैं। वसु जैसे एकान्तिक उपासक से ही वे प्रसन्न होते हैं। बलि-पशु-युक्त यज्ञ-यागादि करने वाले बृहस्पति जैसे लोगो से वे अप्रसन्न रहते हैं। नारायण से नारद ने इस धर्म को ग्रहण किया और उनका दर्शन करने वे श्वेत दीप मे गए, तथा वहाँ जाकर परब्रह्म भगवान् की पवित्रता, ऐश्वर्य, वैभव आदि का वर्णन करते हुए प्रार्थना की। तब भगवान् ने उनको दर्शन दिये और कहा कि जो केवल मेरा ही भजन करते हैं उन एकान्त साधको पर प्रसन्न होकर मैं उन्हे दर्शन देता हूँ। अब मैं तुम्हे अपना वासुदेव धर्म सुनाता हूँ।

वासुदेव ही परब्रह्म है। वे आत्माओ के भी आत्मा हैं। वे सृष्टि कर्ता हैं। सकर्षण वासुदेव के ही रूप हैं तथा जीवमात्र के प्रतीक हैं। मनस्तत्व के प्रतीक प्रद्युम्न, सकर्षण से, तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध, प्रद्युम्न से ही निकले हैं। इस तरह सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध मेरी ही मूर्तियाँ हैं। देवता, मनुष्य तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति मुझमें होती है और वे मुझमे लीन हो जाते हैं। वराह, नृसिंह, परशुराम, रामचन्द्र आदि मेरे ही अवतार हो चुके हैं तथा कस आदि असुरो को मारने के लिए मैं फिर अवतार लूगा। उस समय अपने उपर्युक्त चार रूपो मे सब कार्य सुसपन्न कर के और सात्वत द्वारा द्वारिका नगरी का नाश करके, ब्रह्म लोक चला जाऊँगा। नारद ने यह सुना और वे बद्रिकाश्रम मे स्थित नर-नारायण के स्थान पर लौट आये। इसी पर्व के अन्य अध्यायो मे वे अपनी तीनो मूर्तियो या मूल तत्वों की सहायता से निष्पाप साधक की मुक्ति का वर्णन करते हैं। ऐसा

साधक मृत्यु के पश्चात् सर्व प्रथम सूर्य लोक में जाता है, जहाँ उसके सब लौकिक गुण जल जाते हैं तथा वह सूक्ष्म रूप धारण करता है तब वह अनिरुद्ध में प्रवेश करता है; वहाँ वह मन बनकर प्रद्युम्न में प्रविष्ट हो जाता है। फिर इस रूप को भी छोड़कर संकर्षण अर्थात् जीव में प्रवेश करता है। फिर त्रिगुणों से छुटकारा पाकर षट-घटवासी परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है। वसु उपरिचर के आख्यान में भगवान् वेदव्यास ने अहिंसायुक्त यज्ञों की महत्ता को स्थापित किया। इस धर्म में वैदिक, शास्त्रीय यज्ञ कर्मानुष्ठानों को उपनिषद-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय प्रधान-भक्ति को समान स्थान प्राप्त है।[१] नारायणीय सम्प्रदाय में व्यूहों की पूजा का विधान है।

श्रीमद्भागवत् में सात्वतों को महान् भागवत तथा वासुदेव परायण ब्राह्मण बतलाया है। जिनकी अपनी विशिष्ट पूजा पद्धति है। इसमें सात्वत, अन्धक तथा वृष्णियों को यादव वंशीय बताया गया है और वासुदेव को सात्वतधर्म कहा है।[२] इस पूजा-विधान को अपनाने वाले सात्वत कहलाते थे। इनके उपास्य देवता परमात्मा के ही अवतार नर रूपी वासुदेव हैं। वासुदेव की पूजा उनके प्रभावतार व्यूहों के साथ होती है तथा अपने विशिष्ट अलौकिक गुणों के कारण वे समस्त वंश के पूजनीय हैं। वृष्णि, अन्धक आदि समस्त शाखाएँ यादव कुल की हैं। सात्वतों ने विदर्भ, मैसोर तथा सुदूर द्रविड़ देश में अपने उपनिवेश बसाए थे। द्रविड़ देश में पांचरात्र सम्प्रदाय के प्रचार का कारण सात्वतों का आगमन ही था। द्रविड़ देश के अनेक नरेश अपना सम्बन्ध सात्वतवंशीय कृष्ण से जोड़ते हैं। पूर्वोत्तर 'महीशूर' पर राज्य करने वाले 'इहन गोवेड' नामक तामिल सरदार ने अपने को द्वारिका के कृष्ण की ४६ वीं पीढ़ी में बतलाया है। इन प्रमाणों के बल पर आयगार का मत है कि सात्वत वंशीय क्षत्रियों का द्रविड़ देश में वैष्णव धर्म का प्राबल्य बहुत रहा।[३] द्रविड़ों के सम्बन्ध का ऐतरेय ब्राह्मण का यह उल्लेख द्रष्टव्य है—[४]

एतस्यां दक्षिणस्यांदिशि ये के च सात्वता राजानो भौज्यायैव ते।
अभिषिच्यन्ते। भोजेति एनाम् अभिषिक्तानाचक्ष ते॥

पचरात्र मत की उत्पत्ति तो उत्तर भारत में हुई—विशेषत. उनका प्रादुर्भाव

---

१. देखिये—महाकवि सूरदास-आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० १३-१५।
२. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर भांडारकर, वाल्युम ४।
३. एस. के. अयंगार—परम संहिता इन्ट्रोडक्शन
पृ० १५-१७ जी. ओ. एस्. नं० ८ ई० १९४०।
४. ऐतरेय ब्राह्मण ८-३-१४।

ब्रज-मण्डल में हुआ था। यह सिद्धांत उन पश्चिमी विद्वानों को स्वयं ही एक मुँह तोड़ उत्तर है जो भक्ति को दक्षिण भारत में ही ईसाई भक्तों के सम्पर्क से तथा दसमगती के आस-पास उत्पन्न हुआ मानते हैं। अर्थात् भक्ति स्पष्ट रूप से भारतीय वातावरण में उत्पन्न अपनी ही निजी सम्पत्ति है।[1]

पाचरात्र मत—

यह मत ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में प्रचलित था। गीता के सात्वत, भागवत या एकान्तिक धर्म का विकसित रूप पाचरात्र मत है। पाचरात्रों का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह सिद्धान्त[2] है। पाचरात्रों के सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से सकर्षण अर्थात् जीव, सकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहकार की उत्पत्ति होती है। इनकी संहिताओं के प्रतिपादन के चार मुख्य विषय हैं—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव, तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनभूत योग-प्रक्रियाओं का वर्णन (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यन्त्रों की पूजा-पद्धति, विशेष पर्वों के उत्सव आदि।[3]

पाचरात्रों ने नारायण के छ दिव्य गुणों की भी चर्चा की है। ये भी यज्ञ-याग की हिंसा के विरुद्ध थे। यह आस्तिक वैदिक मत था, अत क्रान्तिकारी सुधारकों बौद्धों, जैनियों के आगे वह उतना ऐतिहासिक महत्त्व नहीं पा सका। फिर भी उसने काफी कार्य इसके प्रचार का किया है। आगे चलकर इसी मत ने रामानुज के समय पुन अपना उत्कर्ष दिखाया और अपना प्रभाव युग पर भी छोड़ा। पाचरात्र सिद्धांत को वैष्णव आगम या वैष्णव तन्त्र भी कहा जाता है। इसमें व्यूह के बाद भगवान् का रूप 'विभव' है। विभव का रूप अवतार है और ये ३६ हैं। ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि विभव हैं। अन्तर्यामिन् भगवान् ब्रह्म का सर्वव्यापक रूप है। वाराह, वामन, भार्गवराम, दाशरथी-राम और कृष्ण ये अवतार हैं। आगे हस, कूर्म, मत्स्य एवम् कल्कि इन नामों को मिलाकर यह संख्या दस कर दी गई है। पाचरात्रों ने सांख्यों और वेदान्तियों के तत्वों को ले लिया है। वे माया को स्वीकार करते हैं और माया ही गुणों से सृष्टि बतलाई है। पाचरात्रों के अनुसार प्रकृति पुरुष के आश्रित होकर कार्य करती है।

---

१. भागवत सम्प्रदाय–बलदेव उपाध्याय, पृ० १०४।
२. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३०–३१।
३. भारतीय दर्शन–बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६० तथा इन्ट्रोडक्शन टू पचरात्र ॲंड अहिर्बुध्न्य संहिता—पृ०, २२–२६–श्रेडर।

ब्रह्म अनादि अनन्त तथा सर्वव्यापी है। ज्ञान, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस् इन छ गुणो के कारण वे प्रधानता मे भगवान् तथा व्यापक होने से वासुदेव हैं। कहा भी है—'वासनात् वासुदेवस्य वासित भुवनत्रय.।' ज्ञान ब्रह्म का गुण भी है और शक्ति भी। शक्ति से आशय यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अनायास जगत् की रचना के कारण ही 'बल' नामक गुण बतलाया गया है। जगत् रचना की शक्ति ऐश्वर्य है। अधिकारी होने से भगवान् वीर्यवान हैं।

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है। दोनो का सम्बन्ध द्वैतपरक है। प्रलयकाल मे भी ये भिन्न रहते हैं। नितान्त भिन्न भी नही रहते। सूर्य तथा आतप की तरह द्वैता-द्वैत भाव ही रहता है। लक्ष्मी के सृष्टि काल मे दो रूप होते हैं। (१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। इनके अभाव मे भगवान् निर्विकार होता है। तरङ्ग की तरह भगवान् से पृथक होकर लक्ष्मी सृष्टि रचती है। इसे ही शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

भगवान् के चार रूपो मे व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामिन अवतार होते हैं। छ गुणो मे से दो-दो गुण मिलकर व्यूह बनाते हैं। सकर्षण मे ज्ञान+बल रहता है। प्रद्युम्न मे ऐश्वर्य+वीर्य तथा अनिरुद्ध मे शक्ति+तेज रहता है। सकर्षण का कार्य सृष्टि है। प्रद्युम्न क्रिया की शिक्षा देते हैं। अनिरुद्ध मोक्ष का तत्व है। शकराचार्य ने इस व्यूह मत का खडन किया है। उनके मतानुसार वासुदेव से सकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है। सकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उनसे अनिरुद्ध (अहकार) की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध सृष्टि मे—प्रद्युम्न 7कूटस्थ पुरुष 7मायाशक्ति 7नियति 7काल-सत्व, रज, तम, बुद्धि अहकार वैकारिक, तेजस् और भूतादि हैं। भूतादि, तामस से उत्पन्न, पचतन् मात्रा तथा उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

पाचरात्र मतानुसार १ पुरुष १ प्रकृति १ महतत्व या बुद्धि १ अहङ्कार १ अहङ्कार के तीन प्रकार—१. सात्विक, २ राजस ३ तामस। सात्विक से एक मन और दस इन्द्रियाँ तथा तामस से पाँच तन्मात्राएँ को मिलाकर सृष्टि-प्रक्रिया होती है।

जीव—यह वासुदेव का क्रीडा विलास है। भगवान की इच्छा शक्ति ही सुदर्शन है। यह उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, निग्रह तथा अनुग्रह इन पाचशक्तियो की समष्टि मात्र है। सृष्टिकाल में जीव से भगवान् की तिरोधान शक्ति, जीव का विभुत्व, सर्वशक्तिमत्ता, तथा ज्ञान को छीन लेती है। अत जीव अज्ञ होकर योनियो मे भटकता रहता है। जीव के दुखों को देखकर भगवान् को दया आती

है। जीव को ज्ञान देकर वे कर्मों का नाश कर देते हैं। इसके फलस्वरूप उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् की अनुग्रह शक्ति को उसके मन्दिर बनाना, मूर्ति पूजा करना, योग का साधन करना तथा प्रमुख रूप से भक्ति करना आदि से प्राप्त किया जाता है। सब से श्रेष्ठ उपाय शरणागति है। यह छ प्रकार की होती है। (१) भगवान् की अनुकूलता के प्रति कृतसङ्कल्प होना, (२) भगवान् के विरुद्ध न होना (३) भगवान् के द्वारा रक्षा होगी ऐसा दृढ विश्वास रखना। (४) भगवान् रक्षक हैं यह भावना रखना। (५) आत्मसमर्पण और (६) दीनता। भक्त को पचकाललक्षी भी कहते हैं। उसमे ये पाँच बातें रहती हैं। (क) जप, ध्यान, पूजा द्वारा भगवान् से उन्मुख होना (ख) उपादान, पुष्प फलादि का पूजा के लिए सग्रह (ग) यज्ञादि। (घ) अध्याय, अध्ययन, मनन, उपदेश। (ङ) योग-यौगिक क्रियाएँ करना आदि। ब्रह्म के साथ एकाकार होना ही मोक्ष है। सरिता समुद्र की एकता के समान दोनों एक हो जाते हैं। शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ मे जीव-भगवान् के साथ विहार करते हैं। वहीं अन्य नित्य जीव गरुड आदि भी मिलते हैं। जीव अणुरूप है। उसका ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। पाचरात्र मत परिणामवाद को मानता है। वल्लभ और चैतन्य मत मे जाकर यही वैकुण्ठ की कल्पना गोलोक मे बदल गई है। वैष्णव-पूजा पद्धति में तथा क्रियाकाण्ड के लिए पाचरात्र ने बडी सहायता की है। रामानुज के बाद व्यूहवाद नही मिलता। पाचरात्र वेद का ही एक अंग है। गीता के बाद पाचरात्र-मत भक्ति के विकास मे दूसरा महत्वपूर्ण सोपान है।

पाचरात्र का अर्थ—

'पाचरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। महाभारत के अनुसार चारो वेद तथा साख्य योग के समन्वय से इस मत को पाचरात्र यह सज्ञा दी गई। ईश्वर सहिता[1] के कथनानुसार शाडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाच रात्रियो मे जो उपदेश दिया था उसे पाचरात्र कहते हैं, तो पद्मसहिता के अनुसार इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड गए थे। अत इस मत को पाचरात्र कहा जाता है। नारद[2]-पाचरात्र, के अनुसार इसके विवेच्य विषयो की सख्या ही इसके नामकरण का कारण मानी जाती है।[3] रात्र का अर्थ है ज्ञान। जैसे—

१. ईश्वर सहिता, अध्याय २१।
२. नारद पांचरात्र, १-४५-५३।
३. ,, ,, १-४४।

ब्रह्म अनादि अनन्त तथा सर्वव्यापी है। ज्ञान, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस् इन छः गुणों के कारण वे प्रधानता से भगवान् तथा व्यापक होने से वासुदेव हैं। कहा भी है—'वासनात् वासुदेवस्य वासित भुवनत्रयः।' ज्ञान ब्रह्म का गुण भी है और शक्ति भी। शक्ति से आशय यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अनायास जगत् की रचना के कारण ही 'बल' नामक गुण बतलाया गया है। जगत् रचना की शक्ति ऐश्वर्य है। अधिकारी होने से भगवान् वीर्यवान हैं।

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है। दोनों का सम्बन्ध द्वैतपरक है। प्रलयकाल में भी ये भिन्न रहते हैं। नितान्त भिन्न भी नहीं रहते। सूर्य तथा आतप की तरह द्वैता-द्वैत भाव ही रहता है। लक्ष्मी के सृष्टि काल में दो रूप होते हैं। (१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। इनके अभाव में भगवान् निर्विकार होता है। तरङ्ग की तरह भगवान् से पृथक होकर लक्ष्मी सृष्टि रचती है। इसे ही शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

भगवान् के चार रूपों में व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामिन अवतार होते हैं। छः गुणों में से दो-दो गुण मिलकर व्यूह बनाते हैं। संकर्षण में ज्ञान+बल रहता है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य+वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति+तेज रहता है। संकर्षण का कार्य सृष्टि है। प्रद्युम्न क्रिया की शिक्षा देते हैं। अनिरुद्ध मोक्ष का तत्त्व है। शंकराचार्य ने इस व्यूह मत का खंडन किया है। उनके मतानुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उनसे अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध सृष्टि में—प्रद्युम्न 7कूटस्थ पुरुष 7मायाशक्ति 7नियति 7काल-सत्व, रज, तम, बुद्धि अहंकार वैकारिक, तैजस् और भूतादि हैं। भूतादि, तामस से उत्पन्न, पंचतत् मात्रा तथा उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

पांचरात्र मतानुसार १ पुरुष १. प्रकृति १ महतत्त्व या बुद्धि १ अहङ्कार १ अहङ्कार के तीन प्रकार—१ सात्विक, २. राजस ३ तामस। सात्विक से एक मन और दस इन्द्रियाँ तथा तामस से पाँच तन्मात्राएँ को मिलाकर सृष्टि-प्रक्रिया होती है।

जीव—यह वासुदेव का क्रीड़ा विलास है। भगवान् की इच्छा शक्ति ही सुदर्शन है। यह उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, विग्रह तथा अनुग्रह इन पांचशक्तियों की समष्टि मात्र है। सृष्टिकाल में जीव से भगवान् की तिरोधान शक्ति, जीव का विभुत्व, सर्वशक्तिमत्ता, तथा ज्ञान को छीन लेती है। अतः जीव अज्ञ होकर योनियों में भटकता रहता है। जीव के दुःखों को देखकर भगवान् को दया आती

है। जीव को ज्ञान देकर वे कर्मों का नाश कर देते हैं। इसके फलस्वरूप उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् की अनुग्रह शक्ति को उसके मन्दिर बनाना, मूर्ति पूजा करना, योग का साधन करना तथा प्रमुख रूप से भक्ति करना आदि से प्राप्त किया जाता है। सब से श्रेष्ठ उपाय शरणागति है। यह छः प्रकार की होती है। (१) भगवान् की अनुकूलता के प्रति कृतसङ्कल्प होना, (२) भगवान् के विरुद्ध न होना (३) भगवान् के द्वारा रक्षा होगी ऐसा दृढ विश्वास रखना। (४) भगवान् रक्षक हैं यह भावना रखना। (५) आत्मसमर्पण और (६) दीनता। भक्त को पंचकालज्ञी भी कहते हैं। उसमें ये पाँच बातें रहती हैं। (क) जप, ध्यान, पूजा द्वारा भगवान् से उन्मुख होना (ख) उपादान, पुष्प फलादि का पूजा के लिए संग्रह (ग) यज्ञादि। (घ) अध्याय, अध्ययन, मनन, उपदेश। (ङ) योग-यौगिक क्रियाएँ करना आदि। ब्रह्म के साथ एकाकार होना ही मोक्ष है। सरिता समुद्र की एकता के समान दोनों एक हो जाते हैं। शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में जीव-भगवान् के साथ विहार करते हैं। वहीं अन्य नित्य जीव गरुड आदि भी मिलते हैं। जीव अणुरूप है। उसका ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। पांचरात्र मत परिणामवाद को मानता है। वल्लभ और चैतन्य मत में जाकर यही वैकुण्ठ की कल्पना गोलोक में बदल गई है। वैष्णव-पूजा पद्धति में तथा क्रियाकाण्ड के लिए पांचरात्र ने बड़ी सहायता की है। रामानुज के बाद व्यूहवाद नहीं मिलता। पांचरात्र वेद का ही एक अंग है। गीता के बाद पांचरात्र-मत भक्ति के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण सोपान है।

पांचरात्र का अर्थ—

'पांचरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समन्वय से इस मत को पांचरात्र यह संज्ञा दी गई। ईश्वर संहिता[1] के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रात्रियों में जो उपदेश दिया था उसे पांचरात्र कहते हैं, तो पद्मसंहिता के अनुसार इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड गए थे। अतः इस मत को पांचरात्र कहा जाता है। नारद[2]—पांचरात्र, के अनुसार इसके विवेच्य विषयों की संख्या ही इसके नामकरण का कारण मानी जाती है।[3] रात्र का अर्थ है ज्ञान। जैसे—

१. ईश्वर संहिता, अध्याय २१।
२. नारद पांचरात्र, १–४५–५३।
३. ,, ,, १–४४।

'रात्र च ज्ञानवचन ज्ञान पंचविधं स्मृतम् ।'

परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (ससार) इन पाँच विषयो का निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाचरात्र' पड़ा । 'अहिर्बुध्न्य सहिता'[१] भी इसी मत को स्वीकार करती है ।

वैखानस आगम—

वैष्णव आगमों में वैखानस गृह्यसूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है । पाचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी यह विशेष प्रसिद्ध नहीं है । कभी इसका व्यापक प्रचार था पर किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता कम हो गई । वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतत्र शाखा थी । कृष्णयजुर्वेद की चार प्रधान शाखाओं में से–आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी तथा औखेय शाखाओं में से औखेय शाखा से वैखानसों का सबन्ध था ।[२]

यन वेदार्थ विज्ञेयो लोकोऽनुग्रह काम्यया ।
प्रणीत सूत्र मौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

—वैखानस सूत्र ।

वैसे गौतमधर्मसूत्र (३-२), बौधायन धर्म सूत्र (२-६-१७) वशिष्ठ धर्म सूत्र (९-१०) मे वानप्रस्थों को वैखानसशास्त्र का अनुयायी बतलाया गया है, यथा 'वैखानसमते स्थित ।' मनु (६-४) 'वैखानस धर्मप्रश्न' मे वानप्रस्थो के आचार विधान का सागोपाग वर्णन मिलता है । इनका पालन वानप्रस्था श्रमियो के लिए अनिवार्य था । वैखानसो के चार ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं जो इस प्रकार हैं । १. वैखानसीया मत्र सहिता, २ गृह्यसूत्र, सात प्रश्नो या अध्यायो मे विभक्त है । ३. धर्मसूत्र या धर्म प्रश्न, तीन प्रश्नो मे विभक्त है । और ४ श्रौत सूत्र । इन सब मे वैखानस गृह्यसूत्र सब से अधिक प्रसिद्ध है । ये लोग दार्शनिक कम थे पर आचारवादी अधिक[३] मत्र पाठों के आठ अध्यायो मे से अन्तिम चार अध्यायो मे विशिष्ट विष्णु पूजा का विधान है जो अर्चनाकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है । वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम्, एकादश तथा द्वादश खड मे विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा एवम् अर्चना का विशेष रूप से वर्णन है ।[४-५] नित्य प्रात काल तथा

१. अहिर्बुध्न्य संहिता, ११-६४ ।
२. वैखानस श्रौत सूत्र—वेंकटेश भाष्यकार के कथनानुसार ।
३. वैखानस धर्म प्रश्न, १-६-७ ।
४. भारतीय दर्शन–बलदेव उपाध्याय, पृ० ५३६-३९ । तथा
५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १३३ ।

सायकाल मे हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अंगुलो से परिमाण मे कम न होनी थी। विशेष विधि से उनको प्रतिष्ठा कर विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त मे उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मत्रो का विधान था। इस प्रकार का विश्वास 'नारायणो देव सर्वार्थसिद्धि'।'[४] प्रचलित था। इस वैखानस धर्म प्रश्न के अनुसार सब देवताओ मे नारायण की प्रधानता और प्रमुखता मानी जाती थी। अनन्तशयन ग्रन्थावली न० १३१ से प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम'[५] के अनुसार यह पता चलता है कि इस आगम का मुख्य विषय क्रिया, तथा चर्या है। मन्दिर की विविध मूर्तियो की रचना, विभिन्न अङ्गो का निर्माण, राम कृष्ण आदि मूर्तियो की विशेषता, मूर्तियो की प्राणप्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का सांगोपांग विवेचन इतने विस्तृत रूप मे मिलना कठिन है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—१ विष्णु २ महाविष्णु तथा ३ सदाविष्णु ४ सर्वव्यापी। इन्ही चार मूर्तियो के अश से चार अन्य मूर्तियो की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अश मे 'पुरुष' जिसमे धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अश मे ज्ञानात्मिक 'सत्य', 'सदाविष्णु' के अश मे अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपती) तथा सर्वव्यापी के अश से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है, जिसमे वैराग्य या सहार की प्रधानता रहती है। इन चारो मूर्तियो से युक्त होकर नारायण पचमूर्ति रूप माने जाते हैं। जप, हुत, ध्यान व अर्चना से भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। मुक्तिया चार प्रकार की बतलाई गई हैं सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। इन सब मे सर्वश्रेष्ठ मुक्ति सायुज्य मुक्ति है जो वैकुण्ठ मे ले जाती है। इन्ही से आगे चलकर सलोकता, समीपता, सरूपता व सायुज्यता ये नाम हो गये हैं।

वैष्णव मत मे गोपाल कृष्ण—

यहाँ गोपालकृष्ण की चर्चा कर लेना आवश्यक है। कृष्ण के द्वारा कस-वध का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। ब्राह्मण काल मे नारायण परम आराध्य थे। सात्वतो मे वासुदेव परम देवता थे। तभी वासुदेव-नारायण एकीकरण हुआ। आगे चलकर वासुदेव कृष्ण और विष्णु-नारायण एक हो गए। पर इसमे कही भी गोपालकृष्ण देवता का उल्लेख नही है। नारायणीय मे वासुदेव अवतार का उल्लेख तथा कस-वध की चर्चा आती है पर गोपालकृष्ण का उल्लेख कही भी नही है। गोपालकृष्ण सबधी उल्लेखनीय कथा पुस्तकें ये हैं—१ हरिवंश,

४. वैखानस धर्म प्रश्न, ३-९-१।
५. वैखानस आगम—अनन्त शयनम् ग्रंथावली न० १३१।

२ भागवत पुराण ३ नारद पांचरात्र ४ वैवर्त पुराण। इसके सिवा यह भी एक मत प्रचलित है कि क्राइस्ट के नाम-साम्य तथा ईसा की जन्म कथा और बालकृष्ण की अनेक लीलाओं का साम्य देखकर कुछ युरोपीय विद्वानों के मतानुसार ये कथाएँ गढ़ ली गयी हैं। मतलब यह कि गोपालकृष्ण पर क्राईस्ट का प्रभाव है।

हम इस मत का समर्थन कदापि नहीं कर सकते। डा० भांडारकरजी का मत है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक गोपालकृष्ण की चर्चा नहीं उपलब्ध होती। इसके बाद ही कृष्ण की प्रेमलीला सबन्धी बहुतसा लोक साहित्य, गाथाओं तथा संस्कृत ग्रन्थों में बिखरा हुआ मिलता है। अतः उनका अनुमान है कि ईसापूर्व एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन और गोपालकृष्ण सम्बन्धी बहुतसा प्राप्त साहित्य इनके बीच कोई ऐसी घटना अवश्य घटित हुई होगी जिसमें गीताकार कृष्ण का सम्बन्ध गोपालकृष्ण से जुड़ गया हो। डा० भांडारकर के मतानुसार यह घटना किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशों में घूमते-घामते आकर भारत में मथुरा प्रदेश से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड के प्रान्तों के क्षेत्र तक फैलकर बस जाना ही है। इस जाति का परम उपास्य एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण में सम्मिलित कर लिया गया। इस जाति का मुख्य व्यवसाय गायें चराना और पालना था।[1] इस मत को मान्य करने में यह आपत्ति आती है कि तमिल प्रदेशों में आभीरों को 'अयर' कहते हैं, जिनके नाम का अक्षर गाय का आकार सूचित करने वाली 'आ' से बना सिद्ध होता है। इनकी प्राचीन जातीय परम्पराओं से भी यह सूचित होता है कि वे पाण्डवों के साथ ईसा के कई शताब्दी पूर्व यहाँ आये थे।[2]

ऐसा लगता है कि श्वेत दीप वाले प्रसंग को लेकर योरोपीय विद्वान अपनी बुद्धि से प्रयासपूर्वक यह प्रतिपादन करने लगे कि हो न हो किसी न किसी प्रश में महाभारत में वर्णित श्वेतद्वीप का सम्बन्ध युरोप से ही रहा होगा। इसका अनुमान वे इस प्रकार की दलील देकर करते हैं कि युरोपीय पंडित सफेद याने गौर वर्ण के होते हैं। अतः श्वेतदीप निश्चय ही युरोप होगा। पर ये सारे अनुमान व्यर्थ के और गलत सिद्ध हो चुके हैं।

गोपालकृष्ण की कथाओं के वर्णन हरिवंश तथा वायु पुराण में उपलब्ध होते हैं। भागवत पुराण में कंसबध, पूतना बध और अन्य राक्षसों के बधों का

१. भाडारकर—वैष्णवीज्म, शैविज्म, पृ० ४६–५२।
२. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

वर्णन है। इनमें कंसारि-कृष्ण और बालकृष्ण को अभिन्न बतलाया गया है। इन ग्रन्थों की अवतारणा होने के पूर्व ही जनता में यह विश्वास दृढ़ और पक्का हो गया होगा। महाभारत के सभा पर्व में शिशुपाल द्वारा गोकुलवासी कृष्ण के जीवन से संदर्भ रखने वाली कुछ बातें कथन की गई हैं। ये बातें इस मत की पुष्टि करने वाली हैं। भांडारकरजी के मत से ये बातें प्रक्षिप्त हैं। गीता में 'गोविन्द' शब्द आया है। कुछ विद्वान इसे 'गोपेन्द्र' शब्द का प्राकृत रूप बतलाते हैं। वैदिक साहित्य में गोपा, दामोदर तथा गोविन्द ये शब्द बराबर मिलते हैं जैसे—'विष्णुर्गोपा अदाभ्य'[1] एक अन्य स्थल पर विष्णु के परम पद में उत्तम सींगोंवाली गायों का रहना भी बतलाया गया है। इसी वेद में विष्णु का बाल्यावस्था पारकर युवावस्था को प्राप्त करना दिखलाया गया है तथा उसके द्वारा शंबर और उसके नागरिकों को नष्ट किये जाने के लिये प्रार्थना की गई है।[2] इस तरह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि ईसामसीह की कथाओं के आधार पर गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का गढ़ा जाना किसी तरह तर्क और युक्ति संगत नहीं जान पड़ता। गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का आधार वैदिक और सर्वथा भारतीय ही है।

विशेष रूप से आभीरों के बालदेवता 'गोपालक' और प्रचलित जनपरंपराओं को लेकर इसे गीता के कृष्ण के साथ मिलाया गया होगा यही उचित निष्कर्ष जान पड़ता है।

केनेडी के मतानुसार जाट और गूजर उस घुमक्कड़ जाति की संतान है जिसके बाल देवता श्रीकृष्ण थे।[3] काठियावाड़ में पाई गयी एक लिपि से ज्ञात होता है कि शक १०२ में आभीर राज्य करने लगे थे। एक और लेख से पता चलता है कि आभीर उच्च पदाधिकारी और शासक ईसवी सन २ री शताब्दी से ही होते थे। अत्यन्त पुराने 'वायुपुराण' में आभीर राजाओं की वंशावली का उल्लेख है। हरिवंश में आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कथा का सब से पुराना उल्लेख है। यह ग्रन्थ भांडारकरजी के मतानुसार ईसवी सन की तृतीय शताब्दी के बाद के समय में निर्मित हुआ। इसमें एक शब्द आया है। दीनार (Latin-Denarius) कहा जा[4] सकता है कि यह शब्द ईसवी सन के पूर्व

१. ऋग्वेद, १-२२-१८।

२. इन्द्राविष्णूदृंहिताः शम्बरस्य नवपुरो नवतिंच श्नथिष्टम्। शतम् वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्य सुरस्य वीरान्। ऋग्वेद ७-९-५५।

३. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९०७।

४. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०७।

ही इस देश मे आ चुका था, यह आधुनिक शोधों से सिद्ध है।[१] अत. हरिवंश का काल और भी पुराना होगा यह मान लेने मे 'दीनार' शब्द भी बाधक सिद्ध नहीं होगा। अत. यह निष्कर्ष निश्चय पूर्वक निकाला जा सकता है कि आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थों मे प्रवेश यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसवी सन से पुराना है।

वेबर, ग्रियर्सन, केनेडी और भाडारकर, बालकृष्ण की कथा को ईसा की कथा का भारतीय रूपान्तर मानते हैं। पर यह किसी भी तरह समीचीन नहीं है। अपने पुष्ट्यर्थ भाडारकरजी के शब्दों मे 'आभीर ही सम्भवत. बालदेवता की जन्म-कथा और पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय मे यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधों के वध की कथा अपने साथ लेते आए। 'अन्तिम दो का सम्बन्ध इन कथाओं से है। प्रथम नद का यह न जानना कि वे कृष्ण के पिता हैं, और दूसरे कस द्वारा निरपराध बालकों का वध। कृष्ण की बाललीला मे जैसे गधे का रूप धारण करने वाले धेनुक असुर का वध यह कथा आभीर अपने साथ लाए थे। यह भी सभव है कि वे अपने साथ क्राइष्ट नाम भी लाये हों। गोआनीज और बङ्गाली प्राय. कृष्ण शब्द का उच्चारण 'किष्ट', 'कुष्ट' या 'किष्टो' के रूप मे करते हैं। अत यह भी असभव नहीं कि यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष मे बाल-देवता (गोपाल कृष्ण) के एकीकरण मे सहायक हुआ हो। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस अनुमान की निस्सारता और असङ्गति सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुत एक 'आभीर' शब्द ही इन सब अनुमानो का आधार है जिसे किसी विद्वान ने द्रविड परिवार का बतलाया है। आभीर नाम की कोई द्राविड जाति पहले से ही इस देश मे रहती आयी होगी जिसका धर्म भक्तिप्रधान और जिसके प्रमुख देवता बालकृष्ण रहे हों। बाद मे बाहर से आई हुई सीथियन जातियों ने इनका धर्म ग्रहण कर अपने आपको आभीर कहने लगी हो। 'आभीर, शब्द का द्राविड भाषा का होना तथा देवता का कृष्ण (काना) होना इस अनुमान का आधार है। श्रीकुमार स्वामी का कहना है कि 'आभीर' शब्द द्राविड भाषा का है जिसका अर्थ होता है 'गोपाल'। यह भी कहा जाता है कि आभीरो, अहीरो जाट और गूजरों की मुखाकृति, शरीरगठन आदि द्रविड नहीं बल्कि सीथियन है। न तो यह कहा जा सकता है कि कृष्ण क्राईस्ट के रूपान्तर हैं और न यह भी कहा जा सकता है कि क्राईस्ट कृष्ण के रूपान्तर हैं।

हमारा तो यह विनम्र निवेदन है कि यह विवाद व्यर्थ का है। महाभारत के

१ वैष्णविज्म और शैविज्म, पृ० ३७।

कृष्ण और बालकृष्ण दो अलग-अलग व्यक्तित्व नहीं वरन् बालकृष्ण, गोपाल-कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक ही हैं।

भारतवर्ष की साधना रवीन्द्र के प्रिय शब्द 'महामानवेर समुद्र' की तरह है। इस महती साधना की गहराई में आर्य, आर्येतर तथा अन्य जानी बेजानी जातियों की बातों, रस्मों दैनंदिन आचारों तथा देवी देवताओं का और धर्मों का समन्वय हुआ होगा। इनमें से कौन शुद्ध रूप में किस-किस का है इसकी नुक्ताचीनी करना संभव नहीं है। सर्व सामान्यत जन साधारण के अटूट आस्था और अडिग विश्वास के बल पर यह निश्चित समझ लेना औचित्य पूर्ण होगा कि 'श्रीकृष्ण' भारत के सबसे बड़े योगीश्वर और महापुरुष माने जाते हैं। वे महाभारत के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ, गीता के प्रणेता, गोपीजनवल्लभ, गोपालक, तथा राधा के कन्हैया और पूर्णावतार हैं। भारत भर में रामपूजा से कृष्ण-पूजा का अधिक प्रचार है। साहित्य भी कृष्ण-भक्ति का सब से अधिक है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ने शंकराचार्य से ज्ञानेश्वर, लोकमान्य से गांधीजी, राधाकृष्णन, विनोबाजी तथा महान योगी अरविंद तक को प्रभावित किया है। यह लोकनायक भगवान् श्रीकृष्ण प्रणीत जगन्मान्य और वरेण्य ग्रन्थ है। अत यह सर्व सम्मत है कि श्रीकृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य और अनार्य साधनाओं की धाराओं के संगम से बना है।

केनेडी के मतानुसार (१) द्वारकाधीश कृष्ण अपने धूर्त और चतुर राजनीति-पूर्ण कृत्यों के लिये प्रसिद्ध हैं जो महाभारत में विख्यात हैं।[१] (२) वे कृष्ण जो निचली सिंधु उपत्यका के अनार्य वीर है, जो आधे देवता हैं, तथा जिन्होंने राक्षस, पैशाच आदि निंद्य विवाह भी किए हैं, और (३) मथुरा के बालकृष्ण भी एक कृष्ण हैं जिनकी लीलाएँ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार तीनों मिलाकर हमारे श्रीकृष्णचन्द्रजी हैं। जेकोबी बताते है कि पाणिनि पूर्व-काल में वासुदेव देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे।[२] छान्दोग्य उपनिषद में घोर-आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा है। ये ऋषि कृष्ण और देवता वासुदेव के योग से एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युग के मत में प्रतिष्ठित हो चुके थे। आगे चलकर इन्हीं में एक और कृष्ण आ मिले। ये मथुरा के बाल-गोपाल-कृष्ण और वृष्णि संघ के संघनायक राजपूत कृष्ण थे। इस तरह कृष्ण का विकास हुआ। वैदिक देवता नारायण और विष्णु भी इसी कृष्ण में आकर मिल गए हैं। अविकल रूप में कृष्ण की बाललीला का उल्लेख

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन १९०७।

२. एनसायक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन अँण्ड एथिक्स।

ही इस देश में आ चुका था, यह आधुनिक शोधों से सिद्ध है।[१] अतः हरिवंश का काल और भी पुराना होगा यह मान लेने में 'दीनार' शब्द भी बाधक सिद्ध नहीं होगा। अतः यह निष्कर्ष निश्चय पूर्वक निकाला जा सकता है कि आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थों में प्रवेश यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसवी सन से पुराना है।

वेबर, ग्रियर्सन, केनेडी और भाण्डारकर, बालकृष्ण की कथा को ईसा की कथा का भारतीय रूपान्तर मानते हैं। पर यह किसी भी तरह समीचीन नहीं है। अपने पूर्वपक्ष में भाण्डारकरजी के शब्दों में 'आभीर ही सम्भवतः बालदेवता की जन्मकथा और पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय में यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधों के वध की कथा अपने साथ लेते आए। 'क्रिश्चियन' दो का सम्बन्ध इन कथाओं में है। प्रथम नंद का यह न जानना कि वे कृष्ण के पिता हैं, और दूसरे कंस द्वारा निरपराध बालकों का वध। कृष्ण की बालचीला में गधे का रूप धारण करने वाले धेनुक असुर का वध यह कथा आभीर अपने साथ लाए थे। यह भी सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी लाये हों। गोपालगौड़ और बङ्गाली प्रायः कृष्ण शब्द का उच्चारण 'किष्ट', 'कुष्ट' या 'किष्टो' के रूप में करते हैं। अतः यह भी असम्भव नहीं कि यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता (गोपाल कृष्ण) के एकीकरण में सहायक हुआ हो। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस अनुमान की निस्सारता और असङ्गति सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुतः एक 'आभीर' शब्द ही इन सब अनुमानों का आधार है जिसे किसी विद्वान ने द्रविड परिवार का बतलाया है। आभीर नाम की कोई द्राविड जाति पहले से ही इस देश में रहती आयी होगी जिसका धर्म भक्तिप्रधान और जिनके प्रमुख देवता बालकृष्ण रहे हों। बाद में बाहर से आई हुई सीथियन जातियों ने इनका धर्म ग्रहण कर अपने आपको आभीर कहने लगी हों। 'आभीर, शब्द का द्राविड भाषा का होना तथा देवता का कृष्ण (काला) होना इस अनुमान का आधार है। श्रीकुमार स्वामी का कहना है कि 'आभीर' शब्द द्राविड भाषा का है जिसका अर्थ होता है 'गोपाल'। यह भी कहा जाता है कि आभीरों, अहीरों, जाट और गूजरों की मुखाकृति, शरीरगठन आदि द्रविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। न तो यह कहा जा सकता है कि कृष्ण क्राईस्ट के रूपान्तर हैं और न यह भी कहा जा सकता है कि क्राईस्ट कृष्ण के रूपान्तर हैं।

हमारा तो यह विनम्र निवेदन है कि यह विवाद व्यर्थ का है। महाभारत के

१. वैष्णविज्म और शैविज्म, पृ० ३७।

कृष्ण और बालकृष्ण दो अलग-अलग व्यक्तित्व नहीं वरन् बालकृष्ण, गोपाल-कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक ही हैं।

भारतवर्ष की साधना रवीन्द्र के प्रिय शब्द 'महामानवेर समुद्र' की तरह है। इस महती साधना की गहराई में आर्य, आर्येतर तथा अन्य जानी बेजानी जातियों की बातों, रस्मों दैनंदिन आचारों तथा देवी देवताओं का और धर्मों का समन्वय हुआ होगा। इनमें से कौन शुद्ध रूप में किस-किस का है इसकी नुक्ताचीनी करना संभव नहीं है। सर्व सामान्यतः जन साधारण के अटूट आस्था और अडिग विश्वास के बल पर यह निश्चित समझ लेना औचित्य पूर्ण होगा कि 'श्रीकृष्ण' भारत के सबसे बड़े योगीश्वर और महापुरुष माने जाते हैं। वे महाभारत के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ, गीता के प्रणेता, गोपीजनवल्लभ, गोपालक, तथा राधा के कन्हैया और पूर्णावतार हैं। भारत भर में रामपूजा से कृष्ण-पूजा का अधिक प्रचार है। साहित्य भी कृष्ण-भक्ति का सब से अधिक है। श्रीमद्भगवद्गीता ने शंकराचार्य से ज्ञानेश्वर, लोकमान्य से गांधीजी, राधाकृष्णन, विनोबाजी तथा महान योगी अरविंद तक को प्रभावित किया है। यह लोकनायक भगवान् श्रीकृष्ण प्रणीत जगन्मान्य और वरेण्य ग्रन्थ है। अतः यह सर्व सम्मत है कि श्रीकृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य और अनार्य साधनाओं की धाराओं के संगम से बना है।

केनेडी के मतानुसार (१) द्वारकाधीश कृष्ण अपने धूर्त और चतुर राजनीति-पूर्ण कृत्यों के लिये प्रसिद्ध हैं जो महाभारत में विख्यात हैं।[१] (२) वे कृष्ण जो निचली सिंधु उपत्यका के अनार्य वीर हैं, जो आधे देवता हैं, तथा जिन्होंने राक्षस, पैशाच आदि निंद्य विवाह भी किए हैं, और (३) मथुरा के बालकृष्ण भी एक कृष्ण हैं जिनकी लीलाएँ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार तीनों मिलाकर हमारे श्रीकृष्णचंद्रजी हैं। जेकोबी बताते हैं कि पाणिनि पूर्व-काल में वासुदेव देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे।[२] छान्दोग्य उपनिषद में घोर-आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा है। ये ऋषि कृष्ण और देवता वासुदेव के योग से एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युग के अंत में प्रतिष्ठित हो चुके थे। आगे चलकर इन्हीं में एक और कृष्ण आ मिले। ये मथुरा के बाल-गोपाल-कृष्ण और वृष्णि संघ के संघनायक राजपूत कृष्ण थे। इस तरह कृष्ण का विकास हुआ। वैदिक देवता नारायण और विष्णु भी इसी कृष्ण में आकर मिल गए हैं। अविकल रूप से कृष्ण की बाललीला का उल्लेख

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन १९०७।
२. एनसायक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन अॅण्ड एथिक्स।

तथा श्रीकृष्ण का परमदेवता नारायण के रूप मे चित्रण भास के नाटकों में मिलता है। ये ही लीलायें भागवत पुराण मे वर्णित मिलती है। कविभास पाणिनिपूर्व कालीन कण्व वंशीय राजनारायण के सभा कवि थे जो ५३–७१ ईसवी पूर्व हुए थे।

सचमुच देखा जाय तो बालकृष्ण की कथाएँ ईसापूर्वकाल से ही जनता मे प्रचलित हो गई थीं। यही नही प्रत्युत गोपियो की लीला तथा राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इसी युग मे प्रचलित हो गया होगा। ऐसा अनुमान करना सर्वथा अनुपयुक्त नही होगा।

राधा और कृष्ण—

राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे विद्वानों मे मतभेद हैं और इस सम्बन्ध के मुक्तक साहित्यिक परम्पराबद्ध प्रमाण भी नही मिलते। हरिवंश मे श्रीकृष्ण की गोपियो के साथ केलि-क्रीडा वर्णन मिलता है, पर उसमें कही भी राधा नही है। गाथासप्तशती मे 'राधा' शब्द पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् आरम्भ करने वाले विक्रमादित्य के युग मे हुई थी। यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता पर सन्देह करने वाले दो शब्द 'राधिका' और 'मंगलवार' कुछ विद्वानो के मतानुसार हैं। वारगणना का प्रचलन वस्तुतः ग्रीस मे ईसा पूर्व हो चुका था। ईसा से पूर्व भारतवर्ष मे वारो का प्रचार असम्भव नहीं है। पर गाथा सप्तशती मे 'राधा' का नाम आना सिद्ध करता है कि बालकृष्ण को कथा ईसा से पूर्व फैल चुकी होगी। पंचतंत्र में 'राधा' का नाम आता है तथा विद्वानों ने इसका समय पाचवी शताब्दी माना है। गोपियो की कृष्ण के साथ केलि-कथा चौथी शताब्दी मे पर्याप्त रूप मे प्रचलित हो गई थी।[१] भाडारकर के मत मे आभीर जाति मे कोई घुमक्कड जाति रही होगी जिसमे कोई सदाचार नहीं रहा होगा।[२] ये आभीर स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती थीं, अतः विलासी आर्यों के साथ उनका स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। इसीलिए श्रीकृष्ण को असदाचारी बनना पडा। इस अनुमान मात्र को कोई भी नहीं मान्य करेगा। हम भी इसे कतई नही मान सकते। राधा की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आया है। (१) राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। पुराणो के अनुसार राधाकृष्ण से आयु मे बडी थीं। (२) राधा इसी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य, पृ० १२–२६।
'राधाकृष्ण का विकास तथा स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप।'

२. वैष्णविज्म, शैविज्म, पृ० ४२ (सर आर. जी. भांडारकर)

देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद मे आर्यों मे इनकी प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे बालकृष्ण के–कृष्ण-वासुदेव एकीकरण के पश्चात् उसका श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड दिया गया होगा। दसवी शताब्दी मे जयदेव के अर्थात् १२ वी शताब्दी तक राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप मे हो चुकी थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राधा बहुत पुराने काल मे प्रतिष्ठित हुई होगी।[१] चौदहवी शताब्दी के अन्त मे भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप मे सामने आया एवम् विकसित हुआ। *उस समय तक राधा और कृष्ण* इतिहास के व्यक्ति नही थे वरन् वे सम्पूर्ण भावजगत की चीज हो गये थे। राधाकृष्ण से सम्बन्धित भक्ति-सम्प्रदायो पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। सोलहवी शताब्दी तक आते आते विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो की उपासना-तत्वो के फलस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेम, वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि विविध भावो के मधुर *आलंबन-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म-श्रीकृष्ण बन गए।* राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के स्वरूप का पूर्ण विकास समझने के लिये हमे तत्ववाद और सहजवाद को समझना आवश्यक होगा। इसका विवेचन हम अपने प्रबन्ध के अगले अध्यायो मे यथास्थान करेंगे। *ब्रजभाषा-काव्य के आरम्भकाल मे राधा-कृष्ण, इतिहास या तत्ववाद की चीज नही* रह गए थे। वे सम्पूर्ण भाव जगत् की चीज हो गए थे। भक्ति प्रेम और माधुर्य की नाना सम्प्रदायों से विचित्र यह युगलमूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उसमे वैदिक देवताओ का सम्भ्रम नही था। वह एकदम सीधा ठेठ-घरेलू सम्बन्ध था। तत्ववाद के प्रभाव से ससीम रसमे असीम की उपलब्धि के सिद्धात ने तुरन्त ही तद्युगीन *समाज को सखा, प्रिय, और स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति सचेष्ट* अग्रसर कर दिया था। वे यथार्थ मे ही हमारे सहज-स्वाभाविक भावो के आलम्बन बन गए थे।[२]

महाभारत[३] के सभा पर्व के ६८ वें अध्याय मे द्रौपदी ने चीरहरण के प्रसग मे भगवान श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रियः।' नाम से पुकारा है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। पर इस प्रक्षिप्तता का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। हरिवंश जिसे २री या ३री शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, उसमे *हालीसक-क्रीडा* का उल्लेख है, वह भागवत की रासलीला का ही पूर्व रूप है। *भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है।*

१. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।

२. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।

३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८।

तथा श्रीकृष्ण या परमदेवता नारायण के रूप मे विवरण भास के नाटकों मे मिलता है। ये ही लीलायें भागवत पुराण मे वर्णित मिलती हैं। कविभास पाणिनिपूर्व कालीन कण्व वंशीय राजनारायण के सभा कवि थे जो ५३--७१ ईसवी पूर्व हुए थे।

सचमुच देखा जाय तो बालकृष्ण की कथाएँ ईसापूर्वकाल से ही जनता मे प्रचलित हो गई थी। यही नहीं प्रत्युत गोपियो की लीला तथा राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इसी युग मे प्रचलित हो गया होगा। ऐसा अनुमान करना सर्वथा अनुपयुक्त नही होगा।

राधा और कृष्ण--

राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे विद्वानो मे मतभेद हैं और इस सम्बन्ध के मुक्त साहित्यिक परम्परावद्ध प्रमाण भी नही मिलते। हरिवंश मे श्रीकृष्ण की गोपियो के साथ केलि-क्रीडा वर्णन मिलता है, पर उसमें कही भी राधा नही है। गाथासप्तशती मे 'राधा' शब्द पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् आरम्भ करने वाले विक्रमादित्य के युग मे हुई थी। यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता पर सन्देह करने वाले दो शब्द 'राधिका' और 'मंगलवार' कुछ विद्वानो के मतानुसार हैं। वारगणना का प्रचलन वस्तुत ग्रीस मे ईसा पूर्व हो चुका था। ईसा से पूर्व भारतवर्ष मे वारो का प्रचार असम्भव नही है। पर गाथा सप्तशती में 'राधा' का नाम आना सिद्ध करता है कि बालकृष्ण की कथा ईसा से पूर्व फैल चुकी होगी। पंचतंत्र मे 'राधा' का नाम आता है तथा विद्वानो ने इसका समय पाचवी शताब्दी माना है। गोपियों की कृष्ण के साथ केलि-कथा चौथी शताब्दी मे पर्याप्त रूप मे प्रचलित हो गई थी।[१] भांडारकर के मत से आभीर जाति मे कोई घुमक्कड जाति रही होगी जिसमे कोई सदाचार नहीं रहा होगा।[२] ये आभीर स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती थीं, अत विलासी आर्यों के साथ उनका स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। इसीलिए श्रीकृष्ण को असदाचारी बनना पडा। इस अनुमान मात्र को कोई भी नहीं मान्य करेगा। हम भी इसे कतई नही मान सकते। राधा की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आता है। (१) राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। पुराणो के अनुसार राधाकृष्ण से आयु मे बडी थीं। (२) राधा इसी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य, पृ० १२--२६।
'राधाकृष्ण का विकास तथा की पूजा और उसका वैष्णव रूप।'
२. वैष्णविज्म, शैविज्म, पृ० ४२ (सर आर. जी. भांडारकर)

देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद में आर्यों में इनकी प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे बालकृष्ण के-कृष्ण-वासुदेव एकीकरण के पश्चात् उसका श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा। दसवीं शताब्दी में जयदेव के अर्थात् १२ वीं शताब्दी तक राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप में हो चुकी थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राधा बहुत पुराने काल में प्रतिष्ठित हुई होंगी।[1] चौदहवीं शताब्दी के अन्त में भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप में सामने आया एवम् विकसित हुआ। उस समय तक राधा और कृष्ण इतिहास के व्यक्ति नहीं थे वरन् वे सम्पूर्ण भावजगत की चीज़ हो गये थे। राधाकृष्ण से सम्बन्धित भक्ति-सम्प्रदायों पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। सोलहवीं शताब्दी तक आते आते विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की उपासना-तत्वों के फलस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेम, वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म-श्रीकृष्ण बन गए। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के स्वरूप का पूर्ण विकास समझने के लिये हमें तत्ववाद और सहजवाद को समझना आवश्यक होगा। इसका विवेचन हम अपने प्रबन्ध के अगले अध्यायों में यथास्थान करेंगे। ब्रजभाषा-काव्य के आरम्भकाल में राधा-कृष्ण, इतिहास या तत्ववाद की चीज नहीं रह गए थे। वे सम्पूर्ण भाव जगत् की चीज हो गए थे। भक्ति प्रेम और माधुर्य की नाना सम्प्रदायों से विचित्र यह युगलमूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उसमें वैदिक देवताओं का सभ्रम नहीं था। वह एकदम सीधा ठेठ-घरेलू सम्बन्ध था। तत्ववाद के प्रभाव से ससीम रससे असीम की उपलब्धि के सिद्धान्त ने तुरन्त ही तद्युगीन समाज को सखा, प्रिय, और स्वामी रूप में कृष्ण की उपासना के प्रति सचेष्ट अग्रसर कर दिया था। वे यथार्थ में ही हमारे सहज-स्वाभाविक भावों के आलम्बन बन गए थे।[2]

महाभारत[3] के सभा पर्व के ६८ वें अध्याय में द्रौपदी ने चीरहरण के प्रसग में भगवान श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रियः।' नाम से पुकारा है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। पर इस प्रक्षिप्तता का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। हरिवंश जिसे २री या ३री शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, उसमें हालीसक-क्रीडा का उल्लेख है, वह भागवत की रासलीला का ही पूर्व रूप है। भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है।

१. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
२. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८।

तथा श्रीकृष्ण का परमदेवता नारायण के रूप में चित्रण भास के नाटकों में मिलता है। ये ही लीलायें भागवत पुराण में वर्णित मिलती हैं। कविभास पाणिनिपूर्व कालीन कण्व वशीय राजनारायण के सभा कवि थे जो ५३–७१ ईसवी पूर्व हुए थे।

सचमुच देखा जाय तो बालकृष्ण की कथाएँ ईसापूर्वकाल से ही जनता में प्रचलित हो गई थी। यही नही प्रत्युत गोपियों की लीला तथा राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इसी युग में प्रचलित हो गया होगा। ऐसा अनुमान करना सर्वथा अनुपयुक्त नही होगा।

राधा और कृष्ण—

राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं और इस सम्बन्ध के मुख्य साहित्यिक परम्परावद्ध प्रमाण भी नही मिलते। हरिवंश में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ केलि-क्रीडा वर्णन मिलता है; पर उसमें कही भी राधा नही है। गाथासप्तशती में 'राधा' शब्द पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम सवत् आरम्भ करने वाले विक्रमादित्य के युग में हुई थी। यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता पर सन्देह करने वाले दो शब्द 'राधिका' और 'मगलवार' कुछ विद्वानों के मतानुसार हैं। वारगणना का प्रचलन वस्तुत: ग्रीस में ईसा पूर्व हो चुका था। ईसा से पूर्व भारतवर्ष में वारों का प्रचार असम्भव नहीं है। पर गाथा सप्तशती में 'राधा' का नाम आना सिद्ध करता है कि बालकृष्ण की कथा ईसा से पूर्व फैल चुकी होगी। पचतत्र में 'राधा' का नाम आता है तथा विद्वानों ने इसका समय पाचवी शताब्दी माना है। गोपियों की कृष्ण के साथ केलि-कथा चौथी शताब्दी में पर्याप्त रूप में प्रचलित हो गई थी।[१] भाडारकर के मत से आभीर जाति में कोई घुमक्कड जाति रही होगी जिसमें कोई सदाचार नहीं रहा होगा।[२] ये आभीर स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती थी, अत विलासी आर्यों के साथ उनका स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। इसीलिए श्रीकृष्ण को असदाचारी बनना पड़ा। इस अनुमान मात्र को कोई भी नहीं मान्य करेगा। हम भी इसे कतई नहीं मान सकते। राधा की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आता है। (१) राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। पुराणों के अनुसार राधाकृष्ण से आयु में बडी थी। (२) राधा इसी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य, पृ० १२–२९।
'राधाकृष्ण का विकास तथा श्री पूजा और उसका वैष्णव रूप।'

२. वैष्णविज्म, शैविज्म, पृ० ४२ (सर आर. जी. भांडारकर)

देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद मे आर्यों मे इनकी प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे बालकृष्ण के—कृष्ण-वासुदेव एकीकरण के पश्चात् उसका श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड दिया गया होगा। दसवी शताब्दी मे जयदेव के अर्थात् १२ वी शताब्दी तक राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप मे हो चुकी थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राधा बहुत पुराने काल मे प्रतिष्ठित हुई होगी।[1] चौदहवी शताब्दी के अन्त मे भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप मे *सामने आया एवम् विकसित हुआ। उस समय तक राधा और कृष्ण* इतिहास के व्यक्ति नही थे वरन् वे सम्पूर्ण भावजगत की चीज हो गये थे। *राधाकृष्ण से सम्बन्धित भक्ति-सम्प्रदायो पर हम आगे चलकर विवेचन करेंगे।* सोलहवी शताब्दी तक आते आते विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो की उपासना-तत्वो के फलस्वरूप *श्रीकृष्ण-प्रेम, वात्सल्य, दास्य, सख्य* आदि विविध भावो के मधुर आलबन-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म-श्रीकृष्ण बन गए। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के स्वरूप का पूर्ण विकास समझने के लिये हमे तत्रवाद और सहजवाद को समझना आवश्यक होगा। इसका विवेचन हम अपने प्रबन्ध के अगले अध्यायो मे यथास्थान करेंगे। व्रजभाषा-काव्य के आरम्भकाल मे राधा-कृष्ण, इतिहास या तत्ववाद की चीज नही रह गए थे। वे सम्पूर्ण भाव जगत् की चीज हो गए थे। भक्ति प्रेम और माधुर्य की नाना सम्प्रदायो से विचित्र यह युगलमूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उसमे वैदिक देवताओ का सभ्रम नही था। वह *एकदम सीधा* ठेठ-घरेलू सम्बन्ध था। तत्रवाद के प्रभाव से ससीम रससे असीम की उपलब्धि के सिद्धात ने तुरन्त ही तद्युगीन *समाज को सखा, प्रिय, और स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति* सचेष्ट अग्रसर कर दिया था। वे यथार्थ मे ही हमारे सहज-स्वाभाविक भावो के आलम्बन बन गए थे।[2]

महाभारत[3] के *सभा पर्व* के ६८ वें अध्याय मे द्रौपदी ने चीरहरण के प्रसग मे भगवान श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रिय:।' नाम से पुकारा है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। पर इस प्रक्षिप्तता का कोई प्रामाणिक आधार नही है। हरिवंश जिसे २री या ३री शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, उसमे हालीसक-क्रीडा का उल्लेख है, वह भागवत की रासलीला का ही पूर्व रूप है। *भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है।*

---

१. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
२. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८।

भागवत की रास-पंचाध्यायी भागवत का प्रमुख अंग मानी गई है। गोपीजनों के साथ नित्य लीला-कृष्णलीला का प्रमुख सूत्र बन गई है।

पुराणों में राधाकृष्ण की लीला का वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन पुराणों के पहले आराध्य के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विष्णु पुराण में विरह की भावना अधिक मात्रा में वर्णित है, तो हरिवंश पुराण में प्रेम-व्यापार का अंश अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी है। यह सोलहवीं शती की रचना है। राधा का प्रभाव तंत्रवाद का प्रभाव है यह भी माना जाता है। भक्ति का सगुण रूप स्वयं राधिका भी मानी जाती हैं। बंगाल में पहाड़पुर में खुदाई होने पर जो एक पुरानी मूर्ति उपलब्ध हुई है, उसमें कृष्ण एक गोपी के साथ विद्यमान हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत में यह गोपी राधा है। ऐसा बतलाया जाता है कि नित्यानंद प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गई तो उन्हें यह मालूम हुआ कि कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं भी पूजा नहीं होती, तब अत्यन्त दुःखी होकर नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवाकर उन्हें वृन्दावन भिजवाया। तब से कृष्ण की अकेली मूर्ति बङ्गाल में कहीं भी नहीं पूजी जाती। जीव गोस्वामी की आज्ञा से राधा की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयीं और तब से राधाकृष्ण की पूजा सर्वत्र होने लगी। वैष्णवों ने राधा और कृष्ण के रूप में उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर ग्रहण कर लिया। राधा वैष्णव परकीया प्रेम का साधन बनकर आई। राधा के बिना कृष्ण अधूरे माने गए। वे उनकी अन्तरंग ह्लादिनी शक्ति भी हैं। वैष्णव सहज यानियों के प्रभाव से राधा का महत्व बढ़ा है इन सब बातों का वैष्णव मतों पर क्या प्रभाव पड़ा इसे अन्यत्र जब हम चर्चा करेंगे तब इसका अधिक विवेचन किया जायगा।

विष्णु की उपासना में रामचन्द्रजी का महत्व और रामोपासना का स्वरूप—

विष्णु के अनेक अवतारों में से त्रिविक्रम, वामन, परशुराम, नृसिंह, वाराह आदि प्रसिद्ध हैं। उन सब में श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ये दो अवतार विशेष महत्वपूर्ण हैं। कृष्ण के समान राम भी लोकप्रिय मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा लोक-पालक के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'राम' नाम से बहुधा बलराम, दाशरथी-राम और भार्गवराम का बोध लगभग एक ही प्रकार का हो जाया करता है। पाणिनि कृष्ण की तरह राम की उपासना का हवाला देते हैं जो ४०० सदी ईसवी पूर्व का है। ऋग्वेद में दशरथ, सीता, इक्ष्वाकु आदि शब्द मिलते हैं पर 'राम' शब्द कहीं भी नहीं मिलता। 'सीता' शब्द का भी यही हाल है। डा० जेकोबी के

मत से वैदिक देवता इन्द्र से ही बलराम और दशरथसुत राम का विकास हुआ है। क्योंकि दोनो इन्द्र के सदृश वीर तथा धीर हैं। रामकथा को जैनो तथा बौद्धो ने भी अपनाया है। लोकजीवन पर पडे हुए राम के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव इससे ज्ञात होता है। दशावतारो मे कृष्ण के पहले ही राम की गणना की गई है।[१]

फिर भी 'राम' नाम के अन्य राजाओ का उल्लेख वैदिक साहित्य मे अवश्य मिलता है। किसी प्रतापी असुर राजा के नाम मे 'राम' शब्द आया[२] है। यथा :—

प्रतदद्दुःशी मे पृथवाने वेने प्ररामे वोचमसुरे मघवत्सु।

ऐतरेय ब्राह्मण में भार्गव राम तथा जनमेजय के विषय मे एक कथा[३] मिलती है, पर इससे रामायण के राम पर कोई प्रकाश नहीं पडता। शतपथ ब्राह्मण मे एक राम औपतपस्विनि का उल्लेख है। अन्य आचार्यों के मतो सहित यज्ञ के सात्विक बातो पर इनके मत का अलग उल्लेख मिलता है। और एक जगह जैमिनीय-उपनिषद ब्राह्मण मे दो स्थानो पर क्रातुजातेय-वैयाघ्र-पद्य-राम का उल्लेख आता है। इससे कम से कम यह तो सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल से ही प्राचीन[४] राजाओ मे तथा ब्राह्मणो मे 'राम' नाम प्रचलित था।

शतपथ-ब्राह्मण मे तथा छान्दोग्य उपनिषद में वैदेह जनक उल्लेख आता है। उसी मे उल्लिखित अश्वपति कैकेय वैश्वानर तथा जनक समकालीन विद्वान राजा थे, यह ज्ञात पडता है। जनक इतने बडे तत्वज्ञ हैं कि वे याज्ञवल्क्य को भी शिक्षा देते हैं और ब्राह्मण बन जाते हैं। रामायण के अन्य पात्रो की अपेक्षा वैदेह जनक का अनेक प्रसङ्गों मे वैदिक साहित्य मे उल्लेख आता है। पर कहीं भी सीता उनकी पुत्री है, तथा राम उनके जामात हैं ऐसे उल्लेख नहीं प्राप्त होते। जनक मिथिला के राजा थे। अन्य कई जनक नामी राजाओ के उल्लेख हैं। वैदिक साहित्य मे सीता कृषि की एक अधिष्ठात्री देवता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे सीता सावित्री, सूर्य की पुत्री है तथा एक सोमराजा का उपाख्यान भी[५] है।

महाभारत तथा रामायण मे राम के लिये 'राम-दाशरथी' शब्द का प्रयोग

---

१. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ३।
२. ऋग्वेद पृ० १०–९३–१४।
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ७–२७–३४।
४. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण, ३७–३२–४–९–१–१।
५. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ४–५–१२।

भागवत की रास-पंचाध्यायी भागवत का प्रमुख अंश मानी गई है। गोपीजनों के साथ नित्य लीला-कृष्णलीला का प्रमुख सूत्र बन गई है।

पुराणों में राधाकृष्ण की लीला का वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन पुराणों के पहले आराध्य के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विष्णु पुराण में विरह की भावना अधिक मात्रा में वर्णित है, तो हरिवंश पुराण में प्रेम-व्यापार का अंश अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी है। यह सोलहवी शती की रचना है। राधा का प्रभाव तंत्रवाद का प्रभाव है यह भी माना जाता है। भक्ति का सगुण रूप स्वयं राधिका भी मानी जाती हैं। बंगाल में पहाड़पुर में खुदाई होने पर जो एक पुरानी मूर्ति उपलब्ध हुई है, उसमें कृष्ण एक गोपी के साथ विद्यमान हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत में यह गोपी राधा है। ऐसा बतलाया जाता है कि नित्यानंद प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गई तो उन्हें यह मालूम हुआ कि कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं भी पूजा नहीं होती, तब अत्यन्त दुखी होकर नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियां बनवाकर उन्हें वृन्दावन भिजवाया। तब से कृष्ण की अकेली मूर्ति बङ्गाल में कहीं भी नहीं पूजी जाती। जीव गोस्वामी की आज्ञा से राधा की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयी और तब से राधाकृष्ण की पूजा सर्वत्र होने लगी। वैष्णवों ने राधा और कृष्ण के रूप में उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर ग्रहण कर लिया। राधा वैष्णव परकीया प्रेम का साधन बनकर आई। राधा के बिना कृष्ण अधूरे माने गए। वे उनकी अन्तरंग ह्लादिनी शक्ति भी हैं। वैष्णव सहज मानियो के प्रभाव से राधा का महत्व बढ़ा है इन सब बातों का वैष्णव मतो पर क्या प्रभाव पड़ा इसे अन्यत्र जब हम चर्चा करेंगे तब इसका अधिक विवेचन किया जायगा।

विष्णु की उपासना में रामचन्द्रजी का महत्व और रामोपासना का स्वरूप–

विष्णु के अनेक अवतारों में से त्रिविक्रम, वामन, परशुराम, नृसिंह वाराह आदि प्रसिद्ध हैं। उन सब में श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ये दो अवतार विशेष महत्वपूर्ण हैं। कृष्ण के समान राम भी लोकप्रिय मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा लोक-पालक के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'राम' नाम से बहुधा बलराम, दाशरथी-राम और भार्गवराम का बोध लगभग एक ही प्रकार का हो जाया करता है। पाणिनि कृष्ण की तरह राम की उपासना का हवाला देते हैं जो ४०० सदी ईसवी पूर्व का है। ऋग्वेद में दशरथ, सीता, इक्ष्वाकु आदि शब्द मिलते हैं पर 'राम' शब्द कहीं भी नहीं मिलता। 'सीता' शब्द का भी यही हाल है। डा० जेकोबी के

मिलती है। इन सोलह राजाओं की कथा व्यास ने अभिमन्यु वध के कारण शोक विह्वल युधिष्ठिर को धैर्य देने के लिए सुनायी है। इन सोलह राजाओं मे से राम भी एक थे। (३) शान्तिपर्व की रामकथा[1]-प्रसङ्ग द्रोणपर्व के ही समान है। किन्तु यहाँ पर कृष्ण-युधिष्ठिर को षोडश राजोपाख्यान सुनाते हैं। महाभारत मे राम विष्णु के अवतार हैं इस बात को बतलाने वाले कई उल्लेख हैं। यथा—

(१) भीम हनुमान सवाद मे हनुमान का कथन—
अथ[2] दाशरथी वीरो रामो महाबल।
विष्णुर्मानुष्यरूपेण चचार वसुधा मिमाम् ॥

(२) रामोपाख्यान मे ब्रह्मा देवताओ से कहते हैं कि 'विष्णु मेरे आदेश के अनुसार अवतार लेकर रावण की हत्या करेंगे।[3]
तदर्थमवतीर्णो सौ मन्नि योगाच्चतुर्भुजः।
विष्णु प्रहरता श्रेष्ठ. सकर्मतत्करिष्यति ॥५॥

इसी पर्व के अन्तिम अध्याय मे बतलाया गया है कि विष्णु ने दशरथ के गृह मे रहकर रावण का वध किया है।

(३) विष्णुना वसतांचापि गृहे दशरथस्य[4] वै।
दशग्रीवो हतस्यान्त सयुगे भीम कर्मणा ॥

(४) शान्तिपर्व मे हरि अपने १० अवतारो का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि[5]—
सधौ तु स मनु प्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्यच।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः ॥१६॥

(५) स्वर्गारोहण पर्व मे भी इसी प्रकार एक उल्लेख है।
वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौचान्ते च मध्येच हरि सर्वत्रगीयते ॥[6]

इसके अतिरिक्त पद्मपुराण मे पातालखण्ड मे एक स्थान पर बतलाया गया है कि 'जिस समय वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी को आहत पाकर तीव्र शोक का अनुभव

---

१. महाभारत, १२-२२-५१-६२।
२. आरण्य पर्व, ३-१४७ पूना संस्करण।
३. „ ३-२६०। „
४. महाभारत-अरण्य पर्व, ३-२६६ पूना संस्करण।
५. „ शान्तिपर्व, १२-३४८ पूना संस्करण।
६. महाभारत-स्वर्गारोहण पर्व, १८-६, पूना संस्करण।

मिता है। इसके बाद के साहित्य मे रामभद्र और रामचन्द्र ये नाम प्रयुक्त हुए हैं। उत्तर रामचरित मे 'रामचन्द्र' नाम का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। डाक्टर वेबर का अनुमान है कि 'राम-सीता-कथानक' वैदिक-साहित्य मे वर्णित सीता, सावित्री और सोमराजा के उपाख्यान के आधार पर बना है। पर यह केवल कल्पना मात्र है। इसे सभी विद्वान ग्राह्य नही मानेंगे। सीता अवश्य कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। सीता को इन्द्रपत्नी भी कहा गया है तथा उसकी प्रार्थना के कई सूक्त भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त लागल योजनम् तथा सीता यज्ञ के द्वारा कृषिकर्मों का उल्लेख मिलता है। अयोनिजा सीता के जन्म और तिरोधान के वृत्तान्त वैदिक सीता के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं ऐसा हम कह सकते हैं परन्तु रामकथा का वैदिक साहित्य मे अभाव है यही माना जावेगा। रामायण के कतिपय पात्रों की ऐतिहासिकता के लिए आधार अवश्य वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं। ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि वाल्मिकीकृत रामायण के पूर्व रामकथा सबधी आख्यान अवश्य प्रचलित रहे होंगे।

महाभारत मे दाशरथी राम का स्पष्ट उल्लेख कई स्थलो पर मिलता है तथा 'वाल्मीकिय रामायण' मे उनकी कथा पूरे विवरण के साथ दी गई है। महाभारत मे वाल्मिकी ऋषि का कविवाल्मिकी का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है। रामायण का रचनाकाल श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य २ री शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। डा० याकोबी और एम्० विंटरनित्ज करीब-करीब २ री शती ईसापूर्व मानते हैं। इस रामायण के तीन पाठ मिलते[1] हैं—(१) दाक्षिणात्य पाठ-निर्णयसागर प्रेस बम्बई और दक्षिण के सस्करण। (२) गौडीय पाठ—गोरेसियो-पैरिस, तथा कलकत्ता सस्कृत सीरीज के सस्करण, तथा (३) पश्चिमोत्तरीय पाठ-दयानन्द महाविद्यालय सस्करण (लाहौर)। प्रचलित वाल्मीकि रामायण मे वाल्मीकि राम के समकालीन माने जाते हैं। महाभारत मे रामकथा चार स्थलो पर वर्णित है। (१) आरण्य पर्व की रामकथा भीम-हनुमान के सवाद के रूप मे पायी[2] जाती है। ३.१४७–२८–३६ पूना सस्करण। आरण्यपर्व मे दो बार रामकथा का वर्णन है। रामोपाख्यान की रामकथा विस्तृत है जो विद्वानो के मतानुसार रामायण का आधार है तथा जो वाल्मीकी के रामायण का सक्षिप्त रूप कहा गया है। दूसरी रामकथा का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। (२) द्रोण पर्व की रामकथा तथा शान्तिपर्व की रामकथा[3] षोडश राजोपाख्यान के अन्तर्गत

१. रामकथा–बुल्के, पृ० ३०।
२. रामकथा–बुल्के पृ० ४३।
३. महाभारत–७–५६–१–३१।

मिलती है। इन सोलह राजाओं की कथा व्यास ने अभिमन्यु वध के कारण शोक विह्वल युधिष्ठिर को धैर्य देने के लिए सुनायी है। इन सोलह राजाओं में से राम भी एक थे। (३) शान्तिपर्व की रामकथा[1]-प्रसङ्ग द्रोणपर्व के ही समान है। किन्तु यहाँ पर कृष्ण-युधिष्ठिर को षोडश राजोपाख्यान सुनाते हैं। महाभारत में राम विष्णु के अवतार हैं इस बात को बतलाने वाले कई उल्लेख हैं। यथा—

(१) भीम हनुमान संवाद में हनुमान का कथन—
अथ[2] दाशरथी वीरो रामो महाबल।
विष्णुर्मानुष्यरूपेण चचार वसुधा मिमाम्॥

(२) रामोपाख्यान में ब्रह्मा देवताओं से कहते हैं कि 'विष्णु मेरे आदेश के अनुसार अवतार लेकर रावण की हत्या करेंगे।[3]
तदर्थमवतीर्णो सौ मन्नि योगाच्चतुर्भुजः।
विष्णु प्रहरता श्रेष्ठः सकर्मतत्करिष्यति॥५॥

इसी पर्व के अन्तिम अध्याय में बतलाया गया है कि विष्णु ने दशरथ के गृह में रहकर रावण का वध किया है।

(३) विष्णुना वसतांचापि गृहे दशरथस्य[4] वै।
दशग्रीवो हतस्त्यान्न संयुगे भीम कर्मणा॥

(४) शान्तिपर्व में हरि अपने १० अवतारों का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि[5]—
सधौ तु स मनु प्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्यच।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पति॥१६॥

(५) स्वर्गारोहण पर्व में भी इसी प्रकार एक उल्लेख है।
वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौचान्ते च मध्येच हरि सर्वत्रगीयते॥[6]

इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में पातालखण्ड में एक स्थान पर बतलाया गया है कि 'जिस समय वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी को आहत पाकर तीव्र शोक का अनुभव

१. महाभारत, १२-२२-५१-६२।
२. आरण्य पर्व, ३-१४७ पूना संस्करण।
३. ,, ३-२६०। ,,
४. महाभारत-अरण्य पर्व, ३-२६६ पूना संस्करण।
५. ,, शान्तिपर्व, १२-३४८ पूना संस्करण।
६. महाभारत-स्वर्गारोहण पर्व, १८-६, पूना संस्करण।

किया और निषाद को शाप दिया उस समय ब्रह्मा ने आकर उन्हें यह निवेदन किया कि निषाद वास्तव में स्वयं रामचन्द्रजी थे जो मृगयार्थ वहाँ पर आ गये थे। अत आप उनके चरित का वर्णन कीजिए और ससार में सुयश प्राप्त कर यशस्वी बन जाइये। ब्रह्मा यह बतलाकर ब्रह्मलोक चले गए और वाल्मीकि मुनि ने इधर रामचरित का वर्णन 'ग्रन्थ कोटि भि' में कर डाला. देखिए[1]—

> शापोक्त्याहृदि सतप्तं प्राचेतसमकल्मषम्।
> प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृत॥
> न निषादो स वैरामो मृगयां चर्तुमागतः।
> तस्य संवर्णं नैव सुश्लोक्यसत्व भविष्यसि॥
> इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोके सनातनाः।
> तत सवर्णयामास राघवं ग्रथ कोटिभि.॥

प्राचीन जेंद अवेस्ता में 'रामहूवास्त्र' यह शब्द आता है जिसका अर्थ (राम=विश्राम+हुवास्त्र=चरागाह) चरागाह में विश्राम यह बतलाया जाता है। यही शब्द आगे चलकर एक देवतावाचक शब्द बन गया। 'राम' शब्द से मिलते-जुलते प्राय देवता या श्रेष्ठ व्यक्ति वाचक अनेक शब्द अनेक प्राचीन जातियों में प्रचलित थे। पर उन सबका रामायणीय राम से सीधा सम्बन्ध जोड़ना कठिन है।

रामकथा का साधारण स्वरूप अपने मूलरूप में उपलब्ध होना एक बड़ा दुःसाध्य और कठिन कार्य है। राम-रावण तथा हनुमान सम्बन्धी स्वतन्त्र आख्यान पहले प्रचलित थे जिन्हें जोड़कर एक पूरी रामकथा का रूप सवारा गया होगा जो आदि रामायण के नाम से प्रचलित रहा होगा। रामकथा को स्वयं भी एक रूपक माना जाता है जो आर्यों के दक्षिण विजय के सफल प्रयत्न को प्रतिध्वनित कर देता[2] है। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकता। वाल्मिकी मुनि ने अपने रामायण की रचना राम के समय में ही की थी। रामायण के दाक्षिणात्य पाठ वाले सस्करण में राम, सीता एवम् लक्ष्मण उनके आश्रम में पहुँचकर उनका अभिवादन करते तथा उनका आतिथ्य सत्कार पाते हुए दीख पड़ते हैं। अत एव कुछ लोगों का यह अनुमान है कि वाल्मीकि और राम का समय बारहवीं शताब्दी ईसवी पूर्व अधिक से अधिक माना जा सकता है।

राम+अयन=रामायण यानें पूर्ण रामचरित का वाल्मीकिकृत लिखित

---

१ हिन्दुत्व—रामदास गौड़, पृ० १२९–३०।

२. ए मेकडानल : ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, सन १९०७, पृ० ९१–१०३।

प्रमाणिक रूप नही मिलता। अतः कई शताब्दियो तक उसमे काव्यापजीवी कुशीलव अपने श्रोताओ की रुचि का ध्यान रखकर लोकप्रिय अंश बढाने रहे। भगवद्गीता मे कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शस्त्रधारण करने वालो मे राम हूँ— 'राम शस्त्रभृतामहम्।' यहाँ पर राम एक आदर्श क्षत्रिय के रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं।[1] रामायण की लोकप्रियता बढ चली। सम्भवत पहली शताब्दी ईसवी पूर्व से कृष्ण की तरह अवतार भावना से प्रोत्साहित होकर राम विष्णु के अवतार के रूप मे स्वीकृत हुए। रामभक्ति का आविर्भाव शताब्दियो बाद होने लगा। राम तथा उनके भाई लक्ष्मण दोनो विष्णु के अंशावतार माने जाने लगे।

रामायण काल मे वैष्णव प्रधान भक्ति-सिद्धान्तो का यथेष्ट मात्रा मे उत्कर्ष दिखाई देता है। वालिमकी के राम निर्गुण, सनातन आकाशस्वरूप तथा सम्पूर्ण लोको के आश्रय हैं। वेद इन्ही का निरन्तर प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने विष्णु का आश्रय लेकर, रावण आदि राक्षसों से त्रस्त जनता तथा ध्वस्त धर्म के रक्षणार्थ अयोध्यापति दशरथ की रानी कौसल्या के उदर से जन्म लिया है। जिस समय रामचन्द्रजी भाइयो सहित यमुना नदी से स्नान करके लीला का संवरण करने लगे उसी समय ब्रह्मा ने आकर कहा[2]—

वैष्णवीं ता महातेजे यद् वा काश सनातनम्

त्व हि लोके गतिर्देवो न त्वा के चित् प्रजानते।

त्वा म चिन्त्यं महद्भूमक्षय चाजर यथा ॥११०-८-१३॥

अर्थ—'हे विष्णुस्वरूप रघुनंदन। आदये, आपका प्रत्येक विधान मंगलमय है। हमारा बडा सौभाग्य है जो आप अपने परमधाम को पधार रहे हैं। देवतुल्य तेजस्वी भाइयों के साथ आप अपने जिस स्वरूप मे प्रवेश करना चाहें करें। आपकी इच्छा हो तो चतुर्भुजधारी विष्णु रूप मे ही स्थित हो, अथवा अपने सनातन आकाशमय अव्यक्त ब्रह्मरूप से विराजमान हो। भगवन् आप ही सम्पूर्ण लोकों के आश्रय हैं। आपको यथार्थ रूप से कोई नही जानते। आप अचिंत्य, अविनाशी, जरादि अवस्थाओ से रहित परब्रह्म हैं।'

रामायण-काल मे अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी जान पडती है। सीता भी लक्ष्मी का अवतार है। निर्गुण सदृश राम ही दुष्टों के दलनार्थ सगुण-मनुष्यरूप धारण करके अवतार लेते हैं। माया से छुटकारा पाने के लिए भक्ति साधन है जो अन्त करणपूर्वक करने से मुक्ति मिल जाती है। रामनाम के स्मरण तथा कीर्तन का महत्व है। रामनाम समस्त पापो का नाश करता है।

१. श्रीमद्भगवद्गीता।
२. कल्याण का संक्षिप्त वालिमकी रामायणांक।

रामायण की लोकप्रियता जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे राम का भी महत्त्व बढ़ने लगा। उनकी वीरता अलौकिक वीरता मानी जाने लगी। रावण दुष्टता तथा पाप का मूर्तिमत प्रतीक माना जाने लगा। राम पुण्य, सदाचरण, शौर्य, शक्ति, तथा सौन्दर्य के आदर्श समझे जाने लगे। रामायण के उत्तर काण्ड में रामावतार की सामग्री सबसे अधिक पाई जाती है। प्राचीनतम पुराणों में से वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य और हरिवंश में राम अवतार का उल्लेख पाया जाता है। धीरे-धीरे यह भावना सर्वमान्य होती गयी है। ऐसा माना जाता है कि रामचरित का महान् आख्यान इक्ष्वाकु वंश के राजाओं से संबन्ध रखता था जो किसी चली आती हुई मौखिक परम्परा से सप्राप्त था जैसे—

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञांवंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानम् रामायणमिति श्रुतम्॥३॥

वाल्मीकि के द्वारा रामचन्द्र इक्ष्वाकु वंश के ही थे इसलिये 'रामायण' नाम का एक महान् आख्यान् रचा गया। वाल्मीकि पूर्व ही भार्गव महर्षि ने उसके समान पद्यों की रचना की होगी ऐसा अनुमान किया जाता है - पर वे इस कार्य में उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सके जितनी वाल्मीकि को प्राप्त हुई थी। बुद्ध-चरित में अश्वघोष कवि इसका उल्लेख करते हैं।[२]

वाल्मीकि नादरव ससर्ज पद्यजग्रन्थ यन्नच्यवनोमहर्षिः॥

अर्थात् वाल्मीकि ने केवल 'नाद' अर्थात् शोकोद्गार से वह पद्य बनाया जिसे महर्षि च्यवन कतई नहीं बना सके।

स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी का कहना है कि च्यवन वाल्मीकि का पिता, पितामह या पूर्वज था क्योंकि बुद्ध चरित के ही एक श्लोकानुसार वे अपना परिणाम निकालते हैं—

तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणां च हितानितानि, कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः॥[३]

'अर्थात् इसलिए न तो अवस्था प्रधान है, न काल, लोक में कोई भी कभी भी श्रेष्ठ हो जाता है। राजाओं तथा ऋषियों के कई हितकारक कार्य हैं जो पुरखाओं से न हो सके और उन्हें उनके पुत्रों ने कर दिखाया।'

इसको मान लेने पर भी यह नहीं सिद्ध होता है कि च्यवन ने गद्य या पद्य में

---

१. वाल्मीकीय रामायण, १५-३।
२. बुद्धचरित-श्लोक ४८, सर्ग १।
३. बुद्धचरित-श्लोक ५१, सर्ग १।

रामायण लिखी थी।[1] हम यह कह सकते हैं कि महान आख्यान रामायण की प्राचीनता मे किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता।

प्रसिद्ध पुराणो मे आये हुए रामकथा के प्रसग तथा रामचन्द्रजी के अवतार के रूप मे हमारे सामने आने के अतिरिक्त कुछ ऐसे रामायण ग्रन्थ भी उपलब्ध हो जाते हैं जिनकी शैली पुराणो जैसी है। ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत ही अध्यात्म रामायण के एक विशिष्ट रूप को हम देखते हैं। 'हिन्दुत्व'[2] मे स्व० रामदास-गौड जी कुछ रामायणो का उल्लेख करते हैं जिनमे रामकथा को अलौकिक रूप प्रदान किया गया है। वे रामायण ये हैं-(१) महारामायण, (२) सस्कृत रामायण, (३) लोमस रामायण, (४) अगस्त्य रामायण (५) मजुल रामायण (३) सुवर्च रामायण, (७) सौर्य रामायण, (८) चान्द्र रामायण, (६) सौहार्द रामायण, (१०) सौपद्य रामायण, (११) रामायण महामाला आदि और भी कई नाम हैं। इनके अतिरिक्त योगवासिष्ठ रामायण एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। एम्० विटरनित्स और एम्० एन्० दास गुप्ता योगवासिष्ठ को आठवी शताब्दी ईसवी का मानते हैं। लेकिन डा० वी राघवन् के मतानुसार उसकी रचना ११०० ई० और १५२० ई० के बीच हुई थी। अन्य कुछ[3] भारतीय विद्वान इसे ईसवी पूर्व का ग्रन्थ मानते हैं। इस का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वसिष्ठ-रामचन्द्र-सवाद है, जिसमे वसिष्ठ राम को मोक्ष प्राप्ति के उपाय पर एक विस्तृत उपदेश देते हैं। वाल्मीकि ने अरिष्टनेमि को यह सवाद सुनाया था तथा योगवासिष्ठ मे अगस्त्य सुतीक्ष्ण की शिक्षा के लिए वाल्मीकि अरिष्टनेमि सवाद को दुहराते हैं।

भारतीय भक्ति मार्ग का आरम्भ तथा उसका विकास कैसे हुआ इसे वेदकाल से आरम्भ कर भागवत धर्म तथा वैष्णव धर्म और वासुदेव कृष्ण के एकान्तिक धर्म तक किस प्रकार प्रगट हुआ इस का विवेचन हम पहले ही कर आये हैं। हमें यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि उसी विष्णु-भक्ति की एक अन्य शाखा रामभक्ति मे परिणत हो गई। कहा जा सकता है कि रामभक्ति और रामावतार भारतीय सस्कृति का एक महत्वपूर्ण स्तभ है। सर रामगोपाल भाडारकरजी के मतानुसार रामावतार ईसवी सन् के आरम्भ मे हुआ था, पर उनकी उपासना, पूजा एवम् विशेष प्रतिष्ठा ग्यारहवी शताब्दी मे आरम्भ हुई है।[4] डा० थेडर के मत से जिन

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २ (सं० १६७८), पृ० २३६।
२. हिन्दुत्व-काशी, पृ० १३८, ४३, रामदास गौड।
३. कामिल बुल्के-रामकथा, पृ० १६३-१६४।
४. वैष्णविज्म और शैविज्म-सर रा. गो. भांडारकर, पृ० ४७।

पढरपुर मे विठ्ठल मन्दिर मे ईंट पर खडे हुए विठ्ठल की मूर्ति है तथा उनके बगल मे रुक्मिणी की मूर्ति है जो यहाँ पर 'रखुमाई' के नाम से प्रसिद्ध है। आषाढ की शुक्ल एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ल एकादशी के दिन विठ्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन कर अपना जीवन तथा जन्म सफल करते हैं। साल मे कम से कम दो बार यहाँ यात्रा के लिए आना पुण्यलाभकारक समझा गया है।

ऐसा कहा जाता है कि विष्णु के इस स्वरूप की भक्ति दक्षिण मे और कर्नाटक मे प्रचलित थी। इसकी साक्ष्य धारापुरी, तिरुपति, अहोवलपुरम् इन स्थानो पर पायी गयी मूर्तियो मे मिल सकती है। ये सभी मूर्तियाँ विठ्ठल की हैं। पढरपुर मे होयसल वश के वीर सोमेश्वर के द्वारा उत्कीर्ण एक लेख मिलता है जिसमे देवता की पूजा अर्चा के लिये आसदिनाड के हिरियगज ग्राम का दान किये जाने का उल्लेख है। अर्थात् इससे विठ्ठल और होयसल वश का निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इन होयसलो मे विष्णुवर्धन या बिट्टिग देव एवम् बिट्टी देव बडा पराक्रमी माना गया है। इसका समय सन् १११७ से सन् ११३७ का है। रामानुज के उपदेश से जैन धर्म का परित्यागकर यह वैष्णव धर्म में दीक्षित हुआ। पुडरीक मुनि या पुडलीक भक्त के साथ इस राजा का सम्बन्ध आया और उसकी आज्ञानुसार विठ्ठल का मन्दिर भीमा के तट पर उसने बनवाया। राजा के ही नाम पर यह विष्णु मन्दिर कहलाया। अनुमान के अतिरिक्त और कोई साक्ष्य यहाँ हम नहीं दे सकते।

पढरपुर मे आजकल जो मूर्ति विद्यमान है तथा मन्दिर का आज जो स्थान है वही पुराना स्थान था और मूर्ति भी वही है ऐसा निश्चित नहीं कह सकते। कई बार मुसलमानो के आक्रमणो ने अनेक देवताओं के मन्दिर तोडे और प्रत्येक बार सकटनिवारण हो जाने पर देवताओ को पुन पुन प्रस्थापित किया गया। कभी-कभी मूर्तियो को छिपाकर भी रखा जाता था। भारत के लिए यह अनुभव नित्य का ही है। उत्तर प्रदेश मे व्रज तथा मथुरा पर जब-जब आक्रमण हुए तब-तब वहाँ की मूर्तियों को हटाया गया है। मूर्ति-भजन हो जाने पर नई मूर्तियो की भी प्राण-प्रतिष्ठा हुई हैं। अत. पढरपुर मे ऐसा न हुआ हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पढरपुर मे ऐसा ही हुआ है।

पढरपुर की विठ्ठल मूर्ति विजयनगर मे क्यों ले जाई गई थी इसका कारण द्वैत मत के वैष्णव सत इस प्रकार देते हैं। सत्रहवी शती मे श्री विठ्ठल नामक एक कन्नड भक्त कवि का यह पद्य इसे स्पष्ट करता है। यथा—

नोनिल्लिरे वद्या विठला[१] एनिदु कौतुकवु ।
मध्वदेविगळ् माडुव पद्धति यनु कंडु ॥
हृद्य यागदेकद्दु कळहनं ते एद्दिल्लिगे बंदा ।
मिथ्या वादिगळ् निरन्तर युक्ति मुक्ति कोंडु ॥
अत्त् करेदु कुमुतिरे कडु ।
वे सत्त् वद्या विठला ॥
श्रीद विट्ठल निम्न सद्गुण वेदशास्त्र गळ् ।
शोधि सिनो उलु मुदेवरि नोलिदु ॥
आदरि सलु बद्या विट्ठला ॥

तात्पर्य, मध्वद्वेषी, मिथ्यावादी अर्थात् अद्वैतमार्गी भक्ति करने वाले वेदवाह्य आचरण तथा गडबड देखकर मन उद्विग्न हो गया तथा वेदशास्त्रादि का उत्कर्ष देखकर उसके प्रति अपनी स्वीकृति वतलाने के लिए तथा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करने के लिए विट्ठल यहाँ पर गये ऐसी द्वैतवादी भक्तो की धारणा है।

विजय नगर मे विठ्ठल मूर्ति को इसीलिए ले गये होंगे। जिससे यावनी भय नष्ट होकर उसका महात्म्य कायम रह सके। प्रसिद्ध वैष्णव विठ्ठल भक्त पुरंदरदास ने अपने साथियो सहित अपने जीवन का उत्तरकाल विजयनगर मे व्यतीत किया था। विट्ठल भक्ति परम्परा कर्नाटक मे पहले से ही प्रचलित थी ऐसा दिखाई देता है।

दक्षिण मे जब आर्यों का प्रवेश हुआ तब यहाँ के मूल आदिवासियो के प्रमुख उपास्य का भी आर्यीकरण अवश्य हुआ होगा। इसी समन्वयीकरण के ही कार्य-स्वरूप पंढरपुर के विठोबा-विठ्ठल-विष्णु के बालरूप माने गये और अवतार भी समझे गये।[२] ठीक इसी प्रकार बालाजी, व्यंकटेश तथा त्रावणकोर के पद्मनाभ का भी हुआ है। वादिराज तीर्थ ने शक १४६३ में 'तीर्थ-प्रबन्ध' नामक काव्य मे विठ्ठल स्तुतिपरक कुछ श्लोक रचे हैं जिनमे से एक यह है[३]—

चौर्यान्मातृनिबद्ध चारु चरण पापौघ चौ यदि बुधै,
बुद्धस्त्वं पथि पुन्डरीक मुनिना जारेति सम्बोधिता।
सुंगातीर गतोसि विट्ठल विशालन्याकृति वांछितम्।
वेत्तूरा यदि मे न दास   त्व सं स्थितिः कथ्यते ॥

१. श्री विठ्ठल आणि पंढरपूर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ६६–६७।

२. एनसायक्लोपिडिया ऑफ दि रिलिजन अँड एथिक्स वाल्यूम–६–७०२।

३. पूर्व प्रबन्ध-श्लोक १३–२, कर्नाटक कविचरित खंड ३–पृ० १५१।

इस श्लोक में विठोबा तुङ्गातीर पर स्थित विजयनगर में गया था यह उल्लेख है।

विठ्ठल मूर्ति और जैन मत —

कुछ लोग विठ्ठलमूर्ति को नेमिनाथ जैन तीर्थंकर की मूर्ति मानते हैं। इस प्रकार के तर्क का आधार एक जैन ग्रन्थ है जिसका उल्लेख गोडबोले कृत भारतवर्षीय अर्वाचीन कोश में इस प्रकार है—

> नेमिनाथस्य या मूर्ति स्त्रिषु लोकेषु विश्रुता।
> द्वौ हस्तौ कटिपर्यन्ते स्थापयित्वा महात्मनः ॥१॥
> मूर्तिस्तिष्ठति सा सम्यक् जैनेन्द्रैश्च पूजिता।
> अहिंसा परमं धर्म स्थापयामास वै सच ॥
> पुरोस्तु मनुजा क्षौणि विप्र भुमिश्च वासके।
> मेलने धर्म राजस्य शंकरस्य च गतावधिः ॥
> आषाढ़े शुक्ल पक्षे तु एकादश्यां महन्तियौ।
> बुधे च स्थापया मास विरोधिकृत वासरे ॥

इस जैन ग्रन्थ का पता नहीं लगता। कमर पर हाथ रखे हुए और आयुध धारण करने वाली तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कहीं भी नहीं मिलती हैं। ऐसी परिस्थिति में केवल मूर्ति की नग्नता से ही विठोबा को नेमिनाथ की मूर्ति बना देना औचित्य को छोड़कर मत प्रकट करना है। इससे केवल इतना सिद्ध हो सकता है कि महाराष्ट्र में जब जैन मत का प्रभाव छाया होगा और प्रसार हुआ होगा तब अहिंसा-धर्म-स्थापना में इस मूर्ति का उपयोग कर लिया गया होगा। वस्तुत: यह मूर्ति जैनियों की नहीं है, क्योंकि अन्तर्गत प्रमाणों के आधार पर मूर्ति के आंगिक भावों पर से ही यह बात सिद्ध हो जाती है। यह श्रीकृष्ण का गोकुल का बाल रूप ही है। कमर पर हाथ धरे हुए विठ्ठल खड़े हैं। एक हस्त में कमल है तथा दूसरे में शंख। भाल प्रदेश पर और पीठ पर छींके की रस्सी है। तुकाराम इस मूर्ति का वर्णन यों करते हैं[1]—

> पांडुरंग बालमूर्ति गाई गोपाळ संगाती।
> येऊनिया प्रीति, उभे समचि राहिले ॥

यह पाडुरङ्ग की बालमूर्ति है तथा साथ में गोपाल सखा और गायें हैं। अत्यन्त प्रीतिपूर्वक यहाँ आकर वे इस ध्यान में खड़े हैं।

१. श्री तुकाराम–३०३, सकल–संत गाथा।

विठ्ठल की अन्य मूर्तियाँ—(१) अहोवलम् की विठ्ठल-मूर्ति पुरानी मूर्ति है कमर पर हाथ धरे हुए है, अन्य हाथो मे क्रमश शख और कमल है, तथा मस्तक पर टोपीनुमा मुकुट शोभायमान है। (२) जोगेश्वरी की गुफा मे प्राप्त विठ्ठलमूर्ति एक भग्नमूर्ति है जो आठवी शताब्दी मे उपलब्ध हुई थी। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विठ्ठल मूर्ति ही है। (३) धारापुरी की गुफा मे मिली हुई खडित विठ्ठल मूर्ति ८ वी शती की ही है, जो बबई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम मे लाकर रख दी गई है। कमर पर धरा हुआ हाथ ऊपर से खडित है। कमर पर वस्त्र, मेखला तथा बाईं गोद पर टिका हुआ हाथ शख लिए हुए है। (४) तिरुपति बालाजी की विठ्ठलमूर्ति सबसे सुन्दर मूर्ति है।

सामान्यत मध्ययुग के पूर्व ही विठ्ठल भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है। शकराचार्यजी के द्वारा रचित एक पाडुरगाष्टक है जिसका आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया गया है।[1]

महायोगपीठे तटे भीमरथ्या वरं पुन्डरीकाय दातु मुनीद्रै।
समागत्य तिष्ठन्त आनदकन्द परब्रह्मलिंग भजे पान्डरंगम्॥

—पान्डुरगाष्टक।

यो इस 'पाडुरग-स्तोत्र' के शकराचार्य कृत होने मे आलोचको को अभी सन्देह बना हुआ है। यदि सचमुच वह श्रीमदाचार्यकृत है तो विठ्ठल का आविर्भाव सातवी शताब्दी से पूर्व मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती।

'मालूतारण' नामक एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का निर्माण मालू नाम के एक स्वर्णकार जाति के मनुष्य ने किया है। यदि यह विश्वसनीय है तो पान्डुरग मूर्ति शालीवाहन शक ४-५ तक पुरानी मानी जा सकेगी। इस ग्रन्थ के बत्तीस अध्याय हैं, तथा उसमे विक्रम और शालीवाहन के सघर्ष की कहानी है। शालीवाहन तथा उसके अमात्य रामचन्द्रपत सोनार विक्रम के आक्रमण से बडे चिन्तित थे, पर अचानक चार कोली सरदारो ने मदद देकर शालीवाहन को विजय प्राप्त करा दी। इसी उपलक्ष मे शालीवाहन ने अमात्य रामचन्द्र को जमीन दान देकर उसकी सनद बना दी। इस सनद मे रामचन्द्र पत को दीडीवन मे उन्हीं के द्वारा बसाये गये पढरपुर का स्वामित्व प्रदान किया। पाडुरग की इन पर कृपा थी। चार कोली सरदारो को भी रामचन्द्र पत ने पढरपुर मे बसाया और पुन्डलीक विठ्ठल, मल्लिकार्जुन और काल भैरव आदि देवता स्थानों से प्राप्त होने वाला द्रव्य वश परम्परागत रूप मे उन्हें दान के रूप मे लिख दिया। ये सनदें शालीवाहन के

१. वारकरी सप्रदाय—प्रा. शं. वा. दाडेकर, पृ० १३-१४।

हस्ताक्षर और अपने सिक्के सहित रविवार चैत्र शुद्ध सप्तमी शक ५ सुन्दरनाम के मवत्सर के दिन प्रदान की हैं।

पंढरपुर मे चार शिलालेख उपलब्ध हो गये हैं जो पंढरपुर पर प्रकाश डालते हैं जिनका ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है[1]—(१) शक ११५९ का शिलालेख—यह शिलालेख सोलह स्तभों के सामने वाले दक्षिणोत्तर स्तभ पर खोदा गया है। इसकी भाषा कानडी और संस्कृत मिश्रित है। पंढरपुर को 'पंडरगे' और विठोबा को 'विठ्ठग' कहा गया है। विठ्ठल देवस्थान के विठ्ठल के अगभोग और रङ्गभोग के लिए हिरियगज ग्राम के दान कर दिये जाने का इसमें उल्लेख है।

(२) शक ११९२ का आप्तोर्यामइष्टि' का शिलालेख—इसमें किसी केशवपुत्र भानु नाम के व्यक्ति के द्वारा पाडुरंगपुर मे किये गये आप्तोर्याम यज्ञ का उल्लेख है। पंढरपुर मे एक पुलिस चौकी है जिस की इमारत बहुत पुरानी है। उसी स्थान पर यह शिलालेख उपलब्ध हो गया है। 'Archaeological Survey of India, W C Report 1897–98 के पृष्ठ ५ मे बतलाया गया है कि पुराना विठ्ठल मंदिर अनुमानत इसी स्थान पर था। पर श्री ग ह खरे इस मत से सहमत नहीं हैं।

(३) शक ११९५ से शक ११९९ का चौरासी का शिलालेख—अनेक भक्तो के द्वारा पुराने विठ्ठल मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए सपत्ति दान करने वाले दाताओं की नामावली इस पर खुदी हुई है। इतिहासकार राजवाडे इस को जीर्णोद्धार विषयक नही मानते। पर इतना तो निश्चित है कि यह लेख पुराने देवालय की वृद्धि प्रीत्यर्थ दान दिया गया था इस बात को सिद्ध करता है तथा देवतास्थान के अस्तित्व का सूचक हो जाता है।

एक और शिलालेख चौरासी-लेख से भी पुराना ८७ वर्ष पूर्व का अर्थात् शक ११११ का उपलब्ध हो गया है। पंढरपुर के इस शिलालेख को डा० श० गो० तुळपुळे जी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पढ़ा है जिसके निष्कर्ष इस प्रकार के हैं—

(१) पंढरपुर मे विठ्ठल भक्ति अनुमानत ६ ठी शताब्दी से प्रचलित थी।

(२) १२ वीं शताब्दी में यह भक्ति विशेष रूप से प्रचार मे थी।

(३) विठ्ठल भक्ति का प्रचार जिस देवता के कारण हुआ उसका मन्दिर शक ११११ मे बना।

---

१. पंढरपूर विठ्ठल मदिराच्या इतिहासांतील एक अज्ञात दुवा—प्रो. शं. गो. तुळपुळे मराठी साहित्य-पत्रिका एप्रिल, मई, जून १९५६ संख्या ३०, पृ० २६–२८।

(४) इसके बाद देवालय मे वृद्धि होती गयी। शक ११५६ मे होयसल वंशीय वीर सोमेश्वर ने कर्नाटक का एक ग्राम दान दिया। शक-११९२ में एक आतोर्याम यज्ञ किया गया था जो इसी देवालय के प्रागण मे किया गया। शक ११९५ मे 'पाडरी फड मुख्य प्रौड प्रताप चक्रवर्ती श्रीरामदेव राव यादव और उसके 'करणाधिप' हेमाद्री पण्डित ने अपने नेतृत्व मे इस देवालय का विस्तार किया।

(५) इसके बाद मुसलमानो आक्रमण के कारण पढरपुर का विठ्ठल मदिर नष्ट हो गया। फिर इसको बनाया गया। यही शिवाजी-कालीन मदिर आज भी वर्तमान है।

बगाल के प्रसिद्ध द्वैतवादी वैष्णव महासाधु गौराग महाप्रभु चैतन्य ने दक्षिण यात्रा की थी। यह यात्रा सन १५१०–११ मे की गयी थी। कृष्णदास कविराज नाम के उनके एक भक्त कवि ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' मे इसका उल्लेख किया है, जिसमे बतलाया गया है कि चैतन्य कोल्हापुर मे पढरपुर गए थे। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

तथा होइते पाण्डुपुर आइला गौरचद्र। विठ्ठल देखि पाइल आनन्द।
प्रेमावेशे कैल प्रभुकीर्तन। प्रभु प्रेमे देखि सवार-चमत्कार मन॥

पढरपुर मे विठ्ठल को देखकर चैतन्य महाप्रभु को आनन्द हुआ। उन्होंने प्रेमपूर्वक विठ्ठल के सामने कीर्तन तथा नर्तन किया। नरनारी इनके इस प्रकार के प्रेम को देखकर चकित और मुग्ध हो गये।[1] विठ्ठल मूर्ति के सम्बन्ध मे एक और जानकारी विद्वद्रत्न डा० रामचन्द्र पारनेकरजी इस प्रकार देते हैं[2]—

विठ्ठल की आधिदैविक जानकारी—

लोगो का विश्वास है कि विठ्ठलमूर्ति कृष्ण मूर्ति ही है। दक्षिण में कर्नाटक और आन्ध्र प्रान्त मे बालाजी के मन्दिर हैं। बालाजी विष्णु का ही स्वरूप है। महाराष्ट्र मे यह विठ्ठल स्वरूप बनकर विठ्ठल मूर्ति के नाम से प्रस्थापित की गई। बालाजी को विष्णु का अवतार माना जाता है उसकी कथा इस प्रकार है। बालाजी के साथ लक्ष्मी नही है वह रूठकर अविहृ रूप से करवीर (कोल्हापुर) में निवास कर रही है। विठोवा भी पढरपुर मे अकेले ही आये हैं।

---

१. 'चैतन्य चरितामृत'—कृष्णदास कविराज मध्यलीला, ९ वां परिच्छेद।
२. पढरपुर के विठोबा की आधि दैविक जानकारी—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

रुक्मिणी–रखुमाई का मंदिर गाँव के बाहर है। यहाँ भी वही रूठने की कल्पना है। रुक्मिणी रूठी हुई हैं और विठ्ठल या विठोबा अकेले ही खड़े हैं। इसी विठ्ठल का दूसरा नाम पाडुरंग है। इस रूठने का कारण यह है कि विठ्ठल को पद्मिनी नाम की राजकन्या से विवाह करना था और दूसरा रंग अर्थात् संसार जमाना था। इसीलिए कहा जा सकता है पद्म रंग की कल्पना विठ्ठल के मन में थी। परन्तु रुक्मिणी के रूठ जाने से वह बदरङ्ग हो गया। ऐसे समय में सहज ही विचार उत्पन्न हो गया कि प्रथम गृह-संसार समाप्त हो गया और दूसरा गृह-संसार करने की इच्छा है, पर अभी वह निर्माण न हो सका यह विठ्ठल की तटस्थता-वृत्ति है। कृष्ण की इसी ताटस्थ्यवृत्ति युक्त ध्यान की कल्पना भक्तों ने की जो पंढरपुर के विठ्ठल रूप में अवतीर्ण हो गयी। शिल्पकार ने इसी ताटस्थ्य भाव प्रकटीकरणार्थ कमर पर दोनों हाथ रखी हुई विठोबा की मूर्ति का निर्माण किया। जब हम चिंतामग्न या विश्रामग्रस्त रहते हैं तब इसी प्रकार कमर पर हाथ रखकर खड़े रहा करते हैं। इसी अनुभव को शिल्पकार ने प्रकट किया। पद्मरंग शब्द का पाडुरंग अपभ्रंश रूप है। दक्षिण की भाषाओं में उदासीनता निर्देशक कोई शब्द रहा होगा जिसका अपभ्रंश रूप विठ्ठल बना होगा। यों वारकरी संप्रदाय के विद्वान विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—वि=नहीं या विगत+ठ=अज्ञान+ल=लक्षणा द्वारा अज्ञान नष्ट करने वाला और ज्ञान प्रस्थापित करने वाला अर्थात् विठ्ठल पर यह अर्थ किसी तरह खींचतान-कर किया गया जान पड़ता है। भागवत या वारकरी संप्रदाय के वह अनुरूप नहीं है अतः वैसा अर्थ करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सीधे रूप में भी प्रथम गृहस्थी न हो सकी अर्थात् बदरंग हो गयी और दूसरी गृहस्थी को बसाने या करने की इच्छा मात्र है इस बीच की तटस्थ भाववृत्ति का भक्ति के द्वारा किया गया सगुण ध्यान और सगुण मूर्ति ही पाडुरंग-विठ्ठल की है। 'पांडुरंग' शब्द का अर्थ इस प्रकार होगा—जिसका संसार-रंग पांडुर याने फीका हो गया है ऐसा शब्द पाडुरंग है। पद्मरंग का पाडुरंग अपभ्रंश रूप है ऐसा मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

विद्वद्वर पारनेरकरजी का कहना है कि सगुणोपासना के तंत्र विधान की दृष्टि से विठ्ठल का यही ध्यान योग्य है। आध्यात्मिक अर्थ से निर्गुणोपासना का अर्थ लगाना अयोग्य है।[१]

---

१. डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ—

'पढरपुर' और 'विठ्ठल' शब्द इस प्रकार बने हैं—

(१) पढरपुर के[1] पुराने नाम पढरि—पाडुरगपुर, पडरिपुर-फागनिपुर, पौंडरीक क्षेत्र, पाडरगपल्ली इस प्रकार के मिलते हैं। पौंडरीक मे सत पुडलीक का सबध निश्चित हो जाता है। 'पडरगे' कन्नड नाम है। पडरिपुर के सस्कृत रूप पडरिका से पडरिआ उससे पडरी या पढरी यह रूप बना है। भाडारकरजी के अनुसार पाडुरगपुर का पढरपुर बना है। इस नगर के आराध्य देवता को विठ्ठल, विठोबा, पढरिनाथ, विठाई माऊली (माता के अर्थ मे) आदि नामो से सबोधित किया जाता है। सबमे प्रमुख 'विठ्ठल' है।

(२) 'विठ्ठल तथा रखुमाई शब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार से बताई जाती है।

(अ) भाडारकर के मतानुसार 'विष्णु'का कन्नड रूप 'विट्टि' होता है विष्णुदेव-बिट्टिदेव-बिट्टिगदेव-विठ्ठल देव ऐसा अपभ्रश रूप बना है।

(आ) राजवाडे के अनुसार 'विठ्ठल' शब्द 'विष्ठल' से बना है। विष्ठल=दूर जगल का स्थल। जगल मे रहने वाला—दूर रहने वाला देवता याने विठ्ठल है। इतिहास, दतकथाएँ तथा व्युत्पादन सुलभता की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति ग्राह्य है।

(इ) मौंसियर जे. फिलस्की ने 'आर्किव्ह ओरिएन्तालिनी' के चौथे खड के दूसरे अङ्क मे एक लेख लिखकर उसमे 'विष्णु' शब्द का मूल द्राविड़ और आस्ट्रोएशियाटिक रूप सुझाया है। 'विष्णु' शब्द के पर्याय वेष्णु, वेठु, विठु तथा विठ है। इनमे से त – नु (Non Aryan) अनार्य प्रत्यय निकाल देने पर विठ, विषु, वेठ्, वेष् ये धातु बच जाते है। आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओ मे 'ष' और 'ठ' का विपर्यय होता है। इसी से उसका ठल रूप बन जाता है।

(ई) 'विठ्ठल' विष्णु शब्द का अपभ्रश रूप है। विष्णु=विठ=वेठ हो गया। बगला मे वैष्णव शब्द का उच्चारण 'वोईष्टोम' होता है।

(उ) रुक्मिणी तथा रखुमाबाई या रखुमाई ये भी एक ही शब्द हैं। श्री ग ह. खरे सुझाते हैं कि मुसलमान पूर्वकालीन इतिहास मे लख्मा-देवी-लकमादेवी ये नाम रानियो के लिए आया करते थे। विष्णुवर्धन की रानी का नाम लक्ष्मादेवी या लुकमादेवी था। 'लक्ष्मा' या लक्ष्मी से ही

१. श्रीविठ्ठल आणि पंढरपुर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ५०।

रुम्मा या रखुमा बना होगा। विष्णु-रुक्मिणी नाम की युगल जोड़ी प्रसिद्ध नहीं है पर विष्णु-लक्ष्मी यह युगल जोड़ी प्रसिद्ध है।

(ऊ) धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं— विदा ज्ञानेन ठान शून्यान् लाति गृह्णाति इति विठ्ठला अर्थात् ज्ञान शून्य भोले-भाले अज्ञ जनो को जो अपनाते हैं ऐसे विठ्ठल हैं।

(ए) 'तुकाराम' के एक अभङ्गानुसार विष्णु का गरुड़ वाहन होने के कारण विष्णु 'विठोबा' नाम से प्रसिद्ध हुए।[१] विष्णु का ही प्राकृत रूप 'विट्ठ' हुआ जिसमे 'ल' प्रत्यय तथा आदर सूचक 'बा' प्रत्यय जोड़ने से क्रमश: विट्ठल और विठोबा बने हैं।

इस तरह हमने अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखी और प्रमाण इकट्ठे किये जो विट्ठल की महिमा अपने-अपने ढग से बतलाते है। इन सब मे विद्वद्रत्न डा० रा. प्र पारनेरकर की विवेचना हमे अधिक तर्क सगत और समीचीन लगती है।

नामदेव और ज्ञानदेव पूर्व ३३६ वर्षो से विठ्ठल के उपासक करीब-करीब विठ्ठल भक्ति करते आये हैं ऐसा 'युगे अठ्ठावीस विटेवरी उभा' इस प्रसिद्ध नामदेवकृत विठोबा की आरती के प्रथम चरण से ज्ञात होता है। पुडलीक वरदे हरी विठ्ठल' की मधुर सान्द्र ध्वनि से पंढरपुर का गगन मडल विठ्ठल भक्त निनादित कर देते हैं। हरिदासी–सम्प्रदाय के लोग विठ्ठल की ही उपासना करते हैं तथा तिरुपति के बालाजी-वेंकटश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक है। इनके अनुसार पाडु याने पाडव और रग याने श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण पाडवो के समर्थक थे। अत इस भक्ति की व्यापकता का पता लग जाता है। स्मरण रहे कि यह उपासना अपने सम्पूर्ण रूप मे भागवत-धर्मीय है। पुडलीक भक्त के हितार्थ श्रीकृष्ण ने भक्तो के कृपार्थ एवम् उनके निरीक्षण के लिए यह अवतार लिया ऐसी धारणा है। पुडलीक के बारे मे कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। पर इस सम्प्रदाय के भक्तो मे यह धारणा प्रचलित है जो झूठी नहीं कहला सकती। काल के उदर मे ऐतिहासिक साक्ष्य नष्ट हो जाने पर भी जन प्रचलित अटूट विश्वास ही ठोस आधार का कार्य करता रहता है। ज्ञानदेव कृत 'हे नव्हे आज कालीचे युगे अठ्ठाविसाचे', यह अभग मत नामदेवकृत 'युगे अट्ठावीस विटेवरी ऊभा' यह आरती, तथा 'युगे झाली अट्ठावीस अजुनी न म्हणती बस' यह तुकाराम कृत अभग इस उपास्य की स्वयभू और प्रकट होने की पुरानी अन्तर्साक्ष्य दे देते हैं। विठ्ठल के मस्तक पर शिवलिंग

१. वी धा केला ठोवा म्हणोनि नाव विठोवा—तुकाराम अभग गाथा।

है ऐसी भी धारणा इस मत के लोगो की है। निवृत्ति नाथ का यह अभग इस की पुष्टि करता है[1]—

(१) पुडलिकाचे भाग्य वर्णावया अमरी नाही चराचरी ऐसा कोणी॥
विष्णुसहित शिव आणिला पढरी। भीमा तीरीं पेखणे जेणें॥धृ॥[2]

इसी प्रकार से ज्ञानदेवजी भी अपने एक अभग मे कहते है[3]—

(२) रूप पाहाता तरी डोळसु। सुन्दर पाहाता गोपवेषु।
महिमा पाहाता महेषु। जेणे मस्तकी वदिला॥

वारकरी सम्प्रदाय के अतिरिक्त सन्त रामदास भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते है[4]—

(३) *विठो ने शिरी वाहिला देवराणा। तया अन्तरी ध्यास रे त्यासि नेणा।*

इससे यह निश्चित हो जाता है कि शैव वैष्णवो के समन्वय की दृष्टि इस सम्प्रदाय के उपासको मे भी मूलत विद्यमान थी। इसका कारण 'विठ्ठल भूषण' ग्रन्थ रचने वाले श्री गोपालाचार्य इस प्रकार बतलाते है[5]—'श्री पाण्डुरग मस्तके शिवलिंगमस्ति इति शैवा, तत्तुच्छ शिवय मौलि इति तीर्थ हेमाद्रि धृत प्रागुक्त स्कादन्ति निरोधात्। शिवय मौलि शिवय ग्रन्थि। गोपालाचार्य के मत से विठोबा के मस्तक पर शिवलिंग है ऐसा मानने वाला एक मत है किन्तु वे स्वय वैष्णव होने के कारण इस मत के मानने वाले को शैव समझते है। जो भी हो उनका यह भी कथन है कि विठोबा की मूर्ति गोपवेषधारी श्रीकृष्ण की है। गोपालो के पीठ पर छींका रहता है यह माना जाय। कर्नाटकी वैष्णव सम्प्रदाय पर उस प्रान्त के प्रसिद्ध वीर शैव सम्प्रदाय का प्रभाव कम नही पडा है। यो प्रसिद्ध है कि भक्ति द्राविड देश मे उत्पन्न होकर कर्नाटक से महाराष्ट्र मे आई है। वारकरी-सम्प्रदाय के अध्वर्यू श्री ज्ञानेश्वर का सम्बन्ध नाथ पथ से है जो शैवमत से निकला है। इन सब बातो को देखकर हरिहर का समन्वय यदि विठ्ठलोपासना मे प्रचलित रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है बल्कि यह एक सच्चा निष्कर्ष है ऐसा मानना पडेगा। तुलसी के राम भी तो शकर के उपासक तथा शकर राम के भक्त

---

१. सकल सत गाथा—पृ० १०४, अभग स० २२०१ निवृत्तिनाथ।
२. निवृत्तीनाथकृत अभग नं० २२०१, पृ० १०४, सकल संत गाथा।
३. ज्ञानेश्वर के अभग—१०–२।
४. सत रामदास—अभग।
५. विठ्ठलभूषण—श्रीगोपालाचार्य।

समझे गये हैं।[1] महाराष्ट्र में कर्नाटक से ही विठ्ठलोपासना आई है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है तो कुछ उसके ठीक विरुद्ध हैं। इसकी ओर चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक होगी। विठ्ठल का शंकर को अपने मस्तक पर धारण करना आत्मलिंग का प्रतीक माना जायेगा।

विठ्ठल मूर्ति और बौद्ध मत—

जिस प्रकार कुछ लोग विठ्ठल को जैन मूर्ति बतलाते हैं उसी प्रकार से कुछ लोग उसे बौद्धमूर्ति बतलाते हैं। नागपुर के श्री अनन्त हरि कुलकर्णी, सेक्रेटरी बुद्ध सोसायटी, का यह प्रयत्न रहा है और वे उसे सिद्ध करने का प्रमाण देते हैं कि विठ्ठल मूर्ति बौद्ध मूर्ति है। बुद्ध को विष्णु का अवतारत्व तो हिन्दुओं ने प्रदान कर ही दिया है। पंढरपुर के देवालय में बौद्धमूर्तियाँ हैं। अतः वह बुद्ध मंदिर रहा होगा और अशोक कालीन ८४००० मंदिरों में से यह भी एक होगा ऐसा विवेचन जॉन विलसन का है। श्री कुलकर्णी इससे सहमत हैं। इस अनुमान को हम ग्राह्य नहीं मानते। पुराने दशावतार के पायें जाने वाले चित्रों में बौद्ध के स्थान पर विठ्ठल-रखुमाई के चित्र मिलते हैं। विठ्ठल को बौद्ध वारकरी सम्प्रदायी भी मानते हैं। पर उनका यह मानना उस अर्थ में नहीं है जैसा कि समझा जाता है।

इधर एक[2] लेख 'रोहिणी' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक श्री घोंगडे नाम के एक सज्जन हैं। उनका निवेदन है कि गरुड तथा कूर्म पुराण ४५०० वर्षों ईसा पूर्व लिखे गये जबकि कौरवों का नाश हुआ था। अर्थात् यह अनुमानतः ही कहा जाता है। कदाचित् वह राजा परीक्षित के राज्यत्व का काल था। इन पुराणों में विष्णु का पुनः अवतार के रूप में पुनर्बुद्ध हो जाने का उल्लेख है। श्री घोंगडेजी के अनुसार यह बुद्धावतार ही विठ्ठल है।[3]

ज्ञानेश्वरी के प्रथम अध्याय में बौद्ध मत का निर्देश टूटे हुए दाँत की उपमा से किया गया है। प्रसंग गणेश वंदना का है देखिये[4]—

> एके हाती दंतु जो स्वाभावता खंडितु।
> तो बौद्धमत संकेतु वार्तिकांचा ॥१२॥

---

१. रामरक्षा स्तोत्र—बुधकौशिक।
२. 'रोहिणी' दीपावली विशेषांक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल'
—ले. श्री घोंगडे, पृ० ४७–५३।
३. 'रोहिणी' दीपावली विशेषांक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल'
—ले. श्री घोंगडे, पृ० ४७–५३।
४ ज्ञानेश्वरी-प्रथम अध्याय ओवी १२–१३, ज्ञानेश्वर अभंग सकल संतगाथा–६७।

मग सहजे सत्कार वादु तो पद्मवरु वरदु ।
धर्म प्रतिष्ठा तो सिद्ध अभय हस्तु ॥१३॥

श्री गणेशजी का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर उनका ध्यान चित्रित करने है जिसमे वे कहते हैं कि बौद्धमत की विवेचना करने वाले बौद्ध वार्तिकों के द्वारा प्रस्थापित बौद्ध मत ही मानों स्वाभाविक रूप से खंडित हो गया है। न्याय सूत्र पर वृत्ति रचने वालों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया पर अपने आप टूटा हुआ खंडित दाँत है जो बौद्ध मत का संकेत करता है। इस दात को पातंजलदर्शन रूपी एक हाथ में ले लिया है। फिर बौद्धो के शून्यवाद का खंडन हो जाने पर सहज ही आने वाला निरीश्वर सांख्यों का सत्कारवाद ही गणेशजी आपका कमल के समान वर देने वाला हाथ है, तथा धर्म-प्रतिष्ठा एवम् धर्म की सिद्धि देने वाला (याने जैमिनी कृत धर्म सूत्र) और अभय देने वाला हाथ है।

ज्ञानेश्वर और तुकाराम के ये अभग भी इसी का निर्देश करते हैं कि विठ्ठल ही बुद्धावतार है। देखिये[1]—

ज्ञानेश्वर का अभङ्ग—

पाडुरग कांति दिव्य तेज झळकती रत्नकीळ फाकती प्रभा।
आणि लावण्य तेजः पुंजाळले न वर्णवि तेचि शोभा ॥१॥
कानडा हो विठ्ठलू कर्नाटकु त्याने मज लाविला वेधु।
खोळ बुंथी घेऊनी खुणेचि पालवी आळविल्या नेदी सादु॥
शब्दे वोण सवादु दुजेवीण अनुवादु हे तंव कैसे निगमे ॥२॥ध्रु०॥
परि हो परते बोलणे खुंटले वैखरि कैसे निसंगे॥
क्षेम देऊ केले तव मीची मी ऐकली आसावला जीव राहो॥
भेटी लागी जीव उतावीळ माझा म्हणुनि स्फुरतसे बाहू॥
पाया पडू गेले तव पाऊल न दिसे उभाचि स्वयंभु असे॥
समोर की पाठिमोरे न कळे ठकचि ठेले कैसे ॥५॥
बाप रखुमा देविवरू हृदयिचा जाणुनी अनुभव सौरे भुकेला॥
दृष्टिचा डोळा पाहूं गेले तव भीतरी पालटू झाला ॥६॥[2]

तथा तुकाराम का अभङ्ग इस प्रकार है[3] —

बौद्ध्य अवतार माझिया अदृष्टा॥
मौन्य मुखे निष्ठा धरिये लो ॥१॥

---

१ ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल संत गाथा–६७।
२. ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल सन्त गाथा–६७।
३. तुकाराम अभङ्ग, गाथा–४१६०।

लोखावियें साळी श्याम चतुर्भुज ॥
सतासवे गुज बोलतसे ॥२॥

इन दोनों अभगों में क्रमशः संत ज्ञानेश्वर और तुकाराम ने वारकरी सप्रदाय के विश्वास को ही प्रकट किया है कि विठ्ठल बुद्धावतार हैं। महानुभाव पथीय लोगों के मतानुसार एक ब्राह्मण बुढिया के डाकू लडके विठ्ठल के मारे जाने पर एक महलवा उस स्थान पर स्थापित किया। यहीं पर आगे चलकर विठ्ठल की *उपासना होने लगी। इस तरह महानुभाव पंथी लोगों की धारणा का भी पता* चलता है।[1]

पंढरपुर में प्रचलित आषाढी एकादशी की वारी या यात्रा बहुत दिनों से चली आ रही है। इसे सिद्ध करने वाला एक प्रमाण एक शिलालेख है। यह शिलालेख धारवाड के पास हेब्बळ्ळि ग्राम में जबुकेश्वर के मन्दिर के सामने मिला है। इस लेख की भाषा और लिपि कन्नड है। देवगिरी के राजा यादव कन्नर या कृष्ण के तृतीय राज्याभिषेक वर्ष में याने पौष शुद्ध नवमी शक ११७० दिनांक २५ *दिसम्बर सन १२४८ के दिन एक दान दिया गया। जिसमें ये शब्द हैं—*

(१) *श्री पंडरगे म श्री विठ्ठलेश्वर वारिय श्री हरिदि।*
(२) नड्डळ धर्मक्के कलुवर सिंगया केडनु कोट्ट वृत्ति वोंदु ।

इसका अभिप्राय इस प्रकार है—पंढरपुर के विठ्ठल की वारी के हरिदिन अर्थात् एकादशी को धर्मार्थ कलुवर सिंगगावुंड ने एक दान दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक ११७० में पंढरपुर की वारी (यात्रा) प्रचलित थी। नामदेव के एक अभग से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। 'पंढरिची वारी आषाढी कार्तिकी। विठ्ठल एकाकी सुखरूप[2] ॥४॥' म ॥

मुसलमानपूर्व काल से ही पंढरि की वारी प्रचलित थी यही बात इससे प्रकट हो जाती है।

इस तरह अलग-अलग प्रमाणों और मतों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विठ्ठलोपासना बहुत पुरानी थी। अतः विवादों में पडना अनुचित होगा। भक्ति के क्षेत्र में भारत जैसे देश में आदान-प्रदान, प्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष इतने बहुविध रूपों में हुआ है कि प्रामाणिक रूप में किसका कितना अंश है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रायः विद्वान लोग अपने अनुकूल और प्रतिकूल

१. महाराष्ट्राची चार दैवतें—रा. ह. खरे, पृ० १८७।
२. सकल संत गाथा, अभङ्ग—क्र. ८६५, नामदेव।

उक्तियाँ ढूढ निकालते हैं। दूसरी बात है उक्तियो का अर्थ लगाना और उसका प्रतिपादन करना। मेरी अल्प मति मे यही आता है कि मध्ययुगीन वैष्णव साधना अत्यन्त सहिष्णुता-युक्त और सर्व-सग्राहक और समन्वयात्मक थी। विद्वद्रत्न डा० पारनेकरजी के मत से हम सहमत है और वही इस विषय का निष्कर्ष भी माना जा सकता है। महाराष्ट्र मे विठ्ठलोपासना—विष्णु उपासना का ही एक एक रूप और प्रधान अग रही है तथा वहुत लोकप्रिय होने से आज तक बहुजन समाज मे उसके अनुयायी बडी सख्या मे सभी वर्णों के सभी जातियो के पढे-लिखे विद्वानो से अपढ किसान मजदूरो तक सम्मिलित हैं। शैव-वैष्णव समन्वय, ज्ञान और भक्ति समन्वय, नाथ-योगपरक-निर्गुण, और उपासनापरक सगुण-भागवत-धर्म, समन्वयपूर्ण दृष्टि विठ्ठलोपासना का—वारकरी सम्प्रदाय का प्रमुख लक्ष्य जान पडता है। अत उसका इतना सर्वक्षम लोक कल्याणकारी रूप विठ्ठल भक्ति मे हम को दिखाई पडता है।

लोकाचिये साठी श्याम चतुर्भुज ॥
सतासवे गुज बोलतसे ॥२॥

इन दोनों अभंगों में क्रमशः संत ज्ञानेश्वर और तुकाराम ने वारकरी सम्प्रदाय के विश्वास को ही प्रकट किया है कि विठ्ठल बुद्धावतार हैं। महानुभाव पंथीय लोगों के मतानुसार एक ब्राह्मण बुढ़िया के डाकू लड़के विठ्ठल के मारे जाने पर एक भडखवा उस स्थान पर स्थापित किया। यही पर आगे चलकर विठ्ठल की उपासना होने लगी। इस तरह महानुभाव पंथी लोगों की धारणा का भी पता चलता है।[1]

पंढरपुर में प्रचलित आषाढ़ी एकादशी की वारी या यात्रा बहुत दिनों से चली आ रही है। इसे सिद्ध करने वाला एक प्रमाण एक शिलालेख है। यह शिलालेख धारवाड के पास हेस्वळ्ळि ग्राम में जबुकेश्वर के मन्दिर के सामने मिला है। इस लेख की भाषा और लिपि कन्नड़ है। देवगिरी के राजा यादव कन्नर या कृष्ण के तृतीय राज्याभिषेक वर्ष में याने पौष शुद्ध नवमी शक ११७० दिनांक २५ दिसम्बर सन १२४८ के दिन एक दान दिया गया। जिसमें ये शब्द हैं—

(१) श्री पंढरगे य श्री विठ्ठलेश्वर वारिय श्री हरिदि।
(२) नङ्गळ धर्म्मक्के कलुवर सिंगण कडनु कोट्ट वृत्ति बोंदु।

इसका अभिप्राय इस प्रकार है—पंढरपुर के विठ्ठल की वारी के हरिदिन अर्थात् एकादशी को धर्मार्थ कलुवर सिंगगावुंड ने एक दान दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक ११७० में पंढरपुर की वारी (यात्रा) प्रचलित थी। नामदेव के एक अभंग से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। 'पंढरिची वारी आषाढी कार्तिकी। विठ्ठल एकाकी सुखरूप[2] ॥४॥' म ॥

मुसलमानपूर्व काल से ही पंढरि की वारी प्रचलित थी यही बात इससे प्रकट हो जाती है।

इस तरह अलग-अलग प्रमाणों और मतों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विठ्ठलोपासना बहुत पुरानी थी। अतः विवादों में पड़ना अनुचित होगा। भक्ति के क्षेत्र में भारत जैसे देश में आदान-प्रदान, प्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष इतने बहुविध रूपों में हुआ है कि प्रामाणिक रूप में किसका कितना भाग है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रायः विद्वान लोग अपने अनुकूल और प्रतिकूल

१. महाराष्ट्राचो चार दैवतें—ग. ह. खरे, पृ० १८७।
२. सकल सन्त गाथा, अभङ्ग–क्र. ८६५, नामदेव।

उक्तियाँ ढूढ निकालने हैं। दूसरी बात है उक्तियो का अर्थ लगाना और उसका प्रतिपादन करना। मेरी अल्प मति मे यही आता है कि मध्ययुगीन वैष्णव साधना अत्यन्त सहिष्णुता-युक्त और सर्व-सग्राहक और समन्वयात्मक थी। विद्वद्रत्न डा० पारनेकरजी के मत मे हम सहमत है और वही इस विषय का निष्कर्ष भी माना जा सकता है। महाराष्ट्र मे विट्ठलोपासना—विष्णु उपासना का ही एक एक रूप और प्रधान धर्म रही है तथा बहुत लोकप्रिय होने से आज तक बहुजन समाज मे उसके अनुयायी बडी सख्या मे सभी वर्णों के सभी जातियों के पढे-लिखे विद्वानो से अपढ किसान मजदूरो तक सम्मिलित हैं। शैव-वैष्णव समन्वय, ज्ञान और भक्ति समन्वय, नाथ-योगपरक-निर्गुण, और उपासनापरक सगुण-भागवत-धर्म, समन्वयपूर्ण दृष्टि विट्ठलोपासना का—वारकरी सम्प्रदाय का प्रमुख लक्ष्य जान पडता है। अत उसका इतना सर्वंकष लोक कल्याणकारी रूप विट्ठल भक्ति मे हम को दिखाई पडता है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

★

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

वेद में पायी गयी विष्णु विषयक बातों की चर्चा करते हुए अनेक उल्लेखों से हमने अब तक देखा कि उपनिषदों, ब्राह्मणों, आगमों तत्रों और पुराणों आदि में व्यापक रूप में वैष्णव उपासना अनेक रूपों-साधनाओं और पद्धतियों में विकसित होती गई। विष्णु परम देवता बने उनका नारायण के साथ एकीकरण हुआ। नारायण में वासुदेव और फिर वासुदेव का नारायण और विष्णु के साथ एकीकरण कैसे हुआ यह भी हमने देखा। वासुदेव-कृष्ण, गीता के सात्वतकार और भागवत के कृष्ण गोपालकृष्ण, राधाकृष्ण, प्रभु श्रीरामचन्द्र और विठ्ठल इनका विकास और स्वरूप का विवेचन कर हमने यह जाना कि रामचन्द्रोपासना तो सारे भारत में व्याप्त है। पर विशेषतः हिन्दी में गोपालकृष्ण और राधाकृष्ण की उपासना में बालकृष्ण और युवाकृष्ण का विशेष वर्णन आता है, तो मराठी में बालकृष्ण के साथ विठ्ठलोपासना दिखाई देती है। अवतार कल्पना का सूत्रपात भी किस प्रकार हुआ यह भी हमने देखा। बीजरूप से वैष्णव धर्म का वृक्ष कतिपय वैदिक भावनाओं को लेकर बोया गया था जो अनेक प्रकार की भक्ति भावनाओं की शाखाओं से हरा-भरा होकर पल्लवित पुष्पित हुआ। भक्ति के और उपास्य के विचार परिपक्व होते गये। उसी के अनुरूप दार्शनिक चिन्तन पक्ष भी सामने आने लगा।

आराध्य के स्वरूप के साथ भक्ति की विभिन्न पद्धतियों का भी विकास होता गया। हिन्दी और मराठी वैष्णव भक्ति को प्रभावित करने वाली जो विविध भक्ति पद्धतियाँ और सिद्धान्त विकसित हुए उनका परिचय करना अब हमारे लिए नितान्त आवश्यक हो गया है। अपने आराध्य को परम पुरुष या परम उपास्य का रूप देने में इस साधना के किसी भी शाखा ने किसी भी युग में तथा किसी भी प्रकार से कोई कसर बाकी न रखी। इस तरह गीता का प्रसिद्ध एकान्तिक धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ वही सात्वत-भागवत-पाचरात्र-वैखानस आदि स्वरूपों में से ज्ञानमय, योगमय, भक्तिमय एवम् स्नेहमयी कोमल मनोवृत्तियों के निरूपणों के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति गीता और

महाभारत काल के बाद किस प्रकार बढी उसकी संक्षिप्त जानकारी कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

वैष्णव मत के सर्वप्रथम दार्शनिक आचार्य—योगेश्वर श्रीकृष्ण

वैष्णव भक्ति के सब से प्रथम दार्शनिक आचार्य परम योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ही माने जाने चाहिए। गुप्त-साम्राज्य ही उत्तर भारत मे वासुदेव धर्म यानि एकान्तिक भागवत धर्म की उन्नति का काल था। इसके बाद हर्ष वर्धन जैसे सम्राटो के बाद वह धीरे-धीरे दबता गया। अत दक्षिण में उसका महत्व विशेष रूप से बढने लगा। गुप्त साम्राज्य के युग मे भारतीय संस्कृति स्वर्णयुग मे पहुँच चुकी थी। गुप्तकालीन सम्राटो ने अपने आपको परम भागवत कहलाया था। वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण परिस्थिति को जानकर तथा उसे राजकीय प्रोत्साहन देकर उसका प्रसार एवम् वृद्धि के प्रयत्न गुप्त सम्राटो ने किये। अपने ध्वजो पर विष्णु चक्र और गरुड तथा सिक्को पर लक्ष्मी को स्थान दिया। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य, अपने आपको 'परम भागवत' कहलाता था। एक सिक्का चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का भरतपुर राज्य के बयाना-ढेर मे प्राप्त हुआ है, जो चक्र विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके ऊपरी भाग पर विष्णु भगवान् चन्द्रगुप्त को तीन प्रभामण्डल युक्त त्रैलोक्य भेट कर रहे हैं, ऐसा बताया गया है। अब तक के प्राप्त सभी सिक्को मे यह अद्वितीय है। इससे इस युग की तत्कालीन भावनाओ पर प्रकाश पडता है। मध्य प्रदेश और बगाल के राज्य भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यहाँ तक कि प्रथम मुसलमान आक्रान्ता मुहम्मद-बिन-कासिम मुस्लिम धर्मावलबी होने पर भी कन्नोज विजय के उपरान्त उसने पुराने गहडवाल मुद्रा के अनुकरण मे अपने सिक्को पर भी लक्ष्मी की आकृति को स्थान दिया था। ईसा की चौथी शताब्दी से १२ वी शताब्दी तक ८०० वर्षों के उपलब्ध सिक्के वैष्णव धर्म का प्रभाव अभिव्यक्त करते हैं। इससे ज्ञात पडता है कि प्रतिकूल परिस्थिति मे भी 'काडात्-काडात् प्ररोहन्ती' वाले नियमानुसार दूर्वादल के तृण की तरह वैष्णव धर्म उत्तर भारत मे किसी न किसी रूप मे जीवित रहा और अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रभावी होकर पल्लवित हुआ। इस तरह वह अपने पनपने का कार्य करता ही रहा। उत्तर भारत मे यदि उसे प्रचार का बल प्राप्त नही हुआ तो वह दक्षिण मे अपने अनुकूल और योग्य वातावरण पाकर वहीं पर फूला और फला।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण हुईं जिनसे वैष्णव साधना शिथिल-सी पडने लगी। महाराज हर्षवर्धन के समय मे जो सत्कार वैष्णव साधना पर हुए उन्हे भी हम नही भूल सकेंगे। दक्षिण मे वैष्णवों का

प्रभाव कुछ विशेष मात्रा मे परिलक्षित होने लगा। शंकराचार्य के समय से ही दक्षिण में वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार के प्रयत्न दिखाई देने लगे। वहा की परिस्थितियाँ इसके अनुकूल भी बनीं। यहाँ पर एक बात मध्यम मे डाल देनी है कि विष्णु आर्यों का उपास्य होने पर भी दक्षिण में विष्णु का प्रभाव इतना व्यापक कैसे हुआ ? वहां तो महादेव शंकर की भक्ति दृढ़तम होनी चाहिए थी। वस्तुतः दोनों भक्तियाँ समान रूप मे प्रचारित हुई। समन्वय की भावना वैष्णवी भक्ति में प्रबल होने से आर्यों और द्रविणो का भी समन्वय हुआ जिसने दक्षिण वैष्णव भक्ति के उत्कर्ष के लिए स्थिति और वातावरण उचित रूपेण निर्माण होता गया। *दक्षिण के आचार्यों का इस विषय मे किया गया कार्य अत्यन्त सराहनीय और स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य माना जावेगा।* वैष्णवाचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और भागवत पर आधारित रखे। अपने भक्ति पक्ष के लिये नारद-भक्ति-सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र का आश्रय लेकर गीता के विचारो से उसे पुष्ट किया।

दक्षिण का वैष्णव आन्दोलन समूची वैष्णव साधना का द्वितीय उत्थान कहा जा सकता है। दक्षिण के वैष्णव आन्दोलन का इतिहास तामिल आडवार सतों से माना जाता है। ये वैष्णव सन्त समाज के सभी स्तरो मे उत्पन्न हुए थे। इसीलिए इस भक्ति-आन्दोलन को जन आन्दोलन भी कहा जाता है। इन सन्तों का काल सह दूसरी से दसवीं विक्रमी शताब्दी माना जाता है। ये परस्पर ऊँच नीच का कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। तामिल मे 'अलवार' का अर्थ होता है भगवद्-भक्ति मे डूबा हुआ व्यक्ति। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वैष्णव साधना ही एक प्रकार से द्रविड मे बाढवत् फैल रही थी। सर रामकृष्ण भाडारकर अपने 'वैष्णव धर्म, शैवधर्म और अन्य सम्प्रदाय', इस पुस्तक मे बतलाते है कि अलवार तथा अन्य वैष्णव आचार्य रामानुज के पूर्वकाल मे हो चुके हैं।[१]

अळवार वैष्णव भक्त—

भागवत के ११ वें स्कंध के चतुर्थ अध्याय में विष्णु विभिन्न प्रकार के अवतार धारण करते हैं ऐसा उल्लेख है। कलियुग के लिये कहा गया है कि परमात्मा प्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति ही है। इस भूमि के लोगो का उद्धार करने के हेतु पुराणों में बताये गये वचनो के अनुसार पुनः दस अवतार धारण किये जायेंगे। अर्थात् अन्य कल्पों में लिये गये अवतारों से ये भिन्न होंगे। भगवान् के परम एकान्तिक, निष्ठावान, भक्त भारतवर्ष मे इधर-उधर बिखरे हुए मिलेंगे।

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत-सर आर. जी. भाडारकर।

परन्तु अधिकतर सख्या मे वे द्रविड देश मे ही पाये जायेंगे। विशेषत: ताम्रपर्णी नदी के तट पर पयगायी-कृतमाला के तटवर्ती प्रदेशोमे तथा पालार पयस्विनी और कावेरी-महानदी के तटवर्ती प्रदेशो मे पाये जायेंगे। विष्णु भगवान् अपना उद्धार विषयक कार्य यही से आरम्भ करेंगे। देखिये—

> खलु-खलु भविष्यन्ति नारायण परायणः।
> क्वचित-क्वचित् महाराजा द्रविडेषुच भूरिशः॥
> ताम्रपर्णी नदी यात्रा कृतमाला तपस्विनी।
> कावेरी च महापुण्या प्रतीचुच महानदी॥
> ये पिबन्ति जलम् तास्याम् मनुजा मनुजेश्वर।
> प्रायोभक्तः भगवति वासुदेवे अमलास्यह॥

कहना न होगा कि अलवार सत इसी भूमि मे हुए।[1] यही वह साधना भूमि थी। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र सर्वत्र भगवद् भक्ति मे सराबोर होकर जो बानियाँ इन भक्तों के मुख मे निकली हैं, स्पष्ट है कि उनमे भगवान् की दिव्य लीलायें ही मुखरित हुई हैं। इन आळवारो मे केवल बारह आळवार विशेष गौरव तथा प्रतिष्ठा के पात्र माने जाते हैं। द्रविड भाषा मे इनकी पदावली तमिल-वेद कहलाती है, और वेदो की ही तरह पवित्र और सरस समझी जाती है। ये भक्त बडे मस्त जीव थे, तथा इनका हृदयपक्ष बडा उदार और प्रबल था, इसलिए अपनी भक्ति का कोई शास्त्रीय विवेचन इनके द्वारा नही हुआ। भगवान नारायण के एकमात्र उपासक थे अत विष्णु के विशुद्ध रूप मे लीन हो जाना ही इनका एकमात्र व्रत था। अपने इस आनन्द को सबको जी खोलकर बाँटने मे इन लोगो को मजा आता था। तमिल मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर सरस भक्ति रस की पयस्विनी का स्रोत बहाया जिसमे उस युग की जनता न आप्लावित होकर डुबकियाँ लगाईं। आनन्द की यह एक बहुत बडी उपलब्धि थी।

आळवारो के काल के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कृष्णा जिले के चायना शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म का प्रचार दूसरी शताब्दी से ही दक्षिण मे हो रहा था तथा दूसरी से चौथी शताब्दी के लगभग आळवार सन्त हुए थे ऐसा माना जाता है।[2] कुछ विद्वान इनको तीसरी शताब्दी का मानते हैं। एक अनुमान यह भी है कि तीसरी से नवी शताब्दी तक अलवारो का युग था। क्योंकि प्रमाण मे इसी प्रदेश के उसी समय के आडियार शैव सन्तो का हवाला

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया —एस० के० अयंगार, पृष्ठ ८।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म—राय चौधुरी, पृ० १९।

दिया जाता[1] है। यों हम पूर्व ही कह आये हैं कि विक्रम की चौथी से दसवीं शताब्दी तक का समय आळवारों ने आत्मसात कर लिया था। निष्कर्ष यही है कि अधिक से अधिक आठ नौ सौ वर्ष या कम से कम छः सात सौ वर्षों का समय अपनी भक्ति के प्रचार में इन लोगों ने व्यतीत किया। ये कुल बारह प्रसिद्ध संत इसी युग में पैदा हुए थे। इनमें से दो एक को छोड़कर प्रायः सभी साधारण स्तर की जाति में पैदा हुए थे।

अपने उपास्य के प्रति एक सी लगन इनमें थी। चौदह सहस्र पद्यात्मक गीतों का संग्रह 'नालायिरप्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्म ज्ञान का एक अमूल्य खजाना है। इनके दो प्रकार के नाम मिलते हैं। एक तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। दक्षिण भारत में इन भक्तों को इतना आदर और इतनी प्रतिष्ठा मिली है कि विष्णु मन्दिरों में विष्णु के साथ इनकी भी मूर्तियाँ प्रस्थापित की गई हैं। इनके मधुर पद्य आज भी लोगों के द्वारा गाये जाते हैं। इनकी प्रभावशालिनी जीवन घटनाएँ नाटक के रूप में उपदेश देने के लिए आज भी बतायी जाती हैं। वेद मंत्रों की तरह पवित्र और अध्यात्मिक विचार इनमें होने से इस संग्रह को 'तमिल वेद' यह संज्ञा मिल चुकी है। पाराशर भट्ट ने इन सब के नाम एक श्लोक में बतलाये हैं—

> भूत सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ-
> श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान्।
> भक्तांघ्रिरेणु-परकाल यतीन्द्र मिश्रान्-
> श्रीमत् परांकुश मुनिं प्रणतोस्मि नित्यम्॥

इनमें से प्रथम तीन योगी कहलाते हैं जो क्रमशः इस प्रकार से हैं—(१) पोयगैआळवार-सरोयोगी, (२) भूत्ताळवार-भूतयोगी, (३) पेयाळवार-महत्‌योगी। ये तीनों समकालीन माने जाते हैं। इनके तीन सौ भजनों का संग्रह ऋग्वेद का सार माना जाता है। पोयगै आळवार काँची नगरी में, भूत्ताळवार महाबलीपुरम् में तथा पेयाळवार मदरास के निकट मैलापुर में पैदा हुए थे। एक बार ये तीनों तिरुक्कोईलूर नामक स्थान पर यात्रा के लिए गये, जहाँ आपस में इनका कोई परिचय नहीं था। सरोयोगी भगवान् की पूजा कर कुटिया में गये और लेटे। एक ही व्यक्ति के योग्य उसमें सोने को स्थान था। भूत योगी के आने पर दोनों बैठ गये। महत्‌योगी के आने पर तीनों खड़े हो गये और भगवद्‌भजन में मग्न हो गये। भगवान की दिव्य माधुरी और प्रभा से कुटिया प्रकाशित हो उठी।

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया—एस० के० अयंगार, पृ० ८६।

ईश्वर से उन्होंने भक्ति का वरदान माँगा। इनके पदों का संग्रह 'ज्ञान प्रदीप' नाम से प्रसिद्ध है।

(४) चौथे तिरुमडिसै आळवार—भक्तिसार के नाम से भी पहचाने जाते हैं। तिरुमडिसै गाव मे ही ये पैदा हुए थे। पैदा होते ही इनके माता-पिता ने इनको सरकंडो के जगल मे छोड दिया था। इनका पालन-पोषण तिरुवाडन् नाम के एक व्याघ्र ने और उसकी पत्नी पकजवल्ली ने किया। कई पद इनके बनाये हुए हैं। कहा जाता है कि अपने ग्रन्थों को इन्होंने कावेरी नदी मे बहा दिया था क्योंकि लोग इनके पदों के कारण इनको प्रसिद्धी देने लग गये थे। ये अपने को प्रसिद्धि पराङ्मुख रखना चाहते थे। इनकी सब पुस्तकों मे से केवल दो बच गईं। इनके भक्ति पथ के अनुसार भक्ति भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है। भगवान् की ओर से दी हुई यह सब मे बडी सपत्ति है। नारायण ही ज्ञाता, ज्ञेय, तथा ज्ञान और सब कुछ हैं।

(५) नम्माळवार—शठकोपाचार्य के नाम से सब आळवारो मे विशेष प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इनके बारे मे सब से अधिक चर्चा की है। वैसे ये सब से श्रेष्ठ भी हैं। डा० अयगार के मत से इनका समय छठी ईसवी शताब्दी के मध्य रखना ठीक होगा। तिन्नवेली के ताम्रपर्णी नदी के तीर पर के तिरुक्कुरकूर ग्राम मे ये पैदा हुए। कुछ लोगों का मत है कि ये शूद्र कुल मे पैदा हुए, तथा कुछ इनको ब्राह्मण कुल का मानते हैं। इनके पिता कारिमारन् अपने गाँव के मुखिया थे। गुरु परपरा के अनुसार कारियर जाति का नाम वेह्लाल है। जन्म लेने पर शठकोप की आँखें बन्द थी तथा दस दिनों तक बिना खाये पिये ही रहे। तब चिन्ताग्रस्त होकर लोग इन्हे एक निकटस्थ विष्णु मन्दिर मे ले गए और इनका नाम 'मरण' या 'माडन' रखकर मन्दिर के पास के एक इमली के पेड के खोटर मे रख आये। सोलह वर्ष तक वही रहकर तपस्या-पूर्ण जीवन व्यतीत कर ये भगवान् की उपासना करते रहे। अत मे भगवान् ने प्रसन्न होकर इनको अपूर्व शक्ति प्रदान की। इनके रचे चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (१) तिरुविरुत्तम् (२) तिरुवाशिरियम् (३) पेरियतिरुवत्तान्ति (४) तिरुवाय मोळि। चौथे ग्रन्थ मे हजार से भी अधिक पद हैं। चार वेदों की तरह इनको तामिल देश मे मान्यता प्राप्त है। 'तिरुवाय मोळि' 'द्रविड़ोपनिषद' भी कहलाता है। शठकोप गोपी-भाव से उपासना करते थे। भगवान् को नायक तथा अपने आपको नायिका मानते थे। तमिल कविता मे इनके पद मधुरिमा के आदर्श माने जाते हैं। कबन जैसे तामिल भाषा के सर्व श्रेष्ठ कवि को भी अपने रामायण के आरम्भ मे शठकोप की स्तुति करनी पडी, तभी भगवान् ने उसे स्वीकार किया था। शठकोपने अपने पदों को रगनाथ को सुनाया तभी मुनि

मे से आवाज आई कि ये हमारे आळवार हैं। 'नम्म आळवार' तभी से विख्यात हुए और नम्माळवार कहलाये।

(६) मधुरकवि आळवार—ये गरुड के अवतार माने गये हैं। तिरुक्कोलूर ग्राम में किसी सामवेदी ब्राह्मण के यहाँ ये पैदा हुए। वेद के ज्ञाता होने पर भी उन्होंने भगवान् के प्रेम को ही अपने जीवन का सर्वस्व माना था। उत्तर भारत मे यात्रार्थ भ्रमण करते हुए जब गंगा तट पर आये तो अपनी मातृभूमि की ओर याने दक्षिण दिशा में एक ज्योति स्तंभ दिखाई दिया। इसे दैवी आदेश मानकर उस ज्योति का अनुसरण करते हुए ताम्रपर्णी के कारुकूर गाँव में पहुँचे। ज्योति के मूल का पता एक इमली के पेड़ के खोडर में मिला। देखा तो नम्माळवार के शरीर से वह ज्योति निकल रही थी। उनको ध्यानस्थ देखकर उन्हें ही अपना गुरु बनाया। उनकी कृपा से मधुर कवि भक्त बन गये। अपने गुरुदेव के पदों का प्रचार गागाकर इन्होंने घर-घर में किया। माधुर्य के कारण इनका नाम मधुर कवि पड़ा। इनके बनाये केवल दस ही पद उपलब्ध हैं।

(७) कुलशेखर आळवार—आळवारों की मध्यवर्ती श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। वहाँ इनका नाम तीसरा आता है। ये छठी शताब्दी में पैदा हुए थे। इनको विष्णु के वक्षस्थल पर लगे हुए कौस्तुभ मणि का अवतार माना जाता है। कुलशेखर त्रावणकोर राज्य के अन्तर्गत कोल्ली अथवा विवन्न नगर में उत्पन्न हुए थे। ये वहाँ के राजा दृढव्रत के पुत्र थे। बड़े होने पर राज्याधिकार प्राप्त किया और प्रजानुरंजन में बड़ा अनुराग दिखाया। किन्तु अतुल सम्पत्ति के होने पर भी बचपन से ही इनका झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था, और इन्हें रामायण विशेष प्रिय था। एक बार रामायण सुन रहे थे जिसमें इस प्रकार का प्रसंग था कि भगवान् श्रीराम सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण के ऊपर छोड़कर स्वयं अकेले खर-दूषण की विपुल सेना से युद्ध करने जा रहे थे। तन्मयता के कारण व्यास के मुख से यह श्लोक निकलते ही अपने सेनानायक को आज्ञा देकर भगवान् राम की सहायतार्थ सेना लेकर चल पड़े। श्लोक इस प्रकार है—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीम कर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं करिष्यति॥

इस तरह इनको कई बार रोका गया। अन्त में अपनी सम्पत्ति तथा वैभव को छोड़कर ये भगवान् रंगनाथ के शरण में गए। गीत प्रबंध में इनके १०३ पद संग्रहीत हैं। 'मुकुन्दमाला' नाम का स्तोत्र इनका ही बनाया हुआ बतलाया जाता है। भाषा की कोमलता और मधुर भावों के लिये ये अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

(८) विष्णुचित्त—परिआळवार का मद्रास प्रान्त के तिन्नेवेली जिले के 'विल्लीपुत्तूर' नामक पवित्र स्थान मे जन्म हुआ। इनके माता-पिता का नाम पद्मा और मुकुदाचार्य था। पद्मशायी भगवान् विष्णु की कृपा से यह पुत्र पैदा हुआ था। कुलशेखर के निकट सातवी शताब्दी तक इनका समय है, ऐसा अयगार मानते है। बचपन मे ही विशुद्ध भक्ति तथा ज्ञान का उदय इनके हृदय मे उत्पन्न हो गया था। पढ़े लिखे न होने से ये अपनी छोटी सी फुलवारी के फूलों को चुनकर उनकी माला गूंथकर वटपत्रशयी बालमुकुन्द पर चढ़ा देने का कार्य ही हमेशा करते रहते थे। स्वप्न मे भगवान् का आदेश मिलने पर ये पाण्ड्य देश के अध्यात्म-विद्या-प्रेमी तथा रसिक राजा बलदेव के दरबार मे चले गए। वहाँ के दिग्गज विद्वानो को शास्त्रार्थ मे हराकर भट्टनायक की उपाधि प्राप्त की। श्रीकृष्ण लीला के पद इन्होंने लिखे हैं जो 'तिरुमोळी' नामक पदावली मे संग्रहीत हैं। कुल पचास कविताएँ इनकी मिलती हैं—जिनमे वैष्णव धर्म के गभीर विषयो के सिवाय छद प्रयोग सबधी विचित्रताओ के उदाहरण भी हैं। राजा को भक्ति रहस्य की शिक्षा इन्होंने प्रदान की थी। राजा ने इनका बडा सत्कार किया पर मिली हुई सब सपत्ति भगवान् को अर्पण करने मे ही इन्होंने अपना हित माना। इनको 'विष्णुचित्त' भी कहते थे।

(९) गोदा को अन्दाल या रगनायकी के नाम से जानते हैं। विष्णुचित्त की ही ये एक पोष्य पुत्री थी, तथा रगनाथ की सेविका भी। कहा जाता है कि अपनी फुलवारी की भूमि गोडते समय विष्णुचित्त को यह किसी तुलसी वृक्ष के निकट जनमी हुई मिली। यह बालिका उनके यहाँ ही पाली पोसी गई। गोपी प्रेम की झलक इसमे पूर्ण रूप से मिलती है। भावावेश मे ये भगवान् के लिये बनाई गई मालाएँ स्वय अपने गले मे धारण कर लेती थी जो भगवान् को विशेष प्रिय होती थी। कृष्ण के प्रति बचपन से ही इनकी आसक्ति बढने लगी। श्रीकृष्ण को ही इन्होंने अपना पति मान लिया था। इसलिये विवाह योग्य हो जाने पर जब उससे पूछा गया तो उसने कह दिया कि श्रीरगम् के भगवान को छोडकर मैं दूसरे किसी को नही वर सकती। अन्दाल की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान् रगनाथ से मिलने के लिए बडी व्याकुल रहती थी। अन्त मे भगवान् श्रीरगम् के मन्दिर मे उसे पहुँचाया गया तथा विवाह की विधियो सहित उन्हे अर्पण किया गया। मन्दिर मे जाते ही भगवान् की शेष शय्या पर वह चढ गयी। तब एक दिव्य प्रभा फूट निकली और अन्दाल मूर्ति मे समा गयी। 'तिरुप्पावै' और 'नाचियार-तिरोमळी' ये काव्यग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रेम-भाव से

भग्न हृदयोद्गार इनकी कविता मे मिलते हैं। मेड़तणी मीराबाई मे तथा इनमें बहुत साम्य है।

(१०) भक्त पदरेणु-विप्रनारायण आळवार का एक और नाम 'तोण्डर-डिप्पोलि' भी है। अनुमानत लगभग अन्तिम श्रेणी के आळवारो का समय एक सौ वर्ष पीछे आरम्भ होता है इनका जन्म विप्रनारायण माडागुडी नाम के ग्राम में हुआ। भगवान् के निमित्त फूल चुनकर उनसे माला आदि तैयार करना इनका कार्य था। श्रीरग के मन्दिर की एक रूपवती देवदेवी नाम की देवदासी थी। उसकी रूपज्वाला के ये शिकार हो गये। किंतु भगवान् रगनाथ की कृपा से इनका उद्धार हो गया। बाद में सुधरने पर अपना नाम परिवर्तितकर तोडर डिप्पोडी' अर्थात् 'भक्ताधिपद-रेणु' कर दिया। प्रबधम् मे केवल दो ही पद इनके मिलते हैं। मन्दिर में आने वाली समस्त भक्त-मडली की चरणधूली का सेवन कर भजनानद मे लीन होकर अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

(११) मुनिवाहन—योगवाह को तिरुप्पन आळवार भी कहा जाता है। इनकी जाति अत्यज की थी। बचपन से ही वीणा पर भगवान् के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नही गाते थे। त्रिचिनापल्ली जिले के उरैपुर या वोरीउर नाम के ग्राम के किसी धान के खेत मे एक पचम जाति के सतानहीन व्यक्ति के द्वारा पाये गये। निम्नतर श्रेणी के होने पर भी इनके हृदय मे भक्तिभाव आरम्भ से ही जागृत था पर अछूत होने से मन्दिर मे प्रवेश नहीं पा सकते थे। अत कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खडे होकर वहीं से वे भगवान् की स्तुति कर लेते थे और सन्तोष पा जाते थे। श्रीरग की सवारी को दूर से ही देखकर ये सन्तोष कर लेते थे। एक बार भगवान् की आज्ञा से सारगमा या सारङ्ग महामुनि ने भगवान् के आदेश से इनको अपने कधे पर बैठाया था, और भगवान के दर्शन कराये। इस तरह मन्दिर मे इनका प्रवेश हुआ। मुनि इनके वाहन बने अत इनका नाम 'मुनिवाहन' पडा। इनके बनाये कुछ पद मिलते हैं।

(१२) तिरुमगैआळवार—नीलन या परकाल—आळवारो मे अन्तिम ये ही माने जाते हैं। नवमीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध मे इनको रखा जा सकता है। चोल देश के किसी नीच घराने मे ये पैदा हुए थे। इनके पिता चोलवशी राजा के सेनापति थे। अत ये भी सेनापति बनाये गये। राजा से खटपट हो जाने पर *लुटेरों के सरदार बन गये। ये बड़े भयानक डाकू थे और लूट मे मिले द्रव्य से* भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इनके बनाये छ पद्य ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदाग माने जाते हैं। शठकोपाचार्य के बाद इनके ग्रन्थो का स्थान है। तिरुवल्ली मे

कुमुदवल्ली नाम की एक रूपवती कन्या थी जिसकी दो शर्तें थी। प्रथम यह कि उसका पति विष्णु भक्त हो और दूसरी यह कि वह रोज एक हजार आठ वैष्णवो को भोजन करा सके। तभी वह प्रसाद ग्रहण करेगी। नीलन ने इसे स्वीकार कर कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। इस कार्य के लिये वे लूट करने लगे। किसी ऐसे ही समय मे भगवान् विष्णु ने धनी व्यक्ति के रूप मे इनको नारायण मन्त्रोपदेश दिया। इसी के प्रभाव से इनका जीवन सुधर गया।[1]

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि ये आळवार उच्चकोटि के भगवद्‌भक्त तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। तिरुमङ्गलई को छोडकर सभी मे मानवता का उच्च स्तर विद्यमान है। सभी जाति और श्रेणी के इन सतो ने विष्णु भक्ति का द्वार अबाध गति से निर्मुक्त होकर सबके लिए खोल दिया। दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन मे यह एक बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य है। विष्णु की उपासना और साधना इनकी एकान्तिक भाव से थी। ये विष्णु को वासुदेव-नारायण आदि नामो से जानते थे। इनके मतानुसार भगवान् विष्णु नित्य, अनन्त और अखण्ड हैं। अवतार लेने पर भी भगवान् की अनन्त सत्ता बनी रहती है। राम और कृष्ण की भक्ति आळवारो ने वात्सल्य, दास्य और कान्ता भाव से की है। भक्ति के अतर्गत प्रपत्ति को बडा महत्वपूर्ण स्थान ये लोग देते हैं। बिना आत्मसमर्पण के विष्णु की कृपा या प्रेम नही मिल सकता ऐसा इनका विश्वास है। इनकी पूर्वोक्त तीन श्रेणियो मे से प्राचीन एवम् मध्यवर्ती के बीच तीन सौ से भी अधिक अन्तर पड जाता है। तिरुमङ्गलई के बाद आळवारों का युग समाप्त हो जाता है। इसके बाद दसवी शताब्दी से आचार्यों का युग आरम्भ हो जाता है।

आचार्यों का भक्ति युग—

ये वैष्णव आचार्य तमिल प्रान्त के सस्कृत के गाढे विद्वान थे। आलवारों की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय इन लोगो ने किया। हम कह सकते हैं कि इस तरह से वैष्णव साधना को एक नया मोड मिला। सस्कृत वेद और तमिल वेद मे कोई अन्तर नहीं है, ऐसा प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया। वैष्णव भक्ति के प्रति इन्होने लोगो के हृदयो मे आस्था जगाई।

१. श्री एस्. कृष्णस्वामी अयंगार कृत दक्षिण के वैष्णव संप्रदायों का इतिहास; मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी; मध्यकालीन प्रेम-साधना—प० परशुराम चतुर्वेदी, भागवत धर्म तथा भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय और वैष्णव तथा शैव और अन्य संप्रदाय-भांडारकर कृत इन पुस्तकों का अध्ययन विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।

मर्म हृदयोद्गार इनकी कविता में मिलते हैं। मेड़तणी मीराबाई में तथा इनमें बहुत साम्य है।

(१०) भक्त पदरेणु-विप्रनारायण आळवार का एक और नाम 'तोण्डर-डिप्पोलि' भी है। अनुमानतः लगभग अन्तिम श्रेणी के आळवारों का समय एक सौ वर्ष पीछे आरम्भ होता है इनका जन्म विप्रनारायण माडागुडी नाम के ग्राम में हुआ। भगवान् के निमित्त फूल चुनकर उनसे माला आदि तैयार करना इनका कार्य था। श्रीरंग के मन्दिर की एक रूपवती देवदेवी नाम की देवदासी थी। उसकी रूपज्वाला के ये शिकार हो गये। किंतु भगवान् रंगनाथ की कृपा से इनका उद्धार हो गया। बाद में सुधरने पर अपना नाम परिवर्तितकर तोंडर डिप्पोडी' अर्थात् 'भक्ताध्रिपद-रेणु' कर दिया। प्रबंधम् में केवल दो ही पद इनके मिलते हैं। मन्दिर में आने वाली समस्त भक्त-मंडली की चरणधूली का सेवन कर भजनानंद में लीन होकर अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

(११) मुनिवाहन—योगवाह को तिरुप्पन आळवार भी कहा जाता है। इनकी जाति अन्त्यज की थी। बचपन में ही वीणा पर भगवान् के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं गाते थे। त्रिचिनापल्ली जिले के उरैयुर या वोरीउर नाम के ग्राम के किसी धान के खेत में एक पंचम जाति के सन्तानहीन व्यक्ति के द्वारा पाये गये। निम्नतर श्रेणी के होने पर भी इनके हृदय में भक्तिभाव आरम्भ से ही जागृत था पर अछूत होने से मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते थे। अत कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खड़े होकर वहीं से वे भगवान् की स्तुति कर लेते थे और सन्तोष पा जाते थे। श्रीरंग की सवारी को दूर से ही देखकर ये सन्तोष कर लेते थे। एक बार भगवान् की आज्ञा से सारंगमा या सारङ्ग महामुनि ने भगवान् के आदेश से इनको अपने कंधे पर बैठाया था, और भगवान के दर्शन कराये। इस तरह मन्दिर में इनका प्रवेश हुआ। मुनि इनके वाहन बने अत इनका नाम 'मुनिवाहन' पड़ा। इनके बनाये कुछ पद मिलते हैं।

(१२) तिरुमंगैआळवार—नीलन या परकाल—आळवारों में अन्तिम ये ही माने जाते हैं। नवमी शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में इनको रखा जा सकता है। चोल देश के किसी शैव घराने में ये पैदा हुए थे। इनके पिता चोलवंशी राजा के सेनापति थे। अत ये भी सेनापति बनाये गये। राजा से खटपट हो जाने पर लुटेरों के सरदार बन गये। ये बड़े भयानक डाकू थे और लूट में मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इनके बनाये छः पद्य ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदांग माने जाते हैं। शठकोपाचार्य के बाद इनके ग्रन्थों का स्थान है। तिरुवल्ली में

कुमुदवल्ली नाम की एक रूपवती कन्या थी जिसकी दो शर्तें थी। प्रथम यह कि उसका पति विष्णु भक्त हो और दूसरी यह कि वह रोज एक हजार आठ वैष्णवो को भोजन करा सके। तभी वह प्रसाद ग्रहण करेगी। नीलन ने इसे स्वीकार कर कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। इस कार्य के लिये वे लूट करने लगे। किसी ऐसे ही समय मे भगवान् विष्णु ने धनी व्यक्ति के रूप मे इनको नारायण मन्त्रोपदेश दिया। इसी के प्रभाव मे इनका जीवन सुधर गया।[1]

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि ये आळवार उच्चकोटि के भगवद्भक्त तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। तिरुमङ्गलई को छोडकर सभी मे मानवता का उच्च स्तर विद्यमान है। सभी जाति और श्रेणी के इन संतो ने विष्णु भक्ति का द्वार अबाध गति से निर्मुक्त होकर सबके लिए खोल दिया। दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन मे यह एक बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य है। विष्णु की उपासना और साधना इनकी एकान्तिक भाव से थी। ये विष्णु को वासुदेव-नारायण आदि नामो से जानते थे। इनके मतानुसार भगवान् विष्णु नित्य, अनन्त और अखण्ड हैं। अवतार लेने पर भी भगवान् की अनन्त सत्ता बनी रहती है। राम और कृष्ण की भक्ति आळवारो ने वात्सल्य, दास्य और कान्ता भाव से की है। भक्ति के अतर्गत प्रपत्ति को बडा महत्वपूर्ण स्थान ये लोग देते हैं। बिना आत्मसमर्पण के विष्णु की कृपा या प्रेम नहीं मिल सकता ऐसा इनका विश्वास है। इनकी पूर्वोक्त तीन श्रेणियों में से प्राचीन एवम् मध्यवर्ती के बीच तीन सौ से भी अधिक अन्तर पड जाता है। तिरुमङ्गलई के बाद आळवारो का युग समाप्त हो जाता है। इसके बाद दसवीं शताब्दी से आचार्यों का युग आरम्भ हो जाता है।

आचार्यों का भक्ति युग—

ये वैष्णव आचार्य तमिल प्रान्त के संस्कृत के गाढे विद्वान थे। आलवारो की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय इन लोगो ने किया। हम कह सकते हैं कि इस तरह से वैष्णव साधना को एक नया मोड मिला। संस्कृत वेद और तमिल वेद मे कोई अन्तर नही है, ऐसा प्रतिपादन इन आचार्यो ने किया। वैष्णव भक्ति के प्रति इन्होने लोगो के हृदयो मे आस्था जगाई।

---

१. श्री एस्. कृष्णस्वामी अयंगार कृत दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायो का इतिहास; मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी; मध्यकालीन प्रेम-साधना—प० परशुराम चतुर्वेदी; भागवत धर्म तथा भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय और वैष्णव तथा शैव और अन्य सम्प्रदाय-भांडारकर कृत इन पुस्तकों का अध्ययन विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।

सम्प्रदाय विहीनाये मन्त्रास्ते विफलामता ।
अत कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सांप्रदायिनः ॥
श्री ब्रह्मरुद्र सन का वैष्णवाः क्षिति पावना ।
चत्वार स्ते कलौ भाव्या हू् युत्कले पुरुषोत्तम ॥

प्रमेयरत्नावली मे एक श्लोक इसी विषय पर यो मिलता है।[1]

रामानुज श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतर्मुखः ।
श्रीविष्णु स्वामिन रुद्रो निम्बादित्य चतु सन ॥

प्रसिद्ध गुजराती पुस्तक 'वैष्णवधर्म नो इतिहास' मे इन सम्प्रदायो पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है।[2]

आसन् सिद्धांत कर्तारश्चत्वारो वैष्णवाद्विजाः ।
येरय पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढीकृत ॥
विष्णु स्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयिक ।
मध्वाचार्य स्तृतीयास्तु, तुर्यो रामानुज स्मृत ॥

इस तरह ये चार प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य हैं जिनके बारे मे अब हम जानने की चेष्टा करेंगे।

रामानुजाचार्य—ये सन् १०१६ या १०१७ मे उत्पन्न हुए। बाल्यकाल प्रसिद्ध नगरी काजीवरम् मे बीता। अपनी पूर्व शिक्षा यादव प्रकाश नाम के किसी अद्वैती विद्वान से ग्रहण की। इन आचार्य के विचारो से मतभेद होने के कारण उनको छोडकर ये अलग हो गये। वे आलवारों के 'नीलप्रबन्धम्' का गहरा अध्ययन कर यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने, और श्रीरगम् मे रहने लगे। नाथ मुनि की तरह भारत-भ्रमण कर उत्तर भारत के तीर्थ स्थानो की यात्राएँ की। आचार्य श्री की इच्छानुरूप 'दिव्य प्रबधम्' की टीका, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य और विष्णु-सहस्रनाम पर भाष्य लिखे। इससे वैष्णव समाज की साधना पर गहरा और व्यापक प्रभाव पडा। 'गीता भाष्य' भी लिखा। अन्य ग्रन्थों मे वेदातसार, वेदार्थ सग्रह, वेदात प्रदीप, ये विशेष प्रसिद्ध हैं। अपने पट्टशिष्य कुरेश (कुरत्तालवार के ज्येष्ठ पुत्र पराशर) के द्वारा 'भगवद्गुणदर्पण'—विष्णु-सहस्रनाम की टीका लिखवाई तथा मातुल पुत्र कुरुकेश के द्वारा 'तिरुवायमोलि' नम्माळवार कृत पर तमिल भाष्य लिखवाया।

---

१. प्रमेयरत्नावली, पृ० ८।
२. वैष्णव धर्म नो इतिहास—दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, बम्बई, पृ० ३३५ (१६३६)

रामानुजाचार्य के जीवन की महत्वपूर्ण तीन घटनाएँ।[1]

(१) महात्मा नाम्बिसे 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र का उपदेश लिया। गुरु ने इस मंत्र की जगदुद्धारक शक्ति के कारण अत्यन्त गुप्त रखने का आग्रह किया था, पर संसार के जीवों को विषम दुःखो से मुक्ति दिलाने की इच्छा से श्रीरामानुज ने छतों पर से और पेडोंके शिखरों पर से इसका जोरदार प्रचार किया। इस मन्त्र से उन्होंने सबको दीक्षित किया। इस कार्य से उनको अपने काल का उद्धारक नेता माना जाता है।

(२) दूसरी घटना सन १०९६ के करीब-करीब श्रीरंगम् के अधिकारी राजा चोलनरेश कट्टर शैव कुलोत्तुंग के भय से श्रीरंगम् का परित्याग करना है। रामानुज को अस्सी वर्ष की अवस्था मे भी जब राजा ने अपने दरबार में बुलाया तब उनके पट्ट शिष्य कुरेश ने उनको जाने नही दिया। वे खुद वहाँ गए और राजा को वैष्णव धर्म का उपदेश दिया। तब क्रोधित होकर राजा ने इनकी आँखें निकाल लीं।

(३) तीसरी घटना सन १०९८ मे घटी। मैसोर के शासक बिट्टी-देव को वैष्णव धर्म मे दीक्षितकर उसका नाम विष्णुवर्धन रखा। इसके बाद सन ११०० के आसपास रामानुज ने मेलकोट मे भगवान् श्री नारायण के मन्दिर की स्थापना की और सोलह वर्षों तक वहाँ रहकर राजा कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद सन १११८ में वे श्रीरंगम् लौट आये तथा ११३७ तक आचार्य पीठ पर विद्यमान रहे। अनेक मन्दिरों का निर्माण करके दक्षिण के विष्णु मन्दिरों मे वैखानस आगम के द्वारा होने वाली उपासना को हटाकर उसके स्थान पर पांचरात्र-आगम की स्थापना की।[2]

रामानुज ने अपने मत को प्राचीनतम और श्रुत्यनुकूल सिद्ध करने का अथक परिश्रम किया है। उनके कथनानुसार विशिष्टाद्वैत मत बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि और भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के द्वारा व्याख्यात उपनिषदों के सिद्धातो पर आधारित है। रामानुज के प्रयत्नो से दक्षिण मे वैष्णव मत की काफी वृद्धि तथा प्रचार एवम् प्रसार हुआ। रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्थापित श्री सम्प्रदाय की आठ गद्दियाँ हैं। इनमे छ सन्यासियों की और अन्तिम दो गृहस्थियों की हैं। (१) तोताद्रि-तिन्नेवली स्टेशन से १८ मील दूरी पर नागनेरी नामक स्थान पर के आचार्य श्री रामानुजाचार्य कहलाते हैं। यह सर्वप्रथम गद्दी है तथा

१. दि लाईफ ऑफ रामानुज १९०६—श्री ग्रेट आचार्याज नटेसन मद्रास।

२. भागवत् सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृ० २०४–२०५।

यहाँ पर विष्णु भगवान् का एक मन्दिर भी है। (२) व्यंकटाद्रि—स्टेशन तिरुपति ईस्ट। यहाँ के आचार्य व्यंकटाचार्य कहलाते हैं तथा यहाँ पर बालाजी का एक मन्दिर है। (३) अहोबिल—स्टेशन कड्प्पा, शृङ्गवेल कुण्ड के पास है। यहाँ के आचार्य शठकोपाचार्य कहलाते हैं तथा नृसिंह देवता का मन्दिर है। (४) ब्रह्मतंत्र परकाल—मैसोर में है और आचार्य को ब्रह्मतंत्र रामानुजाचार्य कहते हैं। (५) मुनित्रय—बंगलोर के पास है। यहाँ के आचार्य को मुनित्रयाचार्य कहते है। श्रीरंगम्, स्टेशन, त्रिचनापल्ली या श्रीरंगम् है। यहाँ के आचार्य रंगनाथाचार्य कहलाते हैं। मन्दिर भी रंगनाथ स्वामी का है। ६ ठी और ७ वी गद्दी गृहस्थियों की हैं जो श्रीरंगम् में ही स्थित हैं। इनके आचार्य क्रमशः आचार्य अनन्त स्वामी और वरदाचार्य कहलाते हैं। गृहस्थी आचार्य ही वरदाचार्य होते हैं। (८) विष्णु-कांची—कांजीवरम् स्टेशन है। यहाँ पर वरदराज विष्णु का मन्दिर है और आचार्य भयंकर स्वामी कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अन्य मठ हैं।

रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति की लहर में सारा विराट उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत आप्लावित हुआ जिसमें जन-समाज के सभी स्तरीय लोग आए थे। प्रगति के तत्व इसमें निश्चित रूप से जान पड़ते हैं। रामानुज के आदि गुरु एक शूद्र संत थे। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। तब सारी चीज समझ में आ जाती है कि रामानुज शास्त्र का आधार लेकर भक्ति के व्यापक जन-आन्दोलन को रूढ़िवादियों की ओर से मान्यता दिला सके हैं, और परिणामतः इनके अनुयायियों में ब्राह्मण, शूद्र, शास्त्रीय, अशास्त्रीय, सभी अपने आपको भूलकर एक ही स्तर पर आकर भक्ति-भावना में लीन हो गए। नम्मालवार के ऋण को उन्होंने पूरी तरह चुकाया। रामानुज सम्प्रदाय में लक्ष्मीनारायण तथा विष्णु के अवतारों की उपासना की जाती है। फिर भी विशेषतः रामोपासना को इसमें अधिक महत्व मिला है। शिव के प्रति द्वेष भी इस संप्रदाय में दिखाई देता है। चोल राजाओं के द्वेष के कारण यह भावना शायद आगई है।[1] मैक्समूलर के कथनानुसार रामानुज ने हिन्दुओं की आत्माएँ उनको वापस कर दी है। शूद्रों को केवल वेद पठन का वे अधिकार नहीं देते। भक्तिमार्ग का प्रतिपादन उन्होंने मानव का मानव से व्याव-हारिक मूल्य स्वीकार करते हुए मानव के हृदय का मानव के हृदय से संबन्ध जोड़ कर किया है। इसे हम अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कहेंगे। रामानुज का धर्म मानवतावादी धर्म था तभी भक्ति के क्षेत्र में भेद-भाव नहीं मानते। मीरा, रैदास, कबीर तथा रामानंद जैसे भक्त इसी भक्ति परम्परा की देन है। यह ऐतिहासिक

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १४२–४३।

श्रेय उनका ही है।[1] रामानुज का वैकुण्ठवास सन ११३७ में हुआ। इनकी मृत्यु के बाद ही इनके मत के दो स्वतंत्र मत बन गये। यह कार्य केवल डेढ़ सौ वर्षों में उनकी मृत्यु के बाद हो गया। इसका प्रधान कारण तमिल और संस्कृत का संघर्ष है। एक मत तमिल वेद की अक्षुण्णता को मानकर सब प्रकार से उसी में श्रद्धा रखता था और संस्कृत को महत्व नहीं देता था। इस मत को टेंकलई या तेनकुडाई मत कहते हैं। दूसरा मत संस्कृत तथा तमिल को मानकर दोनों में निबद्ध ग्रन्थों को प्रमाण मानता था पर संस्कृत को विशेष प्राधान्य देता था। इसको बडकलै या बडकलाई मत कहते हैं। इन मतभेदों के अतिरिक्त सब से महत्वपूर्ण पार्थक्य प्रपत्ति वाले सिद्धान्त को लेकर है। टेंकलै मत के वैष्णव एकमात्र शरणागति को ही मोक्ष का उपाय समझते हैं। इसमें वे कर्म के अनुष्ठान को वाञ्छनीय बिलकुल नहीं समझते। बडकलै मत के वैष्णव प्रपत्ति के निमित्त कर्म के अनुष्ठान को मानते हैं। मार्जार-किशोर क्रियाहीन होता है। बिल्ली के बच्चे की रक्षा बिल्ली स्वयं करती है उसी प्रकार भक्त की रक्षा भगवान् स्वयम् करते हैं, कर्म की आवश्यकता नहीं है। कपि-किशोर अपनी रक्षा के लिए माता को पकड़े रहता है तभी उसकी रक्षा होती। भक्त भी भगवान को पकड़े रहता है, यह कर्म उसे करना पड़ता है तभी उसकी रक्षा होती है। प्रथम टेंकलै मत को और द्वितीय बडकलै मत को सिद्ध करता है। टेंकलै मत के प्रतिपादक आचार्य श्री लोकाचार्य थे जो तेरहवीं शती में हुए थे, बडकलै मत के प्रतिपादक वेदान्ताचार्य वेंकट नाथ वेदान्तदेशिक थे और श्री लोकाचार्य के प्रतिपक्षी और समकालीन भी। ये सन १२६८ से १३६६ के बीच हुए थे ऐसा माना जाता है। प्रथम मतवाले वैष्णवों को शूद्रादि के साथ केवल बातचीत में समान भाव रखना चाहिए और द्वितीय मतवाले उनके साथ सभी प्रकार से समान भाव रखना चाहिए ऐसा मानते हैं।

रामानुज के सिद्धान्त—

रामानुज के तात्त्विक सिद्धांत गीता, उपनिषद, न्यायशास्त्र, एवम् ब्रह्मसूत्र पर आधारित हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति सांख्य तत्वानुसार मानते हैं। 'पांचरात्र संहिता' की विधि का अनुसरण अधिकतर विष्णु पूजा में किया जाता है। भक्ति पक्ष अधिकतर गीता, पातंजल-योग, तथा आलवारों की परंपरा से आता है। स्नेह उपासना का मूल भाव है। ब्राह्मणों की संख्या इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में अधिक है। अत्यज भी इसके सिद्धान्तानुसार एक समान होकर भी खान-पान तथा

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि – विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १२६–२७।

स्पर्शास्पर्श का विचार करते हैं। मूर्तिदर्शन और मन्दिर-प्रवेश के लिए दिन विशेष निर्धारित हैं। श्री वैष्णव-सम्प्रदाय और श्री सम्प्रदाय के नामों से भक्तों की दो श्रेणियाँ हैं। उत्तर-भारत में श्री वैष्णव का प्रचार अधिक है। रामानुज मतानुसार पदार्थ तीन हैं—(१) चित (२) अचित् (३) ईश्वर। जीव चित् पदार्थ है। जड़ जगत् अचित है, तथा अन्तर्यामी शक्ति के रूप में ईश्वर है। शंकराचार्य की तरह रामानुज को माया अमान्य है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है—

एतद् ज्ञेय नित्यमेवात्म संस्थ।
नात: परं वेदितव्यहि किंचित्॥
भोक्ता, भोग्य प्रेरितार च मत्वा
सर्वं प्रोक्त त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

—श्वेताश्वतर उपनिषद।

रामानुज के तीन पदार्थ ये ही हैं। ब्रह्म ही ज्ञातव्य है। जीव भोक्ता है, और जगत् भोग्य है। प्रेरक ईश्वर है। ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष नहीं है, तो वह प्राकृत गुण रहित, कल्याण गुण गुणाकर अनन्त-ज्ञानानद-रूप, तथा सकल जगत् का सृष्टा, पालक और संहारकर्ता है। इसे 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से भी जानते हैं क्योंकि ब्रह्म 'विशिष्ट यो अद्वैतम्' अर्थात् विशिष्ट कारण और विशिष्ट कार्य की एकता बतलाने वाला है। ब्रह्म कारणावस्था और कार्यवस्था दोनों होने से अद्वैत है। सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चिद-चिद्-विशिष्ट ब्रह्म, कार्य है। ब्रह्म जीव, और जड अपने से स्वरूपत पृथक् हैं किन्तु जडचेतनात्मक वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह ब्रह्मायत्त है। वह ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं, अपितु सर्वदा उससे अपृथक् सिद्ध है। वह ब्रह्म के द्वारा नियम्य है, कार्य है तथा ब्रह्म का शेष होने से उसका शरीर है। ब्रह्म उसका नियंता, धारयिता और शेषी होने से उसकी आत्मा है। ईश्वर, जीव तथा जगत् में विशेष्य विशेषण या अङ्ग-अङ्गी संबंध है। ईश्वर विशेष तथा जगत् और जीव विशेष्य हैं। दोनों में एकत्व है। अत वे अलग नहीं किए जा सकते। संयुक्त विशिष्ट ईश्वर की एकता प्रामाणिक है अतः ब्रह्म उसके अंग चित् और अचित् अंगों से पृथक नहीं है। जीव-जगत्-ईश्वर का सम्बन्ध समवाय रूप से बाह्य है तथा अपृथक सिद्धी रूप से आन्तर सम्बन्ध है। ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त कारण होकर भी उपादान कारण है। जगत् की सृष्टि भगवान् की लीला से उत्पन्न होती है उसका संहार भी एक लीला ही है। इस विशिष्ट लीला में ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है। जगत् की नित्यसिद्धसत्ता है। सृष्टि-काल में स्थूल रूप से जगत् की प्रतीति तथा प्रलय

काल मे वही जगत सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है। प्रलय काल मे जीव, जगत्, सूक्ष्म रूपापन्न होने के कारण तत्सबद्ध ईश्वर सूक्ष्म चिद-विद्-विशिष्ट ईश्वर कहलाता है। यही कारण-ब्रह्म है। सृष्टि काल मे स्थूल रूपापन्न होने पर वही चिद्-विद्-विशिष्ट कार्य ब्रह्म है। ज्ञान शून्य विकारास्पद वस्तु अचित् कहलाती है। इसके तीन भेद है—(१) शुद्ध सत्त्व, (२) मिश्र सत्त्व और (३) सत्त्व शून्य। जीव अणु है, अल्पज्ञ है, तथा क्षुद्र है, तो ब्रह्म सर्वज्ञ और अति महान् है। ससारी दशा मे जीव ब्रह्म से पृथक है, मुक्त दशा मे वह वैसा ही बना रहेगा। मुक्ति दशा मे वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करेगा। रामानुज भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन मानते हैं। भक्ति-सेवित भगवत्प्रसाद ही जीव को मुक्ति लाभ देता है। 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य तस्यत्वम् असि अर्थात् भक्त ईश्वर का ही सेवक है, यही है। अनन्य भाव से भगवान् का तथा उनके प्रिय पात्र भगवद्-भक्तों का कैंकर्य करना चाहिये यही परमधर्म है। कर्म तथा कर्म फल की अनित्यता को जानने वाला ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी है। सकर्षण-रूप-जीव की उत्पत्ति भगवान से होती है। विवर्त के स्थान पर रामानुज ब्रह्म परिणामवाद को मानते हैं। नारायण नाम की सार्थकता इस प्रकार है—

नराज्जातानि तत्वानि नारायणीति विदुर्बुधा।
तस्य तान्ययन पूर्वं तेन नारायण स्मृत ॥

अर्थात् पचभूत, पचतन्मात्रा, दस इन्द्रिया, मन, बुद्धि, अहकार, प्रकृति तथा जीव अर्थात् पच्चीसो तत्व नर से उत्पन्न होने के हेतु नार कहलाते हैं। इन सभी तत्वों मे व्यापक रूप से निवास करने के कारण भगवान् ही नारायण नाम से प्रख्यात हैं। जीव को चाहिए कि वह इसी स्वामी नारायण के चरणारविंद मे आत्मसमर्पण करे। इसमे दास्य-भाव की भक्ति ग्रहित है, तथा भक्ति का सार प्रपत्ति मानी गयी है। बिना आत्मनिवेदन के भक्ति की अन्य साधना केवल बहिरग मात्र है। कर्मकाण्ड अनिवार्य है। ईश्वर में मिलकर एक हो जाना मुक्ति नही है वरन् ईश्वर का सामीप्य पाना मुक्ति है। ईश्वर के समान हो जाना मुक्ति है। ब्रह्म न निर्गुण है और न निर्विशेष, वह सगुण सविशेष तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर और जीवात्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। ईश्वर अनन्त और जीव सान्त है। रामानुज भ्रम-ज्ञान को 'सत्ख्याति' मानते हैं। भ्रमज्ञान का विषय सत् होता है। शुक्ति मे जो रजत दिखाई देती है, उसकी वास्तविकता होती है, जगत् का कोई ज्ञान अयथार्थ नही है। मोक्ष के साधनो की रामानुजीय कल्पना मनोवैज्ञानिक, मनोरम तथा स्वाभाविक है।

रामानुज का महत्व—

वैष्णव आचार्यों के प्रादुर्भाव के समय बौद्ध, जैन आदि धर्मों का प्रचार बढ़ा हुआ था। अत वैदिक धर्म के अनुयायी नई शैली में उनके सिद्धान्तों की आलोचना करने लग गये थे। न्याय और मीमांसा के आचार्यों ने इस क्षेत्र में आकर प्रथम आलोचना की। किन्तु इसके साथ-साथ अपने निराकरण में इन लोगों ने वेदांत पर भी अनेक प्रहार अपने आक्षेपों से किए। अत उपनिषदोंके आधार लेकर वेदान्तियों में से गौड़पादाचार्य तथा श्री शंकराचार्य ने यह प्रतिपादित किया कि एक मात्र परब्रह्म ही सत्य है, तथा जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। जो विभिन्नता दिखाई देती है वह मिथ्या है। इसका कारण अविद्या या माया है। प्रत्यक्ष भक्ति या प्रेम को इन्होंने स्थान नहीं दिया था। यह उपेक्षा रामानुज जैसे आचार्यों ने तथा उनके पूर्ववर्ती आळवारों ने पूर्ण की है। इनमें हृदय पक्ष का प्राबल्य विशेष रूप से है। इनके बाद के आचार्यों ने मस्तिष्क पक्ष को भी पूर्ण करके कोरे कर्मकाण्ड का खंडन किया तथा भक्तिपक्ष का प्रबल समर्थन किया। शंकराचार्यानुमोदित स्मार्त-धर्म द्वारा प्रतिपादित बहुदेवताप्रणाली के स्थान पर एक विष्णु की आराधना प्रस्थापित की तथा उपासना के क्षेत्र में सबको साम्य तथा समता प्रदान की। एक तरह से श्री सम्प्रदाय या विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय पुराने भागवत धर्म, पाचरात्र धर्म का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। अद्वैतवादियों से लोहा लेने का कार्य इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है जो महत्वपूर्ण है।

द्वैताद्वैतवाद तथा श्री निम्बार्काचार्य—

श्री सम्प्रदाय पाचरात्र धर्म एवं भागवतधर्म का ही एक विकसित रूप था यह हम ऊपर कह आये हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय को 'सनक सम्प्रदाय' कहते हैं। समस्त वैष्णव सप्रदायों के आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं और उनका ही उपदेश चार शिष्यों के द्वारा प्रसारित हुआ। ये चार शिष्य श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनक हैं। इनमें से श्री सम्प्रदाय का हम विवेचन कर आये हैं। वैसे इन सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने परस्पर आदान-प्रदान किया है। उनमें सिद्धान्त भेद हो सकते हैं, फिर भी वैष्णव विषयक न्यूनाधिक एकता से ये परस्पर अवश्य प्रभावित हुए हैं। निम्बार्काचार्य का मत 'स्वाभाविक भेदाभेद' माना जाता है। इनके बारे में कोई सुसूत्र जानकारी नहीं मिलती। विद्वानों में इनके निश्चित काल के बारे में मतभेद है। अनुमानत श्री रामानुजाचार्य के बाद और मध्वाचार्य के समकालीन अर्थात् सन् १०६७ से ११६७ तक इनका अस्तित्व मान सकते हैं। यों डा० भाडारकर

उनका समय सन ११६२ के लगभग बतलाते हैं।[1] डा० दासगुप्ता अनुमानतः चतुर्दश शताब्दी मानते हैं।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय वाले पाँचवी शताब्दी में थे वे ऐसा बताते हैं। आधुनिक विद्वानो के मतो का सार यही है कि निम्बार्क ग्यारहवी शती में हुए थे। इनके कई नाम है जैसे 'भास्कराचार्य', 'निम्बादित्य', 'निम्ब-भास्कर', 'नियमानदाचार्य'। आचार्य बलदेव उपाध्याय इनके मत के बारे में कहते हैं—'इस मत का इतिहास अभी भी गभीर अध्ययन का विषय है। समुचित सामग्री के अभाव में अभीतक मोटे प्रश्नो का भी समाधान नहीं होने पाया है। यह मत कब उत्पन्न हुआ ? कहाँ उत्पन्न हुआ ? किस प्रकार वर्तमान दशा तक विकसित होकर पहुँचा ? हिन्दी साहित्य के विकास में इस सम्प्रदाय के कवियो ने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया ? ये सभी प्रश्न अभी भी अपनी मीमासा के निमित्त अवसर खोज रहे हैं।[3]

'हरि गुरु स्तव माला' की जानकारी के अनुसार इस मत के आचार्य हस-स्वरूप भगवान् नारायण है, जो राधाकृष्ण की युग मूर्ति के प्रतीक हैं। उनसे इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को मिली, जिसे सनन्दन-नारद परम्परा से निम्बार्क ने प्राप्त किया। सभवत बेलारी जिले के निम्बापुर नामक नगर में सन १११४ के करीब ये पैदा हुए थे। पर इनको वृन्दावन अधिक भाता था अत वहीं रहकर उन्होने 'वेदात पारिजात सौरभ' दशश्लोकी और सिद्धान्तरत्न आदि ग्रन्थो की रचना की। इनका असली नाम 'नियमानन्द' था। एक जैन साधु को रात्रि में भोजन करने के लिए कहा पर वह प्रस्तुत न हुआ। तब नियमानन्दाचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र का आवाहन किया, जिसकी ज्योति सूर्यवत् चमकती थी। नीम के वृक्ष पर से आने वाला सूर्य प्रकाश देखकर उस साधु ने विधिवत् भोजन किया। तब से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पडा।

इनके मत का निरूपण सक्षेप में इस प्रकार है—

दशश्लोकी में पदार्थ पचविध बताये हैं। ये पाँच पदार्थ ज्ञेय है। (१) उपास्य का स्वरूप (२) उपासक का स्वरूप (३) कृपाफल (४) भक्तिरस (५) फलप्राप्ति में विरोध। इन पाँच विषयो के अतर्गत निम्बार्काचार्य के ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष, मोक्ष-साधन आदि सम्बन्धी सिद्धात बतलाए जाते हैं। इसे सनक सम्प्रदाय भी कहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से निम्बार्क द्वैताद्वैत या भेदाभेद का

१. वैष्णविज्म, शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८८
२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी— डा० दासगुप्ता, पृ० ३९९-४०४
३. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१२-१३

समर्थन करने वाले थे। ऐसा माना जाता है कि बादरायण के पूर्वज ओडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। रामानुज के गुरु यादव-प्रकाश भी इसी मत के प्रतिपादक थे। निम्बार्काचार्य के सनक सम्प्रदाय का प्रचार जितना उत्तर भारत में हुआ उतना दक्षिण में नहीं। इनके दो प्रसिद्ध शिष्य हुए थे—केशव भट्ट तथा हरिव्यास। पहले विरक्त थे, तो दूसरे गृहस्थ। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ भागवत है तथा हरिवंश को भी मान्यता प्राप्त है। वैसे महाभारत और विष्णु-पुराण का भी पर्याप्त रूप में प्रभाव स्वीकार किया जाता है। इस सम्प्रदाय की भक्ति प्रेमलक्षणा-प्रधान-भक्ति थी। बंगाल और मथुरा पर इसका प्रभाव अधिक पाया जाता है।

निम्बार्क मत की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

जीव बिना इन्द्रियों की सहायता के ज्ञान प्राप्त करता है अतः उसे प्रज्ञान घन कहा गया है। यद्यपि जीव, जगत् तथा ईश्वर तीनों भिन्न हैं, पर जीव तथा जगत् का व्यापार और अस्तित्व ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। अपने में इनको स्वातंत्र्य नहीं है। परमेश्वर में ये दोनों तत्व सूक्ष्म रूप से रहते हैं। मुक्त दशा में भी जीव का कर्तृत्व माना गया है। जीव ईश्वर का अंश है अर्थात् टुकड़ा नहीं है। इसलिए जीव भिन्न और अभिन्न दोनों है। अचित् तत्व तीन प्रकार के होते हैं (१) प्राकृत (२) अप्राकृत (३) काल। बुद्धि से लेकर स्थूल महाभूतों तक सारे पदार्थ हैं तथा ये सब ईश्वराधीन हैं। अप्राकृत पदार्थों में भगवान् के लोक आदि आते हैं जो प्रकृति द्वारा निर्मित नहीं है। काल संसार का नियामक अवश्य है, पर स्वयं भगवान् के आधीन है।

साधना पद्धति—

भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ है तथा जीव को प्रपत्ति से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अनुग्रह से भगवान के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तों के लिए भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र की चरण सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता इनकी वंदना किया करते हैं। जैसे दशश्लोकी के इस श्लोक से स्पष्ट है—

> नान्यागतिः कृष्ण पदारविंदात्
> सदृश्यते ब्रह्म शिवादि वंदितात्।
> भक्तेच्छयो पात्त सुचिन्त्य-विग्रहा
> दचिन्त्य शक्ते रविचिन्त्य साशयात् ॥८॥[1]
>
> —दशश्लोकी।

---

१. दशश्लोकी—श्लोक, ८।

राधाकृष्ण की युगल उपासना के साथ माधुर्य तथा प्रेम शक्ति रूपा राधा की उपासना पर निम्बार्क अधिक जोर देते हैं। इसका कारण यह है कि राधा भक्तों की सकल कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति मानी गयी हैं। निम्बार्क राधा को 'अनुरूप सौभगा' कहते हैं अर्थात् वे कृष्ण के सर्वथा अनुरूप स्वरूप वाली हैं। राधा अर्थात् आत्मा और कृष्ण अर्थात् परमात्मा हैं। कृष्ण तथा श्री के अविभाज्य सम्बन्ध को भागवत में सूचित किया गया है। श्री के दो रूप वेदों में बतलाये गये हैं—श्री तथा लक्ष्मी। इन में श्री का आविर्भाव वृषभानुतनया-राधा के रूप में हुआ था और लक्ष्मी का रुक्मिणी के रूप में। वैष्णव शास्त्र के विश्वासानुसार भगवान् के साथ श्री भी नाना रूप ग्रहण करती है। देवलोक में देवी बनकर तथा मनुष्य लोक में मानुषी बनकर कृष्ण रूप के आविर्भाव के साथ श्री के भी इस मनुष्य लोक में दो रूप हुए। इनमें राधा ही सर्व श्रेष्ठ हैं। 'नाटक परिशिष्ट' राधा और कृष्ण के अभेद का प्रतिपादन करता है तथा भेद देखने वाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है—

राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
यो नयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति॥

निम्बार्क मत में राधा स्वकीया पटरानी ही हैं। यह बात 'ब्रह्मवैवर्त' तथा गर्ग-संहिता के प्रमाणों से सिद्ध है। नित्य लीला में यह प्रश्न ही नहीं उठता पर अवतार लीला में राधिका का श्रीकृष्ण से विवाह शास्त्र-सिद्ध है।[1]

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितं सदा स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥

परकीयाभास केवल लौकिक दृष्टि से ही उत्पन्न हो जाता है। साधक की अभिरुचि के अनुसार साधक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य या उज्ज्वल को अपनाकर अपनी साधना में अग्रसर हो सकता है। वस्तुतः यह सम्प्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति को ही साधन मार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है। भक्ति के बारे में निम्बार्क का विचार है कि 'मधुविद्या', 'शाण्डिल्य विद्या' जैसी वैदिक अनुष्ठानों की भक्ति वैदिक कही जाती है तथा उस पर त्रैवर्णिकों का अधिकार रहता है। पर पौराणिक भक्ति केवल भगवदाराधना से संबंध रखती है तथा शूद्रों को भी उसे करने का अधिकार है।

निम्बार्क के शिष्यों में से श्री भट्ट ने सर्व प्रथम ब्रज भाषा में कविता की है। इनका 'जुगल शतक' 'आदि-बानी' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शिष्य आचार्य हरिव्यास जी ने निम्बादित्य की आज्ञा से 'जुगल शतक' पर भाष्य लिखा। यह

१. निम्बादित्य दशश्लोकी—हरिव्यास देव, श्लोक—५।

'महावानी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सर्वप्रथम उत्तर भारतीय सम्प्रदायाचार्य माने जाते हैं। इनका सम्प्रदाय रसिक सम्प्रदाय कहलाता है। इनके बारह शिष्य थे। श्री महावाणी में सेवा, उत्सव, सुरत, सहज तथा सिद्धांत सुखों का वर्णन है जिसमें राधाकृष्ण की नित्य लीला की मार्मिक अभिव्यंजना है। वल्लभ मतानुयायियों में जो स्थान सूर का है वही निम्बार्क मतानुयायियों में श्री हरिव्यासजी का है। हम अपने प्रबन्ध में इन पर अधिक प्रकाश नहीं डालेंगे। इतना निश्चित है कि निम्बार्क संप्रदाय ने हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा हित किया है। हिन्दी में इस मत के मानने वालों ने पर्याप्त रचनाएँ की हैं। बृजकाव्य वैष्णव काव्य ही है। अष्टछाप की प्रधानता में निम्बार्क मत को मानने वाले कवियों के काव्य की जैसे चाहिए वैसी परख अब तक नहीं पाई है। अष्टछाप से टक्कर ले सकने वाले कवि इसमें विद्यमान हैं। वल्लभ सम्प्रदाय का कवि जब बालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है तब निम्बार्क सम्प्रदाय का कवि राधाकृष्ण की शृङ्गार लीला पर रीझता है। हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि बिहारी, घनानन्द, रसखान तथा रसिक गोविंद आदि निम्बार्क मतानुयायी हैं। वृन्दावन का सखी सम्प्रदाय इसी की एक शाखा है।

माध्व या द्वैतवादी सम्प्रदाय—

अद्वैतमत के विरुद्ध द्वैतमत का जोरदार प्रचार करना यही कार्य माध्व मत का है। किसी भी साधक को साधारण अनुभव में जगत्, जीव और ईश्वर का अलग-अलग ही अनुभव होता है। वैसे द्वैतवाद स्वभावतः यही सिद्ध हो जाता है। रामानुज में द्वैतभाव दिखाई देता है। भेद तो सिद्ध हो गया था पर अभेद सिद्ध करने के लिए 'अपृथक स्थिति' की कल्पना करनी पड़ी। माध्वमत को ही 'ब्रह्म सम्प्रदाय' भी कहते हैं। मध्वाचार्य का कथन है कि 'ब्रह्मसूत्र', श्रीमद् भगवद्गीता तथा उपनिषदों में द्वैत मत का ही प्रतिपादन किया गया है। उनके मत से प्रस्थान-त्रयी का यही सिद्धान्त है। हरि या भगवान्-प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव से साध्य हैं। साधन रूप में वे शम, दम, शरणागति, वैराग्य आदि अष्टादश साधनाएँ मानते हैं। माध्वमत के संस्थापक मध्वाचार्य थे। इनका दूसरा नाम आनन्द-तीर्थ था। दक्षिण भारत के उडिपी नाम के नगर के पास सन ११९७ में इनका जन्म हुआ। कुछ लोग इनका जन्म ११९९ भी मानते हैं। बचपन में इनका नाम वासुदेव था। अद्वैतवादी आचार्य अच्युतप्रेक्ष से उन्होंने सन्यास ग्रहण किया। तब इनका नाम 'पूर्ण प्रज्ञ' रखा गया। वेदान्त में पारंगत हो जाने पर ये 'आनन्द-तीर्थ' कहलाने लगे। उन्होंने अपने गुरु के साथ दक्षिण-दिग्विजय के लिए यात्रा की तथा कई अद्वैती आचार्यों से शास्त्रार्थ किया और उडुपी गये। वहाँ पर वेदव्यास को उन्होंने

अपना भाष्य दिखाया तथा उनसे कृपा प्राप्त की और वेदव्यास से शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ प्राप्त कीं, जिनको उदीपी, सुब्रह्मण्यम तथा मध्यतल मे स्थापित किया। ये दिग्विजयी राम की भी मूर्ति बदरिकाश्रम से अपने साथ लेते आये। उन्होंने सीताराम, द्विभुज तथा चतुर्भुज कालीयदमद् विठ्ठल, लक्ष्मण-सीता आदि आठ मूर्तियो की स्थापना की, जहाँ पर इनके आठ शिष्य भी रहे गये। इन्होने बहुत बडी सख्या मे ग्रन्थ रचना की है। कुल सैंतीस ग्रन्थ इनके लिखे हुए मिलते हैं। इनकी मृत्यु सन १३०३ मे हुई ऐसा माना जाता है। अद्वैत मत की समीक्षा करके उन्होंने जनता की माग का ही अपनी सरल भक्ति मार्गीय साधना से समर्थन किया। यह इस वैष्णव सम्प्रदाय की एक बहुत बडी विशेषता है। पशु-हिंसा की इस सम्प्रदाय द्वारा पूर्ण मनाई की गई है। मध्वाचार्य के मत को सक्षिप्त रूप मे एक पद्य मे इस प्रकार दिया गया है।[1]

> श्री मन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत् तत्वतो।
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा. नीचोच्च भावंगतः॥
> मुक्ति नैंज सुखानुभूति रमला भक्तिश्चतत्साधनम्।
> अक्षादित्रितयं प्रमाणं सखिलाम्नायैक वेद्योहरिः॥

द्वैती मध्वाचार्य का मत और दार्शनिक सिद्धान्त—

इस मत को ब्रह्मा ने आचार्य रूप मे प्रस्थापित किया था। ये व्यूह के सिद्धान्तो को नही मानते परन्तु रामकृष्णादि अवतारो को मानते हैं। इनके मत के नौ सिद्धात प्रमुख हैं। (१) हरि परतर श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। भगवान अनन्त गुणो से परिपूर्ण हैं और जड प्रकृति से सर्वथा विलक्षण हैं। चेतन दो प्रकार का होता है—जीव और ईश्वर। विष्णु ही परमतत्व हैं। (२) जगत् सत्य है। भगवान् की कोई भी कल्पना, इच्छा मिथ्या नही होती। ऐसी दशा मे सत्य सकल्प के द्वारा निर्मित जगत् असत्य नहीं हो सकता। (३) भेद पचधा होते हैं, तथा स्वाभाविक और नित्य हैं। ये पचधा भेद इस प्रकार के हैं—(क) एक जीव का दूसरे जीव से भेद। (ख) ईश्वर का जीव से भेद। (ग) ईश्वर का जड से भेद। (घ) जीव का जड से भेद। (ङ) एक जड का दूसरे जड से भेद। (४) जीव-गण हरि के अनुचर हैं। इसलिए समस्त जीवो का सामर्थ्य भगवताधीन है। जीव अपने से अल्पज्ञ है, अत वह सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही अपना कार्य किया करता है। (५) नीचोच्च भाव जीव में केवल कार्य भिन्नता के कारण नही होता तो मोक्ष दशा मे भी वह तरतम भाव से युक्त रहता है। इस दृष्टि से ये तीन प्रकार के हैं (क) मुक्तियोग्य (ख) नित्य ससारी (ग) तमोयोग्य।

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।

इन तीनों में अन्तिम दो की कभी मुक्ति नहीं होती। गुणों की भिन्नता के अनुसार मुक्ति जीव भी परस्पर भिन्न होते हैं। (६) 'मुक्ति नैज सुखानुभूति' वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति में ही इस वैष्णव मत में आनन्द की उपलब्धि है। यह आनन्द परमानन्द स्वरूप है। मोक्ष चार प्रकार के हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।—'सायुज्य नाम भगवन्त प्रविश्यतच्छरीरेण भोग।' (७) मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय अमला भक्ति—मलरहित निर्दोष भक्ति—है। भक्ति में अहेतुकता तथा अनन्यता चाहिए। स्वार्थवश की गई भक्ति या हेतुवश की गई भक्ति दोषपूर्ण मानी जाती है। (८) माध्वमत के अनुसार प्रमाण ये हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और शब्द। इन्हीं के आधार पर सारे प्रमेयों की सिद्धि प्राप्त होती है। (९) वेद का समस्त तात्पर्य ही विष्णु है। वेदों का प्रधान कार्य भगवत्तत्व का प्रतिपादन है। यह प्रतिपाद्य विष्णुतत्व ही है। विष्णु ही कार्यवश विभिन्न रूप लेते हैं जैसे इन्द्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा। अन्त में ये सब उसी एक परब्रह्म का ही स्वरूप हैं। विष्णु को मध्वाचार्य महामाग्यशाली देवता मानते हैं जैसे प्रसिद्ध है—[१]

'महामाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एक स्यात्मनो न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥'

मध्वाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं ब्रह्मसूत्र-भाष्य अनुव्याख्यान, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, गीताभाष्य, भागवत-तात्पर्य निर्णय, महाभारत-तात्पर्य निर्णय, विष्णुतत्व-निर्णय, गीता-तात्पर्य निर्णय, प्रपंच-मिथ्यात्व निर्णय, तत्वसार संग्रह आदि। 'जयतीर्थ' के समान प्रगाढ पण्डित माध्वमत में और दूसरा कोई नहीं हुआ। इस मत की बहुत सी ग्रन्थ संपत्ति अप्रकाशित ही पड़ी हुई है। यह उल्लेखनीय है कि कर्नाटक में इस मत का प्रचार प्रसार अधिक रहा। वैष्णव धर्म का भक्ति आन्दोलन महाराष्ट्र में कर्नाटक से होकर ही आया है। पद्मनाभ-तीर्थ, नरहरि-तीर्थ, माधव-तीर्थ और अक्षोभ्य-तीर्थ ये चार शिष्य मध्वाचार्य के द्वारा मठाधिपति बनाये गये थे। इन्होंने इसी वैष्णव धर्म का प्रचार किया। जयतीर्थ अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे; जिन्होंने मध्वाचार्य के ग्रन्थों का गंभीर अध्ययनकर विद्वत्तापूर्ण टीकाये भी लिखी हैं। इनकी शिष्य-परंपरा के कुछ मराठी शिष्यों ने इन टीकाओं के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कुछ पोथियां बंगलौर के मठ में 'सुरक्षित' हैं।

१. निरुक्त ७-४, ८-९—यास्क।

'महाभारत तात्पर्य निर्णय' और भागवत का अनुवाद ऐसी ही दो मराठी पोथियाँ हैं। प्राध्यापक श्री ना बनहट्टीजी के मत से मराठी वैष्णव काव्य पर माध्वमत के द्वैत का भी प्रभाव पडा है। पर उनके इस मत को हम इतना ही महत्व दे सकते हैं कि मराठी वैष्णवो का बहिरंग अद्वैताश्रयी और अतरंग द्वैताश्रयी है। भक्ति मार्ग के प्रतिपादन मे सगुण भक्ति का महत्व अङ्कित करते समय वे द्वैती हैं ऐसा भास होने लगता है। पर ज्ञानाधिल अध्यात्मपक्ष उन्हें सर्वदा ग्राह्य है और इस दृष्टि से वारकरी सम्प्रदाय वाले अपने को अद्वैती बतलाते हैं। माध्वमत की प्रतिष्ठा कितनी महत्वपूर्ण है इसका इस बात से पता चल जाता है कि माध्वमत ने भक्तिवाद का तर्कपूर्ण और सुसगत विवेचन किया है। शैव मतानुयायियो से भी माध्वीय मत वाले समान भाव रखते हैं। उत्तर प्रदेश मे वृन्दावन जैसे क्षेत्र मे भी इनके अनुयायी मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के दीक्षागुरु केवल ब्राह्मण या सन्यासी हो सकते हैं। माध्वद्वैत मत का भारतीय धर्म-साधना मे महत्व इस बात का है कि इसने भक्तिमार्ग को निष्कटक कर दिया तथा भक्तिमार्ग को प्रशस्त कर दिया। शकर के अद्वैत की पराकाष्ठा प्रतिक्रिया के रूप मे माध्वमत मे पहुँचा दी गई है। इस चरम सीमा पर पहुँचने के बाद पुन उसकी प्रतिष्ठा न हो सकी।[१] भारतीय दार्शनिक भेद को स्वीकार कर सकता है पर तात्विक रूप मे अभेद को स्वीकार कर सकना ही उसकी स्वाभाविक प्रकृति है। अत वल्लभाचार्य, कबीर तथा सूफियो पर अद्वैतवाद का प्रभाव पडा है जिसे हम यथा स्थान देखेंगे। इसलिए द्वैत भाव को छोडकर वल्लभाचार्य ने इस मत के भक्ति विषयक, आत्मसमर्पण, भजन, जप, ध्यान आदि को तो स्वीकार किया और इनको ज्ञान से भी विशेष महत्व प्रदान किया। भाडारकरजी के मत मे गोपालकृष्ण की उपासना का माध्वमत में विशेष महत्व नहीं है।[२]

आचार्य वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैती वैष्णव संप्रदाय—

शुद्धाद्वैत की उपासना ने विशेषत राजस्थान, गुजरात और ब्रज आदि प्रान्तो को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्लावित किया। इस सम्प्रदाय को 'रुद्र सप्रदाय' और 'विष्णु-स्वामी-सप्रदाय' भी कहा जाता है। वल्लभ सप्रदाय के 'सप्रदाय प्रदीप' नाम के एक ग्रन्थानुसार यह जानकारी उपलब्ध होती है।[३]

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १७३।

२. वैष्णविज्म शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८७।

३. सप्रदाय प्रदीप, पृ० १४–३०।

इन तीनों में अन्तिम दो की कभी मुक्ति नहीं होती। गुणों की भिन्नता के अनुसार मुक्ति जीव भी परस्पर भिन्न होते हैं। (६) 'मुक्ति नैज सुखानुभूति' वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति में ही इस वैष्णव मत में आनन्द की उपलब्धि है। यह आनन्द परमानन्द स्वरूप है। मोक्ष चार प्रकार के हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।—'सायुज्य नाम भगवन्त प्रविश्यतच्छरीरेण भोग।' (७) मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय अमला भक्ति—मलरहित निर्दोष भक्ति—है। भक्ति में अहेतुकता तथा अनन्यता चाहिए। स्वार्थवश की गई भक्ति या हेतुवश की गई भक्ति दोषपूर्ण मानी जाती है। (८) माध्वमत के अनुसार प्रमाण ये हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और शब्द। इन्ही के आधार पर सारे प्रमेयों की सिद्धि प्राप्त होती है। (९) वेद का समस्त तात्पर्य ही विष्णु है। वेदों का प्रधान कार्य भगवत्तत्व का प्रतिपादन है। यह प्रतिपाद्य विष्णुतत्व ही है। विष्णु ही कार्यवश विभिन्न रूप लेते हैं जैसे इन्द्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा। अन्त में ये सब उसी एक परब्रह्म का ही स्वरूप हैं। विष्णु को मध्वाचार्य महाभाग्यशाली देवता मानते हैं जैसे प्रसिद्ध है—[१]

'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एक स्यात्मनो न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥'

मध्वाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं ब्रह्मसूत्र-भाष्य अनुव्याख्यान, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, गीताभाष्य, भागवत-तात्पर्य निर्णय, महाभारत-तात्पर्य निर्णय, विष्णुतत्व-निर्णय, गीता-तात्पर्य निर्णय, प्रपंच-मिथ्यात्व निर्णय, तत्त्वसार संग्रह आदि। 'जयतीर्थ' के समान प्रगाढ पण्डित माध्वमत में और दूसरा कोई नहीं हुआ। इस मत की बहुत सी ग्रन्थ संपत्ति अप्रकाशित ही पड़ी हुई है। यह उल्लेखनीय है कि कर्नाटक में इस मत का प्रचार प्रसार अधिक रहा। वैष्णव धर्म का भक्ति आन्दोलन महाराष्ट्र में कर्नाटक से होकर ही आया है। पद्मनाभ-तीर्थ, नरहरि-तीर्थ, माधव-तीर्थ और अक्षोभ्य-तीर्थ ये चार शिष्य मध्वाचार्य के द्वारा मठाधिपति बनाये गये थे। इन्होंने द्वैती वैष्णव धर्म का प्रचार किया। जयतीर्थ अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे, जिन्होंने मध्वाचार्य के ग्रन्थों का गंभीर अध्ययनकर विद्वत्तापूर्ण टीकायें भी लिखी हैं। इनकी शिष्य-परंपरा के कुछ मराठी शिष्यों ने इन टीकाओं के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कुछ पोथियां बंगलौर के मठ में 'सुरक्षित' हैं।

१. निरुक्त ७-४, ८-९—यास्क।

'महाभारत तात्पर्य निर्णय' और भागवत का अनुवाद ऐसी ही दो मराठी पोथियाँ हैं। प्राध्यापक श्री ना बनहट्टीजी के मत मे मराठी वैष्णव काव्य पर माध्वमत के द्वैत का भी प्रभाव पडा है। पर उनके इस मत को हम इतना ही महत्व दे सकते हैं कि मराठी वैष्णवो का बहिरंग अद्वैताश्रयी और अतरग द्वैताश्रयी है। भक्ति मार्ग के प्रतिपादन मे सगुण भक्ति का महत्व अङ्कित करते समय वे द्वैती हैं ऐसा भास होने लगता है। पर ज्ञानाश्रित अध्यात्मपक्ष उन्हें सर्वदा ग्राह्य है और इस दृष्टि से वारकरी सप्रदाय वाले अपने को अद्वैती बतलाते हैं। माध्वमत की प्रतिष्ठा कितनी महत्वपूर्ण है इसका इस बात से पता चल जाता है कि माध्वमत ने भक्तिवाद का तर्कपूर्ण और सुसगत विवेचन किया है। शैव मतानुयायियो से भी माध्वीय मत वाले समान भाव रखते हैं। उत्तर प्रदेश मे वृन्दावन जैसे क्षेत्र मे भी इनके अनुयायी मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के दीक्षागुरु केवल ब्राह्मण या सन्यासी हो सकते हैं। माध्वीद्वैत मत का भारतीय धर्म-साधना मे महत्व इस बात का है कि इसने भक्तिमार्ग को निष्कटक कर दिया तथा भक्तिमार्ग को प्रशस्त कर दिया। शकर के अद्वैत की पराकाष्ठा प्रतिक्रिया के रूप मे माध्वमत मे पहुँचा दी गई है। इस चरम सीमा पर पहुँचने के बाद पुन उसकी प्रतिष्ठा न हो सकी।[१] भारतीय दार्शनिक भेद को स्वीकार कर सकता है पर तात्विक रूप मे अभेद को स्वीकार कर सकना ही उसकी स्वाभाविक प्रकृति है। अत वल्लभाचार्य, कबीर तथा सूफियों पर अद्वैतवाद का प्रभाव पडा है जिसे हम *यथा स्थान* देखेंगे। इसलिए द्वैत भाव को छोडकर वल्लभाचार्य ने इस मत के भक्ति विषयक, आत्मसमर्पण, भजन, जप, ध्यान आदि को तो स्वीकार किया और इनको ज्ञान से भी विशेष महत्व प्रदान किया। भाडारकरजी के मत से *गोपालकृष्ण की उपासना* का माध्वमत में विशेष महत्व नही है।[२]

आचार्य वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैती वैष्णव संप्रदाय—

शुद्धाद्वैत की उपासना ने विशेषत राजस्थान, गुजरात और व्रज आदि प्रान्तो को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्लावित किया। इस सम्प्रदाय को 'रुद्र संप्रदाय' और 'विष्णु-स्वामी-सप्रदाय' भी कहा जाता है। वल्लभ सप्रदाय के 'सप्रदाय प्रदीप' नाम के एक ग्रन्थानुसार यह जानकारी उपलब्ध होती है।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १७३।

२. वैष्णविज्म शैविज्म—भाडारकर, पृ० ८७।

३. सप्रदाय प्रदीप, पृ० १४–३०।

"युधिष्ठिर राज्यकाल के पश्चात् एक क्षत्रिय राजा द्राविड देश मे राज्य करता था। उसका एक ब्राह्मण मंत्री था। इसी ब्राह्मण मंत्री का एक बुद्धिमान, तेजस्वी तथा भगवद्भक्ति परायण पुत्र विष्णु स्वामी था जिसने वेद, उपनिषद, स्मृति, वेदान्त, योग आदि समस्त ज्ञान साहित्य का अध्ययन करने के बाद आचार्य की पदवी पाई। भगवान के साक्षात्कार से उसे ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्ति मार्ग की अनुभूति हुई, इसी सप्रदाय प्रदीप में लिखा है कि विष्णु स्वामी ने बहुत समय तक भक्ति मार्ग का प्रचार किया और भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता प्रदान की। इन्होंने वेद, तन्त्रोक्त-विधान, वेदात, साख्य योग, वर्णाश्रमधर्मादि सपूर्ण कर्तव्य भक्ति के ही साधन बताये हैं।[१]

'भाडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स' के एक लेख में विवेचित रायबहादुर श्री अमरनाथ राय के अनुसार मध्वाचार्य तथा सायणाचार्य के गुरु विद्या शङ्कर को ही विष्णु स्वामी बतलाया गया है। यह उनका दूसरा नाम था।[२]

पद्म पुराण के अनुसार रुद्र सप्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे।[३]

रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुख।
श्री विष्णु स्वामिनं रुद्र निम्बादित्य चतु सनः॥

गौडीय दशमखड मे एक लेख है जिसमे श्री भक्ति सिद्धात सरस्वती महाराज कहते हैं[४]—'एक देव तनु विष्णु स्वामी सन ३०० पूर्व हुए जो मथुरा मे रहते थे। इनके पिता का नाम देवेश्वर भट्ट था। इन्हीं विष्णु स्वामी के सात सौ त्रिदडी सन्यासी इनके मत का प्रचार करते थे। इस मत के अन्तिम सन्यासी श्री व्यासेश्वर थे। दूसरे एक और विष्णु-स्वामी थे जिनको 'राजगोपाल-विष्णुस्वामी' कहते थे। इनका जन्म सन् ८३० मे हुआ। ये काची में रहते थे और उन्होंने वहाँ पर श्री राजगोपाल देव अथवा श्री वरदराज की मूर्ति स्थापित की। ऐसा प्रसिद्ध है कि द्वारिका में रणछोडजी तथा सप्त नगरियों में से अन्य छः नगरियो मे भी इन्होंने विष्णु मूर्तियों की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त एक और तीसरे विष्णु स्वामी हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य के पूर्व पुरुष उन्हीं तीसरे विष्णु स्वामी के शिष्य थे।[५]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४१।
२. भाडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स—एप्रिल-१८१३ से जुलाई १८१३, —वाल्यूम १४ पार्ट ३-४ पृ० १६१-१६८।
३. पद्म पुराण।
४. गौडीय दशमखण्ड—पृ० ६२४-६२६।
५. गौडीय दशमखंड—पृ० ६२४-६२६।

नाभादासजी अपने भक्तमाल मे बतलाते हैं[1]—

> नामत्रिलोचन शिष्य, सूर ससि सदृश उजागर।
> गिरा गंग-उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर॥
> आचरज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
> तिहि मारग वल्लभ विदित पृथुपाधित पराइन॥
> नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वचक्रम हरिचरण रति।
> विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ ज्ञानदेव गम्भीर मति॥

उनके मतानुसार विष्णु स्वामी सम्प्रदाय मे ज्ञानेश्वर, नामदेव, त्रिलोचन आदि दीक्षित थे। नाभादास का कथन ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण नही जान पडता। मराठी साहित्य के मर्मज्ञ यह जानते हैं और प्रसिद्ध भी है कि ज्ञानेश्वर अपना सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से जोडते हैं। नाथ सम्प्रदाय योग परक और ज्ञान मार्ग का प्रतिपादक है। 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के विद्वान लेखक डा० दीनदयालु गुप्त जन श्रुति के आधार पर बतलाते हैं कि वारकरी सम्प्रदाय जिसमे ज्ञानेश्वर, नामदेव इत्यादि भक्त हुए हैं वे, तथा महाराष्ट्र मे जिसे भागवत धर्म कहा जाता है वह विष्णु स्वामी मत का ही रूपान्तर है।[2]

'वारकरी सम्प्रदाय' के लेखक तथा ज्ञानेश्वरी के उद्भट विद्वान आचार्य दा० रा० दाडेकर इस मत को कही भी विवेचित करते हुए नही दिखाई देते तथा 'महाराष्ट्रातील पाँच सम्प्रदाय' के लेखक श्री प० रा० मोकाशी भी अपने 'वारकरी सम्प्रदाय' के विवेचन मे इस मत को मानते हुए नही दिखाई देते। कही भी उन्होंने इस जनश्रुति की पुष्टि नही की। तात्पर्य यह है कि नाभादास का छप्पय केवल जनश्रुति के श्रद्धाबल पर आधारित है सत्य पर नही। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ज्ञानेश्वर ने जो भक्ति का प्रतिपादन किया वह, वैष्णवाचार्यों के मतो का सम्स्कार ही है।

डा० भाडारकर अपने 'वैष्णव शैव और अन्य सम्प्रदाय' मे ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि विष्णु स्वामी के ही वेदात मत का अनुसरण वल्लभाचार्य ने किया। अपने इस मत के पुष्ट्यर्थ वे श्री निवासाचार्य के द्वारा रचयित 'सकलाचार्य मत सग्रह' का आधार देते हैं। इस ग्रन्थ को किस प्रकार प्रामाणिक माना जाय इस विषय पर वे मौन हैं। अपने प्रतिपादन मे डा० भाडारकर महोदय विष्णु स्वामी के

---

१. नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ४८।
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ४२।

'बृहदारण्यक उपनिषद' (१-४-३), तथा 'मुण्डकोपनिषद' (२-१) के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का उल्लेख नही करते ।[१]

इस मत के प्रवर्तक यद्यपि श्री वल्लभाचार्य समझे जाते हैं और उन्होने अपने ग्रन्थो मे बडी विनम्रतापूर्वक यह निर्देश किया है कि उनका यह दार्शनिक मत आमूलाग्र नूतन मत होते हुए विष्णु स्वामी और अन्य आचार्यों से सचालित है जो कि आठवी शताब्दी मे हो गये हैं ।[२]

विष्णु स्वामी को वल्लभाचार्य के ही मत का पूर्ववर्ती आचार्य मानने के सबध मे स्वय सम्प्रदायियों में भी मतभेद जान पडता है। 'सप्रदाय प्रदीप' के रचयिता गदाधर जैसे पुष्टि मार्ग के अनुयायी उक्त दोनो आचार्यों के सबन्ध को स्वीकार करते हैं, तो गोपालदास जैसे वल्लभाचार्य के चरित्र लेखक इस बात की कोई चर्चा तक नहीं करते हैं ।[३] पता चलता है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट सभवत विष्णु स्वामी सप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण पुत्र का अपने पिता के मत का अपनी पूर्वावस्था मे अनुवर्ती हो जाना और पीछे निजी मत निश्चित कर लेना असभव तथा आश्चर्य जनक नहीं हो सकता ।[४]

वास्तव मे विष्णु स्वामी रामानुजाचार्य, निम्बार्क एवम् मध्वाचार्य इन तीनो से पहले ईसा की १० वी शताब्दी मे हुए थे ।[५] विद्वानो मे उनके सम्बन्ध मे मतभेद विद्यमान है और इस पर अभी अंतिम निर्णय नही हो पाया है, और अब तक की इस विषय की धारणायें जो भी बन गयी है वे अधिकांश रूप मे सत्य से अभी दूर हैं ।[६]

डा० फर्कुहर विष्णु स्वामी के सप्रदायानुवर्ती मठो का उल्लेख दो स्थानों पर है ऐसा करते हैं। एक मठ काकरोली मे है तथा दूसरा कामवन मे है। इनका भी पूरा विवरण उपलब्ध नही है ।[७]

---

१. वै. शै., पृ० १०९-१०—डा० भाडारकर ।

२ संप्रदायप्रदीप—पृ० १४-३० ।

३. विष्णुस्वामी सप्रदाय और वल्लभाचार्य—जगदीश गुप्त, हिन्दी अनुशीलन, ३-४ प्रयाग—पृ० २३ ।

४. वैष्णव धर्मनो इतिहास—शास्त्री, पृ० २४२ ।

५. बड़ौदा ओरिएन्टल कान्फरेन्स की रिपोर्ट, पृ० ४५१-४५२ ।

६ वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६० ।

७. एन आउट लाइन आफ दि रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ० ४० —डा० फर्कुहर ।

निष्कर्ष—

सचमुच विष्णु स्वामी कब हुए तथा अनेक विष्णु स्वामियों में से वल्लभ सम्प्रदाय जिस विष्णु-स्वामी के मत का अनुसरण करता है वे कौन से हैं यह कहना बड़ा कठिन है। फिर भी विष्णु स्वामी संप्रदाय कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस संप्रदाय ने न्यूनाधिक रूप में उनके पीछे आने वाले कई व्यक्तियों और सम्प्रदायों को प्रभावित किया है, इतना तो निश्चित माना जा सकता है। विष्णु-स्वामी के द्वारा लिखित कई ग्रन्थों के नाम गिनाये जाते हैं। कहते हैं फर्कुहर को ऐसी कई रचनाओं के नाम प्राप्त हुए थे। इन सब में केवल एक 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक रचना प्रमाण-स्वरूप मानी गई है। श्रीधर ने अपनी टीकाओं में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह उन्हीं की रचना होगी। विष्णु-स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और वे अपनी ह्लादिनी, संवित् के द्वारा आश्लिष्ट हैं, और माया ईश्वराधीन है। यही ईश्वर सत्-चित-नित्य, निजाचित्य और पूर्णानन्द-मय विग्रहधारी नृसिंह भी हैं। नृसिंहावतार भगवान् विष्णु स्वामी के इष्टदेव जान पड़ते हैं। उनकी गोपालोपासना संभवतः बाद में आरंभ हुई थी। 'नृसिंह पूर्णतापनी' उपनिषद का टीकाकार और प्रवचसार का रचयिता भी इनको माना जाता है। नृसिंह भगवान् की उपासना गोपालोपासना के साथ-साथ शाङ्कर मत के कई पीठों में दिखाई देती है। अतएव कहा जाता है कि विष्णु स्वामी भी पहले शायद शङ्कराद्वैती रहे हों। जीव को विष्णु स्वामी 'स्वाविद्या संवृत' अर्थात् क्लेशों का घर मानते हैं। वह स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है तथा आप ही दुःख भी भोगा करता है, इसलिए ईश्वर एवं जीव में परस्पर भेद है। इस प्रकार से विष्णु स्वामी द्वैती भी सिद्ध होते हैं। अपने सिद्धान्तों से इन्होंने अनेकों को प्रभावित किया। सन्तों के जीवन विषयक प्रश्न आधार न मिलने के कारण जब अधूरे एवम् समस्यापूर्ण बन जाते हैं, तब उनके दार्शनिक आचार्यों में से कुछ आचार्यों के बारे में भी इस प्रकार समस्या निर्माण हो जाय तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

श्री वल्लभाचार्यजी का पुष्टि मार्ग—

विक्रम की १६ वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर श्री वल्लभाचार्य बैठे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए इन्होंने विष्णु स्वामी से प्रेरणा ग्रहण की तथा भगवद् अनुग्रह द्वारा—पुष्टि द्वारा प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की। हिन्दी व्रजभाषा के अष्टछाप कवि इसी सम्प्रदाय के भक्त थे। इनके उपास्य गोपी-वल्लभ तथा राधावल्लभ कृष्ण हैं। प्रमुख साम्प्रदायिक ग्रन्थ श्रीमद्

'बृहदारण्यक उपनिषद' (१-४-३), तथा 'मुण्डकोपनिषद' (२-१) के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं करते।[१]

इस मत के प्रवर्तक यद्यपि श्री वल्लभाचार्य समझे जाते हैं और उन्होंने अपने ग्रन्थों में बड़ी विनम्रतापूर्वक यह निर्देश किया है कि उनका यह दार्शनिक मत आमूलाग्र नूतन मत होते हुए विष्णु स्वामी और अन्य आचार्यों से मचालित है जो कि आठवीं शताब्दी में हो गये हैं।[२]

विष्णु स्वामी को वल्लभाचार्य के ही मत का पूर्ववर्ती आचार्य मानने के सबंध में स्वयं सम्प्रदायियों में भी मतभेद जान पड़ता है। 'सम्प्रदाय प्रदीप' के रचयिता गदाधर जैसे पुष्टि मार्ग के अनुयायी उक्त दोनों आचार्यों के संबन्ध को स्वीकार करते हैं, तो गोपालदास जैसे वल्लभाचार्य के चरित्र लेखक इस बात की कोई चर्चा तक नहीं करते हैं।[३] पता चलता है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट संभवतः विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण पुत्र का अपने पिता के मत का अपनी पूर्वावस्था में अनुवर्ती हो जाना और पीछे निजी मत निश्चित कर लेना असंभव तथा आश्चर्य जनक नहीं हो सकता।[४]

वास्तव में विष्णु स्वामी रामानुजाचार्य, निम्बार्क एवम् मध्वाचार्य इन तीनों से पहले ईसा की १० वीं शताब्दी में हुए थे।[५] विद्वानों में उनके सम्बन्ध में मतभेद विद्यमान है और इस पर अभी अंतिम निर्णय नहीं हो पाया है, और अब तक की इस विषय की धारणायें जो भी बन गयी हैं वे अधिकांश रूप में सत्य से अभी दूर हैं।[६]

डा० फर्कुहर विष्णु स्वामी के संप्रदायानुवर्ती मठों का उल्लेख दो स्थानों पर है ऐसा करते हैं। एक मठ काकरोली में है तथा दूसरा कामबन में है। इनका भी पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है।[७]

१. वै. शै., पृ० १०६-१०—डा० भाण्डारकर।

२. संप्रदायप्रदीप—पृ० १४-३०।

३ विष्णुस्वामी संप्रदाय और वल्लभाचार्य—जगदीश गुप्त, हिन्दी अनुशीलन, ३-४ प्रयाग—पृ० २३।

४. वैष्णव धर्मनो इतिहास—शास्त्री, पृ० २४२।

५. बड़ोदा ओरिएन्टल कान्फरेन्स की रिपोर्ट, पृ० ४५१-४५२।

६. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६०।

७. एन आउट लाइन आफ दि रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ० ४० —डा० फर्कुहर।

निष्कर्ष—

सचमुच विष्णु स्वामी कब हुए तथा अनेक विष्णु स्वामियो मे से वल्लभ सम्प्रदाय जिस विष्णु-स्वामी के मत का अनुसरण करता है वे कौन से हैं यह कहना बडा कठिन है। फिर भी विष्णु स्वामी सप्रदाय कम महत्वपूर्ण नही है। इस सम्प्रदाय ने न्यूनाधिक रूप मे उनके पीछे आने वाले कई व्यक्तियों और सम्प्रदायो को प्रभावित किया है, इतना तो निश्चित माना जा सकता है। विष्णु-स्वामी के द्वारा लिखित कई ग्रन्थो के नाम गिनाये जाते हैं। कहते है फर्कुहर को ऐसी कई रचनाओ के नाम प्राप्त हुए थे। इन सब मे केवल एक 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक रचना प्रमाण-स्वरूप मानी गई है। श्रीधर ने अपनी टीकाओ मे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह उन्ही की रचना होगी। विष्णु-स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और वे अपनी ह्लादिनी, सविन् के द्वारा आश्लिष्ट है, और माया ईश्वराधीन है। यही ईश्वर सत्-चित-नित्य, निजाचित्य और पूर्णानन्द-मय विग्रहधारी नृसिंह भी हैं। नृसिंहावतार भगवान् विष्णु स्वामी के इष्टदेव जान पडते हैं। उनकी गोपालोपासना सभवत बाद मे आरभ हुई थी। 'नृसिंह पूर्णतापनी' उपनिषद का टीकाकार और प्रपचसार का रचयिता भी इनको माना जाता है। नृसिंह भगवान् की उपासना गोपालोपासना के साथ-साथ शाङ्कर मत के कई पीठो मे दिखाई देती है। अतएव कहा जाता है कि विष्णु स्वामी भी पहले शायद शाङ्कराद्वैती रहे हो। जीव को विष्णु स्वामी 'स्वाविद्या सवृत' अर्थात् क्लेशो का घर मानते हैं। वह स्वय आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है तथा आप ही दुःख भी भोगा करता है, इसलिए ईश्वर एव जीव मे परस्पर भेद है। इस प्रकार से विष्णु स्वामी द्वैती भी सिद्ध होते हैं। अपने सिद्धान्तो से इन्होने अनेको को प्रभावित किया। सतो के जीवन विषयक प्रश्न आधार न मिलने के कारण जब अधूरे एवम् समस्यापूर्ण बन जाते हैं, तब उनके दार्शनिक आचार्यो मे से कुछ आचार्यो के बारे मे भी इस प्रकार समस्या निर्माण हो जाय तो उसमे आश्चर्य की कोई बात नही है।

श्री वल्लभाचार्यजी का पुष्टि मार्ग—

विक्रम की १६ वी शताब्दी मे विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर श्री वल्लभाचार्य बैठे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के लिए इन्होंने विष्णु स्वामी से प्रेरणा ग्रहण की तथा भगवद् अनुग्रह द्वारा—पुष्टि द्वारा प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की। हिन्दी ब्रजभाषा के अष्टछाप कवि इसी सम्प्रदाय के भक्त थे। इनके उपास्य गोपी-वल्लभ तथा राधावल्लभ कृष्ण हैं। प्रमुख साम्प्रदायिक ग्रन्थ श्रीमद्

भागवत् है। पहले ही निर्देश आ चुका है कि वल्लभाचार्यजी के पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था। ये दक्षिण के तैलंगी ब्राह्मण थे और कृष्ण के परमभक्त। ये तीर्थ यात्रा के निमित्त काशी में आकर ठहरे ही हुए थे कि इतने में सुना कि काशी पर मुसलमानों का आक्रमण होने वाला है। इस कारण उन्हें भाग कर चपारण्य जाना पड़ा। रास्ते में ही वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३५ (सन १४७८) विक्रमी के वैशाख मास में हुआ। उपद्रव के समाप्त हो जाने पर लक्ष्मण भट्ट अपने नवजात शिशु के साथ हनुमानघाट पर आकर रहने लगे। बचपन से ही कुशाग्र और प्रखर प्रतिभावान होने से १३ वर्ष की उम्र में ही वेद, वेदांग, पुराण आदि ग्रन्थ इन्होंने पढ़ लिये। अपने पिता के गोलोकवासी हो जाने पर वे दक्षिण भारत में विजयनगर में अपने मामा के यहाँ गए और लौटते समय उनके शिष्य बन गए। 'कृष्णदास मेघन' नामक क्षत्रिय इनका सेवक बन गया। विजयानगराधीश के दरबार में द्वैत मत के आचार्य व्यास तीर्थ की अध्यक्षता में अद्वैतवादियों को परास्त किया तब इनका कनकाभिषेक हुआ था। इनके रचे ग्रन्थ ये हैं—अणुभाष्य, तत्वदीप निबंध, श्रीमद्भागवत सुबोधिनी, भागवत सूक्ष्म टीका, पूर्व मीमांसा भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्त मुक्तावली आदि।

वल्लभाचार्य ने भारत वर्ष की कई यात्रायें की। उज्जैन, वृन्दावन, काशी तथा अडैल (प्रयाग) आदि स्थानों में इनका संचार रहता था। इनके द्वारा गोवर्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथजी के रूप में गोपालकृष्ण का प्राकट्य हुआ। जिस स्थान का भगवान् ने उनको संकेत स्वप्न में दिया था, उसी स्थान पर श्रीनाथजी की स्थापना की गई, और पूजन विधियों की व्यवस्था प्रचार आदि की स्थापना की। कुम्भनदास को यहीं पर अपना शिष्य बना लिया। एक बार दक्षिण यात्रा में पंढरपुर भी गए और विट्ठल को देखकर प्रभावित भी हुए। वहीं पर प्रेरणा मिलने पर काशी में आकर अपना विवाह किया। बीच में अनेक शिष्यों को प्रबोधन देकर अनेक मन्दिरों में उनको सेवा में लगाया। पुन. विवाह के बाद यात्रा के लिए चल पड़े। इस समय अरकैं-पूर (अडैल) को अपना निवास स्थान ही बना लिया। एक बार अडैल से व्रज को गए। आगरे से मथुरा जाने वाली सडक पर गऊ घाट स्थान पर रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण सूरदास को अपने संप्रदाय की दीक्षा दी। वहाँ से गोकुल होते हुए गोवर्धन पहुँचे। यहाँ पर कृष्णदास को अपनी शरण में ले लिया। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्यजी की घनिष्ट मित्रता थी। इनके पिता ने १०० सोमयज्ञ पूर्ण कर लिए थे। जिन कुल में ये यज्ञ पूर्ण हो जाते हैं उसमें भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं ऐसा प्रचलित विश्वास है। इस हिसाब से वल्लभाचार्य को स्वयम् भगवान् का अवतार

भी माना जाता है। राजनैतिक पुरुषो पर भी इनका बहुत प्रभाव बताया जाता है। *वल्लभाचार्य की मन्त्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्लीपति बादशाह सिकंदरलोदी* इतना प्रभावित हुआ कि उसने वैष्णव सम्प्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुल्म न करने की मनादी करवा दी थी।

इनके दो पुत्र हुए एक श्री गोपीनाथ आचार्य और दूसरे श्री विट्ठलनाथ-आचार्य। श्री गोपीनाथ आचार्य ने गुजरात मे वल्लभ (पुष्टि) सप्रदाय का विशेष प्रचार किया। इनके एक पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी उनके ही जीवन काल मे गोलोकवासी हुए। स० १५९५ मे श्री गोपीनाथ का भी देहान्त हो गया। बाद मे आचार्य पद पर श्री विट्ठलनाथ आचार्य हुए। वल्लभ सप्रदाय के वैभव को इन्होने बहुत बढाया। इनका भी बाल जीवन काशी, चुनार तथा अडैल मे बीता, तथा शिक्षा-दीक्षा भी यही पर हुई। *अकबर से इनकी गाढी मित्रता थी। राजा बीरबल तथा टोडरमल* भी इनके मित्र थे। इनके प्रभाव के वशीभूत होकर गोकुल की भूमि तथा गोवर्धन की भूमि बादशाह अकबर ने इन्हे भेंट की। ब्रज मडल मे गाय चराने के करो से माफी दी थी। इस विषय मे दो *शाही फरमान आज भी मिलते हैं।* पुष्टि सप्रदाय की दृष्टि, विस्तार तथा व्यवस्था का श्रेय उनको ही दिया जाता है। वल्लभाचार्य के ग्रन्थों के गूढ रहस्यो को इन्होने समझाया तथा नये ग्रन्थों का निर्माण भी किया। अणुभाष्य के अन्तिम डेढ अध्यायो की पूर्ति भी इन्होंने की है। विद्वन्मण्डन, भक्तिहस, *भक्ति निर्णय, निबध-प्रकाश-टीका, सुबोधिनी, टिप्पणी,* और *शृङ्गार-रस-*मडन, आदि इनके ग्रन्थ हैं। इन्होने गुजरात की यात्रा तथा भ्रमण कर वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा पद्धति का व्यवस्थित रूप स्थापित किया। इनके सात पुत्र थे जिनकी *सात गद्दियाँ क्रमश कोटा, नाथद्वारा,* काकरोली, गोकुल, *कामवन तथा* सूरत मे है। भगवान् के सात स्वरूपों के मुख्य आचार्य ये सात पुत्र ही थे क्रमश वे स्वरूप इस प्रकार है—

क्रम	पुत्र	स्वरूप	गद्दी का स्थान
१	गिरधरजी	श्री मथुरेशजी	कोटा
२	गोविंदरायजी	श्री विट्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३	बालकृष्णजी	श्री द्वारिकाधीशजी	कांकरोली
४	श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलनाथजी	गोकुल
५	श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचद्रमाजी	कामवन
६	यदुनाथजी	श्री बालकृष्णजी	सूरत
७	धनश्यामजी	श्री मदनमोहनजी	कामवन

गुजरात में वैष्णव धर्म का वैभवपूर्ण विस्तार करने का श्रेय गुसाईं विट्ठलनाथजी को ही है। वल्लभाचार्य के इस शुद्धाद्वैत तथा पुष्टि मार्ग का प्रचार व्रजमण्डल, राजपूताना तथा गुजरात में सब से अधिक हुआ। वल्लभाचार्यजी का गोलोकवास संवत १५८७ में हुआ। इनके बारे में विशेष विवरण देना अनुपयुक्त होगा। गोसाईं विठ्ठलनाथ के भी अनेक भक्त हुए। इस सम्प्रदाय की दो सौ बावन वैष्णव वार्ताऐं प्रसिद्ध हैं। अष्टछाप की स्थापना विठ्ठलनाथजी ने अपने चार सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि और अपने पिता के चार सर्वश्रेष्ठ भक्त कवियों को मिलाकर की। ये अष्टसखा थे तथा इनकी 'अष्टसखानकी वार्ता' प्रसिद्ध है। हिन्दी का उज्ज्वल साहित्य इन्हीं अष्टछापी कवियों और भक्तों के द्वारा निर्मित हुआ। ये उच्च कोटि के कवि तथा सर्गीतज्ञ थे।[१] इस विषय में डा० दीनदयालु गुप्त, डा० धीरेन्द्र-वर्मा, श्री प्रभुदयालजी मीतल और डा० भगवानदास तिवारी की पुस्तकें द्रष्टव्य हैं।[२]

सूरदास का विवेचन करते समय अन्य अष्टछापी कवियों का भी विचार करेंगे। यहाँ पर केवल अष्टछापी भक्त कवियों के नाम दिये जाते हैं—(१) सूरदास, (२) परमानन्ददास, (३) कुंभनदास, (४) कृष्णदास, (५) नन्ददास, (६) चतुर्भुजदास, (७) गोविंदस्वामी, (८) छीत स्वामी या छीतदास।

वल्लभ सम्प्रदाय के शुद्धाद्वैत एवम् पुष्टि मार्ग का दार्शनिक स्वरूप—

स्नेह, आसक्ति और प्रीति के बल भगवान को दुलराने तथा अपनाने का कार्य वल्लभ-सम्प्रदाय ने किया। रामानुज से वैष्णवी साधना को सरल बनाने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी उसे वल्लभाचार्य की साधना में आकर अपनी चरम पूर्णता प्राप्त हो गई। वल्लभाचार्य ने भक्त के लिए केवल आत्मसमर्पण ही मुख्य शर्त रखी जो भगवान् को अपना सकती है। दूसरी विशेषता यह है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में मनुष्य के हृदय की रागात्मिका प्रवृत्तियों को भगवान की प्राप्ति में माध्यम बना लेना। इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन में दो भावनाएं प्रमुख होती हैं।

(१) प्रेम और (२) वात्सल्य। वल्लभाचार्य ने भगवान् के इन दोनों रूपों अर्थात् 'स्वामी' और 'शिशु' को ही आराध्य बताया। भगवान् की मधुर लीलाएँ गाना ही इस सम्प्रदाय का ध्येय बनकर जनता में इसका सर्वत्र प्रचार बढ़ा। तात्विक दृष्टि से इस मार्ग को शुद्धाद्वैत सिद्धात-वादी मार्ग कहते हैं—

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त।
२. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा, तथा अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, महाकवि नंददास प्रणीत भँवरगीत—डा० भगवानदास तिवारी।

माया सम्बन्धराहित्यं शुद्ध इत्युच्यते बुधैः।
कार्य कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥[1]

यहाँ 'शुद्ध' का अर्थ है—माया के सम्बन्ध से रहित। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और कार्य है। माया-सबलित् ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है। इसे ब्रह्मवादी इसलिये कहा जाता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यह संसार ब्रह्मरूप तथा जीव भी ब्रह्म रूप-अर्थात् दोनों सत्य हैं। जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। दूध का दही यह सविकारी परिणाम है। इसलिए जीवों के लिए पुष्टिमार्ग उचित है। 'पोषणं तदनुग्रहः' का अर्थ है, पात्रता और अधिकार से ईश्वर का अनुग्रह, कृपा, या पुष्टि प्राप्त करना। श्री वल्लभाचार्य अपने पुष्टि मर्यादा भेद में तीन मार्गों का समर्थन करते हैं—(१) मर्यादा-मार्ग, (२) प्रवाह-मार्ग तथा (३) पुष्टिमार्ग।

(१) मर्यादा मार्ग—इसमें वेद शास्त्रों के अनुसार एवम् प्रदर्शित मार्ग पर चलना। इसमें लोकसंग्रह और लोकरक्षा के भाव लगे रहते हैं।

(२) प्रवाह मार्ग—इसमें संसार के साथ चलकर प्रवृत्ति परक साधनों के सम्पादन का कार्य करना पड़ता है। इस मार्ग में जाने वालों को संसार यातना से छुटकारा नहीं है। लौकिक काम्य कर्मों का अन्त नहीं है। प्रवाह मार्गीय संसार-चक्र के साथ भ्रमण करते रहते हैं।

(३) पुष्टिमार्ग—यह मार्ग भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है। इसमें मुख्य साध्य भक्तों का भगवान् की कृपा द्वारा भगवद् प्रेम प्राप्त करना है। यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। पुष्टि मार्गीय जीव दो प्रकार के होते हैं। शुद्ध और मिश्र। पुष्टिमार्गीय जीवों के भी तीन प्रकार हैं—(१) प्रवाही-पुष्ट-भक्त, (२) मर्यादा-पुष्ट-भक्त, (३) पुष्टि-पुष्ट-भक्त।

भगवान् के अनुग्रह का जरा सा आधार और आश्रय लेकर जो साधक प्रवाह मार्ग पर चलते हैं, तथा धर्म में प्रीति रखते हैं, वे प्रवाही-पुष्ट-भक्त हैं। भगवत अनुग्रह के आसरे से अपनी मर्यादा के अनुसार भगवान् के गुणों को समझते हुए कर्म करते हैं वे मर्यादा-पुष्ट-भक्त हैं। जो केवल भगवान् के अनुग्रह का ही अवलंब लेते हैं वे पुष्टि-पुष्ट-भक्त हैं। जो भक्त भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त प्रेम से

---

१. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—श्री गिरधरजी।
विशेष द्रष्टव्य—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड और उसकी आलोक रश्मि—डा० भगवानदास-तिवारी का लेख-राष्ट्रवाणी, पूना, वर्ष २०, अङ्क ३, सितम्बर १९६६,
पृ० ८५ से ८८ तक।

शुद्ध हो गये हैं वे शुद्ध-पुष्ट-भक्त हैं। भगवान् के अनुग्रह प्राप्त एवम् सम्पन्न किये बिना पुष्टि मार्ग साध्य नहीं है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। स्नेहपूर्वक भगवान् की सेवा तथा प्रभु कृपा अथवा पुष्टिजन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय में मुख्य वस्तु मानी गयी है। मोक्ष-सुख की अवस्था भी भगवान् की कृपा से ही मिलती है। जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम, मनजा, तनुजा, भयभावों, और साधन मूलक सम्पत्ति आदि का अभाव हो श्रीकृष्ण स्वरूप की प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है उसे 'पुष्टि मार्ग' कहते हैं। जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् की अनुग्रह प्राप्ति हो, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल-रूप-सम्बन्ध बनते हैं, जहाँ भगवान् की विरह अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से सद्योगावस्था, के सुख का अनुभव होता है, तथा जिस मार्ग में सर्व भावों में लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है अथवा होता है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

इस मत में ब्रह्म माया से अलिप्त, माया सम्बन्ध से विरहित माना गया है इसलिये नितांत शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण है यह हम पूर्व में ही कह आये हैं। वल्लभाचार्य की दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण तथा सगुण एक ही समय में रहता है। वह 'अणोरणीयान महतोमहीयान' भी है। वह कर्तुम् अकर्तुम् तथा अन्य थाकर्तुम् और सर्व भाव धारण में समर्थ है। अविकृत होने पर भी भक्तों पर कृपा के द्वारा परिणामशील होता है। इस ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार है[1]—

> निर्दोष-पूर्णगुण विग्रह आत्मतंत्रो
> निश्चेत तात्मक शरीर गुणैश्चहीना।
> आनन्द मात्र कर पाद मुखोदरादि
> सर्वत्र च त्रिविध भेद-विवर्जितात्मा॥

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। जब वह अनन्त शक्तियों से अपनी आत्मा में रमण किया करता है, तब आत्माराम कहलाता है। बाह्यरमण की इच्छा से अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करने पर वह पुरुषोत्तम कहलाता है। वह आनन्दमय, अगणितानन्द तथा परमानन्द स्वरूप है। गीता में बताये गये पुरुषोत्तम का रूप इस प्रकार है[2]—

> 'यस्मात् क्षरमतीतो हम क्षरादपि चोत्तमः।
> अतोस्मि लोके वेदेच प्रथित पुरुषोत्तम॥

१. तत्वदीपनिबंध।
२. गीता, १५-१८।

वल्लभाचार्य गीता के द्वारा वर्णित परात्पर पुरुष को 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ 'व्यापी वैकुण्ठ' मे नित्य लीला किया करते हैं। गोलोक इसी वैकुण्ठ का एक अङ्ग मात्र है। भगवान् की शक्तियाँ इसके अधीन रहती हैं। इनमे श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ता आदि बारह प्रमुख हैं। क्रीडा के बहाने अपनी समस्त शक्तियो और परिवार सहित लीला-परिकर का वैकुण्ठ, गोकुल के रूप मे भूतल मे अवतीर्ण होता है। चन्द्रावली-राधा, यमुना आदि के रूप मे ये शक्तियाँ तथा श्रुतियाँ भी गोपियो के रूप मे अवतीर्ण होती हैं। सूर ने भगवान् के – 'निसदिन विहार' करने की बात इसीलिये लिखी है[१]—

जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुंज लतो विस्तार।
तहां विहरत प्रिय-प्रियतम दोऊ निगम भृङ्ग गुंजार॥
रतन जडित कालिन्दी के तट अति पुनीत जहँ नीर।
सूरस हँस – चकोर – मोर खग कूजत कोकिल तीर॥
जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कन्दरा सार।
गोपिन मंडन मध्य विराजत निस दिन करत विहार॥

ब्रह्म के इस तरह तीन प्रकार हैं। (१) आधि-भौतिक=जगत्-ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक=अक्षर-ब्रह्म, (३) आधि दैविक=परब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम। अक्षर-ब्रह्म मे आनन्द अंश किंचित् मात्रा मे तिरोहित रहता है। परब्रह्म मे वह सर्वथा परिपूर्ण रहता है।

जीव भगवान् की इच्छा से प्रकट होता है। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्री के तिरोधान से आपत्ति का पात्र तथा ज्ञान के तिरोधान से जीव देहात्म बुद्धि का पात्र बन जाता है। जीव शुद्ध मुक्त तथा संसारी होता है। निर्गमन के समय आनन्द अंश के तिरोधान मे अविद्या मे सम्बन्धित होकर संसारी जीव बन जाता है। उसके पूर्व वह शुद्ध जीव रहता है। आविर्भाव और तिरोभाव सिद्धान्त जगत् की उत्पत्ति, तथा विनाश के स्थान पर वल्लभाचार्य मानते हैं। जीव व ईश्वर की ही तरह जगत् भी नित्य है। भगवान् की रागानुगा भक्ति का आविर्भाव भगवान् के अनुग्रह के बिना असम्भव है। यह अनुग्रह पुष्टिमार्ग से प्राप्त है। भगवान् सेवा एकान्त निष्ठा तथा शुद्ध अनुराग से की जाय। यह सेवा तनुजा, वित्तजा तथा मानसी हुआ करती है। स्नेह, आसक्ति, तथा व्यसन केवल भगवान् के प्रति ही हो। भगवान् मे भक्त का स्नेह होने पर विषयों की विरक्ति हो

१. सूरसागर—ना. प्र. सभा संस्करण।

जाती है। भगवान् के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। लौकिक सम्बन्ध बाधक सिद्ध होते हैं। भगवान् में आसक्ति ही व्यसन बन जाता है और जीव की कृतकार्यता सम्पन्न हो जाती है। अन्य वैष्णव मतों की तरह प्रपत्ति या शरणागति भी पुष्टि मार्ग में उपादेय तत्त्व है। भक्ति में साधनों की अपेक्षा रहती है, परन्तु प्रपत्ति में साधनों की कोई गुंजाइश ही नहीं है। केवल भगवान् का ही इसमें स्वीकार है। उनका एकमात्र आश्रय ही प्रमुख है। पुष्टिमार्ग में भागवत के आधार पर सारे दार्शनिक सिद्धांत हैं। इस सम्प्रदाय में गृहस्थाश्रमी भी साम्प्रदायिक नियमों का पालन करते हैं। प्रधान मंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' और 'श्रीकृष्ण शरण मम' हैं। इन मन्त्रों का उपदेश गुरु से ग्रहण किया जाता है। गुरु-सेवा ही मोक्ष साधन है। आत्म निवेदन और शरणागति भगवान् की प्राप्ति में सहायक हैं। सायुज्य मुक्ति को इस सम्प्रदाय के लोग मानते हैं। ज्ञानियों के लिए तो यह विशेष आवश्यक है। पर भक्त के लिये स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि गोलोक में पुरुषोत्तम की लीला में प्रवेशकर सानन्द लाभ करना। इसी को सायुज्य मुक्ति कहते हैं। कलियुग में ज्ञान तथा योग कष्ट साध्य हैं और पुष्टि मार्ग सहज साध्य है।

अचिन्त्य भेदाभेद तथा महाप्रभु का गौड़ीय सम्प्रदाय—

चैतन्य महाप्रभु के नाम से इनकी प्रसिद्धि है, और ये वल्लभाचार्य के समकालीन थे। अपने समय कीर्तनों से सारे बंगाल को भक्ति से सराबोर करने वाले ये ही थे। इन्होंने नवद्वीप में जन्म ग्रहण कर वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए बहुत परिश्रम एवम् सराहनीय कार्य किया है। इनका समय सन १४८५–१५३३ ईसवी तक का माना जाता है। प्रथम नाम 'विश्वम्भर' था। आगे वे 'श्रीकृष्ण चैतन्य' कहलाए, तथा गोरे होने के कारण 'गौराङ्ग महाप्रभु' कहलाए। ये आगे चलकर श्रीकृष्ण के स्वरूप या अवतार माने गए हैं। प्रथम पत्नी लक्ष्मीदेवी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते समय इनका मुख्य कार्य गंभीर अध्ययन और अध्यापन ही था। पर लक्ष्मीदेवी के देहान्त हो जाने पर अपना दूसरा विवाह करने के बाद गया में अपने पितरों की श्राद्धक्रिया करने गए तो वहीं से इनमें भी परिवर्तन हो गया। विचार परिवर्तन के बाद कर्मकाण्ड की आलोचना की। मोक्ष के लिए केवल हरिनामस्मरण और कीर्तन को ही एकमात्र साधन बतलाकर वर्णव्यवस्था को भी तुच्छ समझने लगे। अपने सहयोगी नित्यानन्द, अद्वैताचार्य आदि के साथ घर में ही भजन कीर्तन में रत रहने लगे। किसी 'केशव भारती' नाम के सन्यासी से सन १५१० में इन्होंने ने सन्यास ले लिया। बङ्गाल की वैष्णव भक्ति स्वभावतः

चैतन्य के नाम से और उनकी उपासना पद्धति से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। यह स्मरण रहे कि इसके पूर्व ही जयदेव की काव्य सरस्वती ने भक्ति की माधुर्ययुक्त-सस्कृत-कोमल-कान्त-गीति पदावली से बङ्गाल मे माधुर्य भावना को विशेष प्रश्रय दे दिया था। चडीदास के गीत भी राधाकृष्ण की भक्ति को लेकर वैष्णव अनुरक्ति की भावना जनता मे भर रहे थे। चैतन्य के द्वारा इस भक्ति को एक विशिष्ट स्वरूप अवश्य प्रदान किया गया। इनकी इस भक्ति पद्धति मे कृष्ण भक्ति का सीधा तथा विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। उत्तर भारत मे माध्व, वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय वालो ने श्रीकृष्ण भक्ति को विशेष महत्व दिया और वैष्णवोपासना का यही मुख्य स्वरूप बन गया। इन तीनो के श्रीकृष्ण, भगवदगीता के श्रीकृष्ण से अलग थे। मुख्यत श्रीमद्भागवत मे वर्णित वृन्दावनवासी गोलोक के गोपालकृष्ण, गोपियो के प्रेमी वृन्दावन-विहारी मुरलीवादन करने वाले एवम् भक्ति के रहस्यात्मक स्वरूप के तथा नाना प्रकार की मनोभावनाओ और मनोदशाओ के एकमात्र आधार थे। परब्रह्म के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध अवश्य था। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति तथा उसकी प्रतिष्ठा बढाना और कृष्ण लीला की गरिमा प्रस्थापित करना ही प्रमुख ध्येय था। इसमे गोपियों का प्रेम, उनकी विरह दशाएँ, अपना सर्वस्व न्यौछावर करके आत्म समर्पण करने की भावना, गोपियो की अधीश्वरी का अपने प्रेमी कृष्ण से स्वच्छन्द रूप का प्रेम जीवात्मा का परमात्मा के मिलन की छटपटाहट का प्रतीक बनकर सामने रखा गया है। इन भक्तो ने उस नित्य लीला के लिए एक नित्य वृन्दावन की कल्पना कर ली है।

इस लीला मे नित्य रूप से कृष्ण के साथ राधा की कल्पना वैष्णव उपासना मे इनके समय मे आकर मिल गई। भागवत मे राधा का नाम नही मिलता। केवल किसी प्रिय गोपी का ही उल्लेख मिलता है, जिसके साथ कृष्ण सदा यत्रतत्र घूमते और खेलते रहे। वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य सम्प्रदाय के लोग राधा को कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति मानते हैं। यह नित्य कृष्ण की अलौकिक लीलाओ मे साथ देती है, तथा वे इस शक्ति का अवतार भी मान ली गयी हैं। पहाड़पुर मे मिली राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को देखकर यह अनुमान किया जाता है, कि बगाल के लोग कृष्ण के इस रूप को जानते थे। भोजवर्मा द्वारा खोदे गये लेख में कृष्ण को महाभारत का सूत्रधार तथा श्रीमद्भागवत का गोपी-मन-केलिकार कहा गया है। पाल राजा धर्मानुयायी होने पर भी विष्णु-उपासना के विरोधी नही थे। यह बात उस समय के विष्णु मन्दिरो से सिद्ध हो जाती है। गीत गोविन्दकार जयदेव सेनराजाओ के युग मे उत्पन्न हुए थे। सेन राजा

अपने को 'कर्णाट क्षत्रिय' कहते हैं। १४ वीं शती में चडीदास को श्रीकृष्ण कीर्तन में प्रेरणा जयदेव की कविता से ही मिली थी। चैतन्य वैष्णव गीत-गोविन्द को एक सौन्दर्य परिपूर्ण महाकाव्य ही नहीं मानते वरन् भक्ति-रस-शास्त्र का एक धार्मिक ग्रन्थ भी मानते हैं। चैतन्य के तीन सौ वर्षों पूर्व जयदेव की कविता का सृजन हुआ था। चैतन्य का भक्तिरसशास्त्र भी इस समय तक निर्माण नहीं हुआ था।[1]

जयदेव की कोमल प्रकृति ने शृङ्गार का आधार राधा-कृष्ण की चिरन्तन प्रेम-कथा को चुन लिया था और अपनी उज्ज्वल और असाधारण काव्य प्रतिभा से एक सुन्दर गीति-काव्य कोमलकान्त पदावली में सयुक्त भाषा में लिखा। इन्होंने अलौकिक कृष्ण तथा अलौकिक राधा को मानवी स्तर पर लाकर रख दिये हैं। चैतन्य ने भक्ति और शृंगार दोनों को मिलाकर एक अद्भुत भक्तिशास्त्र ढूंढ निकाला। अर्थात् इसका श्रेय सनातन तथा रूप गोस्वामी को ही दिया जायगा क्योंकि उन्होंने अपने मतवाद को एक शास्त्रीय तथा दार्शनिक एवम् सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत कर दिया। चैतन्य पर जयदेव की तरह विद्यापति के पदों का भी प्रभाव पड़ा था।

इस मत का सार प्रगट करनेवाला यह पद्य बहुत प्रसिद्ध है—

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचि दुपासना व्रजवधू वर्गेण या कल्पिता॥
शास्त्र भागवत प्रमाण ममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिद तत्रादरोन. परः॥

वृज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना साधकों के लिए प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है तथा प्रेम ही महान पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रसिद्ध पुरुषार्थों की तरह प्रेम को पचम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण किया गया है जो भागवतानुसार ही है।[2] श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्तिमान भगवान् परमतत्त्व है। वे अपने तीन विशिष्ट रूपों से विभिन्न लोकों में प्रकाशित होते हैं। इन रूपों के नाम यों हैं—(१) स्वय रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का स्वय रूप वह है जो स्वय आविर्भूत होता है तथा जो दूसरे पर आश्रित नहीं होता। तदेकात्म रूप वह है जिसमे भगवान् का रूप जो स्वरूप से तो अभिन्न रहता है परन्तु अग सन्निवेश तथा चरित्र से उससे भिन्न रहता है। आवेश रूप इन दो भेदों से सर्वथा भिन्न होता है।

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ ॲड मुव्हमेन्ट इन बॅगाल—सुशीलकुमार डे, पृ० १–२०।

२. लघुभागवतामृत, १–११।

ये महत्तम जीव आवेश कहे जाते हैं जिनमे ज्ञानशक्ति आदि की स्थिति मे भगवान् आविष्ट होते हैं। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं पर प्रमुख शक्तियाँ ये हैं— (१) संधिनी-भगवान् की स्वयं सत्ताधारण की स्थिति रहती है। (२) संवित-भगवान् की स्वयं चिदात्मा है अतः चेतनतावान होना इसी शक्ति से होता है। (३) ह्लादिनी—इस शक्ति मे भगवान् स्वयं आनन्दित रहकर दूसरो को भी आनन्दित कर देते हैं। ब्रह्म वैदूर्य मणि के समान है जो नाना रंग प्रदर्शित करने पर भी एक ही बनी रहती है। (४) तटस्थ शक्ति वह है जो कि परिछिन्न भाव, अणुत्व विशिष्ट जीवो के आविर्भाव से बनती है।

प्रथम तीनो शक्तियो का समुच्चय पराशक्ति भी कहलाता है। चैतन्य मत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते है, और उपादान कारण भी। जगत् ब्रह्म की बाह्य शक्ति का विकास है। प्रलयकाल मे वन मे छिपे हुए पक्षी की भाँति जगत् सूक्ष्म रूप मे भगवान् मे छिपा रहता है। अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् के साथ प्रपच न तो भिन्न प्रतीत होता है न अभिन्न।

साधन मार्ग—भगवान् को अपने वश करनेका मुख्य साधन भक्ति है। हरिनाम स्मरण और कीर्तन से भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति के दो प्रकार हैं—वैधी भक्ति तथा रुचि भक्ति या रागात्मिका भक्ति। वैधी भक्ति मे शास्त्र निर्दिष्ट उपायो का आलम्बन होता है। रागात्मिका भक्ति मे भक्त भगवान् को अपना पति मानता है। गोपियों का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली रागात्मिका भक्ति भी पचधा है। (१) शान्तरसमयी भक्ति—योगी तथा सनकादिक ऋषियो मे मिलती है। (२) दास्य भक्ति—हनुमान जैसे भक्तो मे पाई जाती है। (३) सख्य भक्ति—अर्जुन, श्रीदामा जैसों की है। (४) वात्सल्य भक्ति—नन्द व यशोदा के रूप मे मिलती है। (५) माधुर्य रसवाली भक्ति—दाम्पत्य भाव लिये हुए प्रीति मे हार्दिक ऊष्मा लिये हुए रहती है। इसमे परकीया भाव भी आता है। राधाभाव या महाभाव से भक्ति की इस उत्कर्षावस्था मे पहुँचा जा सकता है। इनके दार्शनिक विवेचन का मुख्य ग्रन्थ 'गोविन्द भाष्य' है। यह महाभावास्था प्रेम ही भक्ति की उच्चतम अवस्था है। इनमें कृष्ण और राधा के अभेद भाव का निर्माण हो जाता है। माधुर्य भाव भी तीन प्रकार का है- (क) साधारणी-रति, (ख) समजसा-रति, (ग) समर्था-रति।

(क) साधारणी रति—उपासक या भक्त अपने आनंद के लिये भगवान् की सेवा या प्रीति से प्राप्त करता है जैसे कुब्जा।

(ख) समजसा रति मे कर्तव्य बुद्धि से ही प्रेम का विधान होता है जैसे—रुक्मिणी, जाबवती आदि पटरानियाँ।

(ग) समर्यारति में स्वार्थ की तनिक भी गंध नहीं रहती। शास्त्र का उल्लंघन करने में सकोच नहीं होता इसमें उपासक या भक्त का लक्ष्य है भगवान् का आनन्द, दृष्टान्त—गोपिकाएँ। रस साधना की प्रेम लक्षणा भक्ति ही चैतन्य मत की विशेषता है। माधुर्य भाव की परम उपासिका मीरा पर इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा है। तथा सूर पर भी इसकी छाप पड़ी हुई है। गोपी भाव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर राधा भाव या महाभाव बन जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय के सन्तों ने ब्रजमण्डल का उद्धार किया।

हिन्दी क्षेत्र के कुछ अन्य वैष्णव सम्प्रदाय :

राम भक्ति में रसिक साधना का सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त अग्रदासजी हैं। इनके रसिक शिष्य नाभादासजी थे। इस सम्प्रदाय के कई नाम हैं, यथा—रसिक सम्प्रदाय, जानकी-वल्लभ सम्प्रदाय, सिया-सम्प्रदाय और जानकी-सम्प्रदाय। इसके साधक रसमयी लीलाओं का अध्ययन करते हैं और भवरग सेवा पर आश्रित हैं। 'रसिक भक्तमाल' नामक ग्रन्थ महात्मा जीवाराम ने लिखा है। ये 'युगल प्रिया' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य जानकी रसिक शरण ने इस पुस्तक पर 'रसिक प्रबोधिनी' टीका लिखी है। रसिक सम्प्रदाय की प्रधान प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए इसमें उपादेय सामग्री मिलती है। इस विषय का अधिकांश साहित्य हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित है। इस सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० भगवतीसिंह का 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' तथा डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' ये दो ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

साम्प्रदायिक रूप में रामभक्ति की इस रसिक शाखा के आचार्य अग्रदासजी माने जाते हैं। इनका नाम 'अग्रअली' भी प्रसिद्ध है। शठकोप में रामोपासना के इस रूप का आभास मिलता है। रामायत सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति का उत्कर्ष तुलसीदासजी समकालीन रामकाव्य-धारा में प्रारम्भ हो गया था। 'युगल सरकार' अर्थात् सीता राम की मधुर लीलाओं के ध्याता और गायक, रसिक तथा भावुक नाम से रसिकों को पहिचाना जाता है। समूचे रामसाहित्य में से परिणाम की दृष्टि से ३/४ अंश इस प्रकार के साहित्य का है।

रामोपासना की रसिक भावना से की जाने वाली साधना का स्वरूप संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

सीताजी राम की रसरूपा शक्ति हैं या भगवान् राम की अपृथक् चिदाशक्ति हैं। सीता की सखियाँ उनकी अगजा अथवा अयोद्भवा मानी जाती हैं। ब्रह्म का

स्वरूप 'रमोवैस.' जैसा है। रामचन्द्रजी ही परब्रह्म हैं। पंच भावो से अर्थात् शान्त, सख्य, वात्सल्य, दास्य और माधुर्य भाव से भगवान् के सगुण रूप के प्रेमी मात्र रसिक भक्त हैं।

आचार्य अग्रदास अपनी 'ध्यान मजरी' में यह बतलाते हैं—

अमल अमृत रसधार रसिक जन यहि रस पागे।
तेहि को नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे॥
यह दपति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहि आवैं॥

—ध्यान मंजरी–अग्रदास।

रसिक रसके एकनिष्ठ भोक्ता है। ये रसिक रामभक्त पचभावोपासक साधना मानकर अष्टयाम भावना मे भक्ति के पाचो रसो के अनुकूल सेवाओ का रूप अपनाते हैं। अपनी अन्तर्गत रुचि के अनुकूल पच भक्ति रसो मे से साधना चुनकर उसका आश्रय लेते हैं। माधुर्य रति ऐश्वर्य और शृङ्गार के माध्यम से ही हो सकती है। इसमें व्यक्तिगत भाव-साधना के साथ लोकधर्म को भी स्थान है। वैधी और प्रेमा भक्ति को ऐश्वर्याशय तथा माधुर्याशय की सज्ञा दी गयी है। उपास्य से पारिवारिक सम्बन्ध प्रस्थापित कर वैसा स्वरूप-साक्षात्कार किया जाता है। 'युगल-सरकार' के उपासक सखी भाव से अपने को निमि वशीय कुमारियो से अभिन्न मानते हैं। स्वामी से सम्बन्ध सीता के माध्यम से होता है। अत. सीता से पृथक इनका कोई अस्तित्व नहीं है। लौकिक बुद्धिवालो के लिए माधुर्य भाव की रामभक्ति एवम् रसमयी उपासना दुष्प्राप्य है। इसीलिए रसिक-साधना का साहित्य सजातीय अनुयायियों मे ही प्रचारित है। इस दिव्य साधना का दिव्य शरीर से सखा-सखी रूप मे प्रभु की सेवा मे समर्पण होता है। जीव मात्र भगवान् का भोग्य है। लीला रस की भावना केवल सखी भाव और स्त्री भाव से ही सभव है। १५ वी शती तक राम मर्यादा पुरुषोत्तम, दुष्ट दमनकारी तथा सन्त हितकारी रूप मे चित्रित हुए। इसके बाद की शतियों मे लीला विहारी और माधुर्य पुरुषोत्तम के रूप मे रामोपासना चली। कृष्ण की माधुरी भक्ति का इसे प्रभाव माना जावेगा।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से भक्ति भगवद् विषयक रति है, उसकी भावमात्र स्थिति रसदशा तक पहुँच नही सकती। पर रसिक राम भक्त के अनुसार समाज विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय और प्राणिमात्र की भावना का केन्द्र हृदय का आधेय है। अत' उसके नाम, रूप, लीला, धाम के ध्यान मे, गायन मे सभी कभी न कभी आत्म विभोर हो सकते हैं। तन्मयता के रसोद्रेक की यही चरम स्थिति है। सखी, सखा, स्नेही, दास्य तथा प्रजा बनकर 'युगल-सरकार' की

संवत् १५५९ में प्रातःकाल-सूर्योदय में हुआ। वियोगी हरि का यह मत ग्राह्य है।[1] इनके पिता का नाम केशव मिश्र और माता का नाम तारामती था। श्री राधा ने स्वप्न में इनको दीक्षा दी। गोस्वामी हित हरिवंश की माधुर्य भाव की प्रेम लक्षणा भक्ति ने राधा को परकीया भाव से दूर रखा। उनके मत में राधा स्वतंत्र अधिष्ठात्री देवी है। राधा ही उपास्य हैं। कृष्ण तो अनुयायिक रूप में राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ बनाते हैं। भक्त की भावना में राधा ही पूज्य हैं। वही कृष्ण का अपने द्वारा पूजन करवाने में समर्थ है। राधा विषयक यह देन अपनी देन है जो परवर्ती भक्तों द्वारा समादृत हुई। राधा के इस स्वरूप की उपासना को रसोपासना इस शब्द से पहिचानते हैं। गोस्वामी हित हरिवंश विवाहित थे। श्री राधा इनकी गुरु और उपास्य दोनों हैं।

प्रेम पथ का त्याग न करना पड़े, इसलिए शुष्क और तार्किक दार्शनिक मतवाद को अपने संप्रदाय में स्थान नहीं दिया। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति ही सरल अभिव्यक्ति के साथ राधा-वल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है। भक्ति सिद्धांत का मूल आधार है। हितत्व एवम् प्रेम-तत्व इसे पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेना अनिवार्य है जिसके बिना राधा-वल्लभीय भावना का बोध असंभव है। 'नित्य विहार' रस दर्शन या 'वृन्दावन रस' ही इसका नाम है। माधुर्य भक्ति की परिणति इसी रस में होती है। प्रेमतत्व की मीमांसा प्रस्तुत करके तत्संबंधी भावों और विषयों का उल्लेख किया है। रसदर्शन में विहार के संपादक राधा, कृष्ण सहचरी और वृन्दावन के स्वरूप का विस्तार है। 'रसोवैसः' से रसरूप भगवान् और परात्पर प्रेमतत्व सहज और नित्य है। राधा और कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है वही रस है।

प्रेमा-भक्ति को शाण्डिल्य सूत्र में दुर्गम बताया गया है। राधावल्लभ-संप्रदाय में गोपी प्रेम भी शुद्ध प्रेम तक नहीं पहुँचता क्योंकि उसमें आत्म-सुख की भावना आ जाती है। अतः शुद्ध प्रेम ब्रज देवियों के पवित्र प्रेम से भी ऊपर दिखाया गया है। राधावल्लभ संप्रदाय में प्रेम की परिभाषा—प्रेमी और प्रेमपात्र श्री राधा और माधव अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्मसमर्पण करते हैं। राधा माधव के लिए और माधव राधा की परितुष्टि के लिए आत्म विसर्जन कर देते हैं। राधाकृष्ण एक ही प्रेम तत्व के दो विग्रह हैं। हित हरिवंश राधाकृष्ण को वृन्दावन प्रेम-पयोनिधि रूपी मानसरोवर के

१. ब्रज माधुरी सार—वियोगी हरि, पृ० ६४।

हंस-हंसिनी मानते है। तथा इन दोनो का सम्बन्ध जल-तरंगवत् अभिन्न है। इनको कौन पृथक् कर सकता है।

> जोई जोई प्यारी करै सोइ मोहि भावे,
> भावे मोहि जोई-सोइ, सोई-सोई करें प्यारे।
> मों को तो भांवती ठौर प्यारे के नैनति में,
> प्यारो भयो चाहे मेरे नैननि के तारे।
> मेरे तन मन प्रान हूँ ते प्रीतम प्रिय,
> अपने कोटिक प्रान प्रीतम मों सो हारे।
> (जैश्री) हित हरिवंश हंस-हंसिनी सावल गौर,
> कहो कौन करें जल तरंगिनी न्यारे।
>
> —हित चौरासी पद सं० १।

अपने प्रेमास्पद के सुख मे आसक्त होना ही प्रेम कहलाता है वही प्रेमी है। इसे 'तत्सुख सुखित्व' कहते हैं। इसमें स्वसुख का विसर्जन होता है। प्रेम में अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है। इस सम्प्रदाय के भक्त को अपने इष्टदेव मे अनन्य निष्ठा बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए। रसोपासना मे केवल माधुर्य पक्ष की ही स्वीकृति है। राधा ही अनन्य इष्टदेवी हैं।

प्रेम और नेम—

नेम—अर्थात् रससृष्टि मे सहायक होकर प्रेम के साथ नित्य भाव मे वर्तमान—नित्य एवं रस रहने वाले प्रेम के साथ अविर्भाव और तिरोभाव होने वाली क्रिया-चेष्टाएं विविध रूप और परिणाम मे उसी मे व्याप्त रहती हैं। विहार परक प्रेम और नेम प्रिया-प्रियतम की विविध केलि-क्रीडाएं मान विरह आदि अवस्थाओ का स्वरूप है। साधारण प्रेम नेम रस की वह विवश दशा है जिसमें मन निमज्जित हो जाय, और किसी प्रकार की सुध न रहे यही प्रेम दशा है। इसमे भिन्न सावधानता रहती है। तब नेम-काम कहा जाता है। सच्चे प्रेम-पयोनिधि मे नेम काम की भावना नही शेष रहती।

प्रेम और काम—

> 'काम रूप बिन प्रेम न हो हो। काम रूप जहाँ प्रेम न सोई।'
>
> —श्री वल्लभ रसिक।

काम और प्रेम का साहचर्य सोन-सुहागे की तरह है। आग मे तपाने पर सुहागा नष्ट होकर स्वर्ण मात्र बच जाता है। प्रेमास्पद से आत्म इच्छा के बने

रहने तक काम-वासना का स्वरूप रहता है। बाद में मन रसमय बन जाता है और प्रेममय हो जाता है।

रसोपासना में विधि-निषेध मर्यादा—

हित हरि वंश प्रतिपादित भक्ति रस-भक्ति है, शास्त्र भक्ति नहीं। शास्त्र भक्ति में मर्यादा मार्ग के साधन का पालन होता है पर इसमें स्नेह की हानि होती है। रस भक्ति में भाव, मान, प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग ये छः भेद हैं। साधनों की आवश्यकता नहीं है। हित हरिवंश ने बाह्योपचारों का निषेध इसलिए किया कि कहीं प्रेम बाह्योपचार में फँसकर क्षति न प्राप्त कर ले। राधाकृष्ण के नित्य-विहार की स्थिति का आनन्द लाभ करने के लिए क्षमता, शुद्ध प्रेम से एवम् रस से ही उत्पन्न होती है। शुद्ध प्रेम मार्गी को जप, तप, यज्ञ, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता क्यों रहेगी ? 'विधि निषेध नहिं दास। अनन्य उत्कट व्रतधारी,' 'भक्तमाल' की नाभादासोक्ति इन दो विशेषताओं को हित हरिवंशजी में बतलाती है—(१) अनन्य व्रतधारी अर्थात् अपनी राधा-भक्ति एवम् रस भक्ति में अनन्य रहना और (२) विधिनिषेध का दास न होना।

राधा की प्रेम निकुंज-विहार-स्थिति का दर्शन सहचरी (सहेली) रूप से जीवात्मा देख सके यही साधक के जीवन का फल है। हित-सम्प्रदाय में राधा-प्रेम ही आराध्य है।

विधि निषेध के ऊपर उठा हुआ हित हरिवंश कृत उपासना मार्ग यह बतलाता है कि—

श्याम-श्यामा की उपासना एक साथ की जाती है। श्याम आराधक और श्यामा आराध्य हैं। दोनों निकुंज में नित्य विहार करते हैं। परस्पर प्रीति का गान और आत्म-विसर्जन करते हैं। सहचरी रूप जीवात्मा इनके सुख-भोग को देखकर आत्म सुख लाभ करता है, तथा इसे साध्य या इष्ट समझता है।

इस सम्प्रदाय में हित हरवंशजी के अतिरिक्त श्री नेही नागरीदास, चाचा वृन्दावनदास, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास आदि प्रसिद्ध भक्त हो गये हैं। इस वैष्णव-सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० विजयेन्द्रस्नातक की 'राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' पुस्तक द्रष्टव्य है।

नोट :—यहाँ पर समूचे वैष्णव सम्प्रदायों का विवेचन हमारा विषय नहीं है। अपने प्रबन्ध की सीमान्तर्गत मराठी और हिन्दी के प्रतिनिधि वैष्णव संत-कवि ही हमने लिये हैं।

रामानंद संप्रदाय—

उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति को विशेष प्रकार से प्रश्रय देकर उसका प्रचार और प्रसार करने वाले महापुरुष और आचार्य रामानन्दजी को ही माना जाता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार इसका श्रेय रामानंद के गुरु राघवानन्द को दिया जाना चाहिए। दक्षिण और उत्तर भारत के वैष्णव आन्दोलनों के संयोजक ये ही माने जाते हैं।[१] इनको रामानुज मत का माना जाता है और उन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामानन्द को मृत्युयोग से योग विद्या के बल पर बचाया था। इनकी जीवनी अन्धकारमय ही है। कोई सूत्र विश्वसनीय हमें नहीं प्राप्त होता। काशी के पंचगंगा पर ये निवास करते थे। यहीं पर इन्होंने रामानंद को अपना शिष्य बनाकर मंत्रोपदेश दिया। राघवानंद की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है। रामार्चन-पद्धति में रामानंदजी की अपनी गुरु परम्परा दी गयी है जिसकी परंपरा के अनुसार रामानुज की चौदहवीं पीढ़ी में रामानंद का आविर्भाव हुआ। अनुमानतः कहा जा सकता है कि इनका समय १५ वीं सदी का अन्तिम भाग होगा। ऐसा प्रसिद्ध है कि सिकन्दर लोदी के समय ये विद्यमान थे। सिकंदर लोदी ने सन् १४८६ से सन् १५१७ तक राज्य किया। कबीर रामानंद के शिष्य थे। कबीर तथा लोदी समकालीन थे। अतः रामानंद का उस काल में होना माना जा सकता है। फर्कुहर रामानंद को दक्षिण से आया हुआ मानते हैं, पर ग्रियरसन को यह मत ग्राह्य नहीं है। उनके मतानुसार वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग में उत्पन्न हुए थे। अपने समर्थन में वे 'भक्तमाल' का प्रमाण देते हैं। नाभादास ने 'भक्तमाल' में अपने गुरु अग्रदास की प्रार्थना पर लिखा है। ये अपने गुरु रामानंद से तीसरी पीढ़ी में आते हैं।[२]

स्वामी रामानन्द ने विष्णु के रूप को लेकर लोक के लिए कल्याणकारी सिद्ध किया और उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण-भक्ति का अधिकारी माना। रामभक्ति का द्वार उन्होंने सब जातियों के लिए मुक्त कर दिया। भागवतों के इस समुदाय को 'विरागी' या वैरागी संप्रदाय कहा जाता है। इनके सिद्धान्तों का महनीय ग्रन्थ है 'वैष्णव मताब्ज भास्कर'। इसके सिद्धान्त विशिष्टा-द्वैत-मत सम्मत हैं। इस मत में भगवान् रामचन्द्र को परमपुरुष मानकर उनकी उपासना का प्रचार बड़े आग्रह और निष्ठा के साथ किया गया है।

---

१. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय।

२. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी—१६२०।
'दि होम ऑफ रामानंद', पृ० ५६०।

राम, सीता तथा लक्ष्मण से युक्त ध्यान का आदेश उन्होंने अपने अनुयायियों को दिया है। तत्त्व-त्रय-ईश्वर, चित् और अचित् उन्हें मान्य है। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र की मर्यादा उन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका समान अधिकार स्वीकार किया। श्रीरामचन्द्र ही परमेश्वर और भगवान हैं अतएव उन्हीं के षडाक्षर मंत्र की दीक्षा तथा जप का विधान अपने सम्प्रदाय में उन्होंने प्रचलित किया। उत्तरी भारत में 'रामायत सम्प्रदाय' के आद्य प्रवर्तक श्री रामानंद स्वामी ही हैं। हनुमान की एक प्रशस्ति तथा 'रामरक्षा' नामक दो कृतियाँ हिन्दी में मिलती हैं।

रामानंद के प्रमुख शिष्य कबीर, पीपा, सेना नाई, धन्ना भगत, पद्मावती आदि हैं। इनके अतिरिक्त अनंतानंद, सुरसुरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द और गालवानन्द भी इनके शिष्य थे। इस विषय में भी काफी मतभेद है। आरम्भ के पाँच शिष्यों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमें से किसी ने भी स्पष्ट शब्दों में रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है।[1]

'रहस्यत्रयी' के टीकाकार के अनुसार 'सार्धं द्वादश शिष्य' रामानन्द के बारह शिष्य थे जो वास्तव में तेरह जान पड़ते हैं।[2]

राघवानन्द एतस्य रामानंदस्तो भवत्। सार्द्ध द्वादश शिष्यास्तु रामानन्दस्य सद्गुरो। द्वादशादित्य सकाशा ससार तिमिरापहा। श्रीमदनंतानंदस्तु सुरसुरानंद स्तथा ॥१६॥ नरहरियानंदस्तु योगानंदस्तथैव च। सुखा भावा गालवश्च सप्तैं तैं नामनंदता ॥१७॥ कबीरश्च रामदास सेना पीपा धनास्तथा। पद्मावती तदर्द्धश्च षडे तेच जितेन्द्रिया ॥१८॥

जो कुछ भी हो रामानंद आचार्य के रूप में बहुत महान् थे इसमें कोई शक नहीं है। रामानंद के भाष्यों में से 'आनंद भाष्य' अन्यतम है। उसमें उन्होंने ब्रह्म को ब्रह्मशब्दवाच्य-श्रीराम ठहराया है और वह सगुण तथा निर्गुण है ऐसा माना है। उनके अनुसार 'निकृष्ट प्राकृत गुणों से रहित' को निर्गुण कहते हैं और दिव्य गुणों के कारण भगवान् का सगुणत्व सिद्ध होता है। उनके अनुसार अनन्य भक्ति ही मोक्ष का अव्यवहितोपाय है तथा प्रपत्ति को भी वे मानते हैं। इस सम्प्रदाय का गुरुमंत्र रामनाम हैं, तथा परस्पराभिवादन भी 'जय श्रीराम', 'सीताराम', 'जयराम', आदि द्वारा होता है। रामानन्द ने श्री सम्प्रदाय के

१. उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ० २२३-२२७—श्री परशुराम चतुर्वेदी।
२. भक्ति सुधा बिन्दुस्वाद—रूपकलाजी, पृ० २६४।

कठोर नियमों को यथासाध्य सुगम एवम् सरल कर दिया है और वे भजन भाव की ओर ही सबका ध्यान दिलाते रहे।

स्वामी रामानन्द ने जनता की रुचि तथा देशकाल की परिस्थिति को देखकर सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार की शिक्षाएँ देने का समीचीन तथा प्रशंसनीय कार्य किया। वस्तुतः रामानन्द को सगुण-भक्ति-धारा और निर्गुण भक्ति-धारा का केन्द्र बिन्दु मानना चाहिए ऐसा आचार्य बलदेव उपाध्यायजी का मत है।[1] इनके कारण एक ओर तुलसीदास जैसे राम भक्तों के द्वारा सगुण भक्ति का प्रचार हुआ तथा कबीर आदि संतों के द्वारा निर्गुण भक्ति का प्रचार हुआ। हिन्दी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाकर रामानन्द ने जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी सहृदयता के कारण 'रामायत-सम्प्रदाय' का उत्तर भारत के कोने-कोने में प्रचार हुआ। इससे एक लाभ यह हुआ कि रामानन्दी वैष्णवों ने अपने उपदेशों के माध्यम से हिन्दी को भारत की सार्वभौम और सार्वजनीन भाषा बनाया। यह कार्य वे तीर्थ यात्रा के प्रसंगों में भारतवर्ष में घूम-घूम कर करते रहे। स्वामी रामानन्दजी निश्चय ही एक महान् युग-प्रवर्तक पुरुष थे, यह निःसंदेह कहा जा सकता है। रामानंदजी के अलौकिक व्यक्तित्व ने ही उदार वैष्णव धर्म को और उदार और व्यापक बनाकर प्रस्तुत किया। इनके शिष्यों में ब्राह्मण, नाई, चमार, अधम, अन्त्यज तथा कबीर जैसे अक्खड़ मुसलमान धर्म के जुलाहे के यहाँ पाले गए हुए व्यक्ति भी थे। समाज के चरण-स्थानीय, अन्त्यजों के उद्धार की ओर इनकी विशेष दृष्टि थी। इसीलिये इन्हें राममंत्र देने में रामानंदजी को कोई झिझक न हुई। हिन्दू समाज की एकता स्थापित करने में तथा धार्मिक संगठन करने में, और अपनी संस्कृति बचा रखने में, रामानन्दजी का कार्य अतीव महान् है। नाभादासजी उनकी तुलना राम के अवतार से करते हैं—'श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु-जग-तरन कियो।'[2]

मध्य देश में रामानन्दजी ने पाखंड के दरवाजे खोल डाले। फलतः रामानन्द-सम्प्रदाय की इस देन को अत्यन्त सराहनीय और महत्वपूर्ण माना जावेगा।

वारकरी सम्प्रदाय—

अब हम महाराष्ट्र के दो वैष्णव सम्प्रदायों का वर्णन करेंगे, जिनका हमारे अध्ययन में आने वाले मराठी वैष्णव संतों से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

---

१. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय।

२. नाभादास—भक्तमाल, पृ० ७३, छ० ३६।

वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र का एक महत्वपूर्ण भक्ति सम्प्रदाय है। आबाल-वृद्ध नरनारी तथा ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक, सुशिक्षितों से लेकर अशिक्षितों तक, तथा शहरों से लेकर ग्रामों और देहातों में रहने वाले जन साधारण के बीच में इस सम्प्रदाय के प्रति आस्था है। यह धर्म या पथ वैदिक परम्परा में ही आता है। 'वारकरी' शब्द का अर्थ नियमित रूप से 'वारी' करने वाले या पढरपूर जाकर आषाढी शुद्ध एकादशी और कार्तिकी शुद्ध एकादशी के दिन प्रति वर्ष नियमित रूप से विठ्ठल-दर्शन करने वाले यात्री 'वारकरी' कहलाते हैं। हिन्दी के 'बार' शब्द से इसका नैकट्य है। (जो प्रति वर्ष हरवार यात्रा के लिए जाकर आषाढी और कार्तिकी एकादशी तिथियों के अवसर पर पढरपूर में पाडुरग का दर्शन करता है वही वारकरी है।)

ज्ञानेश्वरी में 'वारी' शब्द आवागमन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

ऐसें वैराग्य हेंकरी। तरी सक्ल्पाची सरे वारी
सुखे धृतीचा धवळारी। बुद्धि नदि॥[1]

ज्ञानेश्वर के एक अभङ्ग में भी एक उल्लेख इस प्रकार आया है—

काया वाचा मनें सर्वस्वी उदारु। बाप रखुमादेवीवरु।
विठ्ठलाचा वारिकरु।[2]

इसी सम्प्रदाय को नाथ भागवत में भागवत धर्म भी बतलाया गया है—

दारा सुतग्रहप्राण। करावे भगवनासी अर्पण।
हे भागवत धर्म पूर्ण। मुख्यत्वें भजन या नाव॥[3]

अपनी स्त्री, पुत्र, गृह आदि सब कुछ भगवान् को समर्पित कर मुख्यत भजन करना ही भागवत धर्म है। गले में तुलसीमाला पहनकर यह वारी की जाती है। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम 'माळकरी पथ' अथवा 'भागवत पथ' भी है। भागवत धर्म का पुराना सकेत वासुदेव सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहो की कल्पना रखने वाला, तथा जीव और ईश का द्वैत बतलाने वाला है। वारकरी पथ भक्ति प्रधान होने पर भी ज्ञानमय अद्वैत मत का भी समर्थन करता है। जो भगवान् को सब कुछ समर्पित कर दे वही भागवत है द्वारकाधीश कृष्ण का बालरूप उपास्य देवता होने से इसे वैष्णव सम्प्रदायों में गिना जाता है। श्रीमद् व्यासकृत भागवत और भगवद्गीता वारकरियों के पूजनीय ग्रन्थ हैं। तुकाराम कहते हैं—

---

१. ज्ञानेश्वरी—ज्ञानेश्वर, ६–३७७।
२. ज्ञानेश्वर अभग–सकल सत गाथा।
३. नाथ भागवत—एकनाथ, २–२६१।

गीता भागवत करिती श्रवण।
अखंड कीर्तन विठो बाचे॥[1]

भागवत के द्वादश स्कंधों में से एकादश स्कंध सम्पूर्ण और द्वितीय स्कंध अध्याय ६ पर श्री एकनाथ महाराज ने टीका लिखी है जो क्रमश 'एकनाथी भागवत', और 'चतु श्लोकी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वारकरी इन दोनों को प्रमाण ग्रन्थ मानते हैं। वारकरी सम्प्रदाय अपने उत्पादकों के नाम से नहीं चला है। वैदिक धर्म के विरुद्ध आवाज इस सम्प्रदाय ने नहीं उठाई वरन् उसके तत्वों से ही मानवी ममता भूमि पर समन्वय करते हुए इस सम्प्रदाय ने अपना विकास किया है। वारकरी सम्प्रदाय का आरम्भ कब हुआ इस पर कोई तथ्य या प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। स्थूल रूप से वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से पाँच कालखण्ड किये गए हैं जो इस प्रकार हैं—(१) पुण्डलीक से ज्ञानेश्वर का कालखण्ड। इसे हम वारकरी सप्रदाय का उत्पत्ति काल भी कह सकते हैं। (२) ज्ञानेश्वर तथा नामदेव का कालखण्ड। (३) भानुदास से एकनाथ का कालखण्ड। (४) सन्त तुकाराम से निळोबा तक का कालखण्ड, तथा (५) इसके बाद से आज तक का अर्थात् २२१ वर्षों का कालखण्ड।

इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति विठ्ठल मूर्ति तथा पुंडलिक के काल निर्णय पर निर्भर है। वैसे वारकरी सम्प्रदाय का प्रारम्भ इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भगवद् भक्त पुण्डलीक से माना जाता है। तुकाराम का कथन है—'भक्तामाजी अग्रणी। पुंडलीक महामुनी। त्याच्या प्रसादे तरले। जडजीव उघरले। तोचि प्रसाद आम्हासी। विटेवरी हृषीकेशी॥[2] पुण्डलीक भक्तों में अग्रगण्य थे। उनपर अनुग्रह करने के लिए उनकी आज्ञा से पाडुरंग ईंट पर खड़े हैं। उनकी कृपा से जड-जीवों का उद्धार हो गया। तुकाराम के लिए वही प्रसाद उपलब्ध हो गया है।

पाडुरंग मूर्ति के बारे में हम प्रथम अध्याय में ही विवेचन कर आये हैं। अत यहाँ पर इतना ही मान लेते हैं कि पढरीनाथ भक्तानुग्रह का कार्य भक्तकाल से अनेक शतकों पूर्व (ज्ञानदेव-नामदेव कालपूर्व) कर रहे थे और वारकरी सम्प्रदाय की वारी चला करती थी। इससे पता चलता है कि व्यापकता और कार्यक्षमता इन दोनों दृष्टियों से भी वारकरी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन तथा लोकप्रिय था। ज्ञान और भक्ति का सङ्गम जिसे माना जा सकता है ऐसे ज्ञानेश्वर और नामदेव वारकर

१. तुकाराम-अभग।
२. तुकाराम-अभङ्ग।

सम्प्रदाय मे विशेप प्रसिद्ध हैं। सन्त बहिणाबाई इन वारकरी सन्तो के बारे मे इस प्रकार कहती हैं[1]—

> सन्त कृपा झाली। इमारत फळा आली।
> ज्ञानदेवे रचिला पाया उभारिले देवालया॥
> *नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार।*
> जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत॥
> भजन करा सावकाश। तुका झाला से कळस॥

भागवत धर्म का यह मन्दिर इन सन्तो की कृपा से बनकर तैयार हुआ। इसकी नींव ज्ञानेश्वर ने रची और नामदेव ने भव्य प्रसाद खड़ा कर दिया। स्वामी जनार्दन के शिष्य एकनाथ ने भक्ति और मानव प्रेम की एकता के रङ्ग से इसकी ध्वजा फहराई। तुकाराम ने अपनी साधना से उस पर कलश चढ़ाया। इस वारकरी सम्प्रदाय के लिए तात्विक और सैद्धान्तिक एवम् दार्शनिक ठोस आधार-शिला ज्ञानेश्वर का कार्य है। पढरी से पजाब तक भागवत धर्म का प्रचार और प्रसार नामदेव का महान कार्य है। ज्ञानदेव के गुरु उनके बडे भाई निवृत्ति नाथ ने छोटे भाई सोपान और बहन मुक्ताबाई ने अपने ही समाज के द्वारा किये गये अत्या-*चारों को सहकर सहिष्णुता के साथ जीवन व्यतीत किया। ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी,'* (भावार्थ दीपिका) 'अमृतानुभव' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थो का सृजन किया। जिस तरह उत्तर में 'रामचरित मानस' का घर-घर प्रचार है उसी तरह वारकरी पथ मे समूचे महाराष्ट्र मे ज्ञानेश्वरी का प्रचार है। इस ग्रन्थ मे ज्ञान और भक्ति का दिव्य समन्वय है। ज्ञानेश्वर को इसीलिये 'ज्ञानराज माउली' कहा जाता है। उनके समय मे स्वराज्य था पर वैदिक धर्म उखड रहा था। *समाज की नींव ढह रही* थी। ऐसे समय ज्ञानेश्वर ने सस्कृत की ज्ञान-सपदा को जनभाषा मराठी में सजोया और उस ब्रह्मविद्या को सार्वजनीन बनाकर सुलभ कर दिया। इस दार्शनिकता का सूत्र पकडकर नामदेव ने पजाब के घोमान गाँव तक इसका प्रचार किया, यह एक अतीव महत्वपूर्ण कार्य था। ज्ञानदेव की 'ओवी' और नामदेव के 'अभङ्ग' प्रसिद्ध हैं। *'सततम् कीर्तयन्तोमाम्' इस गीतोक्ति के अनुसार कीर्तनरग मे ज्ञानदेव कितने* रगे हुए थे इसे नामदेव की कीर्तन-तल्लीनता से समझा जा सकता है। महाराष्ट्रीय कीर्तन परम्परा के 'नारद', नामदेव को ही माना जा सकता है। अपने नाम के अनुसार ज्ञान और भक्ति का समन्वय पढरपूर मे इन दोनो के द्वारा हुआ। नामदेव के साथ उनका पूरा परिवार, दासी जनाबाई, सावता माली, रोहीदास चर्मकार,

१. बहिणाबाई कृत अभङ्ग।

चोखा-मेला महार, नरहरि सोनार, जैसे समाज के निम्नतम स्तर के संत इस वारकरी वैष्णव सम्प्रदाय में बड़ी तन्मयता और लगन से अपनी कविताओं, अभगों के द्वारा कीर्तनों से सारे महाराष्ट्र में वैकुण्ठ का सुख प्रस्तुत कर रहे थे।[1] ११६३ शक से १२७२ शक तक यह समय माना जावेगा।

भानुदास—एकनाथ का कालखण्ड :

ज्ञानेश्वर नामदेव काल से सौ सवासौ वर्षों तक, अर्थात् करीब करीब सन् १४५० से सन् १४७५ तक पढरी की वारी, कीर्तन भजन आदि की परम्परा जारी रही। इस सम्प्रदाय में भानुदास तक कोई महत्वपूर्ण संत पैदा नहीं हुआ। ये एकनाथ के प्रपितामह थे। विजयानगर से रामराजा के द्वारा अनागोंदी नामक स्थान पर पढरपूर की विठ्ठलमूर्ति लाकर रखी गई। यही पाडुरङ्ग मूर्ति अपनी भक्ति से संत भानुदास पुन पढरपूर लाने में सफल हो गए। वारकरी सम्प्रदाय का पुनर्निर्माण और सङ्गठन करने का श्रेय संत भानुदास को दिया जाता है। इनके पोते एकनाथ महाराज ने, वही कार्य किया जैसा ज्ञानेश्वर-नामदेव ने किया था। ज्ञानेश्वरी का अनुशीलन कर उसमें घुसे हुए अपपाठों को दूर करने का महान् कार्य संत एकनाथ ने किया। वारकरी सम्प्रदाय को सुदृढ स्वरूप देने का श्रेय भी एकनाथ को ही दिया जा सकता है। एकनाथ ने अपने ग्रन्थ "एकनाथी भागवत" का वाराणसी में निर्माण किया जो वारकरी सम्प्रदाय का आधारस्तम्भ माना जाता है। तुलसी की तरह सभी शैलियों में एकनाथ ने रचनाएँ की हैं। 'आळंदी', और 'ज्ञानेश्वर' की महिमा एकनाथ के कारण बढी। कीर्तन-भक्ति की महिमा एकनाथ ने विशेष रूप से बढाई। उनकी ही बनाई परिपाटी से वारकरी सम्प्रदाय के लोग कीर्तन करते हैं। उनका कहना है—

सगुण चरित्रें परम पवित्र सादरवर्णावीं ॥ १ ॥
सज्जन वृन्दे मनोभावें आधी वदावी ॥ २ ॥
संत सगे अनत मे नाम बोलावे प्रभूचे नाम बोलावे ॥
कीर्तनरंगी देवा सन्निध सुखेंचि डोलावे ॥
भक्ति ज्ञाना विरहित गोष्टी इतरा न कराव्या ॥
प्रेम भरे वैराग्याच्या युक्ती विवराव्या ॥ ३ ॥
जेणे करनि मूर्ति ठसावें अंतरि श्री हरिची ।
ऐशी कीर्तन मर्यादा आहे संताच्या घरिची ॥ ४ ॥

१. सकल संत गाथा—एकनाथ अभंग, ५६१

श्रवण कीर्तने अद्वय भजने पावयो कररवाळी ॥
एका जनार्दनी भक्ति मुक्ति तात्काळी ॥ ५ ॥[1]

आदर सहित सगुण चरित्रों का परम् पावित्रता से वर्णन करना चाहिये। सज्जन वृन्दों के द्वारा प्रथम मनोभावों से उनका वदन करना चाहिये। सतों के साथ अतःकरण पूर्वक प्रेम रङ्ग मे भगवान् का नाम बोलना चाहिये, और कीर्तन रङ्ग मे आकर भगवान् के सान्निध्य मे सुख मे निमग्न हो जाना चाहिये। भक्ति ज्ञान के अतिरिक्त कोई बात भी नही करनी चाहिये। अन्य फालतू बातों का निराकरण वैराग्य की युक्तियों से करते हुए अनासक्ति को अपना कर, अन्त करण मे श्रीहरि की मूर्ति दृढ हो जाय ऐसी वृत्ति होनी चाहिये। सतों के घर की यही रीति है। कीर्तन भजन करने से तत्काल मुक्ति मिल जाती है, ऐसा एकनाथ का निवेदन है।

तुकाराम-निळोवा का कालखण्ड

भागवत सप्रदाय के मन्दिर का "कलश" तुकाराम को माना जाता है। एकनाथ के निर्माण के नौ वर्षों बाद तुकाराम का जन्म देहू मे हुआ। पारतन्त्र्य सब दुखों का मूल माना जाता है। शास्त्र-धर्म रक्षण करने वाले आचार्य, ब्राह्मण यवनो के दास बनकर अपनी आजीविका चलाते रहते थे। धर्म रक्षण करने वाली यदि राज-सत्ता विद्यमान न हो तो सारा समाज विपन्नावस्था को पहुँच जाता है। ऐसी विपन्नावस्था उस समय हो गई थी। तुकाराम को इसी की बडी चिन्ता थी। इसीलिए पाखड खडन करते हुए, धर्म को जीवित रखने का कार्य अपने पूरे जीवन भर वे करते रहे। अकाल आदि की और अनेक विपत्तियों के द्वारा प्रताडित तथा शूद्र वशोत्पन्न होने के कारण समाज के अत्याचारों द्वारा पीडित तुकाराम पूर्ण विरक्त सत बन गए। इनके द्वारा वारकरी सम्प्रदाय की प्रगति पर्याप्त रूप मे हुई। अपनी परमार्थ साधना के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया कि भगवद् भजन की सार्थकता उसके समर्थ साधन मे है। और पढरपूर के विठोबा ही चैतन्य की जड है। अपनी तप सिद्धी से अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के माध्यम से सगुण को प्रतिष्ठा दी और उसकी महत्ता लोगो को बतला दी। वारकरी सप्रदाय मे ज्ञानेश्वर की ही योग्यता मे तुकाराम आते हैं। अपनी अभग वाणी से भगवद् सुख का आस्वाद जन साधारण तक को उन्होंने चखाया। इससे भजन कीर्तन को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तुकाराम के अभग बडे सरस और माधुर्य एवम् मार्मिकता से भरे हुए हैं। वारकरी सम्प्रदाय मे तुकाराम के बाद निळोवा का नाम महत्वपूर्ण है। इन्होंने भी इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार किया तथा उत्कृष्ट अभग रचे।

१. एकनाथ अभग—सकल सत गाथा, ५६१

निळोबा के बाद का सवा दो सौ वर्षों का कालखण्ड—

इस काल मे कई भजनी मडलियाँ और समुदाय स्थापित हुए। इनमे देहुकर तथा पढरपूर के वासकर के फड (भजन मडल) प्रसिद्ध हैं। ये अलग अलग मडलियाँ अपने अपने गुट मे पढरपूर की वारी करती हैं और आषाढी तथा कार्तिकी शुद्ध एकादशी को पढरपूर की पैदल यात्रा करती हैं और भगवद् भजन प्रवचन आदि करती हैं। अनेक पालकियाँ आळदी से ज्ञानेश्वर की पादुकाएँ लेकर चलती हैं। अन्य स्थानो से भी पालकियाँ चलती हैं और सम्मिलित रूप से सब पढरपूर पहुँचती हैं। समूचे महाराष्ट्र मे इस पथ का प्रचार है। इसके चार अन्य उप सम्प्रदाय भी बतलाए जाते है जो इस प्रकार हैं—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनद, (४) प्रकाश।

इनको 'वारकरी-चतुष्टय' कहा जाता है। बगाल के चैतन्य सम्प्रदाय से इसका कोई सम्बन्ध नही है। तुकाराम के गुरु बाबाजी चैतन्य थे। वारकरी सम्प्रदाय के अधिकाश लोग चैतन्य सम्प्रदाय के ही हैं। 'रामकृष्ण हरी" और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' ये दो मत्र इस सम्प्रदाय के माने जाते हैं। 'स्वरूप-सम्प्रदाय' की उपासना का मत्र "श्रीराम जयराम जय जय राम" है। आनद सम्प्रदाय वाले "श्रीराम" या "राम" मत्र का जप करते हैं। प्रकाश सम्प्रदाय "नमो नारायण" से अपनी साधना करते हैं।

वारकरी सम्प्रदाय की दार्शनिकता·

पूरा वारकरी सम्प्रदाय कृष्णोपासक है। श्रीकृष्ण का बालरूप ही पढरीनाथ विठोबा या विठ्ठल हैं। उपास्य देवता पाडुरङ्ग विठोबा है। कृष्ण की तरह रामोपासना को भी ये मानते हैं। वारकरी रामनवमी और गोकुल अष्टमी दोनो उत्सव मनाते हैं। इस सम्प्रदाय की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमे हर और हरि के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। पाडुरग ने अपने मस्तक पर शिव को धारण किया है। इस सदर्भ मे 'ज्ञानेश्वर' और 'तुकाराम' के इन उद्गारों को देखिए—

> रूप पाहाता डोळसू। सुदर गोप वेषु
> महिमा वर्णिता महेशू। जेणे मस्तकी वंदिला॥[१]
>
> × × ×
>
> तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर।
> हरिहरा भेदोनाहीं नका करवाद॥[२]

---

१. श्री ज्ञानेश्वर अभंग—सकल सत गाथा—८६
२. तुकाराम— " —२६४

श्री विठ्ठल का स्वरूप बालगोपाल का सुन्दर गोप वेष है जो खुली आँखो देखा जा सकता है। जिसकी महिमा महेश ने वर्णन की है। इसीलिए पाडुरग उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं। भक्ति के लिए वे हरि और हर हैं अतः उनमे भेद है ऐसा व्यर्थ विवादवाद नही करना चाहिए। सन्त रामदास भी इस ऐक्य का हवाला देते हैं[1]—

विठोने शिरी वाहिला देव राणा।[1]

विठोबाने मस्तक पर देवधिदेव महादेव को धारण किया है। ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा नाथ सम्प्रदाय की है जिसके आदिनाथ भगवान् त्रिपुरारी थे। अत पाडुरग को इस ऐक्य का प्रतीक हम मान सकते हैं। वारकरी सम्प्रदाय के ग्रन्थ श्रद्धायुक्त अन्त करण से लिखे गये होने के कारण, भावात्मक तथा ज्ञान और तात्विक सिद्धान्तो से भरे हुए होने से बुद्धि प्रधान विचारो से सम्पन्न हैं। वारकरी सन्तो मे क्रमश निवृत्ति-ज्ञानेश्वर-सोपान-मुक्ताबाई-नामदेव-एकनाथ-तुकाराम और निळोबा आते हैं। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए इनके रचित अभङ्गो को प्रमाण माना जाता है। शास्त्रीय सस्कृत ग्रन्थों मे वेद, श्रीमद्-भगवद्गीता तथा मराठी के श्री ज्ञानेश्वरी, श्री एकनाथी भागवत, तुकाराम के अभङ्गो की गाथा और ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ कृत 'हरिपाठ' आदि का सदा पठन होता है और कीर्तनो मे इन्ही ग्रन्थो का आधार लिया जाता है। वेद-विहित और श्रुति-सम्मत हरिभक्त-पथ इन्हें स्वीकार है। सब वर्णों और जातियो के लिए भक्तिमार्ग और नामस्मरण का साधन एकमात्र सहायक समझा गया है। पढरी की वारी का उल्लेख हम पूर्व मे कर ही आये हैं। गले मे तुलसीमाला धारण कर, गोपीचदन का उर्ध्वपुड्र तिलक लगाया जाता है। 'आम्हा अलकार मुद्राचे शृङ्गार। तुळशीचे हार वाहूं कठी ॥१॥ यह तुकाराम का कथन है।[2] नियम पूर्वक ज्ञानेश्वरी की कुछ ओवियाँ पढना तथा हरिपाठ के अभग गाना हर वारकरी का दैनदिन कार्य माना जाता है। इसे 'वारकरी की सध्या' भी कहते हैं। अहिंसा का पालन, मासाशन न करना आदि बातें आचरणान्तर्गत आती हैं। अपने लौकिक गृह-गृहस्थी का त्याग करने के लिए वारकरी सम्प्रदाय कदापि नहीं कहता, प्रत्युत अपने हिस्से मे आये हुए कर्म बडी दक्षता के साथ और सत्यता का पालन करते हुए करने चाहिए यही वारकरी सम्प्रदाय का आग्रही प्रतिपादन है। क्योंकि इस सम्प्रदाय के अनुसार भगवान् के विश्व में जो कार्य हमारे लिए नियोजित हैं उनका समावेश

१. सन्त रामदास—मनाचे, श्लोक सख्या ८४।
२. तुकाराम—सकल सन्त गाथा—१२६२।

भगवान् के कार्यों में ही सजोया हुआ है। अत जब वे कार्य प्रभु प्रेरित ही हैं तब प्रेमपूर्वक उनको करने से प्रभु का सहज भजन हो जाता है। वारकरी सम्प्रदाय कर्म की यही दीक्षा देता है।

वारकरी सम्प्रदाय का आन्दोलन ज्ञानदेव से तुकाराम तक और उनसे आज-तक यह बराबर चल रहा है। इस सम्प्रदाय के सन्तो ने अध्यात्म-विद्या सबको मुक्त-हस्त होकर समान रूप से बाँटी। समाज के निम्न से भी निम्नतम लोगो के लिए इस विद्या की प्राप्ति का मार्ग खुल गया तथा बधु भाव बढा। परमेश्वर की भक्ति और विश्वास दोनो का समन्वय होने से शिवाजी महाराज के स्वातन्त्र्यान्दोलन मे इन्ही लोगो की सहायता उपलब्ध हो गयी। स्वराज्य की स्थापना होने से वैचारिक पृष्ठभूमि भी तैयार होती गई। विनम्रता से सब प्राणियो मे भगवान् को देखना वारकरी सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है। तुकारामोक्ति से इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

नम्र झाला भूता तेरो कोंडिले अनन्ता।[1]

अनन्त शक्ति मान सर्वव्यापी को विनम्रता से सबंध देखा जा सकता है। आर्त गुहार और पुकार के साथ परमेश्वर को दीनता से जन भाषा मराठी मे निवेदन किया है तथा परचक्र और परधर्म के विरुद्ध तथा ढकोसलेबाजी और पाखड के विरुद्ध कसकर आवाज लगाते हुए पर्दाफाश किया गया है। इस विद्रोही स्वर ने समाज मे आचरण-पक्ष को सुदृढता प्रदान करने मे सहायता दी है। वारकरी सम्प्रदाय के द्वारा अभिव्यजित भक्तिरस चिरतन स्वरूप का होने से किसी भी युग के किसी भी जाति के किसी भी स्तर का जीवन समृद्ध और उन्नत एवम् उदात्त कर सकने की क्षमता रखता है। इसका सबूत वारकरी सन्तो का भक्ति रस मिश्रित वाड्मय है। पारमार्थिक क्षेत्र की भ्रामक कल्पनाओ का खडन कर उसके स्थान पर नैष्ठिक और शुद्ध परमार्थ तत्वो की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थापना अपने वाड्मय और आचरण से इन लोगो ने सिद्ध की है। सबसे बडी देन इस सम्प्रदाय की यह है कि इसने समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक पक्ष को लेकर दोनो प्रकार से जीवन मे नैतिक मूल्यो की स्थापना की। शुद्ध आचरण, निर्मल अन्त करण और निष्ठायुक्त भक्ति ये तीन नैतिक मूल्य हैं जिन पर वारकरी सम्प्रदाय का सारा ढाँचा खडा है। 'अवघाचि ससार सुखाचा करीन। आनन्दे भरीन तिही लोक॥'[2]

'सारा ससार व्यक्तिगत आचरण से सुख पूर्ण बनाकर अध्यात्मिक आनन्द से

१. तुकाराम—अभंग गाथा—अभग १४८०।

२. तुकाराम—अभग।

संतोषप्रद करूँगा।' यह तुकाराम के उद्गार एक वारकरी के अन्तःकरण का परिचय देने वाले हैं। आरंभ से लेकर अन्त तक वारकरी सम्प्रदाय में भक्ति तत्त्व का जोरदार प्रतिपादन किया है। यों 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म,' 'नेहनानास्ति किंचन', 'अहम् ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य और सिद्धान्त 'वारकरी' मान्य करते हैं। अद्वैत के ज्ञान के साथ भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। मुक्ति के स्थान पर अपनी साधना से सम्प्राप्त ज्ञान और आनन्दानुभूति से उस आनन्द को संतोषपूर्वक बाँटने की इच्छा रखने वाला उदार अन्तःकरण भी वारकरियों को मिला है। इसे बाँटने के लिए अनवरत कर्मव्यस्तता और प्रयत्नशीलता का इनमें अभाव नहीं है।[१] वारकरी सम्प्रदाय की मान्यता है कि भक्ति साध्य है और साधन भी। परमात्मा व्यापक, निर्गुण निराकार है परन्तु साथ ही वह सगुण साकार भी है। ज्ञानेश्वर का यह कथन देखिये—

बाप रखुमा देवीवरु सगुण निर्गुण। रूप विटेवरी दाविली खुण॥[२]

और एकनाथ का यह प्रतिपादन है कि—

भक्तिचे उदरीं जन्मले ज्ञान। भक्ति ने ज्ञानासी दिधले महिमान॥१॥
भक्ति ते मूळ ज्ञान ते फळ। वैराग्य केवळ तेथीचे फूल॥२॥
भक्ति विणा ज्ञान विरजिली वेरे। मूल नाही तेथे फळ कैचो जोडे॥३॥
भक्ति युक्त ज्ञान तेथे नाही पतन। भक्ति माता तया करितसे जतन॥७॥
एका जनार्दनी शुद्ध भक्ति क्रिया। ब्रह्म ज्ञान त्याच्या लागतसे पाया॥८॥[३]

पंढरीनाथ अर्थात् रखुमाई के पति ने सगुण और निर्गुण दोनों को साथ ईंट पर खड़े होकर अपने रूप से ही बता दी है। ज्ञान की प्रतिष्ठा भक्ति में ही सिद्ध होती है। क्योंकि भक्ति पेड़ की जड़ है और ज्ञान उसका फल है। इस पेड़ का पुष्प वैराग्य है। बिना भक्ति के ज्ञान की बातें करने वाले मूर्ख हैं। जहाँ पेड़ की जड़ ही नहीं वहाँ फल की प्राप्ति कैसे सम्भव है? एकनाथ के गुरु जनार्दन की यही सीख है कि शुद्ध भक्ति से जो कार्य प्रेरित हो जाता है ब्रह्मज्ञान स्वयम् उसके चरणों में आकर लोटने लगता है।

निर्गुण स्वरूप का रहस्य सगुण साधना से ही सम्भव है। उस निर्गुण तक पहुँचने का मार्ग सगुणोपासना, नामस्मरण और भजन ही है। सगुणोपासना से भगवद् विषयक ज्ञानप्राप्ति होती है। वारकरी सम्प्रदाय के दार्शनिकता में ज्ञानमार्ग

१. वारकरी सम्प्रदायाचा इतिहास—प्रा. शं. वा. दांडेकर, पृ० ५४।
२. ज्ञानदेव अभंग।
३. एकनाथ अभङ्ग।

और भक्तिमार्ग का आपस में कोई संघर्ष नही है। भक्ति मोक्ष का साधन है, और ज्ञान का कारण भी। कोरा ब्रह्मज्ञानी न तो खुद अपना उद्धार कर सकता है और न दीनों का उद्धार करने की इच्छा रखता है। इसीलिए सन्त एकनाथ का यह निवेदन समीचीन ही है—

पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वये तरला आपण।
नकरीच दीनोद्धारण। ते षंडपण ज्ञात्याचे॥[१]

कालानुसार सर्व सग्राहकत्व और सहिष्णुता के साथ परमेश्वर प्राप्ति का सरल और सुलभ उपाय बतलाने वाला यह सम्प्रदाय है। दिनोदिन इस सम्प्रदाय की उन्नति ही हो रही है।

समर्थ संप्रदाय :

इस सम्प्रदाय के सस्थापक स्वामी समर्थ रामदास हैं। देवगिरी के पतन के बाद बडी विपदा का कालखड पराधीनता के साथ महाराष्ट्र मे प्रारम्भ हो गया था। अनेक प्रकार के अत्याचारो का सामना लोगो को करना पडा था। मुगल बादशाह तथा विजापूर के आदिलशाह महाराष्ट्र को कोचते जा रहे थे। इसी असहनीय दुर्दशा से ऊपर उठाने वाली परिस्थिति का निर्माण करने वाली 'रामोपासना' समर्थ रामदास ने अपने 'समर्थ-सम्प्रदाय' के द्वारा प्रस्थापित की। 'समर्थ-सम्प्रदाय' को महाराष्ट्र मे भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक विशेष लाभ प्राप्त हो गया है। श्री रामचन्द्रजी को रामदास 'समर्थ' कहा करते थे। इसी नाम का विशेषण स्वामी रामदास को भी आगे चलकर प्राप्त हो गया और उनका सम्प्रदाय भी समर्थ-सम्प्रदाय कहलाने लगा। भागवत धर्म के अर्थात् वैष्णव धर्म के समर्थक ही समर्थ रामदास थे। रामदास के नाम से इस धर्म के अनुयायियो को समर्थ सम्प्रदायी कहा जाने लगा। वारकरी सम्प्रदाय ज्ञानेश्वरादि सन्तो के अनुयायियों को कहा जाता था। वास्तव मे भागवत धर्म ही दोनो का मूल स्रोत है। विवेक और नीति का वारकरी सम्प्रदाय की तरह समर्थ सम्प्रदाय मे भी स्थान और महत्व है। वारकरी सम्प्रदाय ने आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति का ध्येय सामने रखकर जन साधारण अपने सासारिक दुःखो को आसानी से भूल जायें ये सिखाया तो समर्थ सम्प्रदाय ने इस निस्सार जीवन मे आस्था और आशा का सबल उत्पन्न किया। इनका प्रमुख कारण समर्थ रामदास की रामोपासना है। उपासना रामदास को विशेष अभिप्रेत थी। उपासना का आधार बहुत बडा होता है; यह इस सम्प्रदाय का मुख्य सूत्र है। 'उपासने चा मोठा आश्रयो।' और रामदास का यह कथन—

१. एकनाथी भागवत—एकनाथ।

'उपासनेला दृढ़ चालवावें। भूदेव संतांसि सदा लवावें।
सत्कर्म योगें वय घालवावें। सर्वांमुखीं मंगल बोलवावें॥[1]

उपासना को दृढ़ता के साथ चालू रखना चाहिए, ब्राह्मण और सन्तों का हमेशा आदर करना चाहिए, सत्कर्म करके आयु बितानी चाहिए, और सब लोगों के मुख से मंगलदायक धन्यवाद प्राप्त करना चाहिए।

समर्थ रामदास की गुरु परम्परा भी समझ लेना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

आदि नारायणं विष्णुं ब्रह्माणं च वशिष्ठकं।
श्रीरामं मारुतिं वंदे रामदासं जगद् गुरुं।

अर्थात् इस सम्प्रदाय या उपासना का रहस्य आदि नारायण ने महाविष्णु को दिया। महाविष्णु से हंस को, हंस से ब्रह्माजी को, और उनसे वशिष्ठ को, इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। सद्गुरु वशिष्ठ ने राम को और प्रभु रामचन्द्र ने स्वयम् रामदास को यह रहस्य बताया। *रामदासजी की सहायता हनुमानजी भी करते थे ऐसा वे स्वयम् बतलाते हैं—*

साह्य आम्हांसी हनुमंत। दैवत श्री रघुनाथ।
आराध्य गुरु श्रीराम समर्थ। उणें काय आम्हांसी॥[2]

हमारी उपासना के उपास्य प्रभु श्री रामचन्द्रजी हैं और इसमें हमारे सहायक श्री हनुमान हैं, अतः इस दास को किस चीज की कमी या अभाव हो सकता है? इसी राम की उपासना कर रामदास समर्थ बने। स्वयं अनुभूति और प्रतीति लेकर प्रथम रामोपासना से राम का साक्षात्कार लेकर फिर लोगों के सामने अपनी बातें उन्होंने रखी। उनके बोल स्वानुभव के और सत्य-प्रतीति के थे। यों उनके समय में ब्राह्मण और क्षत्रियों की कार्य प्रवणता और कर्मयोगिता उस युग के अनेक संतों के उपदेश वचनों के सुनने पर भी तिरोहित हो रही थी। इसे पुनः जागृत कर उसका प्रादुर्भाव करने का उपाय अर्थात् व्यवहार-धर्म की स्थापना कर लोगों को सजग करने के लिए रामदास स्वामीजी ने उपासना को भी व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इसके लिए लोगों के सामने प्रभु रामचन्द्रजी का आदर्श चरित्र रखा, जो अनेक उज्ज्वल आदर्श गुणों का समुच्चय स्वरूप ही था। इसी का परिपाक यह हुआ कि लोग प्रतिकार क्षम बन गए। इसके दो रूप थे। प्रथम स्वसंरक्षण और दूसरा मोक्ष प्राप्ति का आत्म विश्वास अर्थात् प्रपंच और परमार्थ दोनों का सदुपदेश स्वामीजी ने दिया। 'मनीं धरावें तेतें होते। विघ्न अवघेंचि नासोनी जाते। कृपा

---

१. श्लोक—समर्थ रामदास कृत।

२. श्री देव—समर्थ रामदास, भाग १।

केलिया रघुनाथे। प्रचीत येते।' 'अर्थात् रामोपासना करने से सब कार्य सफल हो जाते हैं।[1]' सगुण और निर्गुण दोनों का समन्वय इस सम्प्रदाय में विवेचित है। ज्ञान से केवल कार्य नहीं हो सकता अतः भाव और भक्ति दोनों सहित होकर ज्ञान प्राप्त करना अच्छा माना गया है। विशेषतः होनहार और तत्पर ब्राह्मण युवकों पर इनकी दृष्टि रहती थी। उन्हें अपना योग्य शिष्य बनाकर उनको धर्म प्रवण और कार्य प्रवण बनाया। समाज के नैराश्य और आलस्य को भगाने के लिए प्रथम उनके भीतर का आलस्य और नैराश्य भगाया। कर्तव्य और प्रयत्न तथा भगवान् का अधिष्ठान इन तीनों पर रामदास स्वामी हमेशा बल देते हैं।

कौटिल्य का सूत्र है :[2]

'धर्मस्य मूलं अर्थम् अर्थस्य मूलं राज्य।'

राष्ट्र का अभ्युदय अर्थ और राज्य इन दोनों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। धर्म के लिए राज्य साधन है, अर्थ भी राज्य में धर्म का आधार लेकर *ही राज्य की उन्नति में सहायक होता है। रामचन्द्र के भक्त को इस पृथ्वी पर कोई* भी वक्र दृष्टि से नहीं देख सकते। जिनके पास रामदास्य है उनके राम ही रक्षक हैं। यह निश्चित है। 'समर्थ सम्प्रदाय' के मुख्य अङ्ग दो है। (१) धर्म कारण और (२) राजकारण। सर्वत्र अपने काव्य में, और अपनी रचनाओं में स्वामीजी ने धर्म कारण को ही महत्व प्रदान किया है। राजकारण देश, काल और उस समय की परिस्थिति-सापेक्ष, होने के नाते स्थल आ गया है। अतः समर्थ संप्रदाय के शाश्वत तत्वों की हम उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते। उनके शब्दों में जो चतु सूत्री अपने संप्रदाय की है उसे प्रथम समझने, का हम प्रयत्न करेंगे—

'मुख्य ते हरिकथा निरूपण।. दुसरे ते राज कारण।
तिसरे ते सावधपण सर्व विषयों। चवथा अत्यंत सासेप॥'[3]

इसका अभिप्राय है कि संसार से ऊपर उठने के लिए मुख्य हरि-कथा-निरूपण ही एकमात्र साधन है। इसमें भगवद् भक्ति और भगवद् प्राप्ति दोनों कार्य हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना प्रपच युक्ति और बुद्धि के साथ सुव्यवस्थित रूप में करे। यह सतर्कतापूर्ण व्यावहारिक जीवन ही राजकारण के अंतर्गत आता है। अन्यथा उसका जन्म सार्थक नहीं होगा। व्यक्तिस्वातंत्र्य, कर्म-स्वातंत्र्य, समाधान और जन्म का साफल्य इसी से उपलब्ध हो जाते हैं। इसीलिए काम

१. समर्थ रामदास—दिवाकर—ओगलेकर।
२. कौटिल्य धर्म सूत्र।
३. समर्थ रामदास कृत—दासबोध।

क्रोधादि षड्-रिपुओं से बचने की विशेष रूप से सावधानी बरतने की आवश्यकता का प्रतिपादन वे करते हैं। यह सावधानी इन्द्रियज-विषयों के लिये भी आवश्यक है। इस सिद्धी के लिए प्रयत्न और ईश्वरनिष्ठा आवश्यक है। आलस्य को छोड़ प्रयत्न में रत रहने से साफल्य अवश्य मिलता है। इस चतु सूत्री में लोकसंग्रह, लोक जागृति, लोककल्याण और आत्मकल्याण आ जाता है।[1]

साम्प्रदाय का दार्शनिक रूप—

यों तो इस सम्प्रदाय की चतु सूत्री अभी वर्णन की गई है। दासबोध में और अन्यत्र समर्थ रामदास स्वामीजी ने कहीं पर बीस और कहीं पर चालीस लक्षण बतलाए हैं। शाश्वत रूपों से मूलभूत तत्व पाँच है जो इस प्रकार बतलाए जा सकते हैं—*(१) शुद्ध उपासना, (२) विमल ज्ञान, (३) वीतराग (वैराग्य)* (४) ब्राह्मण्य-रक्षण और (५) शुद्ध मार्ग-शुद्धाचरण। समर्थ इन लक्षणों का समावेश रामोपासकों के लिए लिखे गये अपने सुप्रसिद्ध पत्र में इस प्रकार देते हैं :[2]

शुद्ध उपासना विमल ज्ञान। वीतराग आणि ब्राह्मण्य रक्षण।
गुरु परंपरचे लक्षण। शुद्धमार्ग॥
ऐसे पंचधा बोलिलें। इतकुं पाहिजे येत्ने केले।
म्हणजे सकल ही पावने। म्हणे दासानुदास॥[3]

शुद्ध उपासना से रामदास का अभिप्राय वैदिक मार्गानुसारी वर्णाश्रम धर्म युक्त उपासना से है। शुद्ध उपासना में ब्राह्मणों के द्वारा विमल हस्त से पूजा होने में सबका कल्याण है यह उनका कहना है। इसमें प्रतिमा, अवतार, अंतरात्मा और निर्मलात्मा की पूजा, कर्म, भक्तिप्रेम, ज्ञान और विज्ञान युक्त होगी। इस उपासना में कई सोपान हैं और वे एक से एक बढ़कर हैं। 'नारायण असे विश्वीं। त्याची पूजा करीत जावी। या कारणें तोषवावी। कोणी तरी काया॥'

सारे विश्व में नारायण भरा हुआ है उसी की पूजा करनी चाहिए। अत अपनी कृति से, आचरण से मनुष्य मात्र को और अन्य किसी भी जीवधारी को यदि सन्तोष मिला, तो वह परमेश्वर की पूजा ही मानी जायगी। यहीं पर उनकी

१. श्री समर्थ रामदास—श्री दिवाकर जोगळेकर, पृ० ७६।
२. समर्थ रामदास के एक ओवीबद्ध पत्र से।
३. रामदास स्वामी के एक ओवीबद्ध पत्र के अंतिम अंश से ओवी, क्रमांक ११। समर्थ चरित्र भाग ३, पृ० १००।

शुद्ध उपासना मे भगवत का अधिष्ठान भी सम्मिलित हो जाता है। यही रामोपासना है जो शुद्ध है। कोरी जनसेवा समर्थ रामदास को अभिप्रेत नही है।

विमलज्ञान—इसका तात्पर्य है कि उन्हे शुद्ध अद्वैत ही मान्य था। अत जिससे सच्चे भगवान् की पहिचान हो सकती है वही ज्ञान उन्हे अभिप्रेत है। ज्ञान के द्वारा आत्मा को परमात्मा की पहचान होकर वह आत्माराम बन जाय और उस आत्माराम से चिन्हारी हो जाना ही विमल ज्ञान है।

विवेक वैराग्य—ही रामदास स्वामी के मत मे सर्वश्रेष्ठ वीतराग है। विवेकहीन वैराग्य निष्क्रीयता का द्योतक हो जाता है। विचारपूर्वक किये गये ज्ञानाधिष्ठित वैराग मे ही उनका सकेत प्रतीत हो जाता है। विषयो के प्रति विवेक-युक्त वैराग्य यदि न हो, तो शुद्ध ज्ञान प्राप्ति होना असम्भव है। यह ससार स्वभाव से ही सडा-गला है। इसलिए इसे विवेकपूर्ण करने से यह अच्छा हो जाता है और धीरे-धीरे उसकी क्षणभगुरता और नश्वरता भी समझ मे आने लगती है। इसको बिना समझे परमार्थ करने से बडी फजीहत होती है। वैराग्य से त्यागयुक्त प्रवृत्ति रखकर, विषयो से अपने आपको खीच लेना चाहिए तभी पारमार्थिक पात्रता आ सकती है।

ब्राह्मण रक्षण—जो ब्रह्म का निरूपण कर सकता है तथा सपूर्णतया ब्रह्म का जो जानकार है एसे ब्रह्मविद को ब्राह्मण कहना चाहिए। सात्विक प्रवृत्ति वाला, ब्रह्मज्ञान का जिसके पास अधिष्ठान है ऐसा ब्रह्म का अधिष्ठाता शमदमादि षड्गुणों का जिसमे सम्पूर्णतया दर्शन होते है वही पर ब्राह्मण्य है। भगवद्गीता भी तो यही कहती है—

> शमोदमस्तप· शौच क्षान्ति रार्जव मेवच।
> ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥[1]

नाममात्र के ब्राह्मणो से रामदास का कोई नाता नही है। वे तो शुद्धा-चरणी ब्रह्मविदो और ब्रह्मवेत्ताओं के लक्षणों से युक्त ब्राह्मण्य रक्षण को महत्व प्रदान करते हैं।

शुद्ध मार्ग अर्थात् शुद्ध कर्माचरण से उनका अभिप्राय व्यक्त होता है। ईश्वरार्पण बुद्धि से शास्त्रविहित और स्ववर्णोचित कर्म ही स्वधर्म है। आलस्य का घोर विरोध वे करते हैं। वे स्वयम् कर्मयोगी थे। ज्ञानोत्तर भी कर्मयोग नही छोडना चाहिए ऐसा उनका आग्रह था।

> आधी ते करावे कर्म। कर्म मार्गे उपासना।
> उपासका सापडे ज्ञान। ज्ञाने मोक्षचि पावणे ॥

---

१. भगवद्गीता—१८४२।

प्रथम कर्म करना चाहिए। कर्म करते-करते उपासना होती है। उपासना से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान से उपासकों को मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। उनका कर्मठ मार्ग ही बतलाता है कि ब्रह्मज्ञान से सारासार विचारकर धर्म की स्थापना के लिए कर्मकाण्ड और उपासना की अतीव आवश्यकता है। शरीर-धारियों को सदा कर्म-तत्परता-युक्त रहना चाहिये *यही उनका शुद्ध-कर्माचरण है।* समर्थ सम्प्रदाय में आत्मप्रतीति एवम् आत्मसाक्षात्कार का महत्व सबसे अधिक है। व्यक्ति की उन्नति पर जोर है। आत्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नवाद का आश्रय और आलस्य का त्याग आवश्यक है। लोकसंग्रह करने वाले में स्वयम् भगवद्-कृपा से सामर्थ्यशाली बनकर ऐसे ही भगवद् कृपा सम्पन्न लोगों का संगठन लोक-कल्याण और लोकजागृति के लिए करना चाहिये। अनवरत प्रयत्न कर अनन्य भक्ति से रामोपासना करते हुए हर दिन कुछ न कुछ लिखना चाहिए ऐसी समर्थ की अपने सप्रदाय वालों को आज्ञा थी। अनुशासन-हीनता का समर्थ सप्रदाय में *तीव्र निषेध* है। क्योंकि अनुशासन युक्त होकर अखन्ड श्रवण मनन, चिंतन कर, भक्ति मार्ग को अपनाने से आत्म-कल्याण, देश-कल्याण और लोक-कल्याण प्रयत्नपूर्वक करने पर सिद्ध होता है। निश्चय का महामेरु बनकर प्रयत्न को भगवान् मानकर समर्थ ने जिस व्यक्ति में जो गुण देखा उसको लेकर उसे स्वधर्म-निष्ठ बनाकर सङ्गठित किया।

आचरण पक्ष में ऐहिक और पारमार्थिक क्षेत्रों में 'समर्थ सम्प्रदाय' त्याग और विवेक युक्त वैराग्य को प्रधान प्रश्रय देता है। सासारिक कार्यों में और आध्यात्मिक कार्यों में युक्ति और चातुर्य का महत्व है। सर्वोपरिगुणों का ग्रहण और सर्वश्रेष्ठ उत्कटतापूर्ण भावों का अनुभव, किसी को भी उत्तम सामर्थ्य प्रदान करते हैं। सरसता के साथ उत्कट, भव्य और विशाल एवम् उदात्ततत्वों, बातों, और सिद्धान्तों को आत्मसात करना चाहिए। नीरस और छूंछा सदा त्यागना चाहिए। निस्पृहता से विश्व में प्रसिद्ध होकर उत्तम गुणों का चयन और आचरण में उनका ग्रहण कर भगवद्भजन में लीन रहकर जन्म की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिये। समर्थ सम्प्रदाय में 'समर्थ' बनने का यही तरीका है। प्रचड अध्यवसाय, *अतीव भगवद्आस्था, अनवरत प्रयत्न, अबाधकर्मण्यता से युक्त यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र* के लिये आत्मोद्धार में उपकारक सिद्ध हुआ। कहा जा सकता है कि इन तत्वों से *राष्ट्रोन्नति और जगदोद्धार कदापि असम्भव नहीं होगा।* इस सप्रदाय ने व्यक्ति को आत्मनिर्भर, स्वधर्मनिरत, भगवद्कृपा सम्पन्न बनाकर, समाज को स्वधर्मनिष्ठ बनाया और सुसंगठित किया।

वे कहते हैं—

'मिळामिळें लहान थोरे। परीक्षन मोडावी'[1] इस रामदासोक्ति में समर्थ सम्प्रदाय के कार्य का रूप सामने आ जाता है। 'समर्थ' छोटे बड़े सभी व्यक्तियों का परीक्षण कर इस परीक्षण में सफल होने वाले चुनिंदा तेजस्वी युवक 'समर्थ-सम्प्रदाय' में रामदास के शिष्य बने। धनुर्धारी राम और हनुमान की उपासना से इस सम्प्रदाय के द्वारा श्रद्धा, आशा, और विश्वास को बढ़ाया गया, जिससे सारा महाराष्ट्र स्फुरण पाकर तेजस्वी बन गया। 'समर्थ-सम्प्रदाय' की यह विशेषता है, कि उसने व्यष्टि और समष्टि-जीवन में आत्मविश्वास, सच्चरित्रता, भक्ति और सङ्गठन की आवश्यकता सिद्ध की जिसने राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य संघर्ष के आदर्श छत्रपति शिवाजी जैसा प्रातःस्मरणीय नेता निर्माण किया तथा समाज में आत्मबल, ज्ञान और उपासना का महत्व प्रतिष्ठित किया। लोकमंगल, लोक-संग्रह, आत्म-कल्याण और मनोबल की कर्मठ प्रेरणा इस सम्प्रदाय की चिरंतन प्रेरक शक्तियाँ हैं। इसीलिए 'समर्थ सम्प्रदाय' में बलोपासना पर जोर दिया गया है। ●

---

१. दासबोध—रामदास।

तृतीय-अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

★

तृतीय अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

हमारे अध्ययन मे आने वाले मराठी और हिन्दी के नौ वैष्णव सन्तों के साहित्य पर और उनकी साधना पर जिनका प्रभाव पड़ा है उनके स्रोत कौन से थे, और उनके दार्शनिक आधार क्या थे, इसे समझने के लिए यहाँ पर प्रयत्न किया जावेगा। इन मराठी और हिन्दी वैष्णवों की भक्ति-साधना पर दार्शनिकता की दृष्टि से और धार्मिकता की दृष्टि से भारतीय प्रभाव और अभारतीय प्रभाव सांस्कृतिक रूप मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किस प्रकार पड़ा है, इसे देख लेना समीचीन होगा।

बौद्ध महायान और भक्तिमार्ग—

भक्ति दर्शन पर महायान की पूरी छाप है तथा उस पर नारद-भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य और पाचरात्र एवम् भागवत पुराणादि की भक्ति परम्परा भी सन्निहित है। भारत मे वैष्णव-साधना तेरहवी से सत्रहवीं शती तक जब विकसित हो रही थी तब बौद्ध धर्म नामशेष हो गया था। नेपाल, हिन्देशिया, हिन्दीचीन और स्याम मे महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव भक्ति दर्शन का समन्वय साधन हो रहा था। बौद्ध महायान मे बुद्ध-भक्ति एक प्रमुख विशेषता है। महायान ने भगवान् बुद्ध को एक उपास्य रूप में मान लिया। भक्ति और मुक्ति का आश्वासन महायान की विशेषता है। बुद्ध के मन मे प्रथम निर्वाण सुख अनुभव करने की इच्छा जगी और बाद मे उन्होंने 'उदासीनता को जीतकर प्राणियों के दुःख का उपशमन' करने का सकल्प किया। यह सकल्प ही एक आश्वासन के रूप मे बुद्ध भक्ति का मुख्य आलबन था। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की भावना भले ही रही हो यह विशेषता उसमें किसी प्रकार न थी।

ऋग्वेद मे ऋषियों ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे जो देवता भक्ति ही कही जा सकती है। देवताओं का आकर्षण कम हो जाने पर भक्ति निष्प्रभ हो गई। उपनिषदों मे बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नहीं है जिसके

प्रति सच्ची भक्ति का स्वाभाविक विकास होता। निर्गुण निराकार की भक्ति नहीं होती। पाली साहित्य में विष्णु-वेण्हु और शिव-ईसाण गौण देवताओं के रूप में वर्णित हैं। उनका स्थान इन्द्र और ब्रह्मा से निम्नतर है। बुद्धकाल में इनकी उपासना पद्धतियाँ अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकती थीं। कृष्ण भक्ति का प्रचार बुद्ध युग के बाद वासुदेव कृष्ण को भागवत सम्प्रदाय के भगवान् के साथ एकीकरण किये जाने के परिणामस्वरूप हुआ। 'बेसनगर' के शिलालेख में 'हेलियोडोरस' अपने को 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित करता है। 'छान्दोग्य' में कृष्णाय-देवकी पुत्राय' और कौषीतकी ब्राह्मण में कृष्ण आंगिरस का वर्णन है। ईशोपनिषद में ईश्वर की उपास्य के रूप में विवेचना है। 'श्वेताश्वतर' में भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचलन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भक्ति धारा का विकास होते-होते कृष्ण भक्ति में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। क्योंकि इस विश्वास के प्रचलन के आधार इन्हीं उल्लेखों में ही विद्यमान हैं। घुमुण्डी के शिलालेख में वासुदेव का जना भगवद्भ्यामकर्पण-वासुदेवाभ्याम्' के रूप में उल्लेख मिलता है। इस वासुदेव-पूजा का केन्द्र मथुरा था। कृष्ण भक्ति में कृष्ण पूजा का महत्व कृष्ण के महान बनने के बाद से ही सिद्ध हो जाता है। पाणिनि भी 'वासुदेवार्जुनाभ्याम्' वासुदेव का देवता रूप में उल्लेख करते हैं। 'पालिनिर्देश' में वासुदेव-सम्प्रदाय' का उल्लेख इस प्रकार आता है— 'वासुदेव कुनिकावाहोन्ति।' यह उल्लेख वासुदेव पूजा के प्रचलन का ही समर्थन करता है। इन सब बातों से कह सकते हैं कि वासुदेव पूजा द्वितीय शताब्दी पूर्व ही भारत में प्रचलित रही होगी। महायान में जब बुद्ध भक्ति का उदय हुआ होगा तो उसने इस वासुदेव-सम्प्रदाय से ज्ञात और अज्ञात रूप में अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी।

रिचार्ड गार्बे गीता का मौलिक प्रणयन ३००—२५० ईसवी पूर्व मानते हैं। डा० हरदयाल अत्यंत संतुलित विवेचन के बाद २५० ई० पू० से लेकर २०० ईसवी पूर्व तक गीता का प्रणयन काल मानते हैं। वैसे विंटर निट्ज़, के०जे० साउर्स आदि गीता से महायान ने बहुत कुछ लिया हैं ऐसा सिद्ध करते हैं। श्रीभरतसिंह उपाध्याय के मतानुसार गीता के कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप में चित्रित हैं वह बुद्ध का अनुकरण ही है। महायान बौद्ध धर्म में एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् मुक्ति का आश्वासन तथागत की बोधिप्राप्ति और उनके प्राणियों की विमुक्ति के लिए दिए गए उपदेश के निर्णय पर आधारित है।[1] धार्मिक इतिहास में यह

१. बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५६०।

तृतीय अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

हमारे अध्ययन में आने वाले मराठी और हिन्दी के भी वैष्णव सन्तों के साहित्य पर और उनकी साधना पर जिनका प्रभाव पडा है उनके स्रोत कौन से थे, और उनके दार्शनिक आधार क्या थे, इसे समझने के लिए यहाँ पर प्रयत्न किया जावेगा। इन मराठी और हिन्दी वैष्णवों की भक्ति-साधना पर दार्शनिकता की दृष्टि से और धार्मिकता की दृष्टि से भारतीय प्रभाव और अभारतीय प्रभाव सांस्कृतिक रूप में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किस प्रकार पड़ा है, इसे देख लेना समीचीन होगा।

बौद्ध महायान और भक्तिमार्ग—

भक्ति दर्शन पर महायान की पूरी छाप है तथा उस पर नारद-भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य और पांचरात्र एवम् भागवत पुराणादि की भक्ति परम्परा भी सन्निहित है। भारत में वैष्णव-साधना तेरहवीं से सत्रहवीं शती तक जब विकसित हो रही थी तब बौद्ध धर्म नामशेष हो गया था। नेपाल, हिन्देशिया, हिन्दीचीन और सयाम में महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव भक्ति दर्शन का समन्वय साधन हो रहा था। बौद्ध महायान में बुद्ध-भक्ति एक प्रमुख विशेषता है। महायान ने भगवान् बुद्ध को एवं उपास्य रूप में मान लिया। भक्ति और मुक्ति का आश्वासन महायान की विशेषता है। बुद्ध के मन में प्रथम निर्वाण सुख अनुभव करने की इच्छा जगी और बाद में उन्होंने *'उदासीनता को जीतकर प्राणियों के दुःख का उपशमन'* करने का संकल्प किया। यह संकल्प ही एक आश्वासन के रूप में बुद्ध भक्ति का मुख्य आलंबन था। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की भावना भले ही रही हो यह विशेषता उसमें किसी प्रकार न थी।

ऋग्वेद में ऋषियों ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे जो देवता भक्ति ही कही जा सकती है। देवताओं का आकर्षण कम हो जाने पर भक्ति निष्प्रभ हो गई। उपनिषदों में बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नहीं है जिसके

प्रति सच्ची भक्ति का स्वाभाविक विकास होता। निर्गुण निराकार की भक्ति नहीं होती। पाली साहित्य में विष्णु-वेण्हु और शिव-ईशाण गौण देवताओं के रूप में वर्णित हैं। उनका स्थान इन्द्र और ब्रह्मा से निम्नतर है। बुद्धकाल में इनकी उपासना पद्धतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती थीं। कृष्ण भक्ति का प्रचार बुद्ध युग के बाद वासुदेव कृष्ण को भागवत सम्प्रदाय के भगवान् के साथ एकीकरण किये जाने के परिणामस्वरूप हुआ। 'बेसनगर' के शिलालेख में 'हेलियोडोरस' अपने को 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित करता है। 'छान्दोग्य' में कृष्णाय-देवकी पुत्राय' और कौषीतकी ब्राह्मण में कृष्ण आंगिरस का वर्णन है। ईशोपनिषद में ईश्वर की उपास्य के रूप में विवेचना है। 'श्वेताश्वतर' में भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचलन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भक्ति धारा का विकास होते-होते कृष्ण भक्ति में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। क्योंकि इस विश्वास के प्रचलन के आधार इन्हीं उल्लेखों में ही विद्यमान हैं। घुसुण्डी के शिलालेख में वासुदेव का जना भगवद्भ्यासकर्षण-वासुदेवाभ्याम्' के रूप में उल्लेख मिलता है। इस वासुदेव-पूजा का केन्द्र मथुरा था। कृष्ण भक्ति में कृष्ण-पूजा का महत्व कृष्ण के महान बनने के बाद से ही सिद्ध हो जाता है। पाणिनि भी 'वासुदेवार्जुनभ्याम्' वासुदेव का देवता रूप में उल्लेख करते हैं। 'पाणिनिद्देश' में वासुदेव-सम्प्रदाय' का उल्लेख इस प्रकार आता है—'वासुदेव कृतिकावाहोन्ति।' यह उल्लेख वासुदेव पूजा के प्रचलन का ही समर्थन करता है। इन सब बातों से कह सकते हैं कि वासुदेव पूजा द्वितीय शताब्दी पूर्व ही भारत में प्रचलित रही होगी। महायान में जब बुद्ध भक्ति का उदय हुआ होगा तो उसने इस वासुदेव-सम्प्रदाय से ज्ञात और अज्ञात रूप से अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी।

रिचार्ड गार्बे गीता का मौलिक प्रणयन ३००-२५० ईसवी पूर्व मानते हैं। डा० हरदयाल अत्यंत सतुलित विवेचन के बाद २५० ई० पू० से लेकर २०० ईसवी पूर्व तक गीता का प्रणयन काल मानते हैं। वैसे विंटर निट्ज़, के०जे० साडर्स आदि गीता से महायान ने बहुत कुछ लिया है ऐसा सिद्ध करते हैं। श्रीभरतसिंह उपाध्याय के मतानुसार गीता के कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप में चित्रित हैं वह बुद्ध का अनुकरण ही है। महायान बौद्ध धर्म में एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् मुक्ति का आश्वासन तथागत की बोधिप्राप्ति और उनके प्राणियों की विमुक्ति के लिए दिए गए उपदेश के निर्णय पर आधारित है।[1] धार्मिक इतिहास में यह

१. बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५६०।

एक महान बात है जो श्रौत परपरा मे नही मिलता। इसी से प्रेरणा लेकर श्रौत-परपरा ने उसे अपनाया था। जिसमे से मूलत. भक्ति के विचार को महायान ने लिया था। श्रौत परपरा मे भक्ति देवताओं पर निर्भर रहती है जिनमे लेशमात्र ऐतिहासिक मानवत्व नही था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति को महापुरुष के रूप मे भक्ति का आलबन बनाकर महायान ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। भागवतकार तो कृष्ण को साक्षात भगवान् तक मानते हैं। राम और विष्णु, तथा कृष्ण और विष्णु को ऐतिहासिक महापुरुषो के रूप मे मानकर उनको एकाकार करने का प्रयत्न किया गया और राम और कृष्ण भगवान् बनकर सामने आये। भरतसिंह उपाध्याय का कहना है कि वे बाद में बुद्ध के अनुकरण पर देवता बने। गीता में प्राणियों को मुक्त करने का सकल्प है, पर स्वयम् उनके जीवन का वह आधार वहाँ है जो बुद्ध के जीवन से मिलता रहा है। सच्ची भक्ति मे मुक्ति का आश्वासन ऐतिहासिकता पर आधारित होना चाहिए। मुक्तिदाता भी ऐतिहासिक हो। महायान ने यही साधना भारतीय साधना को दी। राम भक्ति मे यह बात नही मिलती। कृष्ण और राम इन दोनों महापुरुषों का दैवीकरण किया ही इसलिए गया था, कि बुद्ध के अनुरूप भक्ति का आलबन श्रौतपरपरा के साधकों को मिले। परन्तु उसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली।

राम अपने बाणों से सुबाहु, ताड़का और मारीच तथा रावण के मुक्तिदाता बने। वैसे रामनाम जपने से भवसागर सूख जाता है। ठीक है, पर स्वय राम के जीवन में भवसागर को सुखाने का क्या आधार है? राम और कृष्ण के जीवन में अपने ही जीवन से मुक्ति का आश्वासन दिया जाय ऐसा ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। महायान के उपास्य देव के अनुकरण पर ही बाद में यत्र तत्र प्रयास किया गया है ऐसा श्री भरतसिंह उपाध्यायजी का विवेचन है। इसके कारण इस प्रयास मे बल नहीं बल्कि असगति है।

छठी शताब्दी ईसवी में राम का एक रूप गढ डाला गया जो वाल्मीकि रामायण के राम से बिलकुल भिन्न था। परन्तु जिसमे राम के मुक्ति दाता राम के रूप के साथ सङ्गति थी। अध्यात्म साधको को भी आकर्षित करने की वह क्षमता रखता था। राम का यह रूप योगवासिष्ठ के राम का रूप है जहाँ राम किशोरावस्था से ही विरागी सिद्धार्थ का सा रूप धारण कर लेते हैं और ससार की समस्याओं पर विचार करते हुए पीछे पड जाते हैं।[१]

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५६१।

आलोचना—

भरतसिंह उपाध्यायजी ने यह सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया है कि बुद्ध के व्यक्तित्व ने ही कृष्ण और राम जैसे नामो के दैवीकरण करके बौद्ध महायान से भक्ति का सूत्र लेकर उसका अनुकरण किया। किन्तु इतिहास इससे विरुद्ध है। जिस बुद्ध के व्यक्तित्व की महत्ता उपाध्यायजी के अनुसार इतनी महान थी तथा जिसके चरित्र मे इतनी महान क्षमता थी कि उसके ही अपने काल मे उसकी पूजा या मूर्ति पूजा न होकर राम और कृष्ण की मूर्तियां पूजी गयी। राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से परे बुद्ध को उपाध्यायजी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं यह बात इतिहास की दृष्टि से अनोखी जान पडती है। जिन कारणो से बुद्ध धर्म का उच्चाटन भारत से हुआ वे उतने ही प्रभावी होना जरूरी है। इसी बात की असमर्थता सामने वाले सामर्थ्यवान् को पराजित करने के सक्षम नही होती। अत उपाध्यायजी का यह मत दुराग्रह जैसा लगता है।

काफी हद तक महायान भक्तिवाद भक्ति सम्बन्धी उन प्रवृत्तियो का विकास है जो हमे बुद्ध के मूल उपदेशो या स्थविरवाद से बौद्ध धर्म मे आ गया है। मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित होने से उसने महायान को प्रेरणा दी होगी यही कहना पडता है। यो भक्ति का विचार बौद्धों के पहले ही भारत मे जगा था, और हिन्दुओ मे वह सर्वप्रथम जागा था, बाद मे बौद्धो मे। राम और कृष्ण की उपास्य रूप मे भक्ति की परपरा ने ही महायान को प्रेरणा दी होगी, यही कहना पडता है। मध्ययुगीन वैष्णव साधना को अवश्य किसी न किसी रूप मे महायान ने प्रभावित किया होगा।

महायान का शरणागति का महत्व गीता के भक्तिवाद का ही स्वरूप है। 'सद्धर्म-पुडरीक' और 'गीता' मे अनेक समानताएँ है। बुद्ध के लिए प्राय. उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कृष्ण के लिए गीता मे। 'सद्धर्म पुडरीक' उनके लिए गीता का ऋणी है। हम डा० हरदयाल तथा उपाध्यायजी के मत से सहमत नही हो सकते कि उनका आविष्कार पहले बौद्धो ने किया और बाद मे वैष्णव नेताओ ने उसका उपयोग किया।

गीता और बौद्ध दर्शन—

गीता एक समग्र दर्शन है। इसमे सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। अनेक तात्विक चिन्ताओ का इसमे समाधान मिलता है। गीता एक कामधेनु है। सत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गीता-माता, ज्ञानी और अज्ञानी सतान मे कोई भेद नही करती। भगवान् कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति भी उसे कहा जा

सकता है। बौद्धो की परिभाषा मे गीता भगवान् कृष्ण का 'धर्मकार्य' है। मोक्ष रूपी प्रसाद गीता सबको बाँटने के लिए तैयार है। इसमे कम तो वह किसी को देती ही नहीं और वह किसी को भी ना नही कहती। तथागत के प्रवेदित धर्म के समान गीता का आकलन भी अतर्क विचार है।[1] गीता तत्व अज्ञेय और अपरिमेय और इसी शरीर मे स्वसवेद्य है। स्वयम् गीताकार कृष्ण कहते हैं कि 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव मे आने योग्य अभ्यास करने मे सुगम और अविनाशी है। समत्व मे पूर्णता प्राप्त मनुष्य योग्य काल आने पर स्वयम् अपने अन्दर इस ज्ञान के दर्शन करता है। विवस्वान मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से प्राप्त यह ज्ञान नित्य नवीन है। इसका प्रभाव अतीन्द्रिय है और वह शब्दों की पकड मे नहीं आता। वस्तुत गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है। उपनिषदो के ज्ञान का ही उसमे गायन हुआ है। इसका अन्तिम प्रयोजन 'परम-नि श्रेयस' की प्राप्ति है और परम-निःश्रेयस' का लक्षण यह है कि वह अहेतुक ससार की आत्यन्तिक उपशान्ति ही है। यह प्राप्ति सर्वकर्म सन्यासपूर्वक आत्मनिष्ठा के धर्म से ही सभव है। महात्माजी गीता को श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया बोध है ऐसा मानते है। निवृत्ति और प्रवृत्ति मे गीता कोई भेद नही करती। गीता के ज्ञान मे कर्म के साथ भक्ति का समन्वय है। *कर्म पर उसका आग्रह इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कही* ज्ञान अक्रियावाद न हो जाय। गीता और बौद्ध साधना, भोगवाद और आत्मपीडा की अनिर्यां स्वीकार नही करती। भगवान् कृष्ण श्रेय मार्ग का प्रतिपादन गीता मे इस प्रकार करते हैं[2]—

युक्तहार विहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा॥

जो मनुष्य आहार विहार में दूसरे कार्यों मे सोने-जागने मे समानता रखता है, उसका योग दु खनाशक सिद्ध होता है।

गीता का भक्ति योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन है। भगवान् की अनन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा भक्त के योग क्षेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा गीता के दो बहुत बडे आश्वासन है। अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट करती है। भगवद् भक्त का कभी विनाश नहीं होता। भगवान् बुद्ध के 'आत्मदीप' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश ही गीता दूसरे ढङ्ग से देती है। गीता के अनुसार मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न होने दे। आत्मा ही

१. बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ७८८।
२. श्रीमद् भगवद्गीता—६-१७।

आत्मा का शत्रु और बंधु है। जो अपने बल से मन को जीत लेता है उसी का बंधु आत्मा है। जिसने अपने आत्मबल से आत्मा को नहीं जीता वह अपने प्रति ही शत्रु का व्यवहार करता है। बुद्ध भी कहते हैं 'कर्म प्रति शरण बनो।' 'कर्म ही तुम्हारा अपना है।' इसमें भी गीता की ही ध्वनि निर्देशित हो जाती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति।' अध्यात्मिक जीवन का इतना बड़ा आश्वासन अन्यत्र दुर्लभ है। एकान्तिक भक्ति का एकमात्र दर्शन गीता दर्शन है। भगवान् बुद्ध के विशुद्ध ज्ञान मार्ग में भगवत कृपा जैसी कोई वस्तु सहायता के लिए नहीं आती। साधारण बौद्धानुयायी 'बुद्ध शरण गच्छामि' कहते हैं अत कह सकते हैं कि महायान के भक्ति, धर्म, और गीता के भक्ति तत्व में पारस्परिक आदानप्रदान पर्याप्त मात्रा में हुआ और दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।

आलोचना—इसमें यह सिद्ध होता है कि जो लोग गीता को बायबल से अनुप्राणित या बौद्ध धर्म प्रेरित मानते हैं, वे यह भूलते हैं कि गीता दर्शन की परपरा गीता में ही दी गयी है। अत यह बाद में नहीं जोड़ी गई। यह उसकी पुरातनता को सिद्ध करती है। जो लोग यह कहते है कि यह परपरा बाद की जोड़ी हुई है वे यह भूलते हैं कि इतिहास इसे गलत सिद्ध करता है। अत उनका यह आक्षेप एकदम गलत और दुराग्रहपूर्ण जान पड़ता है। गीताकार का 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज' यह कथन बुद्धानुयायियों पर इतना प्रभाव छोड़ा गया कि 'बुद्ध शरण गच्छामि' इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेने के लिए उन्हें विवश हो जाना पड़ा।

सत्य और असत्य, चित् और अचित् से भरे हुए विवेकपूर्ण जीवन में साक्षात्कार करना कितना कठिन है इसे वैष्णव सत भक्त तुलसीदासजी व्यक्त करते हैं[1]—

'जड़ चेतन हि ग्रंथी पड़ी गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

श्रेय को ग्रहण करने वाला सदा शुभ बातों को ग्राह्य करता है, तथा प्रेय को ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ में भी वंचित हो जाना पड़ता है। श्रेय की खोज अध्यात्म-विद्या में प्रमुख रही है। गवेषणा हृदय और मस्तिष्क दोनों से की जाती है। गवेषणातत्व ही सत्य है। महाभारत के अनुसार 'सत्यान्नास्ति परोधर्म' कहा गया है, तो तुकारामोक्ति है—'सत्या परता नाही धर्म। सत्य तेचि परब्रह्म। सत्यापाशी पुरुषोत्तम। सर्वकाळ तिष्ठत॥' इसका अभिप्राय है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और सत्य ही परब्रह्म है, तथा जहाँ सत्य की स्थिति है

१. श्रीरामचरितमानस—तुलसीदास।

वहाँ पर पुरुषोत्तम सर्वदा विद्यमान रहते हैं। तुलसीदासजी भी ऐसा ही कहते हैं—'धरम न दुसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।' भारत की अध्यात्म साधना मे तपस्या को महत्व प्रदान किया जाता है। भारतीय जनजीवन में जब-जब विपत्तियाँ आई हैं तब-तब तपस्या के बल पर ही आत्मविश्वास के साथ इन पर विजय प्राप्त की गयी है। प्राय भारत मे व्यक्ति रूप से और सामूहिक रूप से नव जागरण और नव्य भावनाओ का स्फुरण इसी तपस्या के अङ्ग से ही उपलब्ध हो सका है। मराठो के स्वराज्य की स्थापना इसी त्याग और तपस्या के बल पर की गयी थी। चैतन्य महाप्रभु के बारे मे यह प्रसिद्ध है कि वे मुखशुद्धि के लिए एक हर्र भी अपने पास न रखते थे। सभी वैष्णवों की प्रगति एवम् उन्नति, भारत का शिल्प, कला, विद्या, सर्गीत तथा सभी कुछ फिर चाहे अध्यात्मिक हो या आधि भौतिक सभी तपस्या से अनुप्राणित है। इस तपस्या तत्व की उपयोगिता बडे सशक्त स्वरो मे मध्ययुगीन वैष्णव भक्त कवियो ने प्रतिपादित की है। भक्त आत्मसाक्षात्कार का अभ्यासी होने से दुःख निरोध करता है। शील, सदाचार, *ब्रह्मचर्य और तपस्या भक्त मे मूर्तिमान होती रही है। अपने जीवन मे दुखो का* अनुभव करते हुए तथा उनसे प्रभावित हुए बिना उनको दूर करने मे प्रयत्नशील रहकर वे आत्माराम तपस्वी बने हैं। अत भारत सदा ऐसे निष्कामी संतों पर सदा गर्व करता रहा है। ज्ञान भी बिना तपस्या के असभव है और बिना ज्ञान की तपस्या निष्फल है। तपस्या जीवन को सजीवनी और सौष्ठव प्रदान करती है। योग भी तपस्या से सफल होता है। इसीलिए गीता मे कहा गया है—

'युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु'[१]

अर्थात् आहार विहार में युक्त रहना ही योग्य है। उसमे रत रहना या उससे वंचित रहना अयोग्य है। निरोध प्राणायामादि की साधनाएँ अयोग्य व्यक्तियों के हाथ मे पडकर भ्रष्ट और हानिकारक हो जाती हैं। इसकी साक्ष्य वज्रयान और सिद्धयान दे सकते हैं।

शकराचार्य ने इसीलिए अपने आश्रमानुसार विहितकर्म करना ही तप माना है और इसी से उन्होंने बौद्ध धर्म के दोषों का निष्कासन किया और हिन्दू धर्म को विशुद्ध रूप देकर उसे परिष्कृत किया।

लोकधर्म की गरिमा रखने के हेतु वैष्णव सन्तो ने मन्त्रतन्त्रो के निकृष्ट प्रयोगो की निन्दा की। तुलसी ने कहा—'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।' कबीर योग के अभ्यासी थे पर तपस्या की सराहना उन्होंने भी की। उनका कथन है।

१. गीता, ६–१७।

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन उपजी दिन-दिन अधिक चली।
जहाँ-जहाँ डोलो सो परिकरमा। जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवो तो करो दण्डवत पूजो और न देवा।
आँख न मूदो कान न रूंधो तन कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानो हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारो॥[1]

तपस्या के दुर्ग पर चढ़ना ऐसा दुर्गम है जैसे निराधार और फिसलाहट से युक्त पर्वतीय कगार पर चढ़ना। आत्मविजय ही ब्रह्म विजय है। महात्मा गांधीजी का इस विषय में यह मत कितना समीचीन है—

'श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान और आत्म ज्ञान की वृद्धि होती है इसलिए अन्त शुद्धि होती है, परन्तु उसका अन्त शुद्धि के साथ कार्यकारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चरित्र भ्रष्ट भी पाये जाते हैं किन्तु श्रद्धा के साथ शून्यता का होना असभव है।'[2]

—महात्मा गाँधी।

इसी भक्ति युग ने कबीर जैसा निर्मम बुद्धिवादी उत्पन्न किया। भक्ति के कारण श्रद्धा तत्व की प्रधानता का पाया जाना इस युग की विशेषता थी। इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि हम तभी उत्कर्षवान रहे जब श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय किया गया। हमारा अधःपतन तभी हुआ जब हमने बुद्धि का आश्रय छोड़ दिया। मध्ययुगीन भक्ति परम्परा में दक्षिण भारत में वेदान्त भक्ति युक्त वैष्णव धर्म तथा बङ्गाल में प्रेमोल्लासमयी रस निष्यंदिनी वैष्णव धाराएं उस समय चल रही थी। उत्तर भारत में निर्गुण सन्तमत और सगुण भक्ति युक्त वैष्णव धर्म का प्रवाह बह रहा था। इन में दार्शनिक कवि बनकर अपनी अनुभूति प्रधान बातें भक्ति की माधुरी के साथ अभिव्यञ्जित कर रहा था। राम, कृष्ण और विट्ठल, विष्णु के अवतार बनकर आराध्य देव बने। जो वेदान्तियों के निर्विशेष थे, बौद्धों के लिए सम्यक सम्बुद्धि से मौन होकर साध्य हो गये थे, उसे तानपूरे पर गाकर सार्वजनीन व सर्व-सुलभ बनाकर मीरा, कबीर, सूर, तुलसी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि ने अपनी वाणी मे आह्वान देते हुए प्रस्तुत किया। भारतीय विचार-साधना में दो प्रकार का महत्व है। एक सगुण भक्ति तत्व जो श्रुति सम्मत-स्मृति प्रतिपादित था, तो दूसरा निर्गुण वादी और बौद्ध

१. कबीर ग्रंथावली।
२. आत्मकथा—महात्मा गांधी।

साधना की विरासत लेकर चल पड़ा था। प्रथम सगुण भक्त और दूसरे निर्गुण मत भक्त कहलाए। मध्य युग के वैष्णवों की भक्ति सगुण तथा निर्गुण और सगुण की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में सामने आई है। एक के प्रतिनिधि तुलसीदास, एकनाथ और रामदास हैं, तो दूसरे के सूरदास, ज्ञानेश्वर, मीरा, नामदेव और तुकाराम हैं और निर्गुण के कबीर, नामदेव तथा अन्य सन्त हैं। बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव और श्रमण-संस्कृति से जुड़े हुए कबीर एकमात्र सन्त हैं। भारत का यह भक्ति-आन्दोलन उत्तर में सगुण और निर्गुण की भक्ति का बाना पहनकर तथा दक्षिण में वेदान्त से अनुप्राणित भक्ति में सम्पन्न वैष्णव रूप लेकर तथा बङ्गाल में प्रेम रूपा एवम् श्रेङ्गारिक रहस्यवाद इन तीन मुख्य स्वरूपों में सामने आया। भक्ति दक्षिण में उत्पन्न होकर पूर्व में गई वहाँ से उत्तर भारत में जाकर विकसित हुई। ठीक इसी तरह बौद्ध महायान का भी विकास हुआ। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन श्रुति, स्मृति, पुराण, भागवत, गीता, हरिवंश, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि के दर्शन सिद्धान्तों और आचार्यों से अपनी परंपरा जोड़ता है, तो इतिहास के पक्ष से उसे महायान की भक्तिशाखा से भी जोड़ने का कार्य अनुचित नहीं माना जावेगा।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति का बीजारोपण होकर वह अङ्कुरित, पुष्पित और फलित हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में जबकि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन किया जा रहा था तथा वर्ण, धर्म और जाति भेद की नींव पुनः दृढ़ की जा रही थी उस समय शैवों ने महायान के विरति विवेक तत्वों को आत्मसात कर लिया और महायान के मानवी और भक्ति तत्वों को वैष्णव साधकों ने हृदयगम कर लिया। पुराणों के योगी शिव और ध्यानी बुद्ध में साम्य है बल्कि कहना चाहिए कि नाममात्र भी अन्तर नहीं है। नेपाल में यह समन्वयीकरण विशेष हुआ क्योंकि कुछ मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनको देखकर निर्णय नहीं कर सकते कि वे बुद्ध-मूर्तियाँ हैं या शिव-मूर्तियाँ। इसलिए बहुत से बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मठों के अधीन हो गए। वही उपासक और वही उपास्य इस नाते बोध गया का मन्दिर शैवों के हाथों में चला गया। बारहवीं शताब्दी के जयदेव ने पुराणों के आधार पर भगवान् बुद्ध की विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्तुति की है। तुलसीदासजी ने उनको इसी रूप में लिया है। अन्य वैष्णव कवि भी इसी रूप में मानते हैं। मध्ययुगीन भक्ति-साधना में उसका पूरा रूपान्तर हो गया। चीनी यात्री फाहियान ने जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा की रथ यात्रा देखी थी जो बुद्धयात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही था।

मायावाद और अवतारवाद के सिद्धान्त प्रथम बौद्ध साधना में प्रकट हुए हैं।

तथागत स्वयम् निस्वभाव, निर्गुण और धर्मात्मा स्वरूप हैं। लोककल्याणार्थ माया निर्मित रूप को गौतमबुद्ध आदि अनेक बोधिसत्वों के रूप में ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार तुलसी के राम आज अनादि सच्चिदानंद, अनाम, परमधामा, अखण्ड और अनन्त हैं उसी प्रकार वे दाशरथी राम कौसल्या की गोद में खेलने वाले भी हैं और लोकपालक और रावण के सहारक भी हैं। कबीर के राम, 'दशरथसुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना', हैं। महायान में तथागत को वैसा ही समझा गया। बुद्ध महायानियों के लिए बुद्ध धर्म-शून्य, तथागतस्वरूप और निःस्वभाव हैं। इस तरह भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनों कल्पनाएँ अपने समन्वय के साथ तथागत के व्यक्तित्व में आ गई थीं। राम और कृष्ण के अवतार वाद को लेकर मध्ययुगीन वैष्णव धारा में यह समन्वय को लेकर विकसित और समृद्ध हुई। वैष्णव साधना में महायानी साधना इस प्रकार रूपान्तरित हुई। डा० जदुनाथ सरकार बताते हैं कि मध्ययुग के एक उडिया कवि ने 'दारु ब्रह्म' नामक कविता में जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध रूप में स्तुति की है जिसमें जगन्नाथ से कहलवाया है कि 'मैं बुद्धावतार हूँ, मैं कलियुग के जीवों का उद्धार करूँगा।'

तान्त्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के भीतर अपने लिए एक स्थान कर लिया। यह कार्य विशेषत पूर्वी बङ्गाल तथा आसाम में विशेष रूप से सम्पन्न हुआ। वैष्णव साधना ने बौद्ध धर्म की ह्रासावस्था की दशाओं के मन्त्र-तन्त्रादि के प्रभावों को किस प्रकार ग्रहण किया यह देख लेना भी उपयुक्त होगा।

वाम मार्ग की प्रवृत्तियाँ तान्त्रिक साधना ने अपना ली थी। इनको बौद्धों ने अपना लिया था। इसके कारण बौद्ध परम्परा खोखली हो गई। तान्त्रिक अद्भुत प्रतीकों का प्रयोग करते थे तथा बडे योगी होने का भी दावा करते थे। बौद्धों पर इनका विशेष प्रभाव पडने से परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। नेपाल तथा बङ्गाल में शैवों और शाक्तों से बौद्धों ने ये साधनाएँ लीं। तात्विक रूप से इनमें और बुद्ध की शिक्षाओं में कोई समन्वय न था। स्वयम् बौद्ध धर्म में हठयोग, मन्त्रयोग आदि को प्रोत्साहन न था। पर चौरासी सिद्धों के प्रभाव से बौद्धों पर भी इसका असर हुआ। स्व० महापंडित राहुल साङ्कृत्यायन अपनी पुरातत्व निबन्धावली में विवेचन करते हैं कि बौद्धों के लिए यह काल उनके दुर्दिनों का सूचक था। भैरव[1] भवानी या बुद्ध-तारा की उपासना करके तान्त्रिक पृष्ठभूमि को इस साधना ने स्वीकार कर लिया। इसी माध्यम से अपने अंतिम भग्न-तान्त्रिक रूप में वह नाथपथ निर्गुणी

१. पुरातत्व निबंधावली—स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

साधना की विरासत लेकर चल पड़ा था। प्रथम सगुण भक्त और दूसरे निर्गुण मत भक्त कहलाए। मध्य युग के वैष्णवों की भक्ति सगुण तथा निर्गुण और सगुण की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में सामने आई है। एक के प्रतिनिधि तुलसीदास, एकनाथ और रामदास हैं, तो दूसरे के सूरदास, ज्ञानेश्वर, मीरा, नामदेव और तुकाराम हैं और निर्गुण के कबीर, नामदेव तथा अन्य सन्त हैं। बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव और श्रमण-संस्कृति से जुड़े हुए कबीर एकमात्र सन्त हैं। भारत का यह भक्ति-आन्दोलन उत्तर में सगुण और निर्गुण की भक्ति का बाना पहनकर तथा दक्षिण में वेदान्त से अनुप्राणित भक्ति में सम्पन्न वैष्णव रूप लेकर तथा बङ्गाल में प्रेम रूपा एवम् श्रृंगारिक रहस्यवाद इन तीन मुख्य स्वरूपों में सामने आया। भक्ति दक्षिण में उत्पन्न होकर पूर्व में गई वहाँ से उत्तर भारत में आकर विकसित हुई। ठीक इसी तरह बौद्ध महायान का भी विकास हुआ। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन श्रुति, स्मृति, पुराण, भागवत, गीता, हरिवंश, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि के दर्शन सिद्धान्तों और आचार्यों से अपनी परम्परा जोड़ता है, तो इतिहास के पक्ष से उसे महायान की भक्तिशाखा में भी जोड़ने का कार्य अनुचित नहीं माना जावेगा।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति का बीजारोपण होकर वह अङ्कुरित, पुष्पित और फलित हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में जबकि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन किया जा रहा था तथा वर्ण, धर्म और जाति भेद की नींव पुनः दृढ़ की जा रही थी उस समय शैवों ने महायान के विरति विवेक तत्वों को आत्मसात कर लिया और महायान के मानवी और भक्ति तत्वों को वैष्णव साधकों ने हृदयगम कर लिया। पुराणों के योगी शिव और ध्यानी बुद्ध में साम्य है बल्कि कहना चाहिए कि नाममात्र भी अन्तर नहीं है। नेपाल में यह समन्वयीकरण विशेष हुआ क्योंकि कुछ मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनको देखकर निर्णय नहीं कर सकते कि वे बुद्ध-मूर्तियाँ हैं या शिव-मूर्तियाँ। इसलिए बहुत से बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मठों के अधीन हो गए। वही उपासक और वही उपास्य इस नाते बोध गया का मन्दिर शैवों के हाथों में चला गया। बारहवीं शताब्दी के जयदेव ने पुराणों के आधार पर भगवान् बुद्ध को विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्तुति की है। तुलसीदासजी ने उनको इसी रूप में लिया है। अन्य वैष्णव कवि भी इसी रूप में मानते हैं। मध्ययुगीन भक्ति-साधना में उसका पूरा रूपान्तर हो गया। चीनी यात्री फाहियान ने जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा की रथ यात्रा देखी थी जो बुद्धयात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही था।

मायावाद और अवतारवाद के सिद्धांत प्रथम बौद्ध साधना में प्रकट हुए हैं।

तथागत स्वयम् निःस्वभाव, निर्गुण और धर्मात्मा स्वरूप हैं। लोककल्याणार्थ माया निर्मित रूप को गौतमबुद्ध आदि अनेक बोधिसत्वों के रूप में ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार तुलसी के राम आज अनादि सच्चिदानंद, अनाम, परमधामा, अखण्ड और अनन्त हैं उसी प्रकार वे दाशरथी राम कौसल्या की गोद में खेलने वाले भी हैं और लोकपालक और रावण के संहारक भी हैं। कबीर के राम, 'दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना', हैं। महायान में तथागत को वैसा ही समझा गया। बुद्ध महायानियों के लिए बुद्ध धर्म-शून्य, तथागतस्वरूप और निःस्वभाव हैं। इस तरह भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनों कल्पनाएँ अपने समन्वय के साथ तथागत के व्यक्तित्व में आ गई थीं। राम और कृष्ण के अवतार वाद को लेकर मध्ययुगीन वैष्णव धारा में यह समन्वय को लेकर विकसित और समृद्ध हुई। वैष्णव साधना में महायानी साधना इस प्रकार रूपान्तरित हुई। डा० जदुनाथ सरकार बताते हैं कि मध्ययुग के एक उड़िया कवि ने 'दारु ब्रह्म' नामक कविता में जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध रूप में स्तुति की है, जिसमें जगन्नाथ से कहलवाया है कि 'मैं बुद्धावतार हूँ, मैं कलियुग के जीवों का उद्धार करूँगा।'

तान्त्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के भीतर अपने लिए एक स्थान कर लिया। यह कार्य विशेषतः पूर्वी बङ्गाल तथा आसाम में विशेष रूप से सम्पन्न हुआ। वैष्णव साधना ने बौद्ध धर्म की ह्रासावस्था की दशाओं के मन्त्र-तन्त्रादि के प्रभावों को किस प्रकार ग्रहण किया यह देख लेना भी उपयुक्त होगा।

वाम मार्ग की प्रवृत्तियाँ तान्त्रिक साधना ने अपना ली थीं। इनको बौद्धों ने अपना लिया था। इसके कारण बौद्ध परम्परा खोखली हो गई। तान्त्रिक अद्भुत प्रतीकों का प्रयोग करते थे तथा बड़े योगी होने का भी दावा करते थे। बौद्धों पर इनका विशेष प्रभाव पड़ने से परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। नेपाल तथा बङ्गाल में शैवों और शाक्तों से बौद्धों ने ये साधनाएँ ली। तात्त्विक रूप से इनमें और बुद्ध की शिक्षाओं में कोई समन्वय न था। स्वयम् बौद्ध धर्म में हठयोग, मन्त्रयोग आदि को प्रोत्साहन न था। पर चौरासी सिद्धों के प्रभाव से बौद्धों पर भी इसका असर हुआ। स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन अपनी पुरातत्व निबन्धावली में विवेचन करते हैं कि बौद्धों के लिए यह काल उनके दुर्दिनों का सूचक था। भैरव[1] भवानी या बुद्ध-तारा की उपासना करके तान्त्रिक पृष्ठभूमि को इस साधना ने स्वीकार कर लिया। इसी माध्यम से अपने अंतिम भग्न-तान्त्रिक रूप में यह नाथपंथ निर्गुणी

१. पुरातत्व निबंधावली—स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

तथा सहजयान वैष्णवी साधना पर अपना अमिट प्रभाव और छाप छोड गया है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा । इस बौद्ध तान्त्रिक धर्म की तारा तथा शैवी शक्ति में कोई भेद नहीं है। इसने आसाम तथा बङ्गाल में अपना सम्पूर्ण प्रभाव वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन पर छोड़ा है। निर्गुणवादी सन्तों पर उत्तर कालीन बौद्ध साधना ने अपना प्रभाव अधिक छोड़ा है। डा० हरप्रसाद शास्त्री की गवेषणाएँ और निष्कर्ष निर्गुण सम्प्रदाय की सन्त साधना के उद्गम सम्बन्धी सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाली हैं। मत्स्येन्द्रनाथ नाथसम्प्रदाय के संस्थापक थे और गोरखनाथ के गुरु। लामा तारानाथ का यह कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव। *जो कुछ भी हो इतना तो कहा जा सकता है कि अपनी उपासना पद्धति में* वे भग्न बौद्ध धर्म का प्रभाव लिए हुए हैं। कबीर नाथ पंथियों के विरुद्ध हैं पर अपनी हठयोग की भाषा के प्रयोग के लिए वे इनके ऋणी माने जायेंगे। वे उस बौद्ध तान्त्रिक साधना के भी ऋणी हैं, जिसका उन्हें स्वयम् पता नहीं था। बङ्गाल के सहजिया, न्यारा, बाउल-सम्प्रदाय आदि सभी वैष्णव सम्प्रदाय उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय से प्रभावित है। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी दक्षिण यात्रा के समय सन् १५५१ में एक बौद्ध नैयायिक को परास्त किया था। *महायान का अवशेष* समूचे वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में छिपा पड़ा है। बौद्ध साधना ने अपनी विरासत सन्त साधना के लिए छोड़ दी थी, जिसे एक मात्र कबीर ने प्रतिनिधिक रूप से ग्रहण किया। कबीर का व्यक्तित्व बड़ा अक्खड़ बेपरवाही से युक्त, मस्त मौलापन से भरा हुआ, जीवन की कठोर अनुशासनात्मकता से परिपूर्ण था। उनके स्वभाव में ये विशेषताएँ अपने ढङ्ग की मिलती हैं जो किसी बौद्ध भिक्षु के स्वभाव में नहीं हो सकती। वज्रयानी चौरासी सिद्धों के साथ वे तुलनीय हो सकते हैं। वे सरहपा के समान खरी बात कहने वाले, जातिवाद पर कठोर प्रहार करने वाले है। टेढ़णपाद के व्यक्तित्व और शैली में वे अपनी उलट बानियों में कहते हैं। कबीर में कुछ बातें ज्ञानेश्वर की हैं तो कुछ प्रल्हाद की, कुछ बुद्ध तो कुछ स्वामी दयानन्द की। बुद्ध कहते हैं, 'य मया साम दिठ्ठ तदह् वदामि' अर्थात् जो मैंने देखा, उसे मैं कहता हूँ।' कबीर का भी निवेदन है कि, 'सो ज्ञानी जो आप विचारे', और 'मैं कहता आँखिन की देखी।' स्पष्ट है कि अनुभूति साम्यता दोनों की एकसी है। सचमुच कबीर की साधना विलक्षण थी। वे ज्ञानी भी है और भक्त भी। अत्यन्त विनम्रता के साथ वे हरिजननी के बालक हैं ऐसा एक बार कहते हैं, तो दूसरी बार वे बेहद के मैदान में सोते हैं, और अनहदनाद सुनने वाले योगियों के साथ रहकर प्रेमोपासक सूफी कवियों का भी साथ देते हैं। राम और अल्लाह की एकता दिखा-कर भी जहाँ अल्लाह राम की गम नहीं वहाँ कबीर घर बसाने की बात कहते है।

तुलसीदास तो परम कारुणिक थे, सब जगत् को सियाराम मय जानकर प्रणाम करते थे, परन्तु समाज व्यवस्था की दृष्टि से सामाजिक नीति मर्यादा का उल्लंघन उन्हें स्वीकार न था। लोकमत व श्रुति सम्मत मर्यादा मार्ग ही उन्हें अभिप्रेत था। वे कहते है—'पूजिय विप्र सकल गुणहीना। नाहिं शूद्र गुण गणहिं प्रवीना।'[१]

सहजयानी सिद्धो की मान्यताओ मे गुरु पर और विश्वास पर जोर दिया जाता था। गुरु भगवान् से भी श्रेष्ठ माना गया है। कबीर इसी तत्व के मानने वाले हैं। सद्गुरु का महत्व वज्रयानी सिद्धो और नाथपंथी साधुओ मे समान रूप से व्यवहृत होता था। कबीर भगवान् के सर्वोत्तम नाम को 'सतनाम' या सत्तनाम' कहते हैं। पाली मे यही 'सच्चनाम' है। कबीर के 'सुरति' 'निरति' शब्दो की आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य सत मत के समीक्षको ने अनेक व्याख्याये दी है। उपाध्यायजी के मत से 'सुरति' शब्द बौद्धो की 'स्मृति' तथा 'निरति' वास्तव मे विरति है। कबीर की उलट बासियाँ सहजयानी बौद्धो की उलटवासियो से मेल खाती हैं। सहजयान के सहज मत को परिष्कार के साथ कबीर ने व्यक्त किया। 'साधो सहज समाधि भली।', 'सहज-सहज सब कोई कहे। सहज न बूझे कोई। सहजै जिन विषया तजी सहज कही जै सोई।'[२] 'शून्य' शब्द का भी कबीर ने बहुत प्रयोग किया है। शून्य मे समाधि लगाना, सहस्रार चक्र को शून्य चक्र से तथा अलख निरजन और शून्य तत्व को भी उन्होंने मिला दिया है। इसी तरह हठयोग के वर्णन मे चन्द्र, यमुना गङ्गा, सूर्य, सरस्वती की स्थापना भी उन्होने की है। यह सब भाषा और हठयोगी विचार बौद्ध योगियो से उन्होंने लिये हैं। अपने रहस्यवादी प्रतीक भी पूर्ववर्ती बौद्धो एवम् सिद्धो से लिये हैं।

उत्तर भारत की सगुण-स्वरूपा-भक्ति व पूर्वी भारत की प्रेमरूपा-भक्ति तथा महाराष्ट्र सन्तो की साधना को देखने पर यह बात सामने आती हैं। तुलसी तो 'श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ, साधन विरति विवेक' को अर्थात् साधुमत और सत मत दोनों को अवकाश प्रदान करते हैं। श्रमण धर्म का अनुवाद साधु मत है और विरति विवेक बुद्ध धर्म के भी सदेश हैं। तुलसीदासजी की भक्ति का अधिष्ठान नैतिक था। बुद्ध साधना भी इसे मानती है। तुलसीदासजी जैसे वेद भक्त कवि, देवताओ की पर्याप्त रूप से निंदा करते हैं, तथा इन्द्र को ईर्ष्यालु बताते हैं। देवता

१. रामचरित मानस–तुलसीदास।
२ कबीर ग्रन्थावली–श्यामसुन्दरदास, पृ० ७१।

दुंदुभी बजाना पुष्पवृष्टि करना आदि कार्य किया करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इसे बुद्ध का अदृश्य प्रभाव कहा जा सकता है। महाराष्ट्र के भक्त कवियों ने कृष्ण के माधुर्यमय जीवन को लेकर भी समाज-नीति का बहुत ध्यान रखा है। उनके वर्णन एकान्तिक साधना में इतने दूर चले गये हैं जितने सूर के या अन्य कृष्णोपासक कवियों के। भक्ति का राग अन्ततः एक ही राग है। सूरदास ने अन्त समय कहा था 'खजन नैन रूपरस माते।' बौद्ध उपासक इस तरह नहीं कहेगा। भक्ति में निश्चित रूप से आसक्ति को स्थान है। बौद्ध-साधना अनासक्तिवाद से युक्त है। भक्त बनकर हम कृष्ण या राम के चरणों में रसमत्त हो सकते हैं। इस प्रकार बुद्ध के नहीं हो सकते। प्रपत्ति का तत्त्व अर्थात् शरणागति का तत्त्व भक्ति के क्षेत्र में प्रधान रूप से होने के कारण वह आश्वासन युक्त जान पड़ता है। बौद्धमार्ग प्रतिपद पर जोर देता है। शरणागति में आत्मविस्मृति और अपने उपास्य के प्रति प्रगाढ़ अनन्यतम निष्ठा अनिवार्य सी है। वैष्णव दर्शन की प्रपत्ति यही है। दक्षिण के वेदांती भक्त वर्गीय प्रेमा भक्ति में डूबे हुए साधक, उत्तर भारत के निर्गुण में समाधि लगाने वाले संत, रामचरण रस मत्त सगुणोपासक भक्त और वात्सल्य एवम् सख्यभक्ति के आवश से सरस और माधुर्यमय कृष्ण के रसमय और सौन्दर्यमय सगुण की उपासना करने वाले सूर आदि सभी अनन्य भाव से प्रभु की भक्ति का उपदेश देते हैं। इन सबका प्रतिनिधित्व तुलसीदास मानो करते हुए कह रहे हैं—

'विष पीयूष हम करहु अगिनी हिम तारि सकहु बिन बेरे।
तुम सम और दयालु कृपानिधि पुनिन पाई हौं हेरे॥'[1]

भगवान् की कृपा के बिना भक्त का दूसरा कोई सहारा नहीं है। कृष्ण अपने अनन्य भक्त को आश्वासित करते हैं कि, 'अहं त्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।' और 'तेषाम् अहम् समुद्धर्ता मृत्यु समार सागरात्' ऐसा उद्घोष कर उनके साहस को बढ़ाते हैं। बुद्ध पुरुषार्थ को प्रश्रय देते हैं। वहाँ आश्वासन नहीं है। 'प्रव्रज्या लेकर वे बतलाते हैं कि यह धर्म सुआख्यात है, दुःख का क्षय करने के लिये ब्रह्मचर्य का आचरण करो।'

दक्षिण की भक्ति परम्परा में प्रतिपद अर्थात् आचार मार्ग और प्रपत्ति अर्थात् शरणागति को लेकर वैष्णवों के दो भाग हो गये। तुलसी में प्रपत्ति और आचार मार्ग का समन्वयात्मक सतुलन दिखाई पड़ता है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में प्रपत्ति पर विशेष जोर है। तुलसीदासजी को रामचरण में रसमग्न रहना ही भाता है। उनको मुक्ति भी स्वीकार नहीं। उनका कहना है—

१. तुलसीदास—विनय पत्रिका, पद संख्या १८७, पृष्ठ सख्या २७६।

धरम न अरय न काम रुचि पद न चहहुँ निर्वान।
जनम-जनम रति रामपद यह वरदान न आन ॥[1]

तुकाराम का भी यही मत है। वे मोक्ष और योग को पैरतले पड़ी हुई चीजें समझते हैं क्योंकि उन्हें वह आनन्द प्राप्त हुआ था जिससे परम और कुछ नहीं। वैष्णव भक्तो ने तत्व मीमासा पर जैसे ध्यान नहीं दिया उसी तरह प्रमाण मीमासा की भी उन्होने कोई चिन्ता नही की। वेद प्रामाण्य को सभी ने स्वीकार किया है। रामदास और तुलसीदास वेद श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ अपनाते हैं। इसी स्वर मे जायसी भी गाते है--

'वेद पन्थ नहिं चलहिं ते भूलहिं बन माँझ। और
वेद वचन मुख साच जो कहा। सो जुग-जुग अहिथिर होई रहा।'[2]

बगीय वैष्णव भक्त और आगे बढ़ गये। वेद को ही प्रमाण न मानकर श्रीमद् भागवत पुराण को सर्वशास्त्र चक्रवर्तित्व का स्वरूप भी प्रदान कर दिया। 'भक्ति-सदर्भ' मे 'मदीय लीला शुभ्य वैदिक मपि वाच नाम्य सेत। भागवत मे भक्ति की उपलब्धि होती है। इसलिए वे कहते हैं, 'वेदेर निगूढ अर्थ बूझते ना जाय। पुराण वाक्य सेई अर्थ कर ये निश्चय।' शब्द प्रमाण की सीमा को बढाना है। तर्कवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उनका यह कथन--'तर्क शास्त्रे जड आमिये छे लोहदण्ड। आमि द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड।' दक्षिण की भक्ति भावना जो वेदान्त की भावना से गभीर रूप मे निहित है। इस विषय मे बडी सयत है। उग्र रूप तो कबीर मे मिलता है--'साधु सती और सूरमा इन पटतर कोऊनाही।' बुद्ध की तरह अदम्य वीर्य कबीर मे मिलता है। वे अपने को सूरमा कहते हैं।[3] 'सूरघमसान है पलक दो चार का सती घमसान पलक एक आगे। साध सग्राम है रैन दिन जूझना देह पर्यन्त का काम भाई।'

बङ्गाल का वैष्णव धर्म शृङ्गारिक-रहस्यवादपूर्ण था। इससे वह नैतिक तत्वो की कुछ अवहेलना करता रहा। अर्थात् प्रधान रूप से इसको उसने महत्व नही दिया। अन्य भक्ति-सप्रदायो ने भक्ति-तत्वो के साथ नीति-तत्व को स्पष्टतया अपनी साधना मे स्थान दिया है। बाह्य कर्मकाण्ड का प्राय. सर्वत्र अभाव है। मध्ययुगीन वातावरण भक्ति के रस से सराबोर हो रहा था। वैष्णव साधना कही साखी, कही सबदी, कही मङ्गल-मुददैनी-रामकथा सुनाकर, कही प्रभु की ह्लादिनी

---

१. रामचरित मानस--तुलसीदास।
२. पद्मावत--जायसी।
३. कबीर।

शक्ति के साक्षात्कार से तो कहीं अंत काल में 'राम तुम को भवजाल से छुड़ायेंगे', ऐसा आश्वासन देकर निर्बलों में चारित्र्य गुणों को संचारित करने का अद्भुत सामर्थ्य प्रदर्शित किया है। इस मार्ग पर चलने वाले अपने भवबंध को काटते हैं। अपने लिये वे यहीं पर अमृत परोसा हुआ देखते हैं। 'राम जपत भवसिंधु सुखाहि।" और 'रामचरित जे सुनत अघाहि रसविशेष जाना तेहि नाहिं।' ये उक्तियाँ यही सिद्ध करती हैं कि भक्ति की साधना में अपरिमित आश्वासन है। कलियुग में ज्ञान, और वैराग्य की साधना नहीं हो सकती। भक्ति, पथ, ज्ञान, वैराग्य तथा वैदिक ज्ञान को मिथ्या नहीं कहती। 'जाकी प्रीति प्रतीति जहाँ तहँ ताको काज सरो।' यह कहकर और 'सो सब भाँति खरो' ऐसी मान्यता देकर इन भक्तों ने समन्वय मार्ग अपनाया है। वैष्णव साधक जब 'कबहूँक हौं यह रहनि रहोगो' की भावना से युक्त हो जाता है तो प्रपत्ति और प्रनिपद अर्थात् आचार मार्ग मिल जाता है।

पशुहिंसा जब वेदों के नाम पर होने लगी तब इनके विरोध में जैन व बौद्ध सम्प्रदाय अहिंसा प्रधान मतों को लेकर सामने आगये। जैन-साधना में योग को महत्वपूर्ण माना गया है। जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। बौद्ध धर्म दुःखों का मूल इच्छा को समझता है। अतः इनको ही नष्ट करना चाहिए यही उसका निवेदन है। ज्ञान आचार की शुद्धता और योग को बौद्ध धर्म मानता है पर आत्मा को नहीं मानने से केवल सदाचार की बातें करना दार्शनिक दृष्टि से आधारहीन जान पड़ता है। जैन धर्मावलम्बियों ने ग्रीकों के प्रभाव में आकर तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ पूजना शुरू किया। बौद्ध मूर्तियाँ भी पूजी गयी। वैदिक धर्मावलम्बियों ने रामायण महाभारत के नवीन सस्करण तैयार किये। चौबीस अवतारों की प्रतिष्ठा की गई। उनकी मूर्तियाँ बनी। नवीन सस्करणों में दाबूकवध, तुलाधार वैश्य, धर्म व्याध की कथाओं को जोड़कर वर्णों के कर्तव्य कर्म पर बल दिया गया। बौद्धों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक कल्याणकारी भावनाओं को यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म में नवीन रूप से सम्मिलित कर लिया गया।

वैष्णवी साधना में सूफी रहस्यवाद से भी बहुत सी बातें स्वतः आ गयी हैं या अन्य पद्धति से भी ग्रहण की गई हैं। हम यहाँ पर उन्हें समझने का प्रयत्न करेंगे।

रहस्यवाद क्या है ?

परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों और ज्ञान का पता हो जाने पर उसे एक विशिष्ट साधना से और अनुभूति से रहस्यवादी प्राप्त करता है। आमतौर पर सर्व साधारण इस ज्ञान को या इस अनुभूति को नहीं उपलब्ध कर सकते। इसका ज्ञान और

अनुभूति अपने तक ही सीमित रखकर मौन रहकर ही उसे रहस्यवादी समझता है। रहस्यवादी अनुभूति गूंगे की शर्करा ही है। जिसके द्वारा मनुष्य विश्व एवम् ब्रह्माण्ड को सम्पूर्ण और अखंडित समझता है। इस अनुभूति पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का ही एकान्त अधिकार है ऐसा समझना भ्रामक है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। आज के व्याख्याकार रहस्यवाद को आतरिक सामजस्य स्थापित करने की कला मानते हैं।[1]

सैलवी के मतानुसार रहस्यवाद उस धर्म का नाम है जिसमें अन्तिम सत्य या ईश्वर के साथ तादात्म्य तथा उसका उत्कट साक्षात्कार निहित है।[2] रहस्यवाद का दैवी सिद्धांत तर्कानुमानाश्रित होने की अपेक्षा भीतरी आत्मप्रेरणा और साक्षात्कार पर निर्भर है। इसीलिए रहस्यवाद उन लोगों के लिए है, जो साक्षात्कार, दैवी दृश्य आदि बातों पर दुगुना विश्वास करते हैं। प्राय सभी धर्मों मे जो रहस्यवाद पाया जाता है वह व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित है। रहस्यवाद के किसी भी शाखा मे जो प्रारंभिक बातें हैं उनमे अव्यक्त की अपरोक्षानुभूति प्रथम बात है। अतीन्द्रिय दृष्टि संस्कार या तप से सम्प्राप्त होती है। इसी शक्ति की सहायता से रहस्यवादी उन चीजों को देख सकता है जिन्हें सर्व साधारण नहीं देख पाते। किसी अभिजात कलाकार या कवि मे जो अतीन्द्रिय दृष्टि होती है वही रहस्यवादी में परमात्मा के साक्षात्कार के लिए समझनी चाहिए। रहस्यवादी प्रवृत्ति साधारण जीवन के स्वार्थपरक और साधारण प्रसङ्गों से अपना लक्ष्य हटा लेता है और इसी लक्ष्य को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करता है। यही चिंतन कहलाता है। इस अवस्था मे विचार या मनन नहीं होता। इसी का मतलब है अन्तर्दृष्टि से देखना। यह एक प्रकार की ध्यान-धारणा ही है जिसमें मन अतीव सवेदनाक्षम बन जाता है। इसमे कई बार एक प्रकार की सम्मोहनावस्था भी आ जाती है। इसे हम आत्म-सम्मोहन भी कह सकते हैं। इसके नित्य अभ्यास से मन की प्रवृत्ति मे उस प्रकाश एवम् ईश्वरी सत्ता की कृपा पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। रहस्यवादियों की यह सबसे ऊँची अवस्था मानी जाती है। ऐसे भी उदाहरण देखे गये हैं जिनमे रहस्यवादी समाधि एवम् उन्मनी मे मस्त हो जाते हैं। यह सब रहस्यवादी अनुभूतियाँ आत्मिक प्रकार की हैं। यद्यपि उनमे विश्वसनीयता एवम् सत्यता है। कोई भारतीय दार्शनिक ब्रह्म का साक्षात्कार जब करता है, या कोई सूफी अल्लाह का साक्षात्कार जब कर लेता है तब उस परमतत्व के साथ की गई बातचीत और अनुभव उसी कोटि का समझना पड़ेगा।

१. थ्योअरी ॲन्ड आर्ट ऑफ मिस्टिसीझम, पृ० ६—राधाकमल मुकर्जी।
२. सायकालाजी ऑफ रीलीजन—सेलबी–पृ० २४७–२६५।

रहस्यवादी अस्मितायुक्त होकर सतर्क जानकारी सहित जो कार्य करता है वह दो प्रकार का होता है। (१) आत्मा सम्पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व में आ जाती है और (२) हमारी साधारण शक्तियों से अधिक तेजस्वी शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई देती हैं। हमारी सतर्क जानकारी एवं आध्यात्मिक वातावरण का विस्तृत केन्द्र बन जाती है, जो सदा हमारे साथ बनी रहती है। इसे हम पूर्णतया वस्तुतः व्यक्तिगत अनुभूति ही कह सकते हैं। बाह्य रूप से इसकी कोई अविकृत सूचना या विश्राम दिया सकने वाली प्रमाण की बातें उपलब्ध नहीं हो सकतीं।

यों रहस्यवादी जीवन की प्रमुख तीन अवस्थाएँ मिलती हैं—(१) अन्तःशोधन या निषेध के माध्यम से प्राप्त होने वाली दशा या अवस्था। (२) आत्मा के प्रकाश की अवस्था, (३) तादात्म्य या साक्षात्कार की अवस्था।

अंडरहिल के अनुसार रहस्यवाद सत्य के साथ साक्षात्कार है।[१] सत्य के साथ साक्षात्कार करने वाला मानव कम या अधिक मात्रा में उसके साथ साक्षात्कार किया करता है। इसमें अपरोक्ष का परोक्ष के साथ अनुभूत्यात्मक सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। इसमें उसकी निजी अनुभूति उस सत्य के साथ स्वसंवेदन कराती है। इसमें ईश्वर के अस्तित्व और उसकी उपस्थिति की निश्चिति उसे हो जाती है। वैसे ईश्वर का ज्ञान धार्मिक दर्शनशास्त्र से हो जाता है, परन्तु ईश्वर के साथ मानव का प्रेम का सम्बन्ध हो जाना उसके रहस्यवादी साक्षात्कार को बतलाता है और वह उसकी आत्मा का परमात्मा में मेल-याग सिद्ध करता है। इसका सबसे जोरदार परिणाम यह होता है कि उसकी ससीम अच्छाइयाँ असीम हो जाती हैं और वह उसके साथ एकाकार हो जाता है।

आत्मा की जागृति या आत्म सुधार का सर्व साधारण स्वरूप इस प्रकार का माना गया है। यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत और उसका जागृत स्वसंवेदन व्यक्ति की अपनी अस्मिता को दबाता है। बहुधा वह अचानक छूट जाती है और सत्य के साथ उसका साक्षात्कार हो जाता है। परिणामतः नये तथ्य उसके सामने आने लगते हैं। किसी को भी दैवी प्रकाश तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक प्रथम उसकी अन्तःशुद्धि, अपरिग्रह, पवित्रता, आज्ञाधारकत्व एवम् आत्म-संयमन उसे प्राप्त न हो जाय।

अन्तःशुद्धि की अवस्था आत्म प्रकाश की ओर ले जाने वाली ऐसी स्थिति है जिसमें सतर्क जानकारी तीव्रतर होकर इतनी तेज हो जाती है कि प्रत्यक्ष चिन्तन चिरंतन और अज्ञात के बारे में होने लगता है। दैनंदिन जीवन में अत्यंत गहरे तथा तीव्रतम और शीघ्र उत्पन्न होने वाली संवेदनशील क्रियाएँ उत्पन्न होने लगती हैं

१. मिस्टीसीज्म—एवलिन अण्डर हिल—पृ० २२।

क्योंकि, सर्वशक्तिमान् का आनदयुक्त प्रभाव उस पर छाया हुआ रहता है। ईश्वर की उपस्थिति से प्रार्थना, उपोषण, ध्यान और अन्य धार्मिक क्रियाओ से आत्मिक शक्तियाँ बढाई जा सकती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इससे अन्त करण मे स्थित भगवान् स्वसवेद्य हो जाते हैं। परमेश्वर का अन्तदर्शन एक सचाई की चीज है यह बात सभी रहस्यवादी स्वीकार करते हैं। ईश्वर के विरह से उत्पन्न होने वाली बेचैनी, चिन्ता, वेदना साधक को दैनदिन जीवन के अभावो तथा दुखो की तरह कष्टदायक हो जाती हैं। शरीरज सुखो की निवृत्ति से रहस्यवादी को उसकी मानसी और आत्मिक प्रवृत्ति उच्च स्तर पर ले जाकर परमात्मा की ओर अग्रसर एवम् केन्द्रित कर देती है। इस कार्य मे अनिवार्यत सद् का असद् प्रवृत्ति से द्वद्व होना है--सघर्ष होता है। परिणामत अतीव वेदना और परम दुख भी होता है।

साक्षात्कार अर्थात् आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य और उसकी भावनात्मक अतर्दृष्टि ही इस ऐक्य का मूल कारण है। साधक के हृदय की आँखें खुलकर परमात्मा मे विश्राम करती है। इस अवस्था के तीव्र और साधारण दोनो रूप होते हैं। इसके पहले कोई विद्वान एक और अवस्था मानते है जिसे आत्मा की 'अधकारपूर्ण-रात्रि' कहा जाता है। इसके बाद जागृति होती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। तादात्म्य अवस्था तो एक तरफ रहती ही है तो दूसरी तरफ आत्मा का परमात्मा से 'आध्यात्मिक-विवाह' भी होता है। यह अनुभूति प्रतीको के सहारे अभिव्यक्त की जाती है। आध्यात्मिक विवाह का वर्णन करने वाली भाषा भी विशेषम होती है और विचित्र रूप से घोर शृङ्गारी भी। देखने और श्रवण करने की अतीन्द्रिय शक्तियों का उत्पन्न होना, भावना की गहरी दशा मे जाना, बाह्य सवेदनशीलता का त्याग आदि प्राय रहस्यवादी की प्रवृत्तियाँ बतलाई गई हैं। इससे उसका चरित्र दृढ तथा नैतिक शक्ति बढकर अध्यात्म-प्रवण बनने मे सहायक हो जाती हैं।

किसी व्यक्ति के चेहरे मे दैवी सौन्दर्य का आविष्कार होने के लिए जिन बातो की आवश्यकता है उनमे से एक 'दीक्षा' है। इस दीक्षा मे मत्र एवम् तत्र का मौलिक एवम् वैचारिक प्रभाव होता है जिसमे सौन्दय का मधुर भाव बढकर एक तीव्र सवेदना मे परिणत हो जाता है और उसके महान आनन्द मे शक्तिपात होकर रौद्रस्वरूप के दर्शन दे देता है। इस दीक्षा के अवसर पर सारा जगत् किसी नये चैतन्य मे व्याप्त दिखाई पडता है। सत्य-सवेदन के अनिरुद्ध प्रवाह से परे है, जिसमे सारी सवेदना लिपटी दिखाई देती है। इस अवस्था मे साधक के कानो मे वह परतत्त्व गूज उठता है कि 'तूने मुझे पा लिया है।'[1] रहस्यवाद का यही प्रथम

[1] मिस्टीसीज्म—एलविन अण्डरहिल–पृ० २३।

नश्वर है। जिनको अल्लाह प्रकाश नही देता है उनको कभी भी प्रकाश नही मिल सकता। वस्तुत रहस्यवादी तत्त्वो के बीज यही पर मिल जाते हैं। पुराने सूफियो के लिए कुरान ही केवल खुदा का शब्द नही है, वह तो ईश्वर के निकट ले जाने वाला प्रथम माध्यम है। हार्दिक प्रार्थना एवम् समग्र ग्रन्थो का चिंतन और विशेष प्रकार के रहस्यमय परिच्छेदो का चिन्तन जिनमे 'रात्रियात्रा एवम् स्वर्गारोहण, सम्बन्धी निर्देश हैं। सूफियो ने पैगबर के रहस्यमयी अनुभूतियो का स्वानुभव करने का भी प्रयत्न किया। यो सूफियो को कुरान के विशेष दीक्षित अध्येता समझा जाता है। ईसवी सन १००० के बाद सूफीवाद मे यूनानी दर्शन का मेल हुआ। कतिपय ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि सूफी वाद की आरम्भिक प्रगति ईसाई-रहस्यवाद से अनुप्राणित हुई थी। ईसाई महत 'राहिब'का कथन है कि इस्लाम मे मठवास का कोई तत्त्व अङ्गीकार नही किया गया। महम्मद पैगबर 'रहबानि' (मठवास) यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य का भी कुरान मे निषेध करते हैं। परतु कुरान की आयतो का वह भाष्य जो तीसरी हिज्र शताब्दी मे प्रचलित था, इस बात की पुष्टि करता है कि मठवास ईश्वर की आज्ञापित सस्था है और पैगबर के द्वारा मठवास की निन्दा उनकी की गई हैं जिन्होने मठवास को भ्रष्ट किया था।

आद्य इस्लामी नियतिवाद, आगामी ईश्वरीय कोप के स्वप्न, उपोषण करने वाले विरह की पीर से या पश्चाताप से रोने वाले, उसकी लगातार चलने वाली प्रार्थनाएँ, खुदा की कडी और अनुशासन युक्त भक्ति आदि बातो से सूफी रहस्यवाद सम्पन्न है। प्रेम से ईश्वर की प्राप्ति होती है अत उसी एव ईश्वर मे सम्पूर्ण आसक्ति रहस्यवाद मे निर्धारित है।

हमारे अधिकारी विद्वानो की दृष्टि मे सूफी-मत की सर्व प्रथम उल्लेखनीय उद्गात्री बसरा की स्त्री सत 'रबिया' है। इसका काल सन ८०१ ईसवी है। कहा जाता है कि उसके माता-पिता का कोई पता न था। निम्नलिखित पक्तियो मे इस गुलाम सत 'रबिया' के रहस्यवाद का आदर्श प्राप्त होता है—

'मैं तुझसे दो तरह से प्रेम करती हू। एक स्वार्थवश होकर और दूसरे उस तरह जैसे कि तुझ से करना योग्य माना गया है। स्वार्थी प्रेम मुझे नही करना चाहिए। हर विचार तेरे बारे मे ही हो तो अच्छा है। पवित्र प्रेम वही है जिसमे तू केवल मेरी ओर भक्तियुक्त दृष्टिपात से पर्दा उठाता है न कि मेरी प्रार्थना से। तेरी सच्ची प्रार्थना स्वार्थ और परमार्थ दोनों मे निहित है।'[१]

रहस्यवादी साक्षात्कार का तत्त्व कुरान की आयतो से परे है। और वह

१. लीगसी ऑफ इस्लाम—निकॉलसन और आर्नोल्ड।

ईश्वर कृपा से ही उपलब्ध होता है। किन्तु पैगंबर की कुछ अविश्वसनीय पारंपरिक गाथाओं में इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, जैसे ईश्वर ने कहा, 'धर्म निहित कर्तव्यों से अधिक कार्य करने वाला मेरा सेवक जब मेरे निकट आता है और जब मैं उससे प्रेम करता हूं, तब मैं उसका कर्ण बन जाता हूं, क्योंकि वह मेरे द्वारा सुनता है, मैं उसकी आँख बन जाता हूं ताकि वह मेरे द्वारा देख सके, मैं उसकी जिह्वा बनता हूं, जिससे कि वह मेरे माध्यम से बोल सके और मैं उसका हस्त बनता हूं, जिससे कि वह मेरे द्वारा ग्रहण कर सके।'

सूफियों ने एक ऐसी अध्यात्मिक प्रणाली का निर्माण किया जिसमें आत्म-शुद्धि द्वारा आत्म प्रकाश पाने का मार्ग अपनाया गया है, जिसका परिपाक आत्मा का स्वसंवेदन (मारिफा) है। अपने हृदय में उसको देखने वाले संतों के द्वारा किये गये ईश्वरीय गुणों का ज्ञान ही आत्मा का स्वसंवेदन है। उसकी प्राप्ति का मार्ग मार्ग (तरीका) उन गुणों के संपादन में एवम् रहस्यवादी अवस्थाओं में निहित है। प्रथम स्थिति पश्चाताप की है, जिसमें हृदय परिवर्तन होता है। सन्यास अपरिग्रह, तितिक्षा और आस्तिकता ये बातें इसके पश्चात् आती हैं। इनमें से प्रत्येक एक दूसरे का अध्ययन है। 'मक्कानी' और 'मादी' नामके सूफी संतों ने इन सिद्धान्तों का उपयोग किया है। ईश्वरीय तादात्म्य की कल्पना ने सूफियों को ईश्वर निर्मित प्राणियों से प्रेम किये बिना ईश्वर से प्रेम नहीं किया जा सकता यह सिखाया। ईश्वर का ज्ञान साधक को उसी के द्वारा हो सकता है। 'अबुयजीद' पर अद्वैत दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसने 'फना' का तत्त्व विकसित किया। फना' का अर्थ है, अपनी हस्ती मिटा देना। 'फना' का उत्तर पक्ष 'बका' है। बका का अर्थ ईश्वर के साथ तादात्म्य है। यह तत्त्व भी बाद में इसमें जोड़ा गया।

यद्यपि लययोग से शुद्ध तादात्म्य की ओर बढ़ने के प्रयत्न का अतिरेक हुआ फिर भी यह सिद्धान्त अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। 'बयाजीद' ने अपने निराभास होने का आत्म निवेदन किया। सूफियों का यह एक कथानायक ही है। उसकी परमानंदावस्था के उद्‌गारों का उल्लेख वे सर्वत्र करते हैं। प्रेमी, प्रिय और प्रेम के एकत्व का इस सूफी-संत ने अनुभव किया था क्योंकि तादात्म्य की दुनियां में सभी एक हो जाते हैं। हल्लाजने अनल-हक' (अहम् ब्रह्मास्मि) का अकाट्य सूत्र-प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ईश्वर का सार प्रेम-तत्व है। ईश्वर ने मानव को अपनी ही आकृति का बनाया। इसमें उसका उद्देश्य यही था कि मानव ईश्वर से ही प्रेम करे। इसी से मनुष्य अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति कर, ईश्वर की मूर्ति अपने में देखे तथा ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय सत्ता में तादात्म्य पाले। हल्लाज के नजरों में रहस्यात्मक ऐक्य इस सर्जनशील दुनियां के साथ ऐक्य है।

लिया। भक्तिमार्ग मानव की स्वाभाविक रागात्मिका प्रवृत्ति को साधन मानकर चला है। योगमार्ग विकारों को मारकर अन्तःकरण की रहस्यात्मक पद्धति द्वारा ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के साक्षात्कार को लक्ष्य रखकर चला। कबीर ने इसी योग संयुक्त-प्रेम-मार्ग का प्रचार किया। निर्गुण भक्तिमार्ग का ढाँचा सूफियों का रहा। केवल उपास्य का स्वरूप वेदान्त के निर्गुण-परक ब्रह्म को ग्रहण कर लेने से अव्यवस्थित हो गया। प्रेमयोग या भक्तिमार्ग दृश्य जगत् और पर जगत् के सादृश्य भावना के बिना चल नहीं सकता। अव्यक्त की अभिव्यक्ति व्यक्त या दृश्य जगत् है। भक्तिमार्गों को दोनों अभिन्न ही लगते हैं। पैगम्बरी मजहबों के रहस्यवाद का यहीं ब्रह्मवाद आधार बना। फारस की रहस्यात्मक सूफीवाद की आधारभूमि अद्वैत वेदान्त ही समझना योग्य होगा। उपनिषदों के 'तत्त्वमसि', और 'अहम् ब्रह्मास्मि' की नींव पर ही 'अनलहक' की घोषणा हुई। इसे हम अपने विशुद्ध रूप में 'धर्म-भावना का भावात्मक-रहस्यवाद' कह सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक ही है कि—

'स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्व चिन्तन या ज्ञानकी प्रकृत पद्धति के द्वारा हो सकती है और सर्वत्र हुई भी है।'[1]

अज्ञात परम सत्ता के साथ मिलाप और समागम रहस्यवाद की प्रथम विशेषता है। साधक का उपास्य से यह सीधा सम्बन्ध माना जायेगा। काव्य में जिस प्रकार रसानुभूति का आनन्द अनिर्वचनीय होता है उसी प्रकार भक्तिरस की चरमानुभूति, अनिर्वचनीय बतलाई जाती है। प्रेम की रसलीनता की तुलना उन्मत्त दशा से हो सकती है अर्थात् वह देहोन्माद नहीं होगा। उदाहरणार्थ चैतन्य महाप्रभु का भावावेश में आकर किया गया नर्तन और संकीर्तन हो सकता है।

सूफियों के हाल की दशा का स्वरूप समय की परिस्थिति ही है। कृष्णोपासना बालकृष्ण और गोपियों के प्रियतम प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर प्रकाशित हुई है। लोक और वेद के ऊपर प्रतिष्ठा ही कृष्णोपासक भक्तों की प्रेमलक्षणा भक्ति का सिद्धान्त बना है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य का आकर्षण ही उनका एकमात्र कारण और उस स्वरूप के अधिक से अधिक सान्निध्य की अभिलाषा उसका लक्षण है। स्त्री-पुरुष का प्रेम सब से प्रबल और अन्तर्व्यापक होता है। उसमें आलम्बन के साथ सब से अधिक गूढ़ और घनिष्ठ समागम की लालसा होती है। इस माधुर्य-भाव का समावेश कई देशों की भक्ति-पद्धति में किया गया है। मीराँबाई की उपासना इसी कोटि की है। दाम्पत्य वासना का भक्ति की साधना में जो व्यवहार किया गया उसमें विशिष्ट इन्द्रियाँ भी उत्तेजित होकर योग देती हैं या नहीं इसे देखने पर

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि।

दो पक्ष सामने आते हैं—(१) लीला पक्ष (२) ध्यान पक्ष। लीला पक्ष में गोपियाँ कामिनी रूप से श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं और उनको चाहती थीं। ध्यान पक्ष में काव्य की रसानुभूति के ढङ्ग पर भक्त अपने को गोपिका रूप में रखकर शृङ्गार के आनन्द का अनुभव कर सकता है। पुरुष के साथ यह आलंकारिक आरोप मात्र होगा। परन्तु स्त्री के ध्यान में आरोप की भावना हटने पर वह पुरुष के आलिंगन की कल्पना में मग्न हो जाने की सम्भावना है। सूफी और ईसाई भक्तों के माधुर्य भाव में यह बात थोड़ी कठिन है। रहस्य भावना का यत्र-तत्र उपयोग रहस्यवाद नहीं है और भारतीय भक्ति मार्ग में ऐसा नहीं है।

भक्तों के कृष्ण व भक्तों के राम सौन्दर्य और मङ्गल ज्योति जगाने वाले हैं। भारतीय भक्ति मार्ग में राम और कृष्ण उपदेशक के रूप में नहीं देखे जाते तो उपास्य रूप में भगवान् के रूप में ध्याये जाते हैं। भारतीय सगुण मार्गियों के उपास्य और उपासक इन दोनों का लक्ष्य मानवहृदय है और शास्त्र भी मानव हृदय ही है। भक्त-हृदय के सहारे मङ्गल विधायक सत्ता में अपनी सत्ता को परिणत करता है, तथा दूसरों के हृदय पर भी प्रभाव डालकर, उन्हें कल्याण मार्ग की ओर आकर्षित करता है। गीता में कृष्ण का कथन है कि जहाँ पर शील, शुभ गुण, सौन्दर्य, शक्ति, पराक्रम, ज्ञान अथवा बुद्धि का उत्कर्ष हो वहाँ मेरी विशेष कला समझनी चाहिए।

मुस्लिम साधना के बाद भारत की वैष्णवी साधना पर ईसाईयों का भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। ईसाई धर्म में से ही भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है ऐसा आक्षेप किया जाता है। इस आक्षेप का निराकरण हम यहाँ पर आवश्यक समझते हैं। यद्यपि अब यह मत सर्वमान्य हो गया है कि किसी भी प्रकार से ईसाई धर्म पर ही भारत के भक्ति तत्त्व का प्रभाव पड़ा है। इसे समझने के लिए गीता और महाभारत का भक्तिपरक विवेचन देखना समीचीन होगा।[1]

गीता और महाभारत—

भगवान् वासुदेव की एकान्त भाव से भक्ति करते हुए संसार के अपने व्यावहारिक एवम् लौकिक कार्य स्वधर्मानुसार करते रहने पर मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। नारायणीय धर्म सीधे नारायण से नारद को प्राप्त हुआ था। गीता में वही धर्म पुनः कथित है। प्रवृत्ति परक भागवत धर्म और नारायणीय धर्म में वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति परम्परा दी गई है। व्यक्ति सृष्टि का क्रम इसके द्वारा समझ में आजाता है। वासुदेव का भक्ति-

१. गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक।

मार्ग एक प्रशस्त राजपथ है ऐसा गीता कहती है। दूसरे किसी भी उपास्य की भक्ति करने पर अन्त में वह वासुदेव की भक्ति हो जाती है। ज्ञानी, आर्त, जिज्ञासू, और मुमुक्षु ये भक्तों की चार श्रेणियाँ हैं। गीता और भागवत में भक्ति विषयक कोई अंतर नहीं है। सात सौ श्लोकों की श्रीमद्भगवद्गीता व्यास प्रणीत है। महाभारत का ही वह एक अंश है। महाभारत के रचयिता भी व्यास मुनि हैं। व्यक्तोपासना अर्थात् भक्ति, गीता का विवेच्य विषय है। वैदिक भक्ति मार्ग बहुत प्राचीन है यह गीता और उपनिषदों के सम्बन्धों से ज्ञात हो जाता है। लोकमान्य तिलक के मत में महायानी-भक्ति श्रीकृष्ण के भागवत धर्म से ही प्रभावित हुई थी। बुद्धपूर्व ६ सौ से अधिक ईसवी पूर्व भारत का भक्ति मार्ग प्रस्थापित हो गया था। नारद पांचरात्र, नारद और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र उत्तरकालीन हैं। प्राचीन उपनिषदों में जो सगुणोपासनाएँ वर्णित हैं उनसे ही क्रमशः भागवतों का भक्तिमार्ग विकसित हुआ। बाहर से यहाँ भक्ति आई ही नहीं और न कोई उसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। पातंजल योग के अनुसार चित्त स्थिर होने के लिए व्यक्त और प्रत्यक्ष चीज आँखों के सामने रहनी आवश्यक है। भक्तिमार्ग में इससे सहायता ही मिली। गीता में ब्रह्मज्ञान उपनिषदों पर आधारित है और सृष्टिक्रम सांख्य दर्शनानुसार विवेचित है। वासुदेव भक्ति को मिलाकर क्षर और अक्षर ज्ञान का प्रतिपादन, सामान्य लोगों के लिए सुलभ और आचरणीय कर्ममार्ग में उद्बोधित किया गया।

ब्रह्मसूत्र के प्रणेता व्यास हैं। मूल भारत में गीता का आज का प्रचलित रूप देने का और ब्रह्मसूत्र रचने का कार्य व्यास ने किया। बादरायणाचार्य ने अपने युग में मिलने वाले महाभारत के भागों का अन्वेषण कर इस ग्रन्थ का पुनरुज्जीवन किया। कर्म-प्रधान भक्तितत्व गीता ने भागवत धर्म से लिए। जीव नित्य ही परमात्मा का अंश है और क्षेत्रज्ञ जीव का स्वरूप उपनिषदों के ऋषियों की मत-प्रणालीनुसार है। इन सब की एक वाक्यता ब्रह्मसूत्रों में मिलती है। सांख्य और योग का ही केवल समन्वय गीता में नहीं है। पश्चिमी विद्वान 'सांख्य' और 'योग' शब्द के अर्थ नहीं जान सके। ईसाई धर्म भक्ति प्रधान होने से दर्शनशास्त्र ईसाईयों को ज्ञात न था। फलतः यूरोपीय विद्वान अपने मत के प्रतिवाद में सदा भ्रम उत्पन्न करते हैं। यूनानी दर्शन के साथ ईसाई भक्ति का सम्बन्ध बाद में जोड़ा गया है।

भारत में भक्ति मार्ग का उदय होने के पूर्व मीमांसकों का यज्ञमार्ग उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग तथा सांख्य और योग अपनी परिपक्व दशा में थे। इसीलिए

इन सब शास्त्रों और विशेषतः ब्रह्मज्ञान को छोड़कर स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित भक्ति मार्ग इस देश के लोगों को मान्य नहीं हो सकता था ऐसा लोकमान्य का कहना है।

औपनिषदिक-ज्ञान को छोड़कर भक्ति की कल्पना अपने से स्वतन्त्र रूप से अचानक उत्पन्न नहीं हुई और न यह बाहर से भारत में आई। ब्रह्मचिन्तन में प्रथम वर्णों के अक्षरों की, बाद में 'ॐ' की, रुद्र की, विष्णु की और अन्य वैदिक देवताओं की या आकाशादि सगुणव्यक्त ब्रह्म प्रतीकों की उपासना आरम्भ हुई। अन्त में राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदि की भक्ति एवम् उपासना आरम्भ हुई।

ऐतिहासिक दृष्टि से रामतापनी, नृसिंह तापनी आदि भक्ति प्रधान उपनिषदों की भाषा से सिद्ध हो जाता है कि वे अर्वाचीन हैं। छान्दोग्य आदि पुराने उपनिषदों में वर्णित ज्ञान-कर्म समुच्चय का आविर्भाव हो जाने पर योग और भक्ति को प्राधान्य मिला। योग-प्रधान और भक्ति-प्रधान उपनिषदोंका अन्तिम साध्य ब्रह्मज्ञान ही है। इसीलिये रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव इनमें से जिनकी भी भक्ति करनी हो वे परमात्मा के रूप हैं—परब्रह्म के रूप हैं ऐसे वर्णन मिलते हैं।

भागवत धर्म को ही 'नारायणीय', 'सात्वत', 'पाचरात्र' आदि नामों से भी समझा गया है। उपनिषदकाल के बाद बुद्ध पूर्व वैदिक ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध न होने से गीता के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध होने वाले धर्म ग्रन्थों में महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान, शाण्डिल्यसूत्र, भागवत-पुराण, नारद-पांचरात्र, नारद-भक्तिसूत्र और रामानुजाचार्य के ग्रन्थ शालीवाहन शक १२०० में लिखे गये हैं। इनकी सहायता से हम मूल भागवत धर्म पर प्रकाश नहीं डाल सकेंगे। नारायणीयोपाख्यान में वर्णित दशावतारों में बुद्ध का समावेश नहीं है जो अन्य उल्लिखित ग्रन्थों में किया गया है। नर और नारायण इन दो ऋषियों ने भागवत धर्म आरम्भ में कथन किया है। नारद को श्वेतद्वीप में यह भागवत धर्म नारायण ने सुनाया था। यह द्वीप क्षीर-समुद्र में मेरुपर्वत के उत्तर में है। 'वेबर' का अनुमान है कि भक्ति का तत्व ईसाई धर्म से भारत में लिया गया है। लोकमान्य तिलक इसका खंडन करते हैं।[1] पाणिनि को वासुदेव भक्ति का तत्त्व ज्ञात था। जैन और बौद्धधर्मों में भी वासुदेव-भक्ति का उल्लेख है। पाणिनि, बुद्ध और क्राईस्ट पूर्व थे। अतः स्पष्ट है कि किसी भी तरह ईसाई धर्म द्वारा भक्ति यहाँ पर प्रचलित नहीं हो सकती थी।

'सेनार्त' नामक एक फ्रेंच अपने एक लेख में लिखता है[2]—

---

१. लोकमान्यतिलक का गीता रहस्य।

२. दी इन्डियन इन्टरप्रेटर—त्रैमासिक, जनवरी १९०९–१०।

'No one will claim to derive from Buddhism or the Yoga Assuredly Buddhism is the borrower.'

स्पष्ट है भागवत धर्म बुद्ध धर्मपूर्व यहाँ पर विद्यमान था।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को लुप्त हो गये हुए भागवत धर्म का उपदेश दिया था। इसके दर्शन शास्त्रानुसार परमेश्वर को वासुदेव, जीव को सकर्षण, मनको प्रद्युम्न और अहकार को अनिरुद्ध कहा गया है। श्रीकृष्ण ही स्वय वासुदेव हैं, सकर्षण बलराम हैं, तथा प्रद्युम्न पुत्र है और अनिरुद्ध प्रपौत्र हैं। श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया वही तत्पूर्व काल मे नारायणीय या पाचरात्र के नाम से प्रचलित रहा होगा। श्रीकृष्ण की सात्वत जाति मे उसका प्रचार होने से उसे सात्वत-धर्म कहा गया होगा। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन नरनारायण के अवतार हैं इसी कल्पना से इस धर्म को भागवत् धर्म कहने लगे होंगे।

श्रीकृष्ण यादव, पाडव और कौरवों के बीच का भारतीय युद्ध का काल कलियुग का आरम्भ काल माना जाता है। विद्वानो के मतानुसार ई स के पूर्व १४०० वर्ष पाडव और भारतीय युद्ध हुआ था। यही श्रीकृष्ण का काल है। इसको मान लेने पर श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म करीब-करीब बुद्ध के ८०० वर्ष पूर्व प्रवृत्त किया था। लोकमान्य के मत मे भागवत धर्म को आगे चलकर विभिन्न स्वरूप प्राप्त हुए। इसलिए श्रीकृष्ण के बारे मे अलग-अलग कल्पनाएँ निकली। अत भिन्न-भिन्न कृष्ण मानने की आवश्यकता नहीं हैं। 'मैत्र्युपनिषद' के अनुसार रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण सभी ब्रह्म हैं। ज्ञानी पुरुष भी ब्रह्ममय है। अत श्रीकृष्ण भी परब्रह्म हैं। वैदिक काल की पूर्व मर्यादा खाइस्ट पूर्व ४५०० बरसो से कम नहीं मान सकते। वेदो की उदगयन स्थिति दर्शन वाक्यों के आधार पर 'ओरायन' में लोकमान्य इसे सिद्ध कर चुके हैं। इसे पश्चिम पडित भी मान्य कर चुके हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ यागादि प्रधान ग्रन्थ हैं। वह ईसवी पूर्व २५०० वर्ष मे और छान्दोग्य उपनिषद जैसा प्रधान ग्रन्थ ईसवी पूर्व १६०० वर्ष मे लिखा गया है। इस तरह काल निर्णय हो जाने पर भागवत धर्म के उदय काल पाश्चात्य पडित जिन कारणों से जितना इधर खींचते हैं वे कारण ही नष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण और भागवत धर्म एक ही समय मे प्रचलित थे यह निष्कर्ष निकलता है। वैदिक काल समाप्त हो जाने से सूत्र और स्मृति ग्रन्थो का निर्माण काल आरम्भ हो गया है। अन्य ऐतिहासिक बातें और वस्तुस्थिति का भी मेल बैठ जाता है।

भागवत धर्म का उदय १४०० वर्ष पूर्व ईसवी और बुद्ध पूर्व सात आठ सौ वर्ष हो चुका है। यह काल बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण ग्रन्थो का कर्म मार्ग इसने

भी प्राचीन है। उपनिषदों और सांख्यशास्त्र का ज्ञान भी भागवत धर्म निकलने पूर्व प्रचलित होकर सर्वमान्य हो गया था।

भागवत धर्म के पूर्व भी किसी न किसी प्रकार की भक्ति आरम्भ हो चुकी थी। भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवद्भक्त को परमेश्वर की तरह जग के धारण पोषण के लिए कर्मरत हो जाना चाहिए। भागवत धर्म ने निष्काम कर्म प्रधान प्रवृत्तिमूलक मार्ग श्रेयस्कर है ऐसा प्रतिपादन किया। ज्ञान के के साथ कर्म और भक्ति के साथ कर्म का योग्य समन्वय कर दिया। मूल भागवत धर्म में इसे निष्काम प्रवृत्ति तत्व माना गया है। यही नैष्कर्म्य है। धीरे-धीरे वैराग्य प्रधान वासुदेव भक्ति इस धर्म में प्रधान हो गई। ज्ञान और भक्ति के साथ पराक्रम का नित्य मेल रखने वाला मूल भागवत धर्म आगे चलकर सन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रसार से कर्मयोग पीछे रहकर उसे वैराग्य युक्त भक्ति स्वरूप प्राप्त हो गया। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद जो वैदिक-सम्प्रदाय बने उनमें से कुछ ने भगवद्गीता को सन्यास-प्रधान तो कुछ ने केवल भक्ति-प्रधान और कुछ ने विशिष्टाद्वैत का स्वरूप दिया।

गीता का धर्म भी मूल भागवत धर्म के स्वरूप को ही बतलाता है। गीता और मूल भारत खिस्त पूर्व १४०० वर्ष भागवतों के दो प्रधान ग्रन्थ थे। किन्तु उनका निर्माण बाद में हुआ होगा। किसी भी धर्म के प्रादुर्भाव काल में लिखे गये ग्रन्थ उसी समय धर्म ग्रन्थ नहीं बनते। महाभारत और गीता के बारे में भी यही न्याय लागू हो जाता है। भारतीय युद्ध के बाद, पाँच सौ वर्षों के भीतर ही आर्ष-महाकाव्यात्मक मूल भारत निर्माण हुआ होगा। आर्षमहाकाव्य में केवल नायक के पराक्रम का वर्णन करने से काम नहीं चलता। नायक जो कुछ करता है वह योग्य है या अयोग्य यह भी कहना पड़ता है। यही आर्ष महाकाव्य का एक मुख्य भाग रहता है। इसीलिए महाकाव्यात्मक मूल भारत में ही कर्मयोग प्रधान भागवत धर्म का निरूपण करना पड़ा। यही मूल गीता ग्रन्थ है। इसमें भागवत धर्म का मूल स्वरूप सोपपत्तिक प्रतिपादन के साथ व्यक्त हुआ है। अनुमानतः ६६० वर्ष खिस्तपूर्व इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ होगा।

अज्ञानियों के लिए भक्तिमार्ग सुलभ सोपान है, तथा ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए प्रवृत्तिमार्ग की स्वीकृति उचित है यही गीता का प्रतिपादन है। बुद्ध धर्म में वासनाक्षय का निवृत्तिपरक मार्ग उपनिषदों से लिया गया है। श्रीकृष्णोक्त भगवद्-गीता के अतिरिक्त प्रवृत्तिपरक भक्तितत्व वैदिक मत में न होने से महायान पथ के अस्तित्व में आने के पूर्व भागवत धर्म और भगवद्गीता का तत्व प्रचारित था यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष बाद बौद्ध धर्मीय भिक्षुओं की

दूसरी परिषद हुई थी। उसके बाद सिलोन में प्रचार करने के लिए लिखे गये विनय पीटकादि ग्रन्थ आते हैं। यह काल २४१ ईसवी पूर्व का है। इस युग में प्रचलित वैदिक ग्रन्थों में से इन बौद्ध ग्रन्थों में कुछ बातें ले ली गई हैं। महाभारत के कई श्लोक बौद्ध ग्रन्थकारों ने ले लिये हैं। यही कहना पड़ेगा कि महाभारतकार ने बौद्ध ग्रन्थों से कुछ नहीं लिया।

अत यदि महाभारत का काल निर्णय न भी हो सका, तो भी केवल अनात्मवादी तथा मूलत: सन्यासपरक बौद्धधर्म से क्रमश विकसित होने वाले भक्तिपरक और प्रवृत्तिपरक तत्व स्वाभाविक रीति से निकलना असभव है। महायान पथ की उत्पत्ति के बारे में स्वय बौद्ध ग्रन्थकारों के द्वारा किया गया श्रीकृष्ण नाम निर्देश बतलाता है कि भक्तितत्व महायान ने उनसे ही लिए हैं। गीता में पाया जाने वाला प्रवृत्तिपरक और भक्ति प्रधान तत्वों का महायान पथ के मतो में सादृश्य और साम्य इसीलिए है। बौद्धधर्म के साथ समकालीन जैन और वैदिक पथो में प्रवृत्तिपरक भक्तिप्रधान तत्वो का अभाव यही सिद्ध करता है कि महायान पथ के प्रादुर्भाव होने के पूर्व भागवत धर्म प्रचलित था और भगवद्गीता सर्वमान्य थी।

अत निर्णय में कह सकते हैं कि गीता के आधार पर महायान पथ निकला है और श्रीकृष्णोक्त गीता के तत्व बौद्ध धर्म में से नहीं लिये गये हैं।

साख्य, योग और वेदात दर्शन वैष्णव मतो पर अपना प्रभाव पर्याप्त रूप से छोड चुके हैं। यहाँ पर क्रमश इनके प्रभावों का विवेचन किया जाता है।

साख्य और वैष्णव मत—

साख्य दर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल थे। यह बहुत पुराना दर्शन है। 'सख्या' शब्द से इसका कोई सम्बन्ध रहा होगा। इस दर्शन में सख्याएँ अन्तिम तत्वो को बतलाने वाली है। 'साख्य' शब्द का दूसरा अर्थ सम्यक ज्ञान या परिपूर्ण ज्ञान लिया जाता है। यह एक व्यक्ताव्यक्त यथार्थवादी द्वैती सिद्धात है। सत्य की अन्तिम परिणति दो तत्वों में हो जाती है। वे दो स्वतत्र तत्व पुरुष और प्रकृति माने गये हैं।

प्रकृति का अस्तित्व अनुमान से पहिचाना जाता है। ससार के पदार्थों का एक योग्य कारण होता है। यह कारण क्या हो सकता है? यह पुरुष नहीं क्योंकि वह कारण और परिणाम दोनो नही है। केवल भौतिक अणु परमाणु जगत् निर्माण नही कर सकते क्योंकि इसमें मन और बुद्धि जैसी सूक्ष्म चीजें भी है। इस जगत् का अन्तिम कारण प्रकृति है जो प्रधान और अव्यक्त है। यह अन्तिम तत्व असवेद्य और अबोध तत्व है जो स्वयम् अकारण, सनातन और सर्वव्यापी है तथा अत्यन्त

सूक्ष्म और अतीव शक्तिमान भी। इसका विकास और विनाश चक्रनेमिक्रम से होता रहता है।

प्रकृति तीन गुणों से बनी है, जो सत्व, रज और तम के नाम से पहचाने जाते हैं। इन त्रिगुणों की एकता जगत् के साम्यावस्था को बनाये रखती है। इन गुणों को हम प्रत्यक्षानुभूति के रूप में नहीं ले सकते। उनके होने वाले परिणामों से हम अनुमान मात्र कर लेते हैं जो इस भौतिक जगत् के पदार्थों पर होता रहता है। प्रत्येक ऐसा पदार्थ अपने में सुख और दुःख तथा तटस्थता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। कारण में ही परिणाम को रहना चाहिये। प्रकृति सब पदार्थों का मूल कारण है अतः सुख, दुःख और तटस्थता ये विशेषतायें उसमें होनी हैं। इन्हें ही सत्व, रज और तम के नाम से पहिचानते हैं। सुख की प्रकृति सत्व कहलाती है और वह प्रकाशक, तेजस्वी तथा उत्स्फूर्त होती है। उसका यह स्वरूप पदार्थों की स्वसंवेदिता में प्रकट हो जाता है। अग्नि अपनी ज्वालाओं से प्रकट होता है। ज्वालाओं का ऊपर उठना, अनेक प्रकार की सुगन्ध वायु आदि बातें रजस प्रकृति से आती हैं। यह तत्व पदार्थों को द्रुति और गति देने वाला है। इसी के कारण अग्नि फैलता है, हवा बहती है तथा तन मन बेचैन होता है। इसी से दुःख उत्पन्न होता है और दुःख की अनुभूति भी होती है। पदार्थों की नकारात्मकता या अक्रियात्मकता के तत्व को 'तम' कहते हैं। मनमें अहंकार और अज्ञान उत्पन्न करना इसका कार्य है। गति को रोकने वाला, भारी बनाने वाला, मोह तथा सभ्रम की ओर अग्रसर करते हुए हमारी क्रियाशीलता रोककर निद्रा, आलस्य और तन्द्रा में ले जाने वाला यही तत्व है।

ये तीनों गुण परस्पर सघर्षी और परस्पर सहायक दोनों हैं। संसार का हर पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है वैसे उनका अनुपात कम अधिक मात्रा का ही हो सकता है। एक ही समय ये एक दूसरे को दबाने या प्रभाव डालने का प्रयास करते रहते हैं। संसार के प्रलय के समय प्रत्येक गुण अपने में निरोहित हो जाता है। इसे 'स्वरूप-परिणाम' कहते हैं। प्रत्येक गुण के कार्य परस्पर उपकारी सिद्ध होते हैं। अपने स्वरूप परिणाम को जब प्रत्येक गुण प्राप्त हो जाता है तब उस अवस्था को साम्यावस्था कहते हैं। सांख्य इसी को 'मूल प्रकृति' कहता है। गुणों की सपूर्ण 'साम्यावस्था' के कारण उनमें परस्पर कोई भी विशेषता उस समय उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जब साम्यावस्था में विरोध होता है तब ये गुण परस्पर को दबाने रहते हैं। इसे 'विरूप-परिणाम' कहते हैं इसी से संसार की उत्क्रान्ति होती है।

सांख्य द्वारा प्रमाणित दो सत्यों में से 'आत्मा' एक सत्य है। उसका

सूत्रधार स्वसंवेदिता है और वह अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न है। सांख्य दर्शन द्वैती है। प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र अन्तिम सत्य हैं जो इस विश्व में पाये जाते हैं। पुरुष के सामने प्रकृति आती है और तभी से जगत् की उत्क्रान्ति आरम्भ हो जाती है। प्रकृति कर्तृत्वपूर्ण किन्तु अज्ञानी और निःसंवेद्य होती है। मूल प्रकृति एक है जो अव्यक्त है। यही अव्यक्त प्रकृति बाद में व्यक्त हो जाती है। अव्यक्त प्रकृति नित्य, स्वतन्त्र, निरवयव, निष्क्रिय, त्रिगुणी अविवेकी (object of knowledge) ज्ञान का विषय अचेतन और प्रसवधर्मी एवम् एक होती है। व्यक्त प्रकृति अनित्य, परतंत्र, सावयव सक्रिय, अविवेकी, ज्ञान का विषय, अचेतन, प्रसवधर्मी और अनेक होती है। पुरुष नित्य, स्वतंत्र, निरवयव, निष्क्रिय, निर्गुण, विवेकी विषय चेतन, अप्रसवधर्मी और अनेक हैं।

प्रकृति की उत्क्रान्ति में प्रकृति से प्रथम महत् (Cosmic-Intellegince) या बुद्धि उत्पन्न होती है। इस विस्तृत भौतिक संसार में बुद्धि तत्व सब से बड़ा तत्व है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका कार्य निश्चित करना और निर्णय लेना है। बुद्धि की सहायता से संसार के पदार्थ हमें ज्ञात होते हैं। प्रकृति में अहङ्कार उत्पन्न हुआ जो महत् से उद्भूत होता है। इसके कारण संसार के पदार्थों को एक दूसरे से अलग कर उसको अलग समझते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमें अपने 'अहम्' को पहचानने की अनुभूति इसी से होती है। भ्रान्ति या गलती से बदली हुई प्रकृति से इसी के कारण आत्मा मिल जाती है अर्थात् अपने आपसे मुलाकात होती है। *इसी के कारण व्यक्ति अपने आपको स्वयम् उसका कर्ता और फलों का* भोक्ता भी समझता है।

अहंकार से सोलह तत्व निकले हैं। मन, पंचकर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पंच तन्मात्राएँ मिलकर ये सोलह माने गये हैं। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्व हैं। इस तरह कुल २४ तत्व आत्मा को छोड़कर सांख्य ने माने हैं। प्रकृति की उत्क्रान्ति के पीछे एक निश्चित ध्येय रहता है। परन्तु प्रकृति स्वयम् उसके बारे में अनभिज्ञ रहती है। पुरुष के आनन्द के लिए ही उसका प्रथम उत्कर्ष होता है। इसी में ही वह सन्तुष्ट नहीं है वरन् पुरुष की मुक्ति के लिए भी वही प्रयत्नशील होती है क्योंकि *यही उसका अन्तिम ध्येय भी है। यह अचेतन और जड़ प्रकृति पुरुष को प्रभावित* करने के लिए किस तरह कार्य कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य इस प्रकार देते हैं कि प्रकृति पुरुष के लिये उसी प्रकार कार्य करने लगती है जैसे एक बछड़े को देखकर गाय दूध को प्रवाहित करना आरम्भ कर देती है।

साख्यदर्शन में 'प्रधान' का कोई उद्देश्य न होने से उसे ग्राह्य नहीं माना जा सकता। यदि पूछा जाय कि वह पुरुष की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है तो पुरुष तो स्वय मुक्त है, उदासीन है, आनन्द और दुःख से तटस्थ है। तब प्रश्न उपस्थित होता है दोनो में सम्बन्ध कैसे प्रस्थापित किया जा सकता है? साख्यो के अनुसार प्रधान प्रकृति और पुरुष मे लगडे और अन्धे का सम्बन्ध है। पुरुष निष्क्रिय-लगडा है और प्रकृति अन्धी है अत दोनो का सम्बन्ध स्वाभाविक है। उदासीन और निष्क्रिय पुरुष प्रधान प्रकृति मे क्रिया कैसे उत्पन्न करता है? केवल पुरुष की उपस्थिति प्रकृति को गतिमान कर देती है ऐसा मानें तो उसे सर्वदा गतिशील रहना चाहिए। परन्तु प्रलय भी होना है। प्रकृति और पुरुष इन दोनो को साख्य नित्य मानते हैं इस कारण उनका सम्बन्ध भी नित्य हो जाता है। इसी से साख्यवादी नाना जीववादी बने हैं। इनका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो पर अपना कोई अभिप्राय नहीं मिलता। पुरुष प्रकृति की अन्तिम प्राप्ति की साधना के लिए इसमे कोई कार्यक्रम नही दिखाई देता। प्रकृति प्रसवशीला होने के कारण जीव के भले बुरे कार्यों का कर्मविपाक होता रहता है। वैष्णव सन्तो के साहित्य पर सृष्टि व्यापार और कर्मविपाक सिद्धान्तो का गहरा असर पड़ा हुआ दिखाई देता है। त्रिगुणात्मिका-प्रकृति प्रसवशीला, और जड होने से, तथा पुरुष चेतन और अकर्ता होने के कारण, सृष्टि व्यापार के लिए ईश्वर जैसे तत्व का प्रतिपादन, साख्य दर्शन-कारो ने नहीं किया है। इसी से कपिल-साख्य को निरीश्वरवादी साख्य माना गया है।

योगशास्त्र का वैष्णव साधना पर प्रभाव—

योग सूत्रकार महर्षि पातजली योग सूत्रो के और दर्शन के प्रणेता माने गये गये हैं। साख्यो के सृष्टि व्यापार को एवम् तत्वो को ये भी मानते हैं। ये कैवल्य और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर योग साधना से प्राप्त होता है। 'योग चित्तवृत्ति निरोध।' इसका मुख्य सूत्र है। परन्तु इसके साथ वे ईश्वरी कृपा से भी मोक्ष प्राप्ति हो सकती है इसे मानते हैं। परमेश्वर भक्ति से वश किया जा सकता है यह उन्हें मान्य है। ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यह ईश्वर विषयक सूत्र है। इसमे हठयोग और राजयोग का वर्णन किया गया है। ईश्वर प्राप्ति का ध्येय मान्य कर लेने से चित्तवृत्ति का निरोध या योग मनुष्य आचरण मे क्यो लाये ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो गया होता। पर वस्तुत ऐसा नही है। योगाचरण के लिये ईश्वर प्राप्ति का ध्येय इन्हें मान्य है और ये भक्तिमार्ग को भी अपनी मान्यता प्रदान कर देते हैं।

हठयोग—यह एक विशिष्ट शारीरिक क्रिया है जिसमे विशिष्ट प्रकार से प्राण वायु का रोधन कर उसे समाधि अवस्था तक पहुँचाया जाता है।

राजयोग—केवल बुद्धि या विवेक सामर्थ्य से समाधि अवस्था प्राप्त कर लेना राजयोग कहलाता है। बुद्धि के जटिल मार्ग को छोडकर केवल हठयोग का आश्रय लेकर भी ध्येय सिद्धि कर ली जाती है। पर यह भी अधिकारी और पात्रतम ही कर सकते हैं। हठयोग मे प्राणवायु का शरीर मे से विशिष्ट क्रियाओ द्वारा भ्रमण कराया जाता है। इन प्रक्रियाओ मे जिन चक्रो का शोधन आवश्यक है वह यदि न हुआ तो सारी क्रियामात्र शारीरिक क्रिया बन जायगी। उदाहरणार्थ—मूलाधार चक्र का शोधन होते समय उस स्थान की चार मातृकाएँ एवम् चार अक्षर मात्र दिखाई देना आवश्यक है। इससे कम या अधिक अक्षर दिखाई दें तो वह अनुचित होगा। गणपति इस चक्र के अधिष्ठाता हैं। मूलाधार-चक्र शुद्ध होते समय जो योगी चार मातृकाओ को देखेंगे और जिनको गणपति की प्रसन्नता प्राप्त हो जायगी, उनका ही चक्र शोधन, क्रिया द्वारा शुद्ध हो गया है, ऐसा निश्चित होगा। अन्य षट्चक्रो के बारे मे भी यही नियम है। इस प्रकार षट्चक्र-शोधन से साधक, समाधि अवस्था तक पहुँचकर सच्चा योगी बन जाता है। अन्यथा सारी क्रियाएँ केवल शारीरिक क्रियाएँ बन जाती हैं और समाधि भी केवल शारीरिक क्रिया ही मानी जावेगी ऐसे योगी भी शारीर-दृष्टिकोण से ही समाधि लगाते हैं। उनको इससे न तो ब्रह्म प्राप्ति होती है और न ज्ञान प्राप्ति।

वस्तुत योग का तात्पर्य परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग है। अर्थात् अन्य मार्ग भी अन्त मे योग मे ही आकर समाविष्ट हो जाते हैं। इसी से भगवद् प्राप्ति के साधन प्रकारो के साथ आगे चलकर योग शब्द जोडा गया है। जैसे हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि। जिस मार्ग से जो जाता है वैसे ही उसकी पहचान होती है। जैसे ज्ञानमार्ग से जाने वाला ज्ञानयोगी, भक्तिमार्ग से जाने वाला भक्तियोगी इत्यादि।

हर एक व्यक्ति को यह ज्ञान नही रहता कि वह किस मार्ग से जावे। उसे गुरु के पास इसीलिए जाना पडता है, कि वह किस मार्ग का अधिकारी है इसका ज्ञान उसे मिल जाय। यदि उत्तम गुरु मिल जाता है तो अपने शिष्य का अधिकार और पात्रता देखकर गुरु उसे उसके योग्य मार्ग बतला देता है। अलग-अलग योगो का सम्बन्ध तो एक दूसरे के साथ आता ही है। रोगी शरीर वाले को ज्ञान-मार्ग मे जाने के लिये प्रथम अपना शरीर निरोगी रखना आवश्यक है। हठयोगी को भी भक्ति आदि का विचार थोडा बहुत करना ही पडता है। अत प्रसङ्ग और

परिस्थिति के अनुसार जिसे जितना आवश्यक है उतना उस योग का उपयोग होकर उसे अपना इष्ट और अभीप्सित मार्ग मिल जाता है। तभी वह उस विशिष्ट पथ का (school) का योगी कहलाता है। उपयुक्त और योग्य मार्ग का गुरु के द्वारा अथवा स्वयम् समझ बूझकर अपनाना ही 'योग: कर्मसु कौशलम्।' माना गया है।

अर्जुन से भगवान् कृष्ण ने कहा कि 'योग युजन् मदाश्रय' अर्थात् मेरे आश्रय के लिए जिसने आचरण में जो योग लिया है वही योग है। इसीलिए योगाचरण या योगमार्ग की कुशलता रहने पर भी ईश्वरी आश्रय का हेतु भी आवश्यक है। हठयोग में कुंडलिनी का क्या अर्थ है? उसकी जागृति कैसे होती है यह समस्या सदा रहती है। इसे भी जरा देख लिया जाय।

एक योग सूत्र है 'अपाने जुह्वति प्राणम्' अपानवायु में प्राण वायु का हवन करने वाला अपनी जीवन-शक्ति बढ़ा सकता है। साधारणतः मनुष्य १०-१२ अंगुल सांस ले सकता है। वह उसे बीस अंगुलों तक बढ़ा सकता है। इतना कर लेने पर वह प्राणवायु अपान वायु के साथ संयुक्त कर सकता है। अपान वायु का आगार नाभि के निचले विवर में रहता है। जो व्यक्ति इस विवर में प्राणवायु को पहुंचा सकता है अर्थात् जिसे इस कार्य में सफलता मिलती है, वही अपनी जीवन शक्ति सहज बढ़ा सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को जीवन में नित्य अपान वायु का हवन करना पड़ता है। प्रत्येक के पास अपान वायु का एक निश्चित परिमाण और संचित रहता है और इसी में से नित्य का जीवन व्यतीत करते हुए उसे खर्च करना पड़ता है। इस कार्य को करते हुए उसे सामान्यतः कोई कष्ट नहीं होता। भोजन के भोज्य पदार्थों में से कोई कम या अधिक खा लिया जाय, या निद्रा अनियमित एवम् अधूरी हो जाय तो उसे इन बातों से कोई कष्ट नहीं होता। साधारण रूपेण बीस अंगुल तक कोई सांस नहीं ले सकता और केवल जोरों से भीतर सांस खींचने से भी कोई कार्य नहीं हो सकता। इस कार्य के लिए पहुँचे हुए गुरु की आवश्यकता रहती है। अपान वायु का विवर इतना रिक्त भी नहीं रहता कि जितनी मात्रा में चाहे उतनी मात्रा में प्राणवायु उसमें डाल दी जाय। यह कार्य परिश्रम और विशेष अध्ययन से साध्य है।

इस तरह प्राणवायु को नाभि के निचले विवर में पहुंचाने पर वह उसे वैसे ही एक विशिष्ट प्रकार से और क्रिया से, तथा एक विशिष्ट रास्ते से ही पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है। इसकी प्रत्येक क्रिया गुरु के सान्निध्य में और मार्गदर्शन में होना अनिवार्य है। इसमें गलती होने से भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। अतः किसी भी प्रकार की गलती इसमें खप नहीं सकती। प्राणवायु को पीछे घुमाने पर

उसे फिर वापस पीठ की ओर से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ाना आवश्यक है। मेरुदण्ड के मन के एक पर एक रखे रहते हैं। उनमे आर-पार रन्ध्र रहता है। सामान्यत इसे खुला रहना चाहिए। पर सहसा वह खुला नहीं रहता। इस रन्ध्र के बद रहने से जब प्राणवायु ऊपर चढाई जाती है, तो छिद्र खुल जाता है। इस घर्षण-क्रिया से ऊष्णता उत्पन्न हो जाती है और अत्यत दाह होता है। शरीर गरम हो जाता है, *और अत्यत कष्ट होता है। योग्य मार्गदर्शन से ये क्रियाएँ यशस्वी होने लगती हैं।* मुक्ताबाई ने ज्ञानेश्वर की पीठ पर तन्दूर की रोटी की तरह माडा सेका था। इस तरह की एक किंवदती प्रसिद्ध है। इस कथा का इङ्गित यही है कि जो उष्णता उत्पन्न हुई उसका यह लाक्षणिक वर्णन है। इस तरह पूरे मनकों का मार्ग रिक्त हो जाने पर वायु ऊपर चढने लगती है। ऊपर चढते-चढते वह अन्तिम मनके मे से बड़े मस्तिष्क मे जहाँ वह छोटे मस्तिष्क से जुडा रहता है, वहाँ प्रवेश करती है। वहाँ से बडे मस्तिष्क मे से होते हुए मस्तक के ठीक मध्यभाग मे से उसे आगे सरकाकर कपाल के मध्य मे से फिर उसे नीचे लाना पडता है। यहाँ तक की सारी यौगिक क्रियाएँ साध्य हो जाने पर सर्व साधारण तया मनुष्य नासिका मे से प्राणवायु को भीतर लेते समय इस वायु के बराबर ऊपरी और पिछली ओर से चढाकर मस्तक मे लायी हुयी वायु मार्गस्थ हो जाती है और ऊपर और नीचे के भार के कारण वहाँ का मार्ग भी खुला होकर वहाँ की वायु मे यह वायु मिल जाती है। इन दोनो वायुओं का सयोग दोनो भौहों के बीच मे स्थित है। इस स्थान को आज्ञाचक्र कहते हैं। यही अमृतप्राशन है। इसे ही कुडलिनी-जागृति कहा जाता है। कुंडलिनी के काव्यात्मक वर्णन कई ग्रन्थों मे मिलते है। उसे शरीर की सब चीजें खा डालती है। मनुष्य बलवान हो जाता है, उसका शरीर कांतिमान हो जाता है। उसकी त्वचा, केश स्वर्ण जैसे बन जाते हैं। इस तरह के वर्णन ज्ञानेश्वर आदि सतो के साहित्य मे मिलते हैं। षड्चक्र-भेदन इसी तरह हो जाता है, और वे स्थान शुद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक चक्र पर एक देवता का अधिष्ठान है। अत प्रत्येक चक्र भेदन के समय उसके अधिष्ठात को प्रसन्न कर लेना पडता है। केवल शारीरिक क्रिया करते हुए प्राणवायु को षड्चक्रों तक पहुँचाकर समाधि तक पहुँच सकते हैं।

पर इससे ज्ञानप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति नही होती। समाधि-अवस्था मे जाने पर मरण मे जीव का आत्यतिक लय नही है ऐसा साक्षात्कार योगी को होता है। जिस चक्र पर जो अक्षर या मातृका होगी उन तक प्राणवायु के पहुँचने पर योगी का अन्य अक्षर सुनना या परावाचा से उच्चारण करना असभव हो जाता है। इसे ही उन चक्रों की शुद्धि क्रिया माना जाता है।

अपनी आयु बढ़ाने के लिये भी योगी इसका उपयोग कर सकते हैं। मनचाहे दिनों तक वह जीवित रह सकता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रत्येक चक्र की शुद्धि के समय उसके अधिष्ठाता की कृपा और प्रसन्नता की प्राप्ति आवश्यक है। यह सब साध्य होने के लिए अच्छे व उच्च कोटि के गुरु की आवश्यकता रहती है। आधुनिक काल में जो योगी हम देखते हैं वे केवल शारीर क्रिया के जानकार हैं। अतः समाधि लगाने पर भी उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होता। उन्हें फिर सगुणोपासना करनी ही पड़ती है। शरीर की शुद्धि के साथ और विकास के साथ मनका विकास और शुद्धि नहीं हुआ करती है। ईश्वरी प्रसाद भी नहीं रहता। अतः उसे सगुणोपासना से ही प्राप्त कर लेना पड़ता है। जिनके पास मन और बुद्धि की पहुँच रहती है वे निर्गुणोपासना से समाधि के बल पर ब्रह्मप्राप्ति कर लेते हैं। प्रायः ऐसे लोग विरले और नगण्य प्राय ही मिलते हैं। पातञ्जल योग के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति का यही मार्ग है।[१]

कपिल सांख्य जिस तरह निरीश्वरवादी है वैसे ही पातजल योगदर्शन सेश्वरवादी है। पातजल योगदर्शन के चार पाद हैं। (१) समाधि-पाद, (२) साधन-पाद, (३) विभूति-पाद और (४) कैवल्य-पाद। सत्य की स्वरूप सिद्धि करके उस अवस्था मे तदाकार होने की भूमि को समाधि कहा गया है। इस समाधि के हेतु यम, दम नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि है। इसको अष्टाग-योग कहते हैं। इसका विवरण साधनपाद मे किया गया है। विभूतिपाद मे योगी के अधिकारानुरूप क्रिया बताकर हर क्रिया से होने वाली सिद्धि का वर्णन किया गया है। वैसे ही उसमें केवल अभ्यास से हर यौगिक क्रिया सिद्ध होने की आशका के कारण ईश्वर कृपा का औचित्य दिखाया है। 'पुरुष विशेषो ईश्वर.' इस प्रकार ईश्वर की व्याख्या करते हुए 'तस्य वाचक प्रणव.' इस सूत्र मे उसका नामाभिधान किया गया है। उसकी प्राप्ति के लिए अर्थात् उसकी भावना करने के हेतु 'तज्जप स्तदर्थ भावनम्' सूत्र द्वारा प्रणव अर्थात् ॐकार का जप करने का विधान बतलाया गया है। इसीलिए योगदर्शन सेश्वर-सांख्य कहलाता है। इस तरह पिंड-ब्रह्माण्ड रचना के हेतु योग दर्शनाकार को कपिल-सांख्य ही अभिप्रेत है। अतः उसे निरीश्वर-सांख्य और इसे सेश्वर-सांख्य कहा जाता है।

शौच, अस्तेय, नियम, अहिंसा, अपरिग्रह आदि नियमो का योग सिद्धि के हेतु योगदर्शन मे विशेष अनुरोध दिखाई देता है। उसी का उपयोग लोगों का चारित्र्य बनाने के हेतु मराठी और हिन्दी के वैष्णव सतो ने प्रकर्षेण रूप से

१. लोंडओळख—डा० रा. प्र. पारनेरकर, पृ० ७०–७२–७५।

किया है। योगदर्शन से यदि मुमुक्षु चाहे तो साधन सम्पन्न भी बन सकता है तथा आगे चलकर चाहे तो अपनी स्वेच्छा से योग, ज्ञान या भक्ति इनमें से किसी भी साधन में जुटकर कृतार्थ होने के लिए सूक्ष्म बन जाता है।

वेदान्त दर्शन का वैष्णव मत पर प्रभाव—

प्रसिद्ध वेदान्त दर्शन उसकी अध्यात्मवादी दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। वेदान्त का अर्थ वेदों का अन्त कुछ लोग बतलाते हैं। विशेषतः उपनिषदों में वर्णित एवम् बतलाये गये विचारों और तत्वों को लेकर वह आगे बढ़ा है।

उपनिषदों में भी वेदों का अन्त कई ढङ्ग से माना गया है। वैदिक युग की वे अन्तिम साहित्यिक कृतियाँ समझी जाती हैं। प्रथम वैदिक मंत्र ऋचाएँ और संहिताएँ निर्माण हुईं। ब्राह्मणों में इन ऋचाओं को लेकर यज्ञकर्मों में विनियोग किया है और अन्त में उपनिषदों में उनकी दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया है। व्यक्तिगत जीवन में प्रथम संहिताओं का अध्ययन, बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों का और अन्त में उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है। तब तक वृद्धावस्था आजाती थी, उपनिषदों में आध्यात्मिक विचार-परंपरा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। उपनिषद का अर्थ सत्य के निकट जाना है। विशिष्ट चुने हुए शिष्यों को ही पढ़ाया जाता था। भिन्न-भिन्न रचयिताओं के द्वारा वे रचे गये थे। बादरायणाचार्य ने उनके प्रमुख विचारों का संकलन ब्रह्मसूत्र' के नाम से किया है। यही आगे चलकर वेदान्तसूत्र कहलाया गया। वेदान्त दर्शन का यह प्रमुख आधारभूत ग्रन्थ है जिस पर अनेक भाष्य लिखे गये और अपने-अपने ढङ्ग से उसके अर्थ लगाये गये। ये ही आगे चलकर वेदांत दर्शन के अनेक उपसिद्धांत बनकर सामने आये। इनमें शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क आदि सम्प्रदाय आते हैं। इसके बाद भी भाष्यों पर और उपभाष्य आदि लिखे गये। यह सारा साहित्य वेदांत वाङ्मय के नाम से पहचाना जाता है। वेदांत की सब से महत्वपूर्ण विशेषता उपनिषदों के अद्वैत सिद्धांत पर जोर देना है। सत्य को इस प्रकार से केवल एक ही अन्तिम स्वरूप में रखा जाता है। इसमें एक तत्व स्वसंवेद्य और दूसरा आध्यात्मिक स्वरूप का है। *ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का परस्पर सम्बन्ध, प्रतिम सत्य और जगत् का* सम्बन्ध आदि की चर्चा उसमें होती है।

शङ्कराचार्य के अनुसार जगत् का निर्माण ही नहीं हुआ। जो अनुभव हमें जगत् का होता है वह माया या अविद्या के कारण होता है। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा परमात्मा से बहुत साम्य और अभिन्नत्व रखती है।

साधारण जीवन के अनुभव में उन दोनों का जो अन्तर सामने आता है वह केवल अविद्या के कारण आता है। रामानुज-सम्प्रदाय, विशिष्टाद्वैत और मध्व का द्वैताद्वैत माना जाता है। हम अपने अन्य अध्याय मे इस पर पर्याप्त रूप से विवेचन कर चुके हैं अत यहाँ पर उन पर कोई विवेचन नही है।

वेदात के सभी सम्प्रदाय आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म-विद्या को उच्च कोटि का ज्ञान मानते है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने मे इस मार्ग का अधिकार मिल जाता है और वह अभ्यास, ध्यान और मनन से प्राप्त होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार अपने आत्म साक्षात्कार से सम्पन्न है। इसमे सच्चे अपरिमित आनन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्द के सामने सासारिक सुखो का कोई मूल्य नही होता। पारमार्थिक आनन्द का स्रोत आत्मा मे होता है। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है। वह बाहर भीतर और सर्वत्र है। वैदिक वाङ्मय से ईश्वर को जानते हैं। तर्कों के द्वारा उसे नही जान सकते। वैसे निष्ठावान साधक कडे अनुशासन-पूर्ण, नैतिक और धार्मिक अध्यवसाय से स्वयम् परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते है। श्रद्धा मूलत ध्यान और धार्मिक बातो पर होना आवश्यक है। वेदो मे ईश्वर को 'नेति-नेति' कहा गया है। इस विश्व का वही कर्ता-धर्ता और सहारक है एवम् नियामक भी।

शङ्कराचार्य परमतत्व को दो दृष्टियो से देखते हैं। प्रथम तो ससार को व्यावहारिक रूप से सत्य मानते हैं। इसके लिए इस ससार का निर्माता, पालनकर्ता और सहारकर्ता ईश्वर है। उसकी हम पूजा कर सकते हैं। दूसरे पारमार्थिक दृष्टि से यह ससार असत्य है। अत इस स्तर पर आकर जब ससार ही नही तब उसका निर्माता भी नही है। केवल अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है। इसका कोई दूसरा रूप सभव नही है। ईश्वर सत्य ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है वह उसका स्वरूप लक्षण नही है। केवल सगुण या ईश्वर ही पूजा का आधार बन सकता है, जिसकी भक्ति की जा सकती है। लेकिन अन्त मे परमार्थ के ऊपरी स्तर पर आकर यह अतर लुप्त हो जाता है। क्योकि ब्रह्म के परे कुछ है ही नही। वह अनिर्वचनीय भी है। इसके कुछ सूत्र इस प्रकार है—'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति', 'नेहनानास्ति किंचन, और ब्रह्मम् सत्य जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव नापर' आदि।

मायावाद क्या है ?

मायावादी दो प्रकार के भाव पदार्थों को मानते हैं। एक ज्ञान और दूसरा अज्ञान। ये दोनो भाव पदार्थ है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नही वरन् वह भी एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ है। अज्ञान रूपी भाव पदार्थ मे दो विभाग हैं प्रथम

आवरण और दूसरा विक्षेप। रजोगुणयुक्त अविद्या ही आवरणयुक्त अज्ञान है। सत्वगुणयुक्त माया विक्षेप युक्त अज्ञान है। रजोगुणयुक्त अविद्या में आगे चलकर जीव निर्माण होता है। सत्व गुणयुक्त माया से ईश्वर निर्माण होता है। जीव अविद्योपाधित होने से अविद्या का ही निर्माण कर सकता है और करता है। वह कार्य रूप है। ईश्वर मायोपाधित होने से माया को ही उत्पन्न कर सकता है और करता है। वह कारण रूप है। पुरुष-प्रयत्न अविद्या को मिटा सकता है। ब्रह्म पद अध्यात्मिक दृष्टि से सिद्ध हो सकता है। सर्प-रज्जु का दृष्टान्त इसे समझाने के लिए दिया जाता है। आवरण युक्त अज्ञान में रज्जु-सर्प जैसी भासित हुई यही अविद्या है। इसका निराकरण ज्ञान से हो सकता है और दीपक ले आने पर जब देखा तब अज्ञान नष्ट होकर मूल रज्जु स्वरूप गोचर हो गया। यहाँ ज्ञान से अज्ञान का निराकरण हो गया पर विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण ज्ञान से नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी यह अज्ञान विद्यमान रहता है। जैसे नदी के तट पर खड़े होकर तटवर्ती वृक्ष की ओर देखने पर उसका तना नीचे और शाखायें तथा उप-शाखायें ऊपर बढ़ती चली गई है ऐसा दिखाई देता है। इतना ही नहीं तो पानी में हम अपना निजी प्रतिबिम्ब भी उलटा देखते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ही समय जब ज्ञान रहता है तब अज्ञान का निराकरण नहीं होता वरन् वह कायम रहता है। अर्थात् विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण सत्य ज्ञान से नहीं हो पाता। वह कायम रहता है। अब तक के विवेचनानुसार अविद्या का निराकरण पुरुष-प्रयत्न से हो जाने पर 'ब्रह्मसत्य' यह पद सिद्ध हो जाने पर और उसकी प्रतीति हो जाने पर 'जगन्मिथ्या' यह पद सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उसकी निष्पत्ति विक्षेपयुक्त अज्ञान से उत्पन्न है। पुरुष-प्रयत्न से वह साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह बात उसके अधीन नहीं परन्तु वह ईश्वराधीन है। जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति यदि लेनी हो तो उपासना से और भगवान् की कृपा प्राप्त करने से ही वह हो सकेगी। यहाँ पर आधिदैविक पक्ष आता है। 'ब्रह्म सत्य' के प्रतीत होने में आध्यात्मिक पक्ष है। यह वही पक्ष है जिसे आज मनोविज्ञान (Psychology) कहते हैं। पुरुष-प्रयत्न से मनुष्य चित्तचतुष्टय की शुद्धि का अर्थ यही है कि यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। जगत् आदि पदार्थ आधिभौतिक के अन्तर्गत आते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म सत्यम्' की प्रतीति हो जाने पर जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति प्राप्त करने के लिए ईश्वर की कृपा, करुणा-दया आदि की अपेक्षा सिद्ध हो जाती है। इस तरह मायावादी आचार्यों ने भी अध्यात्मवाद की अपेक्षा आधिदैविक पक्ष की श्रेष्ठता स्वीकार की है। श्रेष्ठता इसलिए क्योंकि उसमें पराधीनता है। ईश्वर यदि कृपा करे तो ही यह सम्भव है अन्यथा नहीं।

गीता का यह श्लोक इस पर प्रकाश डालने वाला है।[१]

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते॥

श्रीमद् आद्य शङ्कराचार्यजी का इस श्लोक पर किया गया भाष्य मननीय और ऊपर किये गये विवेचन की दृष्टि से महत्व रखता है अत वह द्रष्टव्य है। ईश्वर की शरणागति लेने के हेतु अपने अद्वैत सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए वे कहते हैं[२]—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह नमाम कौनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंग क्वच न समुद्रो न तारङ्ग॥

'जीवो ब्रह्मैव नापर', अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यो का अनुभव करने के पश्चात् भी जीव के लिए ईश्वर-ईश्वर ही रहता है। ईश्वर जीव का स्वामी ही है। अत अभेदानुभूति करने के कारण ईश्वर की शरण लेने मे शरमाने की कोई आवश्यकता नही है, ऐसा अपना स्पष्ट अभिप्राय ईश्वर को सादर अभिवादन कर शरणागति की वे अपनी तीव्र लगन प्रकट करते हैं।

जीव अविद्या की उपाधि से जन्ममरण के चक्र मे पड जाता है। अविद्या ही जीव का बंधन है। अत अविद्या नाश और ब्रह्म एवम् आत्मज्ञान से उस इस बंधन से छुटकारा मिल जाता है। यही मोक्ष है। इस मोक्ष का साधन ज्ञान ही है। वेदान्तियो का यह आग्रह होते हुए भी ईश्वर की उपासना या आराधना की आवश्यकता वे महसूस करते हैं। अविद्या बंधन के हेतु पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानकर क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध से मे प्रारब्धवाद का सिद्धान्त सम्मुख रखकर मानव के ऐहिक जीवन म होने वाले सुख-दुखो के साथ सम्बन्ध जोडते हैं। इससे इसमान पुण्यकर्म करने के लिए प्रोत्साहित तथा पापकर्म करने के लिए हिचकिचाने वाला पाप-भीरु होता है। मोक्ष और प्रारब्धवाद को मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने माना है। अपने साहित्य मे ये सत मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष बतलाते हैं। तथा सुख-दुख का हेतुपूर्वक कर्म पाप पुण्य के परिणाम का कारण है ऐसा बतलाकर मनुष्य को सत्य पथ पर लाने का अथक परिश्रम भी वे करते हुए दिखाई देते हैं। दारिद्र्य और विपन्नता सदियो तक सहने वाला भारत इसी के कारण नीतिमान बना रहा। जीवन की नश्वरता, सुखो का क्षणभंगुरत्व और दुखो का आधिक्य बताकर मानव को सदाचार पर चलने के लिए प्रवृत्त करने का वैष्णव सतो ने प्रयत्न किया है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता–अध्याय ७, श्लोक १४।
२. आचार्य षट्पदी–शंकराचार्य स्तोत्र ॥३॥

श्री शैल पर मजुनाथ (आदिनाथ) कदलीश्वर नामक स्थान नाथ सम्प्रदाय का पुरातन पीठ माना गया है। सर्व साधारण रूप से यह भी माना गया है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में हुए थे।

ज्ञानेश्वर का जन्म सन १२६० में हुआ। अपनी आयु के २१ वें वर्ष में उन्होंने समाधि ली। सन १२६० मे ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त हुई। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से हम किसी भी तरह नाथ सम्प्रदाय को ११ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं ले जा सकते। गोरखनाथ के समय शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के ह्रासावशेष अनेक सप्रदायों मे बँट गए थे। इन सबको संकुचित कर बारह सम्प्रदायों को मुसलमान होने से बचाया। उनकी 'गोरखबानी' प्रसिद्ध है, 'अवधूत-गीता' दत्तात्रेय द्वारा रचा गया ग्रन्थ मानते हैं, और नाथ सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ भी। यह बात तो निश्चित ही है कि नाथ सप्रदाय एक शैव अद्वैत मत है। पर दत्तात्रेय भैरव, *शक्ति तथा योग सम्प्रदाय से भी नाथ सम्प्रदाय सम्बद्ध है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एक और अन्य ग्रन्थ है जो नाथ सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है।* तांत्रिक साधना से मुक्त करने के लिये पूर्ववर्ती साधनाओं मे जो ग्राह्य था उसे अङ्गीकार कर लिया, अशुद्ध था उसे शुद्ध किया, त्याज्य था उसे नष्ट किया। शिव-शक्ति का प्राधान्य, गुरु महत्ता का महत्व, अद्वैत विचार, प्रतीति-प्रामाण्य, अवधूता-वस्था आदि बातों का विशेष प्रतिपादन उन्होंने किया। गिरनार पर्वत पर गोरख और दत्तात्रेय मिले थे। 'दत्त गोरख सवाद' प्रसिद्ध है दत्तात्रेय ने ही गोरख को योग सिद्धि प्राप्त करा दी। तंत्र मार्ग की विकृत यौगिक प्रक्रियाओं का शोधन करके उसे विशुद्धि बनाकर मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा मैथुनादि पच मकारी स्त्री-प्रधान-वामाचार को साक्षेपपूर्वक दूर किया। और 'विषय विध्वसक वीर' यह बीरुद धारण किया। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली व्यक्तित्व है। अपने अलौकिक योग-सामर्थ्य से और अनलस्पर्शी प्रज्ञा से तंत्रमार्गी के अनेक दल गोरख-मतानुयायी बने और उन्होंने पूर्व संस्कार और गोरखोपदिष्ट मार्गों के विचित्र समिश्रण से अपना स्वतन्त्र मार्ग चलाया। हिन्दी वैष्णव कवियों मे कबीर नाथपथ से प्रभावित हैं। उत्तर भारत मे यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का विकास न होकर बाद में उनमे अनेक विकृतियाँ आ गई थीं जिनका कबीर ने निषेध किया है। अवधू, निरजन आदि अनेक शब्द तथा काया-साधना की बातें नाथ पथियो की विरासत के रूप मे कबीर और अन्य निर्गुनियों सन्तों को मिली हैं। नाथ सम्प्रदाय ने सूफियो पर भी अपना प्रभाव डाला है। महाराष्ट्र मे ज्ञानियों के गुरु श्री ज्ञानेश्वर सीधे नाथ पथ मे जुड़े हुये हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि वैष्णवो मे एक तरफ की

कडी ज्ञानेश्वर को लेकर और दूसरी कडी कबीर को लेकर नाथ सम्प्रदाय को वैष्णवो से जोडती है।

मूलत नाथ पंथी होने पर भी उनके द्वारा वैष्णवो का भागवत धर्म बहुत ही प्रभावित हुआ। इसी से शैव तथा वैष्णवो मे ऐक्य भावना निर्माण हुई और वे पारस्परिक रूप मे एक दूसरे के देवता के प्रति आदर करने लगे। यो क्षेत्र पढरपुर के विठोबा की मूर्ति इन लोगो की पूजा और भक्ति का विषय बनी। इस देवता की मूर्ति मे शिव और विष्णु सुचारु रूप से एकत्रित किये गये है। विठोबा बालकृष्ण ही हैं। बालकृष्ण या श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जो वैष्णवी भावना मनुष्य मे पाई जाती है उस तरह विठ्ठल भजन करने से शैवी या वैष्णवी किसी भी एक प्रकार की भावना निर्माण नही होती। 'विठ्ठल' नाम मे ऐसा जादू भरा हुआ है कि इस नाम के लेने से शिव तथा विष्णु की अनुभूति एक ही रूप मे एक ही समय हो जाती है। मराठी के वैष्णव सन्त कवियो ने अपने ग्रन्थो द्वारा भागवत धर्म पर प्रवचन कर उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है वैसे ही ईश्वर प्राप्ति के हेतु भक्ति को सुलभतम साधन बतलाया है। स्थान-स्थान पर अपने आपको वे भागवत कहलाते हैं। उनमे हमे किसी तरह की साम्प्रदायिकता, या कटुता नही दिखाई देती जो स्वय को वैष्णव या शैव कहलाने वाले सम्प्रदायो मे आज तक भी बनी हुई है। पढरीनाथ विठोबा के भक्त ज्ञानेश्वर से लेकर आज तक जितने भी हुए हैं वे सब वारकरी कहलाते हैं। वास्तविक रूप से ये सब भागवत धर्मानुयायी ही हैं, और वैष्णव होते हुए भी शैव और अन्य सम्प्रदायो के साथ इनमे सहिष्णुता है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा नाथ सम्प्रदाय मे जो शैव और वैष्णवो का समन्वय किया गया उसी का ही यह मूर्त रूप है। नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ शङ्कर-महादेव-शिव का समन्वयात्मक रूप कानडा विठोबा अर्थात कर्नाटक के विठ्ठल कृष्ण रूप मे परिणत हुआ।

उत्तर भारत के नाथ सम्प्रदाय मे यह परिणत रूप नही दिखाई देता। वहाँ तांत्रिक साधना का आडम्बर दिखाई देता है। कबीर ने नाथ सम्प्रदाय पर भागवत धर्म के संस्कार अवश्य किये हैं। नाथ सम्प्रदाय मे नौ नाथ प्रसिद्ध हैं, और इनके बारे मे विभिन्न कथाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं मे प्रचलित हैं।

तन्त्र सम्प्रदाय और वैष्णव मत—

अथर्व वेद मे मन्त्रो तन्त्रो आदि की भरमार है। तांत्रिकों की साधना प्राचीन है। तन्त्र शब्द की परिभाषा—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञान मनेन इति तत्रम्। तनोति विपुला नर्थान तत्रमंत्र समन्विनाद् त्राणच कुरुते यस्मात् तत्रम इत्यभि

श्री शैल पर मजुनाथ (आदिनाथ) कदलीश्वर नामक स्थान नाथ सम्प्रदाय का पुरातन पीठ माना गया है। सर्व साधारण रूप से यह भी माना गया है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में हुए थे।

ज्ञानेश्वर का जन्म सन १२६० में हुआ। अपनी आयु के २१ वें वर्ष में उन्होंने समाधि ली। सन १२९० में ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त हुई। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से हम किसी भी तरह नाथ सप्रदाय को ११ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं ले जा सकते। गोरखनाथ के समय शैव, शाक्त और बौद्ध धर्म के ह्रासावशेष अनेक सप्रदायों में बँट गए थे। इन सबको सङ्घटित कर बारह सम्प्रदायों को मुसलमान होने से बचाया। उनकी 'गोरखबानी' प्रसिद्ध है, 'अवधूत-गीता' दत्तात्रेय द्वारा रचा गया ग्रन्थ मानते हैं, और नाथ सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ भी। यह बात तो निश्चित ही है कि नाथ सप्रदाय एक शैव अद्वैत मत है। पर दत्तात्रेय भैरव, शक्ति तथा योग सम्प्रदाय से भी नाथ सम्प्रदाय सम्बद्ध है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एक और अलग ग्रन्थ है जो नाथ सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है। तांत्रिक साधना से मुक्त करने के लिये पूर्ववर्ती साधनाओं में जो ग्राह्य था उसे अङ्गीकार कर लिया, अशुद्ध था उसे शुद्ध किया, त्याज्य था उसे नष्ट किया। शिव-शक्ति का प्राधान्य, गुरु सम्प्या का महत्व, अद्वैत विचार, प्रतीति-प्रामाण्य, अवधूतावस्था आदि बातों का विशेष प्रतिपादन उन्होंने किया। गिरनार पर्वत पर गोरख और दत्तात्रेय मिले थे। 'दत्त गोरक्ष सवाद' प्रसिद्ध है दत्तात्रेय ने ही गोरख को योग सिद्धि प्राप्त करा दी। तंत्र मार्ग की विकृत यौगिक प्रक्रियाओं का शोधन करके उसे विशुद्धि बनाकर मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा मैथुनादि पंच मकारी स्त्री-प्रधान-वामाचार को साक्षेपपूर्वक दूर किया। और 'विषय विध्वंसक वीर' यह बीरुद धारण किया। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व है। अपने अलौकिक योग-सामर्थ्य से और अनन्यस्पर्शी प्रज्ञा से तंत्रमार्गी के अनेक दल गोरक्ष-मतानुयायी बने और उन्होंने पूर्व सस्कार और गोरक्षोपदिष्ट मार्गों के विचित्र सम्मिश्रण से अपना स्वतन्त्र मार्ग चलाया। हिन्दी वैष्णव कवियों में कबीर नाथपंथ से प्रभावित हैं। उत्तर भारत में यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का विकास न होकर बाद में उसमें अनेक विकृतियाँ आ गई थी जिनका कबीर ने निषेध किया है। अवधू, निरंजन आदि अनेक शब्द तथा काया-साधना की बातें नाथ पंथियों की विरासत के रूप में कबीर और अन्य निर्गुनियो सन्तो को मिली हैं। नाथ सम्प्रदाय ने सूफियों पर भी अपना प्रभाव डाला है। महाराष्ट्र में ज्ञानियों के गुरु श्री ज्ञानेश्वर सीधे नाथ पंथ से जुड़े हुये हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि वैष्णवों में एक तरफ की

कड़ी ज्ञानेश्वर को लेकर और दूसरी कड़ी कबीर को लेकर नाथ सम्प्रदाय को वैष्णवों से जोड़ती है।

मूलतः नाथ पंथी होने पर भी उनके द्वारा वैष्णवो का भागवत धर्म बहुत ही प्रभावित हुआ। इसी से शैव तथा वैष्णवों में ऐक्य भावना निर्माण हुई और वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे के देवता के प्रति आदर करने लगे। श्री क्षेत्र पढ़रपुर के विठोबा की मूर्ति इन लोगों की पूजा और भक्ति का विषय बनी। इस देवता की मूर्ति में शिव और विष्णु सुचारु रूप से एकत्रित किये गये हैं। विठोबा बालकृष्ण ही हैं। बालकृष्ण या श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जो वैष्णवी भावना मनुष्य में पाई जाती है उस तरह विठ्ठल भजन करने से शैवी या वैष्णवी किसी भी एक प्रकार की भावना निर्माण नहीं होती। 'विठ्ठल' नाम में ऐसा जादू भरा हुआ है कि इस नाम के लेने से शिव तथा विष्णु की अनुभूति एक ही रूप में एक ही समय हो जाती है। मराठी के वैष्णव सन्त कवियों ने अपने ग्रन्थों द्वारा भागवत धर्म पर प्रवचन कर उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है वैसे ही ईश्वर प्राप्ति के हेतु भक्ति को सुलभतम साधन बतलाया है। स्थान-स्थान पर अपने आपको वे भागवत कहलाते हैं। उनमें हमें किसी तरह की साम्प्रदायिकता, या कट्टरता नहीं दिखाई देती जो स्वयं को वैष्णव या शैव कहलाने वाले सम्प्रदायों में आज तक भी बनी हुई है। पढ़रीनाथ विठोबा के भक्त ज्ञानेश्वर से लेकर आज तक जितने भी हुए हैं वे सब वारकरी कहलाते हैं। वास्तविक रूप से ये सब भागवत धर्मानुयायी ही हैं, और वैष्णव होते हुए भी शैव और अन्य सम्प्रदायों के साथ इनमें सहिष्णुता है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा नाथ सम्प्रदाय में जो शैव और वैष्णवों का समन्वय किया गया उसी का ही यह मूर्त रूप है। नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ शङ्कर-महादेव-शिव का समन्वयात्मक रूप कानडा विठोबा अर्थात् कर्नाटक के विठ्ठल कृष्ण रूप में परिणत हुआ।

उत्तर भारत के नाथ सम्प्रदाय में यह परिणत रूप नहीं दिखाई देता। वहाँ तांत्रिक साधना का आडम्बर दिखाई देता है। कबीर ने नाथ सम्प्रदाय पर भागवत धर्म के संस्कार अवश्य किये हैं। नाथ सम्प्रदाय में नौ नाथ प्रसिद्ध हैं, और इनके बारे में विभिन्न कथाएं भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचलित हैं।

तन्त्र सम्प्रदाय और वैष्णव मत—

अथर्व वेद में मन्त्रों तन्त्रों आदि की भरमार है। तांत्रिकों की साधना प्राचीन है। तन्त्र शब्द की परिभाषा—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञान मनेन इति तन्त्रम्। तनोति विपुला नर्थान् तत्वमन्त्र समन्वितान् त्राणंच कुरुते यस्मात् तन्त्रम इत्यभि

धीयते। स्मृतिरच तत्राख्या परम ऋषि प्रणीता।' गौतम के न्याय सूत्र मे 'समान तंत्र', 'न्याय तत्र' ऐसे शब्द आये हैं।

तत्रकारों की ऐसी श्रद्धा है कि कलियुग की अवस्था ऐसी है कि जिसमें कोई भी वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार आदि ठीक प्रकार से नही कर सकता। सभी पशु बनकर कार्ययापन करते हैं, अत शिव ने लोगों के मोक्ष के लिये आगम-तन्त्रों का निर्माण किया है। गुरु-शिष्य-महिमा अन्य भारतीय शास्त्रों की तरह इसमें भी है। निगम वेद को कहते हैं और आगम दर्शन को कहते हैं। आगम की परिभाषा—आगच्छति बुद्धिम्—आरोहति यस्मात् अभ्युदय निश्रेय सोपाया स आगम। आगम तन्त्रों मे वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, पाचरात्र आगम और भागवत आगम आदि हैं। वैदिक ग्रन्थो मे तन्त्रो का पाचवाँ और छठा स्थान है। *जैसे—श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्र। दत्तात्रेय का तन्त्रोपासना से सम्बन्ध है।* त्रिदेवोका ऐक्यावतार श्री दत्तात्रेय हैं। तन्त्र की पुस्तको मे 'तन्त्र कौमुदी', 'शक्ति आगम' *'रुद्रीय माला', 'कलिका-कुलार्णव', 'तत्र-तरङ्ग' तथा हितोपदेश'* और 'महानिर्वाण' आदि पुस्तकें प्रमुख हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश मे से शिव ही प्रमुख हैं। शिवजी ने अपनी पत्नी दुर्गा को कई रहस्यात्मक बातें बतलाई हैं। वेद, सूत्र और पुराणोक्त धर्म तो सामान्य धर्म है। किन्तु शैवी तन्त्र शास्त्र रहस्यात्मक है तथा सब के पहुंच की चीज नही है। अत यह असामान्य और अलौकिक है।

तन्त्रो का दूसरा नाम आगम भी है। इनके *रचयिता का पता नहीं* लगता। किसी युग में तन्त्रो का बडा जोर-शोर था और वेदो से भी उनका महात्म्य बढ गया था। अत यहाँ के लोग धर्मशास्त्र, पुराण और तत्रों से अनुशासित होते थे। कलियुग मे इनका प्रभाव स्वाभाविक है। हमारे यहाँ की धार्मिक क्रियाएँ तात्विक हैं। तन्त्रो में से आधे तो औषधियो का काम करते हैं। इस प्रकार की धारणा वास्तव मे ठीक नही है। म्डर्रॉफ जैसे लोग इसलिए इस प्रकार की धारणा रखते थे क्योकि उनको धर्मशास्त्रों का कोई ज्ञान न था।

शाक्तों के धर्म ग्रन्थ भी तन्त्र कहलाते हैं। इनके सिद्धातो को वामाचारी दक्षिणाचारी कहा जाता है। इनका स्वर कहीं-कहीं वेदानुकूल है तो कहीं-कहीं वेद विरोधी, एवम् शूद्रो के लिये भी है। *बहुत से वैष्णव और शैव जो अपने आपको* बाह्यत वैसा कहलवाते हैं पर जिनका व्यवहार वामाचारी होता है, वे छिपे रूप मे *शाक्त ही हैं। जैनों और बौद्धों ने तन्त्रो से अपनी कई धार्मिक क्रियाओं को* अनुप्राणित किया है। तिब्बत का लामा सम्प्रदाय, तथा नैपाल का हीनयान बौद्ध *सम्प्रदाय ऐसे ही तन्त्रकारो से सम्बद्ध है। भक्ति मार्ग की ही तरह तन्त्र मार्ग का*

अध्ययन एवम् साधना होती है। तन्त्रमार्गी अपने मार्ग को उपनिषदो से बढ़कर तथा ज्ञान और कर्ममार्ग से श्रेष्ठ बतलाते हैं। शिव की पत्नी कालिका ही उपासना की प्रमुख उपास्या हैं। प्रकृति-शक्ति को प्रधान माना जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति, संहार और पालन पुराणों की तरह वर्णित है। उपासना दैवी शक्ति प्राप्त करने की विधि तथा सिद्धि और परब्रह्म (Supreme Being) के साथ तादात्म्य की चर्चा प्रत्येक तन्त्र में की गई है।

आज के उपलब्ध तांत्रिक ग्रन्थ भले ही ९ वीं-१० वीं शताब्दी के हो किन्तु आठवी शताब्दी के शंकराचार्य, बौद्ध, जैन, नागार्जुन और अन्य लोग इन सब पर तंत्र का प्रभाव पड़ा हुआ है। तन्त्रकारो की रीति अपनाये हुए श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी की 'सौंदर्य लहरी' यह रचना प्रसिद्ध है। तंत्रकारो के सिद्धांत सांख्य दर्शन से प्रभावित होते हुए भी आगे चलकर वेदान्तियो ने भी तंत्रकारो की शक्तिको अपनी माया के रूप में ढाल दिया है। इनके ग्रन्थो की भाषा ऊबड़-खाबड़ संस्कृत है। *ह्रासावस्था में पहुँचे हुए बुद्ध धर्म का स्वरूप इनमें देखने को मिल जाता है।* तिब्बती अक्षरो में तांत्रिक देवता उल्लिखित हैं। इनको रयद (Rayad) कजूर और तजूर (Kanjure & Tanjure) कहते हैं। मजुश्री यह एक नाम और मिलता है।

दुर्गा के कई नामो में से एक नाम योगनिद्रा है। विष्णु और कृष्ण से इसका विशेष संबंध है। शिव की दुर्गा और विष्णु की ल्हादिनी, सधिनी और सवित् आदि शक्तियाँ है। इन मुख्य देवताओ की ये सगुण साकार सहचारियाँ हैं। गौड देश तांत्रिकों की भूमि माना गया है।

हिमालय के केदारनाथ, तुङ्गनाथ, रुद्रनाथ, मध्यमाहेश्वर, कल्पेश्वर आदि पाच स्थानो में महार्णव तन्त्र पैदा हुआ ऐसा बतलाया जाता है। यह बर्फ से ढका हुआ पार्वत्य प्रदेश है, जहाँ से गंगोत्री जमनोत्री निकलती हैं। वहीं केदारनाथ और बद्रीनाथ हैं। शिवजी कैलाश में रहते हैं। मानसरोवर अपनी पवित्रता से वहाँ पर विद्यमान है।

शिव के द्वारा वर्णित तन्त्र, यमल, डमर आदि हैं। शिवसूत्र में संवादशैली में इनका लिखा मिलता है।[1] ये संवाद शिव और पार्वती के बीच हुए थे। श्रीगणेशजी ने प्रथम देवयोनि को तन्त्र पढ़ाया जो उनको शिवजी से प्राप्त हुआ था। महानिर्वाण तन्त्र में उसका उल्लेख है।[2] जो विद्यमान है, वह 'तत्सत्' है। ब्रह्म दो प्रकार का है। 'निष्कला' और 'सकला'। प्रकृति ही कला है। शक्ति सर्वत्र

१. शिवसूत्र।
२. महानिर्वाण तंत्र।

रहती है। ब्रह्म केवल उचित का स्वरूप है। शक्ति और वह स्वयम् अनादि रूप है। वह ब्रह्मरूपा है तथा सगुण और निर्गुण दोनों है। उसे चैतन्य-रूपिणी देवी भी समझा जाता है। सब भूतों में वह अभिव्यक्त होती है। इन सबके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है। शारदा के शब्दों को सारा विश्व घेरे हुए है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे तिल में तेल। ब्रह्म और शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ। पहले केवल ब्रह्म था उसने कहा—'एकोऽहम् बहुस्याम्।' नाद से बिंदु उत्पन्न हुआ। सूक्ष्म शरीर की अवस्था को अमाकला कहा जाता है। वही मूल मंत्र है। बिन्दु तीन प्रकार के होते हैं—(१) शिवमय, (२) शक्तिमय, (३) शिवशक्तिमय। पराग बिन्दु से एक वृत्त का बोध होता है।

शब्द ब्रह्म ही अपरब्रह्म है। शिव शक्ति के मिलने पर उसे पराशक्तिमय कहते हैं। देवी उन्मुखी हो जाती हैं। शब्द ब्रह्म से तीन शक्तियाँ निसृत होती हैं—(१) ज्ञानशक्ति, (२) क्रियाशक्ति, (३) इच्छाशक्ति। शिवशंभु से सदाशिव, उससे ईशान और रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा निर्माण होते हैं। ये सब शक्तिमय होते हैं पर इनके बिना वे कुछ भी नहीं है। तन्त्र-मार्ग योग और वेदान्त दर्शन से प्रभावित है।

मनुष्य के भीतर शब्द ब्रह्म देवी कुण्डलिनी का रूप धारण करते हैं। मनुष्य में मूलाधार के स्वयंभू लिंग में पराशक्ति माया स्थित रहती है। यह कुंडलिनी कुंडल मारकर बैठी रहती है। (A coiled serpent) यही स्वयं प्रकाशित जीव-शक्ति कहलाती है। प्राण उसी के द्वारा प्रकट होते हैं। मूलाधार में यही सोती है। कान बंद करने पर यदि फुसफुसाहट की आवाज (Hissing sound) न सुनाई दे तो मृत्यु हो जाती है। यही देवी, महामाया, अविद्या, विद्या, प्रकृति भवामाना तथा ललिता है। ललिता—जो निरंतर क्रीडा करती है, जिसकी क्रीडा संसार का खेल है। जिसकी आँखें सुन्दर पानी में तैरती हुई मछली की तरह खेलती रहती हैं। जो उसकी स्वर्गीय मुखाकृति पर विराजित हैं, तथा जो कभी खुली, तो कभी बंद अर्थात् अर्धोन्मिलित रहती हैं। जो दृश्य है और अदृश्य भी। अपनी आभा से अपरिमेय शब्दों को प्रकाशित करना इसी का कार्य है। ये अपने ही अतीव अंधकार में लिपटी हुई हैं।

तन्त्रशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार देवी ही परब्रह्म है। वे गुणों और स्वरूपों के परे हैं और ब्रह्माण्ड की माता है, तथा तीन प्रकार की हैं। (१) पररूपा (Supreme) इस स्वरूप को कोई नहीं जानता, ऐसा वर्णन विष्णु यमल के अनुसार है। (२) सूक्ष्म रूपा (Subtle) यह स्वरूप मंत्रमय है। इसीलिये यह मन में स्थिर नहीं हो पाता कारण सूक्ष्म है। (३) स्थूल (Concrete) रूपा या

साकार सगुण रूप हाथ पैर युक्त आकृति देवी ही प्रकृति रूप से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपी हैं तथा उनके पुरुष और स्त्री रूप भी हैं। पर स्त्री रूपों में उसका मत अधिक है। *महादेवी के रूप में वह सरस्वती लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुरा,* सुन्दरी, अन्नपूर्णा तथा अन्य देवियों के रूप में परब्रह्म की अवतार हैं।

आठ प्रकार के बंधनों को तोड़कर उनसे मुक्त होने के लिए साधना की जाती है और वह कई प्रकार की होती है। भागवत के गोपी वस्त्र-हरण की कथा को तन्त्रकारों ने अपने ढङ्ग से समझाया है। कात्यायनी व्रत करने वाली गोपियों ने यमुना में स्नान किया। अपने कपड़े यमुना के किनारे उन्होंने उतारकर रखे थे। श्रीकृष्ण ने उनके वस्त्र चुराये और उनको अपने पास नग्न ही आने के लिए विवश किया। इस संसार में उलझे हुए मनुष्य के कृत्रिम प्रावरण या वस्त्र ही वे पटल हैं जो मनुष्य पर लादे गये हैं। आठ गोपियाँ संसार की अष्टधा-प्रकृति का मार्ग है और जो गलतियाँ जीव को भ्रम में डाल देती हैं, वे ही मानो वस्त्र हैं जो श्रीकृष्ण ने चुराये थे।

मंत्र शास्त्र और वैष्णव मत—

मंत्र शास्त्र में या तंत्र में तंत्रकारों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मन्त्र प्रयोग करते समय तथा गुरुभक्ति में प्रगति करने के लिए गुरु बदलने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। इस बारे में इस प्रकार के कई उल्लेख मिलते हैं[1]—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यः गुरोर्गुर्वंतर व्रजेत्॥

जिस प्रकार मधु की इच्छा करने वाला भृङ्ग एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उड़कर चला जाता है, उसी तरह जिसे ज्ञान लालसा है ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह जहाँ से जो कुछ तथ्य उपलब्ध हो जाय उतना वहाँ से लेकर अपनी प्रगति के मार्ग पर आगे चलता रहे। इससे सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र शास्त्र अंधश्रद्धा का विषय नहीं, शास्त्र का विषय है।[2]

षड्दर्शनों के बारे में तन्त्रकारों का यह अभिप्राय था—

अन्यान्यशास्त्रेषु विनोद मात्रम्।
न तेषु किञ्चित् भुवि दृष्टमस्ति॥
चिकित्सिते, ज्योतिषतंत्रवादा।
पदे-पदे प्रत्यय मावहान्ति॥१॥

१. तंत्र और मंत्र सम्प्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. ,, ,, ,,

न्यायादि शास्त्र हमें प्रत्यक्ष अनुभव बतलाने वाले नहीं हैं। परन्तु वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र और मंत्र-शास्त्र आदि से हम पग-पग पर प्रत्यक्ष अनुभव ले सकते हैं।[1]

तन्त्रकार और मन्त्रशास्त्रज्ञ के अनुसार वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार है--
'इष्टप्राप्तनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो ग्रन्थो वेदयति स वेद ।'

—सायणाचार्य (ऋग्वेदभाष्यभूमिका)[2]

इष्टफलप्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने के लिए अलौकिक उपाय बतलाने वाला ग्रन्थ वेद कहलाता है। वेदो का वेदत्व और अमोघत्व इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एवं विन्दति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

जिस कार्य के लिये प्रत्यक्ष, व्यावहारिक उपायो का अथवा तर्कों पर आधारित अनुमानो का उपयोग नहीं होता और किसी भी प्रकार से न हो सकने वाला कार्य वेद से निश्चित सफल हो जाता है। वेदो का वेदत्व और अमोघत्व इसी मे समझना चाहिए।

मंत्रशास्त्र को उपनिषद् वाङ्मय मे तथा सूत्र वाङ्मय मे और तन्त्रकारो द्वारा 'इत्यधिदैविक्रम' से अभिहित किया गया है। भिन्न-भिन्न यन्त्रो के प्रयोग और प्रमुख अधिष्ठाताओ के विषय को 'विद्या' कहा जाता है। प्राचीन ऋषियो मे से मंत्र शास्त्र के अध्वर्यु और तन्त्रकार शुक्राचार्य अथर्ववेद के बारे मे अपना मत इस उक्ति से प्रकट करते हैं[3]—

अथर्वांगिरसो नाम ह्युपास्योपासनात्मकः ।
इति वेद चतुष्कंतु ह्युद्दिष्ट च समासतः ।
विविधोपास्य मन्त्राणाम् प्रयोगास्तु विभेदतः ।
कथिता सोपहारास्त धर्म्मश्च नियमैश्चयद् ।
अथर्वणा चोपवेदस्वतत्ररूप स एव ह ॥

'अथर्वांगिरस' नामक वेद मे उपास्य और उपासना का विषय प्रधान है। चार वेदो का उद्दिष्ट एकत्रित रूप मे सिद्ध होकर अथर्ववेद मे देखने को मिलता है। 'तन्त्ररूप' नाम का पाँचवा वेद इसी अथर्वण वेद का उपवेद ही है। तात्पर्य यह है

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. सायणाचार्य—ऋग्वेदभाष्यभूमिका।
३. तंत्र और मन्त्रशास्त्र—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

कि अथर्ववेद काल में मन्त्र शास्त्र को मूर्त स्वरूप प्राप्त हो गया था। इस काल से आगे के काल में भारतवर्ष में कुछ समय तक मन्त्रशास्त्र की काफी उन्नति हुई। इस शास्त्र की उन्नति की दृष्टि से जो-जो नये अनुसन्धान हुए तथा इस शास्त्र की जो-जो शाखाएँ निर्माण हुई वे सब अथर्ववेद की उपांग समझी गयीं।

मन्त्रशास्त्र की मन्त्रसिद्धि के लिए अथवा मन्त्र के अधिष्ठाता की प्राप्ति के लिए जो आराधना की जाती है उसे उपासना कहते हैं। इस उपासना-विषय पर प्रकाश डालने वाले साहित्य को 'उपासनाकाण्ड' कहा जाता है। वेदों में या उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञान-काण्ड उपासनाकाण्ड, और कर्मकाण्ड ऐसे तीन काण्ड मिलते हैं। अतः तन्त्रकारों का इतिहास उपनिषद्काल से उपलब्ध हो जाता है। इसे आठवीं-शती या दसवी शती की उपज मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तन्त्रकार अपने विषय का तीन रूपों में विभाजन करते हैं—(१) मन्त्र, (२) यन्त्र और (३) तन्त्र। मन्त्र—ऐसा कोई अक्षर समुच्चय मन्त्र कहलाता है जिसके जपने से देवतादर्शन, तथा निज इष्ट-प्राप्ति हो जाती है।

यन्त्र—यन्त्र एक विशेष रेखाकृति होती है जिसमें मन्त्रों के बीजाक्षर भी लिखे जाते हैं। इसकी अर्चना में और पूजन में उपास्य की पूजा का फल प्राप्त होता है। अपनी अभिलाषा की तृप्ति के लिए और अरिष्ट के नाश के लिये इन यन्त्रों का उपयोग कई ढङ्ग से किया जाता है।

तन्त्र—मन्त्र में मन्त्र सिद्ध करने के लिए किया जाने वाला विधि-विधान और तत्सबंधी अन्य क्रियाएँ आती हैं। तन्त्र सम्प्रदाय में प्रमुखतः आगम्, शाबर, गारुड, कापालिक, महाकापालिक ये पाँच सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध हैं।[1]

वैदिक साहित्य के युग से ही उपासना काण्ड मिलता है। यह तन्त्रकारों का ही विषय है। इनके प्रयोगों को 'अभिचार' कहा जाता है। ये अभिचार छः प्रकार के होते हैं—(१) जारण, (२) मारण, (३) वशीकरण, (४) सम्मोहन, (५) स्तम्भन और (६) उच्चाटन। इनको अभिचार कहा जाता है। तन्त्रकार इन अभिचार-कर्मों का उपयोग करते हैं। कभी-कभी इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भी देखने के लिए मिलता है। इस कर्म से लोगों को कष्ट होता है एवम् पीड़ा होती है इसलिए भागवत-धर्म में और स्मार्त-धर्म में इन बातों का निषेध है। साधु सन्त हमेशा इनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु तान्त्रिक सम्प्रदाय में जो सात्विक उपासना-मार्ग है उसकी छाप भागवत सम्प्रदाय पर अवश्य पड़ी है। जैसे-स्नान के बाद किये जाने वाले नित्य नैमित्तिक विशुद्ध कर्म, तान्त्रिकों का भागवत धर्म पर पड़ा हुआ

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

प्रभाव ही है। साधु सतो के जीवन मे ये नित्यकर्म प्रत्यक्ष देखने के मिये मिलते हैं। इन्हे बरतते हुए वैष्णव सतो ने भागवत धर्म के अनुसार भजन, नाम-सकीर्तन आदि किया है जिसका इतिहास साक्षी है। वैसे तन्त्र सप्रदाय वालों की निंदा सत-वाड्मय मे पर्याप्त रूप से की गयी है। उपासना का विषय मूलत. वैदिक ही है अतएव उसका श्रेय तन्त्रकार को नही दिया जाता। वस्तुत यह ठीक ही है पर वेदो के युग से चला आता हुआ यह विषय होने पर भी तन्त्रकार की छाप लग जाने से वह *आज भी विद्यमान है इतना तो मानना ही पडेगा।*

भागवत धर्म और राधा—

वैष्णव भक्ति एवम् भागवत धम मे 'राधा' का प्रमुख स्थान होने से 'राधा' भक्ति का साकार सगुण रूप एवम् आदर्श बन गयी। अत राधा के बारे मे यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया जा रहा है।

पद्म पुराण, वाराह पुराण और ब्रह्म-वैवर्त-पुराण मे राधा का विशद एवम् व्यापक वर्णन मिलता है। वैष्णव साधना का प्रमुख ग्रन्थ भागवत है पर उसमे राधा नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पर भागवत से ही गौडीय-गोस्वामियो ने राधा का आविष्कार कर लिया है। भागवत के दशम स्कध मे रासलीला के प्रकरण प्रसग मे कृष्ण की एक अत्यन्त प्रिय गोपी का वर्णन आता है। रास मडल मे कृष्ण अपनी इस *प्रियतमा गोपी* को लेकर *अदृश्य हो गए। तब विरहातुरा* गोपियो ने उस गोपी का पदचिन्ह देखकर कहा[1] —

अनयाराधितो नून भगवान हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो याम नयद्रह॥

यहाँ पर 'अनयाराधितो' पद की व्याख्या करते हुए श्री सनातन गोस्वामी ने 'वैष्णव तोषिणी' टीका मे राधा का सकेत किया है। अन्यो ने अनयैव आराधित', *आराध्य, वशीकृत, न तु अस्माभि। 'राधयति—आराधयतीति राधेति नाम* कारण च दर्शित। इस तरह राधा का व्यक्तित्व स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है — नून हरिरय राधित राधा इत *प्राप्त ' इस तरह राधा से उसका सम्बन्ध जोडा है।*

परमेश्वर की शक्तिके अर्थ मे 'राधस' शब्द भागवत मे आया है—

निरस्त साम्यातिशयेन 'राधसा'।
स्वधामनि ब्रह्मणि रस्यते नम.॥

राध=समिद्धो। यह धातुपाठ मे मिलता है। इस धातु का अर्थ मनोरथ या

१. भागवत—दशमस्कध।

भगवद्-प्राप्ति की इच्छा होना है। 'राधस' का ही आगे चलकर 'राधा' यह स्वरूप बना। वैष्णव शास्त्र में और साहित्य में ह्लादिनी नामक प्रतरग शक्ति में उसका समावेश किया जाना है—

ह्लादिनी संधिनी संवित् अभियाना अन्तरङ्गिका।
बहिरङ्ग तटस्थाश्च जयन्ति प्रभु-शक्तय॥

भाण्डारकर राधा को आभीरों की इष्ट देवी बतलाते हैं जो सीरिया से आकर भारत में बस गए थे। उनके बाल गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण में सम्मिलित हो गये बाद में राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई।[1] डा० मुन्शीराम शर्मा के अनुसार आभीर भारतीय ही थे। उनकी उपासना पद्धति की मौलिकता के कारण वे आर्यों से पृथक माने गए।[2] डा० हजारीप्रसादजी के मतानुसार राधा या तो आभीर जाति की प्रेम देवी रही होगी जिनका सम्बन्ध बाल-कृष्ण से रहा होगा। बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण में एकीकरण होने पर प्रारम्भ में राधा का उल्लेख नहीं हो सकता था। बालकृष्ण की प्रधानता हो जाने पर राधा भी प्रधान बन गई होगी। दूसरी कल्पना उनकी इस प्रकार है 'राधा इसी देश की आर्य जाति की प्रेम देवी रही होगी।[3] डा० मुन्शीराम की दृष्टि में राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही है।[4] वेदों में कृष्ण की तरह 'राधा' नाम भी अनेक स्थानों पर आया है। रैवाराधम् अर्थात् धन अथवा अन्न के अर्थ में वर्णित है। अग्नि को 'सुराधा' कहा गया है। अग्नि सुराधा है अर्थात् अच्छे रैव अथवा धन से ओतप्रोत है। ऋग्वेद में इन्द्र को राधा ना पते' अर्थात् धनों का पति कहा गया है।

ईसा की बारहवी शताब्दी में बङ्गाल में जो वैष्णव साहित्य निर्माण हुआ उसमें 'राधावाद' की प्रमुखता है। जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' में प्रेमलीला का विषय श्रीकृष्ण को चुना और आश्रय 'राधा' को बनाया। बङ्गीय और भारतवर्ष के अन्य भाषीय साहित्य में राधा की जो मूर्ति हमारे सामने अङ्कित की गई है उसके दो स्वरूप सामने आते हैं, प्रथम तो दार्शनिक है और दूसरा धार्मिक है। इन दोनों से बनी साकार प्रतिमा राधा है। सामान्य रूप से राधावाद का बीज भारतीय

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत—भाण्डारकर, पृ० ३८।
२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १६४।
३. सूर साहित्य संशोधित संस्करण—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६–१७।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १७५।
५. ऋग्वेद—३-५१-१०।

शक्तिवाद में है। वैष्णव धर्म और दर्शन में भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर, भिन्न-भिन्न रूपों और अवस्थाओं में परिणत होकर शुद्ध शक्तिरूपिणी राधा परम प्रेमरूपिणी बन गई। मूल प्रकृति आद्यशक्ति है। सांख्य के पुरुष और प्रकृति दार्शनिक की दृष्टि में चाहे जो कुछ भी क्यों न हो किन्तु जनता के मन के पुरुष प्रकृति शिव शक्ति का रूपान्तर हैं। पुराणों में विष्णु की शक्ति श्री—लक्ष्मी अनेक प्रकार से विष्णु माया के तौर पर कीर्तित हैं। कूर्म पुराण के द्वितीय अध्याय में नारदादि महर्षियों से विष्णु ने लक्ष्मी का परिचय इस प्रकार दिया[1]—

इयसा परमाशक्तिर्मन्मयी ब्रह्म रूपिणी।
माया मम प्रियानन्ता ययेदं धार्य ते जगत्॥
अनयैव जगत् सर्वं सदेवासुर मानुषम्।
मोहयामि द्विज श्रेष्ठा ग्रसामि विसृजामिव॥

'ये वही परमाशक्ति हैं, ये मन्मयी ब्रह्म रूपिणी हैं, ये मेरी माया हैं। मेरी प्रिया हैं—अनन्ता हैं—इन्हीं के द्वारा यह संसार विधृत है। हे द्विज श्रेष्ठ! इन्हीं के द्वारा मैं सदेवासुर-मनुष्यादि सारे संसार को मोह से घेर लेता हूँ। उनको ग्रसता हूँ, फिर सृजन करता हूँ।'

पुराणों में विष्णु-माया के दो प्रधान भेद वर्णित हैं। (१) विष्णु की आत्ममाया, और (२) त्रिगुणात्मिका बाह्य माया। इस त्रिगुणात्मिका माया से विष्णु का कोई सीधा संबंध नहीं है। यह विष्णु की आश्रिता माया है। विष्णु की आत्ममाया ही वैष्णवी माया कहलाती है। यह लक्ष्मी नहीं है। अनंत शयन में जब विष्णु सो रहे थे तब उस समय की निद्रा उनकी वास्तविक निद्रा न थी। वह विष्णु की योग-निद्रा थी। विष्णु पुराण का यह उल्लेख देखिए[2]—

योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहित मया।
अविद्यया जगत् सर्वं तामाह भगवान हरिः॥

'खिलहरिवंश' का यह उल्लेख भी द्रष्टव्य है[3]—

विष्णोः शरीरजो निद्रां विष्णु निर्देश कारिणीम्।

गीता में भी भगवान् इस वैष्णवी माया की चर्चा करते हैं। यही योगमाया है। यह योगमाया भगवान् की स्वरूपभूता 'दुर्घटघटनी चित्शक्ति' है। सारी क्रीडा और लीलाएँ इसी योग माया के आश्रय से होती हैं। गौडीय वैष्णव इसे मान्य करते हैं। शक्तिमान भगवान् ने रमणेच्छा से अपनी शक्ति को दो भागों में

१. कूर्म पुराण (पूर्व भाग)-१-३४-३६।
२. विष्णु पुराण-५-१-७०।

विभक्त किया। इस तरह भगवान् स्वयम् अपने निकट 'आस्वाद्य' और 'आस्वादक' बन गये हैं। डा० शशिभूषणदास गुप्ता के मतानुसार राधावाद का बीज शक्तिवाद में है।[1] हो सकता है कि राधा की कल्पना पर शाक्तमत का प्रभाव हो पर इसे कल्पनाश्रित ही माना जायेगा।

विष्णु की दो शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं (१) परा (२) अपरा। देवताओं की युगल मूर्तियाँ जनता में मान्य हैं। जैसे ब्रह्म-माया, पुरुष प्रकृति, शिव-शक्ति आदि। इसी प्रचलित विश्वास ने राधाकृष्ण युगल को भी मान्यता प्रदान कर दी। तन्त्रादि में पराशक्ति को ललिता देवी कहा गया है। पद्म पुराण में कृष्ण ही स्वयं ललिता देवी हैं, जिनको 'राधिका' कहकर गाया जाता है ऐसा उल्लेख है[2]—

> अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते।
> अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मक॥
> सत्यं योषित् स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी।
> अहं च ललिता देवी पुम्पा कृष्णविग्रहा॥
> आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद।

पुराणों में ऐसे कई समीकरण ढूँढ़ने पर अनेक रूपों से बने हुए मिल जाते हैं। चतुर्वैष्णव सम्प्रदायों में, रुद्र और सनक सम्प्रदाय में लक्ष्मी की जगह श्री राधिका का आविर्भाव मिलता है। गौड़ीय वैष्णवों में राधा-तत्व का सम्यक विकास दिखाई देता है। मूलतः साहित्यिक उज्ज्वल के माध्यम से राधा का धर्म मत में प्रवेश हुआ। बारहवीं शताब्दी के पूर्व विष्णुशक्ति के बारे में जो भी मत प्रचलित थे उसी में राधा-तत्व आकर मिल गया।

किसी ज्योतिषी पंडित का मत है कि राधा-कृष्ण तत्व में मूलतः ज्योतिष का सम्बन्ध है। विष्णु ही सूर्य हैं ऐसा उल्लेख वेद में मिलता है। कृष्ण सूर्य का प्रतिबिम्ब है और गोपी-तारका का। गो अर्थात् रश्मि। अतएव सूर्य ही गोप और तारका गोपी है। योगेशचन्द्र के मतानुसार राधा नाम पुराना था और विशाखा का वह नामान्तर था।[3] कृष्णयजुर्वेद में विशाखा, अनुराधा आदि नक्षत्रों के नाम हैं। 'राधो विशाखे' ऐसा उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि विशाखा का नाम राधा है। राधा=सिद्धि। महाभारत में कर्ण की धातृमाता राधा नाम की है और कर्ण 'राधेय' कहलाता है। राधा का दूसरा नाम तारा था। रूप-गोस्वामी के द्वारा लिखित 'ललित माधव' नामक नाटक में यह उल्लेख है—

---

१. श्री राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषण दास गुप्त, पृ० ३।
२. पद्म पुराण—पाताल खण्ड—४४, ४५, ४६।
३. भारतवर्ष। पत्र। माघ-१३४०।

दनुजदमनवक्ष पुष्करे चारुतारा।
जयति जगद पूर्वा कापि राधाभिधाना॥

दनुज-दमन श्रीकृष्ण के वक्षरूपी आकाश में राधा नामक एक जगदपूर्ण चारु तारा है—उसी की जय हो। ज्योतिष शास्त्र विषयक आधार से राधा के *स्वरूप पर कोई यथार्थ प्रकाश नहीं पड़ सकता। डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह* कथन ठीक ही है कि विगत डेढ़ सहस्र वर्षों में राधा तत्व भक्ति क्षेत्र का आराध्य तत्व रहा है, अतः उसे नक्षत्र-विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए।[1]

कृष्णदास कविराज चरितामृत में कहते हैं[2]

कृष्ण वांछा पूर्तिरूपकरे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण प्रियतमा प्रधाना गोपी का इशारे से राधा नाम का आभास दिया है। पद्मपुराण में राधा' नाम की एक प्रकार से बहुतायत है। रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थमें और कृष्णदास कविराजने 'चैतन्य-चरितामृत' में पद्मपुराण से राधा नाम का उल्लेख किया है[3]—

यथा राधा प्रिया विष्णो स्तस्याः कुण्डं प्रिय तथा।
सर्व गोपीषु सैवैका विष्णो रत्यान्तवल्लभा॥

वैसे अनुमानतः पद्मपुराण छठी या आठवीं शती का बतलाया जाता है। ऊपर दिया गया श्लोक सोलहवीं शती में या उसके पूर्व पद्मपुराण में आकर मिल गया है ऐसा डा० शशिभूषणदास गुप्ता का अनुमान है।[4]

मत्स्यपुराण में राधा का उल्लेख है[5]—

श्रीकृष्णो रसिया राधा महामांडीन संभवा।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे साच नारायणो रतिः॥

'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में राधा कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्रिय बतलाई गयी है। और वे कृष्ण की शक्ति भी बतलायी गयी हैं।[6]

---

१ राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १८१।

२ आदि ४—चरितामृत—कृष्णदास कविराज।

३ पद्मपुराण।

४ राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०८।

५ मत्स्यपुराण—२६-१४-१५।

६. ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्ण जन्म खंड—१५।

प्राणाधिके राधिके त्वं श्रूयता प्राणवल्लभे।
प्राणाधि देवि प्राणेश प्राणाधारे मनोहरे ॥

'गोपालोत्तर-तापनी' में राधा गान्धर्वी नाम से विश्रुता है। 'द्रविड गीत प्रबन्धम्' राधा की नाईं गजगामिनी गोरी एवम् सौन्दर्य की प्रतिमा सब गोपियों में प्रधान और श्रीकृष्ण की निकट आत्मीया एवम् कृष्ण की प्रियतमा गोपी 'नाप्पिन्नाई' का वर्णन है। अनुमान किया जाता है कि यह 'नाप्पिन्नाई' राधा ही है। आठवीं शताब्दी में पहाड़पुर में पायी गयी युगल मूर्ति में राधाकृष्ण का स्वरूप है। कहा जा सकता है कि राधावाद का प्रचलन आठवीं शती से पूर्व रहा होगा।

'गीत गोविन्द' बारहवीं शती का ग्रन्थ है। जयदेव के इस ग्रन्थ का महाप्रभु चैतन्य ने कृष्णा-वेणा नदी के तीर पर स्थित तीर्थों में, विशेषत वैष्णव ब्राह्मणों में बहुत प्रचार देखा था। इससे कहा जा सकता है कि बारहवीं सदी के आसपास राधावाद का आश्रय लेकर वैष्णव धर्म दक्षिण में पर्याप्त रूप में फैल गया था। 'कृष्ण कर्णामृत' दसवीं से लेकर १५ वीं शताब्दी तक रचा गया ग्रन्थ है। दक्षिण में गोदावरी नदी के तीर पर ही चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्दराय से राधा प्रेम के गूढ़ तत्वों को सुना था ऐसा कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मी के प्रेम की अपेक्षा गोपी-प्रेम श्रेष्ठ है। अतएव प्रेम के धन में सबसे अधिक धनी श्रीमती राधा ही है। प्रेममयी राधिका का सौन्दर्य लक्ष्मी के सौन्दर्य से अधिक माधुर्य युक्त है। निष्कर्ष यही है कि कृष्ण की प्रेम कहानी से ही राधा का उद्भव हुआ है और वह भी मूलत. भारतवर्ष के साहित्य का ही अवलम्बन करके विकसित और प्रचारित हुआ है।

प्रेम के साम्राज्य में स्त्री और पुरुष-सबध के अनेक स्वरूप हुआ करते हैं। कृष्ण चरित्र में इन सब को उचित और सम्यक स्थान मिला है। व्यास ने विविधता युक्त इन सब का विशद वर्णन किया है। भगिनी के रूप में सुभद्रा, द्रौपदी, माता के रूप में यशोदा और सब प्रकार के प्रेमरस का साँचा बनाकर उसमें से ढाली गई प्रेमरस की साकार प्रतिमा राधा तथा गोपियाँ जब हम देखते हैं तो कहना पड़ता है कि इनकी तुलना किसी से भी नहीं हो सकती। राधा ने कभी माँ की तरह कृष्ण को भोजन खिलाया, कभी तुरन्त रमणी बनकर अपने प्रियतम कृष्ण का मन रिझाने के लिए उत्सुका बनकर सामने आयी है, तो पुन प्रेयसी बनकर किसी भी व्यवहार में पीछे न रहते हुए कभी गाना गाकर आनन्द की दासी बन गई है, तो कभी नाचकर कृष्ण को लुभाया है और कभी कृष्ण की विरहिणी बनकर चिन्तामग्न बन गयी है। सारांश यह कि एक राधा में स्त्री-प्रेम के सारे व्यापार

दनुजदमनवक्ष पुष्करे चारुतारा ।
जयति जगद पूर्वा कापि राधाभिधाना ॥

दनुज-दमन श्रीकृष्ण के वक्षरूपी आकाश में राधा नामक एक जगदपूर्वा चारु तारा है—उसी की जय हो। ज्योतिष शास्त्र विषयक आधार से राधा के स्वरूप पर कोई यथार्थ प्रकाश नहीं पड़ सकता। डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कथन ठीक ही है कि विगत डेढ़ सहस्र वर्षों में राधा तत्त्व भक्ति क्षेत्र का आराध्य तत्त्व रहा है, अतः उसे नक्षत्र-विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए।[1]

कृष्णदास कविराज चरितामृत में कहते हैं[2]

कृष्ण वाञ्छा पूर्तिरूपकरे आराधने ।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने ॥

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण प्रियतमा प्रधाना गोपी का इशारे से राधा नाम का आभास दिया है। पद्मपुराण में 'राधा' नाम को एक प्रकार से बहुमानन है। रूप गोस्वामी ने *'उज्ज्वल-नीलमणि'* ग्रन्थमें और *कृष्णदास कविराजने 'चैतन्य-चरितामृत'* में पद्मपुराण से राधा नाम का उल्लेख किया है[3]—

यथा राधा प्रिया विष्णो स्तस्या कुण्डं प्रियं तथा ।
सर्व गोपीषु सैवैका विष्णो रत्यान्तवल्लभा ॥

वैसे अनुमानतः पद्मपुराण छठी या आठवीं शती का बतलाया जाता है। ऊपर दिया गया श्लोक सोलहवीं शती में या उसके पूर्व पद्मपुराण में आकर मिल गया है ऐसा डा० शशिभूषणदास गुप्ता का अनुमान है।[4]

मत्स्यपुराण में राधा का उल्लेख है[5] —

श्रीकृष्णो रसिया राधा यद्धामांशेन सम्भवा ।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे साच नारायणो रसि ॥

'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में राधा कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्रिय बतलाई गयी है। और वे कृष्ण की शक्ति भी बतलायी गयी हैं।[6]

---

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १८१।
२ आदि ४—चरितामृत—कृष्णदास कविराज।
३ पद्मपुराण।
४ राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०८।
५ मत्स्यपुराण—२६-१४-१५।
६ ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्ण जन्म खंड—१५।

प्राणाधिके राधिके त्वं श्रूयतां प्राणवल्लभे।
प्राणाधि देवि प्राणेश प्राणाधारे मनोहरे॥

'गोपालोत्तर-तापनी' में राधा गान्धर्वी नाम से विभुता है। 'द्रविड़ गीत प्रबन्धम्' राधा की नाईं पन्नगामिनी गोरी एवम् सौन्दर्य की प्रतिमा सब गोपियों में प्रधान और श्रीकृष्ण की निकट आत्मीया एवम् कृष्ण की प्रियतमा गोपी 'नाप्पिन्नाई' का वर्णन है। अनुमान किया जाता है कि यह 'नाप्पिन्नाई' राधा ही है। आठवीं शताब्दी में पहाड़पुर में पायी गयी युगल मूर्ति में राधाकृष्ण का स्वरूप है। कहा जा सकता है कि राधावाद का प्रचलन आठवीं शती से पूर्व रहा होगा।

'गीत गोविन्द' बारहवीं शती का ग्रन्थ है। जयदेव के इस ग्रन्थ का महाप्रभु चैतन्य ने कृष्णा-वेणा नदी के तीर पर स्थित तीर्थों में, विशेषतः वैष्णव ब्राह्मणों में बहुत प्रचार देखा था। इससे कहा जा सकता है कि बारहवीं सदी के आसपास राधावाद का आश्रय लेकर वैष्णव धर्म दक्षिण में पर्याप्त रूप से फैल गया था। 'कृष्ण कर्णामृत' दसवीं से लेकर १५ वीं शताब्दी तक रचा गया ग्रन्थ है। दक्षिण में गोदावरी नदी के तीर पर ही चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्दराय से राधा प्रेम के गूढ़ तत्वों को सुना था ऐसा कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मी के प्रेम की अपेक्षा गोपी-प्रेम श्रेष्ठ है। अतएव प्रेम के धन से सबसे अधिक धनी श्रीमती राधा ही हैं। प्रेममयी राधिका का सौन्दर्य लक्ष्मी के सौन्दर्य से अधिक माधुर्य युक्त है। निष्कर्ष यही है कि कृष्ण की प्रेम कहानी से ही राधा का उद्भव हुआ है और वह भी मूलतः भारतवर्ष के साहित्य का ही अवलम्बन करके विकसित और प्रचारित हुआ है।

प्रेम के साम्राज्य में स्त्री और पुरुष-सबध के अनेक स्वरूप हुआ करते हैं। कृष्ण चरित्र में इन सब को उचित और सम्यक स्थान मिला है। व्यास ने विविधता युक्त इन सब का विशद वर्णन किया है। भगिनी के रूप में सुभद्रा, द्रौपदी, माता के रूप में यशोदा और सब प्रकार के प्रेमरस का साँचा बनाकर उसमें से ढाली गई प्रेमरस की साकार प्रतिमा राधा तथा गोपियाँ जब हम देखते हैं तो कहना पड़ता है कि इनकी तुलना किसी से भी नहीं हो सकती। राधा ने कभी माँ की तरह कृष्ण को भोजन खिलाया, कभी तुरन्त रमणी बनकर अपने प्रियतम कृष्ण का मन रिझाने के लिए उत्सुका बनकर सामने आयी है, तो पुनः प्रेयसी बनकर किसी भी व्यवहार में पीछे न रहते हुए कभी गाना गाकर आनन्द की दासी बन गई है, तो कभी नाचकर कृष्ण को लुभाया है और कभी कृष्ण की विरहिणी बनकर चिन्तामग्न बन गयी है। सारांश यह कि एक राधा में स्त्री-प्रेम के सारे व्यापार

महर्षि व्यास ने अपनी आँखों के सामने रखे थे और उन सारे स्वरूपों के साथ तद्रूप होकर उनको एक रस और तन्मयता से कर दिखाने वाली—श्रीकृष्ण के प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली राधा का निर्माण किया है। राधा का समूचा जीवन कृष्णमय था इसमें कृष्ण के जो भाव थे वे सब राधा में मिलते हैं। इसलिये इसमें नानात्व देखने के लिए मिलता है। प्रेम की उच्चतम अवस्था राधा और कृष्ण के बीच का भेद भाव नष्ट होकर अभेद भाव निर्माण होने पर प्राप्त होना ही संभव है अन्यथा नहीं।

भारतवर्ष में कहीं भी चले जाने पर भक्ति की पराकाष्ठा जिसमें प्रकट हो गई हो ऐसी मूर्ति सिवा राधा के और कौनसी हो सकती है? वैसे देव मन्दिर में देवमूर्ति के साथ उसकी विवाहित पत्नी अर्थात् शक्ति खड़ी रहती है। जैसे शङ्कर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता पर श्रीकृष्ण के साथ-गोपालकृष्ण के साथ उनकी शक्ति-भक्ति राधा मानरूप से खड़ी हम देखते हैं। राधा को हम भक्ति की मूर्तिमान प्रतिमा कह सकते हैं। वेद की 'योषाजारमिव प्रियम्' यह श्रुति प्रसिद्ध है। राधाकृष्ण के संबंध में भक्ति की साधना जब प्रकाशात्मक रूप में सर्वत्र प्रचलित हुई तब राधा-भक्ति शक्ति के रूप में पूजनीय बन गई। नारदमुनि भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक हैं। राधा-कृष्ण भक्ति की प्रतिमाएँ हैं। इसमें कृष्ण परमात्मा हैं तथा राधा उनकी शक्ति-भक्ति हैं। राधा का भक्तिशास्त्र के अनुसार यही स्थान है।

राधा में लीलावाद की प्रतिष्ठा बारहवीं सदी तक परिपूर्ण हो जाती है। गीतगोविन्द के अनुसार यह कथन है कि[1]—

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय।

मधुररस आधार की प्रमुख सूत्र राधिका-राधा है। लीलावाद और मधुर-रस की प्रधानता ये दो लक्षण वैष्णव साहित्य में प्रधान हैं। चैतन्य के पूर्ववर्ती युग में *विद्यापति और चंडीदास ने राधाकृष्ण पर काव्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी।* निम्बार्क-सम्प्रदाय भी राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से उपास्य भाव में स्वीकार करता है। राधा भाव की भक्ति दाक्षिणात्य वैष्णवों की देन है और चैतन्य पर उसका सब से अधिक प्रभाव है। जीव गोस्वामी ने राधा को दार्शनिक *प्रतिष्ठा का आधार दिया।*

राधा-प्रेम में स्वकीया-परकीयातत्व—परकीया तत्व का प्रचार स्वयं चैतन्य ने किया था। प्रेम के विभिन्न स्तरों और भेदों में इसकी विशेषावस्था परकीया तत्व का रूप है[2]—

---

१. *गीत गोविन्द—जयदेव (संपादक-आचार्य विनयमोहन शर्मा),* पृ० ८५।

२. चैतन्य चरितामृत—आदि चतुर्थ।

'परकीया भावे अति रसेर उल्हास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास ॥
व्रज वधु गरणेर एइ भाव निरवधि।
तारमध्ये श्री राधार भावे अवधि ॥'

परकीया भाव मे रस का उल्लास आत्यन्तिक रूप से हो जाता है। यह भाव लेकर सिवा व्रज के अन्यत्र कही निवास नही हो सकता। व्रज-वधु-गरण मे इसी भाव से जाया जा सकता है और उसमे भी राधा-भाव सर्वश्रेष्ठ है। कान्ता-भाव से की गई प्रीति मे परकीया प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रेम का परिणति राधा-प्रेम मे होती है। इस प्रेम में सर्वस्व का त्याग करना पड़ता है। लज्जा-भय-बाधा से मुक्त प्रेम परकीया प्रेम है। अनेक धर्म साधनाओ का और तत्रों का प्रभाव सम्मिलित होकर वैष्णव सहजिया से परकीया तत्व को लेकर राधा मे परकीया भाव दृढ किया गया है। भगवान् की प्रेम रूपा ह्लादिनी शक्ति का राधिका पूर्णतम आधार है। भक्ति की दृष्टि से भागवत-श्रेष्ठ-भक्तिन राधिका ही हैं। राधा भाव ही महाभाव है। राधा प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है। यह राधा के सिवा अन्यत्र संभव हो नही है।

वैष्णव साहित्य मे राधाकृष्ण के वर्णन अनेक स्थलो पर किये गये मिलते हैं। मन्दिरों मे राधाकृष्ण की युगल मूर्तियाँ भी प्राय. मिलती हैं। कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिणी ये पत्नियाँ कृष्ण के साथ नही दिखाई देती। कृष्ण के साथ राधा ही मन्दिरो म स्थापित की गयी है। इसमे राधा श्रीकृष्ण की तरह एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है ऐसा निराधार विश्वास उत्पन्न हो गया है। राधा ऐतिहासिक पात्र नही है किन्तु इसके बारे मे एक कथा इस प्रकार मिलती है—ब्रह्म-वैवर्त-पुराण में राधा कृष्ण की भक्ति का रहस्य इस प्रकार समझाया गया है, कि गोपियो के साथ रासक्रीडा करते-करते श्रीकृष्ण के अन्त करण से राधा उत्पन्न हुई। वैश्य वृषभानु की कलावती से राधा उत्पन्न हुई ऐसा भी उल्लेख मिलता है। यज्ञ के लिए भूमि जोतते समय वृषभानु को यह कन्या मिली ऐसा भी एक उल्लेख है। पद्मपुराण के अनुसार इसी का कन्यावत् पालन वृषभानु ने किया। सब गोपियो मे कृष्ण की अत्यत प्रिय गोपी राधा ही थी। देवी भागवत और नारद-पुराण मे भी राधा का उल्लेख है।

विष्णु की पाँच सृष्टि-निर्माणात्मक शक्तियो मे से राधा एक शक्ति है। राधा भक्ति के विकास के लिए 'श्री-राधिका-तापनीयोपनिषद्', 'श्री राधोपनिषद्' आदि ग्रन्थ निर्माण हुए। लीला के लिए ही राधा कृष्ण से भिन्न हुई हैं। राधा कृष्ण बनकर बाँसुरी बजाती है तो श्रीकृष्ण राधा बनकर फूलो की सहायता से

महर्षि व्यास ने अपनी आँखों के सामने रखे थे और उन सारे स्वरूपों के साथ तद्रूप होकर उनको एक रस और तन्मयता में कर दिखाने वाली—श्रीकृष्ण के प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली राधा का निर्माण किया है। राधा का समूचा जीवन कृष्णमय था इसमें कृष्ण के जो भाव थे वे सब राधा में मिलते हैं। इसलिये इसमें नानात्व देखने के लिए मिलता है। प्रेम की उच्चतम अवस्था राधा और कृष्ण के बीच का भेद भाव नष्ट होकर अभेद भाव निर्माण होने पर प्राप्त होना ही संभव है अन्यथा नहीं।

भारतवर्ष में कहीं भी चले जाने पर भक्ति की पराकाष्ठा जिसमें प्रकट हो गई हो ऐसी मूर्ति सिवा राधा के और कौनसी हो सकती है? जैसे देव मन्दिर में देवमूर्ति के साथ उसकी विवाहित पत्नी अर्थात् शक्ति खड़ी रहती है। जैसे शङ्कर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता पर श्रीकृष्ण के साथ-गोपालकृष्ण के साथ उनकी शक्ति-भक्ति राधा मन्दिर में खड़ी हम देखते हैं। राधा को हम भक्ति की मूर्तिमान प्रतिमा कह सकते हैं। वेद की 'योषाजारमिव प्रियम्' यह श्रुति प्रसिद्ध है। राधाकृष्ण के संबंध में भक्ति की साधना जब प्रेमात्मक रूप में सर्वत्र प्रचलित हुई तब राधा-भक्ति शक्ति के रूप में पूजनीय बन गई। नारदमुनि भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक हैं। राधा-कृष्ण भक्ति की प्रतिमाएँ हैं। इसमें कृष्ण परमात्मा हैं तथा राधा उनकी शक्ति-भक्ति हैं। राधा का भक्तिशास्त्र के अनुसार यही स्थान है।

राधा में लीलावाद की प्रतिष्ठा बारहवीं सदी तक परिपूर्ण हो जाती है। गीतगोविन्द के अनुसार यह कथन है कि[1]—

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय।

मधुररस आधार की प्रमुख सूत्र राधिका-राधा है। लीलावाद और मधुर-रस की प्रधानता ये दो लक्षण वैष्णव साहित्य में प्रधान हैं। चैतन्य के पूर्ववर्ती युग में विद्यापति और चण्डीदास ने राधाकृष्ण पर काव्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी। निम्बार्क-सम्प्रदाय भी राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप में उपास्य भाव में स्वीकार करता है। राधा भाव की भक्ति दाक्षिणात्य वैष्णवों की देन है और चैतन्य पर उसका सब से अधिक प्रभाव है। जीव गोस्वामी ने राधा को दार्शनिक प्रतिष्ठा का आधार दिया।

राधा-प्रेम में स्वकीया-परकीयातत्व—परकीया तत्व का प्रचार स्वयं चैतन्य ने किया था। प्रेम के विभिन्न स्तरों और भेदों में इसकी विशेषावस्था परकीया तत्व का रूप है[2]—

---

१. गीत गोविन्द—जयदेव (संपादक-आचार्य विनयमोहन शर्मा), पृ० ८५।
२ चैतन्य चरितामृत—आदि चतुर्थ।

'परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास॥
व्रज वधु गणेर एइ भाव निरवधि।
तारमध्ये श्री राधार भावे अवधि॥

परकीया भाव मे रस का उल्लास आत्यन्तिक रूप से हो जाता है। यह भाव लेकर सिवा व्रज के अन्यत्र कही निवास नही हो सकता। व्रज-वधु-गण मे इसी भाव से जाया जा सकता है और उसमें भी राधा-भाव सर्वश्रेष्ठ है। कान्ता-भाव से की गई प्रीति में परकीया प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रेम का परिणति राधा-प्रेम में होती है। इस प्रेम मे सर्वस्व का त्याग करना पडता है। लज्जा-भय-बाधा से मुक्त प्रेम परकीया प्रेम है। अनेक धर्म साधनाओ का और तन्त्रों का प्रभाव सम्मिलित होकर वैष्णव सहजिया से परकीया तत्व को लेकर राधा मे परकीया भाव दृढ किया गया है। भगवान् की प्रेम रूपा ह्लादिनी शक्ति का राधिका पूर्णतम आधार है। भक्ति की दृष्टि से भागवत-श्रेष्ठ-भक्तिन राधिका ही हैं। राधा भाव ही महाभाव है। राधा प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है। यह राधा के सिवा अन्यत्र सभव ही नही है।

वैष्णव साहित्य मे राधाकृष्ण के वर्णन अनेक स्थलों पर किये गये मिलते हैं। मन्दिरो मे राधाकृष्ण की युगल मूर्तियाँ भी प्राय मिलती हैं। कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिणी ये पत्नियाँ कृष्ण के साथ नहीं दिखाई देती। कृष्ण के साथ राधा ही मन्दिरो में स्थापित की गयी है। इससे राधा श्रीकृष्ण की तरह एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है ऐसा निराधार विश्वास उत्पन्न हो गया है। राधा ऐतिहासिक पात्र नहीं है किन्तु इसके बारे मे एक कथा इस प्रकार मिलती है—ब्रह्म-वैवर्त-पुराण मे राधा कृष्ण की भक्ति का रहस्य इस प्रकार समझाया गया है, कि गोपियो के साथ रासक्रीडा करते-करते श्रीकृष्ण के अन्त करण मे राधा उत्पन्न हुई। वैश्य वृषभानु की कलावती से राधा उत्पन्न हुई ऐसा भी उल्लेख मिलता है। यज्ञ के लिए भूमि जोतते समय वृषभानु को यह कन्या मिली ऐसा भी एक उल्लेख है। पद्मपुराण के अनुसार इसी का कन्यावत् पालन वृषभानु ने किया। सब गोपियो मे कृष्ण की अत्यत प्रिय गोपी राधा ही थी। देवी भागवत और नारद-पुराण मे भी राधा का उल्लेख है।

विष्णु की पाँच सृष्टि-निर्माणात्मक शक्तियो मे से राधा एक शक्ति है। राधा भक्ति के विकास के लिए 'श्री-राधिका-तापनीयोपनिषद्', 'श्री राधोपनिषद्' आदि ग्रन्थ निर्माण हुए। लीला के लिए ही राधा कृष्ण से भिन्न हुई हैं। राधा कृष्ण बनकर बाँसुरी बजाती है तो श्रीकृष्ण राधा बनकर फूलों की सहायता से

शृङ्गारचेष्टा करते हैं ऐसा उल्लेख इन उपनिषदों में आया है। इन सब बातों का सार यह है कि श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा है, जो सर्वा कहलाती है। ये श्रीकृष्ण की सर्वेश्वरी सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं। राधा को छोड़कर श्रीकृष्ण पूजन व्यर्थ है। जयदेव विद्यापति, चण्डीदास और नरसी मेहता ने राधा का गुणगान किया है। जयदेव की राधा विलासिनी, यौवनपूर्ण प्रेमाकुल है तो 'शैशव यौवन दुहुँ मिली गेल' कहने वाले विद्यापति ने राधा को शैशव और यौवन की दहलीज पर कदम रखने वाली किशोरी के रूप में वर्णित किया है। विद्यापति ने मुग्धा राधा का वर्णन किया है। यह राधा विलासप्रिय है। चण्डीदास की राधा प्रभु की अनन्य-रागिनी है। विद्यापति की राधा चपल, मधुर और नव-यौवना है, चण्डीदास की प्रेम-गम्भीर, व्याकुल, लोकाचार से डरनेवाली है। सूर की राधा स्वकीया है—सर्वेश्वरी है। भक्ति का अनेक प्रकार का रूप इन मराठी और हिंदी के वैष्णव कवियों ने तन्मयता से वर्णन कर एक उत्कृष्ट कोटि का साहित्य सर्जन किया है।

नर-नारी के मैथुनिक परस्पर भाव से धर्म-साधना की धारा भारतवर्ष में बहुत पुराने युग से चली आ रही है। अद्वयतत्त्व परमानन्द स्वरूप है और वही परमतत्त्व भी। इसकी दो धाराएँ हैं एक शिव और दूसरी शक्ति। पुरुष शिव तत्त्व का प्रतीक और नारी शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। यही मैथुन भावना वैष्णव धर्म में प्रविष्ट हो गई। मूलतः यह योग-साधना में आधारित थी पर बाद में उसने प्रेम साधना में अपना रूपान्तर कर लिया। राधाकृष्ण में मिलन-जनित-आनन्द को प्रेम के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। यह युगल तत्त्व ही परमतत्त्व है और इसी में महाभाव की दशा सम्भाव्य है अन्यत्र नहीं। नर-नारी का शारीरिक प्रेम यानि स्थूल दैहिक आकर्षण भी जाने अनजाने उसी एक सहज रस की धारा का उपभोग है जो प्रेम रस-धारा कहलाती है। वैष्णव सहजियों के अनुसार यह लीला स्वरूप-लीला और श्रीरूप लीला के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। प्राकृत जगत् में एक पुरुष का पुरुष बाह्य रूप है और इस रूप का आश्रय कर जो रूप भीतर रहता है वह कृष्णस्वरूप है और वहीं पर वह अवस्थान करता है। इसी प्रकार से प्रत्येक नारी के बाहरी रूप के अन्दर अवस्थान करने वाला रूप राधास्वरूप है। यह भीतरी स्वरूप ही महाभाव को ग्रहण कर सकता है जिसमें एक 'आस्वाद्य' और दूसरा 'आस्वादक' बन जाता है।

सौन्दर्य और माधुर्य की प्रतिमा-मूर्तिमती प्रेम रूपिणी नारी के भीतर से ही राधातत्त्व का आस्वादन हो सकता है। भारतीय साहित्यकारों ने नारी-सौन्दर्य और नारी-प्रेम माधुर्य के अवलम्बन से एक अपरूप मानसी प्रतिमा निर्माण की जो राधा

बनकर भारतीय मानसपटल पर अविच्छिन्न रूप मे अङ्कित हो गई है। धमार और होली के पद सूरदासादि अष्टछाप के कवियो ने गाये हैं। इसमे विरह का करुण स्वर गूँज उठा है। राधा मानवीय प्रेम की मूर्ति के साथ-साथ ही अकृत्रिम प्रेम की मानवीय सहज स्नेह की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई साकार प्रतिमा है। श्रीकृष्ण-राधा की लीलाओ का आधार भागवत ही है, तथा वैष्णव कवियों का वर्ण्य और काव्य विषय राधाकृष्ण-प्रेम ही है। कान्तासक्ति और मधुरा-भक्ति को प्रकट करने वाले आलवारो की रगनाथ की अन्दाल और मेडतणी मीरा इसके अन्यतम उदाहरण हैं। इन दोनो की साधना राधा की भाँति की गई प्रेम-साधना ही है। कृष्ण कान्तशिरोमणि है, तो राधा कान्ता-शिरोमणि। भक्ति ने ही स्वयम् राधा बनकर उसकी माधुरी सबको चखाई है। व्रज की ललनाओ ने गोपिकाओ के रूप मे सर्वव्यापिनी मानवी प्रीति को भक्ति के उदात्तीकरण से श्री राधा को उसका प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया है। इस सर्व-व्यापिनी-नारी ने नट-नागर रस पुरुषोत्तम और सौन्दय सागर कन्हैया को अपना लिया है।

स्त्री और पुरुष मे परस्पर सहज सुलभ प्राकृतिक आकर्षण रहता है। इसी आकर्षण को लेकर मधुरा भक्ति और कान्तासक्ति के माध्यम से परिणत करते हुए, भगवान् मे अपने आपको सम्पूर्णतया लीन कर देने का एवम् प्रारम्भ से अन्त तक समस्त लौकिक मानवी भावनाओ का अलौकिक भगवान् के प्रति विन्यास (समर्पण) राधा-भाव है। इस महाभाव की स्त्री रूप मे सगुण साकार प्रतिमा राधा के रूप में सामने आई है। इससे बढकर क्या राधा की अन्य परिभाषा बन सकती है ?

मराठी के प्रसिद्ध कवि श्री राम गणेश गडकरी जीवात्मा राधिका की परमात्मा-कृष्ण के प्रति बडे ही अदभुत ढङ्ग से प्रीति एवम् भक्ति की सीमा रेखा पर राधा की स्थापना करते हैं। सच है प्रीति की परमोच्च अवस्था भक्त और भगवान् की एकता मे ही विद्यमान है।

मी अगदी भोळी राधा ॥ तू माधवजी। नव साधा ॥
मोहिनी करी सुख बाधा ॥
तुज दासी विनवुनी भुरली। कन्हैया। बजाव-बजाव मुरली॥[१]

मैं तो भोली-भाली राधा हूँ। पर तू सीदा-सादा माधव नही है। तेरी मोहिनी सब सुखो के लिये बाधा बन गई है। तुझ से यह दासी विनति कर थक गई है, अब तो अपनी मुरली बजाओ। सर्वत्र चाँदनी छिटकती हुई है और सारे प्रस्तर भी फूले-फूले जान पड़ते हैं। सारा विश्व आनन्द से झूल रहा है। ऐसा

१. वाग्वैजयन्ती—श्री राम गणेश गडकरी, १०२-१०७।

जान पड़ता है कि उसमें तुम्हारी स्फूर्ति प्रविष्ट हो गई है। अणु-अणुओं में और शरीर के कण-कण में स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई है और भिन्नता अपना शत्रुत्व भूलकर अभिन्न हो गई है। हे *नन्दलाल ! अब अपनी कृपा भर दे दो।* केवल प्रेम की दुनियाँ शेष बची है, बुद्धि का धैर्य छूट गया है। शरीर आशामय हो गया है, जल में जलधि का तीर दूर गया है। देखते-देखते सारी दृष्टि ही लुप्त हो गई है। मुझे क्या लग रहा है, उसे कह नहीं सकती। केवल मानस में आनन्द छा गया है। वृक्ष के शीर्ष पर उसकी जड़ें चढ़ गई हैं। शून्य में परागों के कण भर गये हैं। फूलोंके बिना सुगंध आने लगा है। हवाके बिना साँस और प्रश्वास चल रहे हैं। बिना मृत्युके ही सब कुछ छूट गया है। कन्हैया एक बार मेरे साथ बोले तो मैं अपने जीवन की बाजी लगा दूँगी। अन्यथा तुम्हें राधा को खो देना पड़ेगा। मेरे अस्तित्व को सम्हालकर यह विश्व-गोल घुमाइये। मेरे प्रेम से मुझे पकड़कर उसे शरीर से अलग कर लीजिये और देखिये *तुम्हारी राधा तुम्हारे पीछे दौड़ी आ रही है।* मैं इसे शरीर की लहर मानूँ या आनन्दावस्था की हलचल समझूँ अथवा इस जीवात्मा की चेतनावस्था जानूँ। क्या कहूँ कुछ समझ में नहीं आता ? ये सब के सब मुझ में साकार होकर तुम से मिलने आये हैं। शृङ्गार रस में सुसज्जित हो यह राधा तुम्हें मनाने आ गई है। कई जन्म-जन्मान्तरों की पहिचान आज सजग हो गई है और *कृष्ण में राधा रम गई है—समा गई है। अब बाँये अधरों पर तिरछे होकर,* बाँकपन के कटाक्ष सहित मुरली बजाकर मेरी ओर देखिये। मैं इसी तरह तुम्हारा ध्यान करना चाहती हूँ। इसी मेल को हे वनमाली ! सदा खेलते रहो। अब ऐसी भावना बन गई है कि शीत और उष्ण शुभ्र और कृष्ण का कोई ज्ञान ही नहीं बचा है। अब तो राधा और कृष्ण एक रूप हो गये हैं ऐसी जयनाद यह मुरली ही *घोषित करने लगी है। सर्वत्र सब कुछ शान्त हो गया है विश्व में शान्ति है, आत्मा में शान्ति है, कृष्ण और राधा भी शान्त हैं। मानो मुरली में ही शान्तता समा गई* है। शीत और उष्ण तथा ताप और पीड़ा को सहन कर जिस साधना को अपनाकर यह मुरली अपने स्वन से गूँज रही है उस में मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि राधा-कृष्ण प्रेम की अमर कहानी संसार सदा गाता रहेगा। श्री गडकरी का यह विवेचन राधा के भाव को सुस्पष्ट कर देता है।

चतुर्थ अध्याय

मराठी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

वैसे मराठी साहित्य के आदि कवि के रूप में मुकुन्दराज को उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक सिंधु' के कृतिकार के रूप में पहचानते हैं। हमें यहाँ पर मराठी साहित्य का आलोचन नहीं करना है, किन्तु हमने मराठी के जिन पाँच वैष्णव कवियों को अध्ययनार्थ लिया है उनका विवेचन करना हमारा अभीष्ट होने से यहाँ पर वही विवेचन किया जाता है।

श्री ज्ञानेश्वर

श्री ज्ञानदेव के पूर्वजों की जानकारी हमें उनके प्रपितामह के प्रपितामह से उपलब्ध होती है। इनके प्रपितामह के प्रपितामह का नाम हरिपंत था और वे सन् ११३८ के आसपास जीवित थे। इनके पोते श्री त्र्यंबकपंत सन् १२०७ के लगभग देवगिरी के यादव राजाओं के यहाँ नौकरी करते थे। जैत्रपाल यादव राजा ने सन् १२०७ में एक आज्ञा पत्र इनको दिया था जो आज भी उपलब्ध है। ये पैठण के पास गोदावरी तीर पर बसे हुए आपे गाँव में रहते थे। त्र्यंबकपंत के दो लड़के थे, हरिपंत और गोविन्द पंत। हरिपंत राजा सिंघण की ओर से लड़ते-लड़ते मारे गये। ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द पंत संत ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। उनकी पत्नी का नाम निराई था जो पैठण के कृष्णाजी पंत देवकुळे की भगिनी थी। गोविन्द पंत और निराई ने गहिनीनाथ से उपदेश लिया था। ये यजुर्वेदी वत्सगोत्री वाजसनेयी शाखा के थे। गहिनीनाथ के कृपापात्र और भगवद् भक्त होने से वैराग्य की साकार मूर्ति के रूप में इनको पुत्र लाभ हुआ। इस पुत्रका नाम विठ्ठलपंत रखा गया। विठ्ठलपंत संत ज्ञानेश्वर के पिता थे और ये बचपन में वेदपठन, काव्य, व्याकरण, शास्त्र आदि पढ़कर तीर्थ यात्रा करने निकले। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार से संबंधित सभी स्थलों की उन्होंने यात्रा की। इस प्रकार तीर्थाटन करते हुए वे आळंदी वापस लौट आये। आळंदी के सिद्धेश्वर पंत कुलकर्णी ने इनके ज्ञानमय और तेज पुंज शरीर को देखा और स्वभावतः इनके प्रति आदर की भावना जागृत हो गई। वे उन्हें अपने घर लिवा ले गए। उनसे पूछताछ करने पर विठ्ठलपंत ने उनको अपनी पूरी जानकारी दे दी। विठ्ठलपंतके स्वभाव और गुणों पर रीझकर सिद्धेश्वर कुलकर्णीने

	प्रथम मत	द्वितीय मत
निवृत्तिनाथ जन्म	११६५	११६०
ज्ञानदेव ,,	११६७	११६३
सोपानदेव ,,	११६६	११६६
मुक्ताबाई ,,	१२०१	११६६

दूसरे मत का आधार :[1]

शालिवाहन शके अकराशे नव्वद। निवृत्ति आनंद प्रकटले।
त्र्याण्णावचे शकीं ज्ञानदेव प्रगटले। सोपानदेविलें। शाहाण्णवात।
नव्याण्णव सालीं मुक्ताई देखिली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

प्रथम मत के अनुसार चारों भाई-बहनों मे दो-दो साल का अन्तर पड जाता दूसरे मत के अनुसार तीन-तीन साल का। जनाबाई के अभङ्ग का एक और भिन्न पाठ मिलता है जो इस प्रकार है—

शके अकराशे पचाण्णव संसरीं निवृत्ति उदरीं प्रकटले।
सत्याण्णव सालीं ज्ञानदेव जाले। नव्याण्णवीं देखले सोपान देवा।
बाराशतें एकीं मुक्ताबाई जन्मली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

यह भिन्न पाठ देखकर ऐसा लगता है कि जनाबाई का मूल अभङ्ग ही प्रक्षिप्त होगा। जो कुछ भी हो डा० श. गो तुळपुळे का मत ग्राह्य और सर्वमान्य है।[2]

सन्यासी की सतान होने से समाज में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं था। सन्यासी के पुत्रो को यज्ञोपवीत सस्कार का भी अधिकार नहीं है। अत उनसे कहा गया कि पैठण जाकर वहाँ के पण्डितों से आज्ञापत्र और प्रायश्चित ले लो। वहाँ जाते ही ज्ञानेश्वर ने देखा कि एक भैंसे को उसका स्वामी पीट रहा था। इस करुणाजनक दृश्य को देखकर ज्ञानेश्वर के अन्त करण मे करुणा उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर सब की आत्मा को समान मानते थे। उन्हे चिढाने के निमित्त से पैठण के ब्राह्मणो ने ज्ञानेश्वर से पूछा, 'क्या यह भैंसा वेद पढ सकता है ?' इस पर ज्ञानेश्वर ने उस भैंसे से वेद पाठ करवाया। इस करामात से हेमाद्रि पण्डित और बोपदेव आदि ने उन्हें शक १२०६ में शुद्धिपत्र प्रदान किया। फिर ये चारों भाई नेवासे नामक स्थान पर पधारे।

ज्ञानेश्वर की कृतियाँ—

नेवासे में ही ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानेश्वरी' प्रस्तुत की।

---

१. *जनाबाई कृत अभंग—सकल संत गाथा, पृ० ५४६।*

२. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे—पृ० ५।

इसका नाम उन्होंने 'भावार्थ दीपिका' रखा। यह टीका गीता पर आधारित है। इसकी शैली, उपमाएँ तथा कल्पना द्वारा प्रकट किये गये शब्दचित्र आदि सब कुछ अत्यन्त मनोरम और सुन्दर हैं। पाठक के मन में कवि के विचार प्रत्यक्ष साकार हो उठते हैं। उपमाओं की भरमार वे नहीं करते। स्वाभाविक रूप से अर्थ प्रतीति हो जाय यही उनका प्रयत्न है। जहाँ अर्थ प्रतीति नहीं होती वहीं पर वे एक से अधिक उपमाओं द्वारा अपना आशय प्रकट करते हैं। उनका निवेदन है कि 'मैंने यह सारस्वत का पेड़ बोया है इसके मधुर फल आप चख सकते हैं। 'ब्रह्म-विद्या की चर्चा करने के लिये वे मराठी और सस्कृत को एक ही सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है।'[1]

'माझा मराठाचि बोल कौतुके।
परि अमृता ते ही पैंजेसि जिंके।
ऐसी अक्षरेंचि रसीकें मेळवीन।'

जेथ संपूर्ण पद उभारे। तेथ मनचि धावे बाहिरे।
बोलु भुजाहि आशा भरे। आलिंगावया॥
तैसें या शब्दाचे व्यापक पण। देखिजे असाधारण।
पाठियां भावज्ञा पावति गुण। चिंतामणि चे॥[2]

मेरी यह मराठी वाणी अमृत की मिठास से बढ़कर है ऐसा सिद्ध कर सकती है ऐसी मैं होड़ बदता हूँ। इसमे शब्दों की व्यापकता असाधारण कोटि की है। इसके पढ़ने वाले भावज्ञों को इसमे गुण ही गुण दिखाई देंगे। उन्हे ऐसा लगेगा जैसे उनके हाथ में चिन्तामणि ही पड़ गयी हो।

ज्ञानेश्वर की यह कृति ज्ञानेश्वरी के साथ वागीश्वरी भी है। ज्ञान के सुवर्ण के द्वारा बुद्धि के नग में काव्य का जड़ा हुआ हीरा ही चमक रहा हो ऐसा उसका महत्व है। इसमे शृङ्गार के मस्तक पर शान्ति रसने अपने चरण रख दिये हों ऐसा जान पड़ता है। वे प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि मैं इस प्रकार से अपने बोल बोलूंगा जिससे अरूप को रूप प्राप्त हो जावेगा और अतीन्द्रिय ज्ञान भी इन्द्रियों से उपलब्ध करा दूंगा। देखिये—

मी बोलेन। बोली अरूपचि दावीन।
अतिन्द्रिय परि भोगवीन। इन्द्रियाकरवी।[3]

---

१. ज्ञानेश्वरी ६-१४, १६।
२. ज्ञानेश्वरी ६-२१।
३. ज्ञानेश्वरी ६-३६।

मराठी भाषा को अमृत से भी अधिक मिठास श्री ज्ञानेश्वर ने प्रदान कर दी है। गीता के अठारह अध्याय हैं और ज्ञानेश्वरी की ९००० ओवियाँ हैं। आज उसकी ८८९६ ओवियाँ उपलब्ध हैं। ज्ञानेश्वर ने अपनी पद्रह वर्ष की आयु में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया। महाराष्ट्रीय विद्वानों का यह अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसमें भी नवाँ अध्याय सबको अधिक अच्छा लगता है। उनकी यह विशेषता है कि वे अपने सामने बैठे हुए श्रोताओं को बडा और श्रेष्ठ मानकर उन्हे वैसा सम्बोधित करते हुए अपनी लघुता और क्षुद्रता को स्वीकार कर अत्यन्त विनम्रता से और प्रेम से अपने वक्तव्य को उनके अन्त करण-पटल पर अङ्कित करते चलते हैं। समता, बधुता और विश्वात्मकऐक्य की भावना से सराबोर होकर वे विश्वात्मक देवताके प्रति विनम्रता और ऋजुता से प्रार्थना करते हुए यह 'पसायदान' (प्रसाददान) माँगते हैं[1]—

> आतां विश्वात्मके देवें। येणे वाग्यज्ञें तोषावें।
> तोषोनि मज धावे पासायदान हे॥
> × × ×
> किंबहुना सर्वसुखीं। पूर्ण होऊनि तिहीं लोकीं।
> भजि जो आदि पुरुषीं। अखडित॥[2]

इस वाग्यज्ञ से तुष्ट होकर विश्वात्मक भगवान् मुझे इतना प्रसाद-दान दीजिये। इस कृपा से खल अपनी दुष्टता छोड दें और वे सत्कर्म मे रति रखने लग जायें। परस्पर प्राणिमात्र सौहार्द भावना को अपनाये। पापी लोग अपने पापो से मुक्त होकर पवित्र बन जायें। विश्व मे स्वधर्म का सूर्य प्रकाशित होने लगे जिससे प्रत्येक प्राणिमात्र की वांछाएँ तृप्त हो जायँगी। इस भूतल पर अनवरत रूप से ईश्वर कृपा की वृष्टि हो तथा सब मे आस्तिकता और आस्था का प्रादुर्भाव हो जाय। जो आदि पुरुष नारायण का अखड भजन करेंगे वे कल्पवृक्षों की तलहटी मे बैठेंगे। चेतना-चिन्तामणि के गाँव मे बसेंगे। जो लोग सबके हितू हैं, तथा सज्जन हैं और अपने व्यवहार मे निष्कलक चन्द्रमा की तरह और तापहीन मार्तण्ड की तरह लाभ पहुँचाने वाले हैं, वे सब ईश्वर कृपा के पात्र हैं। अर्थात् ससार के सब लोग ऐसे बन जाय यही बात भगवान् से ज्ञानेश्वर माँगते हैं। ज्ञानेश्वरी की कुछ प्रतियों मे निम्नलिखित ओवी मिलती है[3]—

---

२. ज्ञानेश्वरी १८-१७९३।

१. ज्ञानेश्वरी १८-१७९४, १७९९।

३. ज्ञानेश्वरी १८-१८१०।

'शके बारातोतबारोत्तरे । तं टीकाकेली ज्ञानेश्वरे ।
सच्चिदानंद बाबा आदरे । लेखकू जाहला ।'

इससे पता चलता है कि ज्ञानेश्वर-ज्ञानेश्वरी कहते थे और सच्चिदानंद बाबा लेखक के रूप में उसे लिखते थे। शक १२१२ में यह ग्रन्थ लिखा गया। इस ओवी के रचयिता ज्ञानेश्वर नहीं है वरन् सच्चिदानंद बाबा हैं। नाथपंथियों की इन भाइयों ने दीक्षा क्यों ली ? ज्ञानेश्वरी लिखने का क्या प्रयोजन है ? आदि प्रश्न हमारे सम्मुख महत्व के हैं। श्रीपाद स्वामी का जब इन पर आग्रह था तो फिर नाथपंथ की ओर ये क्यों मुड़े ? यहाँ पर संक्षेप में इसी का अब विवेचन किया जावेगा।

ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन—

विठ्ठलपंत के सन्यासाश्रम से पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर उन्हें चातुर्वर्ण्य में कोई स्थान न मिलने से तथा सन्यासियों के इन पुत्रों को समाज में विशेष आदर न दिये जाने से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि ये नाथ पंथ की ओर झुके हो। इसके अतिरिक्त इनकी दो पूर्व पीढियों में नाथ संप्रदाय के पुरुषों से अच्छा सम्पर्क था, यह भी इसका एक कारण हो सकता है। सबसे बड़े भाई निवृत्तिनाथ ने गहिनीनाथ से गुरुमंत्र लिया। निवृत्तिनाथ से वह अन्य भाइयों को प्राप्त हो गया। किन्तु इनके उपदेश लेने के पहले से ही ज्ञानेश्वर को मोक्ष, ज्ञान तथा वैराग्य की जानकारी प्राप्त थी। ज्ञानेश्वरी में नाथ पंथ के संवाद्वैत दर्शन का तथा शांकर मत के सिद्धान्तों का समन्वय दिखाई देता है। ज्ञानेश्वर का यह कार्य महान् माना जावेगा।

वेदमार्गी शंकराचार्य को मोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान का दरवाजा समाज के चारों वर्णों के लिये तथा स्त्री शूद्रादि को मुक्त करना स्वीकार न था। ज्ञानेश्वर ने व्यवहार में मर्यादा का पालन उचित है, ऐसा कहकर अध्यात्म के क्षेत्र में स्त्री शूद्रादि के लिए समानता का द्वार मुक्त कर दिया। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस मर्यादावाद की पाबंदी को वे नहीं मानते थे। रामानुज के पांचरात्र-सिद्धांत की ओर भी उनकी दृष्टि गयी है। सव्यूह और निर्व्यूह मार्गों में से ज्ञानेश्वर को निर्व्यूह मार्ग पसन्द था। श्री ज्ञानेश्वर ने अलवार संतो के भी भावों का आश्रय लिया है। स्वयम् ज्ञानेश्वर का कथन है कि—

तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु। भाष्य कारातें वाट पुसतु ॥[1]

कुछ विद्वान् ये भाष्यकार शंकराचार्य होंगे ऐसा मानते हैं, तो कुछ रामानुजाचार्य। सूक्ष्म रूप से देखने पर उपनिषद्, गीता, गौडपादकारिका, योगवासिष्ठ,

१. ज्ञानेश्वरी १८-१७२२।

(३) राजयाचि काता काय भीक मागे।
काय समर्थाची काता कोरान्न मागे ॥[१]

इस तरह शब्द साम्य, विचार साम्य और उपमारूपकों की शैली तथा कृष्ण भक्ति दोनों में पूर्ण रूप से एक सी ही अभिव्यक्ति है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि अभङ्गकर्ता ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरीकार ज्ञानेश्वर एक ही व्यक्ति है।[२]

ज्ञानेश्वरकृत अभङ्गों में 'बाप रखुमा देवीवर् विठ्ठला' की छाप मिलती है। कीर्तन-भक्ति, हरिहर-ऐक्य, संतों को गौरव प्रदान करना, विठ्ठल और कृष्ण का अभेदत्व आदि कई बातें ऐसी हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि दोनों कृतियाँ एक ही कृतिकार की हैं। ज्ञानेश्वर कृत कुल अभङ्गों की छानबीन कर उसका संपादन बहुत आवश्यक है। इस विषय में प्रा गजेन्द्रगडकर जी का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है।[३]

ज्ञानेश्वर के भाई बहन –

ज्ञानदेव के बड़े भाई और गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा लिखी गयी निवृत्तेश्वरी, उत्तरटीका आदि ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। निवृत्तेश्वरी उनकी ही है इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। तीन चार सौ अभङ्ग अवश्य उनके मिलते हैं जिनसे उनकी काव्यशक्ति का पता चल जाता है। ज्ञानदेव के लिए वे चिन्मूर्त हैं। इनका भी 'हरिपाठ' उल्लेखनीय और उत्तम ग्रन्थ है। निवृत्तिनाथ के द्वारा रचे गये अभङ्गों की पंक्तियाँ सुन्दर और बोधगम्य शैलीपूर्ण हैं यथा—

नाहीं आम्हा काळ, नाहीं आम्हा वेळ
अखण्ड सोज्वळ हरि दिसे ॥
ध्यानेवीण मन विश्राति विण स्थान
सूर्यविण गगन शून्य दिसे ॥[४]

स्मरण रहे कि निवृत्तिनाथ के अभङ्ग ज्ञानमय है, वे ज्ञानेश्वर की तरह काव्यमय नहीं हैं। सोपानदेव के द्वारा रचित पचास अभङ्ग मिलते हैं। वैसे इनके रचे गये 'सोपानदेवी', पंचीकरण, प्राकृतगीता आदि ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। सोपानदेव कृत यह अभंग अन्तःकरण में करुणा की ऊर्मियाँ पैदा कर देता है—

---

१. अभङ्ग २५२ सकल संत गाथा और ज्ञानेश्वरी अ १२–८५।
२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खं. १, पृ० ५९८, ६०१।
३. ज्ञानेश्वरदर्शन भाग २ साहित्य खण्ड, पृ० ३०६ ते ३१५।
४. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ८६६।

'चतारे वैष्णव हो जाऊँ पंढरीसी। प्रेमामृत सुख मागो
त्या विठ्ठलासी ॥'[१]

मुक्ताबाई काव्य और अध्यात्म इन दोनो विषयो की दृष्टि से ज्ञानेश्वर के स्तर पर आजाती है। इनके अभङ्गो मे मिठास बडी सरसता से भरी हुई मिलती है। उसमे स्वाभाविक रूप से पाई जा सकनेवाली स्त्रियों की कोमल हृदयवृत्ति का प्रकाशन सुकुमार ढङ्ग से हुआ है। इनके अभङ्गो मे ताटी के अभग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। प्रसग इस प्रकार का था। किसी निन्दक ने इन सन्यासियो के पुत्रो को देखकर कहा कि ये भाई-बहन बडे अपशकुनी है। तब ज्ञानेश्वर खिन्न मन से अपनी झोंपडी का दरवाजा बद कर बैठे। तब कमरे की ताटी अर्थात् दरवाजा खोलने के लिए मुक्ताबाई ने प्रार्थना की तभी इन अभगों की सृष्टि हुई।

मजवरी दया करा ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा।
सत जेणे व्हावे। जग बोलणे सोसावे॥

× × ×

लडिवाळ मुक्ताबाई। बीज मुद्दल ठायी-ठायी।
तुम्ही तरोन विश्व तारा ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा॥[२]

'हे बधु ज्ञानेश्वर! मुझ पर दया कीजिए और शीघ्र द्वार खोल दीजिए। सत बनने वाले को इस दुनियाँ मे रहने वाले लोगो की टीका टिप्पणियाँ सहनी ही चाहिए। बडप्पन तभी प्राप्त होता है जब अहकार, गर्व, तथा अभिमान चला जाता है। जहाँ बडे लोग रहते है वहीं भूतदया एवम् करुणा का निवास रहता है। जब ब्रह्म सर्वत्र रहता है तब क्रोध भी किस पर किया जाय? इसलिए समदृष्टियुक्त होकर मुझे दरवाजा खोल दीजिए। पवित्र मनवाला योगी लोगो के द्वारा किये गये अपराधो को सहता है। यदि विश्व अग्निवत् बन जाय तो प्राणियों को सत-मुखों की ओर ही ताकना पडता है। विश्व तो परब्रह्म का एक सूत्र है, जिसे वे जैसा चाहे खीचते रहते हैं। आपकी बहन मुक्ताबाई आपकी लाडली है अत मैं और आपसे क्या कहूँ। बीज और उसका पूर्ण विकास कहाँ और किस ठौर नही है? आप खुद तर जाइये और दूसरो को भी तार दीजिए। कृपा करके *दरवाजा खोलिए।*'

चौदह पद्रह वर्ष की अवस्था वाली इस लडकी मे इतनी उच्च कोटि का

---

१. सकल संत गाथा सोपानदेव अभग ७६६३, पृ० ५२८।

२ महाराष्ट्र सारस्वत : वि. ल. भावे और डा० श. गो. तुळपुळे, पृ० १५६।

वैराग्य देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। मुक्ताबाई को काव्य और अध्यात्म इन दोनों बातों में ज्ञानेश्वर के स्तर पर रखा जा सकता है। हिन्दी उलटबासियों की तरह चमत्कृतिपूर्ण शैली में मुक्ताबाई वर्णन करने में पटु है। इसकी एक बानगी देखिये—

मुंगी उडाली आकाशी। तिने गिळिले सूर्यासी ॥
थोर नवलाव झाला। वांझे पुत्र प्रसवला।
माक्षी वियाली घार झाली। देखोनि मुक्ताई हासली ॥[1]

चींटी आकाश में उड़ी और उसने सूर्य को निगला। अर्थात् सन्त जीवात्मा अनन्त परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान सूर्य का प्रकाश उसे उपलब्ध हो जाता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वन्ध्या को पुत्र पैदा हुआ और मक्खी से चील पैदा हुई। इसे देखकर मुक्ताई हँसने लगी।

इसी शैली में एक ओवी भी देखिए कितनी ज्ञानमय और काव्यमय है।

'पहिली माझी ओवी। परतुनि पाहिले।
हृष्टि ने देखिले। निजरूपी ॥'[2]

अपने आत्मस्वरूप को मैंने देख लिया और जब मैं उसका अनुभव लेकर पुन वापस आई तो वही हृदय देखा।

मजे की बात तो यह है कि इस तरह की ओवियाँ समान अधिकार और समान आयु की जनाबाई और मुक्ताबाई ने एक साथ बैठकर गाई हैं।

तीर्थ यात्रा और समाधि—

ज्ञानेश्वर ने अपने समकालीन नामदेव आदि अन्य सन्तों को साथ लेकर भारतवर्ष के तीर्थों की यात्राएँ भी की थीं। पंढरपुर में कार्तिक शक १२१८ में एकान्त सुखलाभ प्राप्त करने के लिए समाधि लेने का उन्होंने निश्चय किया। कार्तिक वदी त्रयोदशी के दिन इन्द्रायणी के तीर पर दोपहर को उन्होंने समाधि ले ली। इसके बाद ही शके १२१८ में मार्गशीर्ष वदी त्रयोदशी को सोपानदेव ने सासवड में समाधि ले ली। दो भाइयों के विरह के बाद अपनी जन्मभूमि देखने के लिये निवृत्ति और मुक्ताबाई आपे गाँव गए। वहाँ बचपन की सारी स्मृतियाँ सजग हो आईं। इसी से विशेषतः मुक्ताबाई अधिक खिन्न और उद्विग्न-मना होकर शक १२१९ के वैशाख शुक्ल द्वादशी के दिन एदलाबाद के पास के मेहूणगाँव में समाधिस्थ हो गईं। इस प्रकार एक के बाद एक अपने भाई बहन के चल बसने से निवृत्तिनाथ

१. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, पृ० ६००—डा० शं गो. तुळपुळे।
२ ,, ,, पृ० ६०० ,,

को बडा दुख हुआ। उन्हें नारायण के द्वारा उनके साथ यह किया गया व्यवहार विपरीत लगा और उन्होंने कहा[१]—

ज्येष्ठाच्या आधी कनिष्ठाने जाणे।
केले नारायणे उफराटे॥
उफराटे फार वाटे माझे मनीं।
वळचणीचे पाणि आढ्या गेलें॥

'ज्येष्ठ के पहले कनिष्ठ चल बसे। नारायण ने यह क्या विपरीत क्रम चलाया। मेरे मन मे इसका बडा शोक है। ओलतों का पानी मंगरे पर कभी नहीं चढ़ता पर इस प्रसंग मे उलटा हो गया अर्थात् मगरे का पानी ओरी पर चला गया।'

इसी उद्विग्न मनस्थिति ने शक १२१९ की ज्येष्ठ वदी द्वादशी को अपनी देह त्र्यम्बकेश्वर मे गोदावरी नदी मे विसर्जित कर दी। इस तरह इन प्रसिद्ध चार संतो का एवम् भाई-बहन का चरित्र पूर्ण हो गया।

प्रा. न. र. फाटक के मतानुसार ज्ञानेश्वर का अन्तरग मुख्यतः सामाजिक था। इस्लाम के राक्षसी आक्रमण से आभ्यतर रूप मे महाराष्ट्र झुलस गया था, तथा समाज देवधर्म के बारे में अधःपतित हो गया था। ऐसे समय मे सामाजिक और धार्मिक संघटना करते हुए ज्ञानदेव ने उसे नवधर्म का रसायन पिलाकर जीवित किया।[२] परन्तु प्रा. श. गो. वाळिंबे और डा० श गो तुळपुळे के मत मे यह ऐतिहासिक असत्य मात्र है।[३] वस्तुतः ज्ञानेश्वरी का प्रमुख सूत्र आत्म साक्षात्कार है। आत्मानुभव के बलपर सबके लिए भक्तिज्ञान का मन्दिर खडा करके कुल, जाति आदि का भेद न मानते हुए सबके लिए उसे मुक्त करना तथा अध्यात्म-क्षेत्र की राह दिखलाकर उन्हें समत्व की भूमि पर अर्थात् मानव्य की भूमि पर ले आना ही उनका प्रमुख कार्य जान पडता है।[४]

ज्ञानेश्वर और उनके बंधु सोपानदेव तथा भगिनी मुक्ताबाई निवृत्तिनाथ के द्वारा नाथ पंथ मे समाविष्ट हो गये थे। इनके पिता विठ्ठल पंत को आळंदी के ब्राह्मणो ने देहांत प्रायश्चित लेने के लिए कहा तो ब्रह्मवृन्दो का शास्त्राधार शिरोधार्य मानकर प्रयागराज के त्रिवेणी सगम में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया।

१. निवृत्तिनाथ अभग।
२. ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी, पृ० १०५-७-१०, प्रा. न. र. फाटक।
३. ज्ञानेश्वर चरित्र आणि ज्ञानेश्वरी चर्चा, पृ० ५८-६३, प्रा शं गो. वाळिंबे।
४. पांच संत कवि—डा० श गो तुळपुळे ५।

सन्यासी के पुत्र होने से जो कष्ट उठाने पड़े उन सबको उठाकर एकमात्र भगवद् भक्ति का प्रचार इन लोगों ने किया। इनकी कर्मभूमि व सचार भूमि आळंदी, प्रतिष्ठान, नेवासे, आदि रही। ग्रन्थ रचना समाप्त हो जाने पर इन चारों ने नामदेव और अन्य लोगों के साथ तीर्थयात्रा की। इस यात्रा में नामदेव और ज्ञानदेव ने भक्ति प्रेम का अपूर्व सुख लूटा था। कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द के नाम से कीर्तन, स्मरण, भजन आदि करते हुए पढरपुर में ये लोग लौटे। यात्रा के बाद आळंदी में आकर समाधि लेने का जब ज्ञानेश्वर ने निश्चय किया तो नामदेव भी साथ थे। यह सजीवन-समाधि इस परिवार के जीवन की सबसे बड़ी दुखद घटना है। नामदेव के इस प्रसग पर लिखे गये अभग करुण रस से ओतप्रोत हैं। ज्ञानेश्वर के रचे गये अभग इसी यात्राकाल के जान पड़ते हैं।

ज्ञानेश्वर में नाथ और भागवत सम्प्रदाय का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना है किन्तु उसका उद्देश्य आत्मानुभूति है। भक्ति बाह्यसाधन के रूप में न होकर आतर स्वरूप की है। अर्थात् वह नाम स्मरणादि भाव-साधना की है। योगमार्ग श्रेष्ठ अवश्य है पर वह सर्वसुलभ नहीं है। उसमें सदा यह भय बना रहता है कि योग साधना की परिणति आत्मानुभूति में न होकर शरीर सपदा बनने में हो सकती है। उसी प्रकार से भागवत सम्प्रदाय की भक्ति सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन होने पर भी उसकी मर्यादा सगुण और मूर्तिपूजा तक ही सीमित रह सकती है। इसलिए नाथ सम्प्रदाय के योग मार्ग को भक्ति का आधार देकर भागवतों की भक्ति को ज्ञान की आँखें उन्होंने प्रदान की। योग और भक्ति के ऐक्य से परमार्थ की प्राप्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य है।

नामदेव—

सत नामदेव का चरित्र प्रामाणिक रूप से उपलब्ध न होने के कारण नामदेव के चरित्र में जन्मस्थान, समाधिस्थान जन्म दात्र तथा चरित्र की चमत्कारपूर्ण घटनाओं से भरी बातें, किंवदंतियाँ, जनश्रुतियाँ आदि सामग्री होने से प्रामाणिक चरित्र प्रस्तुत कर सकना एक अत्यत जटिल कार्य बन गया है। फिर भी जो सामग्री मिल सकी है उसका यहाँ पर विवेचन में उपयोग कर लिया गया है।

नामदेव का जन्म स्थान—

नामदेव के जन्म स्थान के बारे में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं। नामदेव के जन्मस्थान का नाम नरसीबामणी बतलाया जाता है। निश्चित रूप से इस स्थान के बारे में भी एक मत नहीं है। डा० तुळपुळे, गोन्दकर आजगावकर,

वि ल. भावे आदि प्रभृति के मत मे यह स्थान परभणी जिले मे है।[१] अन्य लोग और श्री यो. ना पाटसकर यह स्थान कराड जिले के पास के नरसिंगपुर अर्थात् नरसोबामणी को नामदेव का जन्मस्थान मानते हैं। परम्परा नामदेव पढरपुर मे ही पैदा हुए ऐसा मानती है। एकनाथ का एक अभङ्ग इस बारे मे यह जानकारी देता है[२]—

> द्वारकेहुनि विठू पंढरिये आला।
> नामयाचा पूर्वज दामाशेटी वाहिला॥
> दामा आणि गोणाई नवसी विठूसी।
> पुत्रदेई आम्हा देवभक्त करिशी॥

श्री ल रा पागारकर आदि लोग नामदेव के पूर्वज नरसोबामणी मे थे, तथा जन्म वही हुआ पर बचपन मे ही सारा परिवार पढरपुर मे विठोबा की भक्ति के लोभ से आकर के बस गये ऐसा कहते हैं।[३] परम्परा के अनुसार नामदेव के पूर्वज उनके जन्म से पहले ही पढरपुर मे आकर बस गये थे। नामदेव का जन्म सन् १२७० तथा शक ११९२ मे हुआ। कम से कम यह निष्कर्ष तो सब को मान्य है।

नामदेव अपने पूर्व चरित्र मे डाकू थे और बाद मे पश्चात्ताप हो जाने से वे भक्तिमार्ग मे आ गए।[४] इसके लिए वे जिस ५६ चरणो के अभग का आधार लेते हैं वह अभग नामदेव का नही है। तथा अपनी बात की पुष्टि के लिए वे नामदेव का जन्मशक बदलते हैं जिससे नामदेव के जीवन की अन्य बातें और डाकूगिरी का व्यवसाय आदि की सगति बैठ जाती है। परन्तु ये सब बातें सिद्ध नहीं होती हैं।[५] मुक्ताबाई जिस नामदेव के विषय मे यह कहती है, 'अवघ्र जयाला दे वाचा दोजार' वे उनके इस पूर्व व्यवसाय के बारे मे कुछ भी नही कहती हैं। इसके अतिरिक्त आजगांवकर के मत का सप्रमाण खडन श्री मो ना हाटसकर ने एक पुस्तिका लिखकर किया है जो द्रष्टव्य है।[६]

---

१ पाँच संत कवि—पृ० १३३-१३४-१३६, डा० शं गो तुळपुळे।
२ एकनाथकृत अभङ्ग, १६२६, सकल सत गाथा, पृ० २६७।
३. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास ख १—पृ० ५५७, ल. रा पांगारकर।
४ नामदेव चरित्र—आजगांवकर, पृ० ६५।
५ पाँच सतकवि—डा० शं गो. तुळपुळे, पृ० १३६।
६. बालभक्त नामदेव दरोडेखोर होते काय ?
(पुना इ स १९३५), ले मो. ना पाटसकर।

नामदेव के जन्म शक के बारे मे विवेचन करने वाला निम्नलिखित अभग पढरपुर के नामदेव घराने की एक पुरानी हस्तलिखित पोथी मे से यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—माझे जन्मपत्र बाबाजी ब्राह्मणे। लिहिले त्याची खूण सांग ऐका अधिक व्याण्णव गणित अकराशते। उगवता आदित्य तेजोराशी शुक्ल एकादशी-कार्तिकी रविवार। प्रमोद संवत्सर शालीवाहन शक ऐशी वर्षे आयुष्य पत्रिका प्रमाण। नाम सकीर्तन नामया वृद्धि।[1] इस अभग मे दी गई जानकारी की गणना करने पर शालीवाहन शक ११९२ कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन रविवार आता है। इसी की अग्रेजी गणना से दिनाक २६ अक्टूबर १२७० ई स आता है। इस तरह नामदेव, ज्ञानदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण शक १२१६ मे दक्षिण मे प्रथम बार हुआ था। यह वह समय था जब ज्ञानदेव को समाधि लेकर कुछ ही वर्ष बीते थे। नामदेव कम से कम ५० साल तक इस घटना के बाद जीवित थे। ज्ञानदेव और नामदेव को किसी भी तरह अलग कर सकना सभव नही है।

नामदेव की जीवनी सम्बन्धी सामग्री के सूत्र—

नामदेव परिवार के अन्तर्गत आने वाली नामदेव की दासी जनाबाई के रचित अभग भी नामदेव के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। देखिये[2]—गोणाई ने मानता ली थी और विठ्ठल से ऐसे पुत्र की याचना की कि जो उसका भक्त हो। उसके शुद्ध भाव को देखकर पाडुरग प्रसन्न हुए और नामदेव पैदा हुए। दामाशेटी को आनन्द हुआ। नामदेव की पत्नी का नाम राजाई था। नामदेव के नारा, विठा, गोदा और महादा ये चार पुत्र और लिबाई नाम की पुत्री थी। बहन का नाम आऊबाई था। इन चारो पुत्रो की पत्नियो के नाम क्रमश लाडाई, गोडाई, येसाई, और साखराई थे। जनाबाई कहती है, 'मैं नामदेव की अज्ञानी और गँवार दासी हू।' भक्ति की अपूर्वता से पढरिनाथ ने उसके यहाँ मजदूर बनकर उसके घर का छप्पर छवाया। बचपन से ही विठ्ठल के कृपा पात्र नामदेव के जीवन से सबधित अन्य चमत्कारपूर्ण बातो का उल्लेख इन अभगो मे मिलता है। वे उसके हाथ का नैवेद्य ग्रहण करते हैं और दूध पीते हैं। भक्ति और नाम सकीर्तन करने वाले नामदेव का यह यथातथ्य वर्णन जनाबाई ने इस तरह किया है[3]—

---

१ पढरपुर की हस्तलिखित पोथी से उद्धृत।

२. नामदेव गाथा चित्रशाळा प्रेस—जनाबाईचे अभंग २७१, ८०, ८५,६१, ६२,६३ पृ० ५६७–६८।

३ नामदेवगाथा–अभग २८१, पृ० ५६७।

मुंजाचा करदोडा रकट्याची लंगोटी । नामा वाळवंटी कथा करी ॥
ब्रह्मादिक देव येओनि पाहाती । आनंदे गर्जती जयजयकार ॥
जनी म्हणे त्याचे काम वर्णू सुख पाहाती जे । मुख विठोबा चे ॥

'मुज की बटी हुई रस्मी का करदोडा पहनकर उसमें चीथड़े की लगोटी लगाकर चद्रभागा नदी की रेती मे नामदेव विठ्ठल का नाम स्मरण, हरिसकीर्तन करते हैं इसे देखने ब्रह्मादि देवता आते और भगवान् के जयजयकार मे सम्मिलित होते हैं। विठोबा इससे प्रसन्न हो जाते हैं। उनके मुख की शोभा और अपूर्व सुख को जो देखते हैं उनका मैं भोली-भाली जनाबाई क्या वर्णन करूँ ?'

(२) मराठी मे नामदेव के चरित्र के साधनों मे महिपति का 'भक्त-विजय' नामक ग्रन्थ है। 'भक्तमाल' के आधार पर यह लिखा गया है। 'भक्तमाल' की नामदेव वाली जीवनी मे जो विलक्षण बातें दी गई हैं उनमें कुछ सुधार महिपति ने किया है। महिपति के अनुसार नामदेव अयोनिज थे और भीमानदी को एक सीपी मे मिले थे। नामदेव के पजाब निवास का वृत्तान्त देने वाली एक पुस्तिका बाबा पूरणदास द्वारा लिखित श्री स्वामी नामदेवजी की जनम साखी' यह प्रसिद्ध है। इसमे नामदेव लक्षमावती नामक एक बाल विधवा से ईश्वर कृपा से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए ऐसा वर्णित है। ज्ञानदेव, नामदेव के गुरु बतलाये गये हैं। जन्मकाल शक-१२८५ बतलाया गया है। महिपति नामदेव की पजाब यात्रा पर कुछ भी नहीं कहते।

(३) नामदेव ने अपना आत्मचरित्र पूरा तो नहीं लिखा परन्तु अपने जीवन के कुछ महत्वपूर्ण प्रसगो की जानकारी वे उसमें देते हैं। नामदेव मराठी के आद्य आत्मचरित्रकार हैं। यह आत्मचरित्र नामदेव कृत है या उनके किसी अज्ञात शिष्य या भक्त द्वारा लिखा गया है ऐसा माना जाता है। इसमें मिलावट कितनी है और उनका निजी कितना है इसका निर्णय नहीं हो सका है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि यह नामदेव कृत है ही नहीं। उनके आध्यात्मिक जीवन के तीन प्रसग इसमें महत्वपूर्ण हैं जो उनके पारमार्थिक आलरण को प्रकाशित कर सकने में पूरे सक्षम हैं। वे तीन प्रसग ये हैं—(१) नामदेव को भगवान् की भक्ति करने मे कौटुम्बिक विरोध पर्याप्त रूप में हुआ। (२) ज्ञानदेवादि भाइयों से इनकी प्रथमबार भेंट हुई और (३) विसोबा खेचर से उनको गुरूपदेश मिला। नामदेव अपने चरित्र की स्वयं इस प्रकार समालोचना करते हैं[१]—

१ नामदेवाचा गाथा (चित्रशाला प्रेस)—पृ० २७५, अभङ्ग १।

शिपियाचे कुळीं जन्म मज जाला। परि हेतु गुंतला सदाशिवीं।
रात्री मार्जी शिवीं दिवसामाजी शिवीं। आराणुक जोवीं नाही माझा।
सुई आणि सातुळी, कात्री गज दोरा। माडिला पसारा सदाशिवीं।
नामा म्हणे शिवीं विठोबाचे अङ्गीं। त्यावेनि मी जगीं धन्य जालो॥

दर्जी के कुल में मेरा जन्म हुआ। परन्तु मेरा ध्येय परमात्मा की प्राप्ति है। वैसे दिनरात मे कपडे सीते रहता हूँ। मुझे जरा भी चैन लेने की फुरसत नही। सुई, धागा, कैंची, कपडे नापने का गज यह सारा प्रपच उसी सदाशिव के द्वारा फैलाया गया है। पर मैं तो विठोबा को ही अपने शरीर मे सी लेता हूँ जिसे मेरा जन्म सार्थक और सफल हो गया है।

(४) आजगाँवकर, पागारकर, और श पा जोशी की 'पजाबातील नामदेव' आदि नामदेव पर लिखी गयी पुस्तकें भी विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त और भी पुस्तकें और लेख डा० ट्रम्प, मकॉलिफ, प्रियोळकर, भिंगारकर, पाडुरङ्ग शर्मा आदि ने लिखे हैं जो विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

(५) हिन्दी साधनो मे 'भक्त-माल' भक्तों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। 'भक्तमाल' मे नामदेव के जीवन की विलक्षण बातें मिलती हैं। इससे भी पूर्व लिखी गयी अनन्तदास कृत 'नामदेव परिचयी' मिलती है।[१] अनन्तदास के अनुसार नामदेव कलियुग मे प्रथम भक्त हैं। केशव को दूध पिलाना, मन्दिर का द्वार फेरना, बादशाह से झगडा, मृत बैल को जीवित करना तथा हरि का अपने हाथ से छप्पर छवाना आदि घटनाएँ हैं।

(६) 'उत्तर भारत की सत परम्परा' मे सर्वप्रथम हिन्दी में नामदेव के बारे मे विस्तृत जानकारी दी गयी है। विद्वान लेखक का कहना है[२]—'ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई, पूर्णत विश्वसनीय समझी जाने वाली जीवनियो का नितान्त अभाव है और जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओं की पूरी छानबीन नही हो जाती, तब तक उनमें दी गई बहुत सी बातो को भी हम असदिग्ध नही कह सकते। इनके अनुसार नामदेव नरसीबामनी नाम के कराड के निकटस्थ ग्राम मे दामासेट दर्जी के यहाँ पुत्र रूप मे पैदा हुए। छीपी कहलाने वाली जाति दर्जी और कपडे छापनेका कार्य महाराष्ट्रमे करती थी। अन्य सब जीवनी-सबधी बातें कुछ हेर-फेर के साथ वे ही हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। श्री परशुराम

---

१ नामदेव की परिचयी—हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक २७८, पूना विश्व विद्यालय, (जयकर ग्रथालय), अनतदास।

२ उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०६।

चतुर्वेदी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि, 'नामदेव के परिचय में आगे चलकर किंचित् परिवर्तन भी करना पड़े तो आश्चर्य की बात नहीं होगी।'[1]

(७) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में नामदेव की कुछ विशेष जानकारी दी गई है। सत-मंडली में नामदेव की परीक्षा तथा उन्हें कच्चा घड़ा कहा जाना, बाद में ज्ञानेश्वर के प्रयत्नों से नाथपंथी योगमार्गी विसोबा खेचर को गुरु बनाना आदि का उल्लेख है तथा 'भक्तमाल' में वर्णित चमत्कारों का विवेचन किया गया है।[2] आचार्य शुक्लजी के नामदेव विषयक ये वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—'महाराष्ट्र में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ प्रचुर परिमाणमें मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं में विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना में।'[3] 'नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो ब्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है, पर निर्गुन बानी की भाषा नाथ पंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा है।'[4] 'नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'निर्गुन पंथ' के लिये मार्ग निकालने वाले नाथ-पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे।'[5] 'सब सगुण मार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूपके साथ-साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आये हैं जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते।'[6] नामदेव इधर इसलिये प्रवृत्त हुए थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु विसोबा से ज्ञानोपदेश लिया था और शिष्य के नाते उसकी उद्धरणी आवश्यक थी।

(८) 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' के लेखक आचार्य विनय मोहन शर्मा नामदेव की हिन्दी रचनाओं के बारे में अपने विचार यों प्रकट करते हैं—'यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती, परन्तु जो कुछ प्राप्त है उनमें उत्तर भारत की संत परम्परा का पूर्व आभास मिलता

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०७।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास दशम संस्करण—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४, ६६, ६७।

३. ,, ,, ,, पृ० ६६।

४. ,, ,, ,, पृ० ७०।

५ ,, ,, ,, पृ० ७०।

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास (दशम संस्करण) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।

शिंपियाचे कुळीं जन्म मज झाला। परि हेतु गुंतला सदाशिवीं।
रात्रौ माझीं शिवीं दिवसामाजी शिवीं। आराणुक जीवीं नाहीं माझ्या।
सुई आणि सातुळी, कात्री गज दोरा। मांडिला पसारा सदाशिवीं।
नामा म्हणे शिवीं विठोबाचे अङ्गीं। त्यावेनि मी जगीं धन्य जालो॥

दर्जी के कुल मे मेरा जन्म हुआ। परन्तु मेरा ध्येय परमात्मा की प्राप्ति है। वैसे दिनरात मे कपडे सीने रहता हूँ। मुझे जरा भी चैन लेने की फुरसत नही। सुई, धागा, कैंची, कपडे नापने का गज यह सारा प्रपच उसी सदाशिव के द्वारा फैलाया गया है। पर मैं तो विठोबा को ही अपने शरीर मे सी लेता हूँ जिसे मेरा जन्म सार्थक और सफल हो गया है।

(४) आजगांवकर, पागारकर, और द पा जोशी की पजाबातील नामदेव' आदि नामदेव पर लिखी गयी पुस्तकें भी विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त और भी पुस्तकें और लेख डा० ट्रम्प, मकॉलिफ, प्रियोळकर, भिंगारकर, पाडुरङ्ग शर्मा आदि ने लिखे हैं जो विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

(५) हिन्दी साधनों मे 'भक्त-माल' भक्तों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। 'भक्तमाल' मे नामदेव के जीवन की विलक्षण बातें मिलती हैं। इससे भी पूर्व लिखी गयी अनन्तदास कृत 'नामदेव परिचयी' मिलती है।[१] अनन्तदास के अनुसार नामदेव कलियुग मे प्रथम भक्त हैं। केशव को दूध पिलाना, मन्दिर का द्वार फेरना, बादशाह से झगडा, मृत बैल को जीवित करना तथा हरि का अपने हाथ मे छप्पर छवाना आदि घटनाएँ हैं।

(६) 'उत्तर भारत की सत परम्परा' मे सर्वप्रथम हिन्दी मे नामदेव के बारे मे विस्तृत जानकारी दी गयी है। विद्वान लेखक का कहना है[२]—'ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर लिखी गई, पूर्णत विश्वसनीय समझी जाने वाली जीवनियों का नितान्त अभाव है और जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओ की पूरी छानबीन नहीं हो जाती, तब तक उनमे दी गई बहुत सी बातों को भी हम असदिग्ध नही कह सकते। इनके अनुसार नामदेव नरसीबामनी नाम के कराड के निकटस्थ ग्राम मे दामासेट दर्जी के यहाँ पुत्र रूप मे पैदा हुए। छीपी कहलाने वाली जाति दर्जी और कपडे छापनेका कार्य महाराष्ट्रमे करती थी। अन्य सब जीवनी-सबधी बातें कुछ हेर-फेर के साथ वे ही हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। श्री परशुराम

१ नामदेव की परिचयी—हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक २७८, पुना विश्व विद्यालय, (जयकर ग्रथालय), अनंतदास।

२ उत्तरी भारत की सत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०६।

चतुर्वेदी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि, 'नामदेव के परिचय में आगे चलकर किंचित् परिवर्तन भी करना पड़े तो आश्चर्य की बात नहीं होगी।'[1]

(७) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में नामदेव की कुछ विशेष जानकारी दी गई है। सत-मंडली में नामदेव की परीक्षा तथा उन्हें कच्चा घड़ा कहा जाना, बाद में ज्ञानेश्वर के प्रयत्नों से नाथपंथी योगमार्गी विसोबा खेचर को गुरु बनाना आदि का उल्लेख है तथा 'भक्तमाल' में वर्णित चमत्कारों का विवेचन किया गया है।[2] आचार्य शुक्लजी के नामदेव विषयक ये वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—'महाराष्ट्र में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएं प्रचुर परिमाणमें मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं में विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से सबध रखती है और कुछ निर्गुणोपासना से।'[3] 'नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो व्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है, पर निर्गुन बानी की भाषा नाथ पथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा है।'[4] 'नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'निर्गुन पंथ' के लिये मार्ग निकालने वाले नाथ-पथ के योगी और भक्त नामदेव थे।'[5] 'सब सगुण मार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूपके साथ-साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आये हैं जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर सकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते।[6] नामदेव इधर इसलिये प्रवृत्त हुए थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु विसोबा से ज्ञानोपदेश लिया था और शिष्य के नाते उसकी उद्धरणी आवश्यक थी।

(८) 'हिन्दी को मराठी सतों की देन' के लेखक आचार्य विनय मोहन शर्मा नामदेव की हिन्दी रचनाओं के बारे में अपने विचार यों प्रकट करते हैं—'यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएं प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती, परन्तु जो कुछ प्राप्त है उनमे उत्तर भारत की सत परम्परा का पूर्व आभास मिलता

१. उत्तरी भारत की सत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०७।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास दशम सस्करण–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४, ६६, ६७।
३ ,, ,, ,, पृ० ६६।
४. ,, ,, ,, पृ० ७०।
५ ,, ,, ,, पृ० ७०।
६ हिन्दी साहित्य का इतिहास (दशम सस्करण) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।

है और उनके परवर्ती सन्तों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है जिसे उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिये।[1]

नामदेव के जीवन की महत्वपूर्ण बातें और रचनाएँ—

अब तक नामदेव की जीवनी के विभिन्न आधार और सूत्रों को हमने देखा। अब निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नामदेव पंढरपुर में सन् १२७० शक-११९२ में पैदा हुए। बचपन से ही वे विठ्ठल भक्त थे। विठ्ठल की मूर्ति, विठ्ठल का नाम, विठ्ठल का जयघोष, पंढरपुर का निदिध्यास इन बातों से वे सौ फीसदी विठ्ठल भक्त बन गये। विठ्ठल मूर्ति सचेतन है और यही एकमात्र उपास्य है ऐसी उनकी दृढ़ श्रद्धा थी यह ल रा पांगारकरजी का मत सही जान पड़ता है।[2] लौकिक जीवन की ओर उनकी दृष्टि उदासीन थी अतः उनकी गृहस्थी सुचारु रूप से चलने के बदले विरोध पूर्ण वातावरण से युक्त ही सदा रही। 'मैं भक्त हूँ' यह अहंकार उनमें उत्पन्न हो गया था। उनकी इस स्थिति का तिरोभाव होकर विशुद्ध भक्ति की स्थापना उनके अन्तःकरण में होने का प्रसंग शक १२१३ में आया। यह वह प्रसंग था जब नामदेव ने आळंदी में जाकर ज्ञानेश्वर से भेंट की। इस मिलन में उन्हें अपना आत्म-निरीक्षण करने का सुअवसर मिला और वे अन्तर्मुख बन गए। ज्ञानदेव के आदेशानुसार 'आवढ्या-नागनाथ' में जाकर विसोबा खेचर से गुरूपदेश लिया। इसके पूर्व का प्रसंग बड़ा मार्मिक है। नामदेव जब नागनाथ के मन्दिर में पहुँचे तो शिवलिंग पर टांगें फैलाये विसोबा खेचर को उन्होंने सोया हुआ देखा। नामदेव को यह देखकर विस्मय हुआ। उन्होंने विसोबा खेचर के पैरों को वहाँ से हटाया तो एक आश्चर्य नामदेव ने देखा। वे जिधर पैर हटाते उधर शिवलिंग ही दिखाई देता। इससे उन्हें भगवान् सर्वत्र हैं यह ज्ञात हुआ। विसोबा के अनुग्रह से वे ज्ञानी बन गए। इस गुरु कृपा का वे स्वयम् वर्णन करते हैं—

> श्रवणी सांगितली मात। मस्तकी ठेविला पद पिंडा।
> द्विजन केला नामा। खेचर विसा। प्रेमाचा पिसा।
> तेणे नामा कैसा उपदेशिला तया सांगितले गुज। दाखविले निज।
> पाल्हाळी हो तूब। काय चाडा। खेचर म्हणे मज।
> ज्ञानराज हे गुरु तेणे अगोचर नाम्या केला।[3]

---

1. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० १३६।
2. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खण्ड १—ल रा पांगारकर।
3. नामदेवाची गाथा—चित्रशाला प्रेस, अभङ्ग १३८, पृ० ३१३ भाग २।

विसोबा ने नामदेव को नाम-मत्र देकर कृतार्थ कर दिया। विसोबा भक्ति-प्रेम मे पागल बन गये थे। उसका रहस्य बतलाकर उन्होने नामदेव को विदेही बना दिया। यही ज्ञान वास्तव मे गुरु-मत्र है। ईश्वर प्राप्ति का नाम ही एक अमोघ साधन है यह बतलाकर उसे नामदेव को सौंप दिया। 'पढरिनाथ की नगरी मे मोक्ष और अध्यात्म के क्षेत्र मे सब लोग एक ही धरातल पर हैं इस तथ्य को नामदेव ने आत्मसात कर लिया और अपने आचरण से भागवत-धर्मीय कैसा होता है उसे प्रत्यक्ष दिखा दिया। गृहस्थाश्रम तो उन्होने न छोडा परन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए भगवद् भक्ति में इतने लीन हो गए कि वे वारकरी सप्रदाय के एक आदर्श भक्त और एक बडे सन्त का स्वयम् आदर्श बन गये। नामदेव ने इसी भक्ति के आवेश मे शत कोटी अभग रचने की प्रतिज्ञा की ऐसा कहा जाता है। वे स्वयम् कहते हैं—'शतकोटी तुम्हे करीन अभग।' इतनी बडी सख्या मे न तो उनके अभग मिलते हैं न उन्होंने इतने रचे होगे। इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य ऐसा है कि बहुत अभङ्ग नामदेव ने रचे। वैसे कुल २५०० अभङ्ग उपलब्ध हैं। इनमे भी लगभग ५०० या ६०० अभङ्ग मूल नामदेव के होगे। 'विष्णुदास नामा' के भी अभग नामदेव की गाथा में मिल गये हैं। और भी अन्य नामदेव हुए होंगे जिनकी रचनाएँ इसमे मिल गयी होगी। महाराष्ट्र सरकार की ओर से नामदेव की प्रामाणिक अभगो की गाथा प्रकाशित करने के लिए एक समिति स्थापित की गई है। असली अभगो मे नामदेव और ज्ञानेश्वर का अभिन्नत्व बराबर देखने को मिल जाता है।

चरित्रकार नामदेव—

ज्ञानेश्वर के साथ और अन्य सतो के सहित नामदेव ने तीर्थ यात्रा की थी। उस प्रसग को लेकर रचे गये अभग 'तीर्थावली के अभग' नाम से प्रसिद्ध हैं, जो ज्ञानेश्वर के चरित्र का ही एक भाग है। नामदेव मराठी के आद्य चरित्रकार भले ही न हो पर उनका ज्ञानेश्वर चरित्र रसपूर्ण है। आदि', 'समाधि' और तीर्थावली' नाम के तीन प्रकरणो मे पूरा ज्ञानेश्वर चरित्र नामदेव ने करीब-करीब साढे तीन सौ अभगो मे गाया है। आदि' मे ज्ञानेश्वर, उनके भाई और बहन का पूरा जीवन वर्णित है। तीर्थावली' मे ज्ञानदेव के साथ की गयी यात्रा और मिली हुई आत्मानुभूति का सरसता पूर्ण वर्णन है। ज्ञानेश्वर के विसोबा शिष्य थे और विसोबा के शिष्य नामदेव थे। अत अपने परात्पर गुरु के प्रति नामदेव का अन्त करण श्रद्धा पूर्ण भावो से भरा हुआ होगा इसमे क्या आश्चर्य हो सकता है? इसमे ज्ञान और भक्तिका पूर्ण समन्वय दिखाई देता है। 'समाधि' प्रकरण मे ज्ञानेश्वर के वियोग का परम दुख करुण रस को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर नामदेव ने प्रकट कर दिया। अपना

आर्त हृदय ही मानों इस बहाने अभंगों में नामदेव ने अभिव्यक्त कर दिया है। ज्ञानदेव को समाधि लेते हुए प्रत्यक्ष नामदेव ने देखा था। अतः उनका वियोग नामदेव को असह्य होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद वे उत्तर भारत में सुदूर पंजाब में गये और भागवत धर्म का प्रचार बीस-पच्चीस साल तक करते रहे। पंजाब में वे घोमान नामक स्थान पर रहते थे। उनकी हिन्दी रचना तभी रची गयी होगी। श. पा. जोशी की 'पंजाबातील नामदेव' यह पुस्तक इस विषय में विशेष द्रष्टव्य है।

नामदेव की हिन्दी रचना या पद—

सिक्खों के ग्रन्थ साहब में 'भक्त नामदेवजी की मुखबानी' नाम से ६१ पद मिलते हैं। इधर विभिन्न स्थानों में पाई जाने वाली हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कुल हिन्दी पदों की संख्या २३२ हो जाती है तथा साखियों की संख्या १३ है। इन प्रतियों में पंढरपुर, काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा वाराणसी, घोमान, पटियाला और पूना विश्वविद्यालय की हस्तलिखित प्रतियाँ आती हैं। पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से अब नामदेव के हिन्दी पदों की पदावली और साखियाँ संपादित होकर प्रकाशित हो गयी है। एक पद देखिये[१] —

मन मेरे गजु जिव्हा मेरी काती। मपि-मपि काटऊ जमकी फांसी ॥
कहा करऊ जाती कहा करऊ पांती। राम को नाम जपऊँ दिन राती ॥
रांगनी रांगऊँ सीवनी सीवऊँ। रामनाम बिनु घरिअन जीवऊँ ॥
सुइने की सुई रुपे का धागा। नामे का चीतु हरि सउलागा ॥

'मन रूपी गज और जिह्वा रूपी कैंची की सहायता से यम का फंदा मैं काट रहा हूँ। मैं तो दिन-रात रामनाम जपता हूँ मुझे जाति-पाँति से क्या लेना देना है। कपड़े रँगना और कपड़े सीना मैं अपने हाथों से करता हूँ। परन्तु मेरा एक क्षण भी रामनाम के बिना नहीं बीतता है। मैं तो अपनी सूई को स्वर्ण की समझता हूँ और सूई के छेद से बाहर आने वाला डोरा चाँदी का है ऐसा मानता हूँ। मेरा सारा चित्त पूर्णतः भगवान् की ओर ही लगा है।' इन पदों में मराठी की छाप प्रत्यक्ष दिखाई देती है संबंध कारक का 'च' और भूतकाल का 'ल' प्रत्यय क्वचित् प्रयुक्त हुए हैं। नामदेव के मराठी काव्य में मिलने वाली सगुण-भक्ति हृदय की आर्तता, रूपक चातुर्य और दृष्टांत योजना उनकी हिन्दी रचनाओं में भी यत्र-तत्र मिलती है पर इसमें जो एक विशेष बात देखने को मिलती है वह है सन्तों की 'निर्गुण-शैली।' कबीर उनके गुरु रामानन्द, पीपा, रज्जब आदि ने आगे चलकर

१. पंजाबातील नामदेव पद ४—शं. पा. जोशी, पृ० ८४।

जिस शैली मे लिखा वह यही शैली थी । इस तरह नामदेव ही हिन्दी निर्गुण शैली के आदि कवि हैं । पजाब मे नामदेव के बहोरदास जाल्नो, लध्धा आदि प्रमुख शिष्य थे । राष्ट्रभाषा की आज की समस्या एक तरह से नामदेव ने अपनी कृति से उसी समय हल कर दी थी । माघ शुद्ध द्वितीया को घोमान मे (गुरदास पुर जिले मे) एक मेला लगता है । इस नामदेव स्मारक को 'गुरद्वारा बाबा नामदेव जी' कहते हैं । पजाब मे नामदेव सम्प्रदाय मे छीपा' बुनकर, दर्जी जाति के लोग अधिक मिलते हैं । भागवत धर्म की पताका इस तरह पढरपुर से पजाब तक नामदेव ने फहराई । यह एक बहुत बडा कार्य है । उन दिनों यातायात के साधन नही थे । मुसलमानो के आक्रमणो से और शासन से राजनीतिक और सामाजिक जीवन क्षत-विक्षत और जर्जर हो गया था । इसलिए नामदेव के इस महान कार्य का बडा महत्व है । नामदेव का सारा परिवार भक्त होने से सब ने अभग रचना की है । इन सब मे जनाबाई दासी के अभग विशेष प्रसिद्ध हैं । ऐसा कहा जाता है कि साक्षात भगवान् विठ्ठल जनाबाई की एक निष्ठा से प्रसन्न होकर उसके हर काम जैसे पीसना, कूटना आदि मे मदद किया करते थे । कम से कम इस भक्तिन का ऐसा विश्वास था यह तो हम अच्छी तरह कह सकते हैं । जनाबाई का एक अभग बानगी के रूप मे द्रष्टव्य है[1]—

> 'येई येई विठाबाई । माझे पंढरीचे आई ॥
> भीमा आणि चद्रभागा । तुझ्या चरणीच्या गगा ॥
> इतुक्या सहित त्वा बा यावे । माझे रगणी नाचावे ॥
> माझा रग तुझीया गुणीं म्हणे नामयाची जनी ॥'

काम काज करते-करते जनाबाई की विठ्ठलमय भक्ति की धुन लग जाती थी और सर्वत्र उसे विठ्ठलमय ही सब कुछ दिखाई देता था । और भी एक अभग देखिये[2]—

> 'झाड लोट करी जनी । केर भरी चक्रपाणी ॥
> पाटी सख्यास काढी । पुढे जाऊनि उखळ झाडी ॥
> सांडुनिया थोरपण । करी दळण कांडण ॥
> राना जाये शेणी साठी । वेचू लागे विठोबा पाठी ।
> जनी जाई पाणियासी । मागे धावे हृषीकेशी ॥

शब्द कितने सीधे-साधे, मन का कितना कोमल भाव, अन्त करण की कितनी

१. सकल संत गाथा—जनाबाई अभंग १६२३, पृ० २२० मा पा. बहिरट ।
२. ,, ,, १४७३, पृ० २०१ ,,

तथा ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से लिखे गये कई चरित्र उपलब्ध हैं। स्वयम् एकनाथ अपने चरित्र के बारे में कहते हैं'—

> मुळीच्या मुळीं एका जन्मला। मायबापें थोर धाक घेतला ॥१॥
> कैसे मूळ नक्षत्र आले कपाळा। स्वयें सागतो दोहींच्या निर्मूळा ॥२॥
> दोन्ही करिता अवघ्याचि झाली होळी। मुळी लागोनिया खाविली ह्याली ॥३॥
> एका जनार्दनी मूळीच्या गोठी। माय मरुट सगळा बापचि पोटी ॥

मूल नक्षत्र में एकनाथ पैदा हुये। तब उनके माँ-बाप को चिन्ता उत्पन्न हुई। यह मूल नक्षत्र मेरे भाग्य में क्या आया जैन सो दोनों का विनाश कर दिया। मूल माया के मूल को अर्थात् परब्रह्म को ही एकनाथ ने आत्मसात कर लिया और आत्मस्वरूप को पहचान लिया।

एकनाथ चरित्र व जीवनी—

सुप्रसिद्ध संत भानुदास के वंश में एकनाथ उत्पन्न हुए। कृष्णदेवराय के समय भानुदास जीवित थे। सन् १५३० से १५५२ तक कृष्णदेवराय का काल माना जाता है। विजयनगर के राजा ने पंढरपुर की विट्ठल मूर्ति अपनी राजधानी में ले जाकर रखी। पंढरपुर में विट्ठल दर्शन का सुख लूटने वालों के लिए यह बड़े संकट का समय था। इसी विकट वेला में भानुदास विट्ठल की मूर्ति को साहस पूर्वक पंढरपुर ले आये। मूर्ति चुराने का उन पर अभियोग लगाया गया पर वे ईश्वर कृपा से इस अभियोग से मुक्त हो गए। संत भानुदास के पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणि

स्वामी के उत्तर दायित्व मे एकनाथ को सौंप दिया। इस विषय मे श्रीकृष्णदास जगदानंदन अपने 'प्रतिष्ठान चरित्र' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार विवेचन करते हैं।[१]

'मग पाचारुनि येकनाथ। चक्रपाणि जाला सागत। म्हणे आमुच्या वशात। तू येकले येकला ॥२५॥ म्हणे आमुचे भरले पूर्ण दिवस। आम्हा जाणे निज धामास। आता तुझ्या सरक्षणास तुज कोणास निसावे ॥२६॥ तरी आहे ऐक विचार। आमदावती नाम नगर जेथे जनार्दन साधु थोर। अति उदार सुखदाता ॥२७॥ श्री दत्तात्रेय आदि पुरुष। तोचि चद्रशेखर प्रत्यक्ष। त्या चद्रशेखराचा नि.शेष। पूर्ण शिष्य जनार्दन ॥२८॥ ...। जनार्दनाचरण जामी। सर्व सुखाचे सार लाभसी। हे सत्य मानले आम्हासी निश्चयेसी निर्धार ॥३९॥'

'चक्रपाणि ने स्वयम् एकनाथ को बुलाकर कहा कि तुम हमारे वश मे केवल अकेले बचे हो। अब हमारे दिन पूरे हो गये हैं। अत यही चिंता है कि तुम्हारा उत्तरदायित्व अब हम किसे सौंप दें। अमदावती (अहमदनगर) मे जनार्दन स्वामी साधु पुरुष रहते हैं। वे अत्यन्त उदार हैं। आदि पुरुष दत्तात्रेय और प्रत्यक्ष भगवान् चद्रशेखर के पूर्ण रूप से शिष्य हैं। ऐसे जनार्दन पत की शरण जाने से सब सुखों का सार तुम्हें मिल जावेगा। ऐसा हमने निश्चय कर लिया है अत तुम जनार्दन स्वामी के पास शरण जाओ।'

अन्य चरित्रकार और डा० श गो. तुळपुळे के मत मे अपने पितामह की आज्ञा के बिना स्वयम् एकनाथ ही भागकर जनार्दन पत की शरण मे गये।[२] जो कुछ भी हो यहाँ पर प्रचलित दोनो मत दे दिये गये हैं। दक्षिण मे देवगिरी पर अल्लाउद्दीन खिलजी के द्वारा प्रथम चढाई हुई थी। उसके बाद मुसलमानी सत्ता का उदय और उत्कर्ष बहमनी राज्यकाल से दक्षिण मे आरम्भ हो जाता है। चौदहवी सदी से मुस्लिम शासन दक्षिण मे था, तथा हिन्दू जनता से ही कर्मचारी नियुक्त होते थे। अहमदनगर प्रमुख सूबे का स्थान था। प्रतिष्ठान भी एक महत्वपूर्ण स्थान था। एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी चालीस गाँव मे शक १४२६ के रक्ताक्षी नाम सवत्सर मे पैदा हुए। ये देवगिरी किले के एक प्रमुख कर्मचारी थे। अपना व्यवसाय सम्हालते हुए वे ईश्वर भक्ति मे लीन रहते थे और कहा जाता है कि वे बडे साक्षात्कारी पुरुष थे। दत्त के उपासक होने से दत्त की स्तुति करने वाले पद और अभग इन्होने रचे। दत्त भगवान् की उन पर पूर्ण कृपा थी। एकनाथ का उत्तरदायित्व उन्होंने सम्हाला। अपने गुरु द्वारा प्रदत्त पाठभी एकनाथ शीघ्र याद कर

१ अध्याय १—प्रतिष्ठान चरित्र (एकनाथ दर्शन भाग १), पृ० २५८।
२ पाच संत कवि—डा० शं. गो तुळपुळे, पृ० १६६।

'ग्रंथारंभ प्रतिष्ठानी । तेथ पंचाध्यायी संपादुनि ।
इतर ग्रंथाची करणी । आनंदवनी विस्तारली ॥'[1]

इस महाग्रन्थ का आरम्भ प्रतिष्ठान में ही हो गया था। प्रथम पाँच अध्याय यहीं पर लिखकर उन्होंने उसे वाराणसी में जाकर वहाँ पूरा किया। शक १४९२ से शक १४९५ तक उसका लेखन जारी था। इस ग्रन्थ को 'उद्धवगीता' भी कहा जाता है और भागवत धर्म का धर्म ग्रन्थ भी वह माना जाता है। इसमें काव्य और अध्यात्म, भागवत धर्म का विस्तारपूर्वक विवेचन, रूपकों की भरमार, भक्ति ही एकमात्र परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है इस सिद्धांत की प्रस्थापना उन्होंने की है। सब में भगवद्भाव देखते हुए भक्ति विरक्ति और ईशप्राप्ति को एकनाथ एक-रूप मानते हैं। कई कथाएँ, आख्यान, उपाख्यान, दृष्टांत आदि से भक्ति की महिमा बखानी है। इसमें कृष्ण-भक्ति, गुरु-भक्ति, भाषा-भक्ति और भागवत भक्ति के विवेचनों में कई स्थानों पर पुनरावृत्ति भी हुई है। पर अठारह हजार ओवियों के इस अतिप्रचंड ग्रन्थ में लौकिक जीवन में जो भाषा अपनाई जाती है उसी को अपनाकर सीधी-सादी शैली में कठिन पारमार्थिक सिद्धान्त संसारी जीवों को सरसता के साथ समझाते हैं। जनार्दन स्वामी भी उनकी इस कृति से परम सन्तुष्ट होकर उन्हें आनंद युक्त वाणी में यह आशीर्वाद देते हैं[2]—

'हे टीका तरी मराठी । परि ज्ञानदाने होईल लाठी ॥'

मराठी में टीका होने पर भी इसके ज्ञानदान से वह श्रेष्ठ मानी जावेगी।

इसी समय वे 'रुक्मिणी स्वयंवर' भी रच रहे थे। शक १४९३ में इसे उन्होंने रचा। इसी वाराणसी के वास्तव्य में हिन्दी के वरेण्य वैष्णव संत तुलसीदासजी के बारे में उन्होंने अवश्य सुना होगा। संभवतः वे उनसे मिले भी हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वैसे इन दोनों के ऐतिहासिक मिलन का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस विषय पर श्री जगमोहन चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'एकनाथ और तुलसीदास' यह ग्रन्थ द्रष्टव्य और उल्लेखनीय है। दोनों के चरित्र में अधिक साम्य है, दोनों में भावसाम्य है, दोनों का वाराणसी से सम्बन्ध था और दोनों ने रामकथा पर रचनाएँ की हैं। तुलसीदासजी एकनाथ से आयु में बड़े थे। दोनों ने जन-भाषा में ग्रन्थ रचना की है। एकनाथ के भागवत का प्रथम वाराणसी के मराठी भाषियों के द्वारा विरोध हुआ पर बाद में इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का काशी के कर्मठ विद्वानों के द्वारा स्वागत किया गया और इसे पालकी में रखकर उसका जुलूस

१ एकनाथी भागवत।
२. एकनाथ भागवत पर जनार्दन स्वामी का अभिप्राय।

निकाला गया था। वैसे स्मरणीय बात यह है कि काशी के कर्मठ विद्वानों को प्राकृत मराठी भाषा में रचना की यह बात आरम्भ में रुची नहीं थी।

एकनाथ की स्फुट अन्य रचनाएँ—

एकनाथ ने हस्तामलक, शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनन्द लहरी, गीतासार, चिरंजीव पद, गीता-महिमा आदि छोटी स्फुट रचनाएँ लिखी हैं। शंकराचार्य के चौदह श्लोकों से युक्त स्तोत्र पर ६७४ ओवियों में 'हस्तामलक' नाम की मराठी सरस टीका एकनाथ ने लिखी है। 'शुकाष्टक' में ४४७ ओवियों में शुकमुनि के अद्वैतावस्था में सम्प्राप्त आनन्दरूप स्थिति का वर्णन है। यह अद्वैतावस्था त्रैगुण्य और विधि-निषेध के परे रहती है। यही भावार्थ के द्वारा इसमें एकनाथ ने प्रकट किया है। 'स्वात्मसुख' ५१० ओवियों में गुरुस्तवन, अद्वैतभक्ति आदि विषयों का विवेचन करने वाली छोटी रचना है। 'आनन्द लहरी' में एकनाथ की अपनी स्वात्मानुभूति, एकनिष्ठ गुरु-भक्ति की महिमा आदि वर्णित है। 'चिरंजीव पद' में केवल ४२ ओवियों में देह-सुखों के प्रति उदासीनता बरतकर अनुताप युक्त वैराग्य से और मृत्यु का स्मरण रखकर परमार्थ-क्षेत्र में चिरंजीव पद की प्राप्ति कैसे की जाय इसे बतलाया है। अन्य दोनों रचनाएँ छोटे स्फुट प्रकरण हैं। रुक्मिणी-स्वयम्वर शक १४९३ में अपने वाराणसी निवास के समय में एकनाथ ने रचा, यह उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। यह एक खंड काव्य है। भागवत के दशम स्कंध के कुल १४४ श्लोकों पर आधारित १७१२ ओवियों में एकनाथ ने इसको अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से रचा है। एकनाथ की यह एक अमर कृति है। इसमें काव्य, अध्यात्मज्ञान और भक्ति, कल्पना और भावना, परमार्थ और प्रपंच ये सबके सब कृष्ण कथा के ताने-बाने में एकरूप हो गये हैं।[1]

अन्य कृतियाँ और अभंग—

सन्त एकनाथ के पद और अभंगों की गाथा प्रसिद्ध है। सङ्कीर्तन कर करते समय-समय पर इनकी रचना वे करते थे। निर्गुण का बोध और सगुण भक्ति दोनों की अनुभूति इन अभङ्गों में व्यक्त की गई है। कृष्ण की सगुण भ तो उनके हृदय में सदा विद्यमान रहा करती थी। बालक्रीडा के अभंग, ग्वा और अनेक वेदान्तपरक अध्यात्म के रूपकों को इन अभङ्गों का और पदों का विषय बनाया गया है। विपुल मात्रा में हिन्दी पदों की भी रचना एकनाथ ने है। उनके अभङ्गों का रस मूलतः भक्ति है, यों विषयानुसार शृङ्गार, अद्भुत

---

1 पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० २११, २१४, २१८,

वात्सल्य रसों में वे पद रचते हैं, पर सब में भक्ति रस प्रधान हो जाता है उनके अभङ्गों की प्रशंसा उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने भी की है। अपने अनुपम सौंदर्य सहित चंचल नेत्र मटकाती हुई, वायु के झोंकों से कर्ण कुंडल हिलाती हुई जाने वाली राधा का शब्द चित्र देखिये[1]—

> वारियाने कुण्डल हाले। डोळे मोडित राधा चाले ॥ध्रु०॥
> राधा पाहूनि भुलले हरि। बैल दुभे नंदा घरीं ॥
> हरि पाहूनि भुलली चित्ता। राधा घुसली डेरा रिता ॥
> मन मिळलेसे मना। एका भुलला जनार्दना ॥

'राधा के कर्ण कुंडल हवा के झोंके से हिलते हैं, सावले कन्हैया की ओर आँखें मटकती हुई चलती है। राधा के अनुपम सौन्दर्य को देखकर हरि लुब्ध हो गये हैं और नद के घर गाय के बदले बैल दुहने लगे हैं। राधा की भी यही अवस्था है। वह हरि को देखकर अपने चित्त में चकित हो गई है और परिणामत रिक्त मटुकी ही मथानी से मथ रही है। दोनो के मन परस्पर आकर्षित हो गये हैं। इसी तरह अपने गुरु जनार्दन के प्रति एकनाथ भी श्रद्धा से लुब्ध हैं।' इन अभङ्गो की शब्द योजना, कल्पना प्रवणता, भावना की आर्द्रता सभी अध्ययन करने योग्य हैं। एकनाथ के वाङ्मय का एक और प्रकार 'भारुड' नाम का है। 'भारुड' शब्द 'बहुरूढ' से बना है। अंग्रेजी में जिसे (Folk-Lore) कहा जाता है उसी तरह एकनाथ ने अपने तद्युगीन महाराष्ट्रीय सामाजिक जीवन से संबंधित लोकगीत ही इन भारुडों के माध्यम से रचे हैं। इनमे अद्भुतता के साथ प्रचलित सामाजिक रूढियो पर फब्तियाँ कसी गई हैं। व्यंग्यात्मक चुटकियाँ ली गई हैं। हिन्दी पदो मे 'हिन्दु-तुर्क संवाद', विशेष प्रसिद्ध है। इन सब मे वेदांत युक्त अध्यात्म के रूपकों का प्रयोग एकनाथ ने मुक्त हस्त से किया है।

श्री एकनाथ के बड़े लड़के हरि पंडित बहुत बड़े शास्त्री थे। श्री एकनाथ से उनकी न निभने के कारण वे उनसे रूठकर वाराणसी में जाकर रहने लगे थे। बाद मे श्री एकनाथ के समझाने बुझाने पर हरिपंडित वापस पैठण को लौट आये। एक वार वे दामोपंत नाम के एक और अपने समकालीन सत्पुरुष से मिलने गए और अपने साधुत्व और महत्व से उनके अहंकार को दूर कर आए। शक १५०६ में एकनाथ ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। ज्ञानेश्वर ने एकनाथ को स्वप्न में आदेश दिया। एकनाथ अपने एक अभंग मे उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

---

१. एकनाथ कृत पद—एकनाथ गाथा।

> थो ज्ञानदेवे येऊनि स्वप्नांत । सांगितलो मात मजलागी ॥
> दिव्य तेज पुंज मदनाचा पुतळा । परब्रह्म केवळ बोलतसे ॥
> अजानवृक्षाची मुळी कंठासी लागली । येऊनि आळंदी काढीं वेगी ॥
> ऐसे स्वप्न होता आलो अलंकापुरीं । तंवनदी माझारी देखिले द्वार ॥
> एका जनार्दनी पूर्व पुण्य फळलें । श्रीगुरु भेटले ज्ञानेश्वर ॥[1]

मुसलमानो के आक्रमणो मे आलदी का ज्ञानदेव का समाधिस्थान नष्ट हो गया था। इसका जीर्णोद्धार एकनाथ ने किया। स्वप्न में आकर तेज पुंज ज्ञानेश्वर ने उनसे कहा कि अजान वृक्ष की जडो ने उनके गले को जकड दिया है। अतः शीघ्र आकर मुझे उनसे मुक्त करो। वे आळंदी गए समाधि को देखा और उन जडो को साफ किया। गुरु जनार्दन स्वामी की कृपा के पुण्य फलस्वरूप श्री ज्ञानेश्वर गुरु से प्रत्यक्ष मुलाकात हो गई। ज्ञानेश्वरी के प्रचार मे एव अध्ययन मे पाये जाने वाले तद्युगीन मे अज्ञान जन्य और दुराग्रहमूलक सकटो का एकनाथ ने निराकरण किया। उसके अपपाठों को दूर कर उसका पाठानुसधान किया इसका वे यो निरूपण करते हैं।

> शके पंचराशते सत्तोत्तरी तारण नाम संवत्सरी ।
> येका जनार्दने अत्यादरीं । गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध केली ॥
> ग्रन्थ पूर्वीच अति शुद्ध । परिपाठांतरे शुद्धाबद्ध ।
> ते शोधुनि एवंविध । प्रति शुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी ॥[2]

'शक १५०६ मे, तारण नाम के संवत्सर मे जनार्दन स्वामी के एकनाथ ने अत्यन्त आदरपूर्वक गीता-ज्ञानेश्वरी की प्रति को शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया। वैसे अपने से ग्रन्थ शुद्ध था। पर अनेक पाठ भेदों ने उसके मूल स्वरूप को विकृत कर दिया था। अत उनका अनुशीलन कर पुन ज्ञानेश्वरी का पाठानुसधानयुक्त सपादन कर उसे शुद्ध रूप मे सिद्ध किया है।' इस तरह एकनाथ को हम मराठी के प्रथम पाठानुसधायक और सपादक मान सकते हैं। उनके इस कार्य के बाद ज्ञानेश्वरी मे जो मराठी मे अपनी ओवी क्षेपक रूप मे मिला देने का कार्य करेगा वह अमृत से भरी थाली मे फूटा टीकरा रखने जैसा कार्य करेगा ऐसी चेतावनी भी एकनाथ ने दे रखी है।

भावार्थ रामायण एकनाथ की अन्तिम कृति—

अपनी तद्युगीन राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक परिस्थिति से उत्पन्न

---

१. एकनाथ गाथा—अभंग ३५२४, पृ० ३३७।

२ ज्ञानेश्वरी श. वा. दांडेकर कृत—एकनाथकृत ओवियाँ, पृ० ८२६।

दुर्दशा को देखकर और तुलसीदास की रामोपासना से प्रेरित होकर आदर्श रामराज्य की कल्पना से भावार्थ रामायण का एकनाथ ने प्रणयन किया। इस सप्तकाण्डात्मक रामायण के प्रथम पाच काड और छठवे काड के प्रथम ४४ अध्याय एकनाथ पूरा कर सके और उसको पूरा करने का कार्य अपने शिष्य गावबा पर छोड़कर वे स्वर्ग सिधारे। पूरी पुस्तक के २९७ अध्यायों में से १७२ नाथ रचित और अन्त के १२५ अध्याय गावबा के रचित हैं। गावबा ने अपना नाम कहीं भी नहीं दिया है। अन्त तक 'एका जनार्दन' यही छाप और शैली रखी है। भावार्थ रामायण में गृह, ससार, लौकिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का सूक्ष्म और यथातथ्य वर्णन मिलता है। इस रामायण के लिये वाल्मीकि, अध्यात्म, क्रौंच, शिव-रामायण से तथा वासिष्ठ योग तथा कालिकाखण्ड आदि से एकनाथ ने आधार लिये हैं। यहाँ पर भी उनकी ज्ञान, भक्ति और वेदान्तपरक आध्यात्मिकता की दृष्टि बराबर बनी हुई है। तत्कालीन अत्याचारी शासन नष्ट होकर रामराज्य की स्थापना हो जाय, स्वधर्म प्रतिष्ठित हो जाय इसकी चिन्ता एकनाथ को इस ग्रन्थ में लगी दिखाई देती है। यह उनका ओजस्वी महाकाव्य है। एकनाथ की समाजोन्मुखता अद्वितीय और अपूर्व है। भागवत के धर्म मन्दिर को दृढ लोकाभिमुखता का एव लोकजागृति का स्तंभ एकनाथ ने दिया था यह बात विचार सत्य है। एकनाथ स्वयम् गृहस्थाश्रमी जीव थे। अपने आचरण से शूद्रादि को भी उनका प्रेम प्राप्त हुआ था। वे उनके यहाँ भोजन तक कर आये थे। रामेश्वर को अर्पण करने वे गगाजल ले जा रहे थे। पर राह में एक तृषार्त गधे को देखकर वह गगाजल उसे प्राशन करा दिया। उनमें समत्व बुद्धि थी। वे परम कारुणिक थे। एक यवन के बार-बार उन पर थूकने पर भी उन्होंने अपनी शांति कायम रखी और बार-बार स्नान करते रहे। इस घटना से उनकी सहिष्णुता और समतानता दिखाई देती है। वे सचमुच लोकोत्तर पुरुष थे। एकनाथ ने अपनी लेखनी से रसयुक्त, प्रसादयुक्त, कवित्व से स्फुरित सद्भाव से आर्द्र और प्राजळ भाषा में अध्यात्मिक विवेचन अपनी समस्त कृतियों में प्रस्तुत कर दिया है। ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग एकनाथ ने अपने तद्युगीन समाज के सामने आचरण, अनुभूति और अभिव्यक्ति से महाराष्ट्रीय जनता को दिखाया। शक १५२१ में फाल्गुन वदी षष्ठी को पैठण में अपना जीवित कार्य एकनाथ ने समाप्त किया। अपने गुरु के वे सचमुच पात्रतम शिष्य थे।

तुकाराम :

स्व० पु० म० लाड के मतानुसार तुकाराम किसी ऊसर एवम् बजर जमीन में खाद देकर उत्पन्न किये गये अनाज की तरह नहीं उत्पन्न हुए, वरन् अनेक

अनेक पीढ़ियों से उपजाऊ जमीन में बोये गये हरि भक्ति के पुण्य बीज से अंकुरित सरस मधुर वृक्ष के रसीले पक्व फल की तरह उत्पन्न हुए हैं।[1] इनके पूर्वज विश्वभर ने भगवान् से विट्ठल भक्ति को वंशपरंपरागत वरदान के रूप में माँग लिया था। विठ्ठल ने ही उनको देहू में बसाया। तुकाराम मोरे कुल के आंबले उपनाम वाले बनिया (कुणबी) थे। वे देहू के महाजन थे। तुकाराम अपनी हीनता के बारे में बतलाते हैं[2]—

'बरा कुणबी केलो। नाही तरि दंभेचि असतो मेलो।'

और

आळस न करी या लाभाचा। तुका विनवि कुणबियाचा॥'

अच्छा हुआ मैं कुनबी जाति में उत्पन्न हुआ अन्यथा व्यर्थ अभिमान और झूठे दंभ से ही मर जाता। अतएव यह जो लाभ हुआ इसमें बिना आलस्य के अपना भला कर लेना चाहिए ऐसा विनम्रतापूर्वक तुकाराम बनियेका निवेदन है। पंढरी की यात्रा इनके कुल में पुश्तैनी रूप में थी। इनके पिता का नाम बोल्होबा और माता का नाम कनकाई था। शक १५२० अर्थात् सन् १५९८ में तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम के दो भाई सावजी और कान्होबा नाम के थे। सावजी बचपन से ही विरक्त थे। शंकर की कृपा से ये जन्मे थे। तुकाराम की दो शादियाँ हुई थी। प्रथम पत्नी का नाम रखमाई था जो दमा और तपेदिक से नित्य बीमार रहती थी। दूसरी पत्नी पुणे के धनवान साहूकार आप्पाजी गुळवे की लड़की अवली उपाख्य जिजाबाई थी। तुकाराम का दूसरा विवाह अपनी तेरहवीं वर्ष की आयु में हुआ। बचपन बड़े सुख से बीता। सुखोपभोग की सारी सामग्री और अनन्त सम्पदा उनके पास में थी। महिपती अपने भक्ति-विजय में कहते हैं[3]—

माता-पिता बंधु सज्जन। घरी उदण्ड धन्य।
शरीरी आरोग्य लोकात मान। एक हि उणे असेना॥

दुखों का आक्रमण—

सत्रह वर्ष की उम्र में माँ-बाप चल बसे। बड़े भाई की स्त्री मर गई। इसी दुख से विरक्त होकर सावजी तीर्थाटन करने के लिये घर छोड़कर निकल गए। तुकाराम अपनी दो स्त्रियों के साथ सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। पर अब धीरे-धीरे वह सुख नष्ट होने लगा। अकाल पड़ने से व्यवसाय में घाटा होने लगा

१. तुकाराम चरित्र पूर्वार्ध—पु म लाड, पृ० १।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ३२०, पृ० ५३।
३ भक्तिविजय—महिपती।

और प्रतिष्ठा नष्ट होने लगी। अन्त में दिवाला निकल गया। दुष्ट और नीच साहूकारों ने काल की तरह घेर लिया। इसी अकाल में उनकी प्रथम पत्नी अन्न-अन्न कहते हुए ही मर गई। अनाज बहुत महंगा हो गया। इस तरह वे सब तरह से धन विहीन हो गये। उनको निराशा ने पूरी तरह से व्याप लिया। इसी में उनका बेटा सन्तू भी चल बसा और गाय बैल भी मर गए। वे अपनी इस विपन्नावस्था से पूर्ण विरक्त और उद्विग्न हो गये।

> 'प्रिया पुत्र बंधु। यांचा तोडिला सम्बन्धु।
> सहज जालो मंदू। भाग्यहीन करंटा।
> तोंडूनं दाखवे जनीं। शिरे सांदी, भरेरानां।
> एकांत तो जाणा तया साठीं लागला॥'[1]

प्रिया, पुत्र और बधु का चिर विछोह हो जाने से मैं मंदभाग्य और रंक बन गया हूँ। लोगों को अपना काला मुह नहीं दिखा सकता इसलिये जंगल में कहीं किसी कोने में छिपकर एकान्त में बैठा रहता हूँ। नियति के क्रूर प्रहारों ने उन्हें ऐसा फल चखाया कि व्यवसाय और गृहस्थी ने ही उनका परित्याग कर दिया। तुकाराम इनको दुखमय मानने लगे। दूसरी पत्नी धनवान की बेटी थी। परिस्थिति जब तक अच्छी रही तब तक वह प्रसन्न थी। परन्तु ऐसे सकट कालीन प्रसंग तथा अवस्था में वह उनको टोकने लगी। ससार के प्रति वे पूर्ण उदासीन बन गए। अविद्या की रात्रि नष्ट होकर भक्ति के अकुर उनके अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हुए। माया मोह के पाश-आसक्ति के बंधन जनमुनकर नष्ट हो गये। भक्तों की बड़ी कठिन परीक्षा होती है। इस विषय पर तुकारामोक्ति प्रसिद्ध है—

> देव भक्तालागीं करू नेदी ससार। अङ्गी वारावार करोनिया॥
> भाग्य घ्यावे तरी भंगी मरे ताटा। म्हणोनि करंटा करोनि ठेवी॥
> स्त्री घ्यावी गुणवंती तरी गुंते आशा। या लागीं कर्कशा पाठी लागी।
> तुका म्हणे मज प्रचित आली। देखा आणिक या लोकां काय सांगों॥[2]

'भगवान् भक्तों को गृहस्थी भी चलाने नहीं देता। अहकार पूर्ण होकर सौभाग्यशाली बनने की अपेक्षा निरहकारी बन दरिद्री बनना अच्छा है। गुणवती स्त्री के रहने पर उसी में आसक्ति बढ़ जाती है। शायद इसीलिये मेरी स्त्री कर्कशा याने झगड़ालू प्रवृत्ति की है। हे भगवान् मुझे इसका पूरा अनुभव आया है और इन लोगों को मैं क्या कहूँ?' इस तरह पूर्ण रूप से परमार्थी बन गए। विट्ठल भक्तिको

---

१. भक्ति विजय—महिपती।

२. तुकाराम अभङ्ग गाथा—अभङ्ग ३०२१, पृ० ५११।

थे अपनी बपौती मानते हैं। वे भामनाथ नाम के देहू के पास की पहाडी पर या पास के ही भंडारा नाम की पहाडी पर एकान्त मे तपस्या साधन करने लगे। अपने गाँव के एक टूटे हुए जीर्ण विठ्ठल मन्दिर का गाँव के चार लोगो की सहायता से उन्होंने जीर्णोद्धार किया। उस मन्दिर मे दिनरात नामस्मरण, सङ्कीर्तन, भजन अभग रचना करते हुए उसी मे मग्न रहने लगे। एकनाथी भागवत को सहस्रवार पढ़कर उसका पुनः पुन पारायण करते रहे। नामदेव के अभङ्गों को पढा। अन्य साधु सन्तो के ग्रन्थो को भी पढते रहे। परिणामतः उन्हे पर-द्रव्य और परनारी विषवत् लगने लगे। अपने व्यावसायिक सारे कागजों को इन्द्रायणी में डुबोकर वे पूर्णतः निस्सग बनने की साधना करने लगे। रोज प्रातःकाल उठकर भगवद्-साधना मे लीन रहना उनका ध्येय बन गया। अध्ययन, मनन, चिंतन यही जीवन क्रम-सा बन गया।

पारमार्थिक पात्रता प्राप्त करने की साधना—

अपनी अनवरत साधना मे कही निद्रा न आजाय इसलिए वे अपनी चोटी को रस्सी से बाँधकर खूँटी मे टागते जिससे झपकी आजाने पर निद्रा भग हो जाती और वे एकाग्रता मे मनन, चिंतन, निदिध्यासन करने मे रत रहा करते। बुद्धि कुशाग्र और स्मरण शक्ति तीव्र होने से ग्रन्थों के अध्ययन ने उन्हें पूर्ण विद्वान बना दिया। सत-समागम भी बढता गया। सभी सगे सबधियो ने उनका द्वेष करना आरम्भ कर दिया फिर भी वे अपना कार्य करते ही रहे। एकान्तवास मे उनका मन रमने लगा। अरण्य के पेड, लताएँ, पशुपक्षी उनके लिये सगे कुटुम्बी जनो की तरह भासित होने लगे [1]

'हमारे लिये वृक्ष-लताएँ और वनचर ये हमारे सगे-हितू हैं। सुस्वर ध्वनि मे पक्षी गाते हैं। इसलिये एकान्त सेवन बडा अच्छा लगता है। कोई गुण अथवा दोष भी शरीर से नही चिपकते। देह की शोभा के लिए कथा कमडल आदि की आवश्यकता हवा से ही परिपूर्ण हो जाती है। हरिकथा विस्तारपूर्वक करना यही भोजन बन गया है। इसके विविध प्रकार ढूँढ-ढूँढकर रुचि सहित हरिकथा सेवन करना उचित है। यहाँ रहकर अपने मन से ही सवाद किया जा सकता है और चर्चा और प्रतिवाद भी अपने आप से ही सभव है।' इस तरह तुकाराम का मन विठ्ठल-चरण मे मग्न हो गया। पत्नी जिजाबाई उनसे सदा झगडती-गालियाँ, देती, परन्तु फिर भी उनका ध्यान रखती। जगल मे अपनी एकान्त साधना में अपनी साधना मे मग्न इस साधक को ढूँढ-ढूँढकर खाना खिलाती, इधर तुकाराम

१. तुकाराम अभङ्ग गाथा, पृ० ४२२-अभङ्ग २४८१।

दानी बनकर अपना घर लुटवाते। एक बार तो स्नान करने बैठी हुई अपनी पत्नी का वस्त्र भी एक गरीब महारिन को उठाकर दे दिया। उनकी इस दान-शूरता और निर्लज्जता पर वह तुकाराम को बहुत कोसती। इस तरह तुकाराम का घरेलू जीवन था। एकबार स्वप्न में नामदेव ने आकर अपने शतकोटी अभङ्ग रचने के अधूरे कार्य को पूरा करने का आदेश दिया। नामदेव की तरह विठ्ठल ने भी उनको स्वप्न में यही आदेश दिया।

कवित्त स्फुरण और गुरु कृपा—

नामदेव का स्वप्न में आदेश वे अपने एक अभङ्ग में वर्णन करते हैं[1]—

नामदेवे केले स्वप्नामाजि जागे। सवे पांडुरंगे येऊनिया ॥१॥
सांगितले काम करावे कवित्व। वाऊगे निमित्त बोलो नको ॥
माप टाकी सळ धरिली विठ्ठले। थापटोनि केले सावधान ॥२॥
प्रमाणाची संख्या सांगे शत कोटी। उरले शेवटी लावी तुका ॥

'नामदेव पांडुरंग सहित स्वप्न में आये और आदेश दिया कि तुम कविता करो। किसी तरह की कोई अड़चन इस कार्य से उसे न करने के लिये मत दिखाना। मुझे अपने हाथ से स्पर्श कर विठ्ठल ने सावधान किया और आदेश दिया कि तुम नामदेव के शतकोटि अभङ्ग रचने के बचे हुये कार्य को पूरा कर डालो। मैं स्वयम् विठ्ठल अभिमानपूर्वक तुम्हें आदेश दे रहा हूँ। अत इस कार्य को कर डालो।' परिणामत उनमें कवित्त का स्फुरण हुआ और वे अभङ्ग रचना में लग गये। इसी तरह फक्कड़ और निरीह बनकर वे पहुँचे हुये सत-महात्मा बन गये। अपने मन से भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुये एक दिन अचानक उन पर गुरु कृपा हुई।

'सदगुरु रायें कृपा मज केली। परी नाहीं घडली सेवा काहीं ॥
सापडविले वाटे जाता गंगास्नाना। मस्तकी तो जाणा ठेविला कर ॥
भोजना मागती तूप पावशेर। पडिला विसर स्वप्नामाजीं ॥
काहीं कळे उपजला अन्तराय। म्हणोनियां काय त्वरा जाली ॥
जाणल्या नेणत्या ज्या जैसी आवडी। उतार सागडी सापे पैटो ॥
तुका म्हणे मज दाविलेला ताद। कृपेचा सागर पांडुरंग ॥[2]

सदगुरु बाबाजी चैतन्य ने मुझ पर कृपा की परन्तु कोई सेवा मुझसे नहीं ली। गंगास्नान अर्थात् इन्द्रायणी स्नानार्थ जाते हुये सदगुरु ने उनके मस्तक पर

१. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग १३२०, पृ० २३१।
२ तुकाराम अभग गाथा—अभंग ३६८–३६९, पृ० ६०।

वरदहस्त रखा और अपनी गुरु परम्परा बतलाई। राघव चैतन्य, केशव चैतन्य और बाबाजी चैतन्य की परम्परा में बाबाजी चैतन्य ही उनके गुरु थे। उपासना के लिए तुकाराम को उन्होंने 'रामकृष्ण हरि' यह मंत्र दिया। यह घटना माघ शुद्ध दशमी, गुरुवार के दिन घटी। तुकाराम कहते हैं मेरे मन के भाव को ठीक तरह जानकर मेरी रुचि और चाव का सरल मंत्र मुझे उपदेश के रूप में दिया। अतएव साधना में किसी तरह का व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ। भवसागर के उसपार जाने के लिये यह नाम रूपी नौका मिल जाने से मैं कृतकृत्य हो गया। स्वप्न में सद्गुरु ने भोजनार्थ एक पाव घी माँगा था परन्तु तुकाराम को इसका विस्मय हुआ। इसीलिए उनको ऐसा लगा कि गुरु-सेवा में गलती हो जाने से वे शीघ्र ही अन्तर्धान हो गए। यह गुरूपदेश शक १५४१ में हुआ।[1]

इसके बाद कीर्तन रंग में तुकाराम के मुख से अभंग-काव्यगंगा अबाध गति से प्रवाहित होने लगी। उनका यह काव्योत्कर्ष रामेश्वर भट्ट नाम के एक ब्राह्मण को सहन नहीं हुआ। वह तथा अन्य लोग उनका द्वेष करने लगे। कुनबी जाति का एक व्यक्ति महान् आदर्श बनकर कवित्व करता है यह देखकर वे उनके कार्य को पाखंड समझने लगे। उनका गाँव में रहना भी मुश्किल कर दिया। तुकाराम कहने लगे[2]—

काय ध्यावे आतां ? कोणीकडे जावें ? गावांत रहावें कोण्याबळें ?
कोपला पाटिल गांविचे हे लोक थातां घालो भीक कोण मज ?

अब मैं क्या खाऊँ और कहाँ जाऊँ और गाँव में किस के बल पर या आधार पर खड़ा रहूँ ? गाँव का पाटिल नाराज है और ये अन्य ग्रामवासी लोग और उनका यह व्यवहार ! अब मुझे भीख भी कौन देगा ? लोगों का संपर्क न उत्पन्न हो तथा कोई लांछन न लगे और वे खुश रहें इसी आत्मसहिष्णु वृत्ति से उनकी ही इच्छानुसार अपनी अभंग की पोथियाँ इन्द्रायणी में डुबो दीं। पहले व्यावहारिक दृष्टि से अपनी पोथड़ियाँ डुबा दी थी अब पारमार्थिक साधन की पोथियाँ भी गँवानी पड़ी। लोग भी कहने लगे बेचारे पूरे लुट गये। तेरह दिन प्रायोपवेशन करते रहे। न अन्न ग्रहण किया न जल। एक शिला पर ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। अन्त में अभंग की पोथियाँ फूलकर ऊपर आ गईं। अब उन्हें सगुण साकार का दर्शन हो गया। रामेश्वर भट्ट और अन्य विरोधक मंबाजी जैसे भी उनके शिष्य बनकर नाम संकीर्तन में झांझ बजाने वालों में स्वयम् सहकार्य देने लगे। अब वे निश्चित होकर गाने लगे।

---

१ पाँच संत कवि—डा० शं गो तुळपुळे, पृ० ३०० ।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ६७६, ३८८१, पृ० ११० ।

गाईन तुझे नाम । ध्याईन तुझे नाम । आणिक न करीं काम जिव्हा मुखें ।
पाहिन तुझे पाये देवीन तेथे डोये । पृथक ते काय । न करी वाणी ।
तुझे चि गुण वाद । आई के न कानीं । आणि कायी वाणी । पुरे आतां ।
करीन सेवा करी । चालेन थाईं । आणिक नव जेठाई तुजवीण ।
तुका म्हणे जीव । टेविला तुझ्या पाईं । आणिक तो काई । देऊं रवणा ।[1]

मैं तेरा नाम गाऊँगा । तेरे नाम का ध्यान करूँगा और कोई भी कार्य नहीं करूँगा । तुम्हारे चरण देखकर उन पर अपने मस्तक को झुका दूंगा । जीभ और मुख तेरा नाम लेने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करेंगे । कानो से तेरा गुणानुवाद ही मात्र सुनूंगा और कोई शब्द नहीं सुन सकता । हाथों से तेरी सेवा करूँगा । अपने पैरों से चलकर तेरे पास ही आऊँगा । मैंने अपने प्राण तुझे सौंप दिये हैं, अब अन्य किसी की शरण नहीं जा सकता ।

अनेक लोग उनके कीर्तन में आने लगे । कीर्तन के लिये केवल वीणा तथा मजीरे का एक जोड़ इतनी सामग्री पर्याप्त थी । पंढरपुर का माहात्म्य तुकाराम के अभंग संकीर्तन से पत्थर में भी निर्झर बहने लग जाय ऐसी भक्ति की धूम-धाम मचा देना यही उनका ध्येय बन गया । वे कहते हैं कि यह भगवान् भाविकों के हाथ की चीज है । इसकी प्राप्ति चित्त में चैतन्य की रङ्ग लेने के बिना नहीं हो सकती । मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि हरिकथा गाने से सर्वथा सब का उद्धार हो जावेगा । उनका कहना है[2]—

नाम संकीर्तन साधन पैं सोपें । जळतील पापें जन्मांतरें ।
न लगे सायास जावे वनांतरा । सुखे येतो घरा नारायण ॥
रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशवा । मंत्र हा जपावा सर्वकाळ ॥

'नाम संकीर्तन यह बहुत सरल और सुलभ साधन है । इस साधन से जन्म जन्मांतर के पाप नष्ट हो जायेंगे । इसलिये आरम्भ से ही दत्तचित होकर उस अनंत को मनाना चाहिये । उसके लिये कहीं भी जंगल में जाने की कतई आवश्यकता नहीं है । बड़े चाव से रामकृष्ण हरि-विठ्ठल-केशव यह नाममंत्र सर्वदा जपना चाहिये । ऐसा अन्य कोई सुलभ साधन नहीं है यह मैं विठोबा की शपथ लेकर कहता हूँ ।

तुकाराम और रामदास तथा शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध—

तुकाराम और रामदास के जन्मकाल में दस वर्षों का अन्तर है । पर इनमें वे

---

१. तुकाराम अभंग—तुकारामची समग्र गाथा ।

२. तुकाराम अभंग—अभङ्ग २४५८, पृ० ४१८ ।

दोनों आपस मे मिले ही नही ऐसा नही कहा जा सकता। तुकाराम और शिवाजी की भेंट हुई थी और उसके ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। रामदास तुकाराम भेंट का हनुमत स्वामी कृत रामदास की सबर, आत्मारामकृत दास विश्राम धाम, और उद्धव सुत कृत 'समर्थ चरित्र' इन तीनों ग्रन्थों मे उल्लेख मिलता है। डा० श गो तुळपुळे के मतानुसार यह भेंट शक १५७१ मे पढरपुर मे हुई होगी।[१] इस भेंट के समय दोनो ने दो अभग रचे थे जो इस प्रकार हैं[२]—

(१) कधि वा रिकामा होसी। कधि संतापासी जाशी ॥
काधी नाम वाचे स्मरसो। काधी सद्गुरुते वदिसी ॥
ऐसे म्हणता जन्म गेला। माझे माझे म्हणता मेला ॥
रामी भजावे भजावे। रामदासीं रामचि व्हावे ॥
—रामदास।

(२) जधि मी निवारी कामा। तधि होईन वा रिकामा ॥
जाऊं म्हणतो संतापासीं। पोरे आणिती संतापासी ॥
कथा ऐकूं जरि भवतारणी। जाऊं नेदी बाइल तरणी।
जालो शास्त्री वैय्याकरणी। बोला सारखी नाही करणी ॥
विठ्ठल भजन न ये कदापि। करिता खळ जन येकदापी।
तुका म्हणे ऐसा नरा। न चुकती येरझारा ॥
—तुकाराम।

ऐसा लगता है कि जब ये दोनो सत आपस मे मिले तब किसी ससारी गृहस्थ से रामदास ने कुछ प्रश्न पूछे तब उस गृहस्थ की ओर से तुकाराम ने उत्तर दिये हैं। 'बताओ कि तुम कब रिक्त रहते हो? कब क्रोध छोडते हो? और कब मुख से नाम-स्मरण करते हो, और कब सद्गुरु की शरण जाते हो? मतलब यह कि कुछ भी ठीक से नही कर पाते हो। सारा जन्म 'यह मेरा है', यह मेरा है' यही कहते हुए बीत गया और एक दिन इसी तरह मर जाओगे। अत रामदास कहते हैं कि भक्त बनने के लिये नित्य राम को भजना चाहिए और राम होकर राम का भजन करना चाहिये। इस पर तुकाराम ने कहा कि इसका उत्तर इस प्रकार है—'जब मैं अपनी काम वासना का निवारण कर लूंगा तब रिक्त हो जाऊंगा। क्रोध को भगाने की चेष्टा करता हूं तब लडके क्रोध करने पर मजबूर करते हैं। यदि मैं भवसागर से तारने वाली हरिकथा सुनने लगता हूं तो मेरी युवा पत्नी इस कार्य मे भाग लेने से रोकती है। यदि शास्त्री और वैय्याकरणी पडित बनता हू, तो

१ पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३१३।
२. भारत इतिहास संशोधक मंडळ वार्षिक इतिवृत्त शक १८३५।

उक्ति की तरह मेरी वृत्ति नहीं बन पाती है। इस तरह खलजनों के बीच रहकर विठ्ठल-भजन कदापि नहीं हो सकता। तुकाराम कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिये जन्म-मरण का चक्र अनिवार्य है।'

तुकाराम और शिवाजी की भेंट तुकाराम-रामदास भेंट के पूर्व हुई होगी। प्रथम भेट पुनवडी मे कीर्तन के अवसर पर हुई थी। तुकाराम कीर्तन कर रहे थे और शिवाजी उसमें उपस्थित थे। तभी मुसलमानो का आक्रमण हुआ तब अभङ्गों की पुकार सुनकर भगवान् ने शिवाजी का रूप धारण कर परस्पर उसका निवारण कर दिया। जनपरम्परा और प्रचलित विश्वास इस बात को स्वीकार करते हैं। शिवाकालीन पत्र व्यवहार से यह प्रतीत होता है कि प्रथम भेंट शक १५६७ से शक १५७१ के बीच कभी हुई होगी। इसके बाद शिवाजी ने तुकाराम को सम्मान-पूर्वक बुला भेजा। तब जो अभगात्मक उत्तर उन्होंने शिवाजी को भेजा वह बहुत प्रसिद्ध है। उस पत्र मे शिवाजी को वे 'गुरुभक्त', 'चातुर्य सागर', 'सर्वज्ञ राजा' आदि विशेषणों से भूषित करते हैं। यह मुलाकात तुकाराम के जीवन के अन्तिम काल मे ही हुई होगी ऐसा अनुमान है। इसका आधार यह अभङ्ग है—

'प्रेमीनिया भेटी कोएा हा सन्तोष। आयुष्याचे दिस गेले गेले'[1]

इस प्रसग के समय शिवाजी की आयु १६ और तुकाराम की आयु ४१ थी। तुकाराम को काव्य स्फूर्ति शक १५४६ मे हुई थी। अत अनुमान मे कहा जा सकता है कि इनकी काव्य-गङ्गा अबाध गति मे २५ वर्षों तक बहती रही। तुकाराम के अभगो की सख्या पाँच हजार है क्यो कि इतने अभग उपलब्ध हैं। वैसे पाँच कोटी एक लक्ष, चौदह सहस्र अभग उन्होंने रचे ऐसा बतलाया जाता है। सभवत- अन्य कवियो की तरह इनको भी रचना काल के उदर मे समा गई हों। नये अनुशीलन मे तुकाराम कृत भानुदास-चरित्र, और सुदाम चरित्र, मिले हैं।[2] तुकाराम के अभङ्गों की गाथा महाराष्ट्र सरकार ने प्रसिद्ध की है। अभङ्गो मे आरम्भ मे बालक्रीडापरक अभङ्ग हैं। अन्य अभङ्गो मे उनकी अपनी आत्मानुभूति और स्वसवेद्य अनुभवों की अभिव्यजना है। ये गीती-काव्य के अन्तर्गत रखे जायेंगे। कुछ अभङ्ग विशिष्ट प्रसङ्गों और घटनाओ पर आधारित हैं। समाज का उद्धार, सदाचार की स्थापना, भगवद् भक्ति की प्रतिष्ठा इन अभङ्गो का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषद एकनाथ, ज्ञानेश्वर और नामदेव की कृतियो की छाया तुकाराम के अभगों मे दिखाई देती है।

---

१. तुकाराम—डा० रा. न हर्षे, पृ० ६७।

२ भारत इतिहास मडल त्रैमासिक वर्ष २३ अङ्क ४, सपादक रा म आठवे, दा. के. ओक।

तुकाराम कृत श्रीमद् भगवद् गीता का अभगात्मक अनुवाद 'मत्र-गीता' के नाम से श्री वा सी. बेन्द्रे ने अनुसधानकर प्रकाशित करवाया है। विद्वानो ने निर्णयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष सकेत रूप मे नहीं दिया है। तुकाराम के साथियो पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक भी बेन्द्रेजी ने 'तुकारामाचे सत सागाती' प्रसिद्ध की है। 'तुकारामाची गुरु परम्परा' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। तुकाराम के अध्ययनार्थ बेन्द्रे जी की पुस्तकें दृष्टव्य हैं। अभङ्ग गाथा में तुकाराम रचित हिन्दी अभङ्ग और पद भी मिलते हैं। तुकाराम के भाई कान्होबा के अभङ्ग भी मिलते हैं।

तुकाराम-शिष्या-बहिणाबाई—

बहिणाबाई द्वारा रचित आत्मचरित्र के ५३ और निर्माण के ८८ अभग मिलते हैं। कुल चार सौ और अभग भक्ति भावना के भी मिलते हैं। ये अपने पिछले बारह जन्मो का ब्योरेवार विवरण भी देती हैं। तुकाराम के बारे मे बहिणाबाई का यह अभग विशेष प्रसिद्ध है[1]—

सत कृपा भाली। इमारत फळा आली॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। उभारिले देवालया॥
नामा तयाचा किंकर। तेऐ केला हा विस्तार॥
जनार्दन एकनाथ। खाब दिला भागवत॥
तुका झालासे कळस। भजन करा सावकाश॥
बहेणी फडकती ध्वजा। निरूपण केले बोजा॥

'वारकरी सन्त सम्प्रदाय अर्थात् भागवत धर्म की इमारत सन्त कृपा से बनकर तैयार हुई ज्ञानदेव ने इसकी नींव डाली और देवालय बना। उसका किंकर नामदेव बना जिसने भागवत धर्म का प्रसार किया। जनार्दन के एकनाथ ने उसे सुदृढ स्तम्भ देकर प्रतिष्ठित किया और उसका कलश तुकाराम बन गये। उस पर फहराने वाली ध्वजा की तरह बहिणाबाई है जिसने यह निरूपण किया है।' बहिणाबाई को तुकाराम ने स्वप्न में गुरूपदेश दिया था। अपने जीवन के उत्तर-काल मे वे समर्थ रामदास के आश्रम मे थी।

तुकाराम का व्यक्तित्व उनके अभगो मे मूर्तिमान हो उठा है। बिना किसी माध्यम के प्रासादिक वाणी मे अपनी प्राजल अनुभूतियाँ वे जब कहने लगते हैं, तो वे सबके हृदय मे समाविष्ट हो जाती हैं। अगूठी मे जडे हुए नग की तरह उनके शब्द उनकी रचना मे अपनी चमक-दमक दिखाया करते हैं। कबीर की तरह

१. सकल संत गाथा—अभङ्ग ३८२१, बहिणाबाई, पृ० ५४७।

उक्ति की तरह मेरी वृत्ति नहीं बन पाती है। इस तरह सज्जनों के बीच रहकर विट्ठल-भजन कदापि नहीं हो सकता। तुकाराम कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिये जन्म-मरण का चक्र अनिवार्य है।'

तुकाराम और शिवाजी की भेंट तुकाराम-रामदास भेंट के पूर्व हुई होगी। प्रथम भेट पुनवडी में कीर्तन के अवसर पर हुई थी। तुकाराम कीर्तन कर रहे थे और शिवाजी उसमें उपस्थित थे। तभी मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब अभङ्गों की पुकार सुनकर भगवान् ने शिवाजी का रूप धारण कर परस्पर उसका निवारण कर दिया। जनपरम्परा और प्रचलित विश्वास इस बात को स्वीकार करते हैं। शिवाकालीन पत्र व्यवहार से यह प्रतीत होता है कि प्रथम भेंट शक १५६७ से शक १५७१ के बीच कभी हुई होगी। इसके बाद शिवाजी ने तुकाराम को सम्मान-पूर्वक बुला भेजा। तब जो अभगात्मक उत्तर उन्होंने शिवाजी को भेजा वह बहुत प्रसिद्ध है। उस पत्र में शिवाजी को वे 'गुरुभक्त', 'चातुर्य सागर', 'सर्वज्ञ राजा' आदि विशेषणों से भूषित करते हैं। यह मुलाकात तुकाराम के जीवन के अन्तिम काल में ही हुई होगी ऐसा अनुमान है। इसका आधार यह अभङ्ग है—

'घेओनिया भेटी कोण हा सन्तोष। आयुष्याचे दिस गेले गेले'[1]

इस प्रसग के समय शिवाजी की आयु १९ और तुकाराम की आयु ५१ थी। तुकाराम को काव्य स्फूर्ति शक १५४६ में हुई थी। अत अनुमान से कहा जा सकता है कि इनकी काव्य-गङ्गा अगाध गति से २५ वर्षों तक बहती रही। तुकाराम के अभगो की सख्या पाँच हजार है क्यों कि इतने अभग उपलब्ध हैं। वैसे पाँच कोटी एक लक्ष, चौदह सहस्र अभग उन्होने रचे ऐसा बतलाया जाता है। सम्भवत अन्य कवियो की तरह इनकी भी रचना काल के उदर में समा गई हो। नये अनुशीलन में तुकाराम कृत भानुदास-चरित्र, और सुदामा चरित्र, मिले हैं।[2] तुकाराम के अभङ्गों की गाथा महाराष्ट्र सरकार ने प्रसिद्ध की है। अभङ्गों में आरम्भ में बालक्रीडापरक अभङ्ग हैं। अन्य अभङ्गों में उनकी अपनी आत्मानुभूति और स्वसवेद्य अनुभवो की अभिव्यंजना है। ये गीती-काव्य के अन्तर्गत रखे जायेंगे। कुछ अभङ्ग विशिष्ट प्रसङ्गों और घटनाओ पर आधारित हैं। समाज का उद्धार, सदाचार की स्थापना, भगवद् भक्ति की प्रतिष्ठा इन अभङ्गों का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषद एकनाथ, ज्ञानेश्वर और नामदेव की कृतियों की छाया तुकाराम के अभगों में दिखाई देती है।

---

१ तुकाराम—डा० रा ग हर्षे, पृ० ९७।
२ भारत इतिहास मडल त्रैमासिक वर्ष २३ अङ्क ४, संपादक रा म आठवे, वा के. ओक।

तुकाराम कृत श्रीमद् भगवद् गीता का अभंगात्मक अनुवाद 'मंत्र-गीता' के नाम से श्री वा सी बेन्द्रे ने अनुसंधानकर प्रकाशित करवाया है। विद्वानों ने निर्णयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष संकेत रूप मे नहीं दिया है। तुकाराम के साथियो पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक भी बेन्द्रेजी ने 'तुकारामाचे सत सागाती' प्रसिद्ध की है। 'तुकारामाची गुरु परम्परा' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। तुकाराम के अध्ययनार्थ बेन्द्रेजी की पुस्तकें द्रष्टव्य हैं। अभङ्ग गाथा मे तुकाराम रचित हिन्दी अभङ्ग और पद भी मिलते हैं। तुकाराम के भाई कान्होबा के अभङ्ग भी मिलते हैं।

तुकाराम-शिष्या-बहिणाबाई—

बहिणाबाई द्वारा रचित आत्मचरित्र के ५३ और निर्माण के ८८ अभग मिलते हैं। कुल चार सौ और अभग भक्ति भावना के भी मिलते हैं। ये अपने पिछले बारह जन्मो का ब्योरेवार विवरण भी देती हैं। तुकाराम के बारे मे बहिणाबाई का यह अभग विशेष प्रसिद्ध है[1]—

सत कृपा झाली। इमारत फळा आली ॥
ज्ञानदेवे रचिला पाया। उभारिले देवालया ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणे केला हा विस्तार ॥
जनार्दन एकनाथ। खाब दिला भागवत ॥
तुका झालासे कळस। भजन करा सावकाश ॥
बहेणी फडकती ध्वजा। निरुपण केले बोजा ॥

'वारकरी सन्त सम्प्रदाय अर्थात् भागवत धर्म की इमारत सन्त कृपा से बनकर तैयार हुई ज्ञानदेव ने इसकी नींव डाली और देवालय बना। उसका किंकर नामदेव बना जिसने भागवत धर्म का प्रसार किया। जनार्दन के एकनाथ ने उसे सुदृढ स्तम्भ देकर प्रतिष्ठित किया और उसका कलश तुकाराम बन गये। उस पर फहराने वाली ध्वजा की तरह बहिणाबाई है जिसने यह निरूपण किया है।' बहिणाबाई को तुकाराम ने स्वप्न मे गुरुपदेश दिया था। अपने जीवन के उत्तर-काल मे वे समर्थ रामदास के आश्रम मे थीं।

तुकाराम का व्यक्तित्व उनके अभगो मे मूर्तिमान हो उठा है। बिना किसी माध्यम के प्रासादिक वाणी मे अपनी प्राजल अनुभूतियाँ वे जब कहने लगते हैं, तो वे सबके हृदय मे समाविष्ट हो जाती हैं। अगूठी मे जडे हुए नग की तरह उनके शब्द उनकी रचना मे अपनी चमक-दमक दिखाया करते हैं। कबीर की तरह

१. सकल सत गाथा—अभङ्ग ३८२१, बहिणाबाई, पृ० ५४७।

मुँहफट शैली मे अटपटी बानि से धक्का-मार-भाषा मे दम्भ और पाखड का वे स्फोट करते हैं। इनके हिन्दी पदो की भाषा व्रज है। अभग मे दो से लेकर दो सौ तक कड़ियाँ हो सकती हैं। उसकी कोई बधी-बधाई परम्परा नही है। अभग मे चार चरण से एक चौक बन जाता है। इन चार चरणो मे मात्राओं अक्षरो, गणों का कोई नियम लागू नहीं होता। तुकाराम का सदेह वैकुंठगमन सारस्वतकार वि ल भावे के अनुसार शक १५७२ मे है। देहूकरो की पोथी मे शक १५७१ दिया हुआ है। वि का राजवाडेजी भी इसी मत के हैं। तुकाराम ने अपनी पत्नी को ग्यारह अभगो मे अपन निर्याण का न के पूर्व 'पूर्ण बोध' नाम का उपदेश दिया था। यह उपदेश फाल्गुन शुद्ध द्वादशी सोमवार को दिया था। फलत उनका सदेह वैकुण्ठागमन शक १५७१ मानना उचित है।

तुकाराम परम्परा के अन्तिम सन्त वैष्णव कवि निळोबा पिंपळनेरकर :

वारकरी सम्प्रदाय के ये अन्तिम वैष्णव सन्त कवि हैं। नगर जिले के पिंपळनेर ग्राम मे ये रहते थे। बचपन से ही इनकी प्रकृति शिवभक्ति मे रमती थी। अत राजसेवा अपने से नहीं होगी ऐसा निश्चयकर उन्होने अपनी लेखनी को ईश्वर के चरणो पर अर्पण कर दिया। तीर्थ यात्रा करते-करते वे पढरपुर आगए। तुकाराम की दिगन्त कीर्ति सुनकर उनके मन मे तुकाराम के प्रति अत्यत प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। तुकाराम के निर्याण हो जाने पर बीस-पच्चीस वर्ष बीत गए थे। तब निळोबा का जन्म हुआ। वे देहू आए और वहाँ तुकाराम के दर्शन किये। ज्ञानेश्वरी, नाथ भागवत और तुकाराम की गाथा का अखड पठन वे कर आए थे। इन तीनों की वाणी का प्रभाव निळोबा की रचना पर अनिवार्य रूप से पडा है जो अत्यत स्वाभाविक ही था। वे कहते हैं—

'निळा म्हणे आम्ही भोळाभूचि देवा। तुक्याचाबावा करितसे ॥'

'मार्गदावुनि गेले आपो। दयानिधि सत ते।

येणेचि पंथे चालो जाता। न पडे गुंता कोठे काही ॥'

वारकरी सम्प्रदाय मे तुकाराम के बाद के किसी सत वचन को लेकर कीर्तन-प्रवचन नहीं किया जाता। पर अपवाद रूप मे निळोबा के अभग लेकर कीर्तन प्रवचन होते रहे हैं। तुकाराम की रचना समाजनिष्ठ है उनका चरित्र उनके किसी बराड ने साढ़े तीन हजार ओवियो मे लिखा है।

रामदास :

चैत्र शुद्ध नवमी अर्थात् रामनवमी के दिन जाब नामक ग्राम मे सूर्याजी पत ठोसर के यहाँ उनकी पत्नी राणूबाई ने रामदास को जन्म दिया। बचपन मे इनका

नाम नारायण था। बडे भाई का नाम गङ्गाधर था जो आगे चलकर रामी रामदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। रामदाससे ये तीन साल उम्रमे बडे थे। बड़े भाई का विवाह हो गया और उनके बडे हो जाने पर सूर्याजी पंत ने उसे मन्त्रोपदेश और अनुग्रह दिया। छोटे भाई रामदास भी यही चाहने लगे। तब पिता ने कहा अभी तुम्हें अधिकार और पात्रता प्राप्त नही हुई है। इस पर चिढ़कर वे बाढ आई हुई नदी मे कूद पडे। बडे वेग का प्रवाह नदी मे होने से वे तीन गाँवो तक नदी मे बहते हुए गये। इसके बाद वे तैरकर नदी के पार लगे। तब एक ब्राह्मण ने करुणा करके उनको एक यज्ञोपवीत और एक वस्त्र दे दिया। नदी के किनारे चलकर वे पंचवटी पहुँचे। वहाँ के राम मन्दिर मे रहकर उनकी पूजा, सेवा करने लगे तथा उसी राम से मंत्र और अनुग्रह लेने का निश्चय कर लिया। बारह वर्ष तक गोदावरी नदी के तट पर टाकळी नामक स्थान मे गायत्री पुरश्चरण करते रहे। एक रात को भगवान् रामचन्द्रजी के द्वारा उनको अनुग्रह प्राप्त हो गया। सारे देश का उन्होंने पर्यटन कर समूचे देश की राजनीतिक और सामाजिक दुर्दशा का अवलोकन किया था। अतः उन्हें सारे वातावरण का पूरा ज्ञान था। अनुग्रह प्राप्ति के बाद आसेतु हिमाचल पुनः घूमकर परिस्थिति को देखा उस पर चिंतन और मनन कर एक सर्वकष स्वतंत्र सिद्धान्त और साधन तथा तन्त्र सुनिश्चित कर जिस प्रकार कार्यान्वित किया उसे उनके ग्रन्थों मे अभिव्यञ्जित विचारो से देखा जा सकता है।

बचपन से ही उनको चिंताग्रस्त देखकर उनकी माँ ने उन्हें उसका कारण पूछा तो उन्होने उत्तर दिया, 'माँ मैं सारे विश्व की चिन्ता करता हूँ। विदेशियों के विधर्मियो के राज्य से देश भर मे जो दैन्य फैला था उससे लोग हताश एवम् निराश हो गये थे। वे उसका वर्णन करते हैं[1]—

बहु साल कल्पांत लोकांसि आला।
महर्षे बहू धाडि केलो जनाला॥
कितो येक ते देश त्यागोनि गेले।
किती एक ग्रामेंचि ते वोस जाले॥
पिके सर्व धान्यें चि नाना बुडाली।
स्त्रिया पुत्रिणी ब्राह्मणी भ्रष्टविल्या॥
किती शामुळी जाहलीं पाठविल्या।
किती येक देशांत ही पाठवील्या॥

---

१. श्री समर्थ चरित्र–ज. स. करन्दीकर, समर्थस्फुट प्रकरण, पृ० २१–२२।

क्ती सुन्दरा हाल होऊनि मेल्या ।
काही मिळेना, मिळेना खावयाला ॥
ठाव नाही रे, नाही रे जायाला ॥ —स्फुट प्रकरण।

'कई वर्षों तक जनता में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी जैसे कल्पान्त का समय आ गया हो। लोग हताश होकर मर गए, या मारे गए। कुछ देश को छोड़कर भाग गये। कई ग्राम उजड़ गये इससे अनाज आदि सब नाना प्रकार से नष्ट और महंगा हो गया। कई गूजर स्त्रियों को एवम् ब्राह्मणियों को भ्रष्ट किया गया। कई सुन्दर कुलवन्तियों को जहाज में भरकर बादशाहों के पास भेजा गया। कइयों को अन्य विदेशों में भेजकर बेचा गया। कई सुन्दरियाँ अत्याचारों से मर गईं। ऐसी दुस्थिति उत्पन्न हो गई कि लोगों को खाने के लिये कुछ न बचा। रहने के लिए ठौर तक न रही।' देश की ऐसी भयङ्कर दुर्दशा तथा सामाजिक परिस्थिति बड़ी भयानक हो गई थी। इससे रामदास को बड़ा दुख हुआ। वे इस बात का उन्मूलन करने का उपाय खोजने लगे। सन्तों के निवृत्तिपरक मार्ग का उपदेश महाराष्ट्र ने पढ़ा। पर कृति से वे आलसी बन गए थे। रामदास को यह अच्छा नहीं लगा। महत, गुरु और संत केवल नाम-महिमा का उपदेश करते रहते। पर समाज की विपन्नावस्था इससे कदापि सुधरने वाली न थी। अतः सम्प्रदाय बनाने की दृष्टि से मठ स्थापना करने का उन्होंने निश्चय किया। उनके अनुसार यह निष्कर्ष कितना मार्मिक है—

'जितुका भोळा भाव। तितका अज्ञानाचा स्वभाव ॥
अज्ञानेतरी देवाधि देव। पाविजेलकैसा ॥'[1]

जितना भोला भाव होगा उतना ही वह अज्ञान का सूचक होता है। इससे भगवान् की प्राप्ति कठिन हो जाती है। अपने धुवाधार प्रयत्नों से उन्होंने अनेक शिष्य-प्रशिष्य तैयार किये। कई मठ निर्माण किये। सब मठों का केन्द्रिय मठ जाफल में स्थापित किया। यहाँ पर स्वयम् श्री समर्थ रामदास रहा करते थे। उनके पट्ट शिष्य कल्याण स्वामी डोमगाँव मठ में रहते थे। उनके प्रथम शिष्य उद्धव दो मठों के मठाधीश थे। एक मठ टाकळी में और दूसरा इन्दूर-बोधन में था। इसके अतिरिक्त औरङ्गाबाद, काशी, रामेश्वर, सूरत, बद्रीकेदार आदि समूचे भारत में उनके मठ थे। इन मठों में रामदास के चुने हुए महन्त थे। इनका कार्य सर्वत्र सचरण करना, परिस्थिति का निरीक्षण करना, समर्थ रामदास का कार्य करना, रामनाम का जप करना, तथा राम और हनुमान के मन्दिर बनवाना और

१. दासबोध-समर्थ रामदास, २०-१-६६।

सतर्क रहने के लिए शिक्षा देना था। रामदास स्वयम् देखते कि ये सब शिष्य इन बातों में पटु और निपुण हो जाय। ललितकलाओं की शिक्षा भी इनको दी जाती थी। विद्यादान का कार्य दिनरात चला करता था। उनके मत में ये बातें अच्छी थी'—

> 'आवडी सगळे लोका। प्रीति ने भजती जनी।
> इच्छिले पुरविती सर्व। धन्य ते गायनी कळा॥
> ये काकी महंती येते। उदंड किली वाढते॥
> विख्यात सकळे लोकीं। धन्य ते गायनी कला॥
> राहती लोक ते रानी। आवडी उपजे मनी॥
> वर्णिता कीर्ति देवाची। धन्य ते गायनी कळा॥

'गायनसे सब लोक रीझकर महत्वका सम्मान करते हैं। प्रतिष्ठा रखकर उसकी बात मानते हैं। उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं। तात्पर्य यह है कि गायनकला धन्य है। इससे महत्ती बढ़ती है। लोग परस्पर कहते हैं कि फलाना महन्त विद्वान है और बडे अच्छे भजन गाता है, भगवान् का गुणानुवाद कर जगल मे रहता है सब कलाओं को देवताओ के कार्य में लगाना चाहिए, तभी उनका उद्धार होता है।' उनका अपना शिष्यों को यह उपदेश था, कि अपना शरीर परोपकारार्थ लगाना चाहिए। किसी को किसी चीज की कमी हो, कोई आवश्यकता हो तो उसकी पूर्ति कर तथा उसकी सहायता कर एवम् दूसरो को सतुष्ट कर स्वयम् सुखी हो जाना ही अच्छा कार्य है। खुद कष्ट सहनकर कीर्ति रूप मे बचे रहना ही श्रेष्ठ लक्ष्य है। शरीर तो नष्ट होने वाला है ही। इस तरह के उपदेशो द्वारा समर्थ रामदास अपने शिष्यो द्वारा समाज का उद्धार करना चाहते थे।

एकनाथ के निर्वाण काल और रामदास के जन्मकाल में दस वर्ष का अन्तर मिलता है। रामदास की माँ और एकनाथ की पत्नी ये दोनों सगी बहनें थी। अत. समर्थ रामदास के एकनाथ सम्बन्धी ठहरते हैं। इस निष्कर्ष का आधार तंजावर मे प्राप्त एक हस्तलिखित कागज है।[२] एकनाथ को रामोपासना का अधूरा कार्य समर्थ ने अपनी रामोपासना से सुसम्पन्न किया।

रामदास के पिता उनकी आयु के आठवें वर्ष में ही स्वर्गस्थ हुए। इसी साल अर्थात् शक १५३८ के श्रावण शुक्ल अष्टमी के दिन उन्हे रामदर्शन मिला और अनुग्रह भी प्राप्त हुआ। तब से वे अन्तर्मुख बन गए। पुन. वैराग्यपरक प्रवृत्ति के

१. रामदास-पद स्फुट प्रकरण-समर्थ चरित्र भाग २, श्री०शां०श्री० देव०, पृ० १५४।
२. तंजावर में उपलब्ध गोविंद बाळ स्वामी के मठ के कागज से।

हस्तलिखित पोथियाँ एकत्र की हैं और उन्हे समर्थ वाग्देवता मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर दिया है। अपना सारा जीवन, तन, मन, धन सभी इसी के अनुशीलन मे व्यतीत किया है। रामदास की ग्रन्थ रचना के अतिरिक्त इस साहित्य समार मे अनेक सतो के द्वारा निर्मित हस्तलिखित पोथियाँ अनेक रामदासी मठों से लाकर यहाँ पर रख दी गई हैं। इनका अनुसधान और अध्ययन किया जा सकता है। स्वयम् रामदास के हाथ का लिखा एक असली पत्र भी यहाँ सुरक्षित रूप से सग्रहीत है। समर्थ और समर्थ सम्प्रदाय की हिन्दी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा मे यहाँ विद्यमान हैं।

समर्थ रामदास का व्यक्तित्व—

रामदास की शरीराकृति और परिवेष के बारे मे उनकी शिष्या वेणाबाई की उक्ति इस प्रकार है।

> 'पाई पादुका हातात तुम्बा। मजेरी भगवी फाकली प्रभा।
> कटबध कौपीन मळसूत्र शोभा। नवा नवे मूर्ति साजिरी॥
> तैसी मूर्ति दृष्टि पडो। तैशा पाई वृत्ति जडो॥
> ब्रह्मचारी ही सूत्र शिखा। पाई शोभती पादुका॥
> कटी अटबद कौपीन। कंठी तुळसी मणि भूषण॥
> दिव्य मुख दिव्य नेत्र भाळी। आवाळू सुन्दर।
> रामदास दिव्य नाम। सखा जयाचा आत्माराम॥'[1]

'पैरों मे खडाऊँ हाथो मे तुम्बा और भगवा वस्त्र परिधान किये हुए, कमर मे कौपीन धारण कर नयी आभावाली उनकी मूर्ति थी। ब्रह्मचारी, यज्ञोपवीत और चोटी धारण करने वाले समर्थ रामदास का व्यक्तित्व बडा दिव्य था। वे गले मे तुलसीमाला आभूषण की तरह धारण करते हैं। उनका मुख दिव्य है, नेत्र दिव्य हैं। भालप्रदेश पर एक सुन्दर गुमडा उठा है। उनका नाम रामदास है तथा जिसके सखा आत्माराम भगवान् रामचन्द्रजी हैं। ऐसे भव्य स्वरूप धारी समर्थ सदगुरु की मूर्ति सदा आँखो के सामने आती रहे यही वेणाबाई की मनोकामना है।

रामदास बहुत तेज चलते थे। उन्हें सगीत प्रिय था और वे बहुत अच्छा गाते भी थे। अपने प्रदत्त मत्र का दुरुपयोग करने पर ऐसा करने वाले को वे बेंत से पीटते थे। उनका अपने इष्टदेव से यह कहना था[2]—

> क्षण भर सुख नाही जन्मदारभ्य कोठे।
> कठिण ची बहुवाटे लोटते दु ख मोठे॥

---

१. वेणाबाई कृत अभंग।

२ रामदास—मनाचे श्लोक।

'बहुत विषयकाळ दाटणी थोर झाली।
म्हणऊनि चरणाब्जी वृत्ति गुंगोनि गेली ॥
बहुताचि सुकुमारा स्वस्त नाही शरीरा।
निशिदिनी अनचिंता लागली से उदारा ॥
सकळजन सुखावे तो कसा काळ फावे।
भजन जन उकावे सर्व आनन्द पावें ॥'[1]

'जन्म के आरम्भ से ही पता चला कि कहीं भी एक क्षण का सुख उपलब्ध नहीं है। बड़ा कठिन लग रहा है यह बड़ा दुख कैसे निवारण होगा। काल ने अपना प्रभाव छोड़ा और विषयो के स्वरूप अनेक हैं इसीलिए भगवद् चरण कमलो मे मेरी वृत्ति रम गयी है। मुझे घोर अनचिंता लगी हुई है। हे उदार रामचन्द्रजी कुछ ऐसा कर दो कि जिससे सारे लोग सुख प्राप्त करें तथा भजन पूजन करते-करते सब काल व्यतीत करने लग जाँय, और सर्वत्र आनन्द फैल जाय। क्या ऐसा काल कभी आवेगा ? तुळजापुर की भवानी से भी यही वरदान उन्होंने माँगा है कि—

'येकचि मागणे आतां द्यावे ते मजकारणें।
तुझा तू वाढवी राजा सीघ्र आम्हासी देखता ॥
दुष्ट संहारिले मागे ऐसे उदण्ड ऐकिलें।
परन्तु रोकडे काही मूल सामर्थ्य दाखवी ॥
रामदास म्हणे माझे सर्व आतुर बोलणे।
क्षमावे तुळजे माते। इच्छा पूर्णचि ते करी ॥'[2]

'मेरी एक ही माग है और उसे हे भवानी माता, तुम मेरे लिये मान्य कर दो। हमारे देखते-देखते राजा शिवाजी को उत्कर्षपथ पर ले चलो। ऐसा मैंने बहुत सुना है कि पहले तुमने दैत्यों का एवम् दुष्टो का संहार किया है परन्तु आज प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं इसलिए अपनी मूल शक्ति का प्रताप सचमुच कर दिखाओ। रामदास कहते हैं कि मेरा आतुरतायुक्त निवेदन और मेरी इच्छा पूर्ण करो और मुझे क्षमा कर दो। समर्थ रामदास ने विपुल मात्रा में साहित्य रचा है। ये सारी रचनाएँ अब प्रकाशित हो गई हैं।

रामदास के रचे ग्रन्थ—

दासबोधकार समर्थ रामदास बडे व्यासंगी और अखड अनवरत अध्ययनशील,

---

१. समर्थ मनाचे श्लोक।

२ रामवरदायिनी तुळजाभवानी देवी प्रार्थना—समर्थ चरित्र पृ० १७८,
श्री ज. स. करंदीकर।

देवताओं के बंध विमोचक हैं। वे रावण के कारागृह से उनको मुक्त करते हैं। एकनाथ के भावार्थ रामायण की दृष्टि रामदास ने आत्मसात कर ली है। रामराज्य की स्थापना रामदास का लक्ष्य था। तत्कालीन राजनीतिक दशा का प्रतिबिम्ब इन रामायणों के चरित्रों में उत्पन्न किया गया है। शिवाजी की स्वराज्य स्थापना से उनका लक्ष्य साकार हुआ था।

चौदह ओवी शतक—

वस्तुतः यह रचना अभंग में है। पर रामदास इसको ओवी-शतक ही मानते थे। हरएक में १०० के हिसाब से कुल १४०० ओवियाँ हैं। इसमें प्रयत्नवाद का जोरदार विवेचन है। इसके संवादकर्ताओं में सगुणवादी, निर्गुणवादी, सर्व ब्रह्मवादी, विमल ब्रह्मवादी, मुमुक्षु, मुक्त प्रयत्नवादी और प्रारब्धवादी हैं। इसमें परस्पर प्रश्नोत्तर हैं। सत्-संग महिमा का बखान भी इसमें है।

स्फुट कवितायें पद और अभंग—

रामदास अन्त समय तक लिखते ही रहे। इसमें कुछ विषय आत्मनिष्ठ और कुछ समाजनिष्ठ हैं। आत्मनिष्ठ पदों में वे अन्तर्मुख हैं तो समाजनिष्ठ पदों में वे बहिर्मुख हैं। इनमें अभिव्यक्त विषयों में राजनीति, आत्मोन्नति, प्रवृत्ति, निवृत्ति उपदेश, उपासना, तत्व और काव्यात्मक अन्य विषय भी हैं। इन सबको समर्थ गाथा में सग्रहीत किया गया है। कई श्लोक, ओवियां तीन चार सौ अभंग और हजार की संख्या में गेय पद विपुल रूप में समर्थ ने लिखे हैं। कई आरतियाँ और अन्य स्फुट रचनाएँ उन्होंने रची हैं। इनके रचित कई हिन्दी पद भी मिलते हैं।

'मनोबोध' या मनाचे श्लोक—

भुजंगप्रयात वृत्त में कुल २०५ श्लोक समर्थ ने रचे। इसे 'मनोबोध' नाम से भी जानते हैं। यह रचना अपने परिपक्व प्रज्ञ अवस्था में रची हुई और दासबोध के बाद की रचना हो सकती है। भक्तिपथ को अपनाया जाय, अहर्निश राम भजन करना चाहिए, जो-जो निंद्य हो उसका परित्याग और जो-जो वंद्य हो उसका ग्रहण, रामनाम का आश्रय मुख से राम भजन आदि विविध विषय मन को बोध के रूप में सिखाये गये हैं। उसमें एक प्रवाह है एक उत्स्फूर्त प्रेरणा है इसलिये यह कृति बड़ी लोकप्रिय भी बन गयी है। रामवरदायनी और आनन्दवन-भुवन ये दो महत्वपूर्ण प्रकरण हैं।

समर्थ रामदास ५० वर्षों तक अनवरत रूप से लिखते रहे। पदों में वे अपने को रामी रामदास और अन्य कई नामों से अभिहित करते हैं। शक १६०२ में शिवाजी स्वर्गस्थ हो गए। शक १६०३ में छत्रपति शिवाजी के द्वारा बनवाये गये

सज्जनगढ़ की एक भव्य इमारत में वे रहने गए। धीरे-धीरे वस्त्र अन्न आदि सब वर्ज्य करते गए। शिवाजी के बाद वे जीवित रहना नहीं चाहते थे। संभाजी को उन्होंने अनमोल उपदेश पत्र रूप से दिया था। माघ कृष्ण ९ मी के दिन सज्जनगढ़ में शक १६०३ में उन्होंने अपना अवतार कृत्य समाप्त किया।

रामदास सम्प्रदाय की शिष्यायें—

वेणाबाई—समर्थ की विदुषी तथा ज्ञान सम्पन्न मानस कन्या और शिष्या है। यह बचपन में ही विधवा हो गई थी। इसका मायका मिरज में और इसकी ससुराल कोल्हापुर में थी। इसका जन्म शक १५५० के लगभग हुआ होगा। अपने वैधव्य-काल में 'एकनाथी-भागवत, गीता आदि ग्रन्थ वह पढ़ने लगी। अचानक रामदास भिक्षा माँगने आये और 'मुखी राम त्या काम बाधू शकेना' यह श्लोक पढ़ा। वेणूबाई भागवत पढ़ रही थी। रामदास ने उससे पूछा बेटी जो भागवत तुम पढ़ रही हो उसका अनुभव भी तुम्हें होता है या नहीं? निरुत्तर हो जाने पर रामदासजी ने उसे उपदेश के चार शब्द सुनाये। अपने गुरु के प्रति उसकी आस्था बढ़ गई। 'देह माझे मन माझे। सब नले गुरुराजे' अर्थात् देह और मन सभी सद्गुरु ही ले गए ऐसी उसकी भावावस्था बन गई। आँखों के सामने सद्गुरु रामदास की मूर्ति विराजने लगी। वे कहती हैं—

> 'पाई पादुका हातात तुम्बा। मर्जरी भगवी फाकली प्रभा।
> कटबन्ध, कौपीन, माळ, सूत्र, शोभा। न वानवे मूर्ति साजिरी॥'

'पैरों में खड़ाऊँ हाथ में तुम्बा और जरीकाम किया हुआ भगवा वस्त्र, कौपीन परिवेश, माला, यज्ञोपवीत और भिक्षा की शोभायुक्त ओजस्वी मूर्ति सजी हुई है।' ऐसे व्यक्तित्व का उन पर प्रभाव पड़ा था।

वे मिरज में रामदास के कथाकीर्तनादि सुनने लगी। उसने रामदास का अनुग्रह और उपदेश ले लिया। लोगों को उसका यह कार्य अच्छा न लगा। वे उसकी निन्दा करने लगे। परन्तु उसने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। यथा—

> कोणी वदितो कोणी निंदितो। दास मी त्याची पहिना।
> हृदयीं धरिले सदा गुरु चरणा। प्राणांतो हि विसंबेना॥

उसके माँ बाप ने निन्दकों के अत्याचार से उसे विष भी दे दिया पर गुरु की कृपा से विषबाधा भी नष्ट हो गई। समर्थ अपने सभी शिष्याओं को कन्या कहते हैं। उन सब में इसकी योग्यता महत्व की है। उसके लिये मिरज में मठ-स्थापना कर दी गई है। लोग उसे वेणुस्वामी कहने लगे। उसके रचित पद, अभंग और अन्य दल तीन चार ग्रन्थ भी मिलते हैं। सब में 'सीता स्वयंवर' यह ग्रन्थ बहुत

सुन्दर है। ग्रन्थ निर्मिती करने वाली एक स्त्री होने के कारण यह ग्रन्थ अन्य लोगों के द्वारा रचे गए सीता स्वयंवर की अपेक्षा बहुत सुन्दर है। उनकी यह प्रार्थना दृष्टव्य है[1]—

> 'समर्था कधी पाप बुद्धि न को रे। समर्था प्रभु भाग्ययेथेष्ट दे रे।
> प्रिती ने प्रजा पाळी रे रामराया, नको दैन्यवाणी करू दिव्य काया।'
> दिनानाथ जी उदण्ड दे रे॥

'हे समर्थ ! मेरे मन में पापबुद्धि कभी भी न उत्पन्न हो तथा अच्छा भाग्य यथेष्ट रूप में प्राप्त हो जाय। हे रामचन्द्रजी ! प्रेम से प्रजा का पालन करो और इस दिव्य शरीर में दैन्य युक्त वाणी के बदले दिव्य वाणी प्रकट हो जाय।

इनका स्वर्गवास शक १६०० में चैत्र वदी चतुर्दशी को हुआ। बयाबाई अम्बाबाई आदि समर्थ शिष्याएं प्रसिद्ध हैं। बयाबाई की हिन्दी रचना मिलती है। जैसे—

> बाल रंगेली महल बना है। महाल के बीच में झूलना झुला है।
> इस झुलने पर झुलोरे भाई। जनम मरन की भूल न आई।
> दास बया कहे गुरु मेंपाने। झुमकु झुलाया सोहि झुलाने॥[2]

इस तरह देखने पर सार में कहा जा सकता है कि रामदास बचपन से ही विरक्त थे। अपने सङ्कटों के बारे में वे मौन रहते हैं। रामदास की चिंता महाराष्ट्र में स्वराज्य कैसे बनेगा यह है। वे आचार्य थे, और ज्ञान और विद्या की प्रतिष्ठा को मानने वाले थे। देश और राजनीतिशास्त्र रामदास के काव्य में प्रमुख रूप से विद्यमान है, यद्यपि वह परमार्थ से अलग नहीं है। रामदास महन्त और राजयोगी थे। उनका कार्य काफी विशाल था। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कुल ११०० मठों की स्थापना उन्होंने की है। रामदास बुद्धिवादी हैं। नव मार्ग और नयी परम्परा को रामदास ने ढूँढ निकाला।

---

१. वेणाबाई कृत—प्रार्थना।

२ बयाबाई कृत हिन्दी पद रचना।

पंचम-अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

*

पचम–अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

कबीर

हिन्दी के वैष्णव कवियो मे सर्वप्रथम कबीर का नाम ग्राता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढने पर तथा कबीर पर किये गये शोध ग्रन्थो के अध्ययन से यह बात भली-भाँति ज्ञात हो जाती है कि कबीरके जन्म समय की स्थिति अनीश्वरवाद के लिए बडी अनुकूल थी। अन्य सन्तों की तरह कबीर के जीवन काल के बारेमे तथा उससे सबद्ध प्रसगोंके बारे मे अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन सारे मतो मे परस्पर अनुकूल मतोकी अपेक्षा प्रतिकूल मत ही अधिक हैं। अत इन सारे पचडो से दूर रहकर ही केवल प्रमुख मतो का उल्लेख कर हमको *कबीर का सामान्य परिचय और उनकी कृतियों का विवेचन करना है। आचार्य* रामचन्द्र शुक्ल के मत से कबीर का जन्म जेठ सुदी पौर्णिमा सोमवार विक्रम सवत् १४५६ है।[१] कबीर पथी कबीर के बारे में यह बतलाते हैं—

> चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाठ ठए।
> जेठ सुदी बरसायत को पुरनमासी तिथि प्रकट भए।
> घन गरजे दामिनी दमके बूँदे बरसे झर लाग गए।
> लहर तालाब में कमल खिले हैं तहँ कबीर भानु प्रकट हुए ॥

कबीर का मृत्युकाल भी इसी तरह चर्चा का विषय है। ये दो चार उद्धरण देखिए[२]—

> (१) सवत् पद्रह सौ पच्हत्तरा किया मगहर को गवन।
> माघ सुदी एकादशो, रलो पवन में पवन ॥
> (२) पन्द्रह सौ औ पाँच में मगहर कीन्हो गौन।
> अगहन सुद एकादसी, मिल्यो पौन में पौन ॥
> (३) पद्रह सौ उनचास में मगहर किन्हो गौन।
> अगहन सुदि एकादसी, मिलो पौन में पौन ॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचद्र शुक्ल, (दशम सस्करण), पृ० ७५।

२. कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २१८।

(४) सुमंत प्रदातौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उठि हंसा जाई ॥

इससे यह दिखाई देता है कि कुछ लोग कबीर के मृत्युकाल को सवत् १५७५ कुछ १५०५ तो कुछ १५०७ के आस-पास मानते हैं। कबीर को १२० साल तक की आयु मिली थी, ऐसी जनश्रुति है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार सवत् १५०५ कबीर का मृत्युकाल है। सिकदर लोदी कबीर के समकालीन थे। सिकदर लोदी सवत् १५५१ मे बनारस आया था, इसलिए कबीर और सिकदर लोदी की भेंट हुई होगी ऐसा विद्वानो का अनुमान है। पर इस अनुमान से उनकी भेंट विश्वसनीय या सिद्ध नही हो जाती। 'भक्तमाल' जैसी पोथियो मे, 'ग्रन्थ साहब' मे तथा अन्यत्र कही भी सिकदर का नाम नही आया है। बस्ती जिले मे कबीर के मुस्लिम शिष्य बिजली खाँ के रोजे का निर्माण उनकी कीर्ति का केवल स्मृतिचिह्न मात्र है। रामानन्द उनके गुरु थे ऐसा तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। अनन्तदास की 'कबीर परिचयी' के सहारे कबीर का प्रादुर्भाव 'तीस बरस ते चेतन भयो' अर्थात् सवत् १४५५–३०=सवत् १४२१ होता है। प० परशुराम चतुर्वेदी इसी के पक्ष मे हैं। उनके अनुसार कबीर साहब का मृत्यु काल स० १५०५ ही है। इससे वे स्वामी रामानन्द के समकालीन, उनके द्वारा प्रभावित सतमत की बुनियाद को दृढ करने वाले, सेना, धन्ना, पीपा आदि को अपने आदर्शों के प्रति आकृष्ट करने वाले आदि बातो के महत्वपूर्ण उन्नायक सिद्ध होते हैं।

कबीर एक विधवा ब्राह्मणी के पेट से पैदा हुए थे। अतएव उनको लहरतारा तालाब के किनारे पैदा होते ही उनकी माता ने छोड दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षणों के उपरान्त नीरू नामक एक जुलाहा वयनजीवी उधर आ निकला जिसने उस बालक को उठाकर अपनी पत्नी नीमा को सौंप दिया। मुसलमानगृह मे पाले जाने के कारण उनको वयनजीवियो के सस्कार विरासत मे ही मिले थे। वैसे कबीर अपने माता-पिता का उल्लेख कही भी नही करते। पर वे अपने को वाराणसी का रहने वाला और जुलाहा अवश्य कहते हैं—

जाति जुलाहा मति को धीर। हरषि-हरषि गुन रहे कबीर।
मेरे राम की अभंपद नगरी, कहे कबीर जुलाहा॥
तू ब्राह्मन में कासीका जुलाहा।

पूर्व जन्म मे अपना ब्राह्मण होना वे स्वीकार करते हैं। वे एक जगह कहते हैं[1]—

---

१ कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४–१८५।

पूरब जनम हम ब्राह्मन होते वोछे करम तपहीना ।
रामदेव की सेवा चूका । पकरि जुलाहा कीना ॥

जनश्रुति के अनुसार कबीर का एक वाक्य प्रसिद्ध है—'काशी में हम प्रकट भए हैं रामानन्द चेताए ।' इसके बारे में यह कथा प्रचलित है कि कबीर भजन गा गाकर उपदेश देते थे । पर निगुरे होने से लोग उन्हें कहते कि जो किसी गुरु के द्वारा उपदिष्ट न हो उसे दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है ? तब वे गुरु के बारे में चिंतित हुए । काशी में उस समय स्वामी रामानन्द सबसे बड़े महात्मा प्रसिद्ध थे । कबीर के उनके पास जाने पर मुसलमान होने से रामानन्द ने उनको अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया । तब एक युक्ति उन्होंने सोची । रामानंद पंचगङ्गा घाट पर नित्य बड़े तड़के ब्राह्ममुहूर्त में स्नान करने जाते तब कबीर वहाँ की सीढ़ियों पर लेटे रहे । स्वामीजी ने अँधेरे में उन्हें न देखा । उनके सिर पर स्वामीजी का पैर पड़ गया । मुख से तुरन्त राम-राम निकल पड़ा कबीर ने झट उठकर उनके चरण पकड़ लिए और कहा कि आज आपने रामनाम का मंत्र देकर मेरा गुरुपद स्वीकार किया है । रामानन्दजी मौन रह गए । कबीर ने तबसे ही अपने को रामानन्द का शिष्य प्रकट और प्रसिद्ध कर दिया ।

कबीर में आरम्भ से ही हिंदू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति हम देखते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'कबीर' बहुत प्रसिद्ध है । कबीर का विशेष अध्ययन करने के लिये यह द्रष्टव्य है । कबीर के बारे में उनका यह कहना ठीक ही है कि—

'इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कबीरदास साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए । केवल अस्वीकार करना कोई महत्व की बात नहीं है । हर कोई हर किसी को अस्वीकार कर सकता है । पर किसी बड़े लक्ष्य के लिए बाधाओं को अस्वीकार करना सचमुच साहस का काम है । बिना उद्देश्य का विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है । उन्होंने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया । *रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे । प्रलोभन और आघात काम और क्रोध भी उनके मार्ग में जरूर खड़े हुए होंगे, उन्होंने उनको असीम साहस से साथ जीता । ज्ञान की तलवार उनका एकमात्र साधन थी,* इस अद्भुत शमशीर को उन्होंने क्षण भर के लिये भी रुकने नहीं दिया । वह निरन्तर इकसार बजती रही । पर शील के स्नेह को भी उन्होंने नहीं छोड़ा, यही उनका कवच था । इन कुसंस्कारों, रूढ़ियों और बाह्याचार के जजालों को उन्होंने बेदर्दी के साथ काटा । वे सर हथेली पर लेकर ही अपने मार्ग का सामना करने निकले

थे। क्षणभर के लिए भी वे नहीं डगमगाये, माथे पर बल नहीं पड़ा वे सच्चे शूर की तरह लड़ते ही रहे। देखिये[1]—

> एक समशीर इक सार बजती रहे
> खेल कोई सूरमाँ सन्त झेले।
> काम-दलजीति करि क्रोध पै माल करि
> परमसुख-धाम तहँ सुरति मेले।
> सील सें नेह करि ज्ञान की खड़गले
> अगम चौगान में खेल खेले।
> कहे कबीर, सोइ संतजन सूरमा
> सीस को सौंपकरि करम ठेले॥[2]

हरिऔधजी के अनुसार कबीर साहब का काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उच्च कोटि का है। कबीर ने 'मसि कागज छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ' ऐसा अपने बारे में कहा है तब वे अपनी रचनाओं को लिखते ऐसा तो कदई संभव नहीं था। कबीर के नाम पर बहुत से संग्रह निकल चुके हैं। अभी-अभी डा० पारसनाथ तिवारीजी ने कबीर के अनेक पदों को, साखियों को, रमैनियों को कई पाण्डुलिपियों के सहारे वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर तथा परख कर हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय से 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन कराया है। कबीर पर भविष्य में होने वाले अनुशीलनों में इसका अध्ययन महत्वपूर्ण होगा। यह पुस्तक द्रष्टव्य है।[3] वैसे तो नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी की कबीर ग्रन्थावली महत्वपूर्ण है ही। कबीर बहुश्रुत व सत्सङ्ग करने वाले थे। उनके गुरु रामानन्द भक्ति का एक उदार और सर्वसंग्राहक मार्ग निकाल रहे थे। इस मार्ग में ऊँचि-नीचि का भेद, तथा खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। कबीर ने रामनाम रामानन्द से लिया अवश्य पर उनके राम साकार धनुर्धारी राम न रहकर निर्गुण राम और उनके भी परे परब्रह्म के पर्याय बन गए। उनका यह कथन प्रसिद्ध ही है—

> दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
> राम नाम का मरम है आना॥

---

१. कबीर—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

२. शब्दावली, पृ० १०६।

३. कबीर ग्रन्थावली—पारसनाथ तिवारी हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

तथा

हमारे राम-रहीम-करीमा, कैसो अलह-राम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और दूजा न कोई ॥[1]

यहाँ पर व्यवहृत 'अल्लाह' शब्द मुसलमानी धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू संस्कृति का है ऐसा यदि हमारा मत हो तो कबीर दोनों को सलाम करते हैं, ऐसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का मत है, जो ठीक ही है ।[2] कबीर सूफी मुसलमानों का भी सत्संग करते थे । इसी से कुछ लोग शेखतकी को कबीर का गुरु मानते हैं । पर गुरु को जिस आदर की भावना से अभिहित किया जाता है उस तरह तकी का नाम उन्होंने कहीं भी नहीं लिया है जैसे—'घट-घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम शेख ।' यहाँ पर कबीर शेख तकी को उपदेश देते हुए से जान पड़ते हैं । सत्सङ्ग के द्वारा कबीर ने उपर्युक्त बातों का अपने भीतर संग्रह कर लिया था । अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी बड़ा नहीं मानते थे । धक्कामार शैली में अक्खड़ता से वे सबकी खबर लिया करते और जो कुछ कहते उसे अपना वचन मानने को कहते थे ।

शेख अकरदी सकरदी तुम मानहु वचन हमार ।
आदि अन्त औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार ॥[3]

कबीर ने ब्रह्मामार्गी निरूपण को अपने तक ही सीमित न रखकर उस ब्रह्म को सूफियों की तरह केवल उपासना का विषय न बनाकर उसे प्रेम का विषय बनाया । उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की काया-साधना को प्रश्रय दिया आचार्य शुक्लजी का यह कथन है कि[4]—'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक-रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खड़ा किया । उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट परिलक्षित होते हैं ।' कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिए डा० रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' यह ग्रन्थ द्रष्टव्य है । रहस्यवादी के अनुसार स्वसंवेद्य होने से कबीर इस अनुभूति को गूँगे की शर्करा कहते हैं । इस रहस्यानुभूति की दशा का वर्णन कबीर के शब्दों में इस प्रकार है[5]—

---

१ कबीर ग्रंथावली पद ४८—बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ० १०६ ।
२. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४ ।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ७६ ।
४ " " " पृ० ७७ ।
५. कबीर ग्रंथावली, ७, ६ पृ० १ ।

सतगुरु साँचा सुरिवा, सबद जु बाह्या एक ।
लागत ही में मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ॥
सतगुर लई कमांण करि, बाहण लागा तीर ।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ भीतरि रह्या सरीर ॥

इस अनुभूति का परिणाम साधक पर जिस प्रकार से होता है उसका वर्णन कबीर के शब्दो मे—

कबीर बादल प्रेम का हम परि बरस्या आई ।
अन्तर भीगी आतमा हरी भई बन राई ॥[1]

इस अनुभूति मे अतृप्ति बराबर बनी ही रहती है। वह साधक को अर्थात् उसके शरीर को एक दीपक जैसा बना देते हैं। इस दीपक मे प्राणो की बत्ती जलती है। वह रक्त के स्नेह से भरा रहता है और उसके प्रकाश मे वह अपने इष्ट की झाँकी देख लेता है। कबीर अपने को 'हेरे राम मैं तो राम की बहुरिया' कहते हैं तो कभी अन्यत्र अपने को 'कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ। गले राम की जेवडी जित देखो तित जाऊँ ॥' भी कहते हैं। विरह की तीव्रतम अवस्था, साधक की सिद्धावस्था, अव्यभिचारी पातिव्रत्य-पूर्णनिष्ठा, कठिनाइयो पर विजय प्राप्त कर लेने का प्रखर आत्मविश्वास, घर फूँक मस्ती और जीवात्मा तथा परमात्मा की ऐक्य अद्वैत भावना भी वे प्रदर्शित करते हैं। इस तरह की आत्म तत्ववेत्ता की दशा प्राप्त हो जाने पर कबीर का किसी से कोई वैर नही है। उनके इस प्रेम पथ का स्वरूप आसान नही है। वह किसी साला (मौसी) का घर नही है क्योंकि—

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहीं ।
सीस उतारे भुइँ धरै तब पैठे घर माहि ॥
कबीर निजघर प्रेम का, मारग अगम-अगाध ।
सीस उतारि पगतलि धरैं, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥[2]

अपने राम की प्राप्ति मुफ्त भला कैसे हो सकेगी? इस साधकावस्था मे सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए एक विरले ही सूरवान की तरह प्रतीत होते हैं। अपने ज्ञान को और गुरु को कभी भी सदेह की दृष्टि से नही देखते। यदि साधना मे कोई कमी रह गई है तो इस कमी का कारण अपने को न मानकर वे इस कमीका कारण साधन मे या उसकी प्रक्रिया मे ही हो सकता है ऐसा उनका विश्वास था। कबीर का व्यक्तित्व समझने मे इससे सहायता हो सकती है।

---

१. कबीर ग्रथावली ३४, पृ० ४।
२. ,, ६६, १६–२०।

अन्य लोगो के अनुसार कबीर की रचनाओ का ऐसा लेखा-जोखा मिलता है।

१—विलसन साहब कबीर की आठ रचनाओ का उल्लेख करते हैं।[1]

२—वेस्टकॉट महोदय के अनुसार यह सख्या बयामी तक पहुँच जाती है।

३—कबीर बीजक मे कबीर की सारी रचनाएँ सग्रहीत हैं ऐसा मिश्र-बधुओ का मत है। यही मत कबीर पथियो का भी है।

४—डा० रामकुमार वर्मा अपनी 'सत कबीर' की प्रस्तावना मे, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा मे की गई सवत् १६४८ से सवत् १६७६ तक की गई खोजों के आधार पर बतलाते हैं कि स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप में यह सख्या अधिक से अधिक ५६ होगी। वे ग्रन्थ साहब का पाठ विश्वसनीय मानते हैं।[2]

५—की महोदय ने अपनी पुस्तक मे महत्वपूर्ण उल्लेख किये हैं।[3]

६—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य मे निर्गुण सप्रदाय' मे इस विषय पर विचार किया गया है।

७—डा० क्षितिमोहन सेन द्वारा सपादित कबीर के पद मौखिक परम्परा से सुनकर सग्रहीत किये गये हैं।

डा० बडथ्वाल आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रकाशित पदो का उल्लेख करते हैं तथा बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित चार अन्य सग्रहो, वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित साखियो आदि ग्रन्थो, कबीर बीजक, कबीर ग्रन्थावली आदि सग्रहो की विस्तृत चर्चा करते हैं।

८—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी इन सभी पुस्तको का विवेचन करते हैं।

९—डा० रामरतन भटनागर इनमे से कुछ को कबीर की निश्चित मानते हैं तथा अन्यको कबीरकृत नही मानते। उदाहरणके लिये वे क्रमश: बीजक, आदि ग्रन्थ और कबीर ग्रन्थावली के नाम लेकर उनका वर्णन करते हैं।

कबीर पथियो के लिए कबीर-बीजक एक विश्वसनीय और पूज्य ग्रन्थ है। कबीर की एक साखी है—

> पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पडित भया न कोइ।
> ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पडित होइ॥

---

१. ए स्केच ऑफ दि रेलिजस सेक्ट्स ऐण्ड दि हिन्दूज्—विलसन।

२. सत कबीर—रामकुमार वर्मा।

३. कबीर ऐण्ड हिज फालोअर्स—की।

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थों और पोथियो इत्यादि को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्हें तो ग्रन्थ रचना के बदले मौखिक प्रवचनो का अधिक मूल्य है। वे इसे प्रचारकार्य का साधन स्वीकार कर चुके हैं। आज तो कबीर की रचनाएँ विभिन्न सग्रहो के रूप मे ही हमे उपलब्ध हैं। इनमे पद, रमैनी, साखियाँ, दोहे आदि सग्रहीत हैं। वैसे ये पचबानी सर्वङ्गी आदि ग्रन्थ जैसे पुराने बडे सग्रहो मे भी ये सग्रहीन हैं। इसके अतिरिक्त 'कबीर बीजक' 'कबीर की बानी', 'सत्य कबीर की साखी' जैसे स्वतन्त्र सग्रह भी मिलते हैं। इन रचनाओ की भाषा पर पूरबी हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। कही-कही राजस्थानी तो कही-कही पजाबी का पुट और 'सकल सन्त गाथा' जैसी मराठी पुस्तको में इनके पदों पर गुजराती एवम् मराठी भाषाओ का रंग चढा हुआ सा जान पडता है।

१०—'कबीर ग्रन्थावली' के सपादक स्व० श्यामसुन्दरदास ने अपनी भूमिका मे बतलाया है कि यह ग्रन्थ दो पुरानी प्रतियो पर आधारित है जिसमे एक का लिपि-काल सवत् १५६१ और दूसरी का सवत् १८८१ है। प्रथम मे दूसरी मे १३१ साखियाँ तथा ५ पद अधिक हैं। कबीर बीजक की रमैनियो के क्रम के सम्बन्ध मे ऐसी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के दो शिष्य 'भगोदास' और 'भग्गोदास' थे। इनकी माँ को उन्होंने कबीर-बीजक की मूल प्रति अपने अन्तकाल-पूर्व दी थी। फिर दोनो मे वाद-विवाद चला कि उक्त ग्रन्थ उसकी निजी सम्पत्ति है। कोई भी अपने हाथ से उसे दूसरे के हाथ मे देना स्वीकार न करता था। तब माँ ने बीच बचाव करने की दृष्टि से दोनों को ही उसे दे दिया। किन्तु एक की प्रति की रमैनियो का आरम्भ 'जीवरूप' वाली रमैनी से तथा दूसरी प्रति का आरम्भ 'अन्तरज्योति' वाली रमैनी से होना स्पष्ट कर दिया।

कबीर-बीजक मे सग्रहीत रचनाओ की विशेषता उनमे सृष्टि-रचना विषयक वर्णनो की प्रचुरता है। कबीर साहब किसी दार्शनिक की भाँति विश्व के मूल तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, उसके विकासक्रम का भी प्रश्न छेडते हैं। कबीर पथी इसे बहुत महत्व देते हैं। पौराणिकता युक्त उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे भी इसमे कई बातें मिलती हैं। पर इसमे हम उनके सुन्दरतम लौकिक जीवन के स्वरूप को देखने समझने से वचित हो जाते हैं। कबीर जन-जीवन के सम्यक उत्थान के हेतु एक सुधारक, तार्किक प्रचारक, लोक चतुर व्यग्यकर्ता व्यक्ति भी हैं।

कबीर की भाषा सधुक्कडी है, शैली धक्कामार है। उलट-बाँसियो जैसी नाथ पथियो की अक्खडता-पूर्ण शैली उनको विरासत मे मिली है। कहते हैं कि कबीर के पुत्र कमाल उनके बडे विरोधी थे। कबीर की उक्ति प्रसिद्ध ही है—

> डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।
> हरिका सुमिरन छाँड़ि के, घर ले आया माल ॥

कबीर का जीवन अन्धविश्वासों का घोर विरोध करने में ही बीता। वास्तव में जन्म से अन्त तक कबीर का जीवन समस्यामूलक है। उनका अपना जीवन तथा दैनंदिन आचरण और उनकी कृतियाँ ही इन समस्याओं के उत्तम हल हैं। मोक्षदापुरी-वाराणसी में रहकर जो मगहर में मरते हैं वे नरक में जाते हैं। इस अन्धविश्वास को दूर करने के हेतु कबीर मगहर जाकर मरे। उनका कथन है—

> 'जो कासी तन तजै कबीरा। तो रामहि कहा निहोरा रे ॥'

कबीर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने वाले थे। पर उन्हे अपनी मुक्ति में चरम विश्वास था इसीलिए उन्होंने कहा 'मुआ कबीर रमै श्रीराम' रामनाम का जप करते-करते वे शरीर त्यागने जा रहे थे। कबीर की अंत्येष्टी क्रिया के बारे में भी विलक्षण लोक-प्रवाद प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मरने पर जब इनके शव पर से चादर हटाई गई तो वहाँ केवल कुछ फूल मिले। हिन्दुओं ने आधे फूलों का अग्नि संस्कार किया और मुसलमानों ने अपने हिस्से के फूलों को लेकर मगहर में ही उन पर कब्र बनाई। हिन्दुओं ने फूलों की रक्षा को लेकर वाराणसी में समाधिस्थ किया। यह स्थान 'कबीर-चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

कबीर निर्गुण और सगुण के परे की सत्य सत्ता के परम भक्त थे। वैसे उनको निर्गुणियों में गिना जाता है। ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति होती है ऐसा उनका मत है[1]—

> पाणी ही ते हिम भया, हिम व्है गया बिलाइ।
> जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥

कबीर का कहना था 'मैं कहता आँखिन की देखी।' कबीर कोरे ज्ञानमार्गी शुष्क निर्गुणी नहीं हैं। अपनी प्रेम-भक्ति-मूला साधना का आरम्भ वे सब कुछ छोड़कर, उत्कृष्ट सात्म के साथ ज्ञान के बोझ को न ढोते हुए भगवद् प्रेम पर दृष्टि रखकर हृदय से कर चुके थे। उनके लिए प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन। वे व्रत, रोजा, पूजा, नमाज आदि कुछ भी नहीं मानते। उनका यह कथन है—

> एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नहीं मेरा।
> राखूँ व्रत न मुहरम जाना, तिसही सुमिरूँ जो रहे निदानां ॥
> पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमस्कारूँ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—कबीर साखी १७, पृ० १३।

ना हम जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्या तो क्या दूजा ।
कहै कबीर भरम सब भागा एक निरंजन सूँ मन लागा ॥

यह विवेचन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर ग्रन्थावली', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, 'हिन्दी साहित्य', 'कबीर साहित्य की परख' आदि ग्रन्थों पर आधारित है, जो द्रष्टव्य है ।

कबीर का भाषा पर जबरदस्त अधिकार था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का यह कथन ठीक ही है कि, हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं पैदा हुआ।'[१] कबीर वास्तव में भक्त ही थे। कबीर ने अपनी रचना में अपनी साफ और जोरदार भाषा में अपने तत्वों को ध्वनित किया है। उनकी भाषा में परम्परा से चली आती हुई विशेषताएँ वर्तमान है।

कबीर का युग ऐसा था जब कि उत्तर भारत में मुसलमानी शासन विद्यमान था। बहुजन समाज पर हठयोगियों के प्रभाव का प्राबल्य था। समाज की ऊँच नीच भावना उपहास और आक्रमण का विषय थी पर दूसरों के लिए वही मर्यादा और स्फूर्ति का विषय बन गई थी। वज्रयानी और नाथपंथी योगी डटकर जाति भेद पर आघात कर रहे थे। बाह्याचार और उन्मूलक-श्रेष्ठता को फटकारते हुए केवल चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते हुए माया के गुलाम गृहस्थों से अपने को वे श्रेष्ठ समझते थे। नाथ सम्प्रदाय से यह अक्खडता उन्हें प्राप्त हुई थी। देश-भ्रमण, तीर्थाटन आदि कबीर ने सत्सङ्ग और सन्तों के अनुभवों को सुनने के हेतु किये थे। वे दक्षिण में पंढरपुर भी गए थे। नामदेव कबीर से बड़े थे और कबीर ने उन का नाम सुना था। पंजाब में नामदेव का दीर्घकालीन निवास नामदेव के कबीर पर पड़े हुए प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान जाने अनजाने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरह से होता ही रहता है। कबीर के पदों में 'विठ्ठल' का उल्लेख, नामदेव के पदों का ग्रन्थसाहब में समावेश ये सब इस आदान प्रदान के उदाहरण या फल कहे जा सकते हैं। अनेक साधनाओं के विभिन्न मार्गों को जानकर कबीर ने अपने ढङ्ग से उनको ग्रहण कर लिया है। कबीर की भावात्मक और साधनामूलक रहस्यवादी अनुभूतियों को स्वसंवेद्य बनाने के लिये उस युग की इन सभी साधनाओं में बैठना पड़ेगा।

कबीर की हस्तलिखित पोथियाँ न होने से उनके नाम पर संग्रह की गई अनेक पुस्तकों में उनकी प्रामाणिक भाषा का और शैली का ज्ञान प्राप्त करना

१. कबीर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१७।

अत्यन्त कठिन है। 'आदिग्रन्थ' मुद्रित किया गया है। इस संग्रह की भाषा प्राचीनता की दृष्टि से विचारणीय है। वैसे प्रामाणिकता फिर भी विश्वसनीय नहीं है। बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' में कबीर का मूलरूप अधिक सुरक्षित है। इधर नयी 'कबीर ग्रन्थावली' डा० पारसनाथ तिवारीजी की ओर भी अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करती है। आगे के अनुसंधानों के लिए इस कृति का विशेष महत्व होगा।

'कबीर-बीजक' के भी कई संस्करण हैं तथा इस पुस्तक का कबीर-सम्प्रदाय में विशेष प्रतिष्ठायुक्त स्थान है। उसकी रमैनियाँ ही उसका प्रमुख अंग है। भाषा की आधुनिकता भी इसमें विद्यमान है और यह वर्तमान रूप संभवत १८ वीं शती का होगा। कबीर के बाद चल पड़े हुए कबीर सम्प्रदाय की एक धार्मिक पुस्तक के नाते उसका महत्त्व मान्य करना ही पड़ेगा।

"कबीर अपने युग के सब से बड़े क्रान्तदर्शी हैं। सहज सत्य की पहचान उनकी है। उनका प्रेम एक आदर्श नैष्ठिक भक्त का प्रेम है। साधु होकर भी वे अगृहस्थ नहीं, वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं, मुसलमान होकर भी मुसलमान नहीं, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं है। वे *भगवान् नृसिंहावतार की प्रतिमूर्ति थे।*[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का उक्त मत समीचीन और यथार्थ ही है।

- तुलसीदास :

तुलसीदास एक महापुरुष थे। ग्रियरसन उनको बुद्ध-देव के बाद सबसे बड़ा लोक नायक मानते हैं। उनकी 'रामचरित मानस' उत्तर भारत में ही नहीं वरन् सारे भारत में इस तरह प्रचलित है जितनी बायबल भी नहीं है। वैसे कभी-कभी उसका प्रचार बायबल की तरह है ऐसी उक्तियाँ सुनाई पड़ जाती हैं। इतना होने पर भी गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्म-स्थान और उनकी जन्मतिथि का निश्चित पता नहीं चलता। तुलसीदास के साथ कोई न कोई सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपने गाँव का सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी बहुत बार उभरती हुई दिखाई देती है। तुलसी की कृतियों में अपने युग के समाज का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है।

लोक-मर्यादा से युक्त भक्ति का मार्ग लोग तिरस्कार की दृष्टि से गर्ह्य मानते थे और अपने मनमाने ढङ्ग से चलते थे। तुलसी की उक्ति में उसका स्वरूप झांक उठा है[२]—

> श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ, संयुत विरति विवेक।
> तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

---

१ कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२. दोहावली दो० ५५५।

मराठी मे ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' को लेकर विद्वानों ने जितने ग्रन्थ लिखे उनकी सख्या सबसे अधिक है। ठीक उसी तरह हिन्दी में तुलसीदासजी पर वरेण्य एवम् मूर्धन्य चोटी के विद्वानो ने अपनी लौह लेखनी से अनेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रसूत की हैं। इनमे श्यामसुन्दरदासजी का गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचन्द्र शुक्लजी का तुलसीदास' डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डा० बलदेव मिश्र का 'तुलसी-दर्शन', डा० भगीरथ मिश्र का 'तुलसी-रसायन', डा०राजपति दीक्षित का 'तुलसीदास और उनका युग' आचार्य विश्वनाथजी का 'तुलसीदास' जैसे ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हैं।

तुलसी के युग में लोग साधना के मनमाने मार्ग ढूँढ निकाल रहे थे। वेदों और पुराणो के निंदक बनकर भक्ति को अपनाने के बदले केवल उदरभरणार्थ धर्म सिखाने वाले लोगों को देखकर तुलसी की आत्मा रो उठती थी। इसीलिये वे कह उठे—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरुपहिं बदति कलि, निदहिं बेद पुरान ॥[1]

और

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी ॥

तुलसीदासजी अपने आराध्य राम के प्रति एकनिष्ठापूर्ण भक्ति भावना रखते थे। वे सगुन और अगुन के भेद को देखने वाले न थे। पर समाज इतना अन्धा हो गया था कि पेट के लिए बेटा-बेटी तक को बेचना उन्हें अधर्म नहीं मालूम होता था। तुलसीदासजी नीलवर्ण के सांवले रामचन्द्रजी के नयन-मनोहारी रूप को देखकर गदगद हो जाते थे। मतलब यह कि तुलसीदासजी मे विश्वास अखड था, और अध्ययन भी उनका गहन और गम्भीर था।

तुलसीदास की जीवनी के सूत्र—

तुलसीदास ने अपने बारेमें यत्र तत्र अपने ग्रन्थों में कहीं कुछ लिख दिया है। वैसे अन्य बाहरी सामग्री में ये पुस्तकें हैं—(१) 'भक्तमाल' नाभादासकृत, (२) प्रियादास की भक्तमाल पर रची गई टीका, (३) गोसाई गोकुलनाथकृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।' इसके अतिरिक्त दो और पुस्तकें हैं जिन्हें विशेष प्रामाणिक नहीं माना जाता। वे ग्रन्थ ये हैं—बेनी माधवदास रचित मूल गोसाई चरित' और कोई बाबा रघुवरदास रचित 'तुलसी-चरित'।

---

१. दोहावली—दो, ५५४।

लौट आए। उनका बचपन का नाम रामबोला था। कवितावली में इसे वे एक स्थान पर स्पष्ट करते हैं[1]—'राम बोला नाम है गुलाम राम साहि को' इसी तरह विनय पत्रिका में वे कहते हैं—'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम'। बाद में वे तुलसीदासजी के नाम से ही पहचाने जाने लगे। अपने गुरु की वंदना बालकाण्ड में वे इस प्रकार करते हैं—

'बंदउ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर-निकर॥'[2]

इसमें 'नर-रूप-हरि' के आधार पर कुछ विद्वानों ने नरहरिदास को इनका गुरु माना है। अपने गुरु से बार-बार उन्होंने रामकथा सुनी थी। इसके बारे में वे कहते हैं—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रहेउं अचेत॥ तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥' वे रामकथा सुनाने लगे। उनके गुणों पर मुग्ध होकर दीनबंधु पाठक ने अपनी कन्या रत्नावली का उनसे ब्याह कर दिया। उन्होंने तुलसीदासजी का विनय और शील देखकर ही यह ब्याह तय किया था। अपनी पत्नी पर वे बहुत अनुरक्त थे। एक बार वह अपने मायके गई हुई थी। तब बाढ़ आई हुई नदी को पारकर आधी रात को वे अपनी पत्नी से मिलने पहुँचे, तब उस स्त्री ने उनसे कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयेहु नाथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहाँ कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भव भीति।

अपनी पत्नी से ये वचन सुनकर उनके अन्तःकरण की आँखें खुल गईं। वे विरक्त होकर काशी में रहने लगे। काशी से अयोध्या में जाकर रहे। फिर तीर्थ यात्रा करते-करते रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, द्वारका बदरिकाश्रम, कैलास और मानस-रोवर तक हो आये। अयोध्या में जाकर रामचरित मानस रचना आरम्भ कर दिया। उसे दो वर्ष सात मास में समाप्त किया। किष्किन्धा काण्ड काशी में रचा गया। रामायण पूरी करके वे वाराणसी में ही रहे। यह बात प्रसिद्ध है कि—

'संवत सोरह सौ इकतीसा। करहुँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम-जन्म श्रुति गावहिं।'

---

१. कवितावली उत्तरकाण्ड, १००।

२ रामचरित मानस बालकांड, ५।

तुलसीकृत कृतियों के नाम—

तुलसीदासजी की कुल बारह कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। उनमें पाँच बड़े और सात छोटे ग्रन्थ हैं। दोहावली, कवित्त रामायण अर्थात कवितावली, गीतावली रामचरित मानस, विनय पत्रिका ये बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, वैराग्यसन्दीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे ग्रन्थ हैं।

संस्कृत का पक्ष छोड़कर तुलसी ने भाषा का पक्ष प्रतिपादित किया क्योंकि वे कहते थे—

> का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
> कामजु आवे कामरी काले करिय कुमाच॥

उनका स्वतन्त्र स्वभाव ऐसा था कि वे बिलकुल निश्चिन्त थे।

> 'मेरे जाति-पाँती न चहौं काहू की जाति पाँति,
> मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
> साधु कै असाधु, कै भलो, कै पोच सोच कहा,
> का काहू के द्वार परो? जो हौं सो हौं राम को॥
> धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
> काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारो न कोऊ॥
> तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछु कोऊ।
> मांगिकै खैबो मसीत के सोइबो, लैबेको एक न देबे को दोऊ॥'[१]

रामचन्द्रजी की भक्ति में उनका हृदय दुराव छिपाव युक्त नहीं है। देखिये—

> 'सूधे मन, सूधे वचन सूधी सब करतूति।
> तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥'

उनके समय में गोरख पंथी साधु योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उनके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती सी दिखाई पड़ी तभी तो उनको कहना पड़ा—

> 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
> निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है॥'

वे ईश्वर को अपने भीतर देखने की अपेक्षा बाहर के लिए विवेचन करते हैं। 'अन्तर्यामिहु ते बड़ बाहर जामी है राम जो नाम लिए ते।' पैज परे प्रह्लादहू को

---

१. कवितावली उ. ८४।

कथा उनकी प्रार्थना किये जाने पर सुनाई है। काक भुसुंडी गरुड को इस कथा की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचारों की व्याख्या कर सुनाते हैं। महाकाव्य के प्राय सभी लक्षण इसमें आ गए हैं। सुभाषित और काव्योक्तियाँ ऐसी हैं जो भारतीय जनता की सूक्तियाँ बनकर लोगों की जिह्वा पर मुअवसर पर विराजमान हो जाती हैं। सप्तकाडों के प्रारम्भ मे सस्कृत श्लोक है, जिनमे देवताओं की स्तुति है और कविता की कथावस्तु का सकेत मिलता है। भाषा परिष्कृत अवधी है। तुलसी ने उसे माँजकर सुव्यवस्थित कर दिया है। उन्हें यह शैली जायसी से प्राप्त हुई थी। दार्शनिक के रूप में उनका रूप ऐसा है जो ज्ञान और तर्क के सहारे अद्वैत की स्थिति तक पहुँच जाता है। इस पारमार्थिक दृष्टि से केवल परब्रह्म की सत्ता के रूप मे ब्रह्म स्थित है। यह 'अज अद्वैत अगुन हृदयेमा' रूप के साथ ज्ञान-गिरा-गोतीत भी है। राम की प्रभुताई बिना रामकृपा के नही जानी जा सकती। उनकी रामकथा का यह स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', अध्यात्म रामायण', 'कवि जयदेव के प्रसन्न राघव', हनुमन्नाटक' और अन्य सस्कृत ग्रन्थों से उन्होंने लिये हैं। भागवत और गीता से भी उन्होंने आधारभूत सामग्री ली है। इसका प्रधान रस शान्त है। महाकाव्य के नाते और रामचरित नायक के लोकोत्तर और मर्यादा पुरुषोत्तम होने के नाते अन्य सभी रसो का यथास्थान यथोचित रूप मे प्रयोग हुआ है। अनेक सवादों और कथानकों का गुफन और गठन परिनिश्चित रूप से हुआ है। जीवन के विविध सास्कृतिक दृश्य अपने आदर्श स्वरूपो के साथ इसमें विद्यमान हैं। आस्था के सबल से प्रत्यक्ष अनुभव और विश्वास के साथ ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है इसे रामचरितमानस के महान पात्रो द्वारा तुलसी ने दिखा दिया है।

दोहावली—यह मुक्तक काव्य है। इसमें तुलसीदासजी धर्मोपदेशक, नीतिकार और सूक्तिकार के रूप मे सामने आते हैं। तुलसी की भक्ति को चातक के माध्यम से इसमें व्यक्त किया गया है। कूट और आलकारिक चमत्कार विधान भी इसमे मिलता है। इसका कारण इसका समास-शैली मे लिखा जाना है। सुदीर्घ काल में यह रचना लिखी गई है।[1] डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सतसई, दोहावली, हनुमान बाहुक आदि स० १६२१ से १६८० तक लिखी गई रचनाएँ हैं। तुलसीकी अन्य रचनाओंमें से भी कुछ दोहे इसमे मिलते हैं। डा. भगीरथ मिश्रका यह कथन ठीक ही है कि रुद्रबीसी का उल्लेख उसे सवत् १६५६ से १६७६ तक की सक की रचना होने का सकेत करता है।[2] इसमें कई विषयों को वैविध्य विवेचन के लिए तुलसी ने अपनाया है।

---

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।
२. तुलसीरसायन—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७६।

कवितावली और हनुमान बाहुक—

इन दोनों की एक ही प्रति मिलती है तथा केवल कवितावली और केवल बाहुक की अलग-अलग प्रतियाँ मिलती हैं। बाहुक कवितावली के परिशिष्ट की भाँति अधिकतर मिलता है। बाहुक की रचना सवत् १६८० की है क्योंकि यह उनकी अन्तिम रचना है। बाहुक मे ४४ कवित्त हैं। भिन्न-भिन्न समयो पर लिखे गये कवित्त सवैयो का काण्डो के अनुसार स्फुट सग्रह है। बालकाण्ड और अयोध्या-काड की शैली साहित्यिक, ललित और मधुर है। लङ्का काड ओजपूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त है। यह प्रौढ रचना है। उत्तर काड मे विभिन्न स्थानों का स्वच्छन्द रूप से स्वतन्त्र वर्णन है। सारे कांडो के विविध प्रसङ्गों पर और जीवन से सबध रखने वाले विविध हृक्को की भाँकियाँ सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत की गई हैं। तुलसी की अपनी समकालीन दशा, दुर्दशा तथा अपने जीवन के कई सदर्भ कवितावली मे मिलते हैं। कलियुग का यथातथ्य वर्णन है। अपनी वृद्धावस्था तथा मृत्यु के निकट सम्बन्ध का उल्लेख यथेष्ट रूप से मिलता है। लङ्कादहन तथा युद्ध के सजीव वर्णन और सभी रसो के दर्शन इस मुक्तक काव्य मे हो जाते हैं।

रामललानहछू—सोहर छन्द मे विवाह के अवसर पर गाने के लिये बनाया गया है। व्यावहारिक और सामाजिक प्रथाओ मे भी भगवान् राम चरित्र विषयक सास्कृतिक और भक्ति का स्वरूप समिश्र हो जाय इसी बहाने यह रचना की गई है। एक साधारण दूल्हा के रूप मे राम प्रस्तुत हैं। उसके सूहउ और भद्दे गीतों के स्थान पर अच्छे गीत प्रचलित हो जाय यह हेतु तुलसीदासजी का जान पड़ता है। तुलसी की यह प्रारम्भिक रचना है। परन्तु लोकगीत-शैली मे लिखी गई यह कृति फिर भी यथातथ्य रूढ़ियो का चित्रण करने वाली और रसिकतापूर्ण है। इसकी भाषा लोकगीतों की अवधी है। यह सवत् १६१६ मे अनुमानत रची गई।[1]

वैराग्य सदीपिनी—यह भी प्रारम्भिक रचना ही मानी जावेगी। चार प्रकरणो मे सन्त-सङ्ग, सदाचार तथा वैराग्य आदि से भक्ति का भाव प्राप्त कैसे किया जाय इसका विवेचन किया गया है। ये चार प्रकरण (१) मगलाचरण (२) सत स्वभाव वर्णन, (३) सत महिमा वर्णन और (४) शान्ति वर्णन हैं। यह कृति वैरागियो और साधुओ के लिये लिखी जान पड़ती है। कुछ लोग इसे तुलसीकृत नहीं मानते।

विनय पत्रिका—इसका नाम 'रामगीतावली' भी है। इसमे कलि के द्वारा सताये जाने पर भगवान् राम के पास हृदय कारुण्य भाव से भेजी गयी अत्यन्त

१ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।

विनम्रतापूर्ण शैली में विनय-पत्रिका है इसमे भक्त तुलसी साकार हो उठे हैं। इसे आत्म दैन्य, आत्मग्लानि, आत्मभर्त्सना, बोध, हर्ष, उपालभ, चिन्ता, विषाद, प्रेम कृतकृत्यता आदि विविध आत्मनिष्ठ मनोभावो का गीति शैली में लिखा गया गीति काव्य कह सकते हैं। अपनी भावगीतियो का ऐसा सुन्दर प्रबंध रूप प्रस्तुत कर अडिग आस्था से व भक्तिमार्ग पर क्यो चले इसका प्रमाण इसमे उपलब्ध हो जाता है। किसी भावुकता के आवेश मे आकर इस राजसोपान पर वे नही चले हैं वरन् अनुभूति, तथा सदसदविवेकिनी बुद्धि और अन्त करण की सहज प्रेरणा से उन्होंने यह निर्णय लिया है। यह एक तप पूत साधक का आस्थापूर्ण निश्चयात्मक अटूट और अचूक निर्णय है। तभी तो उन्होंने कहा है—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
×　　×　　×
गुरु कह्यो राम भजन नीको।
मोहि लगत राज डगरो सो।'

विनय पत्रिका का यह पूरा पद ही महत्वपूर्ण है। यह स्वयम् निर्णय और गुरु का आदेश इन दोनो का ऐकमत्य ही तुलसी की सेव्य-सेवक एव दास्य भक्ति-भावना है। तुलसी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के दर्शन हमे इसमें मिल जाते हैं। रामचरितमानस के बाद उनकी यह उत्तम और श्रेष्ठ कृति है। कोई भी सेवक सीधे अपने प्रमुख कर्मचारी के पास अर्जी नही भेजता। वह सब योग्य अधिकारियो के हाथो होती हुई मुख्य अधिकारी तक पहुँचती है। इस दरबारी प्रणाली को तुलसी जानते थे अत सभी देवताओ की प्रार्थना करते हुए 'राम चरण रति देहू' माँगते हैं तथा अपनी सिफारिश करवाते हैं। जगत्-जननी-जानकीजी से भी वे प्रार्थना करते हैं[२]—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाई।
मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाई॥
जानकी जगजननि जनकी किए बचन सहाई॥'

इस तरह सब के माध्यम से पहुँची हुई अर्जी स्वीकृत होती है और राम कहते हैं[३]—

'बिहँसी रामकह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी सही है॥'

---

१. विनयपत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५७, प० १७३।
२. विनय पत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५४, प० ४७।
३. विनय पत्रिका तुलसीदासजी, पृ० ४२५।

भक्त और भगवान् के परस्पर सम्बन्ध और रघुनाथ विरराम की यह कृति एक अमोघ प्रमाण है। इसे हम तुलसीदासजी का निजी मनोविश्लेषण कह सकते हैं।

बरवै रामायण—इसमें कुल ६६ छन्द हैं। अपने मित्र रहीम के आग्रह से तुलसीदासजी ने इसे लिखा था। यह सात काण्डों में विभक्त है। मुक्तक रूप में और कलात्मक सौन्दर्य के साथ यह कृति सामने आई है। डा० माताप्रसाद गुप्तजी इसको अन्तिम और अपूर्ण कृतियों में से एक मानते हैं।[1] अवधी का यह एक विशेष छन्द है और अवधी में यह बढ़िया बनता भी है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ संवत् १६६६ में लिखा गया था।

जानकी मंगल और पार्वती मंगल—

ये दोनों ग्रन्थ शैली की दृष्टि से एक से ही हैं। जानकी परिणय और पार्वती परिणय के प्रसङ्गों पर लिखे गये ये खड काव्य हैं। पार्वती-मंगल के एक सौ चौसठ छन्द हैं और जानकी मंगल के २१६ छन्द हैं। पार्वती-मंगल का रचना काल विक्रम संवत् १६४३ है। जानकी-मङ्गल भी इसी के आसपास बना होगा। वैसे डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार यह संवत् १६२६ की कृति है।[2] दोनों सफल खंड काव्य हैं।

गीतावली—यह ललित और गेय पदों का संग्रह है। इसमें भाव की गहराई और तीव्रता अवश्य विद्यमान है। रामचरितमानस के कथानक से इसमें भिन्न कथानक को अपनाया गया है। उत्तरकाण्ड में लवकुश और सीता निष्कासन का भी उल्लेख है। रामराज्य की समृद्धि, राम की दिनचर्या का स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है। कृष्णकाव्य के सांस्कृतिक उत्सवों का भी इस पर पड़ा हुआ प्रभाव परिलक्षित हो जाता है—जैसे दीपावली, हिंडोलोत्सव का वर्णन आदि। शृङ्गार, हास्य वीर, करुण आदि रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। यह कृति अनुमानतः संवत् १६५८ में रची गई।[3] यह भी तुलसी की प्रौढ़ रचना है और यह तुलसी की कृतियों में महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णगीतावली—यह श्रीकृष्ण लीला के पदों का संग्रह है। इसमें ६१ पद हैं और कृष्ण का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इसमें मुहावरेदार ब्रजभाषा में कृष्ण बाललीला का सुन्दर अभिव्यंजन हुआ है, और सगुणोपासना का महत्व,

१ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७६।
२ ,, ,, पृ० २३८, २७६।
३. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २४८, २७६।

विनम्रतापूर्ण शैली में विनय-पत्रिका है इसमें भक्त तुलसी साकार हो उठे हैं। इसे आत्म दैन्य, आत्मग्लानि, आत्मभर्त्सना, बोध, हर्ष, उपालंभ, चिन्ता, विषाद, प्रेम कृतज्ञता आदि विविध आत्मनिष्ठ मनोभावों का गीति शैली में लिखा गया गीति काव्य कह सकते हैं। *अपनी भावगीतियों का ऐसा सुन्दर प्रबंध रूप प्रस्तुत कर* अडिग आस्था से व भक्तिमार्ग पर क्यों चले इसका प्रमाण इसमें उपलब्ध हो जाता है। किसी भावुकता के आवेश में आकर इस राजमोपान पर वे नहीं चले हैं वरन् अनुभूति, तथा सदसदविवेकिनी बुद्धि और अन्त करण की सहज प्रेरणा से उन्होंने यह निर्णय लिया है। यह एक तप पूत साधक का आस्थापूर्ण निश्चयात्मक अटूट और अचूक निर्णय है। तभी तो उन्होंने कहा है—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
×　　　×　　　×
गुरु कह्यो राम भजन नीको।
मोहि लगत राज डगरो सो।'

विनय पत्रिका का यह पूरा पद ही महत्वपूर्ण है। यह स्वयम् निर्णय और गुरु का आदेश इन दोनों का ऐकमत्य ही तुलसी की सेव्य-सेवक एवं दास्य भक्ति-भावना है। तुलसी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के दर्शन हमें इसमें मिल जाते हैं। रामचरितमानस के बाद उनकी यह उत्तम और श्रेष्ठ कृति है। कोई भी सेवक सीधे अपने प्रमुख कर्मचारी के पास अर्जी नहीं भेजता। वह सब योग्य अधिकारियों के हाथों होती हुई मुख्य अधिकारी तक पहुँचती है। इस दरबारी प्रणाली को तुलसी जानते थे अत सभी देवताओं की प्रार्थना करते हुए 'राम चरण रति देहू' माँगते हैं तथा अपनी सिफारिश करवाते हैं। जगत्-जननी-जानकीजी से भी वे प्रार्थना करते हैं[२]—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाई।
मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाई॥
जानकी जगजननि जनकी किए बचन सहाई॥'

इस तरह सब के माध्यम से पहुँची हुई अर्जी स्वीकृत होती है और राम कहते हैं[३]—

'बिहँसी रामकह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी सही है॥'

---

१. विनयपत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५७, प० १७३।
२. विनय पत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५४, प० ४७।
३. विनय पत्रिका तुलसीदासजी, पृ० ४२५।

भक्त और भगवान् के परस्पर सम्बन्ध और रघुनाथ विश्वास की यह कृति एक अमोघ प्रमाण है। इसे हम तुलसीदासजी का निजी मनोविश्लेषण कह सकते हैं।

बरवै रामायण—इसमे कुल ६६ छन्द हैं। अपने मित्र रहीम के आग्रह से तुलसीदासजी ने इसे लिखा था। यह सात काण्डो मे विभक्त है। मुक्तक रूप मे और कलात्मक सौन्दर्य के साथ यह कृति सामने आई है। डा० माताप्रसाद गुप्तजी इसको अन्तिम और अपूर्ण कृतियो मे से एक मानते हैं।[1] अवधी का यह एक विशेष छन्द है और अवधी मे यह बढ़िया बनता भी है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ सवत् १६६६ मे लिखा गया था।

जानकी मगल और पार्वती मगल—

ये दोनो ग्रन्थ शैली की दृष्टि से एक से ही हैं। जानकी परिणय और पार्वती परिणय के प्रसङ्गो पर लिखे गये ये खड काव्य हैं। पार्वती-मगल के एक सौ चौसठ छन्द हैं और जानकी मगल के २१६ छन्द हैं। पार्वती-मगल का रचना काल विक्रम सवत् १६४३ है। जानकी-मङ्गल भी इसी के आसपास बना होगा। वैसे डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार यह सवत् १६२६ की कृति है।[2] दोनों सफल खड काव्य हैं।

गीतावली—यह ललित और गेय पदो का सग्रह है। इसमे भाव की गहराई और तीव्रता अवश्य विद्यमान है। रामचरितमानस के कथानक से इसमें भिन्न कथानक को अपनाया गया है। उत्तरकाड मे लवकुश और सीता निष्कासन का भी उल्लेख है। रामराज्य की समृद्धि, राम की दिनचर्या का स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है। कृष्णकाव्य के सास्कृतिक उत्सवो का भी इस पर पडा हुआ प्रभाव परिलक्षित हो जाता है—जैसे दीपावली, हिंडोलोत्सव का वर्णन आदि। शृङ्गार, हास्य वीर, करुण आदि रसो की सुन्दर अभिव्यक्ति इसमे मिलती है। यह कृति अनुमानतः सवत् १६५८ मे रची गई।[3] यह भी तुलसी की प्रौढ रचना है और वह तुलसी की कृतियो मे महत्वपूर्ण है।

कृष्णगीतावली—यह श्रीकृष्ण लीला के पदो का सग्रह है। इसमे ६१ पद हैं और कृष्ण का बडा सजीव वर्णन मिलता है। इसमे मुहावरेदार ब्रजभाषा मे कृष्ण बाललीला का सुन्दर अभिव्यजन हुआ है, और सगुणोपासना का महत्व,

---

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७६।
२ ,, ,, पृ० २३८, २७६।
३. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २४८, २७६।

गोपियों के प्रेम की अनन्यता आदि बातें सरसता से चित्रित हैं। तुलसी के अवधी और ब्रज भाषा के अधिकार को यह कृति स्पष्ट कर देती है। सूर की कृति के साथ यह तुलनीय भी है। इसकी रचना गीतावली के साथ या बाद में हुई ज्ञात पडती है।

रामाज्ञा प्रश्न—इसका रचनाकाल सवत् १६२१ है। इसमें सात-सात दोहों के सात सप्तकों वाले सात सर्ग हैं। स्वयम् कवि अपने रचनाकाल का सकेत देता है[1]—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

इसमें ससि=१ नयन=२ गुन=६ बान नय अधिकावधि (५-४=१) कवि प्रथा के अनुसार इस प्रकार की तिथियों का उल्टा क्रम पढ़ने पर १६२१ निकल आता है। यह पुस्तक तुलसी ने अपने एक मित्र गगाराम ज्योतिषी के लिए सगुन प्रश्न पूछने के सदर्भ मे लिखी थी। इसमें कुल २४३ छन्द हैं। इस पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव पड़ा हुआ ज्ञात पड़ता है।

तुलसीदास सगुण राम के बड़े जोरदार समर्थक हैं। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उनकी दास्य भक्ति विनीत मनोभावों की जन्मदात्री सिद्ध होती है। उनकी कृतियों में उत्तम कोटि के भक्त भगवान् से सदा यह वर माँगते हैं कि उनका सगुण रूप सदा उनके मन में अङ्कित हो जाय। अलख जगाने वाले को वे फटकारते हैं—

हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच॥[2]

राम को जब तक लोग मान्यता देते हैं तब तक जगत् के सम्बन्धों को मानने मे औचित्य है। राम भजन में विरोध करने वाले, सुहृद, निकट सम्बन्धी भी हों तो उनका कहना है कि—'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये तिन्हे कोटि बैरी सम।'[3] जीवन में यदि राम से नाता नहीं तो जीवन का कोई मूल्य ही नहीं। उनके रामराज्य में लोग परस्पर बन्धुभाव और प्रीति करते हैं। अपने-अपने स्वधर्म से आचरण करते हैं। कोई किसी से वैर नहीं करता। किसान को खेती, वणिक को व्यवसाय मिलता है और सब को सारी चीजें यथास्थान उपलब्ध हो जाया करती हैं। व्यष्टि और समष्टि सभी अपना ऐहिक और पारमार्थिक ध्येय सिद्ध कर लेते हैं। लोकधर्म, युगधर्म, और स्वधर्म में निरत होकर सभी अभ्युदय कर लेते हैं।

---

१. रामाज्ञा प्रश्न ७-७-३।
२. दोहावली—तुलसीदास।
३. विनय पत्रिका—तुलसीदास, पृ० २६०, प० १७४।

ऐसा कहा जाता है कि यात्रा करने के बाद जब गोस्वामी तुलसीदासजी चित्रकूट में जाकर स्थित हो गये तथा वहाँ की नित्य चर्या के अनुसार वे रोज शौच निवृत्ति के लिए जाते और बचा हुआ लोटे का जल पीपल के पेड़ की जड़ पर डाल देते थे। इससे एक प्रेतात्मा सन्तुष्ट हो गई। उसने एक दिन प्रसन्न होकर तुलसीदास से कहा कि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिए, मैं उसे करने को प्रस्तुत हूँ। उन्होंने रामचन्द्रजी के दर्शन कराने के लिए कहा। तब प्रेतात्मा ने कहा—'मैं तो असमर्थ प्रेतात्मा हूँ। पर उपाय बतला सकता हूँ। चित्रकूट में आप रामकथा सुनाते हैं उसे सुनने के लिए कोढ़ी के रूप में सबसे पहले आने वाला और सबके अन्त में जाने वाला एक व्यक्ति है, वह हनुमान के अतिरिक्त और कोई नहीं है। गोस्वामी ने एक दिन अवसर पाकर उनके चरण पकड़ लिए और उन्हें न छोड़ा तब रामचन्द्रजी के दर्शन का आश्वासन देकर और चित्रकूट में रहने का आदेश देकर वे चले गए। तुलसीदासजी ने चित्रकूट में दो राजकुमारों को आखेट करते हुए देखा। पर वे रामलक्ष्मण हैं इसे वे पहचान न सके। हनुमानजी ने प्रकट होकर भेद खोला। तब पश्चाताप हुआ। हनुमानजी ने पुनः आश्वासन दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल राम भजन में मग्न होकर रामघाट पर बैठे राम-विरह से वे पीड़ित थे। इसी समय रामचन्द्रजी ने प्रकट होकर चन्दन माँगा। तब संकेत से समझाने के लिए हनुमानजी ने तोते के रूप में यह दोहा पढ़ा—

'चित्रकूट के घाट पर भई सतन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसे तिलक देत रघुबीर॥'

वे मुग्ध होकर उनका सौन्दर्य देखने लगे पर मूर्छित हो गए। रामचन्द्रजी के बार-बार कहने पर जब तुलसी ने नहीं सुना तब वे स्वयम् तिलक लेकर अन्तर्हित हो गये। यह निश्चित मानना पड़ेगा कि उनको कभी तो अवश्य रामदर्शन हुआ होगा।

'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण रसनाराम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥' —दोहावली।

गीतावली में वर्णित यह धनुर्धारी राम की मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अंकित हो गई थी।

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसती सो मृदु मूरति मन मोरे॥
जटा मुकुट सिर सारस नयननि,
गौंहे तरत [सु] भौंह सकोरे।[1]

---

[1] गीतावली—पृ० २६७, अरण्यकाण्ड प० २, तुलसीदास।

उनको सदा चित्रकूट अच्छा लगता था। तुलसी अयोध्या मे रहे तथा वाराणसी में तो उनके जीवन का बहुतांश बीता था। अपने उत्तर काल में वे काशी मे ही थे। मकट-मोचन हनुमान उनका ही बनाया हुआ है। विनय-पत्रिका तो काशी मे ही लिखी गयी थी।

गोस्वामी तुलसीदास के कुछ मित्र—

काशी के एक टोडरमल नाम भुई-हार जमींदार थे जो तुलसीदास के घने मित्र थे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने ये दोहे कहे—

'चार गाँव को ठाकुरो मनको महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडरदीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
× × ×
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि सकोच॥'

इनके पुत्रो के झगडो का निपटारा पचनामा करके जायदाद का बँटवारा निर्णय रूप मे किया था। उनके वशज आज भी तुलसीदासजी की पुण्य तिथि के दिन सीधा दिया करते हैं।

रहीम और तुलसी भी परम मित्र थे। अकबर के दरबारी गवैये रामदास के सुपुत्र हितहरिवश भी मथुरा मे उनसे मिले थे। सूर और तुलसी का मिलन चित्रकूट के पास कामद-वन मे सवत् १६१६ के आरम्भ मे हुआ था और तब अपना 'सूरसागर' भी उनको दिखाया था, ऐसी किंवदती है। कुछ लोग सूर और तुलसी व्रज मे मिले ऐसा मानते हैं। वहाँ किसी ने तुलसी से सूर की प्रशसा की तब तुलसीदास ने कहा—

'कृष्णचन्द्र के सूर उपासी। ताते इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचन्द्र हमरे रखवारा। तिनहि छाँडि नहि कोऊ ससारा॥'

मीरा ने तुलसी से पत्र लिखकर सलाह माँगी थी ऐसी जनश्रुति है पर वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही ठहरता। वैसे जो बात प्रसिद्ध है वह यह है कि जब मीरा को परिवार के लोगो द्वारा सताया गया और विष दिया गया तब उन्होंने तुलसीदास से पूछा कि अब क्या करना चाहिए तब तुलसी ने यह लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए तिन्हे कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यौ पिता प्रहलाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी।'

—विनय पत्रिका-पद १७४।

तुलसीदास की निधन-तिथि परम्पराके अनुसार संवत् १६८० है। इसके बारे में एक दोहा प्रसिद्ध है—

> सम्वत् सोरह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
> श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥'

इसके बारे में एक और पाठ इस दोहे का मिलता है जो गणना की दृष्टि से सही है—

> 'संवत् सोलह से असी, असी गङ्ग के तीर।
> श्रावण स्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो सरीर॥'

उनकी मृत्यु के बाद उनका शव गंगा में प्रवाहित किया गया और तुलसी का यह बिरवा—

> 'राम कृपा तुलसी जनित, तुलसी बिरवा सोय।
> लै हलरावती सुरधुनी, जल प्रबल में गोय॥'

वे मरते दम तक रामनाम स्मरण करते रहे। अन्त समय क्षेमकरी गङ्गा का दर्शन कर उन्होंने कहा था—

> 'प्रेम सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है।'

उनका अन्तिम दोहा यह बतलाया जाता है—

> 'राम नाम जस बरनि के, भयो चहत अब मौन।
> तुलसी के मुख दीजिए अब ही तुलसी सोन॥'

बाहु पीड़ा से जर्जर और ग्रस्त होने पर हनुमानजी का उन्होंने आवाहन कर कहा था—

> 'आन हनुमान की दोहाई बलवान की।
> सपथ महावीर की जो रहे पीर बाँह की॥
> साहस समीर के दुलारे रघुबीर जी के।
> बाँह पीर महावीर बेग ही निवारिये।'

—हनुमान बाहुक।

तुलसी के मत में भक्ति अर्थात् ज्ञान कर्म से समन्वित भक्ति ही है। केवल ज्ञान मार्ग को वे कृपान की धारा कहते थे। राघव की भक्ति करने में अत्यन्त कठिनाई है। वह कहने में सुगम है किन्तु करने में अत्यन्त कठिन है। वह बिना राम कृपा के प्राप्त नहीं हो सकती।

> 'सकल पदारथ है जगमाहीं।
> राम कृपा दुर्लभ कछु नाहीं॥' —रामचरित मानस।

अमन में रामकृपा ही परम दुर्लभ है। उसके प्राप्त हो जाने पर सब बातें सुलभ हो जाती हैं। तुलसीदासजी का एक मात्र आधार, भरोसा प्रभु रामचन्द्रजी पर ही है—

> 'एक भरोसो एक बल. एक आस विश्वास।
> एक राम घनस्याम कहूं चातक तुलसीदास॥' —दोहावली।

स्वाति नक्षत्र के समय बरसने वाले जल को ही चातक तुलसी पीते हैं। अन्य जलवृष्टि को ये मानी भक्त स्वीकार ही नहीं कर सकते। उनको अपने राम वैसे ही प्रिय हैं जैसे कामी को नारी प्रिय है, अथवा लोभी को दाम। जब जब धर्म की हानि होती है तब उसकी रक्षा करने के हेतु रामचन्द्र विविध शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरण करते हैं। तुलसी प्रभु के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर मुग्ध थे, और लोक कल्याण पर इस सब की सदा दृष्टि थी। वे भक्ति को श्रुति सम्मत तथा विरति विवेक युक्त मानते हैं। वे साधुमत और लोकमत के मेल को अनिवार्य मानते हैं। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। मनुष्य को केवल अपने ही आचरण पर लज्जा या सकोच नहीं होता बल्कि अपने इष्ट मित्र, साथी या कुटुम्बियों के भद्दे आचरण पर भी लज्जा या सकोच होता है। हमारा अपना ही निकट सम्बन्धी यदि बातचीत करते समय अभद्रता या अश्लीलता से पेश आता हो तो हमें लज्जा मालूम होती है। तुलसी ने इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र सुनकर उनका अभिनन्दन किया जो सर्वथैव उपयुक्त है। कहीं भी रामचन्द्र का आचरण ऐसा नहीं है जिस पर आक्षेप किया जा सके। प्रभु रामचन्द्रजी के चरित्र में सबसे महत्वपूर्ण गुण है शरणागत की रक्षा करना। भारत वासियों का शरणागत की रक्षा करना एक बहुत बड़ा धर्म निरन्तर रहा है। सारे समाज में इस बात की प्रसिद्धि है।

> 'सरनागत कहूँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
> ते नर पांवहि पाप मय तिनहिं विलोकत हानि॥'
>
> —रामचरित मानस।

तुलसीदासजी का आदर्श भक्त भरत है। भरत के हृदय में लोक भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म प्रवणता का समन्वित रूप देखने को मिलता है। तुलसी ने मानव अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को देखा था—निरीक्षण किया था इसका प्रमाण उनकी कृतियों में नाना रूपों में देखने को मिल जाता है। बहिरंग विधान और अंतरंग विधान की दृष्टि से काव्य के उपकरणों में तुलसी की परख इतनी अच्छी है कि वह सबको अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती।

जीवन की सम्पूर्ण दशाओं का मार्मिक चित्रण करने वाले सबसे बड़े कवि तुलसी भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। तुलसी केवल इने गिने रस विशेषों पर अधिकार नहीं रखते वरन् एक महाकवि की हैसियत से मानव की सारी भावनात्मक सत्ता पर तथा सभी रसों पर अधिकार रखते हैं। तुलसीदासजी से टक्कर ले सकने वाले एक मात्र महाकवि सूरदास ही हैं। तुलसीदास केवल हिन्दी के ही बड़े कवि नहीं वरन् भारत के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्हें विश्व साहित्य में स्थान दिया जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर इस बात का पूर्ण रूप से पता लग जाता है कि तुलसी ने रामचरित मानस में तथा अन्य कृतियों में तीन भाषाओं का प्रयोग किया है। अपने जन्मस्थान की भाषा अवधी (पूर्वी हिन्दी), अपने इष्टदेव प्रभु रामचन्द्रजी की राजधानी अयोध्या की भाषा, ब्रज तथा पश्चिमी हिन्दी का रूप, और संस्कृत इन तीनों भाषाओं का साहित्यिक, प्रौढ़, परिनिष्ठित रूप तुलसी ने अपनाया है। तुलसी की इन भाषाओं पर अपनी छाप है। इस तरह सब क्षेत्रों में सब तरह से वैष्णव भक्तों में गोस्वामी तुलसीदास वरेण्य और अग्रगण्य हैं।

सूरदास :

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार सूर के बारे में यह कहा जाता है कि वे गऊ घाट पर रहते थे। वे एक स्वामी या साधु थे तथा अपने शिष्य बनाया करते थे। गोवर्धन पर्वत पर जब श्रीनाथजी का मन्दिर बन गया तब एक बार वल्लभाचार्य गऊ घाट पर उतरे। सूरदास उनके दर्शनार्थ आए और उनको अपने दो पद गाकर सुनाये।' १ 'प्रभु हौं सब पतितन को टीको।' और २. 'हौं हरि सब पतितन को नायक।' तब महाप्रभुवल्लभाचार्य ने उन्हें डाँटकर कहा कि सूर होकर इस प्रकार क्यों घिघियाते हो ? कुछ भगवद् लीला वर्णन करो।' सूरदास ने उत्तर दिया कि उन्हें भगवद् लीला का कोई ज्ञान नहीं है। तब महाप्रभु ने उनको स्नान कर आने के लिए कहा। उसके बाद प्रभु ने उनको नाम सुनाया और समर्पण करवाया और भागवत के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका कहकर भगवत् लीला गान करने की आज्ञा दी। वे इस तरह वल्लभाचार्यजी के शिष्य बन गए। उनको श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्तन सेवा सौंपी गई थी।

'सूर सारावली' के पद के अनुसार यह जानकारी द्रष्टव्य है[१]—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रबीन।
शिव विधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

---

१. सूर सारावली–पद १००२, पृ० ८०, प्रभुदयाल मीतल।

यह मत विद्वानों में सर्वमान्य है कि दीक्षा के समय सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के मतानुसार सारावली की रचना के समय का यह पद हो सकता है[1]—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरि नन्द को लिखि सुवल संवल पेख ॥
नदनंदन मास छै तें हीन तृतिया बार।
नदन-नदन जनमते हैं बान सुख आगार ॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्दनन्दन दास हित साहित्य लहरी कीन ॥
—साहित्य लहरी पद संख्या १०६।

इसमें 'रसन' शब्द पर बडी चर्चायें हुई हैं। 'रसन' का अर्थ शून्य या रस से हीन करते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण काल सवत् १६०७ निश्चित किया गया है। कुछ लोगों ने रसना का अर्थ जिह्वा करके, एक कार्यानुसार वाक् एक संख्या का वाची मानकर उसको सवत् १६१७ माना है। कुछ लोग स्वाद और वाक् मानकर उसको २ संख्या का वाची समझकर सवत् १६२७ के पक्ष में है। निष्कर्ष के रूप में *साहित्य लहरी के पदानुसार वैशाख की अक्षय तृतीया रविवार,* कृतिका नक्षत्र और सुकर्म-योग लिखा गया है तथा गणित करने पर सवत् १६१७ ही आता है। अत. यही मानना समीचीन है। श्री नलिनी मोहन सान्याल के अनुसार चैतन्य महाप्रभुजी का जन्म सन् १४८५ और सवत् १५५२ मानते हैं और कुछ प्रमाणों के आधार पर यह बतलाया जाता है कि सूरदास की जन्मतिथि सवत् १५४०–४१ के आसपास ठहरती है।[2]

पुष्टि-सम्प्रदाय में सूरदासजी आचार्य वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे माने जाते हैं।[3] आचार्यजी का जन्म सवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था। अत सूर की जन्मतिथि १५३५ वैशाख शुक्ल पचमी को ठहरती है। पर यह उपयुक्त नहीं जान पडता।

बडोदा कॉलेज के संस्कृत के प्रोफेसर श्री भट्टजी के अनुशीलनात्मक खोजों से यह सिद्ध हुआ है कि आचार्य वल्लभाचार्य का जन्म सवत् १५३० मानना उचित ही

---

१. महाकवि सूरदास—पृ० ६०–६१, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
२. भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास—श्री न मो. सन्याल, पृ० ६।
३ सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल व द्वा. ना पारीख, पृ० ५२–५३।

है अतएव सूरका जन्म सवत् १५३० ही मानना पडेगा।[1] डा० हरवशलाल शर्मा के अनुसार सवत् १५३५ सूर का जन्म सवत् है।[2] हम सवत् १५३० मानने के पक्ष मे है।

सूरदास की जाति तथा वंश--

साहित्य लहरी का ११५ वाँ पद जिसका आरम्भ प्रथम ही प्रभु जाग ते भे प्रगट अद्भुत रूप' इस पक्ति से होकर अन्त 'सूर है नँदनन्द जूको लयो मोल गुलाम।' इस पक्ति मे होता है।[3]

इस पद के अनुसार प्रभु के यज्ञ से एक अद्भुत पुरुष ब्रह्मराव उत्पन्न हुए। उस ब्रह्मस्वरूप वंश मे चद वरदायी हुए। महाराज पृथ्वीराज ने ज्वाला (नागोर) देश उन्हे दान मे दिया। चन्दके चार पुत्र हुए जिनमे द्वितीय गुणचन्द थे। उनके पुत्र सीलचन्द, सीलचन्द के वीरचद हुए। ये राणा हमीरके यहाँ प्रतिष्ठित थे। इसी वशमे हरिचन्द हुए। इनके पुत्र गोपाचल आए। उनके सात पुत्र हुए जिनके नाम क्रमशः ये थे--कृष्णचद, उदारचन्द, रूपचन्द, बुद्धचन्द, देवचन्द प्रबोधचन्द और सूरजचद। ये सब वीर थे और युद्धक्षेत्र मे परलोकगामी हुए। सातवें सूरजचन्द ही सूरदास हैं।[4]

नागोर निवासी नानूराम भाट के पास की वशावली मे और साहित्य लहरी के अनुसार बनाये गये वश वृक्ष मे पर्याप्त अन्तर मिलता है। नानूराम भट्ट अपने को चदवरदाई का वशज बतलाते हैं। यह वशावली महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नानूराम से प्राप्त हुई। डा० ब्रजेश्वर वर्मा, मुन्शीराम शर्मा आदि विद्वान सूर को ब्राह्मण एवम् भट्ट ब्राह्मण बताने के विविध पक्ष मे हैं। सूर के समकालीन एक कवि प्राणनाथ सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखते हैं।[5]

श्री वल्लभ प्रभु लाडिले, सीहो सर जल जात।
सारसतौ दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात॥

वल्लभ द्विग्विजय के अनुसार--ततो ब्रज समागम ते सारस्वत सूरदासो अनुग्रहीतः।[6] वार्ता साहित्य के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण थे। वास्तव मे

१. महाकवि सूरदास-आचार्य नद दुलारे बाजपेयी, पृ० ६२-६३।
२. सूर और उनका साहित्य-पृ० ३७, डा० हरवशलाल शर्मा।
३. साहित्य-लहरी पद ११५ सम्पादक डा० मनमोहन गौतम, पृ० १६५-१६६।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४५।
५. सूर निर्णय--प्रभुदयाल मीतल, पृ० ५०।
६ वल्लभ द्विग्विजय, पृ० ५०।

सूरदास न तो ब्रह्म भट्ट थे न भाट। अतएव उनको सारस्वत ब्राह्मण मानना ही उचित होगा।

सूरदासजी के पिता का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अकबर के 'आइने अकबरी' में अकबर के दरबारी कवियों और गायकों के नाम मिलते हैं। नामों में ग्वालियर निवासी रामदास और उनके पुत्र सूरदास का नाम आया है। अतः कुछ लोग इन्हीं को 'सूरसागर' रचने वाले सूरदास मान लेते हैं। अकबर सवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। सूरदासजी आचार्य के शिष्य उसके ही कई वर्ष पूर्व ही बन चुके थे। ऐसी परिस्थिति में सूरदास दरबारी कवि कदापि नहीं हो सकते और न वे रामदास के पुत्र सिद्ध होते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उल्लिखित 'साहित्य-लहरी' की यह पंक्ति 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु ह्वं हैं नास।'[1] तथा उनके ग्रन्थ सूरदास में वर्णित विप्रकुल का अभिप्राय पेशवाओं की ओर संकेत करता है।[2] परन्तु यह अनुमान प्रामाणिक इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि 'साहित्य-लहरी' का उक्त पद भी सूर द्वारा रचा जाना असंभव है। सूर के जन्म स्थान के बारे में भी कई मत सामने आते हैं। आगरा में गोपाचल नामक स्थान सूर का जन्म स्थान है क्योंकि इनके पिता यहाँ आकर बस गए थे। यही गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम हैं। अतः कुछ लोगों के मतानुसार ग्वालियर सूर का जन्म स्थान है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने ग्वालियर का नाम गोपाचल सिद्ध किया है।[3] कुछ लोग मथुरा प्रान्त में कोई ग्राम जो अनामिक है उसे ही सूरदास का जन्म स्थान मानते हैं। कवि मियांसिंह कृत 'भक्त विनोद' में सूर के जन्म स्थान का इस प्रकार उल्लेख है—

'मथुरा प्रान्त विप्रवर गेह, सो उत्पन्न भक्त हरिनेह ॥'[4]

इसमें स्थान का कोई उल्लेख नहीं है। 'रुनकता' भी सूर का जन्म स्थान माना जाता है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा सा गाँव है। यहाँ से दो मील के अन्तर पर यमुना के किनारे 'रेणुकाजी' का स्थान और परशुरामजी का मन्दिर है। इसी से कुछ दूरी पर गौ घाट है। रुनकता को सूर का जन्म स्थान मानने का कारण संभवतः सूरदासजी का गऊघाट पर रहना हो

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ० १६१, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

२. सूरदास–पृ० १४३।

३. सूरदास—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, संपादक—डा० भगीरथ मिश्र।

४. भक्त विनोद—कवि मियांसिंह कृत।

सकता है। वार्ता-साहित्य के अनुसार सूर का जन्म स्थान सीही है।[1] दिल्ली के आस-पास इस सीही ग्राम का आज कहीं कोई पता नहीं है। वैसे दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभगढ़ के निकट सीही नाम का ग्राम है। जनश्रुति के अनुसार यही सीही सूरदास का जन्म स्थान है। डा० हरवंशलाल शर्मा भी सिही ग्राम को सूर का जन्म स्थान मानते हैं।[2]

सूर और उनका अन्धत्व—

क्या सूरदास जन्मान्ध थे? या बाद मे अन्धे हो गये थे। जनश्रुति उनको अन्धा बतलाती है। यत्र-तत्र सूरसागर मे अपने अन्धत्व के बारे मे सूर के उल्लेख मिलते हैं। जैसे[3]—

१. यहै जिय जानिकै अंध भाव त्रास ते।
सूर कामी कुटिल सरन आयो॥
× × ×
२. सूरदास सो कहा निहोरो नैनन हूँ कि हानि।
× × ×
३. सूर कूर आंधरो मैं द्वार परे गाऊँ॥
४. रह्यो जात एक पतित जनमको आंधरो 'सूर' सदा करे॥
५. सूर की बिरीयाँ निठुर होइ बैठे, जन्म अंध करयो॥
६. रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
इहै निज मत्र यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस दम्पति भजन सार गाऊँ॥
इहै माँगो बारबार प्रभु सूर के नयन द्वै रहौ नर देह पाऊँ॥

इस तरह देखने पर कुछ पद उनके जन्मान्धत्व को स्पष्ट करते हैं। दूसरे इन पदों से यह कल्पना भी की जा सकती है कि जब ये लिखे गये तब वे चक्षुविहीन हो गये हो, और जन्म से अंधे न रहे हो। सूरदास के जीवन मे कोई घटना ऐसी घटी होगी, जिससे ससार से उन्हें विरक्ति हो गई हो अथवा किसी विषय भोग के सीधे फलस्वरूप उनके नेत्रो की ज्योति चली गई हो। इस तरह के आधार इन पदों मे मिल जाते हैं[4]—

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्ट सखान की वार्ता, पृ० २।
२ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा पृ० ३५।
३. सूरसागर, १०।१६२४।
४ सूरसागर १।१६८, १।१६५ तथा सूरदास—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० ६६।

सूरदास अन्ध अपराधी सो काहे बिसरायो।
ऐसो अन्ध अधम अविवेकी खोटनि करत खरे।

वार्ता-साहित्य के अनुसार सूरदास जन्मान्ध थे। जनश्रुति प्रसिद्ध है कि किसी तरुणी के सौन्दर्य युक्त रूप को देखकर वे उस पर आसक्त हो गये। बाद में पश्चाताप करते हुए उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली।

कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसी प्रसङ्ग को लेकर एक बगला कविता लिखी है जो 'सूरदासेर प्रार्थना' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आत्मग्लानि से वे उस स्त्री को अपनी आँखें फोड़ने के लिए कहते हैं ऐसा प्रसङ्ग है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने सूर साहित्य मे उक्त प्रसङ्ग को उद्धृत कर चुके हैं जो इस प्रकार है[1]—

'तो फिर वही हो देवि, विमुख न होओ, इसमें दोष ही क्या है? हृदयाकाश मे जगी रहने दो, अपनी स्नेहहीन ज्योति। वासना-मलिन आँखों का कलक उस पर छाया नही डालेगा, अन्ध हृदय चिर दिन तक नील-उत्पल पाता रहेगा।

'तुममे देखूगा अपने देवता को, देखूगा अपने हरि को, तुम्हारे आलोक मे जगा रहूँगा इस अनन्त विभावरी मे (रात्रि में)।' यह कथन रवीन्द्र की उक्त कविता की अन्तिम पक्तियों मे है। आगे चलकर सूर की इस उदात्तीकरण की ऊँची भावना और साधना को देखकर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

'सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि?
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान,
विरहतापित? हेरि काहार नयान?'[2]

यह प्रेम की छवि हे वैष्णव कवि! सच बताओ तुम्हें कहाँ उपलब्ध हो गई? किसकी आँखें देखकर राधिका की आँसुओं से भरी आँखें याद आगईं। निर्जन वसत रात्रि की मिलन शय्या पर किसने तुम्हें भुज-पाशो से बाँध रखा था, और अपने हृदय के अगाध समुद्र मे मग्न कर रखा था। इतनी प्रेम-कथा, राधिका के चित्त को विदीर्ण कर देने वाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थी? आज क्या इस सगीत पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है? क्या तुम उसी के नारी हृदय की सचित भाषा से उसी को सदा के लिए वचित कर दोगे? सूरदास ने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर दिया। क्योंकि—

---

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव' कविता से।

'देवतारे याहा दिते पारि, दिन ताइ
प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे, आर पाबो को था ?
देवतारे प्रिय करि, प्रिय देवता।'[1]

'हम जो चीज देवता को दे सकते हैं वही अपने प्रिय को देते हैं—और प्रिय जन को जो दे सकते हैं वही देवता को देते हैं। और हम पायेंगे कहाँ ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं और प्रिय को देवता।'

रवीन्द्रनाथ की इन कविता से और आचार्य द्विवेदीजी के उद्गारों से सहमत होते हुए हम इस मार्मिक रहस्य को समझ सकते हैं कि सूर चाहे जन्माध रहे हों या प्रमग वशात् बाद में अंधे बने हों, उन्होंने अपने लौकिक सर्वस्व का समर्पण भगवान् को कर उस दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर लिया, जिससे वे कह सके 'जाकी कृपा पगु गिरि लघे अधे को सब कछु दरसाई।' 'सूरदास के प्राकृतिक शोभा और रूप की शारीरियों का सूक्ष्मतम वर्णन देखकर विद्वानों को सूर के जन्मान्ध होने में सदेह होता है। सूर अपने को भगवान् का भक्त मानते थे और अपने पदों में भगवान् की अघटित घटना घटाने वाली शक्ति पर आस्था प्रकट करते थे।[2] सूर को दिव्यचक्षु से सब कुछ दिखाई देता था। श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है[3]—'अत: हमें यह मानना होगा कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से तत्वज्ञानी और आत्मा में रति करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। वे स्वयं प्रकाश हो गए थे, अतएव बाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति के आधार पर किया है।'

वार्ता साहित्य के अनुसार सूर ने देशाधिपति अकबर को एक पद सुनाया जिसकी अन्तिम पंक्ति में यह उल्लेख आया है[4]—

हौं जो सूर ऐसे दरस को मरत लोचन प्यास।'

तब अकबर ने पूछा—

सूरदासजी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाही,
सो प्यासे कैसे मरत हैं ?

---

१. श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव कविता' से।
२. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१।
३. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ६४ से ६७।
४. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, वार्ता क्रमाङ्क ३।

इस पर वे मौन रहे। अकबर को बिना उत्तर के ही समाधान प्राप्त हो गया। सूर के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने सूर को जन्मान्ध बतलाया है।[1]

'जन्मान्धो सूरदासोऽभूत।'

प्राणनाथ कवि भी उन्हें जन्मान्ध कहता है—

बाहर नैन विहीन सो, भीतर नैन विसाल।

जिन्हे न जग कछु देखिबो लखि हरि रूप निहाल ॥

'भाव प्रकाश' में हरिरायजी ने सूर के बारे में यह कहा है कि 'सो सूरदास को जनम ही सों नेत्र नाहो है।'

मीतलजी की पुस्तक 'सूरनिर्णय' इस विषय में द्रष्टव्य है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि सूरदास जन्मान्ध थे। इनके काव्य के वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर उन्हें जन्मान्ध न मानना उचित नहीं होगा।[2]

पुष्टिमार्ग की दीक्षा और गुरु कृपा—

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार आचार्यजी से दीक्षित होने के बाद का जीवन पढ़ने को मिल जाता है। वल्लभ-दिग्विजय के और वार्ता के अनुसार आचार्य वल्लभाचार्य दक्षिण देश में शास्त्रार्थ-विजय प्राप्त करके लौटे थे। यह *उनकी तृतीय यात्रा थी। वे अड़ैल से व्रज को गये तब मार्ग में गऊघाट पर ठहरे* थे। सूर की ख्याती सुनकर वे उनसे मिले और उनके पद सुनें तथा उनको भगवान् की लीला का गान करने के लिए कहा। तब आचार्य से उन्होंने कहा कि मेरी उसमें पैठ नहीं है। जब आचार्य वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा दी और भगवान् को समर्पित किया। अपने गुरु से भागवत दशम स्कंध की कथा सुनकर भगवान् की लीला गान करने का स्फुरण उनको हुआ। आचार्य के सान्निध्य में यह पद बनाकर गाया—

पद गाया 'अब हौं नाचो बहुत गोपाल।' विनय के पदों को सुनकर आचार्य ने कहा कि अब तो तुम्हारे अन्त करण की सारी अविद्या दूर हो गई है। फलत भगवान् के यश का वर्णन करो। सूर ने 'कौन सुकृत इन व्रज वासिन को।' यह पद गाकर सुनाया। प्रसन्न होकर आचार्य ने मन्दिर का कीर्तनभार उनको सौंप दिया।

वल्लभाचार्य की दक्षिण-यात्रा सवत् १५६५ के बाद हुई थी। श्रीनाथजी की स्थापना के बाद और आचार्य के अडैल से व्रज की यात्रा के समय गो घाट पर वे आचार्य के शिष्य हुए। श्रीनाथजी की स्थापना डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार सवत् १५५८ की श्रावण सुदी ३ बुधवार को गोवर्धन पर्वत पर एक छोटे से मन्दिर मे श्रीनाथजी की स्थापना हुई।[1] संवत् १५५६ की चैत्र सुदी २ को पूर्णमल खत्री ने बडा मन्दिर बनवाने का सकल्प किया। एक लाख खर्च करने के बाद भी वह अधूरा ही रहा। २० वर्ष बाद व्यापार मे पूर्णमल को तीस लाख का लाभ हुआ तब सवत् १५७६ मे यह मन्दिर पूरा हुआ। वल्लभाचार्य ने इसमे श्रीनाथजी की स्थापना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी मन्दिर की स्थापना तिथि सवत् १५७६ मानते हैं।[2] सूरदास का शरण आना सवत् १५८० के आस-पास हुआ होगा ऐसा शुक्लजी का मन्तव्य है।[3] वल्लभ दिग्विजय के अनुसार आचार्य अब व्रज से अडैल गए तब गोपीनाथ का जन्म सवत् १५६७ मे हुआ। इस यात्रा मे पाँच छ. महीने अवश्य लगे होंगे। अतएव सूर का शरण काल सवत् १५६७ ही निश्चित किया जा सकता है। मीतलजीने सवत् १५७६ का खडन किया है। वे कहते है श्रीनाथजी की स्थापना १५५६ मे हुई। अडैल मे गृहस्थाश्रम सवत् १५६५ मे करने के बाद श्रीनाथजी के मन्दिर की व्यवस्था के लिए व्रज जाते हुए मार्गमे सूरका शिष्य होना वे बतलाते हैं। 'श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।' यह पद उनके अनुसार विठ्ठलनाथजी के जन्म के समय का है। विठ्ठलनाथ का जन्म सवत् १५७२ का है। अतः वे इसके पहले अवश्य शरण गए होंगे। इसीलिए यह पद उन्होंने गाया।[4]

सूर अकबर भेंट—

डा० दीनदयालु गुप्त के अनुमान से अकबर सूर से सन् १५७४ व १५८२ के

---

१ श्रीनाथजी का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा।

२. सूरदास तृतीय संस्करण—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ११७।

३. ,, ,, पृ० ११८।

४. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ८४।

बीच मिला होगा।[१] अकबर के द्वारा वल्लभ संप्रदाय वालों के लिए फर्मान जारी किए गये थे जो सन् १५७७ और सन् १५८१ के बीच के हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय सूरदासजी से अकबर मिला था। 'अष्ट सखान की वार्ता' में लिखा है अकबर को जब सूर से मिलने की इच्छा हुई तब उनकी खोज के लिए, गोवर्धन पर एक दूत भेजा तब पता चला कि सूरदासजी मथुरा गए हैं।[२] संवत् १६२३ में विठ्ठलनाथ गोवर्धन से बाहर गए हुए थे। तब उनके पुत्र गिरिधरजी मथुरा में श्रीनाथजी को ले आए, तभी साथ में सूरदासजी भी आए। तानसेन अकबर के दरबारी गायक थे। उनसे सूरदास का पद सुनकर अकबर ने सूर से मिलना चाहा। अकबर से भेंट होने पर सूर ने 'मना तू कर माधव सो प्रीति।' यह पद गाया। जब अकबर ने अपना यशोगान करने के लिए कहा तब उन्होंने 'नाहिन रह्यो मन में ठौर।' यह पद गाया, और उनसे विदा लेकर मन्दिर आ गए। सूरदास का वैराग्य देखकर अकबर पर उसका प्रभाव जरूर पड़ा होगा। अपनी मस्ती में मगन और भाव विभोर रहने वाले सूरदास को मला देशाधिपति से क्या प्रयोजन हो सकता है?

सूर और तुलसी-मिलन—

'मूल गुसाँई चरित' में बतलाया गया है कि सवत् १६१६ में श्री गोकुलनाथजी की प्रेरणा से सूरदासजी तुलसीदासजी से चित्रकूट पर मिले।[३] प्राचीन-वार्ता-रहस्य में यह लिखा है कि तुलसीदासजी अपने भाई नंददास से मिलने व्रज में आये, उस समय परासोली ग्राम में सूरदासजी से भेंट हुई।[४] सवत् १६१६ में गोसाँई विठ्ठलनाथजी जगन्नाथ पुरी की यात्रा को गए, साथ में सूरदासजी थे। रास्ते में कामतानाथ पर्वत पर सूर ने तुलसी से भेंट की।

अष्टछाप की स्थापना और उसमें सूर का समावेश—

गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने जब पुष्टिमार्ग के सम्प्रदाय का आचार्यत्व ग्रहण किया तब संवत् १६०२ में अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवि भक्तों की एक अष्टछाप की स्थापना की। इनमें चार वल्लभाचार्य के और चार अपने शिष्य थे। इनका क्रम इस प्रकार है—१ सूरदास, २ कुंभनदास, ३. कृष्णदास,

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २१७।
२. अष्टछाप (सूरदास की वार्ता) स० डा० धीरेन्द्र वर्मा।
३. 'मूल गुसाँई चरित', पृ० २६–३०।
४. प्राचीन वार्ता रहस्य द्वि० भाग, पृ० ३७४।

४. परमानन्ददास, ५. गोविन्दस्वामी, ६. नन्ददास, ७. छीत स्वामी और ८ चतुर्भुजदास। हिन्दी राधाकृष्ण परक काव्य मे 'अष्टछाप' का साहित्य सर्वश्रेष्ठ है, तथा उसमे सूर-साहित्य सर्वोपरि है। अष्टछापी कवियों की कृतियो मे सूर सागर यह कृति सर्वोत्तम है।

सूर का निधन संवत्—

सूर के जन्म सवत् की तरह सूर के निधन सवत् के बारे मे कई तरह के मत हैं। उनका निधन सवत् १६२० से १६४२ तक का माना जाता है। शुक्लजी 'साहित्य लहरी' का रचना काल सवत् १६०७ मानकर उससे दो वर्ष पूर्व 'सारावली' का रचना काल मानते हैं अर्थात् वह सकते हैं कि सवत् १६०५ में सारावली रची गई होगी। उनके अनुसार मृत्यु समय सूर की आयु ८०-८२ वर्ष की रही होगी।[1]

गोसाँई विठ्ठलनाथजी का स्थायी व्रजवास संवत् १६२८ से गोकुल मे हो गया था। नवनीत प्रिया के दर्शनो के लिये कभी-कभी सूरदासजी भी आया करते थे। सूरदासजी की मृत्यु के समय विठ्ठलनाथजी जीवित थे। विठ्ठलनाथजी का तिरोधान सवत् १६४२ मे हुआ। अत 'परासोली' मे सवत् १६४० के आसपास सूरदासजी का देहावसान मानना समीचीन होगा। डा० दीनदयालु गुप्त इसका समर्थन करते हैं।[2] मीतलजी अपने 'सूर-निर्णय' मे इसकी चर्चा करते हैं जो दृष्टव्य है उनके अनुमान से भी सवत् १६४० का ही समर्थन हो जाता है।[3] गोसाँई विठ्ठलनाथ नित्य श्रीनाथजी का पूजन, शृङ्गार करते तब सूरदासजी पद गाकर सुनाते। एक दिन कीर्तन न करते हुए देखकर उन्होने सूर के बारे मे पूछताछ की। तब पता चला कि सूरदासजी नश्वर शरीर को छोड़कर नित्य शाश्वत् वृन्दावनधाम जा रहे हैं। वे उस समय परासोली मे थे। आचार्यजी का स्मरण कर इस आशा से लेट गये थे कि अन्त समय मे श्रीनाथजी के दर्शन होंगे। तब वहाँ उपस्थित समस्त भक्तो से विठ्ठलनाथजी ने कहा कि आज 'पुष्टिमार्ग का जहाज' जा रहा है जिसको जो कुछ लेना हो सो लेले। मैं स्वयम् राजभोग आरती आदि करके आ रहा हूँ। गोसाँईजी की आज्ञानुसार भक्त गए। सेवा सम्पन्न कर गोसाँईजी भी आ गए। खबर पूछी। सूरदास ने दडवत किया और 'देखो देखो हरिजू को एक सुभाव।' यह पद गाया। तब गोसाँईजी प्रसन्न हुए। चतुर्भुजदासने पूछा जनम भर

१. सूरदास (तृतीय संस्करण) – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२०।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० ७८।
३. सूर निर्णय—पृ० ९९-१०१।

अवश्य लिया जा सकता है कि सूर ने सवालाख पद रचे थे, पर अब वे काल के गर्भ में विलीन हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि सूर ने अगणित पदों की रचना अपने पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व, आचार्य वल्लभाचार्यजी के द्वारा पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद तथा अष्टछाप में सम्मिलित हो जाने के बाद तक वे पदों को रचते रहे, गाते रहे। इन पदों का संग्रह 'सूरसागर' कहलाता है। अपने जीवन-काल में ही इसका किसी न किसी रूप में संकलन हो गया हो ऐसा संभव है। सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इनका उल्लेख है। इनके बारे में विशेष अध्ययन के लिये डा० हरिवंशलाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य' द्रष्टव्य है। मुद्रित प्रतियों में सबसे प्रामाणिक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' की है। यह दो भागों में प्रकाशित हुई है। यह प्रति द्वादश स्कंधात्मक है। सूरदास कीर्तनिया थे, इसलिए इन पदों की रचना दैनंदिन और सामयिक तथा विशेष उत्सवों और नित्य कार्यक्रमों के अवसरों पर होती गयी। सूरसागर की संग्रहात्मक और स्कंधात्मक ऐसी दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती हैं।

द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर में वर्णित विषयों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—प्रथम स्कंध में विनय के पद, मंगलाचरण, भागवत प्रसङ्ग आदि हैं। द्वितीय स्कंध में नाम-महिमा, शुक नारद-संवाद, चौबीस अवतार वर्णन आदि है। तृतीय स्कंध में शुकवचन, उद्धव-पश्चात्ताप, भक्ति माहात्म्य, भक्त महिमा और अन्य पौराणिक प्रसङ्ग हैं। चतुर्थ स्कंध में दत्तावतार, पार्वती विवाह, ध्रुव कथा, आदि हैं। पाँचवें में ऋषभ-अवतार, जड़भरत, रहूगण संवाद है। षष्ठ में परिक्षित प्रश्न, गुरु महिमा, शुक उत्तर, नहुष अहिल्या कथा आदि है। सप्तम स्कंध में नारद जन्म, नृसिंहावतार, भगवान् की शिव को सहायता आदि है। अष्टम में गजमोचन, कूर्म, वामन, मत्स्य, अवतारों की कथाएँ हैं। नवम् में रामायण तथा अन्य पौराणिक कथाएँ हैं। दशम् पूर्वार्ध में श्रीकृष्ण बाललीला तथा असुरों का वध, कंस-वध, गोपीप्रेम प्रसङ्ग, रासलीला, दानलीला, मानलीला, राधा का मान, संयोग तथा विरह वर्णन, ऊधो का व्रज आगमन, भ्रमरगीत, अक्रूर के साथ गमन, ऊधो का प्रत्यागमन आदि बातें विस्तार के साथ है। दशम स्कंध उत्तरार्ध में कालयवन दहन, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणी-विवाह, पाण्डव, तथा अन्य कृष्ण जीवन की घटनाएँ, असुरों का वध, अर्जुन को विश्वरूपदर्शन आदि का विस्तार से वर्णन है। एकादश स्कंध में नारायण और हंसावतार वर्णन है। द्वादश स्कंध में बुद्ध, कल्कि अवतार वर्णन, परिक्षित हरिपद प्राप्ति, जनमेजय कथा परिशिष्ट एक और दो है। कुल पदों की संख्या ४९३६ है। परिशिष्टों में २०३+२३०=४३३ पद हैं। इस तरह

कुल पद ४४०१ है। इस तरह द्वादश स्कंधात्मक प्रतियों की स्थिति और सकलन संग्रहात्मक प्रतियों के बाद की चीज है।

सूरदास ने अपने सूरसागर में श्रीमद्भागवत तथा कई पुराणों का आधार लेकर अपने पद रचे हैं। विशेषत भागवत पुराण को प्रश्रय दिया है। गोपियों के प्रेम का और गोपालों की प्रेम चर्चा का विस्तारपूर्वक वर्णन इसमें है। कृष्ण परम पुरुष हैं इसे सिद्ध किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं[1]—'सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है। 'सूरदास का एक लम्बा पद है—चौपरिजगत् मडे जुग बीते।' इस पद में बालक के माता के गर्भ से लेकर मृत्यु तक का वर्णन है जो मानव-जीवन के विफलता की कहानी ही है। इस मनोरंजक विफलता का कारण भजन का मानव-जीवन में अभाव ही है। यह बाजी हाथ आ सकती है यदि मानव भजन करने लग जाय। सूर के भक्ति सिद्धान्त पुष्टि मार्ग पर आधारित है। इसका सीधा सम्बन्ध आचार्य वल्लभाचार्य के प्रतिपादित प्रपत्ति मार्ग से है। सूर की राधा स्वकीया है। बचपन में ही स्नेह का सहज स्वाभाविक विकास युवावस्था तक कृष्ण और राधा में होता दिखाया गया है। इसकी अन्तिम परिणति विवाह में हुई है। श्याम ने श्यामा को बचपन में ही देखा था इसलिए उसमें झिझक या सकोच नहीं है कृष्ण उससे यह पूछते हैं—

'तुम्हारो कहा चोरि हम ले है।
खेलन चलो सग मिलि जोरी॥'

उनकी गुप्त प्रीति बचपन में ही प्रकट हुई थी। प्रात और साझ एक फेरा लगाने के लिए बाबा वृषभानु की शपथ कृष्ण ने राधा को दी है। बचपन में राधाकृष्ण मिलन में अनूठापन है। भय अथवा आशंका नहीं है। मुरली की चोरी माखन का हिस्सा, आँखों की लडाई दिन भर चलती है। कृष्ण के साथ राधिका के बाल भी सँवारकर स्वयम् यशोदा उन दोनों को अपने हाथों भेजती है। सूर की राधा प्रेममयी है केवल विलासिनी या निपट ग्वालिन नहीं है। मानिनी अवश्य है पर उसका मान कृष्ण के प्रति अगाध आस्था के आश्वासन पर निर्भर है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद राधा अपनी दशा का निवेदन करती है[2]—

आजु रैनि नहीं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६५।
२. सूरसागर १०।३६२२।

वह चितवन वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही ।
चितवत रही ठगी सी ठाढ़ी कह न सकति कछु काम दही ॥
इतने मन व्याकुल भयो सजनी आरज पथहु ते बिछुरी ।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी ॥

उद्धव प्रसङ्ग मे मथुरा की सुन्दर स्थापना करके गोपियों ने उद्धव की-ऊधो की उपालम्भ एवम् परिहास के बहाने भौंरे की दुर्गति कर डाली है। पर राधा मौन रहती है कुछ भी नहीं कहती। 'सूर-सागर' मे प्रेमिका का, माता का, पत्नी का, कामिनी का, तरुणी का, रानी का तथा स्त्री के मातृरूप का सूर ने अपूर्वता से वर्णन किया है। बाल लीला के श्रीहरी सूरदास अद्वितीय हैं। यशोदा और राधा सूर की दो विलक्षण मूर्तियाँ है। एक माता है और दूसरी प्रेमिका। एक मे वात्सल्य और दूसरी मे प्रेम का अथ से इति तक सर्वस्व निहित है। डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदीजी का यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरसागरका केन्द्रीय वक्तव्य' 'इबौंने मुरली नेंकु बजाऊँ, है।'[1] सूर ने लौकिक कृष्ण की अलौकिक रूप छटा तथा महिमा वर्णन की है। इसका कारण—सूर जैसे साधक का अत्यन्त ऊँचे स्तर पर रह कर एवं अलौकिक मन स्थिति मे भावनाओ के क्षेत्र मे विचरण करना ही है। सूर ने कृष्ण की उपासना उन्हें सब कुछ मानकर की है। व्रज भूमि के गोपाल गोपी-वल्लभ कृष्ण है। सूर के सयोग और वियोग पक्ष मे कृष्ण उपास्य हैं उनकी लीलाओंका यशोगान वे सदा करते रहे हैं। सूरसागर केवल काव्य नही वह तो धार्मिक काव्य है। राधा और कृष्ण आत्मा और परमात्मा हैं यह जब मानकर सूरसागर मे अवगाहन करेंगे तो उसमें डुबकियाँ लगा सकेंगे अन्यथा नही। उसकी तन्मयता, सङ्गीत की माधुरी, भावों की मिठास आदि सब रत्न इकट्ठे हाथ लग जायेंगे। रस-विशेष की प्रतीति और अनुभूति काव्य का लक्ष्य होती है। सूर इसमे सफल हुए हैं। सूर की कला उदात्त मानसिक भूमि पर खड़ी है। अपने परम रहस्यमयी सत्ता के परम उपास्य कृष्ण की आराधना करने के लिए सूर की एक ही प्रतिज्ञा है[2]—

'अविगति गति कछु कहत न आवै।
× × ×
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै ॥'

आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी के शब्दो में यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरदासजी अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय पद

---

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२६।
२. सूरसागर ६।६१७।

गुनाते हैं,[1] 'सम्पूर्ण भागवती भक्ति का यह बेजोड़ आधारस्तंभ अद्वितीय एवम् अनुपम है। क्योंकि प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्, उपास्य और उपासक की अनन्यता अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है जो केवल सूर की साधना में दृष्टि गोचर हो सकती है।

(२) सूर सारावली—इसे सूरसागर की भूमिका भी माना जाता है। पर वास्तव रूप में ऐसा नहीं है। इसमें कुल ११०७ पद हैं। संसार को होली के खेल का रूपक मानकर लीला पुरुष की अद्भुत लीलायें निरन्तर चलती हैं, उनका वर्णन इसमें किया गया है। सूर इसमें एक जगह अन्त में कहते हैं, कि हरि लीला सर्वोपरि है।[2]

> करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायौ ॥
> श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायो, लीला भेद बतायो ॥
> ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द ॥
> ताकौ सार 'सूर-सारावलि', गावत अति विस्तार ॥

इसकी रचना संवत् १६०२ में हुई है। भाषा, कथावस्तु, शैली तथा रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप में सूर की प्रामाणिक रचना है। पुरुषोत्तम सहस्रनाम 'सारावली' का आधार है। होरी खेल की कल्पना सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करती है। सारावली में साधारणतया वैष्णव भक्ति और विशेषतया पुष्टि-सम्प्रदायी सेवा-भावना का समर्थन किया है। इस सेवा-भावनाका सुन्दर और क्रमबद्ध विवेचन सूर-सारावली में किया गया है। पुष्टिमार्गीय सेवा में नित्योत्सव और वर्षोत्सव की भावनाओं का समावेश होता है। सारावली में दोनों का आयोजन किया गया है। ये सब लीलाएँ रसात्मक ब्रह्म की होने से 'सरस' होती हैं। अतः नित्य लीला और वर्षोत्सव लीला का विवेचन सरसता से इसमें किया गया है। दोनों मिलाकर संवत्सर की सरस लीलाओं का व्यवस्थित वर्णन है। इसके गायन से गर्भ रूप बंदी खाने में आने की आवश्यकता नहीं रहती। देखिये[3]—

> सरस संवत्सर लीला गावै, जुगल चरन लावै।
> गरभ-वास बन्दी खाने में 'सूर' बहुरि नहि आवै ॥

(३) साहित्य लहरी—इसमें दृष्टिकूट जैसे पदों का संग्रह है। रस, अलंकार और नायिका भेद जैसी शैली से यह संबद्ध है। इसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १५६।
२. सूर सारावली–पृ० ११०२–३।
३. सूर सारावली–पद ११०७, पृ० ८८, संपादक प्रभुदयाल मीतल।

प्रति नहीं मिलती। इसकी सटीक संस्करण प्रतियाँ कई निकली हैं। कुछ लोग इसे स्वतन्त्र रचना मानते हैं, तो कुछ सूरसागर में ही आये हुए दृष्टिकूट पदों का संग्रह मानते हैं। *कहा जाता है कि सूरदास ने इसे नन्ददास के लिए लिखा था।* अपनी ६७ वर्ष की आयु में सूर ने इसे लिखा था। इसमें कुल ११८ पद हैं। साहित्य-लहरी का यह पद देखिये[1]—

> मुनि पुनि रसन के रस लेख।
> दसन गौरी नद कै लिखि सुबल संवत पेख॥
> नद नदनदास दीते बाल सुख आगार॥
> त्रितिय रीछ सुकर्म जोग विचारी 'सूर' नवीन।
> नन्द-नन्दनदास हित साहित्य-लहरी कीन॥

नदनदनदास का अर्थ कृष्ण भक्त लिया जाना चाहिये। जिससे कृष्ण लीला के साहित्य पक्ष को सिद्ध करने के लिए साहित्य-लहरी की रचना की गई है। सूरदासजी आरम्भ से ही साहित्यिक प्रवृत्ति के थे। पुष्टि मार्गीय भक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप आनन्द रसरूप है और भागवत के मतानुसार उन्होंने काव्य शास्त्रोक्त प्रकारों से ही लीला की। जिस तरह सारावली की रचना दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए की है, उसी तरह सांकेतिक कृष्ण लीला के साहित्यिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए 'साहित्य-लहरी' की रचा। डा० मुन्शीराम के मत से नन्द-नन्दनदास का अर्थ नदनदास है और इसे सूरदासजी ने नददास को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त करने के लिए तथा उनकी उद्दाम वासना श्रीकृष्णार्पण करने के हेतु 'साहित्य-लहरी' रची।[2] इसकी रचना विभिन्न मतों के अनुसार संवत् १६०७, १६१७ या संवत् १६२७ बतलाई जाती है। इस विषय में 'सूर निर्णय' यह पुस्तक विशेष द्रष्टव्य है।

साहित्य-लहरी के पद में उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षय तृतीया, रविवार, कृत्तिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा है। यह दिन गणित करने से संवत् १६१७ में ही आता है। अतः संवत् १६१७ 'साहित्य-लहरी' का रचनाकाल मानना उचित होगा।[3] टीकाकारों का सरल अर्थ इस प्रकार है—संवत् १६०७ वैशाख मास, अक्षय तृतीया तिथि रविवार को कृत्तिका नक्षत्र में सुकर्म योग विचार कर सूरदास ने कृष्ण भक्तों के लिए 'साहित्य-लहरी' बनाई।[4] सबसे पुरानी टीका सरदार कवि की है।

---

१. साहित्य लहरी—पद ११३, पृ० १६१, डा० मनमोहन गौतम।
२. सूर सौरभ भाग १—डा० मुन्शीराम 'सोम'।
३ सम्मेलन पत्रिका, पौष २००६।
४. साहित्य लहरी—डा० मनमोहन गौतम, पृ० १२-१३।

सूर साहित्य मे सूरदासजी के नाम—

सूर के पदों मे सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, और सूरस्याम ये पाँच नाम आते हैं। डा० मुन्शीराम शर्मा ने सूर के इन सभी नामो को प्रामाणिक स्वीकार किया है।[1] मीतलजी 'अष्ट सखामृत' के आधार पर 'सूरजदास' मानते हैं।[2] वार्ता साहित्य उनको 'सूर' और 'सूरदास' मानता है। यह नाम जन्मान्धत्व का परिचायक भी है। नामो की विविधता से सूर के साहित्य को प्रामाणिक रूप से जानने मे कठिनाई उपस्थित हो जाती है। साहित्य लहरी के पदो की अन्तिम पंक्ति मे 'सूर', 'सूरजदास', 'सूरज', 'सूरजदास', 'सूर प्रभु' की छाप मिलती है। सूर सागर के विभिन्न पदो मे ये सभी नाम छाप के रूप मे मिलते हैं। सारावली मे भी 'सूरस्याम' को छोड़कर, अन्य सभी नाम उपलब्ध हो जाते हैं। मीतलजी ने सूर सारावली की भूमिका मे इसे सिद्ध कर दिया है कि ये सभी नाम अष्टछापी सूर के ही हैं।[3] वैसे इस विषय मे डा० मुन्शीराम का विस्तृत विवेचन भी द्रष्टव्य है जो इन नामों की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है।[4]

अष्टछाप के अन्य वैष्णव कवि

१. परमानन्ददास :

सूरदास के बारे मे इतना सामान्य परिचय कर लेने के पश्चात् यह परमावश्यक हो जाता है कि अष्टछाप के अन्य सन्त कविगणों के बारे मे भी कुछ विवेचन किया जाय। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार परमानन्ददास का जन्म कन्नौज जि० फरुखाबाद मे हुआ। वार्ता के अतिरिक्त अन्यत्र उनके बारे मे कहीं भी कोई वृत्तान्त हमे उपलब्ध नहीं होता। एक बैठक वल्लभाचार्य की अब तक यहाँ मिलती है। परमानन्ददास का जन्म एक निर्धन कान्य कुब्ज के घर मे हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं होता। कवि के माता-पिता निर्धन थे। जब एक सेठ ने उन्हें बहुत द्रव्य दान मे दिया, तब परमानद पैदा हुए। बचपन बड़े सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। बडी धूप धाम से यज्ञोपवीत आदि हुआ। अकाल पड़ने पर सारा द्रव्य लुटेरों ने लूट लिया। तब अपने बेटे का विवाह भी वे नहीं कर पाये। उसके पहले ही धन लूटा गया। इस पर उन्होंने दुख प्रकट किया।

१. सूर सौरभ भाग २—डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम', पृ० ४०।
२. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल।
३. सूर सारावली-भूमिका—प्रभुदयाल मीतल, पृ० २५-३०।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा।

परमानंददास बचपन से ही वैराग्य प्रवृत्ति के थे। अत विवाह और द्रव्य-संचय के प्रति उन्होंने अस्वीकृति प्रकट कर दी। पर पिता को धन की लालसा थी। अतः वे प्रथम पूर्व में गये, किन्तु परमानंददास कन्नौज में ही रहे। जब धन वहाँ न मिला तो वे दक्षिण में गए। वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन करने वालों के समाज में परमानन्ददास 'स्वामी' कहलाते थे। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। अत: गृहस्थी के बन्धन से भी विरक्त और मुक्त रहे। कन्नौज में ही इनकी शिक्षा आदि हुई थी। बचपन से ही कविता करने गाने बजाने का शौक था। अत: वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही ये एक योग्य कवि, गायक और कीर्तनिया इस रूप में मशहूर हो गए थे। ये एक बार मकर स्नान के अवसर हर प्रयाग गये। वल्लभाचार्य निकट ही अड़ैल में रहते थे। अड़ैल में इनके कीर्तनों की प्रसिद्धि पहुँची। लोग भी वहाँ गये। एकादशी की सम्पूर्ण रात्रि में कीर्तन करने पर स्वप्न में प्रेरणा पाकर वे अड़ैल चले आए। आचार्य ने भगवद् लीला गान करने को कहा तब परमानन्ददास ने विरह के पद गाये। बाल-लीला वर्णन करने के लिए कहा तो अपना अज्ञान बतलाया। तब आचार्य ने परमानन्ददास को स्नान कराकर शरण में लिया और लीला के दर्शन करवाये। इस प्रकार सम्प्रदाय में आने पर अड़ैल में नवनीत प्रियाजी के सामने कीर्तन करते रहे। यह काल लगभग संवत् १५७६ की है। फिर उन्हीं के साथ व्रज गए। रास्ते में कन्नौज में वे सबको अपने घर ले गये और सबका अतिथि सत्कार किया। एक विरह का पद गाया जिससे आचार्य तीन दिन ध्यानावस्थित रहे। वह पद इस प्रकार है[1]—

> हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
> कमल नैन मन मोहनी मूरति मन-मन चित्र बनावै।
> एक बार जाहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावै।
> मुख मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावै।
> कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावै।
> कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि संग ही न उठि धावै।
> कबहुँक नैन मूदि अन्तरगति मनिमाला पहिरावै।
> परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान धरि करि ऐसे विरह गमावै।

चौथे दिन सावधान हो जाने पर दूसरा पद गाया[2]—

---

१ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २२३।
२. " " "

विमल जस वृन्दावन के चन्द्र को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविंद को।
कहत जसोदा मोलियन आगे वंभव आनंदकंद को।
खेलत फिरत गोप बालक संग ठाकुर परमानंद को।

अपने शिष्यों को भी उन्होंने आचार्य को सौंप दिया। सभी उनकी शरण में आ गए। स्वामीपना जाकर वे परमानन्ददास बन गए। आचार्य के साथ गोकुल गए। बाललीला के पद बनाए तथा बाद में उन्हीं के साथ गोवर्द्धन गए और गोवर्धननाथ के दर्शन किए। इसी मन्दिर में अनेक पद गाये। वहीं पर उनको कीर्तन सेवा मिली जिसको अन्त तक वे निभाते रहे। इनके सखा भाव के पदों में उच्छृङ्खलता नहीं है। उच्च कोटी के कीर्तनकार होने से अन्य अष्टछाप कवियों में इनका बड़ा मान था, तथा ये प्रभावशाली कीर्तन-काव्य और कीर्तन भक्ति करते थे। गोस्वामीजी अष्ट सखाओं में सूर और परमानन्ददास को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इन दोनों को उन्होंने सागर कहा है। कृष्ण की सपूर्ण लीलाओं का मार्मिक शब्दों में दोनों ने गान किया है। अन्त समय में उनका मन युगल-लीला में लगा था। गोस्वामीजी के पूछने पर उन्होंने गाया[1]—

राधे बैठी तिलक सँभारति।

इनकी मृत्यु सुरभिकुंड पर हुई। यह स्थान उनके नाम से प्रसिद्ध है। ये वल्लभाचार्य से १५ वर्ष छोटे थे। अत इनका जन्म सवत् १५५० आता है। उन्होंने विठ्ठलनाथ के सातो बालकों की प्रशसा की है। अनुमानत स० १६४० में इनकी मृत्यु हुई।

२. कुम्भनदास :

इनका जन्म जमुनावतो गाँव में गोरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था। परासौली चन्द्र सरोवर के पास इनके पूर्वजों के खेत थे। जमुनावतो मे रहकर वे यहाँ की खेती कराते थे। श्रीनाथजी के मन्दिर में समय-समय पर कीर्तन करने के लिए सेवा पर जाते थे। जिस समय गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ तब ये दस वर्ष के थे। यह प्राकट्य स० १५३५ वैसाख सुदी १३ को हुआ। अतः हिसाब से इनका जन्म सवत् १५२५ ठहरता है। सवत् १५४९ में वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के छोटे मन्दिर में पाठ बैठाया उसी समय ये अपनी स्त्री सहित इनके शरण में आए। कुम्भनदास ने गोस्वामी विठ्ठलनाथ के सातों बालकों की बधाई गाई है। तथा स० १६१५ में प्रथम साम्प्रदायिक छप्पन भोग का उत्सव किया तब

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, पृ० ३३८, डा० दीनदयालु गुप्त।

परमानंददास बचपन से ही वैराग्य प्रवृत्ति के थे। अतः विवाह और द्रव्य-संचय के प्रति उन्होंने अस्वीकृति प्रकट कर दी। पर पिता को धन की लालसा थी। अतः वे प्रथम पूर्व में गये, किन्तु परमानंददास कन्नौज में ही रहे। जब धन वहाँ न मिला तो वे दक्षिण में गए। वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन करने वालों के समाज में *परमानन्ददास 'स्वामी' कहलाते थे। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। अतः* गृहस्थी के बन्धन से भी विरक्त और मुक्त रहे। कन्नौज में ही इनकी शिक्षा आदि हुई थी। बचपन से ही कविता करने गाने बजाने का शौक था। अतः वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही ये एक योग्य कवि, गायक और कीर्तनिया इस रूप में मशहूर हो गए थे। ये एक बार मकर स्नान के अवसर पर प्रयाग गये। वल्लभाचार्य निकट ही अड़ैल में रहते थे। अड़ैल में इनके कीर्तनों की प्रसिद्धि पहुँची। लोग भी वहाँ गये। एकादशी की सम्पूर्ण रात्रि में कीर्तन करने पर स्वप्न में प्रेरणा पाकर वे अड़ैल चले आए। आचार्य ने भगवद् लीला गान करने को कहा तब परमानन्ददास ने विरह के पद गाये। बाल-लीला वर्णन करने के लिए कहा तो अपना अज्ञान बतलाया। तब आचार्य ने परमानन्ददास को स्नान कराकर शरण में लिया और लीला के दर्शन करवाये। इस प्रकार सम्प्रदाय में आने पर अड़ैल में नवनीत प्रियाजी के सामने कीर्तन करते रहे। यह बात लगभग संवत् १५७६ की है। फिर उन्हीं के साथ व्रज गए। रास्ते में कन्नौज में वे सबको अपने घर ले गये और सबका अतिथि सत्कार किया। एक विरह का पद गाया जिससे आचार्य तीन दिन ध्यानावस्थित रहे। वह पद इस प्रकार है[१]—

हरि तेरी लीला की सुधि आवे।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन-मन चित्र बनावें।
एक बार जाहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावें।
मुख मुसक्यानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावें।
कबहुँक निबड तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावें।
कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि संग ही न उठि धावें।
कबहुँक नैन मूंदि अन्तरगति मनिमाला पहिरावें।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान धरि करि ऐसे बिरह गमावें।

चौथे दिन सावधान हो जाने पर दूसरा पद गाया[२]—

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २२३।
२. ,, ,, ,

विमल जस वृन्दावन के चन्द्र को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविंद को।
कहत जसोदा सखियन आगे वैभव आनंदकंद को।
खेलत फिरत गोप बालक सँग ठाकुर परमानंद को।

अपने शिष्यों को भी उन्होंने आचार्य को सौंप दिया। सभी उनकी शरण में आ गए। स्वामीपना जाकर वे परमानन्ददास बन गए। आचार्य के साथ गोकुल गए। बाललीला के पद बनाए तथा बाद में उन्हीं के साथ गोवर्द्धन गए और गोवर्द्धननाथ के दर्शन किए। इसी मन्दिर में अनेक पद गाये। वहीं पर उनको कीर्तन सेवा मिली जिसको अन्त तक वे निभाते रहे। इनके सखा भाव के पदों में उच्छृङ्खलता नहीं है। उच्च कोटी के कीर्तनकार होने से अन्य अष्टछाप कवियों में इनका बड़ा मान था, तथा ये प्रभावशाली कीर्तन-काव्य और कीर्तन भक्ति करते थे। गोस्वामीजी अष्ट सखाओं में सूर और परमानन्ददास को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इन दोनों को उन्होंने सागर कहा है। कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का मार्मिक शब्दों में दोनों ने गान किया है। अन्त समय में उनका मन युगल-लीला में लगा था। गोस्वामीजी के पूछने पर उन्होंने गाया[1]—

राधे बैठी तिलक सँवारति।

इनकी मृत्यु सुरभिकुंड पर हुई। यह स्थान उनके नाम से प्रसिद्ध है। ये वल्लभाचार्य से १५ वर्ष छोटे थे। अतः इनका जन्म संवत् १५५० आता है। उन्होंने विट्ठलनाथ के सातों बालकों की प्रशंसा की है। अनुमानतः सं० १६४० में इनकी मृत्यु हुई।

२. कुम्भनदास :

इनका जन्म जमुनावतो गाँव में गोरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था। परासौली चन्द्र सरोवर के पास इनके पूर्वजों के खेत थे। जमुनावतो में रहकर वे यहाँ की खेती कराते थे। श्रीनाथजी के मन्दिर में समय-समय पर कीर्तन करने के लिए सेवा पर जाते थे। जिस समय गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ तब ये दस वर्ष के थे। यह प्राकट्य सं० १५३५ वैसाख सुदी १३ को हुआ। अतः हिसाब से इनका जन्म संवत् १५२५ ठहरता है। संवत् १५४९ में वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के छोटे मन्दिर में पाठ बैठाया उसी समय ये अपनी स्त्री सहित इनके शरण में आए। कुम्भनदास ने गोस्वामी विट्ठलनाथ के सातों बालकों की बधाई गाई है। तथा सं० १६१५ में प्रथम साम्प्रदायिक छप्पन भोग का उत्सव किया तब

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १ पृ० ३३८, डा० दीनदयालु गुप्त।

अष्टछापी भक्त जीवित थे ऐसा विश्वास है। 'आठों कवियों के छप्पन भोगों के पद भी गाये जाते हैं। गोस्वामी विठ्ठलनाथ के साथ ये गुजरात यात्रा में भी गये थे। श्रीनाथजी के विरहका वर्णन कुम्भनदासने किया है। यह घटना स० १६३१ की है। वे सवत् १६३९ के लगभग गोलोकवासी हुए। अकबर ने फतहपुर सीकरी का राज भवन और नगर बनवाया। यही उसकी राजधानी सन् १५८० से सन् १५८७ तक रही। अकबर ने कुम्भनदास को सन् १५७० से १५८५ तक किसी समय मे बुलवाया। उसकी उदार सहिष्णु मनोवृत्ति यहीं पर रमी थी इसीलिए धार्मिक प्रवृत्तियों पर बहसें यहां पर हुई थीं। इसी अवसर पर कुम्भनदासकी भक्तिकी प्रशसा सुनकर उनको दरबार मे बुलाया तब उनको हठात् जाना पड़ा। वे पैदल ही गए। वहाँ सीधे-साधे फटेहाल वेश में जा पहुँचे। देशाधिपति को देखकर उनको बडा दुख हुआ। अकबर ने गाने के लिए कहा तब यह पद गाया[१]—

> सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
> आवत जात पनहियां टूटी बिसरि गयो हरिनाम।
> जाको मुख देखें डर लागत ताको करन परो परनाम।
> कुम्भनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम।

अकबर के पूछने पर इन्होंने कहा कि मुझे फिर कभी मत बुलाना। इसी तरह राजा मानसिंह भी इनकी त्यागी प्रवृत्ति देखकर बडे प्रभावित हुए थे। राजा मानसिंह से उनकी भेंट सवत् १५७६ में हुई थी। इसी समय श्रीनाथजी का दाटोत्सव हुआ था। तब उन्होने यह पद गाया[२]—

> रूप देखि पल लागै नाहीं।
> गोवर्द्धनधर के अङ्ग-अङ्ग प्रति निरखि नैन मन रहत तहीं।
> कहा कहों कछु कहत न आवै, चित्त चोखो मांगि पै वंसे हो॥
> कुम्भनदास प्रभु के मिलन की सुन्दर बात सखियन कही॥

मानसिंह ने इनको कुछ देना चाहा। पर इन्होंने सब वापस फेर दिया। एक बार उनके अन्य भक्त समाजों ने उनसे पूछा आपने युगल-स्वरूप का कीर्तन तो बहुत किया है पर स्वामिनीजी के कीर्तन हमने आपसे नहीं सुने। तब एक पद गाकर उन्होंने सुनाया।

> कुंवरि राधिके तुव सकल सौभाग्य सीमा।
> या बदन पर कोटि सत चन्द्र वारि डारौं।'

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, डा०—दीनदयालु गुप्त, पृ० २३६।
२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३७।

स्वामी हरिदास और हित-हरिवंश ने उनका पद सुनकर भूरी-भूरी प्रशंसा की। इनका काव्य उत्कृष्ट कोटि का था यह तो सिद्ध होता है। कुम्भनदासजी को विठ्ठलनाथ के साथ गुजरात और द्वारिका जाना पड़ा। प्रथम दिन अप्सरा कुंड पर ठहरना पड़ा। श्रीनाथजी से इनकी बड़ी आसक्ति थी। उस विरह में दुखी होकर उनकी आँखों से अश्रुधारा उमड़ पड़ी और वे गा उठे[1]—

> किते दिन ह्वै जु गए बिनु देखे।
> तरन किसोर रसिक नंदनंदन कछुक उठति मुख देखे।
> वह सोभा वह कान्ति बदन की कोटिक चन्द बिसेषे।
> वह चितवनि वह हास मनोहर वह नटवर वपु वेषे।
> स्याम सुन्दर सङ्ग मिलि खेलन को आवत जीय उपेषे।
> कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन जीवन जनम अलेषे।

यह दशा देखकर गोस्वामीजी ने कहा इस दशा से तुम परदेश नहीं चल सकोगे। जाओ, गोवर्धननाथजी के दर्शन करो। वे बड़े प्रसन्न हुए और श्रीनाथजी के दर्शन कर गा उठे[2]—

> जो पै चोप मिलन की होय।
> तो क्यों रहे ताहि बिनु देखे, लाख करे किन कोय।
> जो यह विरह परस्पर व्यापै तो कुछ जीय बनै।
> लोक लाज कुल की मर्यादा एकौ चित न गनै।
> कुम्भनदास प्रभु जाय तन लागी और न कछु सहाय।
> गिरधरलाल तोहि बिनु देखे छिन छिन कलप बिहाय।

उनके त्याग की और विनम्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा गोस्वामीजी किया करते थे। कुंभनदासजी सादे जीवन और उच्च विचार को अपनाये हुए थे। कभी भी द्रव्य प्राप्ति के विचार से भगवद् आश्रय को उन्होंने नहीं छोड़ा। देह अशक्त हो जाने से एकबार आन्यौरके पास संकर्षण कुण्ड पर जा बैठे। पुत्र चतुर्भुजदास उनको गोदमें उठाकर जमुनावतो ले जाना चाहते थे। तब कुंभनदास ने कहा अब तो दो चार घड़ी में देह छूटेगी। गोस्वामीजी उनके पास पहुँचकर उनसे पूछने लगे, तुम्हारा मन किस लीला में लगा है। वे गा उठे[3]—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २३९।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३९।
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—दीनदयालु गुप्त, पृ० २४२

समकालीन हैं। तुलसीदास के भाई भी बतलाए गए हैं। शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। तुलसीदास उनके सगे भाई थे या चचेरे यह बात वार्ता में स्पष्ट नहीं हो पाई है। इनका अध्ययन गंभीर था, तथा विद्वता के लिए इनका बड़ा मान था। संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और इनको हिन्दी भाषा से बड़ा प्रेम था। सर्व साधारण की आवश्यकताओं को सामने रखकर भाषा में भागवत के सम्पूर्ण दशम स्कंध का अनुवाद किया। इन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं। रासपंचाध्यायी, रूप-मंजरी, रस-मंजरी अनेकार्थ-मंजरी, विरह-मंजरी, मान-मंजरी, नाममाला, श्यामसगाई, सुदामा चरित, भँवर-गीत आदि। प्रसिद्ध पुस्तकें दो ही हैं। (१) रासपंचाध्यायी और (२) भँवर-गीत। यहीं भी इन्होंने अपनी रचना का रचनाकाल नहीं दिया है। मथुरा जाते समय एक खत्री साहूकार दंपति का साथ हो गया। क्षत्राणी बड़ी रूपवती थी। उस पर मोहित होकर वे बार-बार उसको देखते रहे। उसके विरह में नायिका के द्वारा इनको पार न उतारने पर इन्होंने जमुना स्तुति की। वह खत्री विट्ठलनाथ का शिष्य था।

जीवन की यह लौकिक घटना थी। पर वियोगजन्य अनुभूति ने इनके कवित्व शक्ति को जगा दिया। रूपवती क्षत्राणी के दर्शन से सौन्दर्य को देखा। प्रेम की भावना को आँका। कामना को तोला। विरहातुरता को समझा। सम्मिलन की सुखद कल्पना की। अन्त में संसार में स्थित मनुष्य के हृदय की विकलता को भी समझा। रास पंचाध्यायी इसीलिये सजीव हो गई है। निरुपाय नंददास को विट्ठलनाथ ने बुला लिया। उनके दर्शन से ही नंददास का मन सांसारिकता से छूटकर भगवान कृष्ण के चरणों में जा लगा। गुरु वंदना और बालकृष्ण के पद गाने लगे। 'रहौं सदा चरनन के आगे।' यह इन की कामना है। बीच में मन गृहस्थी में रमा था पर फिर वे वापस लौट आए।

ये अपनी आँखों के सामने कृष्ण की लावण्यमयी मूर्ति को रास में थिरकते हुए देखा करते थे—

> मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।
> सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पटकी।

—रास पंचाध्यायी।

नन्ददास सहृदय, सौन्दर्य प्रेमी और रसिक व्यक्ति थे। दृढ़ चरित्र वाले, चपल और धर्म-भीरु थे। सूरदास ने 'साहित्य लहरी' को नंददास का मन एकाग्र करने की दृष्टि से रचा था। नंददास की शरणागति संवत् १६१६ के लगभग हुई थी। इनका जन्म संवत् १५९० के लगभग माना गया है। २५२ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार अकबर बादशाह के समक्ष नन्ददास की मृत्यु हुई। नन्ददास की

मृत्यु का समय सवत् १६३६ अनुमानत हो सकता है । अकबर जब गोवर्द्धन पर्वत पर गया था तब बीरबल के साथ अकबर ने नंददास से भेट की है। इनकी कविता के बारे मे प्रसिद्ध है नन्ददास जड़िया। और कवि गढ़िया।' इनका 'देखो-देखो री नागर नट निर्तत कालिन्दी तट।' यह पद तानसेन से सुनकर नन्ददास एक भक्त थे, यह अकबर ने समझा था।

५ चतुर्भुजदास.

ये कुम्भनदास के सुपुत्र थे और गोरवा क्षत्री थे। अपने पिता के ये सबसे छोटे और सातवें पुत्र थे। प्रथम विवाह के कुछ ही दिन उपरान्त इनकी पत्नी मर गई। तब दूसरा विवाह एक विधवा स्त्री से हुआ। अपने पिता की तरह गृहस्थ होने पर इन्हे गृहस्थी का मोह नहीं था। सदैव श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा मे ही रहते थे। कुंभनदासजी ने अपने बालक चतुर्भुजदास को विठ्ठलनाथजी के पास ले जाकर कहा—महाराज कृपा करके इसे नाम सुनाइये। तब यह सुनकर बालक चतुर्भुजदास हँसे। उसी दिन राज-भोग के समय गुसाईंजी ने उसे अपने शरण मे लिया। इनकी शिक्षा पिता कुम्भनदास तथा विठ्ठलनाथजी की देखरेख मे हुई। ये श्रीनाथजी के समक्ष कीर्तन किया करते। इनके पद बाल-लीला, विनय और विरह के भावो को लेकर बनाये गये हैं। इनकी जन्मतिथि और शरणागति का सवत् १५९७ है। इनका गोलोकवास सवत् १६४२ मे हुआ। इनकी पहली कविता का एक चरण कुम्भनदासजी ने इस प्रकार बनाया—

> यह देखो बरत झरोखन दीपक हरि पौढ़ेऊँची चित्रसारी।

दूसरा चरण चतुर्भुज ने बनाकर प्रस्तुत किया।

> सुन्दर वदन निहारन कारन राखे है बहुत जतन कर प्यारी।

अष्टसखान की वार्ता के अनुसार जब श्री विठ्ठलनाथजी ने श्री गिरिराज की कन्दरा मे प्रवेश किया और नित्य लीला मे सम्मिलित हुए। उस समय चतुर्भुजदास अपने गाँव से इस समाचार को सुनकर गिरिराज पर आये और कन्दरा के आगे गिरकर विलाप करने लगे। कहने लगे महाराज पधारते समय मुझे आपके दर्शन भी नही हुए। मैं अब इस पृथ्वी पर किसको देखूँगा। मुझे अब जीवित मत रखो। विरह मे ये दो पद गाये[1]—

> १. फिर ब्रज बसहु श्री विठ्ठलेश।
>
> तथा
>
> २ विठ्ठल सो प्रभु भये न ह्वै हैं।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २६५।

इस प्रकार विरह के कीर्तन करते-करते चतुर्भुजदास ने भी अपनी देह छोड़ दी।

६ गोविन्द स्वामी :

इनका जन्म आंतरी-ग्राम में हुआ। जीवन की किसी विषम परिस्थिति से ठेस पाकर तथा साधु महात्माओं के उपदेशों से उनके मन की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर झुक गई थी। वे श्रीनाथजी की सखाभाव से भक्ति करते थे। इनकी प्रकृति बड़ी विनोदशीला थी। गान-विद्या में निपुण होने से वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही इनके कई शिष्य हो गये थे। आंतरी से ये महावन में रहने लगे थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद वे गोवर्धन चले गये। उसके पूर्व वे गोकुल और महावनके टीलो पर बैठकर कीर्तन करते थे। अन्त समय तक गोवर्धन पर ही रहे। उनकी गिरिराज की कदम-खण्डी इनका स्थायी निवास स्थान है। उनकी यह जगह गोविन्द स्वामी की 'कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है।

इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में लगभग संवत् १५६२ में हुआ। संवत् १५९२ में ये वल्लभ-सम्प्रदाय में आये। शरणागति के पूर्व वे कवीश्वर और प्रसिद्ध गवैये थे। गायन विद्या को सीखने के लिए अनेक शिष्य इनके बन गए। इसलिए लोग इनको 'स्वामी' कहने लगे। इस समय इनका विवाह भी हो गया था। तथा सन्तान भी थी। अतः कुछ समय गृहस्थी का भोग करने के बाद ही इनके चित्त में भगवद्-भक्ति प्राप्ति की इच्छा प्रबल हुई होगी। इनके फुटकल पद ही प्राप्त होते हैं। इनके गान की मनोहारिता की ख्याति सुनकर श्री तानसेन स्वयम् इनके गाने सुनने आये थे ऐसा कहा जाता है। इनके दो पद बहुत प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी विठ्ठलनाथजी जब नित्य लीला में प्रवेश कर गये, तब इन्होंने भी देह सहित कन्दरा में प्रवेश किया और नित्य लीला में पहुँचे। गोविन्द स्वामी की गोलोकवास तिथि संवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण सप्तमी है। इनका एक पद इस प्रकार है—

> प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर-सुत को उबटि न्हावति।
> करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥
> छूटे बंद बागे अति सोभित, बिच-बिच चोव अरगजा लावति।
> सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु की छबि कछु कहति न आवति।
> विविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली बेंत गहावति।
> लै दरपन देखे श्रीमुख कों, गोविन्द प्रभु चरननि सिर नावति॥

७ छीतस्वामी·

ये मथुरा के एक सम्पन्न पंडा थे। महाराज बीरबल इनके यजमान थे। पहले अत्यन्त उद्दण्ड प्रकृति के थे और बड़े अक्खड़ थे। पर गोसाँईजी की शरण मे आने पर विनम्र और मृदु स्वभाव के बन गए। इनके कुछ फुटकल पद मिलते हैं। ये गान-विद्या-निपुण थे। इनका जन्म लगभग संवत् १५६७ मे हुआ। तथा संवत् १५९२ मे वल्लभ-सम्प्रदाय को शरणागति स्वीकार की। इस सम्प्रदाय मे आने के पूर्व छीतस्वामी पाँच प्रसिद्ध गुण्डे चौबो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इनके चार चौबे मित्रो ने इनके सहित विट्ठलनाथजी की परीक्षा करनी चाही। अत' एक खोटा रुपया और रास से भरा नारियल लेकर गोकुल मे विट्ठलनाथजी की मसखरी करने आये। छीतस्वामी के चार मित्र बाहर बैठे रहे। वे स्वयम् भीतर चले गए। गोस्वामीजी के स्वरूप की मोहिनी इन पर पड़ते ही मसखरी गायब हो गई, और पश्चाताप का भाव इनके मन मे प्रादुर्भूत हुआ। हाथ बाँधकर कहने लगे—महाराज मेरा अपराध क्षमा करो और मुझे शरण दो। स्वामित्व छूट जाय। मन की कुटिलता आपके दर्शन से ही भाग गई। मुझे अब अपना लीजिए। गोस्वामीजी ने उनको नाम सुनाया और शरण मे ले लिया। तब यह पद उन्होंने गाया[1]—

> भई अब गिरधर सो पहचान।
> कपट रूप धरि छलिबे आयो, पुरुषोत्तम नहि जान।
> छोटो बडो कछु नहि जान्यो, छाय रह्यो अज्ञान।
> *छीत-स्वामी देखत अपनायो श्री विट्ठल कृपा-निधान।*

फिर शरण मिलने से प्रसन्न होकर हर्ष से गा उठे—'हौं चरणात पत्र की छैयां।' 'फिर नवनीत प्रिया और गोवर्द्धननाथके दर्शन कर और भी निर्मल हो गए। फिर अपना आत्म-समर्पण कर गुसाँईजी से आज्ञा माँगकर मथुरा वापस आ गए। गुसाँईजी की कृपा से छीत-स्वामी भवदीय-कवीश्वर और कीर्तनकार बने। फिर जीवन भर श्रीनाथजी की सेवा मे अपना जीवन व्यतीत किया। गोस्वामी विट्ठल-नाथजी का गोलोकवास सुनकर उस शोक-संवाद से ये मूर्छित हो गये। इस मूर्छा मे उनको श्रीनाथजी के दर्शन हुए। उनको सान्त्वना देते हुए कहा कि अब तकमे आचार्य और गुसाँईजी के रूपो द्वारा अनुभव कराता था। पर अब मे सात रूपों से अनुभव कराऊँगा। अनुभव करते ही चेतना जगी। विट्ठलनाथजी के सात पुत्रों की बधाई गाकर उन्होने देह त्याग दी। संवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण ८ के दिन इनका गोलोक-वास हुआ।

---

१ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २७५।

इन अष्टछाप के सभी कवियों में लीला-गान और भगवान् का रूप माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है। नन्ददास ने इन विषयों के बाहर जाकर भी रचनाएँ की हैं। ऐसा जान पडता है कि इन कवियों की रचनाओं में प्रौढ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार देखकर उनकी एक सुनिश्चित परम्परा ही रही हो। अपने परवर्ती काल की ब्रज भाषा को लीला-निकेतन भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकांत भाव से बाँध देने का श्रेय इन कवियों को दिया जा सकता है।

मीराबाई :

मीराबाई के बारे में एक छप्पय प्रसिद्ध है जो नाभादास का रचित है वह इस प्रकार है[१]—

> लोकलाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी।
> सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलियुगहि दिखायो।
> निर अंकुश अति निडर रसिके जस रसना गायो।
> दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
> बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।
> भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नाहिन लजी।
> लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी॥

पंचमुखी भक्ति के सिद्धांत के अनुसार भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने उपास्य का रूप अपने लिए स्वयम् स्थापित करता है और तभी उसके प्रति साधक अपनी एकान्तिक भक्ति की स्थापना कर सकता है। मीरा पूर्ण रूप से निरंकुश होकर निडरता के साथ परम रसिक कृष्ण के यश की रसना द्वारा रसिकता से ओतप्रोत गायन करती रही। मीराँ ने क्या प्राप्त किया ? माधुर्य भाव की यह चेतना हृदय की सहज अनिवार्य प्रवृत्ति है। तथा भक्ति-मार्ग के साधक या साधिका के लिए भी एक सीमा तक पहुँच जाने पर निश्चित रूपेण आवश्यक सी हो जाती है। मीराँ ने बराबर इसी साधन को अपनाया और अपने 'जनम-जनम री साथी।' की पुरानी प्रीत को और अपने को 'जणम-जणम री क्वारी' रहकर की हुई साधना को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया। डाकोर की प्रति का यह पद इस प्रकार है[२]—

काँई म्हारो जणम बारम्बार।

इसमें जो कुछ विवेचित है उससे यह प्रतीत होता है कि पूर्व जन्म की पुण्य-दशा समाप्त हो जाने के कारण मानवी-रूप में पुनः उनका अवतार हुआ। भक्ति की

---

१. भक्तमाल नाभादासकृत—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पृ० २४०।
२. डाकोर प्रति पद संख्या ६७ क।

पराकाष्ठा जितनी स्त्री-हृदय में मिलती है उतनी पुरुष-हृदय में नहीं। डा० जगदीश-गुप्त के मतानुसार मीरां १६ वीं शताब्दी की हैं।[1] गुजराती तथा हिन्दी की विद्वान-मण्डली का यही मत है। 'बृहद् काव्य दोहन' के भाग १, २, ५, ६ और ७ में मीरां के १६० गुजराती पद मिलते हैं। डाकोरवाली प्रति की भाषा शुद्ध राजस्थानी है। मीरां के कुछ पद मिश्रित भाषा के भी मिलते हैं। किसी भी परिस्थिति में मीरां को हम गुजराती नहीं कह सकते। डा० कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी के मतानुसार मीरां के पदों द्वारा शुद्ध भक्ति का प्रचार जितना गुजरात में हुआ उतना नरसी मेहता के पदों द्वारा नहीं हुआ। मीरां न तो गुजराती थीं न उनके पद गुजराती में लिखे गए थे। यह निष्कर्ष मुन्शीजी ने गुजरात से प्राप्त मीरां के पदों से युक्त एवं हस्तलिखित प्रति को देखकर निकाला है। यह प्रति संग्रहालय, गुजरात-विद्या-सभा अहमदाबाद में द्रष्टव्य है।[2]

मीरां की जीवनी—

मीरां की जन्म भूमि राजस्थान है अत उनकी मातृ भाषा राजस्थानी है। उनका पतिकुल मेवाड का है और पितृकुल मेड़ता का है। इसीलिए वे अपने आपको 'मेड़तणी' कहती हैं। जोधपुर के संस्थापक राठोड़राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजीने मेड़ता नगर बसाया। इन्हीं राव दूदा का ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव संवत् १५३४ से संवत् १६०२ तक जीवित रहा। इनके पुत्र का नाम जयमल था। चतुर्थ पुत्र का नाम रतनसी रत्नसिंह था। इनका जन्म संवत् १५३० में हुआ और मृत्यु संवत् १५८० में हुई। मीरां का जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। अनुमानत मीरां का जन्म संवत् १५६० माना जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल मीरां का जन्म १५५६ से संवत् १५६० के बीच किसी समय मानते हैं।[3] मीरां रत्नसिंह की एकमात्र पुत्री थी। ये कुड़की गांव में पैदा हुई। बचपन में ही माता चल बसी। दूदाजी ने इनको अपने यहाँ बुला लिया। वहीं इनका पालन-पोषण हुआ। जब ये विवाह योग्य हो गईं तब राणा सग्रामसिंह के द्वितीय पुत्र भोजराज से इनका विवाह हुआ। वे चित्तोड गईं। पर भोजराज १५७३ से १५८३ के बीच स्वर्गस्थ हुए। अतः मीरां विधवा हो गईं। अपने बालपन के मीत गिरिधारीलाल की मूर्ति को वे अपने पतिगृह में ले गईं। मीरांबाई के पूर्वज वैष्णव और

---

१ गुजराती और ब्रज भाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १६।

२ ह० प्र० नं० ५, ४७७ क० सं० १६६५।

३ मीरांबाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० ५७।

इन अष्टछाप के सभी कवियो मे लीला-गान और भगवान् का रूप माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है। नददास ने इन विषयो के बाहर जाकर भी रचनाएं की हैं। ऐसा जान पडता है कि इन कवियो की रचनाओ मे प्रौढ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार देखकर उनकी एक सुनिश्चित परम्परा ही रही हो। अपने परवर्ती काल की व्रज भाषा को लीला-निकेतन भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकात भाव से बाँध देने का श्रेय इन कवियो को दिया जा सकता है।

मीराबाई :

मीराबाई के बारे मे एक छप्पय प्रसिद्ध है जो नाभादास का रचित है वह इस प्रकार है[१]—

लोकलाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी।
सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलियुगहि दिखायो।
निर अकुश अति निडर रसिके जस रसना गायो।
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नाहिन तजी।
लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी॥

पचमुखी भक्ति के सिद्धात के अनुसार भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने उपास्य का रूप अपने लिए स्वयम् स्थापित करता है और तभी उसके प्रति साधक अपनी एकान्तिक भक्ति की स्थापना कर सकता है। मीरा पूर्ण रूप से निरकुश होकर निडरता के साथ परम रसिक कृष्ण के यश की रसना द्वारा रसिकता से ओतप्रोत गायन करती रही। मीराँ ने क्या प्राप्त किया? माधुर्य भाव की यह चेतना हृदय की सहज अनिवार्य प्रवृत्ति है। तथा भक्ति-मार्ग के साधक या साधिका के लिए भी एक सीमा तक पहुँच जाने पर निश्चित रूपेण आवश्यक सी हो जाती है। मीराँ ने बराबर इसी साधन को अपनाया और अपने 'जनम-जनम रो साथी।' की पुरानी प्रीत को और अपने को 'जणम-जणम री क्वारी' रहकर की हुई साधना को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया। डाकोर की प्रति का यह पद इस प्रकार है[२]—

कांई म्हारो जणम बारम्बार।

इसमे जो कुछ विवेचित है उससे यह प्रतीत होता है कि पूर्व जन्म की पुण्य-दशा समाप्त हो जाने के कारण मानवी-रूप मे पुनः उनका अवतार हुआ। भक्ति की

१. भक्तमाल नाभादासकृत—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पृ० २४०।
२. डाकोर प्रति पद संख्या ६७ क।

पराकाष्ठा जितनी स्त्री-हृदय में मिलती है उतनी पुरुष-हृदय में नहीं। डा० जगदीश-गुप्त के मतानुसार मीराँ १६ वीं शताब्दी की हैं।[१] गुजराती तथा हिन्दी की विद्वान-मण्डली का यही मत है। 'बृहद काव्य दोहन' के भाग १, ३, ५, ६ और ७ में मीराँ के १६० गुजराती पद मिलते हैं। डाकोरवाली प्रति की भाषा शुद्ध राजस्थानी है। मीराँ के कुछ पद मिश्रित भाषा के भी मिलते हैं। किसी भी परिस्थिति में मीराँ को हम गुजराती नहीं कह सकते। डा० कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी के मतानुसार मीराँ के पदों द्वारा शुद्ध भक्ति का प्रचार जितना गुजरात में हुआ उतना नरसी मेहता के पदों द्वारा नहीं हुआ। मीराँ न तो गुजराती थी न उनके पद गुजराती में लिखे गए थे। यह निष्कर्ष मुन्शीजी ने गुजरात से प्राप्त मीराँ के पदों से युक्त एक हस्तलिखित प्रति को देखकर निकाला है। यह प्रति संग्रहालय, गुजरात-विद्या-सभा अहमदाबाद में द्रष्टव्य है।[२]

मीराँ की जीवनी—

मीराँ की जन्म भूमि राजस्थान है अतः उनकी मातृ भाषा राजस्थानी है। उनका पतिकुल मेवाड़ का है और पितृकुल मेड़ता का है। इसीलिए वे अपने आपको 'मेड़तणी' कहती हैं। जोधपुर के संस्थापक राठोड़राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजीने मेड़ता नगर बसाया। इन्हीं राव दूदा का ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव संवत् १५३४ से संवत् १६०२ तक जीवित रहा। इनके पुत्र का नाम जयमल था। चतुर्थ पुत्र का नाम रतनसी रत्नसिंह था। इनका जन्म संवत् १५३० में हुआ और मृत्यु संवत् १५८० में हुई। मीराँ का जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। अनुमानतः मीराँ का जन्म संवत् १५६० माना जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल मीराँ का जन्म १५५६ से संवत् १५६० के बीच किसी समय मानते हैं।[३] मीराँ रत्नसिंह की एकमात्र पुत्री थी। ये कुड़की गाँव में पैदा हुई। बचपन में ही माता चल बसी। दूदाजी ने इनको अपने यहाँ बुला लिया। वहीं इनका पालन-पोषण हुआ। जब ये विवाह योग्य हो गईं तब राणा संग्रामसिंह के द्वितीय पुत्र भोजराज से इनका विवाह हुआ। वे चित्तौड़ गईं। पर भोजराज १५७३ से १५८३ के बीच स्वर्गस्थ हुए। अतः मीराँ विधवा हो गईं। अपने बालपन के मीत गिरिधारीलाल की मूर्ति को वे अपने पतिगृह में ले गईं। मीराँबाई के पूर्वज वैष्णव और

---

१ गुजराती और व्रज भाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १६।

२. ह० प्र० नं० ५, ४७७ क० सं० १६६५।

३ मीराँबाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० ५७।

भागवत थे। इन पूर्वजो मे कई भागवत् भक्त कहलाते थे। बचपन से ही चतुर्भुज विष्णु मूर्ति से मीरॉ ने अपना नाता जोड लिया था। इसी मूर्ति से खेलने-खेलते दिल लगा बैठी थी। विधवा हो जाने पर रात दिन उस मूर्ति की सेवा और पूजा जी जान से करने लगी। राणाजी के खानदान मे मीरॉ की भक्ति-भावना और उपासना एक अभिशाप रूप मे देखे गए। विक्रमाजित ने मीरॉबाई को बहुत कष्ट दिया। उनका सत-समागम रोक दिया गया तथा जहर का प्याला भी भेजा गया। उसे वे चरणामृत समझकर पी गई। राजनीति के बवडरो से उकताकर मीरॉ फिर मेडते मे रही। *यहाँ पर भी साधु सन्तो की देखभाल उसी तरह होती थी जैसी* चित्तौड मे होती थी। सवत् १६०३ मे मीरॉ का देहान्त हुआ। वे द्वारका मे रणछोडजी के दर्शनार्थ गयी। एक ब्राह्मण ने यहाँ धरना दिया था, जिसे राणा ने उन्हे लौटाने के लिए भेजा था। पर मीरॉबाई ने जाना स्वीकार नहीं किया। परन्तु वे रणछोड के मूर्ति मे समा गई। यह मूर्ति डाकोर के इलाके मे गुजरात मे है। अत यह कहा जा सकता है कि उनकी मृत्यु द्वारका मे हुई। मीरॉबाई वृन्दावन भी गयी थी। वहाँ पर वे जीव-गोस्वामी से मिली थी। पहले तो उन्होने मीरॉबाई से मिलने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होने कहा—'कृष्ण के अतिरिक्त परम-पुरुष और कोई नही है।' यह सुनकर वे फौरन उनसे मिलने दौडे चले आए। ये चैतन्य के शिष्यों मे से थे। चैतन्य महाप्रभु राधाकृष्ण की भक्ति और कीर्तन के अनन्य उपासक और प्रबल प्रचारक भी थे। ये गुजरात और राजस्थान भी गए थे। मीरॉबाई का कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव था। मीरॉ चैतन्य से दीक्षित नही थी। परन्तु यह कहा जा सकता है कि वे चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति से अनुप्राणित एवम् प्रभावित अवश्य कही जा सकती है। चैतन्य द्वारा की गई सङ्कीर्तन भक्ति के अनुसार मीरॉबाई के अनेक पद मिलते हैं। पर वे चैतन्य से मिली होंगी ऐसा अनुमान भ्रमात्मक ही है। उसी प्रकार तुलसीदास को उन्होने *पत्र लिखा था, यह अनुश्रुति भी प्रमाणिक नहीं मानी जा सकती।*

कुछ किवदन्तियाँ—

कृष्णदास अधिकारी की वार्ता से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित करने की चेष्टा की गई थी। पर मीरॉ ने उसे स्वीकार नहीं किया। द्वारका से रणछोड के दर्शन कर लौटते समय वे मीरॉबाई के गॉव गये। वहाँ हरिवश आदि वैष्णवो को बैठा देखकर वे वहाँ पर नही ठहरे। मीरॉ द्वारा दी गई मोहरो को भी अस्वीकार कर दिया और कहा कि तुम महाप्रभू की सेविका नहीं हो अत हम तुम्हारे हाथ की भेंट नही छुवेंगे। चौरासी-वैष्णवन की वार्ता मे

एक प्रसङ्ग रामदास को लेकर मिलता है। मीरां वल्लभाचार्य के समकालीन थी। इसका इस बातसे पता चलता है। मीरांने रामदासके साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार किया यद्यपि वे बिगड़े और उठ खड़े हुए थे। हरि भक्तों की सेवा में उन्होंने काफी खर्च किया। साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का मनमें लेशमात्र अंश भी न था। बाल्य-काल की अनुचरी के रूप में उनकी एक प्रिय दासी ललिता उनकी सखी थी। वह जीवन पर्यन्त उनके साथ छाया की तरह रही थी। उसे 'माई' कहकर वे सबोधन करती थी। कहा जाता है कि जिस दिन मीरां रणछोड़जी की मूर्ति में समा गईं तब नवविवाहिता की तरह शृङ्गार कर मीरां के सामने उपस्थित हो गयी और उनको प्रणाम कर समुद्र की लहरों में समा गई। यही ललिता मीरां के पदों को लेख-बद्ध किया करती थी।

मीरां की रचनाएँ—

मीरां के नाम पर चार रचनाएँ मिलती हैं। (१) गीत-गोविन्द की टीका (गीत-गोविन्द की भाषा टीका) (२) नरसीजी रो माहेरो—नानीबाई की पहरावनी का वर्णन, (३) फुटकल पद—दस भक्तों का पद-संग्रह और (४) राग सोरठ पद-संग्रह। (कबीर, नामदेव और मीरां के पद।) (१) इनमें से पहले के बारे में यह निश्चित है कि वह मीरां कृत नहीं है। मुन्शी देवीप्रसाद ने इस रचना के कुछ अंश प्रकाशित किए हैं। रचना की भाषा शिथिल है। पूरी पुस्तक प्रकाशित हुए बिना कोई निर्णय कर सकना कठिन है। (२) गीत-गोविन्द की टीका वास्तव में महाराणा कुम्भा द्वारा रचित है। मीरां को तो लोगों ने राणा कुम्भा की पत्नी तक बना दिया था। अतः यह भी मीरां कृत नहीं हो सकता। (३) फुटकर पद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। पर इसमें मीरां के पदों का संग्रह है जिसमें अन्य भक्तों के भी पद सम्मिलित हैं। अन्य रचनाएँ भी इसी तरह यही निर्णय देती हैं कि या तो वे संग्रहीत पद हैं अथवा सङ्कलन है। मीरां रचित गर्बा-गीत तथा मीरां की मल्हार भी उनके नाम पर बतलाई जाती है। पर इन गीतों में भाषा का नयापन होने से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि वे मीरां कृत नहीं हो सकते। मीरां ने किसी ग्रन्थ विशेष की रचना नहीं की थी। वे पद मात्र बनाया करती थीं जिन्हें सुनकर लोगों ने लिख लिया होगा। 'मीरां पदावली' ही एक मात्र उनकी रचना मानी जावेगी। वैसे मीरां ने स्वयं इस पदावली का कोई नामकरण नहीं किया था। मीरां में वैराग्य प्रवणता और भक्ति भावना बचपन से ही दृढ़ थी। उन्हें जोगिन का वेश बहुत प्रिय था। एक पद में इस भाव को देखा जा सकता है—

हार सिंगार सभी ल्यो आपलो चूड़ो करसों पटकों।
मेरा सुहाग अब मोकूँ दरसों और न जाने घटकों।

जोगिन होइ मैं बन-बन डोलूँ तेरा पाया भेद।
तेरी मूरत के कारणें, धर लिया भगवा भेस।[१]

मीराँ के आविर्भाव काल का वातावरण भक्तिमय था। मीराँ की माधुरी भावना प्रेम-मूला थी। साँवरे रंग में रंग कर उसका सब कुछ उज्ज्वल हो गया था। कृष्ण प्रेम के पारस स्पर्श ने उसके हृदय को कंचन बना दिया था। उसका प्रेम अपने जनम-जनम के साथी से है। इसीलिए इस प्रेम में एक निष्ठता और मग्नता है। नारी एक ही बार अपना वर चुनती है। लौकिक वर प्राप्त होने के पूर्व ही उसने अलौकिक वर को चुन लिया था। वे कहती हैं[२]—

राणाजी मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरधारी म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ।
पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहीं जात निवारी॥
तुमतजि और भतार को मनमें नहिं आवतो हो।
बालापन सो मीराँ किन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत क्यों हूँ नहि लगन लगी बारी जाऊँ।

मीराँ के पद आत्मनिष्ठ दिव्य प्रेम के व्यंजक हैं। शैली उत्तम पुरुष में अभिव्यंजित है। मीराँ ने राधा की ही तरह अपने प्रियतम के साथ नित्य-लीला-विहार किया है। नाना प्रकार की प्रेम की बातें और क्रीडाएँ की हैं अतः अपनी स्वानुभूति की प्रेम मिठास को वे अपने पदों में भर देती हैं। विद्यापति, सूरदास, नन्ददास, हितहरिवंश आदि सन्तों ने राधाकृष्ण के प्रेम का गान किया। मीराँ ने अपने भावों को संगीत के माधुर्य के साथ अपने पदों में व्यक्त किया।

उनके गुरु रैदास थे, ऐसा एक मत प्रचलित है पर यह असम्भव सा जान पड़ता है। वे मीराँ के बहुत पहले हुए थे। अतः सम्भवतः किसी रैदासी सन्त के लिए उन्होंने अपने एक पद में यह कहा है—

रैदास संत मिले मोहि सतगुर दीन्हीं सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी॥

मीराँ के गीत उन्मुक्त आकाश में विचरण करने वाले स्वच्छन्द पक्षी के गीत हैं। वे भारत भर में प्रसिद्ध हैं। अतः इनके नाम का प्रामाणिक संग्रह मिलना कठिन कार्य है। मीराँ किसी भी सम्प्रदाय विशिष्ट में नहीं आती है। डाकोर और

१ मीराँ पदावली।
२ मीरा माधुरी—४६८ पद, ब्रज रत्नदास।

काशी की प्रतियाँ मीराँ की पदावली के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। डाकोर वाली प्रति गोवर्धनप्रसाद भट्ट के संग्रहालय से श्री आचार्य ललिताप्रसाद शुक्लजी को प्राप्त हुई थी। भट्टजी की यह पोथी रणछोड़दास के मन्दिर में रखी हुई ललिता द्वारा लिखित प्रति के आधार पर संवत् १६४२ में नकल की गई थी। इस प्रति का अवलोकन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था। इसके अतिरिक्त लगभग सोलह और हस्तलिखित संग्रह मिल चुके हैं जिनमें चार काशी में, दो कानपुर में, दो रायबरेली में, तीन मथुरा में और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर में आचार्य ललिताप्रसादजी ने देखे थे। इस तरह कुल १०३ पद संग्रहीत किये गये हैं। इतना निश्चित है कि ये मीराँ कृत हैं। इनके पाठ-भेदों के विषय में मतभेद हो सकता है। मीराँ के पद कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मार्गों के अर्थात् सन्त मत के, सहजिया मत के, और योग पथ के भी पद मिलते हैं। उनमें से वास्तव मीराँकृत कितने हैं और प्रक्षिप्त कितने हैं यह जानना कठिन है।

वैसे मीराबाई के पदों को लेकर कई पदावलियाँ और संग्रह निकल चुके हैं। और अधिक से अधिक पद मीराँ के हैं यह बतलाने की होड़ सी लगी जान पड़ती है। इस तरह कई संग्रह निकल चुके हैं।

मीराबाई की ख्याति वैष्णव भक्ति साहित्याकाश में ध्रुव तारे की तरह अडिग और अटल रूप से विद्यमान है। मीराँ ने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया किसी ने ठीक ही कहा है—

> नाम रहेगो नाम से सुनो सयाने लोय।
> मीराँ सुत जायो नहीं शिष्य न मूँड्यो कोय॥

माधुरी भक्ति, दाम्पत्य-भावना में की गई भक्ति-भावना विरह की प्रेम-पीड़ा और एकान्तिक-निष्ठा के कारण मीराँ अजर अमर है।

जोगिन होइ मैं बन-बन डोलूं तेरा पाया भेद ।
तेरी मूरत के कारणे, धर लिया भगवा भेस ।[1]

मीरां के आविर्भाव काल का वातावरण भक्तिमय था । मीरां की माधुरी भावना प्रेम-भूना थी । साँवरे रंग में रंग कर उसका सब कुछ उज्ज्वल हो गया था । कृष्ण प्रेम के पारस स्पर्श ने उसके हृदय को कंचन बना दिया था । उसका प्रेम अपने जनम-जनम के साथी से है । इसीलिए इस प्रेम में एक निष्ठता और सघनता है । नारी एक ही बार अपना वर चुनती है । लौकिक वर प्राप्त होने के पूर्व ही उसने अलौकिक वर को चुन लिया था । वे कहती हैं[2]—

राणाजी मैं गिरिधर के घर जाऊं ।
गिरधारी म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप सुभाऊं ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊं ।
पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहीं जात निवारी ॥
तुमतजि और भतार को मनमें नहिं आवतो हो ।
बालापन तो मीरां किन्हीं गिरधरलाल मिताई ।
सो तो अब छूटत क्यों हूं नहिं लगन लगी बारी जाऊं ।

मीरां के पद आत्मनिष्ठ दिव्य प्रेम के व्यंजक हैं । दोनों उत्तम पुरुष में अभिव्यंजित है । मीरां ने गोपी की ही तरह अपने प्रियतम के साथ नित्य-लीला-विहार किया है । नाना प्रकार की प्रेम की बातें और क्रीडाएँ की हैं अतः अपनी स्वानुभूति की प्रेम मिठास को वे अपने पदों में भर देती हैं । विद्यापति, सूरदास, नंददास, हितहरिवंश आदि सन्तों ने राधाकृष्ण के प्रेम का गान किया । मीरां ने अपने भावों को संगीत के माधुर्य के साथ अपने पदों में व्यक्त किया ।

उनके गुरु रैदास थे, ऐसा एक मत प्रचलित है पर यह असंभव सा जान पड़ता है । ये मीरां के बहुत पहले हुए थे । अतः संभवतः किसी रैदासी सन्त के लिए इन्होंने अपने एक पद में यह कहा है—

रैदास संत मिले मोहि सतगुर दीन्हीं सुरत सहदानी ।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी ॥

मीरां के गीत उन्मुक्त आकाश में विचरण करने वाले स्वच्छन्द पक्षी के गीत हैं । ये भारत भर में प्रसिद्ध हैं । अतः इनके नाम का प्रामाणिक संग्रह मिलना कठिन कार्य है । मीरां किसी भी सम्प्रदाय विशिष्ट में नहीं आती है । डाकोर और

---

१. मीरां पदावली ।
२ मीरा माधुरी—४६८ पद, ब्रज रत्नदास ।

काशी की प्रतियाँ मीरां की पदावली के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। डाकोर वाली प्रति गोवर्धनप्रसाद भट्ट के सग्रहालय से श्री आचार्य ललिताप्रसाद शुक्लजी को प्राप्त हुई थी। भट्टजी की यह पोथी रणछोड़दास के मन्दिर मे रखी हुई ललिता द्वारा लिखित प्रति के आधार पर सवत् १६४२ मे नकल की गई थी। इस प्रति का अवलोकन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था। इसके अतिरिक्त लगभग सोलह और हस्तलिखित सग्रह मिल चुके हैं जिनमे चार काशी मे, दो कानपुर मे, दो रायबरेली मे, तीन मथुरा मे और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर मे आचार्य ललिताप्रसादजी ने देखे थे। इस तरह कुल १०३ पद संग्रहीत किये गये हैं। इतना निश्चित है कि ये मीरां कृत हैं। इनके पाठ-भेदो के विषय मे मतभेद हो सकता है। मीरां के पद कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भावों के अर्थात् सन्त मत के, सहजिया मत के, और योग पथ के भी पद मिलते हैं। उनमे से वास्तव मीरांकृत कितने हैं और प्रक्षिप्त कितने हैं यह जानना कठिन है।

वैसे मीराबाई के पदो को लेकर कई पदावलियाँ और सग्रह निकल चुके हैं। और अधिक से अधिक पद मीरां के हैं यह बतलाने की होड सी लगी जान पड़ती है। इस तरह कई सग्रह निकल चुके हैं।

मीरांबाई की ख्याति वैष्णव भक्ति साहित्याकाश मे ध्रुव तारे की तरह अडिग और अटल रूप से विद्यमान है। मीरां ने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया किसी ने ठीक ही कहा है—

> नाम रहेगो नाम से सुनो सयाने लोय।
> मीरां सुत जायो नहीं शिष्य न मूंड्यो कोय॥

माधुरी भक्ति, दाम्पत्य-भावना मे की गई भक्ति-भावना विरह की प्रेम-पीड़ा और एकान्तिक निष्ठा के कारण मीरां अजर अमर है।

षष्ठ–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियो का आध्यात्मिक-पक्ष

*

षष्ठ-अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

ज्ञानेश्वर के द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप :

परब्रह्म का स्वरूप—

ज्ञानेश्वर के अनुसार परमात्मा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता क्योंकि ज्ञेयत्व के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। वस्तुत ब्रह्म नेत्रों का नेत्र है, कानों का कान है, मनों का मन है, तथा वाचा-शक्ति की वाचाशक्ति है अर्थात् उपनिषदकालीन ऋषि जिसे 'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।'[१] ऐसा वर्णन करते हैं। देखिए ज्ञानेश्वर भी उसी तरह कहते हैं—

> 'तेवीं जेणे तेजें। वाचेसि वाच्य सुजे।
> ते वाचा प्रकाशिजे। हे के आहे॥'[२]

परमात्मा के तेज से अर्थात् ज्ञान से वाणी के द्वारा सारे वाच्य घटों का प्रकाशन हो जाता है, किन्तु वही वाणी प्रकाश रूप परमात्मा का प्रकाशन या ज्ञान कैसे दे सकती है? परब्रह्म किसी का विषय नहीं बन सकता। नाथसंप्रदाय का दर्शन उनको गुरुपरम्परा से मिला है, इसलिए अद्वैतमत प्रणाली उनको मान्य है। नाथ-परम्परागत अद्वैतवाद और शांकर (वैष्णव परम्परागत) अद्वैतवाद दोनों ही ज्ञानेश्वर में दिखाई देते हैं। ज्ञानेश्वर अपनी व्यक्तिगत-साधना में निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत दर्शन को अपनाते हैं। समाज के लिए सगुण साधना का अवलंब किया जाय, ऐसा उनका मत है। पर यहां उन पर चर्चा हमें नहीं करनी है। अपने निर्गुण तत्व का प्रतिपादन ज्ञानेश्वर अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से करते हुए प्रतीत होते हैं। वे स्वयम् साक्षात्कारी योगी थे, इसलिए उनके अद्वैत तत्व प्रतिपादन शैली में हम नवीनता और अपूर्वता पाते हैं। अत वे वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौडपादाचार्य, शंकराचार्य आदि की कोटि में गिने जाते हैं। ये सारे अद्वैत सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं।

---

१. केनोपनिषद्, १-५।

२. अमृतानुभव—प्र० ५-१५।

ज्ञानेश्वरी मे सगुण निर्गुण के परे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञानेश्वर बतलाते हैं—

सकळु ना निष्कळु। अक्रियु ना क्रियाशीळु।
कृश ना स्थूळु। निर्गुण पणे ॥ ७ ॥
आनन्दु ना निरानन्दु। एक ना विविधु।
मोकळा ना बद्ध्। आत्मपणे ॥१११०॥[1]

यह ब्रह्म निर्गुण होने से इसके कोई भाग या हिस्से अथवा अंश नही है। उसे कर्म सहित या कर्म रहित नही मान सकते। वह कृश नहीं है और हृष्ट-पुष्ट भी नही है। अरूप होने से अदृश्य है ऐसा कहने पर वह अदृश्य भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट-व्यक्त एवम् साकार नही है और अप्रकट एवम् निराकार भी नही है। परमात्मा होने से वह आनन्द रहित व दुःख रहित नहीं है। वह सुख दुःख आनन्द विषाद के परे है। वह न तो मुक्त है अथवा बद्ध है। वह इन सबसे परे है।

परब्रह्म का ज्ञान सुख प्रदान करता है—

परब्रह्म को जान लेने से सुख प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधक अमरत्व को पा लेता है। ज्ञानेश्वर का विवेचन इस विषय मे इस प्रकार है—

तरि ज्ञेय ऐसे म्हणणे। वस्तुतें येणेचि कारणें।
जे ज्ञानेवाचूनि कवणे। उपायें नये ॥ ६४ ॥[2]
रूप वर्ण व्यक्ति। नाहीं दृश्य द्रष्टा स्थिती।
तरि कोणे कैसे आथी। म्हणावे पां ॥ ६६ ॥[3]

ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए मानते हैं क्योंकि उसे ज्ञान के अतिरिक्त और अन्य उपायो से नही जान सकते। ब्रह्म को जान लेने के बाद कुछ भी करना शेष नही रहता, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान उसे ज्ञेय स्वरूप बना देता है। उस ज्ञेय स्वरूप को जानकर संसार की चहार दीवारी को निकालकर अर्थात् उसका त्यागकर नित्यानन्द रूप हो सकते हैं। इसी ज्ञेय का नाम परब्रह्म है। यदि वह नही है, ऐसा हम कहे तो सारा विश्व हमें उसके आकार सहित प्रतीत होता है। यदि ब्रह्म को ही विश्व मानें तो विश्व मिथ्याभास है, ऐसा कहना पडेगा। ब्रह्म का कोई रूप, रङ्ग और आकार नही है। ब्रह्म देखने का विषय और स्वयं द्रष्टा भी है ऐसी कोई स्थिति नहीं है। अतः उसे—वह है—ऐसा कौन और कैसे कह सकता है? यदि वह नही

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–११०७, १११०।
२. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–८६४।
३. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३।८६५–८६६।

षष्ठ–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

ज्ञानेश्वर के द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप

परब्रह्म का स्वरूप—

ज्ञानेश्वर के अनुसार परमात्मा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता क्योंकि ज्ञेयत्व के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। वस्तुत ब्रह्म नेत्रो का नेत्र है, कानो का कान है, मनो का मन है, तथा वाचा-शक्ति की वाचाशक्ति है अर्थात् उपनिषद्कालीन ऋषि जिसे 'यद्वाचाऽनभ्युदित येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते।[1]' ऐसा वर्णन करते हैं। देखिए ज्ञानेश्वर भी उसी तरह कहते हैं—

> 'तेवीं जेणे तेजें। वाचेसि वाच्य सुजे।
>
> ते वाचा प्रकाशिजे। हे के आहे॥'[2]

परमात्मा के तेज से अर्थात् ज्ञान से वाणी के द्वारा सारे वाच्य पदो का प्रकाशन हो जाता है, किन्तु वही वाणी प्रकाश रूप परमात्मा का प्रकाशन या ज्ञान कैसे दे सकती है ? परब्रह्म किसी का विषय नहीं बन सकता। नाथसंप्रदाय का दर्शन उनको गुरुपरम्परा से मिला है, इसलिए अद्वैतमत प्रणाली उनको मान्य है। नाथ-परम्परागत अद्वैतवाद और शांकर (वैष्णव परम्परागत) अद्वैतवाद दोनो ही ज्ञानेश्वर मे दिखाई देते हैं। ज्ञानेश्वर अपनी व्यक्तिगत-साधना मे निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत दर्शन को अपनाते हैं। समाज के लिए सगुण साधना का अवलब किया जाय, ऐसा उनका मत है। पर यहाँ उस पर चर्चा हमे नहीं करनी है। अपने निर्गुण तत्व का प्रतिपादन ज्ञानेश्वर अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से करते हुए प्रतीत होते हैं। वे स्वयम् साक्षात्कारी योगी थे, इसलिए उनके अद्वैत तत्व प्रतिपादन शैली मे हम नवीनता और अपूर्वता पाते हैं। अत वे वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौड पादाचार्य, शकराचार्य आदि की कोटि मे गिने जाते हैं। ये सारे अद्वैत सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं।

---

१. केनोपनिषद्, १–५।

२. अमृतानुभव—प्र० ५–१५।

ज्ञानेश्वरी में सगुण निर्गुण के परे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञानेश्वर बतलाते हैं—

सकळु ना निष्कळु। अक्रियु ना क्रियाशीळु।
कृश ना स्थूळु। निर्गुण पणे ॥ ७ ॥
आनन्दु ना निरानन्दु। एक ना विविधु।
मोकळा ना बद्ध। आत्मपणे ॥१११०॥[1]

यह ब्रह्म निर्गुण होने से इसके कोई भाग या हिस्से अथवा अश नहीं है। उसे कर्म सहित या कर्म रहित नहीं मान सकते। वह कृश नहीं है और हृष्ट-पुष्ट भी नहीं है। अरूप होने से अदृश्य है ऐसा कहने पर वह अदृश्य भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट-व्यक्त एवम् साकार नहीं है और अप्रकट एवम् निराकार भी नहीं है। परमात्मा होने से वह आनन्द रहित व दुःख रहित नहीं है। वह सुख दुःख आनन्द विषाद के परे है। वह न तो मुक्त है अथवा बद्ध है। वह इन सबसे परे है।

परब्रह्म का ज्ञान सुख प्रदान करता है—

परब्रह्म को जान लेने से सुख प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधक अमरत्व को पा लेता है। ज्ञानेश्वर का विवेचन इस विषय में इस प्रकार है—

तरि ज्ञेय ऐसे म्हणणे। वस्तुतें येणेंचि कारणें।
जे ज्ञानेवाचूनि कवणे। उपायें नये ॥ ६४ ॥[2]
रूप वर्ण व्यक्ति। नाहीं दृश्य द्रष्टा स्थिती।
तरि कोणें कैसे आथी। म्हणावे पां ॥ ६६ ॥[3]

ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए मानते हैं क्योंकि उसे ज्ञान के अतिरिक्त और अन्य उपायों से नहीं जान सकते। ब्रह्म को जान लेने के बाद कुछ भी करना शेष नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान उसे ज्ञेय स्वरूप बना देता है। उस ज्ञेय स्वरूप को जानकर संसार की बाहर दीवारों को निकालकर अर्थात् उनका त्यागकर नित्यानन्द रूप हो सकते हैं। इसी ज्ञेय का नाम परब्रह्म है। यदि वह नहीं है, ऐसा हम कहें तो सारा विश्व हमें उसके आकार सहित प्रतीत होता है। यदि ब्रह्म को ही विश्व मानें तो विश्व मिथ्याभास है, ऐसा कहना पड़ेगा। ब्रह्म का कोई रूप, रङ्ग और आकार नहीं है। ब्रह्म देखने का विषय और स्वयं द्रष्टा भी है ऐसी कोई स्थिति नहीं है। अत उसे—वह है—ऐसा कौन और कैसे कह सकता है ? यदि वह नहीं

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३-११०७, १११०।
२. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३-८६४।
३. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३।८६५-८६६।

है – ऐसा कहा जाय, तो महत्तत्वादि तत्त्व किससे अपना स्फुरण प्राप्त करते हैं ? वस्तुत यह सब कुछ ब्रह्ममय है। अत जिस ब्रह्म को देखकर उसके 'अस्ति नास्ति' के बारे मे वाणी मौन हो जाती है, उसका हम कोई विचार नहीं कर सकते।

ब्रह्म को सर्वत्र अनुभव करना चाहिए—

ज्ञानेश्वरी मे ज्ञानेश्वर बतलाते हैं कि[1]—

> गगन भरो धारा। परिघाली एक विकीरा।
> तैसा या नूना कारा। सरोंगी तो॥
> एव जीव धर्म हो तु। जो जीवासी अभिन्नु।
> देखे सो सुनयनु। ज्ञानिया माजि॥

पानी जब बरसता है तब उसकी जलधाराएँ सारे आकाश में व्याप्त रहती हैं, परन्तु उन सब धाराओं मे से बरसने वाला जल एकही रहता है उसी प्रकार से प्राणि मात्र मे एक ही परमात्मा विद्यमान है। गागर में और घर मे एक ही आकाश तत्व रहता है, वैसे ही जीव-समुदाय अलग-अलग प्रतीत होते हैं परन्तु इन सब के भीतर एक ही परमात्मा विद्यमान है। अनेक आभूषणों मे स्वर्ण एक ही तत्व रूप रहता है भले ही अलकारो के रूप मे उनके भिन्न-भिन्न आकार दिखाई पड़ते हों। परमात्मा जीव धर्म रहित है और सारे जीवो मे वह व्याप्त है। परमात्मा को जो इस तरह जानता है, उसे ही द्रष्टा और ज्ञानी कहते हैं।

परमात्मा प्रकृति के गुणो मे बद्ध नही है—

ज्ञानेश्वरी में उस निर्गुणता का इस प्रकार बखान किया गया है[2]—

> म्हणे परमात्मा म्हणिपे। तो ऐसा जाण स्वरूपें।
> जळी जळ न लिपे। सुर्यु जैसा॥
> आरिसां मुख जैसे। बिंबलिया नाम असे।
> देही वसणे तैसे। आत्मतत्त्वा॥

जिस प्रकार पानी मे सूर्य प्रतिबिम्बित रूप मे दिखाई दिया, किन्तु इससे वह गीला नहीं हो जाता, ठीक वैसेही प्रकृति मे रहने पर भी परमात्मा प्रकृतिके गुणों से लिप्त नहीं रहता, वरन् वह अपने शुद्ध स्वरूप में ही रहता है। परमात्मा देह मे स्थित है, ऐसा प्रायः कहा जाता है; परन्तु वह यथार्थ नही है। परमात्मा तो जहाँ है वहीं विद्यमान है। दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब सामने आ जाने पर हम उसे

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०६६।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०६६।

प्रतिबिम्ब ही कहते हैं। परमात्मा भी शरीर में उसी तरह प्रतिबिम्बित है। यह परमात्मा मूलतः अदृश्य होने से दृश्य और अदृश्य दोनों नहीं है। वह प्रकाशयुक्त या अप्रकाशयुक्त भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट साकार या अप्रकट निराकार भी नहीं है वरन् वह सगुण निर्गुण के परे है।

जगत् का स्वरूप—

अमृतानुभव में ज्ञानेश्वर बतलाते हैं—

प्रकाश तो प्रकाश की। यालि नवचे येई चुकी।
म्हणोनि जग असिकी। वस्तु प्रभा॥
यालागी वस्तु प्रभा। वस्तुचि पावे शोभा।
जात असे लाभा। वस्तुसिचि॥[1]

प्रकाश को आकाश कहना ही उचित है अतः सारा संसार वस्तुप्रभा ही है, ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है। ज्ञानेश्वर परमात्मा को ही जगत् कहते हैं। क्योंकि यह जगत् जिस परमात्मा के प्रकाश से अर्थात् ज्ञान से भासित होता है ऐसा श्रुति वचन है। वह असत्य कैसे माना जाय? अतएव वस्तु की प्रभा वस्तु को ही मिलती है, तथा प्रभा की शोभा भी वस्तु को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेश्वर जगत् को परमात्मा से अभिन्न मानते हैं। इसलिए जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। वह भी अभिन्न ही है स्पष्ट है शिव ही विश्व रूप में अभिन्न हैं।

जीव-रूप—

ज्ञानेश्वर जीव को 'परमाणु' वत मानते हैं। देखिए[2]—

पैं परमाणु भूतळीं। हिमकणु हिमाचळीं।
मजमाजि स्याहाळीं। अह तैसे॥
हो का तरंगु लहानु। परि सिंधुसी नाहीं भिन्नु।
तैसा ईश्वरीं मी आनु। नोहेंचि मा॥
× × ×
म्हणोनि कन्यचि तव वासे। मर मोक्षा के प्रसवो॥

---

१. अमृतानुभव प्र ८-२९६-२९१।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १४, ओवियाँ ३८५-३८६ तथा

—अमृतानुभवप्रकरण ३१-५।

पृथ्वी पर स्थित अल्प परमाणु पृथ्वी रूप ही माना जाता है। बर्फ से भरा हुआ हिमालय और हिम का एक कण जैसे हिमालय पर्वत रूप समझा जाता है वैसे ही परमात्मा और जीव एक ही है। ये सारे दृष्टान्त उस जीव के लिए हैं, जो 'अहम्' में अस्मिता युक्त होकर आत्म साक्षात्कार में तत्पर हो जाता है। आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं, अत- बन्धन और मोक्ष के बारे में चिन्ता करने की भी आवश्यकता नहीं होती। बन्धन ही मिथ्या है, इसलिए सच्चा मोक्ष कैसे उपलब्ध होगा? अविद्या से स्वयम् मरकर मोक्ष का हमने स्थान बना दिया है, अर्थात् मोक्ष का स्वरूप बतला दिया है।

सगुण-परब्रह्म-स्थिति-वर्णन—

ब्रह्म-स्थिति अक्षरों से एवम् शब्दों से अकथनीय है। अतः जिसे सौभाग्य से वह स्थिति सम्प्राप्त हो जाती है, वह ब्रह्ममय ही बन जाता है, इसे ही तद्रूपता मानते हैं। श्रीकृष्ण स्वयम् अपना सगुण स्वरूप वर्णन करते हैं जो द्रष्टव्य है। यथा[1]—

> जे उन्मनियेचे लावण्य। जे तुर्येचे तारुण्य।
> अनादि जे अगण्य। परमतत्व ॥
> ते हे चतुर्भुज कोंभेलो। जयाची शोभा रूपा आली।
> देखोनि नास्तिकीं नोकिली। ब्रह्मवृन्दें ॥

जिस परब्रह्म की तात्विक स्थिति ऐसी है जिसे मन रहित अवस्था का सौन्दर्य कहा जाता है, तथा जो नित्य-सिद्ध और असीम है, जहाँ पर आकार का अन्त हो जाता है, जहाँ निश्चय पूर्वक मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है तथा जहाँ आदि और अन्त का भी विलयन हो गया है, त्रैलोक्य का जो आदि कारण माना गया है और जिसे अष्टाग-योग वृक्ष का फल मानते हैं एवम् जो आनन्द की एकमात्र जीवन कला है, तथा जो पच-महाभूतों का बीज है और सूर्य का तेज है अर्थात् जिससे सूर्य को तेज प्राप्त होता है वही मेरा विशिष्ट स्वरूप है। नास्तिकों के द्वारा भक्तों के समुदाय का पराभव किया गया, इसलिए निर्गुण स्वरूप की शोभा अभिव्यक्त हो गयी। यही अभिव्यक्त मूर्ति मेरी चतुर्भुज मूर्ति है। भगवान् कृष्ण अपनी सगुण ब्रह्म स्थिति का वर्णन अर्जुन से इस प्रकार करते हैं। इस उत्कृष्ट सुखानुभूति को वे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं जो निश्चय पूर्वक भगवद् प्राप्ति तक अटूट आस्था युक्त रहते हैं। वे स्वयम् इस प्रकार का सुख स्वरूप धारण कर तद्रूप बन जाते हैं।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६, ओवियाँ ३१८-३२४।

साधन :

ज्ञानेश्वर के द्वारा विवेचित मानव के लिए प्रतिपादित कर्मयोग—

कर्मयोग को ज्ञानेश्वर प्रथम देने वाले व्यक्ति थे। गीता मे वर्णित 'कर्म' शब्द की व्याख्या अपने ढङ्ग से ज्ञानेश्वर ने प्रस्थापित कर दी है। मानव के लिए कर्मवाद का सिद्धात अत्यन्त उपकारक है ऐसा ज्ञानेश्वर मानते थे। उनके मतानुसार निर्लिप्त-कर्मशून्यता मानवजीवन मे सम्भवनीय ही नही है। यह समूचा विश्व एक प्रचण्ड कर्म है। अतएव इसी विश्व का एक अश अर्थात् मानव कर्मशून्य भला कैसे रह सकता? कर्म देह का सहज स्वभाव है। तब यह प्रश्न हमारे सामने आ सकता है, कि जन्म और मृत्यु इन दो कर्मों की राह कौन सी है? 'अकर्म' शब्द का गीतोक्त अर्थ निषिद्ध कर्म प्राय माना गया है। अपनी कुल परपरा, समाज का अधिकार, विशिष्ट प्रसङ्ग एवम् शास्त्र आदि के सदर्भ और सम्पर्क मे प्राप्त कर्तव्य का यथोचित पालन इस तरह से करना चाहिए जिससे कि भगवान की भक्ति करने की पात्रता साधक मे आ जाय। इस तरह किया गया कार्य ही धर्म एवम् यज्ञ है। ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। यथा—

तरी कर्म म्हणजे स्वभावें। जेणे विश्वाकार संभवे।
ते सम्यक आधी जाणावें। लागे एथ ॥[1]
देखे रथीं आरूढिजे। मग जरी निश्चळा बैसिजे।
तरी धड़ा होऊनि हिंडिजे। परतंत्रा ॥[2]
तैसी निजवृत्ति जेय सांडे। तेय स्वतन्त्रते वस्तो न घडे ॥
म्हणऊनि निजवृत्ति हे न सडावी। इन्द्रिये बरळों नेदावीं।
ऐसे प्रजाते शिकवीं। चतुराननु ॥[3]

स्वभावत विश्व स्वय एक महान कर्म है। जिस प्रकार रथारूढ व्यक्ति स्थिर बैठा हुआ है। परन्तु रथ उसको जिधर ले जाय उधर वह जाता रहता है और उसका प्रवास जारी रहता है। अर्थात् वह पराधीन होने पर भी चलायमान होकर दौडता रहता है। जहाँ पर अपना आचार-धर्म छूट जाता है, वहाँ पर आत्म स्वातन्त्र्य नही रह पाता। इसलिये जो भी प्राणि अपने स्वधर्म से च्युत होगा, उसे काल कडी से कडी सजा देगा। उसे चोर समझकर उसकी सारी सपत्ति वह छीन लेगा। रात्रि के समय भूत पिशाच जिस प्रकार श्मशान को घेर लेते हैं,

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय ४–८६।
२. ,, ३–६०।
३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३–११२–११७।

वैसे ही सारे पाप, दैन्य, विघ्न, दुःख और दारिद्र्य आकर उसको घेर लेते हैं। इन सबका निवास-स्थान ही उसके पास हो जाता है। उन्मत्त मनुष्य की तरह उसकी अवस्था हो जाती है और उसके जोर-जोर से आक्रन्दन करने पर भी, कल्पात पर्यन्त उसकी मुक्ति संभव नहीं है। इसीलिए स्वधर्माचरण नहीं छोड़ना चाहिए। इन्द्रियों को स्वैराचार करने से रोका जाय ऐसा ब्रह्मदेव ने सबको उपदेश दिया। 'शांकरद्वैती विचारों का प्रभाव यहाँ पर भी परिलक्षित होता है।

ज्ञानेश्वर की इस विचार धारा में कहीं भी समाजहित-विरोधी कोई बात नहीं है। आस्था युक्त प्रवृत्ति को जगाने वाली विचार धारा ही इसमें मुख्यतः है। भक्ति मार्ग पर चलने वाले पथिक के लिए समाज कल्याण ही आद्य कर्तव्य हो जाता है। उसके लिये गृह त्याग की आवश्यकता नहीं है। उसका कोई कर्म नहीं छूटता क्योंकि ज्ञानेश्वर का कहना है कि कर्म तो उसे करना ही पड़ता है—

आता गृहादिक आघवें। ते काहीं न लगे त्यजावें।
चे घेते जाहले स्वभावें। निःसंग म्हणऊनि॥[1]

'ऐसी स्थिति में गृह आदि सर्वस्व का त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आसक्ति की ओर झुकने वाला मन निःसंग बन जाने से उसकी ओर स्वभावतः नहीं जाता।'

ज्ञानेश्वरी में जिस विषय का प्रतिपादन है उसी विषय का खंडन अमृतानुभव में दिखाई पड़ता है। ज्ञानेश्वरी में वेद को महत्त्व दिया है। अमृतानुभव में उसके विरुद्ध शब्द-खंडन है। ज्ञानेश्वरी में निर्गुण तत्व प्रतिपादन, योग और शिवोपासना प्रधान रूप से है, तथा अभङ्गों में वे सगुण तत्व प्रतिपादन करते हैं। और विष्णु की उपासना उसमें प्रधान रूप से वर्णित है। ऐसा भारदेबुवा का मत है। ज्ञानेश्वरी सर्व साधारण के लिये लिखी और अमृतानुभव दार्शनिकों के लिये ज्ञानेश्वर ने लिखी। अधिकार और पात्रता की दृष्टि से सगुणोपासना उपयुक्त है। परन्तु मूलतः ज्ञानेश्वर निर्गुणोपासक थे, ऐसा भी कुछ लोगों का मत है। ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक अज्ञान का वर्णन है तथा ज्ञान के महत्व का प्रतिपादन है। अमृतानुभव में 'अज्ञान खंडन' नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है। किसी भी सिद्धान्त की प्रस्थापना में एक पूर्व पक्ष रहता है। जिसमें मंडन होता है, बाद में उत्तर पक्ष आता है जिसमें खंडन होता है। ज्ञानेश्वर ने ऐसा ही किया है। ज्ञानेश्वरी प्रथम लिखी और बाद में अमृतानुभव लिखा जिसमें इस नियम का पालन हुआ है। वारकरी सम्प्रदाय के लोगों का यही विश्वास है।

१. ज्ञानेश्वरी, ५ वाँ अध्याय—ओवी २२।

ज्ञानेश्वरी का दर्शन—

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर के विवेचन में जो बातें आई हैं, उनको देखना और मत बना लेना आसान कार्य नहीं है। ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर एक स्वतन्त्र टीकाकार हैं। व्यास के आशय को स्पष्ट करते हुए वे अपनी भूमिका विशद करते हैं। उनका स्वतन्त्र दर्शन है। उनके दार्शनिक प्रतिपादन का स्वरूप वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के विधायक दर्शन के अधिक निकट है। अनेक भाष्यकारों के मार्गों के प्रतिपादित सिद्धांतों को देखते हुए तथा उनकी छानबीन करते हुए शंकराचार्य के मार्ग का वे अनुसरण करते थे ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैसे अपने स्वतन्त्र मत एवम् सिद्धांत को वे 'अमृतानुभव' में अभिव्यक्त करते हैं। उनके पिता विट्ठल पन्त समाज की दृष्टि से पतित थे, अर्थात् संन्यासी बनने के बाद पुनः गृहस्थाश्रमी बने थे, इसीलिए रामानुजीय पथ की ओर वे मुड़े। श्रीपाद यति के वे शिष्य थे। इसलिए प्रारम्भ में रामानुज के मत का संस्कार ज्ञानेश्वर पर पड़ा। ऐसा कुछ लोगों का मत है। 'मायावतीं उदपाने' इस श्लोक का अर्थ रामानुज की तरह ज्ञानेश्वर करते हैं। अनेक स्थलों में ज्ञानेश्वर ने शंकराचार्य का अनुसरण नहीं किया है। परन्तु गीता के स्वतन्त्र विभाग भी किए हैं। अमृतानुभव शांकर मत का प्रतिपादक नहीं है। प्रत्युत शैवागमवादियों के अधिक निकट है। द्विचन्द्रज्ञान ही सत्ख्याति है, अज्ञान नहीं है ऐसा रामानुज का प्रतिपादन, और 'नाना चांदु एक असे' इस कोटि का अमृतानुभव में किया गया प्रतिपादन इस प्रकार का है जिसमें अर्थ सादृश्य और शब्द सादृश्य भी है।

रामानुज की तरह आठ प्रकार के अज्ञान की अनुपपत्ति ज्ञानेश्वर ने बतलाई है। फिर भी अमृतानुभव में शंकराचार्य या रामानुज का अनुवाद नहीं है। प्रत्युत वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। अमृतानुभव में प्रदर्शित विचार नए मौलिक और समिध नहीं हैं। शंकराचार्य का 'पुरुष' सोपाधिक है और 'प्रकृति' उपाधि है। किन्तु ज्ञानेश्वर के 'वोहरे' (जंगल की आग) अर्थात् माया का दावानल निरुपाधिक है। शङ्कराचार्य ने इन दोनों तत्वों को अलग-अलग माना है। ज्ञानेश्वर दोनों में ऐक्य मानते हैं। शङ्कर पुरुष को विषयी और प्रकृति को विषय मानते हैं। यह संसार ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। इसे ज्ञानेश्वर ने अज्ञानवाद का निषेध कर स्पष्ट रूप से समझा दिया है। उनका यह मत पांचरात्र-सिद्धांत से अधिक मिलता है। पांचरात्र और रामानुज इन दोनों का वल्लभाचार्य के साथ उपकार्योपकारक भाव है। ज्ञानामृत-सार-संहिता, वल्लभ का 'अणुभाष्य' और 'अमृतानुभव' में साम्य है। डा० लोढे ज्ञानेश्वर को द्वैताद्वैती मत का मानते थे। प्रो० बनहट्टी

शङ्कराचार्य के अद्वैत और ज्ञानेश्वर के अद्वैत को तुलना की दृष्टि से विचारार्थ लेना चाहिए ऐसा मानते हैं।

ज्ञानेश्वर की दृष्टि में कौन से भाष्यकार थे ?

ज्ञानेश्वर का निवेदन है :[1] 'तैंमा व्यासाचा मागोवा घेतु। भाष्यकाराते वाट पुसतु ॥ अयोग्य ही मी न पवतु। के जाईन ॥' व्यास का अनुसरण करते हुए शङ्कराचार्य और अन्य भाष्यकारों से मार्ग पूछते हुए तथा अयोग्य को छोडते हुए मैं चलूँगा। ज्ञानेश्वर का यही अभिप्राय जान पडता है। 'भाष्यकारातें' यह पद बहुवचन में है, किन्तु यदि उसको बहुवचनी भी मान लिया जाय तब भी जब तक ज्ञानेश्वरी का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शाङ्कर मत की अपेक्षा अन्य अन्य मतो के अधिक निकटतम है, ऐसा सप्रमाण कोई सिद्ध नहीं करता तब तक मुख्य रूप से शंकराचार्य का ही इसमें उल्लेख है ऐसा मानना पडता है। नागपुर के डा० शं. दा. पेंडसे का 'ज्ञानेश्वरांचें तत्वज्ञान' यह ग्रन्थ इस विषय में द्रष्टव्य है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है[2]—

'कुल २१८ स्थलों की तुलना करने पर ऐसा दिखाई दिया कि १४६ स्थानों पर शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर ने तत्वज्ञान के और अर्थ की दृष्टि से सादृश्ययुक्त टीका की है। उनमें से ४२ स्थानों पर शङ्कर के शब्दो को ज्ञानेश्वर प्रयुक्त करते हैं। दस स्थानों पर शङ्कर और ज्ञानदेव के समान दृष्टान्त हैं, और सत्तावन स्थानों पर शङ्कराचार्य का अर्थ ग्रहण कर रामानुज का अर्थ छोड दिया है। ६८ स्थानों पर शङ्कर वा रामानुज इनमें से किसी का भी अर्थ ग्रहण न करते हुए स्वतन्त्र रूप से ज्ञानेश्वर अर्थ करते हैं। ३८ स्थानो पर निर्गुण और मायावाद को लेकर शङ्कराचार्य से आगे बढकर ज्ञानेश्वर अर्थ स्पष्ट करते हैं। एक स्थान पर शङ्कर और रामानुज इन दोनो के अर्थों का समुच्चय किया गया है, तथा पाँच स्थानों पर शङ्कर को छोडकर रामानुजीय अर्थ स्वीकारा है। दार्शनिक दृष्टि से शाङ्कर विरोधी एक भी स्थल नहीं मिलता जहाँ पर रामानुज का अनुसरण किया गया है, वे स्थल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। रामानुजीय पद्धति से जिन ६ स्थानो पर अर्थ किया है वहाँ पाँच स्थानों पर ज्ञानेश्वर स्वतन्त्र रूप से अर्थ करते हैं। उदाहरणार्थ, 'आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेनम्।'[3] इस श्लोक की टीका ज्ञानेश्वर इस प्रकार करते हैं[4]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१७२२।
२. ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान—डा० शं. दा. पेंडसे।
३ श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय २–२६।
४. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–७१।

दृष्टि मुनि जयातें। ब्रह्मचर्यादि व्रतें। मुनीश्वर तपातें।
आचरति ॥

चैतन्य की प्राप्ति के लिए उसी पर दृष्टि रखकर बड़े-बड़े ऋषि मुनि ब्रह्मचर्यादिक व्रतों और तपों का आचरण करते हैं। 'यहाँ पर तपाचरण की कल्पना 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संग्रहेणप्रवक्ष्ये।'[1] इस कठोपनिषद के मन्त्र से ली है, ऐसा ब्रह्मचर्य के उल्लेख से समझ में आ जाता है। रामानुज और ज्ञानेश्वर दोनों की तपाचरण की कल्पना कठोपनिषद से स्वतन्त्र रूप में मिली है। शांकर-भाष्य में तप का उल्लेख नहीं है।' भाष्यकार के नाते शङ्कराचार्य ही ज्ञानदेव को अभिप्रेत थे। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान पर औपनिषदीय-दर्शन, नाथ-पंथीय-दर्शन और शङ्कराचार्य-दर्शन का परिणाम अवश्य हुआ है। ज्ञानेश्वर विनयशील थे, इसीलिये आदरणीयों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से ही मराठी में गीता टीका लिखकर गुरु कृपा से अपने श्रोताओं के सम्मुख प्रदर्शित की है।

सुन्दर शरीर पर अलङ्कार जिस प्रकार विशेष फबते हैं, वैसे ही संस्कृत गीता की यह ज्ञानेश्वरी टीका एक सुन्दर अलंकरण है जो गीता का माहात्म्य अत्यधिक वृद्धिगत करती है। नामदेव उसे ज्ञानदेवी और ज्ञानेश्वरी कहते हैं, तो एकनाथ उसे ज्ञानेश्वरी ही कहते हैं। वैसे उसका एक नाम 'भावार्थ दीपिका' भी प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर अपने नाम का उल्लेख बराबर करते हैं[2]—

१ जे सानुकूल श्री गुरु। ज्ञानदेवो म्हणे ॥
२. गुरुकृपा काय नाहे। ज्ञानदेवो म्हणे ॥
३. ज्ञानदेवो म्हणे ठेंकुले। तैसे हे नोहे ॥
४. केले ज्ञानदेवे गीते। देशीकार लेणे ॥

अपने गुरु निवृत्तिनाथ का नाम लेकर अपने आपको 'निवृत्तिदासु' अर्थात् निवृत्तिदास भी कभी-कभी कहते हैं। ज्ञानेश्वरी के विवेचन, निर्माण और कथन का सारा श्रेय वे अपने गुरु निवृत्तिनाथ को देते हैं। वे कहते हैं—देशी भाषा में संस्कृत गीता को सुन्दर भाव-भंगिमा, अलङ्कार आदि से मैंने सजाया है। ऐसा उनका विनम्र भाव है। जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी इस मराठी टीका को पढ़कर उसका सार ग्रहण कर लेंगे, ऐसा उनका विश्वास है।

---

१. कठोपनिषद (२-१५)।
२. ज्ञानेश्वरी—१-२०३, १८।१७१३, १८।१७६२ और १८।१७८४।

जिस प्रकार शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं, जिनमें अपने-अपने मतों का प्रतिपादन है, वैसे ही ज्ञानेश्वर ने किया है।

ज्ञानेश्वरी में मिलने वाले आध्यात्मिक विचारों का सार—

ज्ञानेश्वर के अध्यात्म विषयक विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है। १. परमतत्व सर्व शून्यों का निष्कर्ष महाशून्य है। २ वह वाणी का अथवा विचार का विषय नहीं बन सकता। क्योंकि वाच्य-वाचक-भाव, विषय-विषयी-भाव जहाँ-जहाँ पर आया है, वहाँ पर द्वैत आता ही है और परमतत्व इतना एक रूप है कि उसे द्वैत की कल्पना तक नहीं मानी है। अभाव, एक, दो, सगुण, निर्गुण या सापेक्ष और द्वैत मूलक वर्णन के परे है। ३. द्वैत के काल्पनिक प्रदेश में उतर कर उसका यदि वर्णन करना हो तो उसका वर्णन 'एकमेव अद्वितीय' ही किया जावेगा। ४. वह एक ही होने से उसमें दूसरा कुछ भी नहीं उत्पन्न हुआ ५ आभमान होने वाला तथा होगया है ऐसा लगने वाला सारा अज्ञान एवम् माया है। ६. यह माया ही प्रकृति है। जीव और जगत् ऐसे दो स्वरूप अज्ञानमय प्रकृति के ही हैं। ७ जीव परमात्मा है। शरीरोपाधि के कारण वह अलग भासित होता है और प्रकृति के गुण व कर्म को अज्ञान के कारण अपने ऊपर लाद लेता है। इसीलिए उसके पीछे सांसारिक परम्परा एवम् झमट लग जाती है। ८. यह नाम रूपात्मक जगत् भी भ्रान्तिमूलक है। ९ प्रकृति, जीव, जगत् और यह समूचा विश्व परमात्मा ही है। १०. नाम रूप असत् होने से परमतत्व का और उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परमवस्तु नाम रूपातीत होने से वहाँ पर दृष्टा-दृश्य-भाव और अहं-इदं-भाव नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य ज्ञानेश्वर ने सर्वशून्यवाद, अनिर्वचनीयवाद, अद्वैतवाद, अजातवाद और मायावाद को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विवेचन का अन्वय् और व्यतिरेक पद्धति से प्रतिपादन किया है।

ज्ञानेश्वर के मतानुसार मोक्ष के साधन कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान हैं।

कर्मयोग को वे प्राथमिक स्वरूप का समझते हैं[1]—

> परिकर्म फलो आश न करावी। आणि कुकर्मी सङ्गति न व्हावी।
> हे सत्क्रियाचि आचरावी। हेतुविण ॥

कर्म करते समय कर्म फल पर आसक्ति मत रखो तथा उसके साथ दुष्कर्म का सम्पर्क भी न होने दो। निर्हेतुक बनकर अपना स्वधर्म पालन करना चाहिए

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–२६६।

अर्थात् निष्काम मनसे स्वधर्म क्रिया का आचरण करना चाहिए। ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय करने के लिए ज्ञानेश्वर का निवेदन है[1]—

एक ज्ञानयोगु म्हणिजे। तो सांख्यीं अनुष्ठिजे ॥
जेथ बोल रवी सवें पविजे। तद्रूपता ॥
एक कर्मयोगु जाण। जेथ साधक जन निपुण।
होऊनिया निर्वाण। पावति-वेळे ॥

इनमें से एक ज्ञानयोग कहलाता है और इसका आचरण सांख्यवादी लोग करते हैं। जब मनुष्य की समझ में यह ज्ञानयोग अच्छी तरह आ जाता है तब जीवात्मा उस परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरा कर्मयोग कहलाता है। जिन कर्म योगियों को यह सिद्ध हो जाता है वे उचित आचार करने वाले साधक बनकर उपयुक्त समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इनमें से यह प्रश्न सामने उत्पन्न हो जाता है कि कौन सा मार्ग स्वीकार किया जाय? इस पर उनका यह निर्णय है[2]—

म्हणोनि आइके पार्था। जे या निष्कर्म्यं पदी आस्था।
तेया उचित कर्म सर्वथा। त्याज्य नोहे ॥
म्हणोनि जे जे उचित। आणि अवसरे करूनि प्राप्त।
ते कर्म हेतु रहित। आचरे तू ॥

इसलिए हे पार्थ सुनो जिसे इस नैष्कर्म में आस्था है उसे अपना स्वधर्मयुक्त आचरण करना ही चाहिये। उचित कर्मों का त्याग उसके लिए सर्वथा त्याज्य नहीं है। इसलिए यथा समय जो-जो कार्य उचित हैं उनका आचरण हेतु रहित होकर तुम करो।

नैष्कर्म्ययुक्त व्यक्ति कौन हो सकता है? यथा[3]—

म्हणोनि सर्वांपरी जो मुक्त। तो सकर्मुंचि कर्म रहितु।
सगुण परि गुणातीतु। येथ भ्रांति नाही ॥
म्हणोनि ब्रह्म तेचि कर्म। ऐसे बोधा आले जेयासम।
तेया कर्तव्य तें नैष्कर्म्य। धनुर्धरा ॥

जो सब प्रकार से मुक्त है, वह कर्म रहित होकर भी स्वधर्म रत है। उस धर्म में साकार लग जाने पर और गुण युक्त होकर भी वह गुणातीत है। इसमें

१. ज्ञानेश्वरी अ ३-३६-३७।
२. ज्ञानेश्वरी अ. ३-५०।७८।
३. ज्ञानेश्वरी अ. ४-११४।१२१।

भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए जिसे ब्रह्म और कर्म एक ही है, ऐसा बोध हो जायगा वह जो भी कार्य करेगा, वही कर्तव्य और नैष्कर्म्य हो जायगा। इसका कारण वह साम्य है।

लोगों के लिए किया गया कर्म[१]—

> देखें प्राप्तार्थ जाले। जे निष्कामता पावले।
> तेयांहि कर्तृत्व असे उरले। लोकांलागि॥
> मार्गाधारें वर्तावे। विश्व मोहरे लावावे।
> अलौकिका नोहावे। लोकाप्रति॥

जिन्हें कुछ प्राप्त करना था उसे उन्होंने प्राप्त कर लिया, इसलिये वे निरिच्छ बन गये फिर भी लोगों को व्यवहार सिखाने के लिए कर्म करना पड़ता है। इसलिये हे पार्थ ! लोगों के व्यवहार की प्रणाली सब तरह से कायम रखना योग्य है। इसलिए शास्त्र वचनों के अनुसार स्वयम् व्यवहार कर अपने आचरण से दुनियाँ को सीधा मार्ग दिखाना चाहिए तथा लोकबाह्य-वर्तन नहीं करना चाहिए।

कर्मयोग और सन्यास योग समान हैं इसके बारे में ज्ञानेश्वर के ये विचार हैं[२]—

> जैसा असतेन उपाधी। ना कलिजे तो कर्मबधी।
> जेयाचिये बुद्धी। संकल्पु नाहीं॥
> म्हणुनि कल्पना जं सांडे। तेचिगा सन्यासु घडे।
> येया कारणे दोन्ही सापडे। सन्यास योग॥

जिसकी बुद्धि में सकल्प नहीं होता, वह व्यक्ति परिवार में रहकर भी कर्म बधनों में नहीं फँसता, इसलिए जिस समय कल्पना से मुक्ति मिलती है, तभी वास्तविक रूप से सन्यास धर्म का पालन होता है। कल्पनाएँ आती रहती हैं तो सन्यास वास्तविक रूप में नहीं हो सकता। इन कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म सन्यास और कर्मयोग ये दोनों समान हैं। सांख्य और कर्मयोग भिन्न-भिन्न फल देते हैं, ऐसा अज्ञानी मानते हैं। ज्ञानी मौन रहते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि इन दोनों में से एक का भी योग्य आचरण मोक्ष की प्राप्ति करा देता है।

कर्मों को ईश्वरार्पण करना चाहिए ऐसी ज्ञानेश्वर की सीख है[३]—

> तेया सर्वात्मका ईश्वरा। स्वकर्म कुसुमांची वीरा।
> पूजा केली होय अपारा। तोषालागि॥

---

१. ज्ञानेश्वरी अ. ३–१५५।१७०।१७१।
२. ज्ञानेश्वरी अ. ५–२४–३५।
३. ज्ञानेश्वरी अ १८—९१७।९१८।९२२

म्हणोनि तिये पूजे। रिझलेनि आत्मराजे।
वैराग्य सिद्धी दीजे। पसाया तेया ॥
म्हणोनि मोक्षा या लागि। जो व्रत वाहातसे अङ्गी।
तेणे स्वधर्मु चांगी। अधिष्ठावा ॥

हे वीर अर्जुन ! उस सर्वव्यापक सर्वात्मक ईश्वर को स्वकर्म रूपी सुमनों से पूजा करने पर वह पूजा उसके अपार सन्तोष का कारण बन जाती है। इसलिए इस प्रकार की पूजा से सतुष्ट बने हुए आत्मराज परमात्मा से उसे वैराग्य सिद्धि का प्रसाद मिल जाता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा से जो अपने अङ्गों से व्रतों का आचरण करता है उसे चाहिये कि वह स्वधर्म का पालन अच्छी आस्था के साथ अवश्य करे। अपना स्वधर्म आचरण में लाने के लिए कठिन भी क्यों न हो फिर भी उसे बराबर आचरण में लाना चाहिए। तथा जिन परिणामों से वह फलीभूत होगा उन परिणामों की ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

कर्म फल ईश्वरार्पण करने से ही ज्ञान प्राप्ति होती है[1]—

स्वकर्मांच्या चोखी कीं। मज पूजा करूनि मनी।
तेणे प्रसाद आकळी। ज्ञान निष्ठेते।

हे अर्जुन ! स्वकर्म रूपी पवित्र पुष्पों से मेरी अच्छी तरह पूजा कर क्योंकि उससे सम्प्राप्त मेरे प्रसाद से कर्मयोगी ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर लेता है। इसका फल यह होता है कि उसे ज्ञान प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानेश्वर के मत से और गीता के प्रतिपादन से यह प्रतीत होता है कि भक्ति-योग, कर्म-योग के आगे की सीढ़ी है। वे कहते हैं[2]—

म्हणोनि मेर ते पार्था। वेणतीचि हे व्यथा। जे का भक्ति पथा। वोटंगले ॥
यथापरो पाही। अर्जुना माझा ठाई।
सम्यासूनि नाहीं। करितो कर्मे ॥

हे अर्जुन ! जो भक्ति-मार्ग में लगे हैं वे इन दुखों को जान ही नहीं पाते। भक्ति-मार्ग में जो व्यक्ति लग जाते हैं उनके कर्मेन्द्रिय अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सारे कर्म आनन्द से करते हैं। जो पुरुष शास्त्र में बतलाये गये आदेशों का पालन करते हैं, वे शास्त्र निषिद्ध कर्म नहीं करते और किये गये कर्मों के फल और वे कर्म मुझे अर्पण कर उनको जला देते हैं। इस तरह हे अर्जुन ! मुझमें

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१२४७।
२ ज्ञानेश्वरी अध्याय १२–७८।

अधिक युक्तिवाद प्रयुक्त करने से शंकर की अपेक्षा ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान एकदम भिन्न नहीं हो सकता। वेदों के अद्वैत सम्प्रदायके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत या द्वैताद्वैत आदि में से किसी भी सम्प्रदाय का ज्ञानेश्वर ने अनुकरण नहीं किया है। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान को हम वेदों के अनेक मतों की खिचड़ी भी नहीं मानेंगे। यों सब प्रकार के युक्तिवादों से एक अद्वैत का ही प्रतिपादन उनके तत्वज्ञान में किया गया है।

११ ज्ञानेश्वर के सब ग्रन्थों में एक ही तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। केवल कहीं अन्वय पद्धति और कहीं व्यतिरेक पद्धति पर जोर दिया गया है।

१२. ज्ञानेश्वर केवल अनुवादकर्ता नहीं है। उन्होंने कई स्थलों में गीता के स्वतन्त्र अर्थ भी किये हैं। किसी भी तत्वज्ञान की नवीनता, तत्व की अपेक्षा तत्वप्रतिपादन शैली में ही रहती है। ज्ञानेश्वर की शैली में यह नवीनता या अपूर्वता उनके सभी ग्रन्थों में दिखाई देती है। वे स्वयम् एक साक्षात्कारी योगी थे। इसलिए वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्व घोष, गौड़पाद, शंकराचार्य, शैवागमाचार्य अभिनव गुप्त आदि अद्वैत सम्प्रदायों के महर्षियों की श्रेणी में सम्मान से बैठाने योग्य ज्ञानेश्वर हैं।

ज्ञानेश्वर सर्व शून्यवादी हैं, 'ज्ञानेश्वर दर्शन' पुस्तक के अध्यात्मखंड में प्रो. दा. वा. दांडेकर 'ज्ञानेश्वर महाराजाचे तत्वज्ञान' नामक लेख में प्रतिपादन करते हैं कि शंकर केवलाद्वैती थे और ज्ञानेश्वर पूर्णवादी थे। यह भेद उचित सा नहीं जान पड़ता।[1]

ज्ञानेश्वर ज्ञानपूर्ण और ज्ञानोत्तर कर्म का उपदेश देते हैं[2]—

> हे कर्म मी कर्ता। आचरेन मी येणा अर्था।
> ऐसा अभिमान भरणे चित्ता। रिघो देसी।
> जगीं कीर्ति उदवीं। स्वधर्माचा मानु वाढवीं।
> यया भारा पासोनि सोडवीं। मेदिनी हे ॥[3]

'यह विहित कर्म मैंने किया है, मैं उसका कर्ता हूँ और एक विशिष्ट कारणार्थ मैं इस कर्म का आचरण करूँगा ऐसा अहंकार तुम्हारे मन में आ सकता है। किन्तु उसे मत आने दो। तुम्हें केवल देहात्मक होकर नहीं रहना चाहिए।

१. ज्ञानेश्वर दर्शन–अध्यात्म खंड–दां. वा. दांडेकर कृत लेख—'ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान'

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१८७–१९०।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१९० ज्ञानेश्वर।

अपनी सब कामनाओ को त्यागकर सारे भोगो का यथाकाल उपभोग लेना चाहिए। इसलिए तुम अब अपने हाथ मे धनुष लेकर इस रथ पर आरूढ हो जाओ और आनन्द से वीरवृत्ति का अङ्गीकार करो। इस प्रकार से तुम अपनी कीर्ति पताका फहराओ, अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढाओ और पृथ्वी को दुष्टों के अत्याचारों से मुक्त करो।'

ज्ञानेश्वरी को सभी मराठी भाषी लोग माताके समान मानते हैं। स्वानुभवी लोगों के लिए अमृतानुभव, मुमुक्षुओ के लिए ज्ञानेश्वरी, तथा सबके लिए एव नित्य-पठन के लिए हरिपाठ और अभङ्ग हैं। इस तरह जान पडता है कि समाज के सर्व स्तरीय लोगो की पारमार्थिक उन्नति हो इस बात की चिंता ज्ञानेश्वर को थी। ज्ञानेश्वर रचित साहित्य मे कहीं भी निराशावाद नहीं है। ज्ञानेश्वर सपूर्ण रूप से आनन्दवादी थे। उनका अल्पायु मे समाधि लेना यही सिद्ध करता है कि ईश सकल्प और ज्ञान सम्पन्न आत्मानुभव की पूर्णता उनमें आ गयी थी। इसकी सार्थकता प्राप्त हो जाने पर ही उन्होने समाधि ले ली।

ज्ञानेश्वर का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

ज्ञानेश्वर ने मानवी कर्तव्य की और मानवी साफल्य की कल्पना को दार्शनिक आधार लेकर स्पष्ट किया है। मानव जीवन के सबध मे उनका यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना ध्येय निश्चित करने की और उसे प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। सारे शास्त्र मानवो के लिए हैं। देव-शरीर भोग भूमि और मानवी-शरीर कर्म भूमि है। मानवी देह से स्वतन्त्र कर्तव्य करने का अवकाश प्राप्त हो जाता है। मानव मे अपनी अस्मिता होने से जीव कर्ता और भोक्ता दोनो है। ज्ञानेश्वर के अनुसार जीव का स्वरूप देह, इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा का सघात है। इन सबका पूर्ण विकास ही जीवन है। परमार्थ साधन के लिये उत्तम शरीर की आवश्यकता ज्ञानदेव मानते हैं। ज्ञानेश्वर को देहात्मवादी सुखवाद और इन्द्रियात्मवादी जीवन अमान्य है। अनुकूल विषयो का और इन्द्रियो का सयोग होने पर जिस सवेदनाका निर्माण होता है उसे सुख कहते हैं। ज्ञानेश्वरके अनुसार वास्तविक सुख 'आत्मबुद्धि प्रसादज' है। देह, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि इन सब के परे आत्मा है—ऐसी अनुभूति लेते हुए व्यवहार करने मे जीवन साफल्य है। सम्पूर्ण ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति मे जीवन साफल्य नहीं है। मनुष्य दैवी सामर्थ्य से सम्पन्न है। इसीलिए ज्ञानेश्वर अमृतानुभव मे इस प्रकार बतलाते हैं कि[1]—

---

१. ज्ञानेश्वर—अमृतानुभव (८-६४)।

शिवा-शिवा समर्थ स्वामी। एवढिये आनन्दभूमि।
घेपेदिजे आम्ही। ऐसे केले॥

हे समर्थ सद्गुरु! आपकी जय हो, हमारा कल्याण करने की पात्रता और सम्पन्न शक्ति प्रदान कर आपने हम पर कितनी कृपा कर दी है। इसी आनन्द-प्राप्ति-सम्पन्नता की भूमिका से युक्त होकर हम आध्यात्मिक सुख को ले-दे सकते हैं। ज्ञानेश्वर की ऐसी मनोभूमि बन जाने पर ही उन्होंने अमृतानुभव लिखा। ज्ञानेश्वर आध्यात्मिक लोकोपकारवाद सिखाते हैं। अरस्तू जिसे 'सुप्रतिष्ठित' कहते हैं, स्टोईक जिसको 'प्रतिभा-सम्पन्न' एवम् 'सयाना' कहते हैं, तथा नित्शे जिसे 'अति मानव' (सुपरमैन) कहते हैं, ऐसी तीन विशेषताओं से युक्त तथा आध्यात्मिक प्रभुता सम्पन्न पुरुष ही ज्ञानेश्वर का 'आदर्श पुरुष' है।

ज्ञानदेव का योगमार्ग—

ज्ञानदेव के अनुसार योगमार्ग पथ राज है। ज्ञानेश्वर स्वयम् योगमार्ग के जानकार थे। सन्यास ही योग है, ऐसा वे कहते हैं। पातञ्जल का योगसूत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध है। विभिन्न तंत्र और क्रियाएँ तथा शारीरिक व्यायामों से भरा हुआ योगमार्ग आचरण के लिए सरल है। योग-सिद्धि का तात्पर्य चमत्कार नहीं है। वे चमत्कार को गौण बतलाकर योगमार्ग को जीवन मुक्ति का ब्रह्म साक्षात्कार का अर्थात् मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। महेश सब योगियों के गुरु हैं। ज्ञानमार्ग और योगमार्ग का आशय कर्म मार्ग है ऐसा उनका निवेदन है। कर्ममार्ग का अर्थ कर्मठता नहीं है। ज्ञानेश्वरी में वर्णित योगमार्ग को वे कर्ममार्ग मानते हैं।

कर्म से उपलब्ध होने वाले फल का आश्रय न करते हुए उस पर दृष्टि न रखते हुए व उसकी चिन्ता न करके कार्य का फल मिलेगा ऐसी आशा से प्रवृत्त न होकर केवल स्वकर्तव्य के नाते जो कर्म करता है उसे सन्यासी कहना चाहिए। वही योगी भी है। इस तरह कर्म का अवलंब करने वाला गृहस्थाश्रमी भी सन्यासी और योगी हो सकता है। इस पर ज्ञानेश्वर के विचार इस तरह हैं।[1]

गृहस्थाश्रमाचे ओझे। कपाळी आधींचि आहे सहजे।
कीं ते चि सन्यासस्त्रा ठेविजे। सरिसे पुढती॥
जेथ सन्यासिला संकल्पु तुटे। तेथेचि योगाचे सार भेटे।
ऐसे हे अनुभवाचेनि घटे। साचे जया॥

गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व यों तो सबको निबाहना ही पड़ता है। उसे टालने के लिये यदि सन्यास भी लिया जाय तो उसे सन्यासाश्रम का बोझ भी सिर

1. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।४६-५०-५१-५३।

पर लाद लेना पड़ता है। इसलिए अग्निसेवा का वर्जन न करते हुए कर्माचरण की मर्यादा न लांघते हुए भी ज्ञानयोग का सुख अपने स्थान पर रहकर सहज ही मिल सकता है। जिस स्थान पर किया गया संकल्प बिलकुल नष्ट हो जाता है, वहीं पर योग के सर्वस्व-सार-ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस तरह की प्रत्यक्षानुभूति जिसे हो जाती है अर्थात् अनुभवों की तराजू में तौलकर जिसने उसे प्रत्यक्ष कर लिया है वही सन्यासी और योगी है। योग के आठ अङ्ग हैं—१. यम, २ नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६. धारणा, ७ ध्यान, ८ समाधि। ज्ञानेश्वर योग को पर्वत की उपमा देते हैं। यम-सामान्य आत्म संयम और नियम-विशिष्ट आत्म संयम। यम नियम की तलहटी से आगे चलकर आसन के मार्ग के रूप में एक पगडंडी मिलती है जो प्राणायाम के पर्वत-शिखर पर पहुँचती है। इस पर चलकर उसका अन्तिम सिरा आ जाता है जिसे 'ज्ञानेश्वर' 'अधाडा Point) जैसे महाबलेश्वर या मायेरान आदि हैं, कहते हैं। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। इस मार्ग की चढ़ाई वैराग्य के तत्वों का आश्रय लेकर पार करनी पड़ती है। इसके आगे पवन का और हवा का ऊँचा मैदान (Table-Land उपलब्ध होता है। इसके आगे धारणा का विस्तीर्ण प्रदेश मिलता है। ध्यान उसका अंत है। यहाँ आकर प्रवृत्ति की दौड़ समाप्त हो जाती है, और साध्य साधन की उपलब्धि हो जाती है। फिर इसके आगे कोई राह ही नहीं है। यहीं पर समाधि है। आसन के लिए व्यवस्थित बैठना पड़ता है। प्राणायाम से शरीर की वायु नियमित और नियन्त्रित हो जाती है। प्रत्याहार में विषयों में रत इन्द्रियों को जानबूझकर उनके विषयों से हटाकर इन्द्रियों पर अपनी सत्ता प्रस्थापित करनी पड़ती है। प्रत्याहार साध्य हो जाने पर वैराग्य प्राप्ति होती है। धारणा में मन की एकाग्रता कर लेनी पड़ती है। ध्यान में प्रथम आवश्यक हो तो सगुण साकार और क्रम-क्रम से निर्गुण निराकार परब्रह्म का चिन्तन करना पड़ता है। योग मार्ग की परिणति समाधि में होती है। इसमें अपने विचार और परब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। योगमार्ग की यही परम्परा है। इस योग-मार्ग का अध्ययन बहुत कठिन है। इसमें निपुण वही व्यक्ति हो सकता है जो इन प्रकार की विशेषताओं से युक्त होगा।[1]

> तरी जयाचिया इन्द्रियाचिया घरा। नाहीं विषयाचिया।
> येरझारा॥ जो आत्मबोधाचिया वोवरा। पहुडला असे॥
> असोनि देहे एतुला। जो चेतुचि दिसे निदेला। तोचि योगारुढु
> भला। बोळखे तू॥

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।६२–६५।

'योगारूढ पुरुष उसी को कहना चाहिए, जिसकी इन्द्रियों के घर में विषयों का आवागमन बन्द हो जाता है और जो आत्मज्ञान की कोठरी में सुखपूर्वक आत्मानन्द में सोया रहता है, जिसके मन में सुख-दुःख के फेर में पड़कर झगड़ने का चाव नहीं रह जाता और इन्द्रिय-विषय के पास आ पहुँचने पर भी जिसे इस बात का कभी ध्यान भी नहीं होता कि ये विषय क्या हैं, इन्द्रियों को कर्माचरण के मार्ग में लगाने पर भी जिसके अन्तःकरण में कर्मों के फलों के सम्बन्ध में नाम को भी आसक्ति नहीं रहती, जो केवल देह-धारण के लिए जागृत रहता है और सदा आत्म भावना में लीन रहता है।

योगाभ्यास के लिए ऐसा स्थल चाहिए जहाँ जाने पर वैराग्य प्रवृत्ति दुगुनी होकर जागृत हो जाय। ज्ञानेश्वर के शब्दों में ऐसे स्थल को देखिए[1]—

> जेथ अमृताचे नि पाडें। मुळें ही सकट गोडें।
> जोडती दाटे भाडें। सदा फळतीं॥
> परि अवश्यक पांडवा। ऐसा ठावो जोडावा।
> तेथ निगूढ मठ हो आवा। कां शिवालय॥

वह स्थल ऐसा होना चाहिए जहाँ बड़े-बड़े सघन वृक्ष हों जो जड़ से ही अमृत के समान मीठे और सदा बारहों मास फल देने वाले हों। साथ ही साथ उस स्थान पर वर्षा-काल के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी पग-पग पर पानी मिलता हो और विशेषतः वहाँ पानी के बहते हुए झरने भी यथेष्ट रूप में विद्यमान हों। वहाँ गरमी बहुत ही ठिकाने की और साधारण पड़ती हो और शीतल तथा शान्त मन्द-मन्द वायु बहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि किसी प्रकार का शब्द वहाँ न सुनाई देता हो और पशुओं आदि की कौन कहे, तोते या भ्रमर तक का भी जहाँ प्रवेश न पाया जाय। वह स्थान ऐसा हो जहाँ पर पानी के सहारे रहने वाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हों और कभी-कभी कोई कोयल वहाँ आकर बैठती हो। इसी प्रकार कभी-कभी कुछ मोर भी वहाँ आया करते हों, तो कोई हर्ज नहीं। हे अर्जुन! ऐसा ही स्थान बहुत ही सावधानी के साथ ढूँढना चाहिए जहाँ पर इनके अतिरिक्त कोई मठ या शिव मन्दिर भी विद्यमान हो। ऐसे ही एकान्त स्थल में योगाभ्यास सम्भव है।

ऐसे स्थल पर धोया हुआ वस्त्र फैलाकर उस पर मृगाजिन बिछाकर बैठना चाहिए। जिस दर्भासन पर बैठते हैं उसके दर्भ अखण्ड और मुलायम होने चाहिए। यह आसन बहुत ऊँचा या जमीन की सतह जैसा कठिन और सख्त न हो।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१७३–१७६।

आसन की स्थिति समतल हो। जिस पर सद्गुरु का स्मरण कर आसनस्थ होना चाहिए। निश्चल मन से लगातार गुरुस्मरण करते हुए एकाग्रता प्राप्त होने तक उसे जारी रखा जाय। आसन विधि परिपूर्ण कर जालंधर बंध तथा उड्डियान बंध सध जाने पर मनोधर्म की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और ऐसी स्थिति बन जाती है—

> कल्पना निमे। प्रवृत्ति शमे। आंग मन विरमे। सावियाचि॥
> क्षुधा काय जाहाली। निद्रा केउते गेली। हे आठवण ही हारपली।
> न दिसे वेगा॥[1]

वहाँ पर कल्पना नष्ट हो जाती है, मन की बाह्य विषयों की ओर जाने वाली दौड़ रुक जाती है तथा सहज ही रूप से शरीर और मन शांत हो जाता है। भूख कहाँ चली गई तथा निद्रा कहाँ नष्ट हो गई इसकी स्मृति तक नहीं बनी रहती। न तो भूख लगती है न नींद का असर होता है।

आसन विधि का परिणाम कुण्डलिनी जागृति में दिखाई देता है। इसका बड़ा सटिप्पण वर्णन ज्ञानेश्वर करते हैं[2]—

> नागिणीचें पिलें। कुंकुमें नाहलें। वळण घेऊनि आलें।
> सेजे जैसें॥
> तैसी ते कुंडलिनी। मोटकी औटवळणी।
> अधोमुख सर्पिणी। निदेली असे॥
> विद्युल्लतेची विडी। वन्हिज्वालाची घडी॥
> पंधरेया ची चोखडी। घोटीव जैसी॥

केशर से स्नात नाग का बच्चा जिस प्रकार कुण्डल मारकर सो जाता है उस प्रकार साढ़े तीन कुण्डल मारे बैठी हुई कुण्डलिनी रूपी नागिन अधोमुख होकर सोगई है। वह नागिन ऐसे लगती है मानो बिजली की चक्राकार लता के समान मूर्तिमान कंकण रूप में बनाई गई हो अथवा प्रत्यक्ष अग्नि के ज्वाला की दोहरी रेखा या पर्तें हो या मानो बढ़िया स्वर्ण की घोंटे हुए पाँसे की लड़ियाँ ही सामने दिखाई देती हों।

इस प्रकार हो जाने पर कुण्डलिनी को अमृत सरोवर से जब अमृत मिलता है तब योगी नया शरीर धारण करता है उसकी शोभा का ज्ञानेश्वर यों वर्णन करते हैं[3]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१२–२१३।
२ ज्ञानेश्वरी ,, ६।२२२–२२३–२२४।
३ ज्ञानेश्वरी ,, ६।२५३–२५६।

हें काज कीर निर्वाण। परि आलिक हो जे कांहीं सायारण।
तें ही अधिकाराचे थोडवे विण। काय सिद्धि जाय ॥३३॥
नावेक विरक्तु। आङ्गना देहधर्मी नियतु। तरि तोचि नाहे वाःहितु।
अधिकारिया ॥[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन तुम यह क्यों पूछते हो ? यह तो अत्यन्त उच्च कोटि की बात है, यों साधारण दिखाई देने वाले कार्य भी अधिकार की योग्यता प्राप्त किए बिना भला कैसे सफल होंगे ? इसलिए जिसे हम योग्यता कहते हैं, वह प्राप्ति के अधीन है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि योग्य बनकर जो कार्य करते हैं, वह प्रारम्भ में ही फलदायक हो जाता है। वैराग्य-भावना थोड़ी सी मात्रा में जिसमें विद्यमान है, और जिसने अपने शरीर की आवश्यकताओं पर अपना प्रभुत्व रखा है क्या वही इस कार्य का योग्य अधिकारी नहीं है ? इतनी सी युक्ति को अपनाकर तुम भी योग्यता प्राप्त कर लोगे। इस तरह अर्जुन की शंका का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दिया है।

वैसे मन को जीतना एक बहुत जटिल कार्य है। किन्तु वैराग्य के आश्रय से उसे जीतना सरल हो जाता है।[2] जैसे—

परी वैराग्याचेनि आधारें। जरी लाविजे अभ्यासानि मे मोहरें।
तरी केतुनेनि अवसरें। स्थिरावेल ॥

वैराग्य के सामर्थ्य से मन को यदि अभ्यास में लगाया जाय तो कुछ समय के बाद वह स्थिर हो जाता है। क्योंकि मन की एक अच्छाई यह है कि अनुभूत मिठास जहाँ प्राप्त होती है वहीं पर मन रमता है। इसलिए आवश्यक यही है कि इसे कौतुकपूर्ण रीति से आत्मानुभव का सुख बार-बार चखाना चाहिए।

योगाभ्यास का विवेचन—

ज्ञानेश्वर कृत योगाभ्यास का वर्णन इस प्रकार है। योगी जन पंच-प्राण और मन को अत्यन्त सावधानी से कई बार अपने आधीन रखते हैं। बाहर से यम नियम की पहार दीवारी कर वज्रासन की दीवार खड़ी कर दी जाती है तथा प्राणायाम की तोपें तत्परता से अपना कार्य करती हैं। तब इस स्थान में कुंडलिनी जागृत होकर सर्वत्र उनका प्रकाश फैलता है और मन तथा पवन शरीर के अनुकूल हो जाते हैं। अमृत से हृदय सरोवर भर जाता है। उस स्थान पर प्रत्याहार में इन्द्रियों की एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। विकार अपने स्वरूपों

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।३३६–३४२।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६–४१६।

मलिन नष्ट हो जाते हैं। सारी इन्द्रियाँ वशीभूत होकर अन्तःकरण में ही आकर रहने लगती हैं। धारणा रूपी अश्वों की भीड़ जमा हो जाती है। पंचमहाभूत इकट्ठे होकर आकाश में समाविष्ट हो जाते हैं और सङ्कल्प-विकल्पों की चतुरङ्ग चमू पराजित हो जाती है। विजय का डंका पीटते हुए ध्यान की ध्वजाएँ फहराने लगती हैं। योगी को आत्मानुभव का साम्राज्य मिल जाने से उसका पट्टाभिषेक समाधि लक्ष्मी के साथ पूर्ण हो जाता है। संक्षेप में ज्ञानेश्वर ने योगाध्ययन का यही रूपक सामने रखा है। ज्ञानेश्वर स्वयम् एक महान योगी थे तथा दैनंदिन रूप में उनका योग का बड़ा अभ्यास था। योग के अध्ययन से प्राप्त होने वाली मन स्थिति और अनुभव अधिभौतिक स्थिति से इतने भिन्न है कि उन्हें धार्मिक न भी कहें तो आध्यात्मिक अवश्य कह सकते हैं। सिद्धी के पीछे पड़ने वाले योगी योग-भ्रष्ट और पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। ज्ञानेश्वर ने उनकी सदा उपेक्षा की है। पातंजली 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' यही योग का प्रयोजन बतलाते हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर मनोजय को ही योग का रहस्य मानते हैं। युक्ताहार विहार के कारण इस मार्ग को राजयोग यह संज्ञा मिली। योग की अग्नि को सुलगाने वाले हठ योगी कहलाते हैं। ज्ञानी, विचारी और तज्ञ लोग हठयोग को गौण मानते हैं। ज्ञानदेव ने इस गुप्त संपत्ति को योग मार्ग के साधन द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया। इस तन्त्र का आश्रय लेकर लोगों की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है। ज्ञानेश्वर इसके विरुद्ध थे। प्राणायाम से नासिका रन्ध्रों से वायु समान रूप से बहने लगती है तथा निद्रा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। चाहे जैसी परिस्थिति में हम क्यों न हों हमें सुगन्ध प्राप्त होती है। यह सब अनुभवगम्य है। शारीरिक दृष्टि से कुंडलिनी का पता अभी नहीं चल सका है। पर इसे शक्ति विद्युत या ऊष्णता कहते हैं। यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर उसके विशिष्ट परिणाम होने लगते हैं। ज्ञानेश्वर गुरु परम्परा से योगाभ्यास में निपुण हो गए थे। अनजाने भी यदि पैर अग्नि पर पड़ जाता है तो वह अवश्य जलेगा ही। इसी सिद्धान्त के अनुसार गलती से भी क्यों न हो भगवान् का नाम लेने से मोक्ष मिलता है। ज्ञानेश्वर इस बात को नहीं मानते। भक्त के लिए, योगी के लिये और संत के लिए वैराग्य आवश्यक है। भक्ति मार्ग में भी मनोजय का विशेष महत्व है। यही संकेत तुकाराम, एकनाथ और नामदेव में भी मिलता है। करीब-करीब यही बात हिन्दी के भक्त कवियों में भी उपलब्ध होती है।

गुरु द्वारा संप्राप्त लाभ—

अपने गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा ज्ञानेश्वर को नाथ सम्प्रदाय का तत्वज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर स्वयम् इसका वर्णन करते हैं—

> हें काज कीर निर्वाण । परि आणिक ही जे कांहीं साधारण ।
> तें ही अधिकाराचे योग्ये विण । काय सिद्धि जाय ॥३६॥
> नावेक विरक्तु । जाहला देहधर्मी नियतु । तरि तोचि नव्हे काय हितु ।
> अधिकारिया ॥[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन तुम यह क्यों पूछते हो ? यह तो अत्यन्त उच्च कोटि की बात है, यों साधारण दिखाई देने वाले कार्य भी अधिकार की योग्यता प्राप्त किए बिना भला कैसे सम्भव होंगे ? इसलिए जिसे हम योग्यता कहते हैं, वह प्राप्ति के अधीन है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि योग्य बनकर जो कार्य करते हैं, वह प्रारम्भ में ही फलदायक हो जाता है। वैराग्य-भावना थोड़ी सी मात्रा में जिसमें विद्यमान है, और जिसने अपने शरीर की आवश्यकताओं पर अपना अंकुश रखा है क्या वही इस कार्य का योग्य अधिकारी नहीं है ? इतनी सी युक्ति को अपनाकर तुम भी योग्यता प्राप्त कर लोगे। इस तरह अर्जुन की शंका का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दिया है।

वैसे मन को जीतना एक बहुत जटिल कार्य है। किन्तु वैराग्य के आश्रय से उसे जीतना सरल हो जाता है।[2] जैसे—

> *परी वैराग्याचेनि आधारें । जरी लाविलें अभ्यासाचिये मोहरे ।*
> *तरी केतुलेनि अवसरे । स्थिरावेल ॥*

वैराग्य के सामर्थ्य से मन को यदि अभ्यास में लगाया जाय तो कुछ समय के बाद वह स्थिर हो जाता है। क्योंकि मन की एक अच्छाई यह है कि अनुभूत मिठास जहाँ प्राप्त होती है वहीं पर मन रमता है। इसलिए आवश्यक यही है कि उसे कौतुकपूर्ण रीति से आत्मानुभव का सुख बार-बार चखाना चाहिए।

योगाभ्यास का विवेचन—

ज्ञानेश्वर कृत योगाभ्यास का वर्णन इस प्रकार है। योगी जन पंच-प्राण और मन को अत्यन्त सावधानी से कई बार अपने आधीन रखते हैं। बाहर से यम नियम की चहार दीवारी कर वज्रासन की दीवार खड़ी कर दी जाती है तथा प्राणायाम की तोपें तत्परता से अपना कार्य करती हैं। तब इस स्थान में कुंडलिनी जागृत होकर सर्वत्र उसका प्रकाश फैलता है और मन तथा पवन शरीर के अनुकूल हो जाते हैं। अमृत से हृदय सरोवर भर जाता है। उस स्थान पर प्रत्याहार से इन्द्रियों की एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। विकार अपने स्वरूपों

---

1. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।३३९–३४२।
2. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६–४१६।

सहित नष्ट हो जाते हैं। सारी इन्द्रियाँ वशीभूत होकर अन्त करण मे ही आकर रहने लगती हैं। धारणा रूपी अश्वो की भीड जमा हो जाती है। पचमहाभूत इकट्ठे होकर आकाश मे समाविष्ट हो जाते हैं और सकल्प-विकल्पो की चतुरङ्ग चमू पराजित हो जाती है। विजय का डंका पीटते हुए ध्यान की ध्वजाएँ फहराने लगती हैं। योगी को आत्मानुभव का साम्राज्य मिल जाने से उसका पट्टाभिषेक समाधि लक्ष्मी के साथ पूर्ण हो जाता है। सक्षेप मे ज्ञानेश्वर ने योगाध्ययन का यही रूपक सामने रखा है। ज्ञानेश्वर स्वयम् एक महान योगी थे तथा दैनदिन रूप मे उनका योग का बडा अभ्यास था। योग के अध्ययन से प्राप्त होने वाली मन स्थिति और अनुभव अधिभौतिक स्थिति से इतने भिन्न है कि उन्हें धार्मिक न भी कहें तो आध्यात्मिक अवश्य कह सकते हैं। सिद्धी के पीछे पडने वाले योगी योग-भ्रष्ट और पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। ज्ञानेश्वर ने उनकी सदा उपेक्षा की है। पातजली 'योगाश्चित्तवृत्ति निरोध.' यही योग का प्रयोजन बतलाते हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर मनोजय को ही योग का रहस्य मानते हैं। युक्ताहार विहार के कारण इस मार्ग को राजयोग यह सज्ञा मिली। योग की अति को अपनाने वाले हठ योगी कहलाते हैं। ज्ञानी, विचारी और तज्ञ लोग हठयोग को गौण मानते हैं। ज्ञानदेव ने इस गुप्त सपत्ति को योग मार्ग के साधन द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया। इस तन्त्र का आश्रय लेकर लोगो की आँखो मे धूल झोकी जा सकती है। ज्ञानेश्वर इसके विरुद्ध थे। प्राणायाम मे नासिका रन्ध्रो से वायु समान रूप से बहने लगती है तथा निद्रा की आवश्यकता प्रतीत नही होती। चाहे जैसी परिस्थिति मे हम क्यो न हो हमें सुगन्ध प्राप्त होती है। यह सब अनुभवगम्य है। शारीरिक दृष्टि से कुडलिनी का पता अभी नही चल सका है। पर इसे शक्ति विद्युत या ऊष्णता कहते हैं। यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर उसके विशिष्ट परिणाम होने लगते हैं। ज्ञानेश्वर गुरु परम्परा से योगाभ्यास मे निपुण हो गए थे। अनजाने भी यदि पैर अग्नि पर पड जाता है तो वह अवश्य जलेगा ही। इसी सिद्धान्त के अनुसार गलती मे भी क्यों न हो भगवान् का नाम लेने से मोक्ष मिलता है। ज्ञानेश्वर इस बात को नही मानते। भक्त के लिए, योगी के लिये और सत के लिए वैराग्य आवश्यक है। भक्ति मार्ग मे भी मनोजय का विशेष महत्व है। यही सकेत तुकाराम, एकनाथ और नामदेव मे भी मिलता है। करीब-करीब यही बात हिन्दी के भक्त कवियो मे भी उपलब्ध होती है।

गुरु द्वारा सप्राप्त लाभ—

अपने गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा ज्ञानेश्वर को नाथ सम्प्रदाय का तत्वज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर स्वयम् उसका वर्णन करते हैं—

तैसे श्री निवृत्ति नामाचे। गौरव आहे जो साचे।
ग्रंथु नोहे हे कृपे चें। वैभव तये ॥[१]
ना आदि गुरु शंकरा। लागौनि शिष्य-परंपरा।
बोधाचा हा संसारा। जाला जो आमुते ॥[२]

इस ग्रन्थ की निर्मिति में सचमुच श्री सद्‌गुरु निवृत्तिनाथ का गौरव है। यह केवल ग्रन्थ नहीं है, वरन् सद्‌गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा का गौरव है। क्षीर समुद्र के भीतर पार्वती के कर्ण-कुहरों में यह रहस्य भगवान् शंकर ने कब उद्‌घाटित किया इसे कोई नहीं जानता। यह रहस्य क्षीरसागर की लहरों में मत्स्य के पेट में छिपे हुए भगवान् विष्णु के हाथ में पड़ा। वे मत्स्येन्द्र सप्तशृङ्गी पर्वत पर टूटे हुए हाथ पैर की अवस्था में पड़े हुए चौरङ्गीनाथ से मिले और मिलते ही चौरङ्गीनाथ के सारे अवयव ज्यों के त्यों हो गये। अपनी समाधि-अवस्था एक सी बनी रहे इस इच्छा से प्रेरित होकर उस रहस्य को मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को प्रदान कर दिया। ऐसे सर्वेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने योगरूपी कमलों के सरोवर सदृश तथा विषयों का विध्वंस करने वाले महान वीर गोरखनाथ को समाधिपद पर अभिषिक्त कर सामर्थ्य दान कर दिया। फिर गोरखनाथ ने शिवजी के द्वारा परम्परा से प्राप्त अद्वैत आनन्द का ऐश्वर्य उनके सारे सामर्थ्यों सहित श्री गहिनी नाथ को प्रदान कर दिया। कलि के द्वारा प्राणिमात्र ग्रसित हो रहे हैं, ऐसा देखकर श्री गहिनी नाथ ने निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदिनाथ शंकर से परम्परा द्वारा प्राप्त बोधामृत का लाभ हमसे लेकर कलि के द्वारा पीड़ित जीवों को देकर उनको सङ्कटों से मुक्ति करा दो। बादलों को वर्षाकाल की सहायता मिलने पर वे जिस प्रकार जोर से वृष्टि करते हैं उस प्रकार स्वभाव से ही कृपालु श्री निवृत्तिनाथ ने अपनी गुरु आज्ञा को सुनाया।

इसके आगे ज्ञानेश्वर कहते हैं कि[३]—

मग आर्ताचेनि वोरसें। गीतार्थ ग्रंथ नमिसें।
वर्षलों शांत रसें। तो हा ग्रंथु ॥
योह्ळे हेंचि करावे। जे गंगेचे आग टाकावे।
मग हो गंगाचि नव्हे तें तो काई करी ॥

ज्ञानेश्वर की विनय भावना—

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि पीड़ित प्राणियों के लिए दयार्द्र होकर निवृत्तिनाथ के

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७४७–४८।
२ ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५०–५८।
३. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५९–७२।

द्वारा शांत रस की जो वृष्टि हुई उसी का प्रतिफल मेरे द्वारा प्रस्तुत गीता पर रचा गया यह टीका ग्रन्थ 'भावार्थ दीपिका' है। उस कृपा वृष्टि को ग्रहण करने के हेतु चातक पक्षी बनकर उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर मैं सामने आकर खड़ा हो गया इसीलिए गुरुकृपा से मैं इस यश का भागी बन सका। इस तरह गुरु परम्परा से प्राप्त समाधि रूपी संपत्ति को ग्रन्थ रूप में रचकर मेरे स्वामी निवृत्तिनाथ ने मुझे दे दिया। मैं तो गुरु सेवा कैसे की जाती है यह भी नहीं जानता। न मैं पढ़ा लिखा हूँ और न मुझे ग्रन्थाध्ययन का अभ्यास है। फिर ग्रन्थ रचना करने की योग्यता मुझमें कैसे आ सकती है? फिर भी मुझे निमित्त बनाकर मुझसे यह ग्रन्थ रचवाकर पीड़ित संसार का रक्षण किया, यह निवृत्तिनाथ की कृपा का ही फल है। मैं तो अपने गुरु का पुरोहित हूँ इस नाते मैंने कुछ कम अधिक रूप में कथन किया हो तो हे श्रोतागण! माता की तरह क्षमाशील होकर उसे सहन कीजिए। यहाँ पर ज्ञानेश्वर की विनम्रता देखते ही बनती है। शब्द कैसे गढ़ा जाय? बढ़ती हुई सरणी से प्रमेय अर्थात् सिद्धांत पूर्ण व्याख्यान कैसे किया जाय? और साहित्य शास्त्र में अलङ्कार किसे कहते हैं? मैं तो इनमें से कुछ भी नहीं जानता हूँ। कठपुतली को जिस तरह सूत्र से चलाया जाता है वैसे ही श्री सद्गुरु के द्वारा मेरे बहाने मेरे गुरु ही बोल रहे हैं। अपने गुरु के द्वारा उत्पन्न किए गये ग्रन्थ की मैंने रचना की अतएव इसके गुण दोषों के लिए मैं विशेष क्षमा नहीं माँगता हूँ। इसके अतिरिक्त यदि आप जैसे सन्तों की सभा में रहकर भी कोई त्रुटि रह गयी हो तो, और यदि आप लोगों के रहते हुए भी उसका परिमार्जन न हो तो मैं प्रेम पूर्वक आप लोगों पर ही नाराज हो सकता हूँ। यदि पारस के स्पर्श से लोहा अपनी हीन दशा को न छोड़ सका तो लोहे का उसमें क्या दोष है उसी तरह यदि सन्तों के रहते हुए मेरी ग्रंथ रचना में दोष रह जाय तो उसमें मेरा क्या दोष? और भी अनेक सुन्दर और सार्थ दृष्टान्त देकर ज्ञानेश्वर अपनी शालीनता, सौजन्य और विनम्रता सूचित करते हैं। गुरु की कृपा से वे इस ग्रन्थ की निष्पत्ति कर सके इसकी कृतकृत्यता कई तरह से वे प्रकट करते हैं। इसके लिए ज्ञानेश्वरी के १८ वें अध्याय के अन्तिम दो पृष्ठों में लिखी गई ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर उनका पूरा विस्तृत विवरण देना असंभव है। फिर भी कतिपय उदाहरण हम अवश्य देखेंगे—

> गीतार्थाचा प्रावार। कलशेसीं महामेरु ॥
> रचूनि माझा श्रीगुरु। लिंग जे पूजी ॥
> मज लागी ग्रन्थाची स्वामी। दुजी सृष्टी जे हे केली तुम्हीं।
> ते पाहोनि हासो आम्ही। विश्वामित्रातें हो ॥[1]

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७८०-८६।

गीतार्थ के बहाने मे अठारहवें अध्याय रूपी कलश सहित महामेरु पर्वत तैयार कर उस स्थान पर गुरुमूर्ति की अर्थात शिवलिंग की मैं पूजा कर रहा हूं। गीतारूपी भोली-भाली माता को भूलकर मैं उनका बेटा ज्ञानेश्वर संसार रूपी जङ्गलों की खाक छान रहा था। अब माँ बेटे का पुनर्मिलन हो रहा है। हे सद्-गुरु निवृत्तिनाथ! यह सब आपके पुण्य का फल है। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ वह सब सज्जनों का किया हुआ होने से मेरे इस कार्य को छोटा न समझिये। अपने गुरु के प्रति कृतज्ञतापूर्वक वे निवेदन करते हैं कि ग्रन्थ समाप्ति का आनन्द दायक सुअवसर आपने हमें ला दिया जिसके कारण मुझे अपने सारे जन्म का फल प्राप्त हो गया है। मैंने जो-जो इच्छा की तथा जिस-जिस प्रकार की आशा रखी वह सब परिपूर्ण होती गयी यह भी गुरु सामर्थ्य का ही फल है। हे सद्गुरुनाथ! मेरे लिए आपने ग्रन्थ की यह जो दूसरी सृष्टि ही निर्माण कर दी उसे देखकर हम विश्वामित्र की सृष्टि रचना पर भी हँस रहे हैं। आपने अपनी कृती मे उनको भी मात कर दिया है। क्योंकि ब्रह्मदेव द्वारा निर्मित मूल सृष्टि के निर्माता को लिझाने के लिए, तथा त्रिशंकु राजा के लिए निर्माण की गयी प्रतिसृष्टि नष्ट होने वाली थी अतः उसके निर्माण मे कौनसा पुरुषार्थ है? किन्तु आपके द्वारा निर्मित मुझ जैसे दीन के लिए यह ग्रन्थरूपी अद्भुत सृष्टि निर्माण की है जो निरन्तर रहने वाली है।

सन्तो की इस कृपा के प्रति पुन. कृतज्ञता भाव से ज्ञानेश्वर कहते हैं—

म्हणौनि तुम्ही मज संतीं। ग्रन्थरूप हा त्रिजगतीं।
उपयोग केला तो पुढती। निरुपमजो ॥[1]
शके बाराशतें बारोत्तरे। तैं टीका केली ज्ञानेश्वरें ॥
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखकु जाहला ॥[2]

सत जनों ने इस ग्रन्थ के साथ मेरा सयोग कर दिया है इससे मैं बहुत उपकृत और सौभाग्यशाली हो गया हूँ। अतएव उसकी उपमा अन्यत्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेगी। सारांश यही है कि इस ग्रन्थ रूपी धर्म कीर्तन की जो सुख-पूर्ण ढंग से समाप्ति हुई है वह सब आप लोगो की कृपा का ही फल है। मेरे लिए इस सम्बन्ध मे केवल सेवकाई का ही तत्व बचा रहता है अर्थात् मैंने सेवक के नाते केवल इस रूप मे आपकी सेवा की है। इसके बाद वे विश्वात्मा से यह प्रसाद-दान मागते हैं। इस समस्त विश्व की आत्मा के रूप मे स्थित वह परमेश्वर इस

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७९१–१८१०।
२. ज्ञानेश्वरी अ १८।१७९६–१८६०।

वाङ्मय-यज्ञ से संतुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करें कि दुष्टों की टेढ़ी नजर सीधी हो जाय, तथा सत्कर्मों के प्रति उनके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाय और प्राणिमात्र में हार्दिक मैत्री प्रस्थापित हो जाय। पापों का अन्धकार नष्ट होकर आत्मज्ञान के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो जाय, तथा जब जो प्राणि जिस बात की इच्छा करे, वह उसे प्राप्त हो जाय। समस्त मंगलों की वर्षा करने वाले सन्त सज्जनों का जो समुदाय है, उसकी इस भुवन के भूत मात्र के साथ अखंड मैत्री हो। ये सन्त सज्जन मानो चलने-फिरते कल्पवृक्षों के अंकुर हैं अथवा इन्हें चैतन्य चिंतामणि-रत्न का ग्राम अथवा अमृत का मुखर सागर ही समझना चाहिए। ये सन्त जन मानो कलङ्क हीन चन्द्रमा अथवा तापहीन सूर्य हैं और सभी लोगों के सदा के सगे-सम्बन्धी और अपने हैं। सारांश यही है कि तीनों भुवन अद्वैत सुखसे परिपूर्ण होकर अखंड रूप से उस आदि पुरुष के भजन में लगें। और विशेषतः इस लोक में जो ऐसे जीव हैं, जिनका जीवन ग्रन्थों के अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभु ने कहा—'यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।' अतएव यह वरदान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत प्रसन्न हुए हैं। इस कलियुग में महाराष्ट्र देश में गोदावरी नदी के दक्षिण तट पर जिस स्थान पर संसार के जीवन-सूत्र-मोहिनी-राज का निवास है, उस स्थान पर अत्यन्त पवित्र और अत्यंत प्राचीन पंचकोश क्षेत्र है, जिसका नाम नेवासें है। इस क्षेत्र में सकल कलाओं के जनक सोमवंश के शिरोमणि और राजा श्री रामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। इसी स्थान पर अर्थात् आदिनाथ शंकर की परम्परा में उत्पन्न निवृत्तिनाथ सुत (शिष्य) ज्ञानदेव ने गीता पर मराठी भाषा का परिवेश सजाया है। इस प्रकार महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो सुन्दर संवाद दिया गया है, तथा जो उपनिषदों का सार और समस्त कलाओं का जन्मस्थान है और परमहंस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हंस सरोवर का लेते हैं। परमहंसरूपी राजहंसों के लिए सेवन करने का मानो वह मानसरोवर ही है। इस गीता का अठारहवाँ अध्याय, पूर्ण-कलश है। जो यहाँ पर पूर्ण हो गया है ऐसा निवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव का कहना है। इस ग्रन्थ की पवित्र संपत्ति से प्राणिमात्र को उत्तरोत्तर सारे सुखों की प्राप्ति हो। शक १२१२ में ज्ञानेश्वर ने गीता की यह टीका की है और सच्चिदानंद बाबा ने इस कार्य को बड़े आदर और ध्यान पूर्वक तथा प्रेम से लिखकर प्रकट किया है।

इस तरह हमने देखा कि ज्ञानेश्वरी की विचार सम्पदा दिव्य और भव्य है। वह साधारण काव्य सम्पत्ति से श्रेष्ठ और अलौकिक है। ज्ञानेश्वरी में प्रमुख रूप से

निश्चय, भूतदया, समता, शुचिता और प्राजलता एवम् निस्सदिग्धता कूट कूटकर भरी हुई है। ज्ञानेश्वरी सिखाती है कि हमे कर्म के फल, लोक-सग्रह के लिए अर्पण करते हुए भूत दया से प्रेरित होकर अपना जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिए। परमार्थ और व्यवहार के 'द्रष्टा-ज्ञानेश्वर' भिन्न नही मानते। ब्राह्याडवर को महत्व न देकर वे अन्तर्ज्ञान को विशेष मानते हैं। ज्ञानेश्वर का कहना है कि मेघ, समुद्र का पानी धारण कर लेता है पर ससार समुद्र की ओर न देखकर मेघ की ओर ही देखता है। क्योकि जिसकी कोई मर्यादा नही उसे कोई भी प्राप्त नही कर सकता। उसी तरह सात सौ श्लोको की भगवद्‌गीता मे ब्रह्म सात सौ सुन्दर श्लोको का रूप धारण कर सामने आया इसीलिए सब उसे कानों से सुन सके और वाचा से अपना सके। व्यास का ससार पर सचमुच एक बडा उपकार है जो उन्होने श्रीकृष्ण के वचनो को ग्रन्थ का रूप दे दिया। इसी को मैंने मराठी भाषा की सहायता से सर्व साधारण सुन सके ऐसा सुलभ कर दिया। गीता भोलेनाथ का प्रतीक है, जिसने व्यास वचन रूपी कुसुमों की माला को धारण किया। फिर भी वे मेरी मराठी ओवियो के दुर्वादलो को स्वीकार कर लेंगे। अपने गुरु की कृपासे मैंने गीता का अर्थ *मराठी मे इतना सुस्पष्ट कर दिया है कि लोग उसे अपनी आँखो से देख सकें।* छोटे बच्चों से लेकर ज्ञानी पुरुष तक जिसे समझ सकते हैं ऐसे सहज ओवी वृत्त मे इस काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमे ब्रह्मरस से पूर्ण अक्षरों को मैंने गूथा है। इसको सुनकर श्रोता को समाधि लग जाती है। उसे पढते समय पांडित्य का प्रकाश फैलता है, तथा निरूपण की मिठास का जहाँ एक बार आस्वाद ले लिया गया तो उसके बाद अमृत के स्वाद की स्मृति भी नही उत्पन्न होगी।

मराठी वैष्णव कवि नामदेव का आध्यात्मिक पक्ष—

नामदेव के साहित्य का लक्ष निस्सीम भक्ति होने से सैद्धान्तिक रूप से उसमे दार्शनिक सैद्धातिक विवेचन मिलना या खोजना बहुत कठिन कार्य है। नाम-सकीर्तन, नामस्मरण और निरन्तर भक्ति-गायन एवम् ईश्वर-गुण-गान नामदेव अहर्निश करते रहे। भक्ति और काव्य उनमे अभिन्न बनकर अपना उन्मेष परिपूर्ण रूप से दिखाते हैं। आरम्भ से ही नामदेव सगुणोपासक थे। पढरपुर का विठ्ठल उनका उपास्य था। विसोबा खेचर और नाथ सम्प्रदायी अद्वैती भक्त ज्ञानेश्वर के सम्पर्क से ज्ञानाश्रयी भक्ति का उनमे बाद मे उन्मेष हो जाने से वे निर्गुणोपासक भी बन गए। विठ्ठल को सर्वत्र और सर्वव्यापी समझकर अपने उपास्य का साक्षात्कार भी करते रहे। अतएव एक शास्त्रीय पक्ष की जानकारी के साथ सुसबद्ध दार्शनिक पक्ष का सुसबद्ध विवेचन नामदेव के पदो मे मिलना

असभव सा ही है। मूलतः भक्त और गायक होने से अभंग रचना और नामस्मरण करना ही उनका एक मात्र कार्य जान पड़ता है। इस कार्य में यत्र-तत्र आनुषंगिक रूप से उनके पदों अर्थात् अभंगों में दार्शनिकता का जो स्वरूप है वह परिलक्षित हो जाता है।

भक्ति में विरोध—

जन्म से ही नामदेव को भक्ति करते हुए देखकर घर के सारे लोग उनके विरोधी बन गए। भगवान् की भक्ति में विरोध को सहकर जो भक्ति कर सकता है वही भक्त बन सकता है। नामदेव में भी यह बात दिखाई पड़ती है। अपनी माता और पत्नी के इस विरोध के बावजूद भी वे भगवान् की भक्ति न छोड़ने का संकल्प और निश्चय प्रकट कर देते हैं। यथा—

> नामा म्हणे माते ऐक वो वचना। मी गेलो दर्शना नागनाथा।
> आवढ्या देउळीं जाहला सचार। पालटला धीर या देहाचा॥
> तेंहुनी तुज मज तुटला संबधु। विठ्ठलाचा छंदु घेतला जीवीं॥
> या देह संसाराचा आलासे कंटाळा। म्हणोनि गोपाळा शरण आलो॥
> साधावया आत्म सुख। तेहे विटेवरी देख॥
> नको जाऊं परदेशी। वास करिंगे पंढरिसी॥
> भाव धरुनि बळकट। मुखी नाम एक निष्ठ॥
> नामा म्हणे गोणाबाई। सर्व सुख याचे पायी॥[1]

अपनी माता से नामदेव कहते हैं कि जब मैं नागनाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ गया, तब मेरे शरीर में भक्ति का सचार हो गया और विठ्ठल को प्राप्त करने की चिन्ता मन में सजग हो गई। तभी से आपलोगों के साथ के मेरे सारे लौकिक सम्बन्ध टूट गए। और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गयी। अपनी पत्नी से भी उन्होंने कहा कि आत्मसुख की प्राप्ति के लिए पंढरपुर के विठ्ठल को ही सदा देखते रहना चाहिए, अन्यत्र विदेश में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तःकरण में भाव और निष्ठा को दृढ़ रखकर भगवान् का नामस्मरण करते रहने से संसार के सारे सुख उपलब्ध हो जायेंगे। नामदेव की भक्ति आर्त भक्त की भक्ति है। इसीलिए उनमें एक सुनिश्चित निष्ठा और पक्का निश्चय है जिसने श्री पांडुरंग को ही सब कुछ मान लेना उन्हें सिखाया है। अपनी आयु के २४ वर्ष वे सगुणोपासना करते रहे पर निगुरे होने से उन्हें आत्मज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार

---

१. नामदेव गाथा—अभंग २९-३१, चित्रशाला प्रेस पूना।

न हो गया था। उनमें नाम संकीर्तन से प्रभु के प्रति आत्यंतिक प्रेम उत्पन्न हो गया था और वे उसका रहस्य भी जान गए। तभी वे एक स्थान पर कहते हैं—

जीव का कर्तव्य—

> आलिया संसारीं आत्माराम मुखीं। पेतलिया सुखी त्रि भुवनी॥
> जाणो नियां नाम आपुलेचि आधी। मग सोमसिद्धि साधे॥
> सर्वहरि मग नाहीं दुजा भाव। प्रापंचिक गर्व दिसे चिना॥
> नामदेव म्हणे सर्वदा साधनी। भरे जन वन नानापरी॥[1]

प्रत्येक जीव को चाहिए कि जब वह इस संसार में आ जाता है, तब उसे हरकाम को करते हुए मुख से रामनाम स्मरण करना चाहिए। इससे वह त्रिभुवन में सुखी हो सकता है। प्रथम नाम का महत्व जान लेने से अन्य सिद्धियाँ अपने आप सध जाती हैं। सर्वत्र हरि ही दिखाई पड़ते हैं और दूसरा भाव ही मन में नहीं आता। नामस्मरण जैसा साधन, जीव सदा सर्वत्र काम में लाता है जिससे लौकिक व्यवहार में उसे कभी भी गर्व नहीं होता और भगवद्-कृपा के लिए उसे जंगल में भी नहीं जाना पड़ता।

नामदेव ने अपने आत्म-चरित्र को अपने अभंगों में प्रस्तुत कर दिया है।

भक्त का आत्म निवेदन—

इसमें मुख्य विवेच्य विषय भगवान् और भक्त का प्रेम और कलह है एवम् आत्म निवेदन है। परमेश्वर की प्रत्यक्ष कृपा तथा साक्षात्कार की अनुभूति का वर्णन करने वाले अभंग इसमें है, तथा ऐसे प्रसंगों का वर्णन है, जिससे ऐसा लगता है कि पाण्डुरंग उनसे मित्रता का बर्ताव करते थे। ईश्वर मनुष्य रूप धारण कर अपने जीवन में किसी लौकिक प्राकृत मानव की तरह परम मित्र बन व्यवहार करता है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर उन्हें आज सन्देह की दृष्टि से देखा जा सकता है। यो विद्वान भी इन अभंगों में वर्णित बातों पर विश्वास नहीं करते, परन्तु इनको पढ़कर जरूर ऐसा लगता है कि नामदेव के अभङ्गों में वर्णित बातें प्रत्यक्ष घटित हुई थीं। कहने का अभिप्राय यही है कि नामदेवोक्तियाँ काव्य की सच्ची अनुभूति पर आधारित हैं। वे एकदम कोरी एवम् काल्पनिक नहीं बतलाई जा सकती। केवल भावना पर आधारित तथा ईश्वर-निष्ठा की सहायता से नामदेव का काव्य-सर्जन नहीं हुआ। इस काव्य को एक भक्त की सच्ची और प्रांजल तथा प्रत्यक्षानुभूति का परिपक्व फल ही मानना चाहिए। इसकी सत्यता का आज कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १७१, चित्रशाला प्रेस पूना, पृ० ७२६।

पर इसकी निश्चित जानकारी नामदेव जैसे पहुँचे हुए वैष्णव भक्त विश्वासपूर्वक दे सकते हैं और वह भी केवल अपनी अनुभूति के बल पर। अतः यहाँ तर्क को कोई अवकाश नहीं दिया गया है। प्रस्तुत इस विषयमें मेरा कोई अधिकार न होनेसे नामदेव के अभंगों को पढ़कर मुझे जो भी अनुभूति उत्पन्न हुई उसी का आश्रय मैंने यहाँ पर लेने की चेष्टा की है। नामदेव के आध्यात्मिक विचारों की पृष्ठभूमि इस आत्मचरित्र में उपलब्ध हो जाती है।

नामदेव का आत्मचरित्र अध्ययन करने योग्य है। अतएव जिन्हें उनका अध्ययन अभीष्ट है वे इसके पूरे प्रकरण को पढ़ सकते हैं। नामदेव और केशव अर्थात् भक्त और भगवान् का एक ही रूप है इस भाव को देखिए –

भक्त और भगवान का अभिन्नत्व—

> केशवाचे प्रेम नामयाची आले। नाम्या हृदयी असले केशवाने ॥
> नामा तो केशव। केशव तो नामा। अभिन्नत्व आम्हा केशवासी ॥
> नामा म्हणे केशवा तुझे पण नाहीं।
> परि प्रेम तुम्हां ठायी ठेवियेले ॥[1]

केशव का प्रेम नामदेव ही जानते हैं और नामदेव के हृदय में केशव रहते हैं। इसे नामदेव और केशव ही जानते हैं। दोनों में अभिन्नत्व है। परस्पर द्वैतभाव नहीं है। अपना सब कुछ मैंने हे केशव! तुम्हारे चरणों में समर्पित कर दिया है। अन्तःकरण से एक किन्तु शरीर से भिन्न ऐसे हम दोनों हैं। अपने इष्ट को वे बड़ी आत्मीयता से व सरलता से बुलाते हैं—

> डोळे शिणले पाहतां वाटुली। अवस्था दाटली हृदया माजी ॥[2]

मेरे नेत्र राह देखते-देखते थक गये। हे विट्ठल! आपसे मिलने की इच्छा मेरे अन्तःकरण में भर आई है। उत्कंठा से और उत्सुकता से व्यग्र नामदेव की चिन्ता पराकोटि तक पहुँच जाती है और वे कहने लगते हैं कि कहीं किसी भक्त ने तो आपको नहीं रोक लिया? इतनी देर क्यों लगा दी? हे विट्ठल! अब शीघ्र आओ। आपको पुकारते-पुकारते मेरा कंठ भर आया है तथा सूखने लगा है। आपमें पूरे विश्वास के साथ मैं अपनी आत्मा से दसों दिशाओं में आपको खोजता हूँ—प्रतीक्षा करता हूँ। मेरे प्राणों से भी प्रिय विट्ठल आप कब आयेंगे? आपका आलिंगन और स्पर्श मैं कब कर पाऊँगा? व्यग्रता से तड़प-तड़प कर नामदेव जमीन

---

1. सार्थ नामदेवाची गाथा–अभंग १३, पृ० ४४।
2. सकल सन्त गाथा–नामदेव अभंग, १६६६ पृ० १७८।

पर छटपटाते हैं और आर्तता से गुहारते हुए अपने उपास्य को पुकारते हैं। उनका गला भर आया है।

बचपन में ही नामदेव ने विठ्ठल को नैवेद्य दिखाकर प्राजल भाव से उसे ग्रहण करने के लिए कहा—

केशवा माधवा गोविंदा गोपाळा। जेवीं तूं कृपाळा पांडुरंगा ॥[1]

हे केशव! माधव! गोविन्द! गोपाल! हे पांडुरंग! हे कृपालु! हे दशरथ नंदन! अच्युत! हे वामन! तुम भोजन कर लो। हे नरहरी! हे कृष्ण! हे मधुसूदन! भोजन ग्रहण करो। इस तरह नामदेव के आर्त स्वर से पुकारने पर भगवान् ने नैवेद्य ग्रहण कर लिया।

इस तरह सचमुच नैवेद्य ग्रहण करने पर माता गोणाई तथा पिता दामाशेटी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके बाद का सारा विवेचन बड़ा ही मार्मिक और रसग्राही है। नामदेव ने भगवत् विषयक रति के पारमार्थिक अनुभव बचपन से ही बड़े अनमोल पद्धति से लिये है। उनके द्वारा रचित माधुर्य भाव को प्रदर्शित करने करने वाला एक पद देखिए—

नामदेव की माधुर्य भावना—

नको वाजवू श्री हरि मुरली।
तुझ्या मुरलि ने तहान भूक हरली ॥ध्रु०॥
गोपाळ गड्याचा मेळ, हरिसंगे खेळ, कुंजवनीं रमली ॥
खुंटल्या वनयुचा वेग, वर्षति मेघ, बळें स्थिरावली ॥
नामा चरणीचा दास, विनविती आस, आशा नाही पुरली ॥[2]

नामदेव विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं कि हे श्री हरी! तुम मुरली मत बजाओ। तुम्हारे मुरली बजाते ही हम सब की भूख प्यास ही नष्ट हो गई। फलतः गोपाल अपने सखाओं सहित तुम्हारे साथ खेल में मग्न हैं। गोप-गोपियाँ कुंजों में तथा कुंजवन में ही रमे हैं। तुम्हारी मुरली की ध्वनि से तथा उसकी मिठास से वायु की गति रुक गई है। मेघ बरस रहे हैं, तथा जल भी स्तब्ध हो गया है। नामदेव कहते हैं, 'मैं तो आपके चरणों का दास हूँ' अत. पुन पुन आपसे आशा के साथ कहता हू कि मेरी आशा मुरली की ध्वनि सुनकर परिपूर्ण नहीं हुई, अत. पुन. पुनः उसे सुनाइये। मैं सुनने के लिए उत्सुक और लालायित हूँ।

१. नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग ३१३।५, पृ० २८०।
२. नामदेव पद–सार्थ गाथा।

इन्द्रियों की चचलता—

नामदेव की भक्ति उनका कवित्व, उनका कारुण्य आदि भावनाओं का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए उनका एक रूपक देखिए। इसमें चचल और स्वैर तथा अनिबन्ध इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को धेनुओं के रूप में बनाकर कहते हैं—

> कुल्हा धमाल ले धमाल अपुल्या गाई।
> आम्ही आपुल्या घलासी जातो माई ॥ध्रु०॥
> नाहो तर धाडिन रे गोपाळाच्या जोड्या ॥
> नामा म्हणे रे गोष्ट रोकडी पाही ॥[1]

यह अभग उत्कृष्ट काव्य गुणों से परिपूर्ण है। तुतला बालक बनकर उसी तुतलीशाणी मे जब वे आत्मीयता से सहज खेल-खेल मे ही बतलाते हैं, कि उनके इन्द्रियों की गायें तथा उनकी अनिबध प्रवृत्तियों को रोकने पर भी वे नही रोक पाते। इसमे प्रदर्शक साधक भाव तोतले बोलो से युक्त है। यह ध्वनि-काव्य का एक सरल उदाहरण माना जा सकता है। हे कृष्ण ! ये इन्द्रियों की गाये सम्हाले नही सम्हलती हैं। तुम इनकी देखभाल करो। कल हमारे घर बहुत चौका और खोआ बनाया गया था। तुम सबने मिलकर अधिक मात्रा मे उसे खा लिया। मैं बेचारा गरीब ठहरा। अत: मुझे बहुत अल्प मात्रा मे तुम सब ने दिया। तुम कहोगे इसे कुछ नही समझता। यह तो तुतला बोलने वाला है। कृष्ण कहते हैं, तुम चुप रहो मेरी समझ मे सब आ गया है। तुम्हारी इन्द्रिय रूपी गायों को मैं ही फेरता हू। उस बात का स्मरण रखो। अन्यथा गोपालों की जोड़ियाँ तुम्हारे साथ शरारत करने भेज दूँगा। नामदेव कहते हैं कि मेरी यह बात कितनी रोकडी है। सूर के इसी तरह के विवेचन से यह तुलनीय है। यथा—

'माधो मेरी इक गाइ।' —सक्षिप्त सूरसागर-पद २४।

अपने गुरु विसोबा खेचर स्वामी के दिये हुए ज्ञान से उनको जो स्वरूप साक्षात्कार हुआ उसका वर्णन वे करते हैं[2]—

गुरु कृपा से सम्पन्न नामदेव का स्वरूप साक्षात्कार—

> नाचू कीर्तनाचे रगी। ज्ञानदीप लावू जगीं ॥
> सर्व सांडूनी माझाई। वाचे विठ्ठल रखुमाई ॥

---

१. नामदेवाची गाथा—(बोबडा) अभंग, पृ० १७।
२. श्री नामदेवाची सार्थ गाथा—अभग १५८, पृ० १८६।

परेहून परते घर। तेथे राहू निरन्तर॥
सर्वांचे जें अधिष्ठान। तेचि माझें रूप पूर्ण॥
अवघी सत्ता आली हाता। नामयाचा खेचरी दाता॥

गुरु खेचर स्वामी की कृपा से आत्म प्रतीति हो जाने के कारण मैं कीर्तन के रग मे आनन्द से नाचूँगा और उसमे ज्ञान का प्रकाश प्रज्वलित करूँगा। सब कुछ छोड छाडकर सुख से विठ्ठल-रखुमाई कहूगा। परो से परतर आत्मरूप विठ्ठल ही मेरा विश्राम स्थल है और मैं नित्य वहीं पर वास्तव्य करूँगा। मुझे गुरु की कृपा से अखिल विश्वसत्ता मेरे हस्तगत हो गई है। मुझे मेरे पूर्ण स्वरूप की निस्सदिग्ध अनुभूति हो गई है। इसी से मैं अब नित्य अपनी भक्ति करूँगा ऐसा अब वे निश्चय कर लेते हैं।

सद्‌गुरु के द्वारा पथ प्रदर्शन—

नामदेव को विसोबा खेचर से जब ज्ञान प्राप्ति हो गई, तब ससार के लिए जो दुख उनके मन मे था वह भी नष्ट हो गया। इसी बात पर वे सद्‌गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। यथा—'सद्‌गुरु सारिखा सोइरा जिवलग। तोडिला *उद्वेग ससारी चा॥ काय उतराई होऊँ क्वण्या गुणे। जन्मा नाही देणे ऐसे* केले॥ माझे सुख मज दाखविले डोळा। दिधली प्रेम कळा नाम मुद्रा। डोळियाचा डोळा उघडिला जेणे। लेवविणे लेणे आनंदाचे॥ नामा म्हणे निकी सापडली सोय। न विसंबे पाय खेचराचे॥[1]

सफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अन्तरि दिना।
गिआन अन्जन मोकउ गुरु दीना। राम नाम बिनु जीवन मन हीना॥
नामदेव स्मरण कर जाना। जग जीवन सिऊ जीवू समाना॥[2]

सद्‌गुरु जैसा मित्र और हितकर्ता मिल जाने से सासारिक उद्वेग नष्ट हो गया। मैं किस प्रकार इस उपकार से उऋण हो सकूँगा। मुझे जन्म मरण के आवागमन से मुक्त कर *दिया तथा मुझे मेरा वास्तविक सुख प्रदान कर दिया।* नाम-मुद्रा देकर मेरे अन्तःकरण मे प्रेम की विह्वलता उत्पन्न कर दी। ज्ञान की दीप्ति से नेत्रो के नेत्र खुल गये। आनन्द की उपलब्धि मिल गई। अब मैं ऐसे *साधन को कदापि नहीं छोडूँगा।* तथा विसोबा खेचर के चरणो मे ही पडा रहूँगा।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभग १५०, पृ० ३१७, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।
२ नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, पृ० ४६२, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।

मेरा जन्म गुरु ने सफल कर दिया। नामस्मरण का मूल्य मुझे ज्ञात हो गया। दुख की विस्मृति हो गई और आध्यात्मिक सुख अन्तःकरण में स्थित हो गया। ज्ञानार्जन से यह प्रतीत हो गया कि बिना रामनाम के सारभूत तत्व अन्य और कोई नही है। जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं यह तथ्य भी मैंने जान लिया।

नामदेव अपने मन को उपदेश कर समझाते हैं[1]—

मनाचे मन पण साडित रोकडें। अन्तरिचे जोडे परब्रह्म ॥
नाथिला प्रपंच घरोनिया जीवीं। सत्य ते नाठवी कदाकाळीं ॥
अजूनि तरी साडी नाथिले लटिके। तरसील कवतुके म्हणे नामा ॥

मन का चाचल्य और मनस्थिति को मुक्त कर देने से अर्थात् एकाग्र होकर हृदयस्थ परब्रह्म से सम्बन्ध जुड जाता है। इसी को सदा साथ रखकर मैंने लौकिक व्यवहार नष्ट कर दिया है। हे मेरे मन! तू इस सत्य को गाँठ में बाँधले। अब भी क्षणभंगुर और मिथ्या स्वरूप सासारिकता को तू छोड दे तो तेरा सचमुच उद्धार हो जायगा।

ब्रह्म का स्वरूप—

नामदेव अपने उपास्य का इस प्रकार वर्णन करते हैं[2]—

सगुण निर्गुण श्रुति त्या बोलती। तो तू माझे चित्ती
पंढरी राया ॥

देव दाखवा भक्त हा मायेचा। सदेह दोघांचा फिटे कैसा ॥
ऐसे देव तेहि फोडिले तुरकी। घातले उदकीं बोभातिना ॥
ऐसी ही दैवते नको दावूं देवा। नामा म्हणे केशवा विनविताते ॥

जिसे श्रुतियो ने सगुण और निर्गुण इन दोनो स्वरूपो वाला बतलाया है, वही तू हे पढरिनाथ! मेरे चित्त मे बसा हुआ है। तू जितना भी है उतना सब मे स्थित है अत मैं तुम्हारा वर्णन कैसे कर सकता हूँ? मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारे चरणो की मिठास मैं कदापि न छोडूँ। मेरा यही भाव तुम पुष्ट करते रहो। भीमातट पर तुम्हारा निवास है इसकी साक्ष्य पुडलीक मुझे दे रहे हैं। नामदेव, केशव से यही माँगते हैं। भक्त और भगवान् का स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि भक्त अपनी भावना से भगवान् को देखता है और वैसे मूर्ति तो पाषाण की ही

---

१. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, चित्रशाला प्रेस, पृ० ४६३।
२. नामदेवाची गाथा अभङ्ग—४७२ और ४२५, पृ० ४६२ और ३६०
(चित्रशाला प्रेस)

जैसे बिना सूर्य प्रकाश के निर्मल धूप असभव है उसी प्रकार नामदेव बिना रामनाम के बेचारा अनाथ प्राणी है। भगवान् का नामस्मरण मेरे जैसो के लिए एक बहुत बडा आधार है। अन्धे की लकडी का जितना महत्व अन्धे को होना है उतना ही महत्व मुझे अपने नामस्मरण के आधार का है। हे परम कृपालु अल्लाह! तुम दानशूर हो अन सबको देने वाले और सब से 'पत्र, पुष्प फल तोय' के हिसाब से लेने वाले के रूप मे ही सब तुम्हे पहिचानते हैं। तुम ज्ञानी, तथा दूरदृष्टि वाले हो। तुम्हारी शक्ति का मैं पामर क्या और कैसे वर्णन करूँ? नामदेव कहते हैं हे स्वामी! हे श्री हरी! ससार के जीवमात्रो को क्षमा प्रदान करने वाले मात्र तुम ही हो।

भजन की एकाग्रता मे लौकिक व्यवहार-विस्मरण—

नामदेव परमेश्वर भजन मे अपनी सुधबुध बिलकुल भूल जाते थे। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> जब देखा तब गावा ॥ तऊ जतु धीरजु पावा ॥
> नादि समाइलो रे सतिगुर भेटिले देवा ॥
> × × ×
> जह अनहत सूर उजारा। तह दीपक जलै छारा ॥
> गुर परसादी जानिआ। जनु नामा सहज समानिआ ॥[1]

सद्गुरु ने मेरी और भगवान् की भेंट करा दी। उन्ही की कृपा से मेरी यह दशा हो गई कि जब मैं नामस्मरण करने लगा तो भजन मे मुझे भगवान् दिखाई दिये। मैं परमेश्वर के रूप मे विलीन हो गया। परिणामत धैर्य और आनन्द मिल रहा है। धूमिल अस्पष्ट तथा धुँधला प्रकाश भी दिखाई पडने लगा है। बिना आघात से उत्पन्न ध्वनि एव शब्द सुनाई पडने लगा है। ज्योति प्रकट हो गई। यह सारा गुरुकृपा का प्रत्यक्ष फल है। मेरे रत्नजटित अन्त.करण मे भगवान् का विद्युत प्रकाश चमकता है और पता चलता है कि भगवान् आत्मा मे और हृदय मे सर्वत्र पूर्णरूप से लबालब भरे हुए हैं। बाह्य जगत् मे प्रकाशित सारे दीपक उसके सामने फीके पड गए हैं। यह सारा सहज ही हो गया और वह भी गुरु-प्रसाद से। भगवान् की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। नामदेव के अनुसार भगवद्-प्राप्ति का मार्ग इस प्रकार है—

> कोई बोलै नीरवा कोई बोलै दूरी। जल की मछली चरै खजूरी ॥
> काइरे बकवाद लाइउ ॥ जिन हरि पाइउ तिन हि छपाइउ ॥
> पडित होइकै बेदु बखानै ॥ मूरखु नामदेऊ रामहि जानै ॥[2]

---

१. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ६, पृ० ८८।
२. " " पद १७, पृ० १६।

कोई कहते हैं ईश्वर पास है, कोई कहते हैं कि वह दूर है। ऐसी बकवास किस काम की? इस प्रकार का विधान एवं उक्ति ठीक इसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि मछली खजूर के पेड़ पर चढ़ गयी। तात्पर्य यह कि ये सारे कथन व्यर्थ हैं। वास्तव में जिन्हें भगवान् के दर्शन हो गये वे उसको गुप्त ही रखते हैं। पंडित वेदोच्चार बड़े जोर से करते हैं पर मैं मूर्ख हूँ और ईश्वर को पूर्णतया पहिचानता हूँ। इसमें पंडितों की अहंकार भावना को उन्होंने फटकारा है तथा भक्त की विनम्रता अपने निवेदन में प्रकट कर दी है।

ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप—

नामदेव को सर्वत्र 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' का साक्षात्कार होने लगा और वे कहने लगे—

> एक अनेक व्यापक पूरक जत देखो तत सोई।
> माया चित्र विमोहित बिर्ला बूझे कोई॥
> कहत नामदेव हरि की रचना देखो हृदय विचारी।
> घटघट अंतर सर्व निरन्तर केवल एक मुरारी॥[1]

सब गोविन्द है। गोविन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रवाह, तरंग वीचियाँ पानी से भिन्न नहीं है तद्वत् यह सारा विश्व प्रपंच उसी ईश्वर की लीला है। इस हरि की रचना में एवम् सर्वभूतों में वही एकमात्र परब्रह्म विराजित है। घट-घट में केवल एक गोविंद ही विद्यमान है। भक्त ही भगवान् अर्थात् राम बन गये। फिर भी तुम मेरे परमात्मा और मैं तुम्हारा भक्त, तुम पूर्ण और मैं अपूर्ण। यह नामदेव की भावना उनके विनम्र भक्तिमार्ग की सूचक है। डा० रानडे की यह सूचना बड़ी महत्वपूर्ण है कि कोई यह न समझे कि मैं पूर्ण ब्रह्म बन गया हूँ क्योंकि उसमें धोखा-भय है।

'It is this ideal of perceptual progressive realisation, or attainment to the highest acme possible for man, here below, which may be reached by humanity without a tint of arrogance or self complacency.'[2]

'अपने अखण्ड प्रयत्नों से क्रमश: ऊपरी स्तर के साक्षात्कारों अनुभव लेते रहना इस जग में संभव है। उतने ऊँचाई वाली अवस्था तक पहुँचते रहना इतने ही लक्ष्य का अनुसरण मानव के लिये संभाव्य है, क्योंकि इस ध्येय में पूर्णत्व का

१ नामदेवाची गाथा—पद ४६, पृ० ४६३, (चित्रशाला प्रेस)।
२ पाथवे टु गॉड'—डा० रा. द. रानडे, पृ० १६७।

अहङ्कार नहीं तथा साधक के प्रयत्नों मे शिथिलता निर्माण करने वाली अल्प सन्तुष्टता भी नहीं है।'

इसीलिए नामदेव कहते हैं[1]—

> 'रामहि जपही रामहि जानै छोड करम की आसा।
> रामहि भज, तई रामहि होई, प्रणवे नामा दासा ॥
> जलते तरङ्ग, तरङ्गते है जल कहन सुनन को दूजा।
> कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा ॥'

राम जपने से तू राम जान लेगा। तू कर्म की आशा छोड दे। तब तू राममय हो जावेगा। दधि को विलोने मे घृत बन जाता है वह पुन एक नहीं हो सकता। पूजा, पुजापा और पूजनीय सभी अभिन्न हैं। फिर भी नामदेव का कहना है कि मैं भक्त हूँ अत अधूरा हूँ और तुम परमेश्वर हो अत पूर्ण हो।

नामदेव अपनी अन्तरात्मा से निकलने वाली ध्वनि से परमात्मा का गुणगान करते थे। इनके शब्द वैराग्य–परक भावना से भरे हुए हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं[2]—

नामदेव की वैराग्य भावना—

> वेद पुरान सासत्र अनन्ता गीता कवित न गावउगो।
> *अखड मंडल निरंकार महि अनहद बेनु बजावऊगो ॥*
> वैरागी रामहि गावऊगो ॥
> पच सहाई जन की सोभा भलै-भलै न कहावऊगो ॥
> नामा कहै चितुहरि सी उराता सुन्न समाधि पावऊगो ॥

अपनी आयु के पूर्वार्ध मे सगुणोपासक बने हुए नामदेव पजाब में जाकर निर्गुणी सत बने और भक्तिमार्ग के निष्ठावन्त प्रचारक बनकर प्रचार करते रहे। इसी का परिणाम उनके बाद के सन्तो पर विशेषत कबीर आदि पर अधिक पड़ा है। इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर सत्य की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। परमेश्वर एक महान् शक्ति अथवा सत्ता मात्र नहीं है। प्रत्युत अनन्य भक्ति करने पर परमेश्वर का सहज सुलभ दर्शन एवम् साक्षात्कार हो सकता है ऐसा प्रतिपादन नामदेव ने अपनी अनुभूति के आधार पर ही किया। चौदहवीं से पंद्रहवीं शती का कालखण्ड इस्लामी आक्रमणों और अत्याचारों का होने से तथा इस देश की प्राचीन आर्य

१. रामदेवाचे आध्यात्मिक चरित्र व ज्ञानदीप—ग वि. कुळकर्णी, पृ० १२७।
२. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ३१, पृ० ११४।

मसंस्कृति पर विध्वंसक प्रहार हो जाने से एक प्रभुत्व और भयप्रद वातावरण सर्वत्र निर्माण हो गया था। तभी इस परिस्थिति का पढरपूर से पजाब तक के भ्रमण काल मे और अपने उधर के वास्तव्य काल मे नामदेव ने सूक्ष्म निरीक्षण कर लिया था। अतएव एक ईश्वर, जाति भेदातीतता, मूर्ति पूजा का बहिष्कार जैसे सिद्धान्तो पर आधारित सहज सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन नामदेव ने जोर शोर से आरम्भ किया। नामदेव के ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। नामदेव के भगवान् अन्तर्यामी और सर्वत्र विद्यमान हैं। उनका कहना है—

ऐसो रामराई अन्तरजामी। जैसे दरपन माहि बदन परवानी।
बसै घटाघट लीप न छीपै। बधन मुकता जातुन दीसैं॥
पानि माहि देखु मुखु जैसा। नामेका सुआमी बीठलु जैसा॥[१]

हे भक्तो! परमेश्वर सब के हृदयो मे विद्यमान है। जिस तरह दर्पण मे देखने वाले को निजी मुख प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसी तरह ब्रह्मज्ञानी मनुष्य को ईश्वर विषयक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञान से दिव्य प्रकाश सामने आता है। बधन-मुक्त एवम् ब्रह्मज्ञानी के लिए मनुष्य की जाति और कुल से कोई सरोकार नहीं। सब प्राणिमात्रों के हृदय मे ईश्वर का अस्तित्व है। अत नामदेव को अपना स्वामी विठ्ठल सर्वत्र दिखाई पडता है।

नामदेव की माधुर्य भक्ति—

माधुर्य भावना से परिपूर्ण नामदेव का एक पद द्रष्टव्य है—

मैं बऊरी मेरा राम भतारु॥
रचि रचि ताकऊ करऊ सिगारु॥

कबीर का पद 'हरे राम मैं तो राम की बहुरिया।' इसके साथ तुलनीय हो सकता है। नामदेव की उक्ति है कि वे एक बावरी स्त्री है जिसका पति राम है। उसके लिए ही यह सारी साज सज्जा नामस्मरण इत्यादि है। लोग इस कृति की चाहे जितनी निन्दा करे नामदेव को इसकी कोई परवाह नहीं है। मैं भगवन्नामामृत रसायन का पान करने मे मग्न हूँ। इसी से मुझे श्रीरग प्रभू विठ्ठल की भेंट हो गई और उसकी पूर्ण अनुभूति साक्षात् हो जाने से मैंने उसको चीन्ह लिया है ऐसा उनका विनम्र निवेदन है।

नामदेव ऐसे प्रभु का पूजन सर्वत्र करते हैं क्योंकि 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीद।' पढरपूर से पजाब तक नामदेव ने भगवद्-भक्ति का प्रचार किया।

१. पजाबातील नामदेव—डॉ॰ प्र॰ जोशी, पद ५८, पृ॰ १५९।

इसी भक्ति से उन्हें अष्ट-सात्विक भावों के आध्यात्मिक अनुभव मिले। पाडुरङ्ग *मिलन के आनन्द से वे गदगद और कृतकृत्य हो गये। क्योंकि उनका विठ्ठल* सर्वगुण महित एवम् परम कृपालु है। इसका दृढ़ विश्वास उनमें जागरूक रहा। कहीं उसे नजर न लग जाय यही उनकी चिन्ता है। यह भाव और कला का सुन्दर शोभन चित्र चिन्त्य है—

> श्याम मूर्ति डोळस सुन्दर सावळी। ते ध्यान हृदय कमळीं धरनि ठेलो॥
> *सकळ स्थिति सुखाचा अनुभव आला। सकळ विसरला देह भाव॥*
> नामा म्हणे देवा दृष्टि लागा म्हणों। पुण्डलीका धर्म करनि जोडलासी॥[1]

नामदेव को एक स्फूर्तिदायक हृदय स्पर्शी अखड आनन्द का अनुभव हुआ क्योंकि श्यामल सुन्दर विठ्ठल मूर्ति को उन्होंने हृदय में धारण कर लिया था। मन स्वरूप में रँग जाने से देहजनित व्यापारों का भान न रहा। सामारिक चिताएँ मिट गयीं, द्वित्व की भावना विनष्ट हो गयी। अद्वयानन्द की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त हो गयी। शरीर पुलकित हो गया। नामस्मरण से जन्म मृत्यु के आवर्तनों से मोक्ष मिल गया। पुडरिक की कृपा से ऐसे विठ्ठल का मुझे सहज अनुभव मिला। यह चिंता उत्पन्न हो गई कि कहीं *उनके सुन्दर विठ्ठल को किसी की नजर न लग* जाय।

नामदेव की अन्तिम इच्छा में भी विनम्र आत्मनिवेदन बड़ा मार्मिक है। जो उन्हें श्रेष्ठ कोटि का संत सिद्ध करता है—

मार्मिक आत्म निवेदन—

> वतन आमुचा मिरासी पंढरी। विठोबाचे घरी नादणूक।
> सेवा करू नित्य साधू महाद्वारी। नामाची उजरी जागऊँ तेथे।
> साधु सन्ताशरण जाऊँ मनोभावें। प्रसाद स्वभावें देतो भज॥
> नामा म्हणे आम्ही पायरीचे चिरे। सत पाय हिरे देती वर॥[2]

पढरपूर हमारी वपौती से सप्राप्त जागीर है। इसके महाद्वार में हम मनन सकीर्तन और भजन कर नाचना चाहते हैं। इस तरह विठोबा की सेवा हो जायगी और हम दृढ़ भाव से सन्तों की शरण जायेंगे जिससे उनकी कृपा का प्रसाद हमें मिलेगा। नामदेव कहते हैं कि विठ्ठल के मन्दिर की सीढ़ियों के हम पत्थर बनें

१. नामदेवाची गाथा-पद ६७, पृ० १७३ (चित्रशाला प्रेस)।
२. नामदेव कृत अभङ्गाचीगाथा, पद सख्या ५३२, पृ० ३८१।

जिनसे दर्शनार्थ आने वाले संतों के हीरों के समान मूल्यवान चरण हम पर पड़ते रहेंगे। और भी वे आगे कहते हैं

> संकल्प विकल्प निरसूनियां प्रांति। बावीन विश्रान्ति अभिनव तुज।
> अन्तरिचे गुज बोलोनि पढरिनाथ। आलिंगन देत नामयासी॥[1]

नामदेव को पढरिनाथ ने अपने अन्तस्तल के हृद्गत भावों को प्रकट कर उन्हें आलिंगन दिया और कहा कि जिससे तुम्हारे सकल्प-विकल्प और सन्देह दूर हो जावेंगे। मैं ऐसा उपाय और विश्राम स्थल तुम्हें बताऊँगा। वह उपाय यही है कि तुम अपनी समस्त वृत्तियों को विषयों से मोड़कर व उनको मरोड़कर सावधानी से मेरे रूपों की ओर अग्रसर करो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि से अपनी इन्द्रियों से मुझे ही प्रत्यक्ष कर लो। तब तुम्हें मेरा प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जावेगा। तुम्हें और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे आवागमन का क्रम भी अवरुद्ध हो जायगा। तुम्हें केवल अपने मन में केवल दृढ़ विश्वास रखकर मेरे और अपने सम्बन्धों को दृढ़ निश्चय से अपनाना होगा।

प्रेम लक्षणायुक्त-भक्ति तथा ज्ञानमय भक्ति के द्वारा भक्ति का प्रचार कर नामदेव ने भागवत धर्म का प्रचार मराठी और हिन्दी-भाषी प्रदेशों में दोनों भाषाओं में कर दोनों भाषा-भाषियों पर बड़ा उपकार किया है। वारकरी सम्प्रदाय में नामदेव प्रेम की सगुण मूर्ति हैं। प्रेम ही उनका स्थायी भाव है, इसी से अपने उपास्य विठ्ठल को वे अपना तुके थे। विसोबा खेचर की गुरु कृपा से वे परम कोटि के संत बने, और निर्गुण भाव से चराचर में विठ्ठल की व्याप्ति को देखते हुए उसका प्रत्यक्षाचरण पंजाब में जाकर करते रहे। उनका यह ऋण कबीर आदि को मान्य है। भागवत भक्तों में नामदेव की तरह अद्भुत भक्ति रस की पयस्विनी बहाने वाला दूसरा और कोई नहीं। ऐसा मानना अयोग्य नहीं होगा।

एकनाथ का आध्यात्मिक पक्ष—

परम कारुणिक महान मराठी वैष्णव कवि एकनाथ की कृतियों से उनका दार्शनिक पक्ष हमारे सामने आ जाता है। उनकी आरम्भिक कृतियाँ प्रमुख रूप से आध्यात्मिक विचारों को अभिव्यक्त करने वाली हैं। इसी से हमने यहाँ पर क्रमशः उनके आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक व्यक्तित्व और विचारों का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया है। इन्हीं कृतियों में प्रमुख रूप से उनके पारमार्थिक और आध्यात्मिक विचारों का पक्ष अभिव्यंजित हो गया है अतः इस विवेचन में उनको इस रूप में लिया गया है।

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभङ्ग ४४६, पृ० ३६३।

एकनाथ का व्यक्तित्व और आध्यात्मिक साधना—

हिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य के भक्त कवियों में परम भागवत संत श्री एकनाथ पूरे वैष्णव साहित्य के ही नहीं वरन् यथावत् मराठी साहित्य के हिमालय हैं। वेदान्त-सिद्धान्त के तर्क कर्कश गगन चुम्बी हिम-शिखर इस नगाधिराज की शोभा अभिवर्धित कर रहे हैं, तथा सदभिरुचि और सद्भक्ति समुन्न-भाव गंगोत्री के मुखेत्र से उद्गम पाकर नदरमों से भरे हुए अपने दोनों पुलिनों की भूमियों को अपनी पुनीत एवम् प्रभूत जल राशि में आप्लावित करती हुई यह साहित्य भागीरथी अपनी तरह सहज स्वच्छन्दता से बह रही है। यहाँ से स्थान भ्रष्ट होकर छूट पड़े हुए हिम-प्रस्तर आपाततः इस बहते हुए गंगौघ में आकर पिघल रहे हैं। इस हिमालय के ऊपरी भाग पर विराजित वनश्री की नयनाभिराम शोभा, प्रज्ञासूर्य का उदय तथा इसी प्रदेश पर दिखाई पड़ने वाली प्रतिभा के शारदीय पूर्णिमा की धवल और स्वच्छ ज्योत्स्ना एवम् नयनाभिराम बहार का क्या वर्णन किया जाय ?

एकनाथ ने अपनी तीव्रतम हृदय सम्पर्शी अनुभूति को अपने शब्दों के माध्यम से अत्यन्त उत्कटता के साथ अपनी कृतियों में भावना सिक्त कर अभिव्यक्त कर दिया है। इसका तत्काल परिणाम सहृदय पाठकों के चित्त को स्पर्श कर लेता है। अर्थात् यह कार्य सचमुच एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार का ही हो सकता है। अतः यह तो कहा ही जा सकता है कि उनके पास प्रतिभा-सम्पन्नता थी। हिन्दी के महान् युगप्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास और मराठी के परमभागवत श्री एकनाथ में बहुत साम्य है। दोनों ने अपनी बहुमुखी और सर्वस्पर्शी प्रतिभा से जीवन के विस्तृत और विविध अङ्गों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन और निरीक्षण कर अपनी भावानुभूति से सभी काव्य-गुणों की माधुरी में अभिव्यंजित कर दिया है। यह अभिव्यंजना विभिन्न साहित्य शैलियों में लोकाभिमुख होकर उद्भावित हुई है। विस्तार की दृष्टि से और भक्ति की भावनात्मक विचार धारा में दोनों ने अद्वितीय और अनुपम ढङ्ग से साहित्य में अपनी पैनी और गहरी पैठ को सिद्ध किया है। फिर भी दोनों के अपने-अपने अधिकार और साहित्यिक कृति-शिल्प को देखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है, कि तुलसीदास यदि हिन्दी साहित्य के सुमेरु पर्वत है तो एकनाथ मराठी साहित्य के हिमालय हैं।

पारमार्थिक साधक एवम् साहित्यकार की स्वनिर्मित साधना-प्रणाली—

श्री एकनाथ का साहित्यकार अपनी स्वनिर्मित साधना प्रणाली और प्रयत्न से विकसित और वर्धिष्णु हुआ। अपने पारिवारिक एवम् लौकिक जीवन में तथा पारमार्थिक क्षेत्र में वे किस प्रकार यशस्वी हुए, तथा इसी यशस्विता का प्रतिपादन

कर उसे सुष्ठु रूप मे अपने साहित्य में किस प्रकार वे चरितार्थ एवम् सुसम्पन्न कर सके इसे देखना है। अपने युगीन भक्तों एवं सन्तों मे वे अग्रगण्य माने गये हैं। परन्तु यह वरेण्यता उन्हें कैसे उपलब्ध हो गयी इसका यदि अध्ययन करना हो तो हमे उनके आध्यात्मिक साहित्य का परिशीलन करना होगा। उनके भीतर का साहित्यकार, उनकी अपनी साधना और तपस्या से जगा था। यह कैसे सम्भव हो सका था इसका अध्ययन यथा क्रम उनके साहित्य से देखा जा सकता है। उनकी दिव्य साहित्य-मदाकिनी मे अवगाहन करना और उससे सुस्नात होना ही तो हमारा लक्ष्य है।

परिस्थिति का तीव्र आघात—

एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यह बताता है कि जब तक कोई तीव्रतम चोट जीवन मे किसी को नहीं लगती तब तक उसका व्यक्तित्व निखर कर प्रकाश मे नहीं आता। एकनाथ के जीवन पर यही सिद्धान्त लागू होता है। मूलनक्षत्र मे उत्पन्न होने से उनके माँ-बाप स्वर्गस्थ हो गये थे। उनके जीवन पर यह एक ऐसा प्रहार था जिससे वे मर्माहत हो गये। इसी व्यथा की अभिव्यक्ति श्री एकनाथ इस प्रकार करते हैं—

> मुळीच्या मुळीं एका जन्मला। मायबापें थोर धाक घेतला।
> कैसे मूळ नक्षत्र आले कपाळा। स्वयें लागलो दोहींच्या निर्मूळा।
> शान्ति करिता अवघ्याची जाली शान्ति। मुळीं लागोनिया लावली ख्याति॥
> एका जनार्दनीं मुळीच्या गोठी। माय सवट सगळा बापचि घोटी॥[1]

उक्त अभंग मे वे अपनी करुण कहानी गाते-गाते अपने सहज प्रवृत्तियुक्त अन्तःकरण से एक तत्त्वगर्भित परिहास करते हैं। उनके कथनानुसार यह सब मूल नक्षत्र की महिमा है कि 'मैं मूल नक्षत्र मे पैदा हुआ और पैदा होते ही मैंने सबको खा डाला। इसलिये उसकी शान्ति करने निकला पर मैंने अपनी ही चिरशान्ति प्राप्त कर ली। अतः मैं अपने ही कुल को 'जड़ से उखाड़ने वाला' इस सज्ञा से आख्यात हुआ। किन्तु फिर भी मैं जनार्दन स्वामी का 'एका' बन गया किन्तु यह कैसे सम्भव हुआ ? जिस प्रकार मूलनक्षत्र मे उत्पन्न होकर मैंने सब को नष्ट कर डाला उसी प्रकार मैंने माया सहित ब्रह्म को घोट लिया। अतः यह मूल नक्षत्र की ही महिमा मानी जावेगी। इस पर भी मेरे गुरु श्री जनार्दन स्वामी ने मुझे माँ-बाप और गुरु इन तीनो का वात्सल्य प्रदान किया।

1. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास भाग २—ल. रा. पांगारकर, पृ० २१७।

अपने माँ-बाप के मर जाने पर उनके वृद्ध पितामह चक्रपाणि ने अपनी जर्जर वृद्धावस्था के कारण एकनाथ को जनार्दन स्वामी के उत्तरदायित्व में सौंप दिया। बचपन से ही प्रह्लाद की तरह 'कौमारे आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह' एकनाथ में स्वभावतः विशेषताएँ दिखाई दी। वे बचपन से ही कुशाग्र और बुद्धि प्रागल्भ्य से युक्त थे। अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त उपदेशों को सुनकर एकनाथ के अन्तःकरण की सारी वृत्तियां लहलहा उठी। परिणामतः इससे सम्प्राप्त आनन्दावस्था की लहरों में वे डूबने उतरने लगे। गुरु-कृपा से ज्ञान भी अर्जित कर लिया। इसी ज्ञानानुभूति को प्रकट करने की तीव्रतम इच्छा अन्तःकरण में मुखर हो उठी। उसकी अभिव्यक्ति 'आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हुई। उनकी चित्तवृत्ति का उन्मेष देखने लायक है। यथा[1]—

चित्त वृत्ति का उन्मेष—

> तुझे निज स्वरूप पाहता दृष्टीं। निजानंद न समाये सृष्टी।
> तुटल्या जन्म मरणाच्या गांठी। निर्भय पोटी मी जालो ॥६॥
> बंध मुक्तिची अटा अटीं। संचरली होती माझ्या पोटीं।
> होता तुझी कृपा दृष्टीं। उठा उठी पळाली ॥७॥

अपनी दृष्टि से तुम्हारे निज स्वरूप को देखते ही मुझे इस संसार में न समा सकने वाला आनन्द उपलब्ध हो गया। अन्तःकरण की निर्भयता मिल गई। जन्म-मरण की उलझनें सुलझ गयी। बंधन और मुक्ति का झंझट दूर हो गया, तथा तुम्हारी कृपा दृष्टि से सारी शंकायें निर्मूल होकर मन शंका रहित बन गया।

गुरु सेवा सम्पन्न आध्यात्मिक ज्ञान—

गुरु सेवा करते हुए उनसे अध्यात्म ज्ञान आत्मसात् कर अपनी शंका-कुशंकाओं के निर्मूलन से उनकी बुद्धि में तत्वज्ञान सम्पन्नता के उपलब्ध हो जाने से एक नये उत्साह मचालित हो उठा जिसका प्रकटीकरण इस तरह हो गया[2]।

> आतां बोलणें खुंटले। शब्दाचे चातुर्य राहिले। दृष्टि चे देखणे
> उरले ते हि निमाले भेवटीं ॥१४६॥
> एका जनार्दनी एकनाथ। एक म्हणता विश्व भरित।
> तो होऊनी कृपावन्त। प्रेम आनन्द लहरी वदविली ॥१५४॥[3]

---

१. आनन्द लहरी ६—७ श्री एकनाथ कृत।
२. श्री एकनाथ कृत 'आनंद-लहरी', ओवी संख्या १४६–५०।१५२–५३।
३. एकनाथ कृत 'आनन्द लहरी', ओवी संख्या १५४।

अब तो वाचाशक्ति अपना कार्य छोड़ चुकी है, शब्दों का चातुर्य भी रुक गया है और आंखों से केवल देखने का कार्य शेष बच गया है, किन्तु आगे चलकर यह भी समाप्त हो गया। सद्गुरु के दास इन सारे संकेतों को अच्छी तरह समझ सकते हैं। पक्षी जिस तरह नारियल का आस्वाद नहीं ले सकते, वैसे ही अन्य लोग इन बातों को नहीं जान सकते। उनके लिए तो ये सारे अनुभव है ही नहीं। मेरा सबसे विनम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे सद्गुरु की शरण में जाकर अपना आत्मोद्धार कर लें। इससे मोक्ष का अधिकार उन्हें मिल जावेगा और जन्म मृत्यु का चक्र उन्हें नहीं व्यापेगा। सद्गुरु के कथन पर विश्वास रखने से सारी बातें यथार्थतः सत्य बन जाती हैं। मेरा मन ऐसे ही आनन्दोन्मेष से सम्पन्न होकर आनन्द की लहरों में निमज्जित हो रहा था। इसी के प्रतिफलस्वरूप आनन्दानुभूति की यह अभिव्यक्ति 'प्रेम आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हो गई। यह सद्गुरु-कृपा का ही फल है।

एकनाथ के द्वारा रचित यह प्रथम स्फुट काव्य और प्रथम साहित्यिक रचना है, ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है। अपनी आयु के सोलह से अठारह वर्ष की अवस्था में यह गुरु कृपा और अनुभूति हुई होगी। उसके पूर्व एक बार एक पाई का हिसाब गलत निकलने पर रातभर जागकर उस गलती को उन्होंने खोज निकाला तब उनकी तितिक्षा, सतर्कता, तादात्म्य और मासेप ये गुण देखकर उनका अधिकार और पात्रता उनके गुरु श्री जनार्दन स्वामी के ध्यान में आ जाने से उन पर गुरु कृपा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। भला गुरु परीक्षा लिए बिना कहाँ कृपा करते हैं? अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है, कि यह गुरु-कृपानुभव उनके हृदय में बिंध जाने पर ही उसकी अभिव्यक्ति होना अधिक सम्भव है। अतः सम्भवतः शक १४७०-७१ में यह स्फुट काव्य लिखा गया होगा।

साहित्य-निर्मिति करने वाले साहित्यकार की कृतियों का यदि कोई क्रम लगाना चाहे तो वह क्रम भी तभी मालूम हो सकता है जब वह उस ग्रन्थ के भीतरी स्वरूप तथा भाषा को देखता है। अपनी स्वानुभूत आनन्दानुभूति की लहरों में डुबकियाँ लगाने के बाद उससे स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर करीब-करीब बीस वर्ष की अवस्था में एकनाथ ने यह कृति प्रस्तुत की होगी। इसमें वर्णित आत्मबोधन, आत्मज्ञान आदि को उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने देखा, तथा उसे अन्य विद्वानों के द्वारा उसी प्रकार के भावों से अभिव्यञ्जित कृतियों से मिलाकर देखा और परखा। तब उस निपुणता को और परिपक्व करने के हेतु श्री जनार्दन स्वामी ने श्री एकनाथ को श्री व्यास के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र द्वारा रचित 'शुकाष्टक' पर मराठी में टीका रचने का आदेश दिया। इस आदेश का पालन करते हुए एकनाथ ने अपनी टीका में

अभिव्यंजित स्वात्मानंद को श्री शुक की अनुभूति और स्वात्मानन्द के साथ मिलाकर उसकी परीक्षा की। इसका फल यह हुआ कि वे अब अपने गुरु के अनुभवों का अपने अनुभवों में सम्यम पाने लगे। इस एक रसता और तादात्म्यानुभव में तल्लीन होकर 'शुकाष्टक' पर ओवीबद्ध मराठी टीका उन्होंने प्रस्तुत की। बहुधा कवि अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत करने के बाद अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अन्य कवियों की कृतियों से मिलाकर देखते हैं—पढ़ते हैं और तुलना भी कर लेते हैं। इस तरह अपनी साहित्यिक योग्यता की कमी को पूरा कर लेने का उनको सुअवसर भी प्राप्त हो जाता है। 'शुकाष्टक' पर रची गई टीका की बानगी देखने लायक है[1]—

> जो वेद सरोवरींचा हंसु। द्विभुज जाला जगदीशु।
> अवतरला व्यासु द्वैपायनु ॥४२५॥
> माजो मनें निष्टंकु विचारीं॥ हा विवेक त्यासी प्रासादायकु
> सेव्यश्री ॥४३०॥

द्विभुज जगदीश के समान अपने अन्तःकरण में जो वंदनीय बन गया है तथा जो वेद के सरोवर में तैरने वाले हंस के समान है, ऐसे द्वैपायन व्यास महर्षि के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र ने इस अष्टक को रचा है। यह व्यास पुत्र विवेक का सागर, आनन्द का सघन निधि और सुबुद्धि मान है। इस व्यास पुत्र द्वारा निर्मित अष्टक के आठ श्लोकों का जो नित्य पाठ करेगा उसे सम्यक ज्ञान का वृक्ष ही हाथ लग जायगा। उसका जीवन सार्थक होकर ठिकाने लग जायगा तथा विवेक के प्राप्त साधनों का सेवन और अप्राप्त साधनों की प्राप्ति से उसे सेवन की योग्यता उसमें आ जाती है। वह शंका-रहित और निर्मल मनवाला हो जाता है।

ओवी का उदात्त रूप—

एकनाथ ने यह ग्रन्थ ओवी छन्द में लिखा है। वैसे उनके बहुत से ग्रन्थ इसी छंद में लिखे गये हैं परन्तु इस छन्द के बारे में एकनाथ के मौलिक विचार इसी ग्रन्थ में वर्णित हैं। अत्यन्त उदात्त अन्तःकरण से वे ओंकार के स्वरूप के साथ ओवी का सम्बद्ध जोड़ते हैं। देखिये[2]—

> या शुक शुकाष्टके पवित्रा। ओंट चरणीं विचित्रा।
> ओवियां नव्हती अर्थ मात्रा। ओंटावो हे ॥२७॥
> ओवी वाखवी विवेकातें। पावन करी ओंट हातें।
> एक देशी सरतें व्यापकमाजी ॥२८॥

---

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी संख्या ४२५–२६, ४२९–३०।
१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवियां २७–२८।

ॐकार की मात्राएं साढ़े तीन होती हैं, तथा ओवी छन्द की मात्रायें भी साढ़े तीन होती हैं। मनुष्य की जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यावस्था इन चारों को ॐकार की मात्राओं में निहित माना गया है। ॐकार में उसकी अर्ध मात्रा सानुनासिक है। इसे ही तुर्यावस्था का संकेत मानते हैं। यह तुर्यावस्था स्वसंवेद्य आत्मानुभूति एवम् ब्रह्मानुभूति ही समझी जाती है। अतएव ओवी भी प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति ही है ऐसा एकनाथ का अभिप्राय है। ओवी को साढ़े तीन हाथ से नापना उचित नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मानुभूति के अतिरिक्त स्वप्न, और सुषुप्ति भी इसमें समायी हुई है। अर्थात् इसमें सारा मानव शरीर पुनीत हो जाता है तथा व्यापक सत्ता से सम्बद्ध हो जाता है।

योग्य गुरु का योग्य शिष्य —

श्री शुकाचार्य की तरह जनार्दन स्वामी के पावनतम शिष्य एकनाथ का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि[1]—

> सो जनार्दन प्रिय एका। मूळ योगी श्री शुका।
> सांगोनि केली टीका। स्वात्मबोधे ॥४३९॥
> एका जनार्दनी की जनार्दन एकपणी। सागरी जैसे पाणी
> तरंग जाले ॥४४४॥[2]

आनन्द लहरी लिखने के अनुभव प्राप्ति से अपने नवीन अनुभवों को शास्त्रीय निकष लगाने के हेतु अपने गुरु की आज्ञा से शुकाष्टक पर टीका रची जिससे कि प्राप्त ज्ञान पूर्णतः आत्मसात् हो जाय। वे इन ओवियों में कहते हैं, कि यह केवल आठ श्लोकों का अष्टक मात्र नहीं है, अपितु एक मधुर आम्रवृक्ष है। इसकी आठ शाखायें हैं, तथा प्रत्येक शाखाग्र पर एक-एक मधुर आम्रफल लगा हुआ है। शुक योगीन्द्र इस प्रत्येक फल का सेवन किया करते थे। उसी तरह ओवियों में रचित मराठी टीका भी यही अभिप्राय प्रकट करती है कि यह साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर पुनीत और शोभन हो जाता है जब कि वह इसको पढ़ता है। इसके पढ़ने से व्यापक अनन्त सत्ता में सान्त का अकेलापन नष्ट हो जाता है। जिस तरह सागर और तरंग दोनों एक ही अभिन्न जल के स्वरूप हैं वैसे ही जनार्दन स्वामी और एकनाथ दोनों अभिन्न हृदय हैं।

सम्भवतः शक १४७२ में अपनी २१ वर्ष की आयु में एकनाथ ने शुकाष्टक की टीका रची। इस द्वितीय कृति के बाद उनमें और विकास होता है। शुकानुभूति के

---

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवियां ४३९–४० ।

२ एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी संख्या ४४२–४४४ ।

साथ अपनी अनुभूति की तुलना और गुर्वादेश का पालन दोनों एक ही साथ वे इस द्वितीय कृति में सम्पन्न कर सके। इससे उन्हें एक अपूर्व सुख एवम् समाधान प्राप्त हो गया। इसी को वे स्वात्मसुख कहते हैं। इस स्वात्म सुख को अभिव्यक्त करने के लिए उनकी आत्मा बेचैन हो उठी और इसका फल यह हुआ कि उन्होंने 'स्वात्म-सुख' नाम की तृतीय स्वतन्त्र कृति प्रस्तुत की। इस ग्रन्थ में गुरु कृपा की घटती *कमान अभिव्यक्त की गई है। अपने पूर्वजों से मिली हुई काव्य प्रतिभा की ईश्वरीय* देन को पुन गुरु कृपा से मुखरित करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हो गया। इसी पर वे सतोष प्रकट करते हैं उनके ये हृदयोद्‌गार अत्यन्त मधुर और सुरस बन पडे हैं[1]—

> शाखर करिति वेगळी। गोडोची कीजे निराळी।
> स्वादुसर्वांगी सकळीं। तैसा स्वानदु जाणा ॥२८॥

जिस प्रकार शर्करा की मिठास को शर्करा से अलग कर लिया जाय तो उसका स्वाद जैसे सर्वाङ्गों से प्रकट हो जाता है वैसे ही स्वानन्द-सुख के मिठास की दशा अर्थात् स्वानन्द की अनुभूति की अवस्था है।

एकनाथ अपने ग्रन्थ का परिचय यों देते हैं[2]—

> स्वात्मसुख येणें नावें। हा केवळ ग्रन्थ नव्हे।
> येणें रहस्य अनुभवावें। निजात्मसुख ॥४१२॥
> हो कां पति-सुखा लागी गोरटी। सासरच्या दासीची मानी गोठी।
> तैसे प्रमेय सुनी दिठी। पहावा ग्रंथ ॥४१४॥

एकनाथ का स्वात्म सुख —

इस ग्रन्थ का नाम 'स्वात्मसुख' है। यह केवल इस संज्ञा को ही सार्थ करने वाला नहीं अपितु यह ग्रन्थ वस्तुत ऐसा है जिसे पढकर सहृदय पाठक को भी स्वात्मसुख का *अनुभव होने लगता है। इसका यही रहस्य है। अधिकार सम्पन्न* ऐवम् आत्म सुख में लीन रहने वाला निपुण इसे पढकर आत्मसुख में लीन हो जाने का पुन. प्रत्यय कर सकता है। यह युग ऐसा था जब लडकियों के विवाह अल्पवयस में ही सम्पन्न हो जाते थे। ऐसी ही विनयशीला सुलक्षणी नववधू का दृष्टान्त देकर एकनाथ अपनी बात समझाते हैं। जिस प्रकार अल्पवयसा सुलक्षणी सुशीला नववधू अपने पति सुख के हेतु ससुराल में आकर श्वसुरगृह की दासी के आदेशों का पालन

1. एकनाथकृत 'स्वात्मसुख'—ओवी संख्या २८।
2. „ „ „ ४१२–४१४।

करती है, वैसे ही आत्मसुख लाभार्थ या प्रभु चरणों का सुख पाने के लिए साधक को इसी दृष्टि से किसी शास्त्र या ग्रन्थ का परिशीलन करना चाहिए। इस ग्रन्थ का निरूपण जिस शैली का है उसे भी देख लेना समीचीन होगा। यथा[1]—

> ये ग्रंथीचे निरूपण। वरि-वरि पाहता कठिण। परी अभ्यंतरी
> गोडी जाण। अमृता ऐसी ॥४७२॥

इस ग्रन्थ मे किया गया निरूपण ऊपरी तौर पर देखने पर कठिन जान पड़ता है। पर उसकी अन्तर्गत और बाह्य स्वरूप की माधुरी अमृत के समान है। इस माधुर्य के प्रति सहज स्वाभाविक रुचि एकनाथ के अन्त करण मे पहले से ही थी। परन्तु उसको प्रेरणा देने वाले श्री जनार्दन स्वामी ही थे, जिनकी कृपा से आनन्द को जीवन दायिनी वर्षा उन पर होती ही रही। इसी प्रेम वर्षा से एकनाथ के अन्त करण की वृत्तियाँ निरन्तर भावविभोर होती ही रही। इसकी यथा योग्य अभिव्यजना वे इस प्रकार करते हैं[2]—

> हे भानुदास कुळवल्ली। निजात्म मडपा वेली गेली।
> एका जनार्दन पुष्प फळी। संत सुखी ये हेतू ॥५०६॥
> एका जनार्दन परिपूर्ण। जन जनार्दन अभिन्न।
> हे ज्यासि आकळे खूण। स्वात्मसुख जाण तोचि लाभे ॥५३६॥

सत भानुदास के कुल मे उत्पन्न काव्य प्रतिभा रूपी लता लहलहाकर एकनाथ तक आ पहुँची तथा उनकी आस्था के वितान पर चढ़कर मडराने लगी। स्वामी जनार्दन की कृपा से इसमे फल-फूल आदि लगे। वे सब सत जनो के सुख के काम आ सके। एक प्रकार से अपने ही स्वात्मसुख की आत्मकथा सुनने के लिए विवेक वैराग्य और श्रद्धावान श्रोता मिल जाने पर उनकी अवस्था अद्वितीय बन जाती है। इस अवस्था के सामने समाधि अवस्था का सुख भी अपने आपको उस पर न्यौछावर करने लगता है। गुरु और शिष्य परिपूर्ण रूप से अभिन्न हैं। इस तथ्य का जो अनुभव कर सके वही स्वात्मसुख को लूट सकता है।

एकनाथ का चतुर शिष्य—

एकनाथ के २४ वर्ष की अवस्था मे शक १४७२-७४ मे अपनी इस अनुभव-सिद्ध तृतीय कृति को प्रस्तुत किया होगा। हम देखते हैं कि अब तक एकनाथ मे काफी निखार आ गया था। एक प्रौढ साहित्यकार का व्यक्तित्व उनमे धीरे-धीरे पनप रहा था। जो अब इतना प्रगति-शील हो गया था कि ज्ञान प्राप्ति और

१. श्री एकनाथ कृत 'स्वात्मसुख'—ओवी ४७२।
२. " " " ५०६-५०६।

स्वात्मसुख परिपक्व दशा में ले सकने में अपने आपको समर्थ और सम्पन्न पाने लगा था। एक बार श्रीमद् आद्य शंकराचार्य ने अपने परम शिष्य हस्तामलकाचार्य से प्रश्न किया—

> कस्त्वम् शिशो कस्य कुतोसि गंता। किन्नीयते त्वांकुत आगतोसि।
> एतन्मयोक्तम वद चार्भकत्वम्। मत्प्रीतये प्रीति विवर्धनोसि॥

हे मेरे प्रिय शिष्य। तुम किस के पुत्र हो? कहाँ जाने वाले हो? तुम्हें कौन ले जाता है? कहाँ से आये हो? मेरे द्वारा तुम्हें अब तक जो कुछ बतलाया गया है उसे इस प्रकार समझकर कहो जिससे तुम मेरी प्रीति के पात्र बन जाओगे। *'श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने अपने परम शिष्य के हृदयस्थ ज्ञान को' 'करतलगत आमलक* फलवत्' जाँचना चाहा था, तब उसने 'हस्तामलक' लिखकर अपने 'शाब्दे परेच निष्णातः' होने का परिचय दिया था। इसी 'हस्तामलक' जैसे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पर मराठी में टीका लिखने का आदेश जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को दिया। इसमें अपने गुरु का क्या अभिप्राय हो सकता है इसे एकनाथ एक चतुर एवम् निष्णात शिष्य होने से पूर्ण रूप से समझ गए थे इसका वर्णन द्रष्टव्य है[1]—

> शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त। चिन्मात्रैक सदोदित। निजानन्दे आनन्द भरित।
> तो मी येथ निज बोध ॥८०॥
> जनार्दनचि स्वयें जन। हें ज्ञानाचे निज ज्ञान। एकाजनार्दन शरण।
> सन्त सम्पूर्ण तुष्टले ॥९३॥[2]

हस्तामलक ने आद्य शंकराचार्य को जो कुछ सुनाया उसे ही सद्गुरु जनार्दन स्वामी के पास प्रिय शिष्य श्री एकनाथ अपनी मराठी टीका में उसी प्रकार अत्यन्त हृद्य और गंभीर शैली में अभिव्यक्त करते हैं। जिस गूढ़तम ब्रह्मज्ञान को तुमने *अपरोक्षानुभूति के साथ स्वसंवेद्य कर लिया, इसी को तुम शास्त्रीय पद्धति से* समूचे स्वरूप सहित विशद प्रकार से वर्णन करो क्योंकि इसमें श्रीमदाचार्य का पूर्ण मनोगत है तथा इसका महत्व भी उच्चकोटि का है। श्री एकनाथ आगे चलकर कहते हैं कि अपने सद्गुरु की इस इच्छा को वे अपनी टीका में अभिव्यक्त कर सके, इसका एकमात्र कारण श्री सद्गुरु हैं, क्योंकि इस कार्य में उनको प्रेरक एवं सहायक श्री जनार्दन स्वामी के सिवा और कोई नहीं हुआ। इसीलिये वे उनकी पूर्ण रूप से शरण गये हैं। इस ग्रन्थ में पारमार्थिक ज्ञान का जो भी निरूपण हुआ है उसका सारा श्रेय वे उनको ही दे देते हैं। हम यों कह सकते हैं कि हस्तामलकाचार्य ने

---

१. *श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी संख्या ८०–८३ (९३)।*

२. श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी सं० ७०, ७२,७३, ९३।

अपनी स्वानुभूति को 'शाब्देपरेव निष्णात' व्यक्त कर अपनी शास्त्र वृत्ति का शंकराचार्य को एक परीक्षार्थी के नाते जैसे परिचय करवाया, उसी तरह अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय उसी भावना से भिक्त होकर एक परीक्षार्थी के नाते अपने गुरु को श्री एकनाथ ने करवाया। 'हस्तामलक' के प्रयास और शास्त्रीय ज्ञान को देखकर जो आनन्द शंकराचार्य को हो गया था उसी कोटि का आनन्द जनार्दन स्वामी को एकनाथ के कार्य से मिला। उन्हें यह ज्ञात था कि इस कार्य में उनके गुरु बराबर उनके साथ रहे हैं जिनकी प्रेरणा और बल से इसमें जो अपरोक्षानुभूति का निरूपण है वह यही बतलाया है कि सद्गुरु की शरण जाना चाहिए जिससे मत जन भी संतोष प्राप्त कर लेते हैं।

सद्गुरु प्रेरित कार्य -

अत्यन्त विनम्रता से पुन एकनाथ यह निवेदन करते हैं[१] —
हस्तामलकाची टीका। एक्ता कर्ता नव्हे एका।
साह्य जनार्दन निज सखा। ग्रन्थार्थ नेटका अर्पिला तेणे ॥६६९॥
पूर्ण जाले निरूपण ॥ पूर्ण म्हणावया म्हणते कोण।
खुंटला बोल तुटले मौन। आनन्दघन अद्वयात्मा ॥

इस टीका के लिखने में मुझे पूरी सहायता जनार्दन स्वामी से मिली। अतएव यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। इसका कर्तृत्व मेरा निजी जरा भी नहीं है यही एकनाथ कहते हैं। इसका निरूपण करने में सद्गुरु की कृपा ही सहायक हुई है। यहाँ वाणी के शब्द भी समाप्त हो गए-मौन भी टूट गया और आनन्द-घन अद्वयात्मा का अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया।

अपनी चौथी कृति २५-२६ वर्ष की अवस्था में शक १४७५ में प्रस्तुत की है, ऐसा संभव जान पड़ता है।

एकनाथ की विकसनशील पारमार्थिक साधना—

इस तरह अपने प्रियतम शिष्य की परीक्षा ले लेने पर उनके गुरु ने उनको और उच्च स्तर का अनुग्रह देकर साधना करवाई और स्वयम् उनको साथ लेकर यात्रा के लिए निकले। गोदावरी नदी के तट पर नासिक त्र्यम्बकेश्वर में चन्द्रभट नामक ब्राह्मण से 'चतुःश्लोकी-भागवत' पर पुराण विवेचन सुनाकर श्री जनार्दन स्वामी जी ने एकनाथ महाराज को आज्ञा दी कि तुम अब इस चतुःश्लोकी भागवत पर यहीं पर टीका लिखो। एकनाथ इस प्रसंग का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

१ एकनाथ- हस्तामलक ओवियाँ ६६८-६७०।

> 'जनार्दन म्हणती एकनाथा सांगतो वचन ऐक आता ।
> श्री दत्त वरद तुझिया माथा । साधला अवचिता निज भाग्ये ॥
> चतुःश्लोकी जे भागवत । चंद्र भटें आणिले ते सांगत ।
> त्याजवरी टीका करावी प्राकृत प्राजळ बहुत ये त्यासी ॥'[१]

जनार्दन स्वामी ने एकनाथ से कहा कि 'तुम पर श्री दत्त भगवान का वरद हस्त है अत यह अवसर तुम्हें प्राप्त हो गया है। इसलिए इसी स्थान पर इस चतुःश्लोकी भागवत पर मराठी में टीका रचो। अब तक एकनाथ के द्वारा चार कृतियाँ प्रस्तुत की गई थीं जिनमें उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के विभिन्न प्रयोग किए थे। अतः उनका यह ग्रन्थ उनकी विकसनशील प्रतिभा के स्वरूप को हमें बतलाता है। उनके गुरु का अपने शिष्य पर पूर्ण विश्वास था जिसे एकनाथ की वाणी में ही सुनना उपयुक्त होगा।

> तेणे स्वानंदे गर्जोन । श्री मुखे स्वये जनार्दन ।
> बोलिला अति सुखावून । हे वर्णी गुह्यज्ञान देशभाषा ॥
> तथा माझी मध्यम अवस्था । नेणे संस्कृत पद पदार्था ।
> बाप आज्ञेचि सामर्थ्यता । वचने यथार्थ प्रबोध झाला ॥[२]

आदि कल्प के प्रारम्भ में समुद्र के जल में स्थित ब्रह्मा जडमूढ़ हो गया, और सृष्टि रचना करने की विधि भूलकर अज्ञान से आवृत्त हो गया। उस समय विष्णु के नाभिकमल में कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को अपनी अस्मिता भी विस्मृत हो गयी तब श्री नारायण ने उसे अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान देने के हेतु अपनी चिद्घन-मूर्ति का दर्शन दिया। नारायण की दिव्य मूर्ति देखते ही ब्रह्मा में दिव्य स्फूर्ति का उदय हुआ और अज्ञान तिरोहित हो गया। यही इतिहास शुक मुनि राजा परीक्षित को सुनाते हैं, जो 'चतुःश्लोकी भागवत' कहलाता है। यहाँ पर ऐसा लगता है कि श्री जनार्दन स्वामी एकनाथ महाराज के मन-पटल पर सगुण भक्ति का स्वरूप विशेष रूप से अंकित करवाना चाहते हैं। इसीलिए 'चतुःश्लोकी भागवत' की टीका लिखने का आदेश उनको स्वामीजी ने दिया। एकनाथ कहते हैं कि इस समय मेरी मध्यम अवस्था है। (सम्भवतः उनकी आयु लगभग तीस से अधिक की इस समय रही होगी।) मेरी बुद्धि संस्कृत के पद पदार्थ समझने लायक प्रगल्भ नहीं थी। पर अपने पिता सदृश गुरु की आज्ञा में कितना बल होता है इसका अनुभव

१. एकनाथकृत चतुःश्लोकी भागवत टीका।
२. एकनाथकृत चतुःश्लोकी भागवत टीका।

करते हुए उसी सामर्थ्य की सहायता से मैंने टीका लिखी। जिसके विवेचन का कार्य ठीक और यथार्थ रूपेण उनके वचनानुसार ही हुआ।

गुरुकृपा और समर्थ शिष्य का अधिकार तथा सगुणोपासना का महत्व—

जनार्दन स्वामीजी के परीक्षण और निरीक्षण एवम् प्रत्यक्ष मार्गदर्शनानुसार एकनाथ का साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्तित्व विकसनशील बनता गया। अपने गुरु की कृपा से उनकी साहित्य साधना और शास्त्रीय ज्ञान वर्धिष्णु हुआ। अद्वैत और निर्गुण परब्रह्म की अनुभूति एवम् साक्षात्कार अपनी कर्मठ उपासना से और ज्ञान सम्पन्नता से वे लेते रहे। *परन्तु यह ब्रह्मानुभूति उनके समग्र जीवन के लिए* पर्याप्त और उपयुक्त न थी। अपने गुरु में दृढ़ विश्वास रखने वाले एकनाथ की हरबार सहायता जनार्दन स्वामी ने की है। इसे अब तक उनके निरूपित ग्रन्थों के वचनों से साधार रूप से हमने देख लिया है। हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अभी इसमें और परिपक्वता आने की गुंजाइश है। क्योंकि तभी तो अन्ततोगत्वा *परमकारुणिक एकनाथ का प्रखर और पूर्ण ओजस्वी समर्थ व्यक्तित्व जीवन की* गहराइयों मे प्रत्यक्ष पैठकर, उसमें से मोती निकालकर अपना लौकिक और पारमार्थिक दोनो तरह का सुख सुस्पष्ट रीति से प्राप्त कर सकता है। इसकी पूर्ण कल्पना उनके गुरु को थी। नित्य कर्म करते हुए साधक के लिए उसके बल पर *भक्तानुग्रह बहुत फलदायी होता है। ऐसा अनुभव साधक तभी ले सकता है जब वह स्वावलम्बी बनकर ईश सहायता और गुरुकृपा से असीम और अटूट विश्वास का* आधार प्राप्त कर लेता है। तब वह जिस कार्य को हाथ में ले लेता है उसे उत्साह पूर्ण और आशा से पूरा कर लेता है। इसका प्रमुख कारण सगुण उपासना का महत्व है। इसी बात का महत्व एकनाथ के हृदय मे ठोस रूप में अङ्कित हो जाय इस लक्ष्य को सामने रखकर जनार्दन स्वामी ने उन्हें 'चतुःश्लोकी भागवत' की मराठी में टीका रचने का आदेश दिया था। अपनी गुरु की इच्छा और अपेक्षा को एकनाथ परिपूर्ण कर सके ये इसका पता हम उनके द्वारा अभिव्यक्ति सशक्त और विद्वत्ता पूर्ण विवेचनो से पा लेते हैं। यहाँ पर उनकी वाणी उन्मुक्त और निर्मम बन गई है। यथा[1]—

> वासिष्ठाचे वचनासाठीं। सूर्य मंडळीं तपे ढाटीं।
>
> शिळा तरती सागरपोटीं। श्रीरामदृष्टि प्रतापें ॥१०२३॥

---

१. एकनाथ—चतुःश्लोकी भागवत मराठी टीका, ओवी संख्या १०२३-१०३६।

एका आणि जनार्दन । नाथें भिन्न स्वरूपें अभिन्न ।
या लागी ग्रंथाचे निरूपण । पूर्णत्वे सम्पूर्ण झाले ॥१०३६॥[1]

गुर्वाज्ञा बडी सामर्थ्यवान होती है और उसका प्रभाव भी बडा सिद्ध होता है इसका एकनाथ स्वयं अनुभव करते हैं। विश्वामित्र और वशिष्ठ मे श्रेष्ठ कौन इस पर चर्चा छिडी तब भगवान विष्णु के पास मुनि वसिष्ठ के वचन की सत्यता का प्रमाण देने के लिए सूर्य को जाना पडा। उस समय सूर्य के स्थान पर वशिष्ठ की लगोटी ही सूर्य की तरह तपती रही। गुरु का प्रताप कितना सामर्थ्यशाली होता है इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। मैं भी उसी तरह गुर्वाज्ञा का पालन कर इस ग्रन्थ पर टीका लिखने मे सक्षम हो गया। गुरु आज्ञा के सामर्थ्य का ही यह परिणाम था कि राम दृष्टि के प्रताप से शिलाएँ समुद्र मे तरने लगीं। जिस तरह महर्षि विश्वामित्र के वाक्य से कौशिक को स्वर्ग मे स्वतन्त्र स्थान मिला। उसी प्रकार से मैं (जनार्दन स्वामी का एकनाथ) भी गुरु कृपा के प्रताप से पूर्ण रूपेण ज्ञान का अर्थ करने में सफल हुआ। इस गुरु आज्ञा का सामर्थ्य कितना आश्चर्य पूर्ण और कौतूहल जन्य है इसे जरा देखिए तो सही। जब-जब मेरे मन मे आया कि मैं इस ग्रन्थ को पूर्ण न कर सकूँगा तब उस ग्रन्थ का अर्थ मेरे अन्तःकरण में अपने आप स्फुरित होने लगा तथा बल पूर्वक उसमे वर्णित ज्ञान के अक्षय भंडार सामने आ गये। इस ग्रन्थ निर्माण कार्य मे लगे रहने पर रोज का नित्य नैमित्तिक कर्म करते समय उसमे मग्न रहने पर भी ग्रन्थ के गूढार्थ स्वयपूर्ण रूप से सुझाई देने लगे। गुरु-आज्ञा के सामर्थ्य से और प्रभाव से ग्रन्थ का अर्थ मेरी दृष्टि के सामने मूर्तिमान होकर खेलता सा नजर आता गया। उस आज्ञा ने मेरे पीछे लगकर साधारण बातो मे भी ज्ञान प्रकट कर दिखाया। नित्य नैमित्तिक सध्या स्नानादि कर्मों को पीछे रखकर ग्रन्थार्थ उनके आगे आकर पूर्ण प्रकार से प्रकट हुआ। जागृतावस्था मे, स्वप्न मे, सुषुप्तावस्था मे सर्वत्र ग्रन्थार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न बचा। पारमार्थिक गुह्य ज्ञान ठोस और सघन सगुण साकार रूप में मूर्तिमान होने लगा। मेरी ऐसी अवस्था हो गई कि जब ग्रन्थ लिखने बैठा तो शब्दो के आगे ज्ञान और ओवियों के आगे अर्थ दौडता हुआ प्रत्यक्ष सामने आने लगा। मैं जिस-जिस बात का चिन्तन करने लगा वही अर्थ बनकर प्रकट हो गया। सद्गुरु की आज्ञा इतनी गाढी और बलिष्ठ होती है कि वह शिष्य को एक क्षण भर भी चैन से नहीं बैठने देती। मैंने यही अनुभव किया कि गुर्वाज्ञा ग्रन्थारम्भ से ग्रन्थ के अन्त तक मेरी प्रेरक और स्फूर्तिदात्री रही। चतुःश्लोकी भागवत मे मथित ज्ञान अपनी

---

१. एकनाथकृत—चतुःश्लोकी भागवत मराठी टीका संख्या १०२३-१०३६।

टीका मे मैं ला सका यह समर्थ गुरुआज्ञा के समर्थ प्रताप का परिणाम था। एकनाथ अपने समस्त भावो महित गुरु पर पकजो मे नतमस्तक हो जाते है। पारमार्थिक ज्ञान से परिपूर्ण ग्रन्थ चतु.श्लोकी भागवत सारे महाभागवत का रहस्य अपने मे समेट चुका है। परन्तु वह सारा सद्गुरु के सामर्थ्य से ही सप्रात हो सका। अतएव अकेला एकनाथ उसका कर्ता नही है प्रत्युत इस टीका के अभिव्यजन मे उसके मागोपागो महित सद्गुरु जनार्दन स्वामी ही प्रकट हुए हैं। एकनाथ और जनार्दन स्वामी ये दोनो नाम अलग हैं परन्तु इनका स्वरूप अभिन्न है। इसीलिए ग्रन्थ के निरूपण के साथ ही जीवन का पूर्णत्व मैं जान सका।

एकनाथ एक पात्रतम शिष्य—

इस कृति को प्रस्तुत करने के बाद सगुण भक्ति का महत्व एकनाथ भली-भाँति समझ गये थे। ऐसा निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाला जा सकता है। एकनाथ की शिक्षा दीक्षा और सवर्धन उनकी निगरानी मे हुआ था। अतएव उन्होने इस बात का पूर्ण रूप से ध्यान रखा कि अपने प्रियतम शिष्य के विकसन-शील प्रगति मे शास्त्रीय ज्ञान और साधन की कोई कमी न रह जाय। इसी सतर्कता के कारण एकनाथ उनके पात्रतम शिष्य बन गए। साहित्यकार और भक्त कवि के नाते स्वतन्त्र रचना, टीका ग्रन्थ इत्यादि के प्रयोगो से ब्रह्मानुभूति के सवेदन का इतने विस्तृत और विशाल प्रमाण मे शायद ही किसी को सुअवसर मिला हो। अद्वैत वेदान्त की तर्क कर्कश ज्ञान की तथा यौगिक कठिन साधना को पचाकर श्री एकनाथ अपने हृदय पक्ष से सगुण ब्रह्म के साक्षात्कारी भावाभिव्यजन के कार्य मे भी पटु बन गए। अब उनमे यह आत्म विश्वास दृढ हो गया कि वे अब लोकाभिमुख रचनाएँ सर्जन कर सकते हैं। यह आत्मविश्वास उनके विरचित एक अभग के उदाहरण से देखा जा सकता है।

सगुणोपासना मे आस्था[1]—

सगुण चरित्रें परम पवित्रें सादर वर्णावीं।

× × ×

एका जनार्दनी भक्ती मुक्ती होय तत्काळीं॥

परम पवित्र, सगुण चरित्रों का अत्यन्त आदर सहित वर्णन करना चाहिए। सज्जन लोग सगुण चरित्र वालो के प्रति आस्था रखते हैं अत सर्वप्रथम आदरयुक्त अन्त करण से प्रभु का नाम गाना चाहिए। कीर्तन रग मे आकर भगवान् के

१. एकनाथ अभगों की गाथा पृ० १७१ अभंग १६७५।

सामने सुख से तल्लीन होकर उसमें झूम उठना चाहिए। भक्ति और ज्ञान को छोड़कर अन्य बातें न की जाय। प्रेमपूर्वक वैराग्य और विवेक की युक्तियों सहित अन्य बातों का निराकरण किया जाय, इससे अन्तःकरण में श्री हरि की सगुण-मूर्ति का ध्यान थँस जायगा और वही चिरतन रूप में स्थित हो जायगा। सन्तों के घर की कीर्तन मर्यादा इसी प्रकार की होती है। अद्वय भाव से अखंड नामस्मरण करते हुए भजनानन्द में निमग्न होकर तालियाँ पीटनी चाहिए। एकनाथ कहते हैं कि भक्ति से ही मुक्ति तत्काल हो जाती है।

सगुणोपासना का परिणाम—

सगुण उपासना के प्रति ठोस आस्था और उसका महत्व एकनाथ महाराज के अन्तःकरण पर अङ्कित हो जाने से उनके जीवन में और भक्ति में स्थिरत्व आगया। परिणामतः उनमें ज्ञान की परिपक्वता आती गयी और प्रौढ़ता और पाण्डित्य में वे परिपूर्ण बन गये। गुर्वाज्ञा से भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों की अर्थात् उत्तर में मानस आदि और दक्षिण में रामेश्वर आदि स्थानों की यात्राएँ कीं। स्थान-स्थान पर उन्होंने तद्युगीन जन जीवन की परिस्थिति को देखा तथा अनेक प्रसिद्ध सन्तों के साथ सत्संग भी किया। इस यात्राकाल में उनका योग-क्षेम श्रीकृष्ण परमात्मा की कृपा से सुचारु रूप से चला। इससे सगुण भक्ति की भावना उनमें दृढ़ से दृढ़तर और दृढ़तर से दृढ़तम होती गयी। कहना न होगा कि सारे उत्तर-भारत में प्रचलित युग की सगुण-भक्ति को विशेष रूप से उन्होंने आत्मसात किया होगा और अपने शास्त्रीय ज्ञान तथा हृदय में उद्भूत सगुण भक्ति के आधार पर उसे और पक्का कर लिया होगा। इस आदान-प्रदान से अपने इष्टदेव के चरित्र का गुणगान किया जाय यह भावना उनमें दृढ़ होती गयी। पैठण में आकर अपने गुरु की आज्ञा से एक आदर्श गृहस्थाश्रमी सन्त एवं भक्त बनकर लौकिक और पारमार्थिक जीवन सफलता से निभाते रहे। अपने जीवन के इतने लंबे अरसे में शास्त्रीय ज्ञान, हृदय प्रवृत्तिनुसारिणी सगुण-भक्ति, चार ग्रन्थों की सर्जना, अपने सद्गुरु के प्रति दृढ़विश्वास और तज्जन्य लोक मंगलकारिणी वृत्तियों से वे एक पूर्ण रूप में साधु, पण्डित और विद्वान सन्त और भक्त का आचरण करने वाले गृहस्थ बन गये। शास्त्रीय ज्ञान की सुसम्पन्नता, पंडितों के साथ मैत्री देशाटन में सम्प्राप्त अनुभवों और अन्वीक्षण की विस्तृत और व्यापक लोकाभिमुखी दृष्टि ने उनमें एक अद्वितीय एवं तेजस्वल प्रतिभा का उन्मेष जगा तथा उनकी वाक् सर्वत्र प्रकर्ष रूप में झमती गई।

चतुःश्लोकी भागवत की रचना करने के बाद एकनाथ ने अभंगों की

रचना भी आरम्भ कर दी थी। अपनी भाव भीनी इस नव-नवोन्मेषमयी अनुभूति की इस विधा को उन्होंने अपने गुरु को बतलाना चाहा क्योंकि यह उनका विश्वास था कि ज्ञान का प्रभाव और काव्य की प्रेरणा गुरु की महिमा एवम् कृपा का ही फल है। इस महिमा को वे इस प्रकार मुखर करते हैं—

सद्गुरु महात्म्य—

तरी जो कायावाचा मनें। अति कृपाळू दीना कारणें ॥
तोडी शिष्याची बधनें। उठवी ठाणें अहंकाराचे ॥[1]
हे स्वप्नी होन स्मरे मनें। शिष्याची सेवा स्वयें करणें।
पूज्यत्वे पाहणें निज शिष्या ॥[2]

काया वाचा मनसा सद्गुरु दीनो के लिए अत्यन्त कृपावान हो जाते हैं। अपने शिष्यो के अज्ञान के बधनो को दूरकर वे उन्हे परम ज्ञानी बना देते हैं। उनके अन्त करण से अहङ्कार का निवास हटा देते हैं। फलत वे अहङ्कार रहित निर्मल स्वभाव के शिष्य बन जाते हैं। सद्गुरु शब्द ज्ञान में पारगत, ब्रह्मानन्द मे सदा निमग्न, शिष्य प्रबोधन मे किसी भी प्रकार की शकाओं का निर्मूलन कर सकने मे सक्षम तथा शिष्यो का पूर्ण समाधान करने वाले होते हैं। उनका इस प्रकार का सहज स्वभाव बन जाता है। अत उनके शिष्यो मे से जिसका जैसा भाव होगा उसी के अनुरूप उसे अनुभव प्राप्त होने लगते हैं। ऐसे महापुरुषो को अपने गुरु होने का कतई अहकार नही है और न वे अपने शिष्यो से किसी प्रकार की कभी कोई सेवा भी लेते हैं। अपने शिष्य की प्रतिष्ठा रखते हुए उसे उच्चस्तर पर ले जाने की तत्परता जिसमे सदा विद्यमान रहती है ऐसे सद्गुरु की महिमा अपार है।

इस तरह गुरु-महिमा गाकर अपने स्फुट काव्य के रूप मे लिखे गये एवम् रचे गए अभगो को उन्होने अपने गुरु को दिखाया। इन अभङ्गो के बारे मे श्री जनार्दन स्वामी ने जो अभिप्राय अभिव्यक्त किया है वह द्रष्टव्य है—

परी नवल त्याचे लाघव। अभंगीं घातले माझे नाव।
देखो भावाचा निज भाव। उरावया ठाव नुरवीच ॥९८॥[3]

उनका निवेदन है कि मुझे अपने पत के कारण जो ज्ञान अपने गुरु से उपलब्ध हुआ उसके परिणाम स्वरूप मे भक्त बन गया। पर भक्ति रस के उन्मेष मे जो कुछ भी प्रकट हो गया उसमे मेरा कुछ भी न था जरा इस कौतुक को

१ एकनाथी भागवत अध्याय ३-२९७।३००।
२. " " "
३. " " १-९८।

देखिए कि इन अभङ्गों में मेरी छाप अर्थात् मेरा नाम उन्होंने लिखवाया। वास्तव में ये भाव मेरे न थे, पर उनकी निस्पृहता ने अभिमान रहित होकर इन अभङ्गों को उन्होंने मेरा ही बतलाया और कहा[१] —

> यया वचना सन्तोषला। म्हणे मना रे भला। निज भाविक
> तूचि संचला। प्रकट केला गुह्यार्थ॥
>
> × × ×
>
> तुझेनि मुखे जे जे निघे। ते सन्त हृदयी साच चि लागे।
> मुमुक्षु सारंगाची पांगिते। रुंजी निजांगे करितील॥

यहाँ पर गुरु और शिष्य दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का क्या स्वरूप था यह भी समझा जा सकता है। एकनाथ का सारा साहित्यिक और सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके गुरु के द्वारा ही तैयार किया गया था। अतः अपने अन्तःकरण की ऋजुता और कृतज्ञता जब एकनाथ व्यक्त करने लगते हैं, तब वे अत्यन्त विनम्र हो जाते हैं। तथापि उनके हार्दिक आदर भाव को समझते हुए श्री जनार्दन स्वामी अपने शिष्योत्तम के लिए वात्सल्य भावना प्रकट करते हैं। इसीलिए उन्हें एकनाथ के प्रार्थना वचनों से परम सतोष प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि भाई! तुम्हारी काव्यधारा में तुम्हारे ही निजी भाव अभिव्यक्त हुए हैं। गूढ एवम् रहस्यात्मक पारमार्थिक ज्ञान को तुमने अपने स्वानुभव से सिद्ध कर काव्य में प्रकट कर दिया है। इसे मैं क्या यह मानूँ कि इसमें मेरी स्तुति है अथवा यह मानूँ कि इसमें मात्र निरूपण ही है। यह ग्रन्थ-पीठिका है अथवा वस्तुज्ञान? साहित्य के मर्मज्ञ और ज्ञानी भी इसे आसानी से नहीं समझ सकेंगे किन्तु तुमने उसे अपने विवेक से और अन्तःकरण की भाव मयता से समझ लिया है, और उसके रहस्य को प्रकाशित कर अभिव्यक्त कर दिया है। अपनी वाणी के इन स्वरों में जो गूँज उठा है उसमे सतोष को भी सन्तोष उत्पन्न हो गया है। सन्त हृदयों को तुम्हारे मुख से निकले हुए वचन सत्य प्रतीत होते हैं। मोक्ष की जिज्ञासा रखने वाले पारमार्थिक सहृदय रसिक जन इस मरम काव्य के इर्द-गिर्द सदा मँडराते रहेंगे। इस तरह गुरु के अभिप्राय को सुनकर श्री एकनाथ को परम सतोष प्राप्त हुआ। वास्तव में 'चतुःश्लोकी भागवत' के बाद कालानुक्रम से अभङ्गों पर विचार करना चाहिए था परन्तु हमने स्फुट काव्य का परामर्श बाद में लेने का निश्चय किया है। अतः अब हम 'एकनाथी भागवत' का एक महान ग्रन्थ के नाते विवेचन करेंगे।

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ९९–१०२।

'एकनाथी भागवत' एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है।

गुरु आज्ञा से श्री क्षेत्र पैठण मे उत्स्फूर्त होकर अपनी निजी प्रज्ञा और गाढी विद्वत्ता के प्रगाढ आत्मविश्वास से एकादश स्कंध पर टीका लिखना उन्होंने आरम्भ किया। अपनी आयु के ३५ से ४० वर्ष तक उन्होने भागवत का प्रगाढ अध्ययन, स्फुट रचनाएँ निर्माण कर ली थी, तभी कर लिया था। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ पैठण मे कर वाराणसी मे उसे समाप्त किया था। इसके बारे मे उनके महाग्रन्थ की अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार है—

तैसे माझेनि नावें। ग्रन्थ होती स्वभावें। आज्ञा प्रताप गौरवें।
गुरु वैभवें सार्थकू ॥[1]
म्हणवोनि एकादशाची टीका। एकादशीस करी एका।
एकपणाचिया सुखा। फळेल देखा एकत्वें ॥

× × ×

वाराणसी महामुक्ति क्षेत्र विभ्रम शक संवत्सर।
शके सोळाशे तिसोत्तरा। टीका एकाकार जनार्दन कृपा ॥
महामगळ कार्तिक मासी। शुक्ल पौर्णिमे सी।
सोमवार शिवयोगेसी। टीका एकादशी समाप्त जाहली।
स्वदेशीचा शक सवत्सर। दडकारण्य श्रीरामक्षेत्र।
प्रतिष्ठान गोदावरी तीर। तेयील उच्चार तो ऐका ॥
शालीवाहन शक वैभव। सख्या चौदाशे पचाण्णव।
श्रीमुख संवत्सराचे नांव। टीका अपूर्व तें जाहली ॥[2]

दडकारण्य के श्रीराम क्षेत्र की प्रतिष्ठान नगरी मे गोदावरी तीर पर माघ-शुद्ध एकादशी के दिन पूर्वा नक्षत्र रहते हुए प्रातःकाल पूर्व वेला मे शक १४६१–६२ तथा सवत् १६२६–२७ मे 'एकनाथी-भागवत' का लेखन आरम्भ हुआ तथा मोक्षदा-पुरी वाराणसी मे शक १४६५ तथा सवत् १६३० मे महामगलदायक कार्तिक शुक्ल-पक्ष पूर्णमासी तथा सोमवार के दिन इस महाग्रन्थ का लेखन पूर्ण हुआ। जनार्दन स्वामी जैसे सद्गुरु की समर्थ आज्ञा के वैभव को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचाकर दिखाने का महान् कार्य एकनाथ के द्वारा सुसम्पन्न हुआ। इस एकादश स्कंध की टीका लिखने वाला 'एका' अर्थात् एकनाथ एकात्म भाव से इसे पूर्ण कर सका।

१. एकनाथी भागवत प्रथम अध्याय–१०८–११४ और
अध्याय ३१ ओवियाँ ५५०–५५३।

२ " " " " "

इसमें एकनाथ ने दृढ़ निश्चय पूर्वक अपने गुरुदेव से मधात ज्ञान के साक्षात्कारी स्वरूप को सहज और प्रेषणीय बनाकर अपनी टीका में प्रस्तुत कर दिया है। इसके द्वारा पाठक और श्रोता जीवात्मा और परमात्मा के एकात्मक तादात्म्य एवम् सुखानुभूति को प्राप्त कर लेंगे।

श्रीमद् भागवत का आध्यात्मिक महत्व—

भारतीय वैष्णव साहित्य में श्रीमद्भागवत महाग्रन्थ का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। विष्णु पुराण, हरिवंश और भागवत इनमें से भागवत पुराण विशेष लोकप्रिय है। इसका कारण यह है कि इसके रचयिता में विद्वत्ता और कवित्व का मधुर और अपूर्व संयोग हुआ है। भागवत में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्संग, सच्चरित्र, गुरुसेवा, आदि पारमार्थिक अङ्गों का विवेचन, सृष्टि का आरम्भ, प्रलय और जन सामान्य मानवी व्यवहारों आदि का सम्पूर्ण निरूपण करना यह प्रमुख उद्देश्य होने से कई बार पुनरावृत्ति भी हुई है। विष्णु के अवतारों की महिमा इसमें बताती गई है। इस मूल ग्रन्थ का रचयिता वेदान्त विषय का प्रगाढ़ ज्ञाता और सरस प्रतिभा सम्पन्न कवि होने से भागवत का प्रचार अन्य वैष्णव ग्रन्थों से अधिक हुआ, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी श्रीकृष्ण चरित्र प्रमुख रूप में निवेदन करना यह बात श्रीमद् भागवत कार के सामने रही है। भगवान् वेद व्यास ने महाभारत की रचना की। परन्तु अस्वस्थता बनी रही। अठारह पुराण लिखे और परोक्ष ईश्वर ब्रह्म का वर्णन किया, फिर भी जब मन की अशांति नहीं गयी तब उन्होंने श्रीमद् भागवत लिखा। इसमें यह बताया गया है, कि नररूप धारी लीला लाघवी भगवान् साकार सगुण बनकर इस संसार में मानव की तरह व्यवहार, आचरण, आदि करते हैं। नारद-व्यास संवाद में उनके अन्त करण की बेचैनी का पता चल जाने पर व्यास भागवत रचते हैं। और अपने पुत्र शुक मुनि को सुनाते हैं। ऋषि शाप से मरणासन्न राजा परीक्षित शुक से उसे सुनते हैं। इस ग्रन्थ के कथन की यह परम्परा है। भगवद् भक्ति परक यह ग्रन्थ होने से इसमें भगवान् और उनकी भक्ति का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

अनेक विष्णु के अवतारों में से यादव कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण का अवतार सर्वश्रेष्ठ होने से उनकी भक्ति श्रेयस्कर है, यही इसके प्रतिपाद्य विषय का मुख्य सूत्र है। इसके कुल द्वादश स्कंध हैं। कौरव पांडवों के संघर्ष की बातें इतिवृत्त के रूप में प्रथम स्कंध में निरूपित हैं। कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न इसमें भी हैं पर परीक्षित से विशेष सम्बन्धित यह रहा है। दूसरे स्कंध में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विवेचन करते-करते नवम् स्कंधों तक भागवत कार ने अनेक आख्यानों में अवतारों आदि पर

प्रकाश डाला है। दशम स्कंध के दो खण्ड हैं। पूरा श्रीकृष्ण चरित्र इस स्कंध के इन दो खण्डों में विवेचित है। पूर्व खण्ड में श्रीकृष्ण जन्म से उनकी शैशवावस्था पौगंडावस्था का विवेचन और वर्णन है। उत्तर खण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण के तारुण्य और रासलीला-गोपीव्यवहार आदि विषय वर्णित हैं। श्रीकृष्ण के पुरुषार्थ विषयक चरित्र का भाग उत्तर खण्ड में है। वैष्णव भक्त कवियों के द्वारा दशम स्कंध पर ही या उनके प्रसङ्गों पर ही अनेक रचनाएँ विभिन्न भारतीय भाषाओं में अधिक रची गयी हैं। एकादश स्कंध को उद्धव गीता भी कहते हैं। बारहवें स्कंध में इन पुराणों का उपसंहार है। श्री एकनाथ का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' दशम स्कंध की एक कथा पर आधारित है। श्रीकृष्ण अपनी लीला संवरण कर निज धाम को जा रहे हैं। इस घटना से उद्धव दुःखी हैं और बाद में उनको स्वयम् अकेले ही रहना पड़ेगा इस वियोग की तड़फाने वाली भावना ने अभिभूत कर दिया। इस कल्पित मानसिक व्याकुलता से व्यथित होकर उन्होंने श्रीकृष्ण से अनेक प्रश्न पूछे हैं। उनके उत्तर में श्रीकृष्ण ने उद्धव को उपदेश दिया है। इसी उपदेश से सारा एकादश स्कंध निर्मित है।

इस उद्धवगीता के कुल ३१ अध्याय हैं। श्री एकनाथ भागवत इसी महाग्रन्थ की टीका है। इसका प्रथम अध्याय 'विप्रशाप' नाम का है। द्वितीय अध्याय निमी जायन संवाद एवम् नारद वसुदेव संवाद है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में माया कर्म ब्रह्म निरूपण और भगवन्न अवतार कथाएँ हैं। पंचम अध्याय में वसुदेव-नारद संवाद में भगवत् सेवा के मार्ग बतलाये हैं। छठे में देवस्तुति और उद्धव विज्ञापन है। सातवें में अवधूतेतिहास उद्धव श्रीकृष्ण संवाद में वर्णित है। आठवें में पिंगलोपाख्यान है तो नवम् और दशम् अध्याय उद्धव श्रीकृष्ण संवाद से व्याप्त है। एकादश अध्याय में पूजा विधान योग है, तो द्वादश अध्याय में सत्सङ्ग महात्म्य कथित है। तेरहवें में 'हंसगीत' निरूपण, चौदहवें में भक्ति रहस्यावधारण योग है। पन्द्रहवें अध्याय का नाम सिद्धि निरूपण योग, सोलहवें का विभूति योग है। सत्रहवें अध्याय में ब्रह्मचर्य-गृहस्थ कर्म धर्म निरूपण है। अठारहवें में वानप्रस्थ सन्यास धर्म निरूपण है। उन्नीसवें में वानप्रस्थ-सन्यास धर्म लक्षण निरूपण है। बीसवें में वेद त्रयी विभाग योग विवेचन है तो इक्कीसवें में वेदत्रय विभाग योग निरूपण है। चौबीसवें अध्याय में प्रकृति पुरुष सांख्ययोग कथित है। पच्चीसवाँ अध्याय श्रीकृष्ण उद्धव संवाद में गुण निर्गुण निरूपण है। छब्बीसवाँ अध्याय ऐल गीतोपाख्यान है। सत्ताईसवें अध्याय में क्रिया योग, ध्यानयोग विवेचन है। अट्ठाईस और उनतीसवें अध्याय में क्रमश: परमार्थ-निर्णय, परमार्थ-प्राप्ति

सुगमोपायक धन और उद्धव वदरिकाश्रम प्रवेश है। तीसवें में स्वकुल निर्दलन है। इकत्तीसवाँ अध्याय मौसलोपाख्यान से सम्बन्धित है। श्री एकनाथजी ने अपनी टीका में मूल रूप से जो अध्याय जैसे विवेचित है, उनको वैसा ही रखा है, पर टीका में विवेचन स्पष्ट करते हुए अपनी प्रगाढ विद्वत्ता और स्वतन्त्र प्रज्ञा का परिचय दिया है। मूल भागवत में अध्याय ३१ हैं, तथा श्लोक संख्या १३६३ है। नाथ भागवत में अध्याय ३१ हैं तथा ओवियाँ १८८०० हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता और उद्धव गीता का आध्यात्मिक अन्तर—

'श्रीमद् भगवद्गीता' और 'उद्धव गीता' में उनके स्वरूप तथा उनके प्रतिपाद्य शैली में विभिन्नता है। जीवन में एक व्यामोह-संघर्ष एवम् द्वंद्व निर्माण हो जाने से अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कुछ प्रश्न पूछे उसका उत्तर देते हुए जो साहित्य निर्माण हुआ वह भगवद्गीता है। इसमें रस परिपोष भी देखने के लिए मिलता है। केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से देखने पर उद्धव-गीता में वह रस परिपोष नहीं मिलेगा, जो भगवद्गीता में है। भागवत के एकादश स्कंध की यह उद्धव गीता ऐसी है, जिसमें उद्धव के पूर्ण कल्पित दुःख और उसका भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया आध्यात्मिक स्तर का निराकरण है। करुण रस के क्षितिज पर शान्तरस की वनश्री भक्ति रस के जल सिंचन से जैसे हरी-भरी दिखाई देती है, ऐसा उद्धव गीता का स्वरूप है। साहित्यिक दृष्टिकोण से उद्धव गीता की यह पृष्ठभूमि रस परिपोषक होने पर भी उसमें तत्वज्ञान का जो गाढा परिपाक है उससे सामान्य सहृदय रसिकों को उनकी साहित्यिक रुचि की दृष्टि से यदि वह नीरस जान पड़े तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नाथ भागवत को समझने के लिए साहित्यिक दृष्टि के साथ परमार्थ प्रवण प्रवृत्ति जिसमें जितनी अधिक होगी उतनी ही मिठास मूल भागवत के एकादश स्कंध में, तथा नाथ भागवत की टीका में चखने के लिए उसे मिल सकती है।

ऊपर बतलाये गये स्वरूप में भगवद् भक्ति को प्राधान्य देकर एकादश स्कंध में वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यों तो परमार्थ विषयक सभी बातें एकादश स्कंध में प्रसंगवशात् प्रतिपादित हैं। परन्तु पाठक के लिए एकादश स्कंध का स्वरूप एक झमेला सा सिद्ध होता है। इस झमेले में पाठक न उलझे इसी हेतु को सामने रखकर मानो भागवतकार ने प्रथम दशम स्कंध में वर्णित तत्वज्ञान के वक्ता एवम् श्रोता का सम्पूर्ण चरित्र समूचे ढङ्ग से बताना है। भागवतकार की यह स्कंध-संगति देखकर मुझे तो अवश्य ही ऐसा जान पड़ता है, कि भागवतकार की रचना में अवश्य ही कुछ विशेष दृष्टि रही हो। विचार करने पर

यह निश्चित हो जाता है कि तत्त्वज्ञान समझने के लिए तत्त्वज्ञ के चरित्र का समीचीन ज्ञान होना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त-सूत्र को सामने रखकर ही भागवतकार ने इस प्रकार से स्कंध संगति लगाई है। वेदान्त सूत्रकार, महाभारतकार, तथा भागवतकार व्यास एक ही हैं, ऐसी जनश्रद्धा है। परन्तु विद्वानों का मत इस प्रकार का नहीं है। ईसवी सन् १००० के बाद और १२०० ईसवी पूर्व भागवत ग्रन्थ की रचना हुई है, ऐसा विद्वानों का तर्क है। अतः सूत्रकार, 'भारतकार' और 'भागवतकार' व्यास ये एक ही व्यक्ति होना असंभव है। वैसे व्यास कोई भी क्यों न रहे हों, लेकिन भागवतकार व्यास की प्रज्ञा और प्रतिभा भारतकार व्यास से कुछ कम नहीं दिखाई पड़ती। इसी कारण जन साधारण को भारतकार और भागवतकार एक ही हैं यह भ्रम होना स्वाभाविक है। प्रज्ञा और प्रतिभा की दृष्टि से दोनों एक ही जान पड़ते हैं। भागवतकार और महाभारतकार ये दोनों दार्शनिक दृष्टि से सांख्यमतवादी होकर वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के प्रतिपादक हैं। दोनों में जो अन्तर सुस्पष्ट दिखाई देता है वह है, महाभारतकार का कर्मवादी होना और भागवतकार का भक्तिवादी एवं अनन्य शरणागति का प्रतिपादक होना। श्रीमद् भगवद्गीता और एकादश स्कंधी उद्धव गीता का यही अन्तर है। इन दो गीताओं की पार्श्वभूमि भी अपने ढङ्ग की और अनोखी है। अपनी-अपनी पार्श्वभूमि पर ग्रन्थकार ने जो तत्त्वमूर्तियाँ सुचारु रूपेण खड़ी की हैं वे दोनों बड़ी ही सुहावनी और यथार्थ प्रतीत होती हैं इसी कारण जिस प्रकार से युग परिवर्तन होता जाता है उसी प्रकार के भाष्य या टीकाएँ इन गीताओं पर होती रही हैं। इन टीकाओं में से अपने तद्‌युगीन परिस्थिति का बखान करने वाली पन्द्रहवीं शताब्दी की एकनाथ महाराज के द्वारा लिखित एकनाथी भागवत यह टीका प्रसिद्ध है।

ईश्वर प्राप्ति में भाषा बाधक नहीं है।

श्री एकनाथ को इस बात का गर्व है कि उन्होंने यह टीका मराठी में लिखी है। अपने देशज लोग देशज भाषा में ही समझ सकते हैं। हरि कथा के वर्णन में एवम् भगवद्‌गुणानुवाद में भाषा का कोई बन्धन बाधा रूप में उठ खड़ा नहीं हो पाता। हरिकथा निरूपण संस्कृत में हो चाहे प्राकृत में, भगवान् तो भावों का भूखा होता है। इसलिये वे कहते हैं—

> जे पाविजे संस्कृत अर्थे। तेंचि लाभे प्राकृते।
> तरी नमनावया येथे। विषय चित्ते ते कायी ॥

× × ×

> आता संस्कृता किंवा प्राकृता । भाषा भाली जे हरिकथा ।
> ते पावनचि तत्वतां । सत्य सर्वथा मानावी ॥१२८॥[1]

संस्कृत मे अभिव्यक्त किया गया जैसे अर्थ की प्रतीति कराता है वैसे ही प्राकृत भाषा मे वही भाव अभिव्यक्त किया जाय तो वह भी अर्थ की प्रतीति कराता है। इनमे से एक भाषा मे कहा गया श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ ऐसा हम नही कह सकते। प्रापंचिक पदार्थों के नाम संस्कृत में और प्राकृत मे और अलग-अलग हो सकते हैं, पर रामकृष्णादिकों के नाम नहीं बदलते। संस्कृत का निर्माण देवों ने किया इसलिए क्या प्राकृत को चोरों ने निर्माण किया है? जो इस प्रकार के वृथाभिमान मे, भ्रम मे पड़े हुए हैं उनको वृथा ही बोलकर कहने से क्या फायदा? हरिकथा संस्कृत मे वा प्राकृत मे निरूपित हो वह सर्वथा पावन ही मानी जावेगी।

सच्चा भागवत कौन है?

भागवत वही है जो भगवन्त है इस नाते भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ और परम भागवत हैं इसके साथ ही वे ब्रह्मज्ञ हैं। इसीलिये एकनाथ का यह कथन उपयुक्त है—

> ब्रह्माहूनि ब्राह्मण थोर । हे मीच काय करूं।
> परी अद्यापि श्रीधर चरणान्कार मिरवीतु ॥[2]

ब्रह्म से ब्रह्मज्ञ श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह ब्रह्म का ज्ञाता एवम् तत्वज्ञान का प्रणेता भी होता है। सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण भागवत का वर्ण्य विषय बनकर प्रसिद्ध हुये हैं। भागवत अपने सभी कर्मों को भगवान् के प्रति निस्सीम भाव से अर्पण कर देते हैं। इसको एकनाथ बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन करते हैं। यथा—

> हेतुक अहेतुक। वैदिक, लौकिक स्वाभाविक।
> भगवंती अर्पे सकळिक। या नाव देख भागवत धर्म॥
> उदकी तरंग अति चपळ। जिकडे जाय तिकडे जळ।
> तैसे भक्ताचे कर्म सकळ। अर्पे तत्काळ भगवन्ती॥[3]

मनसा-वाचा-कर्मणा से किये गये कर्म, वैदिक शास्त्र पद्धतिसे किये गये विहित कर्म, लौकिक, स्वाभाविक प्रकार से किये गये सभी कर्म भगवान् को समर्पित करने वाले व्यक्ति भागवत धर्म को अपनाने वाले हैं ऐसा माना जाता है। जिस

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय १ ओवियाँ १२२–१२७।

२ एकनाथी भागवत अध्याय १–ओवियाँ १६१।

३ एकनाथी भागवत अध्याय २–ओवियाँ ३३५–३३७।

तरह पानी पर अनेक चपल तरंगें दिखाई पड़ती हैं और वे जिधर जाती हैं उधर सर्वत्र जल ही जल विद्यमान रहता है, वैसे ही भक्तों के सारे कर्म भगवान् को समर्पित किये जाते हैं। भगवान् जल स्वरूप हैं और भागवतों के सारे कर्म तरङ्ग स्वरूप हैं।

भगवद् भक्तों का मार्मिक स्वरूप—

भगवद् भक्तों का स्वरूप एकनाथ ने मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। यथा—

भक्तां सर्वभूतीं भगवद्भावो। तेथें विघ्नासि नाहीं ठावो।
तया अपायचि हो उपावो। मावार्थी देवो सदा साह्य॥
भक्ती वीण मुक्तिचा सोसू। करितां प्रयत्न पडे वोसू।
असो हे वैराज पुरुषू। करी प्रवेशू अव्यक्तीं॥[1]

भक्त सारे भूतमात्रों को एक ही भगवद्भाव से देखते रहते हैं। इसलिये उनके किसी भी कार्य में किसी भी तरह के विघ्न को भी प्रवेश नहीं मिल सकता। वे सदा अपने भाव पुष्प भगवान् को अर्पण करते हैं। अतः भगवान् उनके सदा सहायक होते हैं। उनके लिए दूसरों के द्वारा किया गया अपाय भी उपाय बन जाता है। जो लोग बिना भक्ति किये मुक्ति पाने का व्यर्थ परिश्रम करते हैं, उनके सारे प्रयत्न नष्ट हो जाते है। वैराग्य प्रवण राजपुरुष अव्यक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका एकमात्र कारण भगवद्भक्ति ही है।

इन सारे भक्तों को कर्म बंधन कदापि नहीं व्याप सकते। एकनाथ के शब्दों में इसे समझना ठीक होगा। जैसे—

सांडूनी देहीच्या अभिमाना। त्यजुनि देवतांतर भजना।
जे अनन्य शरण हरिचरणां। ते कर्म बंधना नातळती॥
या परी जे अनन्य शरण। तैंचि हरी सी पढियंते पूर्ण।
हरि प्रिया कर्म बंधन। स्वप्नीं ही जाण स्पर्शो न सके॥[2]

ये भागवद् भक्त अन्य देवताओं के भजनों को छोड़कर, अपने देहाभिमान को त्यजकर अनन्य शरण भाव से हरिचरण में लीन हो जाते हैं। इसलिये उनकी अनन्य-शरणता से उनके इष्टदेव प्रसन्न हो जाते हैं तथा उन्हें कर्म के बंधन नहीं व्यापते। वे हरि के प्रिय हैं अतः हरि को जानने का पूर्ण अधिकार उनका ही है।

१. एकनाथी भागवत अध्याय ३–ओवियां १८८–१८९।
२. " ५–ओवियां ३७१–३७२।

वे पात्रतम हैं अतः यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है कि वे भगवान के स्वरूप के पूर्ण ज्ञाता बन जाँय। अत उनको स्वप्न मे भी कर्म के बंधन कदापि नहीं व्याप सकते। ऐसे मे हरिभक्त सगुण का भजन बड़े चाव से और रुचिपूर्वक करते हैं। एकनाथ का सगुण विषयक मतप्रतिपादन भी बड़ा जोरदार है। यथा—

> निर्गुणाहूनि सगुण न्यून। म्हणे तो केवळ मूर्ख जाण।
> सगुण निर्गुण दोनी समान॥ न्यून पूर्ण असेना॥
> निर्गुणीचा बोध कठिण। बुद्धि वाचे अगम्य जाण।
> शास्त्रांसि न कळे ऊण खूण। वेदीं मौन परियेले॥[१]

जो सगुण को निर्गुण से न्यून कहते हैं, उन्हें केवल मूर्ख ही समझिये। क्योंकि वास्तव मे सगुण और निर्गुण दोनों समान हैं। एक दृष्टांत से बड़े ममर्पक ढङ्ग से अपना प्रतिपादन वे पेश करते हैं। जैसे घी के पिघलने पर उसका स्वाद न पिघले हुए घी से अधिक मीठा होता है, ऐसी बात नहीं है। उसी तरह सगुण और निर्गुण की बात है। निर्गुण मन बुद्धि और वाचा के परे है, इसलिए वेद भी उसके बारे मे मौन स्वीकारते हैं। शास्त्र तो यथार्थ मे अङ्कन भी नहीं कर पाते। निर्गुण की ही तरह सगुण भी अत्यन्त स्वानन्द का लाभ देने वाला है। नित्य-सिद्ध-सच्चिदानन्द मय प्रकृति से सम्पन्न परमानन्द ही सगुण बन जाता है। यही गोविन्द है। निर्गुण निर्विकार की सगुण मूर्ति तेजस्वी घन श्यामल वर्ण की बनकर, मोर मुकुट धारण कर कानों मे कुण्डल तथा कंठ मे कौस्तुभ वनमाला पहिनकर जब सामने आ जाती है तब उसकी शोभा देखते ही बनती है। भाल-प्रदेश पर रेखांकित चंदन दोनों नेत्रों के आरक्त वर्णों के कमल दलों को भी लज्जित कर देता है। इस सगुण ध्यान-मूर्ति का पूरा आनन्द उठाने के लिए ग्यारहवें अध्याय की १४६५ से १५०० ये ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। साहित्य की दृष्टि से भगवान श्याममुन्दर का नख-शिख वर्णन अत्यंत सलोना तथा उच्च कोटि का है।

कृष्ण द्वारा स्वयम् अपना सगुण-ध्यान वर्णन—

उद्धव को कृष्ण अपनी ही मूर्ति का प्रतिपादन कर बतलाते हैं, कि इस सगुण मूर्ति का ध्यान करने से चित्त का संधान बड़े सुन्दर और सुचारु रूप से हो सकता है। एकनाथकृत इसका विवेचन देखिए—

> जैसे केळी चे कमळ। तैसे हृदयीं अष्टदळ।
> अधोमुख ऊर्ध्वनाळ। अति कोमळ ससलसित।[२]

१. एकनाथी भागवत अध्याय ११–ओवियाँ १४५६–५८।
२ ,, ,, १४–ओवियाँ ४६१–४६६।

त्या ही माझी वन्हि मंडळ । वन्हिकळ अति जाज्वल्य ।
ते अग्नि मडळीं सुमगल । ध्यावी सोज्वळ मूर्ति माझी ॥

जिस तरह केले के फूल का आकार होता है, वैसे ही हृदय में अष्टदल कमल है। जिसका ऊर्ध्वनाल अधोमुख है जो अत्यन्त कोमल और सुशोभायमान है। प्राणायाम के बल से उर्ध्वमुखी हृदयकमल के अष्टदल पखुडियो को विकसित करे। इसका प्रबल ध्यान चिन्तन करने पर उर्ध्व मुख अधोनाल का हृदयकमल, जो कि अत्यन्त उनिद्र और अष्टदलयुक्त है, वे अष्टदल या पखुडियाँ ध्यान में अचचल होकर स्थिर हो जाती हैं। कमल के मध्य भाग में चन्द्रमडल आ जाय, तब उसकी सोलह कलाओं सहित उसका ध्यान करना चाहिए। यह अविकल रूप से किया जाय। फिर उसमें सूर्य मडल होगा जो बारह कलाओं से युक्त होगा। उसमें एक अग्निमडल होगा, जो दश कलाओं से युक्त तथा अत्यन्त जाज्वल्य होगा। उसी सुमगल अग्नि मडल में मेरी सोज्वल मूर्ति का ध्यान किया जाय। यह सोज्वल मूर्ति है उद्धो! जिस प्रकार के ध्यान से युक्त है उसे सावधान चित्त से सुनो। श्रीकृष्ण अपनी मूर्ति का ध्यान स्वयम् अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं। जो इस प्रकार है[1] —

अति दीर्घ ना ठेंगणे पण। सम अवयव समान ठाण।
सम सपोय अति सम्पूर्ण। मूर्ति सुलक्षण चिंतावी।

× × ×

तेणे घनसावळा शोभत। जैसे धारिणे गगनामाझारी।
सुखता वैसे श्यामते वरी। तैसी श्यामांगी चदनाची भुरी।
तेणे श्रीहरी शोभत ॥[2]

जो मूर्ति न तो अति दीर्घ है और न तो अति लघु एवम् बौनी है अर्थात् जिसकी आकृति और सारे अवयव सम्पूर्ण शरीर के अनुपात में सन्तुलित और सम्यक रूप में परिनिष्ठित हैं। अपने सम्मुख ऐसी मूर्ति की कल्पना करते हुए, उसके चिन्तन में काल व्यतीत करना चाहिए। यह मूर्ति ध्यान एवम् चिन्तन में समभाव से पोषित और सुलक्षणी हो। चिन्तन में उसका सुरेखित प्रसन्न मुखारविन्द निहारना चाहिए जिससे हृदय में हर्ष नहीं समाता। विशाल कमलदलवत् आकर्णान्त विशाल नेत्र हैं, भौंहें कज्जलांकित हैं जो सुन्दर धनुष्याकृति की तरह

१. श्री एकनाथी भागवत अध्याय १४–ओवियाँ ४७०–४८३।
२ ,, ,, ,, ४७०–४८३।

बाँकपन लिए हुए है। ललाट भाग प्रदेश पर पीत चन्दन और कस्तूरी की दाहगी रेखायें तथा कुमकुम युक्त अक्षता भी लगी हुई है। नुकीली दीर्घ नासिका है और तेजस्वी दोनों कपोलों के बीच सुकुमार कोमल वदन है जो प्रवालों की आरक्तिमा लिए हुए अधर सपुटों से युक्त है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की आकृतिवत अत्यन्त सुन्दर चिबुक है। चिक्कणता लिए हुए मुख है तथा जो भक्त चकोरों के चन्द्रमा हैं। हीरों की उज्ज्वल ज्योतिवत् दतपक्ती है तथा दाडिम बीजों की दीप्ति को प्रत्यक्ष कर देने वाले अरुणाभ अधरों के बीच दाँत चमकते हैं। बोलते समय ये दाँत झलकते हैं। दोनों कर्णों मे समान रूप से मकराकृति कुडल धारण किये हुए हैं। स्वभाव सहज ईषत् मनोहर हास्य मुख पर मँडराता है। ग्रीवा शखाकृतिवत् सुन्दर है। तीनवलयों से युक्त कठ का उभार है। जिस पर कौस्तुभ-मणि विराजमान है। उसके प्रकाश की दीप्ति की तुलना किससे की जाय। दिनकर अपने तेज से उनके सामने लुप्त हो जाता है। स्वभाव से ही इधर मँडराने वाले भुजङ्गाकार आजानुबाहु भुजाएँ हैं। विशाल वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न अङ्कित है। हृदय के दोनों भागों के बीच त्रिवलीयुक्त गहन उदर है जिस पर यशोदा के द्वारा ऊखल से बाधे गये चिह्न अङ्कित हैं। उनकी ओर देखने वालों को ऐसा लगता है कि जैसे विद्युत की तरह कौंधने वाली उनकी अपनी कान्ति है। पीताम्बर परिधान किया हुआ उनका साँवला घनश्यामल रूप सुशोभित है। जिस प्रकार आकाश मे चादनी या श्यामता पर श्वेत वर्ण की झलक दिखाई पड़े उसी तरह सावले कृष्ण के अङ्गों पर चन्दन की उबटन मली हुई तथा सुशोभित है। ऐसे श्रीहरि का और भी विस्तृत वर्णन सुनिये[१] —

> कौस्तुभासि संलग्न गळा। आपाद रुळे वनमाळा।
> कटीं बाणली रत्न मेखळा। किंकिणी जाळ माळा सयुक्त ॥
> मूर्ति सम्पूर्ण हरीची। जे मूर्तिची धरिल्या सोचे।
> तहान भूक विसरोनि जाये। जे ध्यानी आतुडल्या पाहे।
> सुखाचा होय सुदिन। सर्वांग सुन्दर श्याम घन।
> ज्येष्ठ वरिष्ठ गभीर गहन। सुमुख आणि सुप्रसन्न।
> मूर्तीचे ध्यान करावें ॥४६७॥

कौस्तुभ मणि से युक्त कठ मे आपाद झूमने वाली वनमाला विराजित है। कमर मे मेखला है जिसमें किंकिणी युक्त गोल मणियाँ लगी हैं। अनेक कष्ट

१ एकनाथी भागवत अध्याय-१४ ओवी सं० ४८४-४६७।

भुजाओं पर सधे हैं। शंख-चक्र गदा पद्म आदि आयुधों से युक्त नाना प्रकार की घनी मुद्रिकाएँ हैं जो उङ्गलियों में कुतूहल युक्त पहनी हैं। वर्तुलाकार गहरी नाभि है जहाँ से विधाता उत्पन्न हुआ। यह हरी का नाभि कमल है जो समूचे विश्व कमल का मूल है। पद्मों के सचेतन स्वयंभूसलभ अच्छी तरह गढ़े जाकर खड़े हों ऐसे उनके दो चरणों की अभिनव शोभा है। हरी के चरणों में ध्वज, वज्र, अंकुश रेखाएँ हैं तथा पद्म-चक्रादि सामुद्रिक चिह्न भी विद्यमान हैं। इन्द्रनीलमणी के तराशे गये सुन्दर त्रिकोण की तरह सुन्दर सावले वर्ण की पिंडलियाँ हैं। सुकोमल आरक्त आभा वाले तलुओं की निराली शोभा है। उनके ऊपरी हिस्सों में सावले वर्ण की आभा है और चिकने तलुओं में आरक्त वर्णीय आभा है, वह ऐसे जान पड़ती है मानो सायंकाल का रंग नीलिमा युक्त आकाश में छा गया हो। नभमंडल में विराजित चन्द्र रेखा की तरह सुन्दर जानुद्वय हैं और सुघटित जंघाएँ हैं। सिंह को अपनी कृश कमर का बड़ा अभिमान था, किन्तु जब श्रीकृष्ण कन्हैया की कमर देखकर वह स्वयं लज्जित होकर जंगल में भाग गया। उसे अपना मुँह दिखाने में भी लज्जा उत्पन्न होती है इसलिए वह चिरन्तन रूप में अरण्यवासी बन गया है। हरि की कमर को ठीक प्रकार से जोड़ने समझने के लिए मेखला को भी स्वर्ण हो जाना पड़ा और उस पर स्वर्ण के पुट चढ़े। जब कृष्ण चलते हैं तो नूपुरों की रुनझुन झनकार होती है, तथा उनमें लगी घंटियों का क्वणन होता रहता है। सिर पर घुँघराली अलकें हैं, जिनमें फूल लगे हैं, वे केश-बंध विशेष शोभायमान हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर सुलक्षणी मूर्ति श्रीहरी की है। इस प्रकार की मूर्ति का ध्यान करने से भूख प्यास तक मिट जाती है और ध्यानमग्न दशा में यह मूर्ति हृदय में स्थित हो जाने पर सुख का सुदिन आ गया ऐसा समझना चाहिए। सर्वाङ्ग सुन्दर श्यामवर्ण सुमुखी और सुप्रसन्न ज्येष्ठ और श्रेष्ठ एवम् गंभीर तथा सघन एवम् ठोस सगुण मूर्ति का ध्यान करना चाहिए।

सगुण ब्रह्म का महत्व—

श्री कृष्णचन्द्र का श्री एकनाथ कृत नखशिख वर्णन साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही उच्च कोटि का अद्भुत और अपने ढङ्ग का अनुपमेय एवम् अतुलनीय है। जिस भगवद् भक्त तथा रसिक सहृदय पाठक के अन्तःकरण में यह ध्यान मूर्ति विराजमान हो जायगी उसे निश्चित रूप से आनन्दघन सावले घनश्याम की क्रीडा-मय मूर्ति उपलब्ध हो जायगी। इस प्रकार के चोखे और अनोखे रसपरिपोषक अद्भुत भावपूर्ण कई स्थल पूरे एकनाथी भागवत में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सुधी सहृदय पाठकों को उसमें अवगाहन कर अवश्य रस लेना चाहिए। अपने विवेचन और

यही उनके विवेचन का सार है। जीव मूलतः अज्ञानी है और माया के द्वारा उत्पन्न मोह में वह फंसता रहता है। अतः उसे सद्गुरु के बताये मार्ग पर चलना चाहिए। सज्जनों और सन्तों की सङ्गति करनी चाहिए, जिससे कि भगवद्भजन *हरिगुणानुवाद की आदत स्वाभाविक रूप से उसमें उत्पन्न हो जाय। अपने स्वधर्म* को निबाहते हुए आत्म कल्याण और लोक कल्याण दोनों सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा श्री एकनाथ का मत है। साधन के रूप में भक्ति के अतिरिक्त वे और किसी को विशेष महत्व नहीं देते। सच्चरित्र, सद्गुरु मग्नता, विवेकपूर्ण वैराग्य, आत्मज्ञान, मोक्ष की चिंता और ईश्वर में आस्था के लिए नामस्मरण, भगवान का गुणानुवाद गायन और हरि कीर्तन नित्य करना चाहिए यही उनका उपदेश है। आदर्श भागवती भक्ति और आदर्श वैष्णव का सदाचार उन्हें व्यक्ति और समाज के हित के लिए अभिप्रेत है। तुलसीदास के ग्रन्थों में इसी प्रकार भागवती भक्ति और सदाचार पर बल दिया गया है।

मराठी वैष्णव कवि सन्त तुकाराम का आध्यात्मिक पक्ष

तुकाराम की आध्यात्मिक अभिव्यंजना का प्रयोजन—

वैष्णव भक्तों के आध्यात्मिक पक्ष का अनुशीलन करते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, कि उनकी विवेचना में एवम् उनके आध्यात्मिक चिंतन में साधकों की भाव दशाएँ, अनुभूतियाँ और मनोवृत्तियों का क्या स्वरूप था, इसे सम्यक रूप से परिशीलन कर देख लेना पड़ता है। ऐसा करते हुए हमें उनके भावात्मक संवेगों तथा भावभूमियों के साथ तद्रूप होकर समरसता और सहृदयता से उसे पढ़ना चाहिए, अन्यथा उनका अभिप्राय, आशय एवं इङ्गित हमारी समझ में आना कठिन हो जाता है। ऊपरी तौर पर किया गया अध्ययन उनके केवल स्थूल बहिरंग के साथ ही हमारा परिचय करा देता है। आध्यात्मिक पक्ष का अध्ययन साधकों के अन्तरंग में पैठकर ही किया जा सकता है। भक्तों की भारतवर्ष में कमी नहीं परन्तु सारी भयङ्कर विभिषिकाओं और अत्याचारों को सहकर भी एकमात्र भगवान् को चाहने वाले तुकाराम की आध्यात्मिक उन्नति एवम् योग्यता अत्यन्त उच्चकोटि की है।

वैष्णव साधकों ने प्रायः अपने सामने एक विशिष्ट दृष्टि रखकर प्रयत्नपूर्वक आध्यात्मिकता की भावना से प्रेरित होकर प्रतिज्ञापूर्वक लिखा है। अपनी प्रतिज्ञा के *अनुसार उसकी फलनिष्पत्ति बराबर होती है ऐसा वे प्रांजलता से स्वीकार* करते हैं। आज ऐसे साहित्यकार कितने मिलेंगे जो इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कह सकें कि मैं फलानी पुस्तक फलाने तरह की फल निष्पत्ति के लिए लिख रहा हूँ।

अत उसको पढ़कर पाठक उसी तरह की अनुभूति भी प्राप्त कर लें। इसका कारण अनुभूति की उतनी तीव्रता और गहराई का अभाव ही माना जावेगा। वैष्णव कवियों की मुखरित वाणी में उनके अनुभव जैसे उन्होंने उपलब्ध कर लिये वैसे ही अन्य भी कर सकते हैं ऐसा आश्वासन मिलता है। जैसे ज्ञानेश्वर की यह प्रतिज्ञा देखिए—

'जरी एकले अवधान दीजे। तरी सर्व सुखासी पात्र होइजे।
हे प्रतिज्ञोत्तर माझे। उघड आईका॥' —ज्ञानेश्वरी।

अवधानपूर्वक दत्तचित्त होकर भावार्थ-दीपिका का श्रवण करने से सब प्रकार के सुखों की उपलब्धि हो जायगी, यह खुले रूप से वे श्रोताओं से कहते हैं और प्रतिज्ञापूर्वक इसका अनुभव लीजिए ऐसी चुनौती भी देते हैं। यदि ज्ञानेश्वरी श्रवण और पठन कर वैसा अनुभव नहीं मिलता तो उसका दोष किसे दिया जाय? वास्तव में उसका दोष पाठक को ही दिया जावेगा। 'दासबोध' में समर्थ रामदास कहते हैं—

'ग्रंथ नाम दास बोध। गुरु शिष्याचा सवाद।
येथे भक्तिमार्ग विशद। बोलिला असे॥
आता श्रवण केलिया चे फळ। क्रिया पालटे तात्काळ।
तुटे सशयाचे मूळ। एक सरा॥' —दासबोध।

दासबोध के पठन से पाठकों की कार्य शुद्धि हो जावेगी ऐसी समर्थ की प्रतिज्ञा है। दासबोध के पारायण करने पर भी वैसा अनुभव नहीं मिलता और न कर्मों की शुद्धि हो जाती है। इन सब लोगों के ग्रन्थ जिस प्रतिज्ञा के साथ लिखे गये हैं उसी भावना की प्रामाणिकता और अधिकार के साथ यदि वे पढ़े जाँय तो उसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु देखा यह जाता है कि लोग उस तरह पढ़ते ही नहीं इससे सस्कृत की एक उक्ति चरितार्थ हो जाती है[1]—

'वक्तुरेवहि तत् जाड्यं श्रोता यदि न बुध्यते।'

यदि श्रोता जानकार न हो तो वक्ता को भी अपने कथन में जाड्य प्रतीत होने लगता है। कहने का अभिप्राय यही है कि तुकाराम की उक्तियाँ भी इसी सावधानी और अधिकार से पढ़ी जाँय तो वैसी ही अनुभूति प्राप्त होगी।

आध्यात्मिक प्रेरणा—

प्राय वाङ्मय निर्मिति के कारण दो हुआ करते हैं। (१) लोकैषणा और (२) वित्तैषणा। तुकाराम को इनमें से कौनसी बात साहित्य के अभिव्यजन में

---

१. एक सस्कृत सुभाषित वचन।

अभिप्रेत थी इसका विचार करने पर समझ में आता है कि इन दोनों एषणाओं में से एक भी उनकी साहित्य निर्मिति का कारण नहीं कहला सकती। तुकाराम ने अभंग लिखे इस कारण पंडित वर्ग नाराज था। इसलिए उन पर बहुत अत्याचार किये गये जिन्हें उन्हें सहना पड़ा। उनको काव्य निर्मिति का अधिकार नहीं है ऐसा कहा गया। अभङ्ग लिखकर कोई अर्थ प्राप्ति उनको निश्चित नहीं हुई थी। प्रथम तो वे 'स्वान्त सुखाय' ही लिखते थे। जो कुछ भी लिखा उसे इन्द्रायणी में उन्हें डुबो देना पड़ा। ईश्वर कृपा से वह सारा अभंग वाङ्मय अमर ही रहा और पुनः उन्हें सारा का सारा उपलब्ध हो गया। पर इसके लिए उनको तेरह दिन निराहार व्रती बनकर प्रायोपवेशन करना पड़ा। वे अपने वास्तविक अनुभवों को ही अभङ्गों में अभिव्यक्त करते रहे। उनकी सारी कविता आत्मनिष्ठ और भावानुभूति से संयुक्त है। जिस प्रकार की भगवदानुभूति उन्हें हुई, उसे जनता के सामने वे इसलिए भी रखना चाहते थे कि जैसा उनका आत्म-कल्याण हो गया वैसा और लोगों का भी हो। यह सत्प्रेरणा और इसी लोक कल्याण की भावना ने उनको साहित्य के माध्यम से उसे अभंगों में कहने के लिये प्रेरित किया है। ऐसा समझना समीचीन तथा उपयुक्त होगा।

आध्यात्मिकता का लक्ष्य आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण—

तुकाराम कहते हैं[1]—

'सन्तांची उच्छिष्टे बोलतो उत्तरें। कायम्या गव्हारे जाणावे हे ॥
विट्ठलाचें नाम घेता नये शुद्ध। तेथे मज बोध काय कळे।
तुका म्हणे मज बोलवितो देव। अर्थ गुह्यभाव तोचि जाणे ॥

तुकाराम भगवदानुग्रह प्राप्त करने की इच्छा को अहर्निश अपने सामने ध्येय रूप में रखकर अपनी साधना में लगे हुए थे और इस तरह उनको भगवान् के अस्तित्व का साक्षात्कार हुआ। भगवान् की दयालुता और कृपा सम्पन्नता के सामर्थ्य पर भी अडिग आस्था उत्पन्न हुई जो कई स्थानों में और प्रसङ्गों में अभिव्यक्त हो उठी है। तेरह दिनों के बाद जब उनके अभङ्गों की बहियाँ उनको पुन वापस मिली तब वे गद्गद हो गये। क्योंकि उनका यह अनुभव अत्यन्त वास्तविक और प्रत्यक्ष था। इसी भावना से अभिभूत होकर वे कहते हैं[2]—

सगुण-साक्षात्कार—

घोर अन्याय केला। तुझा अंत म्या पाहिला।
जगाचिया बोला साठी। चित्त क्षोभविले ॥

× × ×

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग–अभङ्ग ६१६, पृ० १६५।
२. तुकारामाचे अभङ्ग २२४१।

तुका म्हणे खोद। साच केले आपुले ॥

हे भगवान्! तेरह दिनों तक मैंने निराहार रहकर आततायी बनकर जो कार्य किया उसके लिए तुम मुझे दण्ड दो। क्योंकि तुम सचमुच दयाघन, भक्त-कामकल्पद्रुम हो। भक्त के अपराध को क्षमा करके उस पर दया करने वाले तुम हो ऐसा मुझे प्रत्यक्षानुभव देकर तुमने अपने अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। मुझे इसी बात का बहुत आनन्द है। अपनी गाथा में तुकाराम ने अपरोक्षानुभूति का परोक्ष ज्ञान अपने अभङ्गों में अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस प्रसङ्ग और सदर्भ में स्वयम् भगवान् ने आकर उनको अपनी गाथा वापस प्राप्त करा दी, इससे अन्य लोगों को भी अपरोक्षानुभूति का चाक्षुष-प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ।

मतलब यह है कि तुकाराम के वाणी की सत्यता जैसे सिद्ध होकर सामने आई उसी तरह अन्य सन्तों की वाणियाँ भी सत्य हैं, उनकी अनुभूतियाँ सत्य हैं, तथा उनकी अभिव्यञ्जनाएँ भी सत्य हैं। पाठकों को अर्थात् रसिकवर सहृदयों को इस दृष्टि से उसके अन्तरग में प्रवेश पाकर एवम् समरस होकर भक्तों के साहित्य को पढ़ना चाहिए। इससे जो निष्पत्ति होगी वह उनकी प्रतिभा के अनुसार वर्णित अनुभूति का प्रत्यक्षानुभव और संवेदन ही होगा।

तुकाराम के कितने अभग उन्होंने सिद्ध दशा में लिखे हैं अथवा साधक दशा में, इसकी नीरस और तथ्यहीन चर्चा को छोड़कर यदि उनके साहित्य-सिंधु में पैठें, तो आध्यात्मिक पक्ष के मोती और रत्न ही हाथ लगेंगे।

तुकाराम के सगुण का स्वरूप—

तुकाराम कोरमकोर सगुण साधक थे। इसके प्रमाण उन्हीं के वचनों और अनुभवों से लेंगे। भक्तिमार्ग में जिसकी भक्ति की जाती है उसका दर्शन सगुण-स्वरूप साक्षात्कार का विशेष महत्व है। सगुण के पथ्य को तुकाराम भली-भाँति जानते थे इसीलिए अपने अनुभवपूर्ण वाणी में वे कहते हैं—

नको ब्रह्मज्ञान, आत्मस्थिति भाव।
मी भक्त तूं देव, ऐसे करी॥
× × ×
नलगे तो मोक्ष मज सायुज्यता।[1]
नावडे हे वार्ता शून्याकारी॥

भक्त अपनी पूरी जिम्मेदारी भगवान् पर सौंप देता है। एकबार जब उनकी

१. तुकाराम महाराजांचे अभग १०२२।

वहियाँ उनको वापस मिल गयी तभी अपने उपास्य पांडुरंग से उन्होंने कह दिया कि *मेरा सारा योगक्षेम वहन करने का उत्तरदायित्व है भगवान्! अब आपका ही* होगा। तभी तो उन्होंने कहा कि मुझे कोरा शाब्दिक ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए। मुझे तो भावात्मक आत्मस्थिति चाहिये जो प्रत्यक्ष अनुभवजन्य है। मैं भक्त हूँ, और तुम भगवान् यह सिद्ध हो हो जाय। शुष्क बातों में मन नहीं रमता। ब्रह्मज्ञान की केवल तात्विक चर्चा से व्यर्थ ही थकान उत्पन्न हो जायगी। मेरी तो आपसे *यह प्रार्थना है कि अपना सुन्दर सगुण स्वरूप दिखाओ। मैं तुम्हारे चरणों का* निरन्तर वदन करूँगा। मुझे मोक्ष सामुज्यता मुक्ति आदि नहीं चाहिए। शून्यकार सम्बन्धी सिद्धांत मुझे अच्छे नहीं लगते। इतना ही नहीं तो सगुण और निर्गुण का विनडावाद उन्हें अप्रिय लगता है। वे कहते हैं—

परब्रह्म स्वरूप—

> सगुण की साकार निर्गुण कीं निराकार।
> *नकळे हा पारवे दाश्रुतीं॥*
> तो आम्ही भावे केलासे लहान।
> टेवुनिया नावे पाचारितो॥[1]

परब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण, साधार है अथवा निराधार, तथा साकार है अथवा निराकार? ये सारे प्रश्न ऐसे हैं जिनका वेदों और श्रुतियों में भी *निर्णय नहीं लग पाया है।* परन्तु हम सन्तों ने अपनी भावना से उसे छोटा बना लिया है और उसको अपनी रुचि और भाव के अनुसार अनेक नामों से पुकारते हैं।

भगवान् के नाम की उन्हें विशेष चाह थी। वे हृदय से उसका वर्णन करते हैं यथा—

> *गोड नावे क्षीर परि साखरेचा धीर।*
> *तैसे जाणा ब्रह्मज्ञान बापुडे ते भक्तिवीण॥*[2]
> रुची नेदी अन्न। ज्यांत नसता लवण॥
> आंधळ्याचे धन। शिकविल्याचे विनाम॥
> *तुका म्हणे तारा। नावे तवु-याच्या सारा॥*[3]

रुचि होने पर लवण रहित अन्न अच्छा नहीं लगता क्योंकि लवण का होना अनिवार्य है। दुग्ध मीठा तभी लगता है जब वह शर्करायुक्त होता है। ब्रह्मज्ञान भी

१. तुकाराम महाराजाचे अभंग-अभंग गाथा।
२. ,, १४७६।
३ तुकारामांचे अभंग १७४६।

बिना भक्ति के शून्य है। भक्ति के साथ ही उसकी महिमा है। कोरा ब्रह्मज्ञान उसी तरह है जैसे तानपूरे के तार। यदि सगुण भक्ति है तो वे तार झंकृत हो सकते हैं, और तभी 'तानपूरा' यह नाम भी सार्थक हो जाता है। अन्धे को नाम सिखाने में कोरा परिश्रम करना पड़ेगा जो व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि उसका रूप देखने की आँखें हों तो नाम सीखना भी सार्थक होगा।

सगुण भक्ति साधना विषयक तुकाराम का अभिमत—

तुकाराम के मतानुसार सगुणोपासना में सारी दशाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। हृदय की मूर्ति प्रकट हो जाती है, क्योंकि वह हृदय के शुद्ध भाव की जानकार होती है। सारे साधना परक धर्मों में एकमात्र धर्म हरि का नाम है। सब का बीज नामस्मरण है। अन्य सब उसके फल हैं। सारे श्रमों का निवारण, सारे धर्मों का रहस्य, सकलपुण्य, एकमात्र हरिकीर्तन तथा नामघोष से सम्प्राप्त हो जाते हैं। हरि के दास निर्लज्ज बनकर हरिनाम गाते हैं। सारे रस यहीं पर आकर एक हो जाते हैं, और भवबंधन के सारे पाश खुल जाते हैं। *अन्तःकरण में भगवान् की बस्ती हो जाने से सारे पुण्य के लक्षण और भगवान् की साधना के सारे अङ्ग अपने आप आ जाते हैं।* आवागमन रुक जाता है। गृहस्थ आश्रम का त्याग करना नहीं पड़ता। कुलधर्म अपने से ही ज्ञात हो जाते हैं। एक विठोबा का नाम, *योगियों का शून्य ब्रह्म,* परिपूर्ण मुक्त आत्मा आदि सब कुछ है। *तुकाराम* कहते हैं, कि हमारे जैसे भोले जनों के लिये एकमात्र सगुण ही सब कुछ है। क्योंकि इसी एक साधना से सारी स्थितियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। यथा—

अवघ्या दशा येणें साधती। मुख्य उपासना सगुण भक्ति॥
प्रकटे हृदया चो मूर्ति। भावशुद्धी *जाणोनिया*॥[1]

भक्ति से ब्रह्मज्ञानी की, योगियों की सारी दशाएँ सम्प्राप्त हो जाती हैं। तुकाराम के मत में मुख्य उपासना सगुण-भक्ति ही है। इसमें अन्तःकरण का भाव शुद्ध और सरस होता है। भगवान् को यही विशेष प्रिय होने से हृदय की ध्यान मूर्ति भी प्रकट हो जाती है।

तुकाराम को विठ्ठल के दर्शन बाल रूप में हुए और उन्होंने भगवान् के आलिंगन-सुख का अनुभव किया। वेदांती की भाषा में रसता एवं शुष्कता होती है, अत एव तुकाराम को उससे कोई सरोकार नहीं है। उनकी अनुभूति ने उन्हें यह सिखा दिया था कि इससे प्रत्यक्ष लाभ कुछ भी नहीं होता। अत वे निवेदन करते हैं कि उन्हें ऐसा अनुभव नहीं चाहिए जो शाब्दिक मात्र हो।

---

१ तुकारामाचे अभङ्ग ६४५।

तभी वे आत्मीयता और तन्मयता से कहते हैं[1]—

बोलाल या आपुल्या पुरते । मज या मनन्ने गोविदेले ।
भाहोला न सोडी हातींचा पालव । वेधी वेध जीव वेधियेला ॥
तुमचे ते शब्द कोरडिया गोष्टी । मजसवे मिठी अंग संगे ॥
तुका म्हणे तुम्हां होईल हे परी । अनुभव करी येईल मग ॥

यदि केवल अपने ही सम्बन्ध में बात करनी हो, तो मैं ऐसा कहूँगा कि मुझे अनन्त ने अपने से सूत्रबद्ध कर रखा है। मेरे हाथों में यह जो सदा फलने फूलने वाला कल्पवृक्ष आ गया है, उसे मैं अब कभी भी छोड़ने वाला नहीं हूँ। इस परमात्मा ने मेरे जी को निरन्तर आबद्ध कर रखा है। वैसे आप लोग भगवान् का सैद्धान्तिक वर्णन करते हैं, जो मुझे केवल शाब्दिक शुष्क चर्चा के रूप में जान पड़ता है। प्रथम मेरा अनुभव तो भगवान् के साथ स्पर्श सुख और आलिंगन में बद्ध अवस्था का है। तुकाराम कहते हैं यही अनुभव तुम भी ले सकते हो। ऐसा अनुभव हो जाने पर तुम भी मेरी तरह कहने लगोगे।

सगुण साक्षात्कार के कतिपय अन्य अनुभव—

तुकाराम महाराज के एक अभङ्ग में यह भाव व्यक्त किया गया है कि भगवान् के लिए कोई कार्य ऐसा नहीं है, जो असम्भव या दुस्साध्य हो। तुकाराम को यह अभंग उस समय स्फुरित हुआ था जब वे लोहगाँव में भगवान् विठ्ठल की मूर्ति के सामने कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन सुनने के लिए आई हुई एक स्त्री का बालक उसकी गोद में मर गया। तुकाराम के ध्यान में यह बात आ गई। तब भगवान् से करुण याचना करते हुए वे कहते हैं[2]—

असाध्य तो तुम्हा नाहीं नारायणा । निर्जिवा चेतना आणावया ।

× × ×

तुका म्हणे माझे निववावे डोळे । दावुनि सोहळे सामर्थ्याचे ॥

हे भगवान्! आपके लिए कोई बात असम्भव नहीं है। आप तो भक्त-काम-कल्पद्रुम हैं। ये सब उपाधियाँ जब तक आप सत्य सिद्ध नहीं कर देंगे तब तक उन्हें सत्य कौन मानेगा? अत: कीर्तन में आए हुए जिस बालक का देहान्त हो गया था उसे जीवित करने की कृपा कीजिये। जड में चेतनत्व ला सकना आपके लिए असम्भव नहीं है। मैं लोगों के सामने तुम्हारा गुणगान करता रहता हूँ वह

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४४४।
२ ,, २३१५।
३. ,, ५५६।

अयथार्थ सिद्ध हो जायगा। लोग मेरे कथन की प्रतीति ले सकें ऐसा कुछ प्रत्यक्ष कार्य आप कीजिए। इस तरह आर्तता से पुकारने पर वह बालक जीवित हो गया। वैसे केवल तुकाराम कहते हैं इसलिए भगवान् दयालु है ऐसा कौन मानेगा? भक्त की लाज रखने के लिए भक्त की कही हुई बात सत्य हो जाय यह उत्तरदायित्व भगवान् को लेना ही पड़ता है। यही बात तुकाराम के साथ हुई।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण उस प्रसङ्ग का है जब छत्रपति शिवाजी महाराज तुकाराम के कीर्तन में उपस्थित थे। उनको पकड़ने के लिए मुसलमान सरदार सिपाहियों को लेकर आगए। इस तरह प्राण संकट देखकर तुकाराम की आबरू जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। इस अवसर पर तुकाराम ने भगवान् से यह प्रार्थना की[१]—

> भीत नाहीं आता आपुल्या मरणा। दुःख होता जना न देखवे।
> आमची तो जाती ऐसी परम्परा। कां तुम्ही दातारा नेणां ऐसे॥
> भजनी विक्षेप तेंचि पैं मरण। न वजावा क्षण एक वाया॥
> तुका म्हणे नाही आघाताचा वारा। ते स्थळीं दातारा ठाव मागे॥

मैं अपनी मृत्यु से नहीं घबराता। परन्तु लोगों के बीच में किसी को दुःखी भी नहीं देख सकता। हमारी जाति भक्ति करने वालों की है और भगवान् भक्तों के कहलाते हैं। अत आप भी इसे बरोकर नहीं मानेंगे? भजन में विक्षेप उत्पन्न होना ही मरण है। उस समय तो एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। जो भजन करता है उसे कोई आघात छू भी नहीं सकता। क्योंकि भजन करने वाला भक्त भजन करने के लिए उसी स्थान पर दाती भगवान् से सुअवसर और सुरक्षा माँगता है। तुकाराम ने शिवाजी को इस प्रकार का अभय दिया—

न करावी चिंता। भय न धरावे सर्वथा॥[२]

कोई चिन्ता मत करो। सदा अभय होकर रहना चाहिए। भगवान् के दास भगवान् के द्वारा रक्षित होते हैं। भगवान् स्वयम् उनके रक्षण कर्ता बन जाते हैं। तुकाराम कहते हैं, कि कोई शङ्का या सन्देह अपने वचनों में प्रकट नहीं करना चाहिए। भगवद् भजन में कोई भय नहीं है जो सन्देह प्रकट करते हैं उन्हें कोई उत्तर सोच लेना चाहिए।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ५५६।
२. „ „ ३४४८।

भक्त भगवान् पर निर्भर रहता है।

> तूं कृपाळू माऊली आम्हां दीनांची साउली।
> न सवरिता आली बाळ वेशे जवळी॥
> माझे आई। आतां पुढें काई तुज धातु साकडे॥[1]

तुकाराम कहते हैं कि हम दीनों के लिए तुम कृपालु एव जननीवत् हो क्योकि तुमने बाल वेश मे मेरे पास आकर मेरा समाधान किया। मैंने देखा और तुम्हारे सगुण सुन्दर एवम् आकर्षक रूप पर मैं लुब्ध हो गया। मुझे आलिंगन देकर मेरे मन की बेचैनी आपने दूर की। इस भक्त पर आपने कृपा की इसी मे सन्तो ने मुझे उनके बीच स्थान दिया। भगवान् को कृपा करने आना पडा। मैंने बहुत अन्याय किया है अत हे विठ्ठल। मुझे क्षमा प्रदान कर दो। यो तो भक्त के नाते आगे चलकर भी आपको तो पुकारना ही पडेगा।

तुकाराम के द्वारा आत्म निरीक्षण और आत्मदर्शन—

तुकाराम के युग मे तत्कालीन समाज के भीतर वेदांतियो की बडी भरमार थी। उनका सामर्थ्य प्रभावशाली था। अत. तुकाराम बीच-बीच मे आत्म-निरीक्षण कर आत्मदर्शन करने की आवश्यकता अनुभव करने लगें। अत एकबार वे भगवान् से एक चीज मागते, तो दूसरी बार दूसरी चीज मागने और प्रथम मागी हुई चीज नही चाहिए ऐसा भी कहते है कभी-कभी वे केवल भगवान् को ही मागने लगने। भगवान् अन्तरात्मा मे निवास करते हैं, अत उनसे कोई बात छिप नहीं सकती, और न कोई चाहे तब भी छिपा सकता है। अत. साधक को स्पष्ट रूप मे अपनी बात प्राजल रूप से भगवान् को बतला देनी चाहिए। तुकाराम साधक थे। वे भगवान् से प्राजल रूप मे भगवान् की चरण सेवा मागते हैं—

भक्त की अभ्यर्थना—

तुकाराम की भगवान् से की गई प्राजल अभ्यर्थना[2]—

> मागणे ते एक तुजप्रति आहे। देशी तरी पाहे पांडुरंगा॥
> या सन्तासी निरवीं हे मज देई। आणिक दुजे काहीं॥
> न मागे तुज॥ तुका म्हणे आतां उदार होई।
> मज टेवीं पायीं संताचिया॥

हे भगवान् तुम्हारे पास मेरी एक ही माग है। यदि आप उसे देना चाहते हैं

१. तुकारामाचे अभङ्ग ३४४८।
१ तुकारामाचे अभङ्ग १५८५।

तो अवश्य दें। सतो के चरणो मे मैं विनम्र होकर पडा रहूँ यही मेरी इच्छा है। इन मन्तों से कहिये कि वे मुझ पर कृपा करें। आरम्भ मे केवल निष्काम भक्ति ही उन्हे अभिप्रेत नही रही होगी। *सगुण और निर्गुण इनमे से क्या माग ले* इसका निर्णय आरम्भ मे नही हो पाया। इसलिये निश्चित रूप से क्या मांगा जाय इसका निर्णय कर सकने की क्षमता आ जाय इसीलिए वे 'सन्तो के चरण कमलो से मुझे दूर न करो' *यही बार-बार भगवान् से मागते हैं।* साराश यह है कि तुकाराम के एक-एक अभग को पढकर उसका अर्थ लगाना चाहिए।

तुकाराम की पारमार्थिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप

तुकाराम के अभङ्ग उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होने से एकदम हम उन्हे निराधार और प्रक्षिप्त नहीं मान सकेंगे। पूरी अभगों की गाथा उनके प्रत्यक्ष अनुभूति जन्य अनुभवों के प्राजल आधारो से भरी हुई है। तुकाराम ने इन *अभगो मे तत्वज्ञान का विवेचन किया है। पर गाथा को पढकर कोई तत्वज्ञानी* नही बन सकता। अभगों मे तात्विक वर्णन आया है। सत्य वर्णन आत्म प्रतीति और सगुणोपासना से सम्भूत अनुभवो का ही माना जावेगा। तात्पर्य यह है कि *तुकाराम एकदम पक्के सगुणोपासक हैं।*

अन्त मे प्रत्यक्ष पाडुरग उन्हें लिवाने आये हैं। तुकाराम इसे समझ न सके। सदेह वैकुण्ठ जाना है, यह जब उन्हें ज्ञान हुआ तो गरुड ने अभय देकर कहा *'भिऊ नको'*—अर्थात् *'मत डरो, मत डरो।' इसलिए उन्होने अन्य सन्तो* को आलिंगन देकर इसी शरीर से कम से कम वाराणसी तक वे गरुड के साथ गए। इसी का वर्णन इस अभग मे मिलता है—

कंस आले हरि। शख चक्र शोभे करीं। गरुड येतो फडत्कारे।
तुका झालासे सतुष्ट। घरा आले वैकुण्ठ पीठ॥[1]

साक्षात् भगवान् विष्णु आ गए हैं। हाथो मे शख चक्र धारण किया हुआ है। *गरुड अपने पखों को फड-फडाकर तुकाराम से कहता है कि 'मत डरो, मत डरो।'* सामने देखो कौन आये हैं? मुकुट और कुण्डलो की शोभा के आगे सूर्य का तेज लुप्त हो गया। मेघ के साँवले वर्ण वाले हरि हैं और तुकाराम अपनी *आँखों से भगवान् को निहारते हैं। उनका चतुर्भुज रूप है, तथा गले मे* वैजयती-माला धारण की हुई है। दसो दिशाएँ प्रकाशित हो गई हैं। तुकाराम सन्तुष्ट हो गए क्योकि वैकुन्ठ पीठ ही उनके घर चलकर आया था। तभी तो वे आगे कहते हैं[2]—

---

१ तुकारामाचे अभग १५९६।
२. ,, १५९७।

भगवान् का साक्षात दर्शन—

> शंख चक्र गदा पद्म । पैल आला पुरुषोत्तम । नाभी नाभी ।
> भक्त राया । वेगीं पावलों सखया ॥ दुरूनि येता दिसे दृष्टी ।
> धाके दोष पळती सृष्टी ॥ तुका देखोनि एकला ।
> वैकुण्ठीहूनि हरि आला ॥

तुकाराम ने देखा कि शख चक्र गदापद्मधारी पुरुषोत्तम उस ओर आ गए हैं। वे तुकाराम से कहते हैं कि मत डरो। हे भक्तराज तुम्हारे लिए मैं शीघ्र आ गया हूँ। भगवान् को दूर से ही आते हुए देखा, जिसकी धाक से सारे दोष स्वयम् दूर भाग जाते हैं। तुकाराम को अकेला देखकर वैकुण्ठ से हरि स्वयम् आ गये हैं।

इन अनुभूतियों की अभिव्यजना को हम झूठ कैसे कह सकते हैं ? गरुड ने तुकाराम को अभय दान दिया यह उनकी स्वात्मानुभूति की दशा का वर्णन है। अब तक किए गए विवेचन से तुकाराम किस कोटि के भक्त थे, इसे सुचारु रूप से चित्रित करने का प्रयत्न यहाँ पर किया गया है। वे भक्त कैसे बने, उन्होंने भगवान् का अपने उपास्य विठोबा का जो इतना प्रेम सपादन कर लिया था, वह उनकी अलौकिक तपस्या का फल है। यह तपस्या उन्होंने कैसे की इसे देखना आवश्यक है।

तुकाराम की तपस्या एव साधना—

जीवन एक सरल और सहज बात नहीं है। जीवन मे व्यक्ति का बाह्य परिस्थिति से तथा अपनी निजी प्रवृत्तियों से सघर्ष होना रहता है। इन सघर्षों में विजयी होकर अपनी ध्येय सिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन बात है। यह सघर्ष कोई अनोखी चीज नहीं है। हरएक को इसका अनुभव किसी न किसी रूप मे होता रहता है। उसका लक्ष्य छोटा हो चाहे बडा उसमे विजय पाना उसके अपने वस की बात है। परन्तु एक तीसरे प्रकार का सघर्ष होता है, जो इनसान के सामर्थ्य के बाहर की बात है - इसे यदृच्छा, प्रारब्ध या दैव कहा जाता है। ये तीनो सघर्ष श्री सत शिरोमणि तुकाराम महाराज के जीवन मे बडी तीव्रता से हुए थे ऐसा दिखाई पडता है। ये तीनों सघर्ष तीव्रतर से तीव्रतम होते हुए भी वे विजयी हुए थे। इससे तुकाराम का जीवन-चरित्र आदर्शयुक्त और लुभावना सा लगता है। तुकाराम ने अपना यह जीवन बडी जागरुकता के साथ व्यतीत किया। अब हम उनके ही अभग वचनों से निस्सृत उनकी जीवन गङ्गा में डुबकियाँ लगाकर अवगाहन करेंगे, और उस पुनीत स्नान से अपने आपको पवित्र बना लेंगे। देखिए वे अपने बारे में कहते हैं—

बरा कुणबी केलों । नाहीं तरि दंभेचि असतों मेलो ।

× × ×

तुका म्हणे थोरपणें । नरक होतो अभिमाने ॥[१]

बहुत अच्छा किया जो हे भगवान् आपने मुझे कुनबी जाति मे उत्पन्न किया। अन्यथा मैं दभ मे फूलकर यूँ ही मर गया होता। तुकाराम प्रेम मे नाचकर भगवान् के चरणो मे गिर पडते हैं। यदि कुछ विद्या पास में होती, तो मैं अन्य किसी के चरणों मे गिर पडता और सन्तों की सेवा न कर पाता। इससे व्यर्थ ही मेरा जीवन लुट गया होता। अहकार और अभिमान से बेकार ही शेखी बघारने का कार्य करता रहता जिसका परिणाम यह होता कि मुझे नरक मे ही जाना पडता। एक अन्य जगह वे इस तरह कहते हैं—

शूद्रवंशी जन्मलो। म्हणोनि दंभे मोकलिलो॥

× × ×

सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन॥[२]

शूद्रवश मे जन्म लेकर दभ से दूर रहा। हे पढरिनाथ! अब तो आपके सिवा मेरे माँ-बाप और कौन हैं? ज्ञान प्राप्ति के लिए अक्षर रटने का मुझे अधिकार नही है। मैं सब तरह से दीन हीन हूँ। तुकाराम कहते हैं कि मैं यातीहीन हूँ।

साधकावस्था—

मनुष्य का मन कतिपय विशिष्ट प्रसङ्गो, परिस्थितियो मे रहकर ऐसा बन जाता है कि वह अपने भीतर भावात्मक परिवर्तन की दशा महसूस करने लगता है और परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत भी हो जाता है। जीवन के निश्चित एवम् ठोस माने हुए तत्व व्यर्थ सिद्ध होने लगते हैं। इससे निराशा एवम् अगतिकता उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का मन बाह्य रूप मे शीतल और स्थिर ज्ञात होता है। दैनदिन व्यवहार तो वह निश्चिन्तता से किया करता है, किन्तु उसके अन्तर्मन मे एक सघर्ष—एक हलचल होती रहती है। जब वह अपनी सीमा से परे जाकर तीव्रतम हो जाती है। तब उसका प्रचण्ड आन्दोलन आरम्भ हो जाता है और

१. तुकारामाचे अभंग ३२०।

२ तुकारामाचे अभग २७६६।

विस्फोट होकर प्रलय जैसी दशा उत्पन्न हो जाती है। सर्वनाश साकार होकर सामने आ जाता है। ऐसे ही अवसर पर कल्याण के अनेक सूक्ष्म बीज बाहर आ जाते हैं, और नये मूल्य तथा उनका धरातल एवम् क्षितिज सामने दृग्गोचर होने लगता है। यदि बुद्धि और निश्चय का बल हो तो उससे लाभ भी उठाया जा सकता है। राजपुत्र गौतम बुद्ध, गोस्वामी तुलसीदास के जीवन ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी को प्रवृत्ति का परिवर्तन या जागृति कहा जाता है। आध्यात्मिक उन्नति का यह प्रथम सोपान है।

हर एक व्यक्ति की भावना प्रक्षोभ एवम् उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ वाल्मिकी के मन का प्रक्षोभ पापो के परिणामो के भय से उद्भूत हुआ था। गौतम बुद्ध सासारिक दु खो के प्रति विरक्त हुए थे। तो तुलसीदास ऐहिक प्रलोभनो से उदासीन हो गये थे। ऐसी मानसिक जागृति एवम् उत्क्रान्ति से परमेश्वर की ओर चित्तवृत्ति लग सकती है, अथवा घोर अध पतन हो सकता है। तुकाराम के मन में बचपन से ही जागृति उत्पन्न हुई थी। उसका कारण उन पर विपत्तियो के अम्बार एक के बाद एक टूट पडे थे। परिणामत उनकी मानसिक उद्विग्नता और उसकी भीषणता बढ गई। इसका कारण उनकी भीषण परिस्थिति ही है। यथा—

> आतां काय खावें कोणीकडे जावें। गावांत राहावें कोण्याबळें।
> तुका म्हणे यांचा संग नव्हे भला। शोधीत विठ्ठला जाऊं आतां॥[1]

अब मैं क्या खाऊँ, कहाँ जाऊँ तथा ग्राम मे किसके बल पर मैं रहूँ। पाटिल (चौधरी) और ग्राम के लोग मुझ से नाराज हैं। अत. अब मुझे कौन पूछेगा? सब यही कहते हैं कि इसे तो किसी से सरोकार ही नही है अत इसका फैसला तो हमने न्यायालय मे दे दिया है। अच्छे-अच्छे लोगो से मेरे बारे मे उलटा-सीधा कहकर मुझे धोखा दिया गया है। मुझे दुर्बल जानकर मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया गया। तुकाराम कहते हैं अब मुझे इनका सग छोडकर विठ्ठल के आश्रय मे जाना चाहिए।

भक्त को भगवान् की सहायता—

ऐसी करुण दशा मे आत्यतिक निराशा, आत्यतिक परिणाम भी प्रस्तुत कर देती है। प्राय इससे आत्म हनन की ओर प्रवृत्ति जगती है। तुकाराम प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे, अतएव उनके कुल मे चली आती हुई भक्ति की सस्कारगत परम्परा ने उन्हें इस आपत्ति से बचाया तथा हृदयस्थ भगवान् ने भी सहायता प्रदान की। इसी सहायता को वे यों प्रदर्शित कर देते हैं—

१. तुकारामाचे अभङ्ग ६७६।

विचारिले आधी आपुल्या मानसीं । वाचो येथें कंसी कोण्याद्वारें ॥

× × ×

तुका म्हणे दुःखें आला आपुभाव । जाला यहु जीव कासावीस ॥[1]

प्रथम अपने मन मे पूछा कि हे मेरे मन ! तू बता कि मैं किस पथ का अनुसरण करूँ, किस के द्वार पर जाकर पुकारूँ ? तभी हृदयस्थ भगवान् ने प्रत्यक्ष सहायता देकर ऐसी बुद्धि प्रदान की जिससे यह ज्ञान हुआ कि इस विपन्न परिस्थिति के बावजूद भी नाश नहीं होगा। मैं तो उद्वेग-समुद्र मे डूबा हुआ था, और किस प्रकार भगवान् प्राप्त होंगे इस चिन्ता मे व्यग्र था। तुकाराम कहते हैं कि इस दुःख के कारण मेरी आत्मा व्याकुल हो उठी है क्योंकि अब तक की सारी आयु इसी दुःख से भरी हुई व्यतीत हुई है। पर अब मैं आश्वस्त होकर निश्चिन्त और शान्त हूँ।

तुकाराम की वैराग्य प्राप्ति और जीवन दृष्टिकोण—

इस प्रकार की जागृति हो जाने पर भगवद्-चिन्तन के अतिरिक्त, और कोई मार्ग किसी को भी नहीं सुझाई देता। शायद उनका पारमार्थिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है। वे कहते है कि एक मात्र विठोवा ही मेरे अवलंब हैं। वे इसी भावना को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

यातो शूद्र वंश केला वेवसाव । आदि तो हा देव कुळपूज्य ॥
नये बोलों परिपाळिले वचन । केलियाचा प्रश्न तुम्हीं सन्तीं ॥[2]
देवाचे देऊळ होते ते भगले । चित्तासी जे आले करावेसे ॥
आरंभी कीर्तन करी एकादशी । नव्हते अभ्यासी चित्त आधीं ॥
कांहीं पाठ केली सन्ताची उत्तरें । विश्वासे आदरे धरूनिया ॥

× × ×

यावरी या जाली कवित्वाची स्फूर्ति । पाय धरिले चित्तीं विठोबाचे ॥

× × ×

भक्ता नारायण नुपेक्षी सर्वदा । कृपावंत ऐसा कळों आलें ॥
तुका म्हणे माझे सर्व भांडवल । बोलविले बोल पांडुरंगे ॥

शूद्र जाति में जन्म लेकर मैंने व्यवसाय किया। मेरे कुल मे आदि देव के रूप मे विठ्ठल पूज्य थे। मुझे बोलने का अधिकार नहीं था। इस वचन का मैंने

---

१ तुकारामाचे अभङ्ग ३१८२।

२. तुकारामाचे अभङ्ग १३३३।

पालन किया। पर सन्तों के बीच में मुझसे तुम लोगों ने प्रश्न किया है। उसका मैं उत्तर देता हूँ। दारिद्र के कारण और अकाल से त्रस्त होकर जब मेरा सब कुछ स्वाहा हो गया तब मुझे अपने व्यवसाय में हानि होने लगी। एक मन्दिर था, जो पूर्वजों के द्वारा बनवाया गया था पर वह भग्न हो गया था। उसे सुधारा जाय ऐसा मन में आया। प्रारम्भ में कीर्तन करना आरम्भ किया तब चित्त में इसका कोई अभ्यास न था। सन्तों के सहवास में रहते अचानक मुझ में काव्य निर्मित की स्फूर्ति और प्रेरणा जगी। तभी चित्त ने विठ्ठल चरणों में आश्रय ले लिया। यह बात तो जगविदित है कि नारायण भक्तों की कभी उपेक्षा नहीं करते। वे सदा कृपावन्त होकर कृपा ही करते रहते हैं। यह बात भली-भाँति समझ में आ गयी। यही मेरी पूँजी है। इस पर भी मेरे द्वारा पांडुरंग ने अभंग निर्मिति करवायी।

आध्यात्मिक अभिव्यंजना की प्रेरणा—

नामदेव और पांडुरंग ने तुकाराम के स्वप्न में आकर कविता करने के लिए आदेश दिया था। इसका प्रमाण इस अभंग में देखा जा सकता है—

> नामदेवें केलें स्वप्नामाजी जागें। सवें पांडुरंगें येऊनियां ॥
> सांगितलें काम करावें कवित्व। वाउगें निमित्य बोलों नेको ॥[१]

तुकाराम कहते हैं कि मुझे पांडुरंग सहित आकर नामदेव ने स्वप्न में जगाकर यह आदेश दिया कि तुम अभंग-रचना करो। यह केवल निमित्त मात्र प्रमाण नहीं है इस तरह कहकर विठ्ठल ने मुझे थपथपाकर सावधान किया। मुझे यह कहा कि शतकोटी अभङ्ग पूरे करने की प्रतिज्ञा नामदेव की थी। वे तो उसे पूरा न कर सके पर तुकाराम! अब तुम उनके अधूरे कार्य को पूरा करो।' 'इस पर कोई विश्वास रखे या न रखे इसमें मार्मिकता इतनी तो अवश्य समझी जा सकती है कि भक्त तुकाराम का अन्तःकरण भक्ति भावना से ओतप्रोत हो गया था, और वे अपने आराध्य विठ्ठल की कृपा से काव्य में अपनी अनुभूति परक भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहते थे। अतएव वे अब निश्चिन्त होकर मनसावाचा कर्मणा गोविन्द-भजन और चिन्तन में काल व्यतीत करने लगे।

तुकाराम की आध्यात्मिक अवस्थाएँ—

साधक और सिद्धों की पारमार्थिक दृष्टि से चार अवस्थाएँ होती हैं। १. बृद्धावस्था, २. मुमुक्षु-अवस्था, ३ साधकावस्था और ४. सिद्धावस्था। बृद्धावस्था वह है जिसमें साधक को आत्मज्ञान नहीं होता और न परोपकार करना चाहिए यह ज्ञात रहता है, तथा जिसमे अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि के द्वारा स्वधर्म की पहिचान

१. तुकारामाचे अभङ्ग १२२०।

नहीं हो जाती। मुमुक्षु वह है जो सांसारिक दुःख से दुःखी होता है तथा त्रिविध तापों से संतप्त है और शास्त्रों के निरूपण को श्रवण कर जो अन्तःकरण पूर्वक पश्चाताप कर सकता है। परमात्मा प्राप्ति की इच्छा और साधन की चिंता भी मुमुक्षु किया करता है। साधक उसे कहते हैं जो अवगुणों का त्याग करते हुए सतसमागम तथा उनकी कृपा प्राप्ति भी कर लेता है। सद्गुरु के द्वारा बतलाये गये साधनों से शास्त्र-प्रतीति एवम् आत्म-प्रतीति से आत्मा तथा परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित कर लेता है। तात्पर्य यह है कि साधक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब बातों को छोड़ देता है। सिद्ध उसे कहते हैं जो स्वयं सद्वस्तु बन जाता है। संदेह और भ्रमों से मुक्त एवम् निर्मल मत उसे उपलब्ध हो जाता है। जिसका ज्ञान संदेह रहित है परमात्मा का अनुभव जिसे सप्राप्त है, तथा जो दृढ़ निश्चयी है, ऐसी अवस्था वाला व्यक्ति ही सिद्ध कहलाता है। ये चारों अवस्थाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं और एक दूसरे पर आधारित एवम् अन्योन्याश्रित है। सिद्धावस्था विकासात्मक है। तुकाराम ने जब संसार से विरक्ति लेकर अन्तर्मुख होकर आत्म निरीक्षण कर लिया तब अपने भगवान् से यह प्रश्न किया[१]—

> काय तुज कैसे जाणावेंगा देवा। आणावें अनुभवा कैसा परी॥
> सगुण निर्गुण थोर कीं लहान। न कळे अनुमान मज तुझा॥
> कोण तो निर्धार करुं हा विचार। भवसिंधु पार तरी कया॥
> तुका म्हणे कैसें पाय आतुडती। न पडे धोपटी वर्मठावे॥

हे भगवान् मैं आपको कैसे जानूँ? आपकी भक्ति किस रीति से करनी होगी जिससे उसका अनुभव मुझे मिल सकेगा। आपको किस भाव से प्राप्त करूँ इसका रहस्य आप ही बता दीजिए। मेरी स्थिति ऐसी है कि मैं यह नहीं जानता कि सगुण और निर्गुण में से कौन बड़ा और छोटा है। मैं इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस भवसागर को पार करने के लिए मैं क्या निश्चय करूँ? तुकाराम कहते हैं मेरे चरण इस पथ पर आगे बढ़ने में हिचकिचा रहे हैं, अतः मुझे आप तक पहुँचने का रहस्य बतला दीजिए।

तुकाराम के सामने दो समस्यायें थी। प्रथम पारमार्थिक मार्ग का अज्ञान और दूसरी मानसिक दुर्बलता। इन सारी बातों के कारण भक्ति करना कठिन था। इस उधेड़-बुन में उन्हें परमेश्वर की सहायता प्राप्त हो गई। दुनियाँ के लोग उन्हें सताने लगे। किसी को कोई कष्ट न देने पर भी लोग उनको सताते थे। यही उनका दुख था। दुनियाँ के बहुरूपियेपन से वे ऊब गये। अतएव उसको उन्होंने

१. तुकारामाचे अभंग ३४३७।

त्याग दिया। दुर्दैव का तमाचा पड़ने पर मन दुख से व्याकुल हो जाता है। अपने आसपास की चीजें सुख के बदले दुख उत्पन्न करती हैं। इनसान अपने आपको पापी समझने लगता है। इस तरह आत्मग्लानिपूर्ण उद्गार निकलने लगते हैं। वास्तव में ऐसे साधक बुरे या पापी नहीं रहते। क्योंकि यह आत्मधिक्कार निराशा से उत्पन्न होता है। इस तरह आत्मग्लानि और आत्म संशोधन तुकाराम की मुमुक्षु अवस्था की प्रारम्भिक सीढ़ी है। ग्लानि और पश्चाताप दग्धता युक्त होने पर भी कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। इसी चिन्ता से तुकाराम का अन्तःकरण उद्विग्न था। अपने साधनहीनता की भी उन्हें पर्याप्त चिन्ता थी। तुकाराम का मन ऐसी आत्मग्लानि से मृदुतम बन गया और अहंकार तिरोहित हो गया। ऐसी दशा में परमेश्वर प्राप्ति के मार्ग पर जाने वाला साधक प्रायः ममता के मोह में पड़कर पुन अहंकार में फँस सकता है। परन्तु तुकाराम के संस्कार दृढ थे। इसलिए उनका वैराग्य श्मशान वैराग्यवत् सिद्ध नहीं हुआ। नामस्मरण और नाम-संकीर्तन ये दो प्रमुख साधन तुकाराम के पास होने से ईश्वर कृपा के सम्पादन में वे अग्रसर होते गये। वे इन साधनों की महिमा जानते थे तथा इसकी प्राप्ति के लिए सत्संग चाहते थे। भगवान् से उन्होंने यह प्रार्थना की[1]—

नाम संकीर्तन और सत्सङ्ग—

> हरी तुझे नाम गाईन अखंड। या विण पाखंड नेणे कांहीं॥
> चित्तीं विश्वास अखंड मासाया। काया मनें वाचा देई हेंचि।
> तुका म्हणे आता देई सन्त संग। तुझे नामी रंग भरो मना॥

हे हरि! तुम्हारा गुणगान मैं अखंड रूप में करूँगा। इसके अतिरिक्त किसी पाखंड को मैं नहीं अपना सकता। मैं केवल भगवद्-भजन ही जानता हूँ। हे भगवान्! मेरे मानस में नाम संकीर्तन का अखंड विश्वास पैदा हो जाय और काया-वाचा-मनसा से मैं यही कर सकूँ ऐसा आशीर्वाद मुझे आप प्रदान कीजिए। सत् संग ही मुझे आप प्रदान करें जिससे आपके नाम स्मरण में मैं रँग जाऊँ।

अपने अभंगों का उपयोग वे नामस्मरण में ही करना चाहते हैं क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि नामस्मरण करने से भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यथा—

भक्त की अभिलाषा—

> नाम आठविता सद्‌गदित कंठी। प्रेम वाढे पोटीं ऐसें करीं॥
> रोमांच जीवन आनंदाश्रु नेत्रीं। अष्टांग ही गात्रीं प्रेम तुझें॥[2]

---

१. तुकारामाचे अभंग ४०१४।
२. ,, ८१८।२८७३।

तुकाम्हणे पंढरीनाथा । भजता आणिक नको व्यथा ॥[1]

नाम स्मरण करते ही कंठ सद्‌गदित हो जाता है। इसी तरह प्रेम बढता जाय ऐसा मुझे बना दें। सारा जीवन तुम्हारे प्रति प्रीति से भर जाय जिससे रोमांचित होकर शरीर पुलकित हो जाय तथा नेत्रों में आनन्दाश्रु आ जाँय। अष्टांगों में तुम्हारा प्रेम ही प्रकट हो जाय। सारा शरीर भी यदि संकीर्तन करते हुए नष्ट हो गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। दिनरात नाम और गुण-गान करता रहूँगा और सर्वदा संतो के चरणों में पड़ा रहूँगा। तुकाराम अपनी स्थिति इस प्रकार बना लेना चाहते हैं, जैसे कोई गोपी कृष्ण प्रेम में मग्न होकर स्वच्छन्द रूप से चलती है। वे कहते हैं कि हे हरि! तुम्हारा रूप ध्यान में इसी तरह आता रहे। तुम्हारे चरणों में मैं इसी तरह आसरा लेता रहूँ। दुर्बल को जिस तरह आमंत्रण की आशा तथा लोभी को कालान्तर की आशा रहती है, और दोनों उङ्गलियों पर दिन गिनते रहते हैं, उसी तरह हे पंढरिनाथ! मुझे केवल तुम्हारी ही आशा है और कोई चिन्ता मैं मोल लेना नहीं चाहता।

नामस्मरण का सामर्थ्य—

इस प्रकार का भाव जब साधक का बन जाता है तब मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। नामस्मरण के सामर्थ्य में विश्वास दृढ हो जाता है। अन्य किसी साधन को नहीं अपनाना चाहिए ऐसी श्रद्धा बन जाती है। तुकाराम में हम यही देखते हैं। जीवन में नित्य संकटों के क्षण आते रहते हैं। इनसे संघर्षरत रहना पड़ता है, परन्तु साधनारत साधक नामस्मरण को अपनाये ही रहता है। इसका कारण नामस्मरण के प्रति दृढ आस्था और विश्वास मात्र ही है। यही आस्था उनको इस युद्ध में निराशा से मुक्त रखती है। जैसे—

रात्री दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग। अंतर्बाह्य जग आणि मन॥
जीवा ही आगोज पडतो आघात। येऊनिया नित्य नित्यकरी॥
तुका म्हणे तुझ्या नामाचिया बळें। अवघीयाचे केले काळें तोंड॥[2]

दिनरात हमारे सामने आभ्यंतर रूप से संग्राम करने का अवसर उपस्थित रहता है। बाहर परिस्थितियों से और अन्तःकरण में सद्‌प्रवृत्तियों का असद् प्रवृत्तियों से निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। जीव पर इन सब के आघात पड़ते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं कि फिर भी केवल नाम स्मरण के बल पर हम साधक इन सबको परास्त कर देते हैं।

---

१. तुकारामाचे अभंग ८१८–२८६३।

२. ,, ४०६१।

वैष्णवों का धर्म—

इस तरह भगवान् का नामस्मरण और संकीर्तन करते-करते भक्त, भगवान् और भगवन्नाम का त्रिवेणी संगम हो जाता है। आदर के साथ हरिनाम गाने वाले, और सुनने वाले स्त्री-पुरुष शुद्ध हो जाते हैं। वैष्णवों का धर्म यही है ऐसा तुकाराम का निवेदन है—

आम्हां वैष्णवांचा कुळ धर्म कुळींचा । विश्वास नामा एका भावें ॥
तुका म्हणे देवा ऐसीयाची सेवा । द्यावी जी केशवा जन्मो जन्मीं ॥[1]

वैष्णवों के कुल का कुल धर्म एकनिष्ठ भाव से नामस्मरण पर अटूट विश्वास है। प्रथम चित्त को वासनारहित कर सत्यवादी हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की जाय। तुकाराम कहते हैं कि हे भगवान्! हम आपका भक्ति-भावना से नाम-स्मरण कर प्रेम पूर्वक, आनन्द मे आकर नाचेंगे और गावेंगे तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों की आपसे याचना नहीं करेंगे। इस प्रकार के वैष्णव-भक्त की सेवा, हे भगवान्! जन्म-जन्मांतरों तक आप अवश्य लेते रहें। संत-समागम ही वैष्णवों का जीवन लक्ष्य होता है। क्योंकि सन्तों की संगति से भगवद् भक्ति दृढ़ हो जाती है। यथा—

संसारांच्या नावें घालुनिया शून्य । वाढता हा पुण्य केला धर्म ॥
तुका म्हणे सुख समाधि हरिकथा । नेणें भवव्यथा गाईल तो ॥[2]

अपने लौकिक जीवन के नाम पर शून्य लिखकर केवल नाम स्मरण और भजन से मैंने यह पुण्य प्राप्त कर लिया है। हरि के भजन से यह संसार स्वच्छ और उज्ज्वल हो गया है। कलिकाल के द्वारा किये गये सारे प्रयत्न निष्फल हो गये। अन्य सारे साधनों का शरीर और बुद्धि से त्याग कर दिया है। हरिकथा गुणगान में और स्मरण करने में समाधि सुख प्राप्त हो गया। तुकाराम कहते हैं जैसे मैंने इसे उपलब्ध कर लिया वैसे ही कोई भी इसे उपलब्ध कर ले सकता है।

आचरण शुद्धता और वैराग्य—

तुकाराम चित्त शुद्धि के लिये वैराग्य का प्रतिपादन करते हैं। प्रथम आचरण शुद्ध होना चाहिए जिससे मन भी शुद्ध हो जाता है। अनासक्ति भी भगवान् के गुणानुवाद से सप्राप्त हो सकती है। उन्होंने गीता के अध्याय २, श्लोक ६२ के अनुसार यह बतलाया है। यथा—

चिंती विषय त्यासा उपजे हे वासना । भोग हा पुरेना विषयांचा ॥
तो या कामासाठी उत्पन्न करीतो । काम तो निर्मितो क्रोधरूपा ।

१. तुकारामाचे अभंग ४०४२।
२. ,, ३२२१।

तुका म्हणे बीजा पासूनि अंकुर । होतो हा विस्तार याच परी ॥[1]

तुकाराम ने कहा है कि जो व्यक्ति अपने मन में विषय-वासना की चिंता करता है उसको ही वासना उत्पन्न हो जाती है और उसे विषयों का भोग कभी पूरा नहीं पड़ सकता। बीज से अंकुर और अंकुर से पूरा विस्तार जैसे होता है, उसी तरह एक वासना से सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव विवेक और वैराग्य का आश्रय लेना चाहिए।

ईश्वर-प्रेम के लिए ऐहिक प्रेम छोड़ना पड़ता है। निन्दा और स्तुति की परवाह भी नहीं की जाती। सकल्प विकल्प में पड़ने से अशान्ति उत्पन्न होगी। सुख बादलों की तरह नष्ट हो जावेगा। अत परमात्मा की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है। इसके लिए विनम्र होना पड़ता है। इसी विनम्रता से तुकाराम कहते हैं—

> यदीन मी भूतें। आतां अवघीं चि समस्ते।
> तुमची करीन भावना। पदो पदी नारायणा।
> गाळूनियां भेद। प्रमाण तो ऐसा वेद॥
> तुका म्हणे मग नव्हे दुजयाचा सग॥[2]

पारमार्थिक सिद्धावस्था—

नारायण सब में व्याप्त है। अत मैं सारे प्राणिमात्रों का वदन करूँगा। मैं इसी भावना से सब को देखूँगा कि हे नारायण! आप सब में कदम-कदम पर कैसे दिखाई देते हैं। वेद ऐसा प्रमाण देता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि कहीं भी कोई भेद की भावना नहीं है। इसलिए सदा भगवान् का ही साथ सर्वत्र रहता है। लोक लज्जा आदि बातों से प्राय मानव डरता है। उसके विरुद्ध परन्तु सत्य लगने वाली बात लोगों के सामने कहने का सामर्थ्य उस में नहीं रहता। अन्त-करण में एक सकोच एवम् हिचकिचाहट रहती है। अत सत्य का पथिक एकान्त-वासी बनकर जनता का सम्पर्क टालता है। तुकारामने ऐसा ही किया। वे एकान्त के लिए वन का आश्रय लेने लगे। उनके ऐसे आचरण की लोग निन्दा करने लगे। तुकाराम ने इसकी चिन्ता नहीं की। परमार्थ में साधक की सहायता करने कोई नहीं आता। तुकाराम इस बात को अच्छी तरह जानते थे। वे सदा अपना आत्म-निरीक्षण करते और वह भी बड़ी सूक्ष्मता से। तुकाराम अपने दोषों को बड़ी

---

१. तुकारामाची अभगात्मक गीता—पृ० ३४ अभग १०७ तथा गीता अध्याय २।६२।

२ तुकारामाचे अभग ७४६।

निष्ठुरता पूर्वक ढूंढते हैं। इस तरह एकान्तवासी बनकर उनको जगल मे ही मगल दिखाई दिया। यथा—

आध्यात्मिक जीवन का आनन्द—

> वृक्षवल्ली आम्हां सोयरी वनचरें। पक्षी ही सुस्वरें आळविती ॥[1]
> तुका म्हणे होय मनासी सवाद। आपुलाचि वाद आपणांसी ॥[2]

तुकाराम कहते हैं कि वृक्ष और लताएँ हमारे सम्बन्धी है, तथा वनचर हमारे रिश्तेदार हैं। यहाँ पर पक्षी सुन्दर स्वर मे गाते हैं, इससे नामस्मरण एवम् भगवद् चिंतन के लिये एकान्त सेवन मे भी रुचि उत्पन्न हो जाती है। कोई दोष देने वाला या प्रशसा करने वाला यहाँ नही रहता। यहाँ पर आकाश का वितान है और पृथ्वी का आसन सदा विद्यमान है। मन जहाँ रमता है वही क्रीडा करने लग जाता है। यहाँ पर स्वच्छन्द रूप से बहने वाली वायु, कमडलु, कथा इत्यादि का काम देती है। हरिकथा का विस्तारपूर्वक भोजन यहाँ पर किया जा सकता है। अपने ही मन से सवाद किया जा सकता है तथा अपने से ही वाद-विवाद किया जा सकता है।

पारमार्थिक जीवन मे सबसे अधिक बाधक चिन्ता होती है। इस चिंता से मुक्ति भी भगवान् पाडुरग ही दिला सकते हैं। ऐसा भक्त तुकाराम का दृढ विश्वास था। अतएव इस ईश्वरी अनुकम्पा के लिये भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

> प्रपच वोसरो। चित्त तुझे पायी मुरो ॥ ऐसे करिंगा पांडुरंगा।
> शुद्ध रंगवावे रगा। पुरे पुरे आतां। नको दुनियाची सत्ता।
> लटिकें ते फेडा। तुका म्हणे जाय पीडा ॥[3]

हे पाडुरग। मेरी लौकिक आसक्ति दूर हो जाय और चित्त तुम्हारे चरण कमलो मे श्रद्धा रखने लगे। मुझे अपने रग मे रग लो, जिससे मेरा चित्त तुममे लीन हो जाय और मेरी सारी व्यर्थ की लौकिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाँय। अपने आराध्य से प्रेम पूर्वक वे यही माँगते हैं कि वे प्रेम के भाव मे इतने मग्न हो जाँय, कि उनकी भाव समाधि ही लग जाय। इस शुद्ध प्रेम रग मे रँगकर विठ्ठल की सगुण भक्ति उन्हे उपलब्ध हो गई। तभी वे निर्भय होकर कहते हैं—

सगुण भक्ति की सिद्धावस्था—

> आम्ही तरी आस झालो टाकोनी उदास। आतां कोण भय धरी।
> पुढें स्मरणाचे हरी ॥ भलते ठायीं पडो। देह तुरगी हा घडो ॥

---

१ तुकारामाचे अभङ्ग २४८१।
१.　　,,　　२४८१।
३　　,,　　२९७१।

> गेले माना मान। सुखदु:खाचे खडण। तुमचे सुर्हांपाशी।
> आम्हो अहो जैशी तैशो ॥[१]

हे भगवान्! हम तो अपनी सारी आशा त्यागकर उदास बन गये हैं। हरि स्मरण करते हुए अब हमें किसका भय है? अब यह शरीर किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, इसे कोई दिलचस्पी उसके लिए नहीं है। चाहे जमीन पर बैठना पड़े अथवा घोड़े पर बैठना पड़े, हमें तो सभी स्थल एक से हैं। मान अपमान, सुख और दुख से परे रहने की हमारी प्रवृत्ति बन गई है। अब हमें किसी से क्या लेना देना है। हम जैसे हैं वैसे ही रहेंगे।

सन्त तुकाराम वैराग्यमय प्रवृत्ति से अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए थे। उनमें आत्म विश्वास पूर्ण और निरहङ्कारी वृत्ति जग पड़ी थी। तभी बड़ी तन्मयता पूर्ण होकर वे कहते हैं—

> पिकलिया सेंद कडूपण गेले। तैसे आम्हां केले पांडुरंगे॥
> काम क्रोध लोभ निमाले ठायींचो। सर्व आनन्दाची सृष्टी भाली॥
> आठव नाठव गेला भावाभाव। आला स्वयमेव पांडुरंग॥
> तुका म्हणे भाग्य या नांवे। म्हणिजे ससारी जळिजे याचिलागी॥[२]

फल के पक जाने पर उसकी कटुता नष्ट हो जाती है। पांडुरंग ने हमें वैसा ही बना दिया है। काम, क्रोध लोभ इत्यादि भाव अपने स्थान पर ही नष्ट हो गए और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भासमान होने लगा। निरीहता परिपूर्ण रूप से प्राप्त हो गई। और साधक ने अपने में ही पांडुरंग को विद्यमान देखा। इसी सद्भाग्य के लिए लौकिक भावनाओं को होम करना पड़ता है।

भगवान् के प्रति आस्था, भक्ति अथवा स्नेह भावना रखने का प्रायः यह अर्थ लिया जाता है कि भगवान् के प्रति इस तरह की भावना का होना। केवल विश्वास ही भावना नहीं है अपितु विश्वास की परिणति प्रेम, कृतज्ञता, पूज्यभाव एवम् शरणागति आदि भावों सहित प्रत्यक्ष कृति में जब हो जाती है, तब उसे विश्वास का भाव कहा जाता है। आचरण और मनोभावना एक सी बन जाय यही बात उसमें निहित है। यह भाव अचानक उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इसके लिए भी साधना करनी पड़ती है। अपनी साधना पर साधक का अटल विश्वास होना आवश्यक होता है। नाम संकीर्तन साधना पर तुकाराम के विचार इस प्रकार हैं—

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ४७।
२ तुकारामाचे अभग ४१०३।

नाम संकीर्तन—

> नाम सङ्कीर्तन साधन पैं सोपे । जळतील पापें जन्मांतरीचीं ॥
> तुका म्हणे सोपे आहे सर्वा हुनी । शाहाणा तो घणी घेतो तेथें ॥
>
> × × ×
>
> तुटे भवरोग । संचित क्रियमाण भोग ॥ ऐसं विठोबाचे नाम ।
> तुका म्हणे माया । होय दासी लागे पाया ॥[1]

नाम संकीर्तन कितना सरल साधन है। नाम के लेने पर जन्म-जन्मातरों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नारायण घर में ही आ जाते हैं। जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं। सहज ही जिसको हम कह सकते हैं ऐसा 'रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशव' इस मंत्र को सर्वदा जपना चाहिए। इसको छोड़कर अन्य किसी साधन को मैं नहीं अपनाऊँगा। ऐसा विठ्ठल की शपथ लेकर कहता हूँ। यह सब साधनों से सरल साधन है ऐसा समझकर चतुर व्यक्ति इसी को अपनाता है। विठोबा का नाम जप करने से अनेक जन्मों का खंडन हो जाता है। भवरोग से छुटकारा प्राप्त होकर संचित, क्रियमाण आदि के भोग भी नहीं भोगने पड़ते। माया भी दासी बनकर चरणों में झुक जाती है। नाम-स्मरण करने वाले के पास कोई पाप और त्रिविध ताप नहीं फटक पाते। यह साधन ऐसा है कि इसे अपनाते हुए किसी अन्य विधि विधान की जरूरत नहीं होती।

अनन्य शरणागति—

अनन्य शरणागति के बिना भगवान् नहीं मिलते। सारे सम्बन्ध अनन्य भाव से ही भगवान् से जोड़े जाते हैं। इसी अनन्य भाव से तुकाराम कृष्ण को अपना सर्वस्व मानते हैं। देखिए—

> कृष्ण माझी माता । कृष्ण माझा पिता ।
> कृष्ण बंधु चुलता । कृष्ण माझा सखा ॥
>
> × × ×
>
> तुका म्हणे माझा श्रीकृष्ण विसावा । वाटे न करावा परता जीवा ॥[2]

तुकाराम कहते हैं कि मेरे लिए कृष्ण ही मेरे सर्वस्व है। वे मेरी माँ, पिता, बंधु, गुरु और भवसागर से पार ले जाने वाले जहाज हैं। मेरा मन भी कृष्ण ही है तथा वे ही मेरे स्वजन और एकमात्र आश्रयस्थल हैं। अत: वे कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि मुझे आप एक क्षण भर भी न त्यागिये।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४५८।३२८।

२. तुकारामाचे अभङ्ग ५१६।

गोविन्द-गोविन्द जपता रहेगा। हे भगवान्! मेरा और मेरे कुटुम्ब का उत्तर-दायित्व आप पर ही रहेगा। अपने अभंगों में मैं आपका गुणगान करता रहता हूँ इसलिए मुझे अपने पेट की कोई चिन्ता नहीं है। मेरी सारी चिन्तायें अब दूर हो गयी हैं और आप यह सब जानते हैं।

भगवान् का प्रेम एक महान् वरदान—

अपने उपास्य के चिंतन से भक्त को आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। इस आनन्दानुभूति के साथ भक्त को अपने आराध्य का चिन्तन करने की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। तुकाराम को यह सारी प्रेमोत्कटता अपने समग्र रूप में प्राप्त हो गई थी। तुकाराम इस प्रेम को भगवान् की एक महान् देन मानते हैं। यह अनमोल देन शाश्वत रूप से बनी रहे, ऐसी प्रार्थना वे पांडुरंग से करते हैं। प्रेमी भक्त का अपने *प्रिय आराध्य के इस प्रेम का एक दूसरा पहलू भगवान् का विरह है।* अपने प्रियतम परमात्मा के बिना विरह जन्य तड़पन उत्पन्न होती है। जिस तरह से शरीर को प्राण की चाह रहती है उसी तरह भक्त को अपने आराध्य की रहती है। प्रेम की बाढ़ आ जाने पर स्वेद, रोमांच, अश्रु, कम्पन, गला भर आना आदि आठ प्रकार के सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। बाढ़ में इनका स्वरूप गतिमान होता है। हृदय-सरिता का जल बाढ़ के कारण नेत्रों से आँसुओं के रूप में बह निकलता है। प्रेम के एवम् भक्ति के क्षेत्र में ऐसी स्थिति में प्रेमी की प्रिय के प्रति वृद्धि ही होती है। यह अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति को प्रस्तुत कर देती है। तुकाराम अपनी ऐसी भावावस्था में आकर कहते हैं—

सद्गदित कंठ दाटो। येणें फुटो हृदय।
तुका म्हणे येथे पाहिजे चौरस। तुम्हांवीण रस गोड नव्हे ॥[1]

मेरा कंठ सद्गदित होकर भर आवे तथा हृदय द्रवीभूत हो जाय। हे विट्ठल! आपके चिंतन का एक नाम तो निश्चित रूप से मिल जायगा। नेत्रों से सदा जल बहा करे और आनन्द से शरीर पुलकित हो जाय। तुकाराम कहते हैं कि मन में यही इच्छा मैं करता रहूँ कि मुझे आपकी कृपा का दान प्राप्त हो जाय। गला भर आते ही नेत्रों से अश्रु-सिंचन होने लगेगा। आनन्द से रोमांच उठ खड़े होंगे। हे भगवान्! आपके मिलने से पुरानी बातें विस्मृत हो जायेंगी। मैं तो सुन्दर आलाप से आपके गीत गाता रहूँगा। तुकाराम कहते हैं, यहाँ तो विस्तृत रूप में रसवृष्टि हो तो अच्छा होगा। परन्तु आपके बिना रस फीका ही होगा।

१. तुकारामाचे अभंग २४२३।

तुकाराम इस तरह अपने नित्य के अनुभवों में से ही विश्वंभर की कृपा की एवम् दया की प्रत्यक्ष प्रतीति कर लिया करते थे। तुकाराम की मनोभूमिका देखने लायक है—

कारे नाठवी सी कृपाळू देवासी। पोसितो जगासी एकलाचि ॥
तुका म्हणे ज्याचे नाव विश्वंभर। त्याचे निरन्तर ध्यान करी ॥[१]

कृपालु भगवान् को क्यों विस्मृत करते हो? वे तो अकेले ही सारे लोगों का पोषण करते हैं। छोटे शिशु के लिये माता के स्तनों में दुग्ध की उत्पत्ति करके श्रीपति दोनों हाथों से उसका पालन-पोषण करते हैं। ग्रीष्मकाल में भी वृक्ष कोंपलों से युक्त हो जाते हैं उनको जल रूपी जीवन कौन प्रदान करता है? जब वे सारे अनन्त में व्याप्त हैं तो क्या वे तुम्हारी चिन्ता नहीं करेंगे? तुकाराम कहते हैं उनका नाम इसलिए विश्वम्भर है अतएव उनका ध्यान निरन्तर करना चाहिए।

भगवान् का यह विश्वात्मक अनुभव तुकाराम के भीतर भक्ति की आर्द्रता से निसृत हुआ था। इसे भी वे अपना सौभाग्य मानते हैं। सच है, बिना भाग्य के मुलाकात भी कैसे हो सकती है?

महान् भारतीय दार्शनिक गुरुदेव रानडे अपने 'तुकाराम वचनामृत' की भूमिका में कहते हैं—कि, 'साधक दशा के मार्ग में अनेक भयङ्कर विघ्न आते हैं। हरएक साधक इसका अनुभव करता है। अनेक प्रकार के विकल्प, अनेक प्रकार के विकट प्रसंग एवम् अनेक प्रकार की शंकाएँ, साधक के मन में उद्भूत हुआ करती हैं, और मृगजल की तरह साध्य अभी दूर ही है ऐसा प्रतीत होकर क्षण-क्षण निराशा उत्पन्न होती रहती है। यह निराशा की दशा आत्मरूपी सूर्योदय पूर्व की एक भिन्न प्रकार के अन्धकार से परिपूर्ण रजनी ही है। ऐसी परिस्थिति में भी जो साधक जागृत रहकर सूर्योदय की राह देखता है उसे ही अपना अन्तिम साध्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस परिस्थिति में मन की तड़पन भयङ्कर होती है और बेचैनी भी।'[२]

तुकाराम में यह बेचैनी थी और मन की तड़पन भी, जिसने उनको एक मस्त और सिद्ध भक्त बना दिया और वास्तव में भगवान् साकार रूप में उन्हें उपलब्ध हो गए थे। उनके सान्निध्य सुखार्थ मुक्ति का भी त्याग तुकाराम ने कर दिया था। सचमुच वैष्णव सगुण साधकों में तुकाराम सिरमौर है।

---

१ तुकारामाचे अभङ्ग २३१०।
१. तुकाराम वचनामृत प्रस्तावना—गुरुदेव रा द रानडे, पृ० ८।

समर्थ रामदास का आध्यात्मिक पक्ष

आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्व-पीठिका—

राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास का आध्यात्मिक चिन्तन अपने ढङ्ग का और स्वतन्त्र था। प्रायः भक्तिपरक वैष्णव साहित्य का अध्ययन करते हुए, हम वैष्णव भक्तों की आध्यात्मिक साधना प्रणाली और उनकी प्रेरणा के स्रोत खोजते रहते हैं। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का गठन कैसे बना इसका भी हम विचार करते हैं। उनके चिन्तन परक आध्यात्मिक साहित्य को पढ़कर उसका रसास्वादन कर उनकी अनुभूतियों का एवम् अभिव्यक्तियों का मात्र निरूपण कर लेते हैं। वस्तुतः यथार्थ रूप में हमारे लिए उसका रसास्वादन कर लेना साध्य ही नहीं होता। मनोरंजन के लिए साहित्य के क्षेत्र को ये नहीं अपनाते। प्रत्युत कठिन से कठिन साधना करते हुए अपने जीवन के अनेक संघर्षों का मुकाबला करते हुए उसमें वे विजयी बनते हैं, और अनुभूति को बतलाते हैं। प्रथम हमें इसका अध्ययन कर आध्यात्मिक क्षेत्र की उनकी विजय का रहस्य जान लेना चाहिए। इसके अनन्तर उनकी अनुभूति पारमार्थिक अनुभवों का अभिव्यञ्जन कैसे करने में तत्पर एवम् सिद्ध हो गई इसका अनुशीलन करना चाहिए। यह कार्य जितना सरल जान पड़ता है उतना ही कठिन भी है। हम यह कदापि नहीं कहना चाहते कि इन वैष्णव साधकों में प्रतिभा बिलकुल ही नहीं थी।

आध्यात्मिक अनुभूति लेने वालों में समर्थ रामदास की विशेषता—

ज्ञानेश्वर ने अपने व्यक्तिगत जीवन के परिस्थिति के साथ के संघर्ष, समाज के साथ किये गये संघर्ष के बारे में, या आध्यात्मिक जीवन में उच्चता प्राप्त करने के लिए सदिच्छा, भाग्य, या दैव के साथ किये गये संघर्ष के बारे में कहीं पर भी उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। वरन् ज्ञानेश्वरी में और अन्यत्र इसके विषय में वे मौन हैं। तुकाराम और नामदेव ने अपने व्यक्तिगत संघर्ष, सामाजिक संघर्ष और पारमार्थिक क्षेत्र में आत्मिक उन्नति से अपना उद्धार कर लेने के लिए आत्म-निवेदन, सत्संग, नाम-माहात्म्य, और परमात्मा के प्रति दृढ़ विश्वास आदि के माध्यम से अपने व्यक्तित्व अर्थात् अपने चरित्र को प्रस्तुत कर दिया है। कहीं-कहीं पर समाज में पाखंडों, कुरीतियों और दुर्गुणों पर कठोरता से प्रहार करने वाले उद्‌गार अभिव्यक्त किये हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने इनको अपने तीनों प्रकार के संघर्षों में देखा था, तथा उन पर विजय प्राप्त कर ली थी, तभी वे आगे बढ़ सके थे। कहीं-कहीं पर भगवान् से यह स्थिति सुधर जाय ऐसी करुणा-पूर्ण माँग भी वे

परमेश्वर से विनम्रतापूर्वक करते हैं। जैसे ज्ञानेश्वरी का 'प्रसाद दान' है। इन सबसे अलग और प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व श्री संत रामदास का है। रामदास के जीवन में व्यक्ति और समाज का संघर्ष, व्यक्ति के सत् और असत् का संघर्ष, तथा आध्यात्मिक जीवन में उन्नति और योग्यता प्राप्त करने के लिए दैव या प्रारब्ध से किया हुआ संघर्ष बिलकुल अलग ढङ्ग का है। रामदास ने अपने प्रारम्भिक जीवन में जिस संघर्ष का सामना किया उसमें उन्होंने विजय प्राप्त करने के हेतु 'मनोबोध' लिखा। आरम्भ से ही प्रयत्न का आश्रय लिया है और इस आश्रय को सुचारु रूप से संगठित करने के हेतु उन्होंने अपना एक तन्त्र निर्माण किया जो महत्व का है। इसमें सम्पूर्ण विजय उनको स्वनिर्मित तन्त्र से ही प्राप्त हुई। यह अतीव साधना का परिणाम था जो बड़े मनोयोग के साथ की गई थी। इसमें पूर्ण रूप से पटुता एवम् निपुणता प्राप्त कर लोक संग्रह और जगत् का उद्धार करने के लिए एक अलग प्रकार का स्वतन्त्र और सर्वंकष साधना प्रणाली निर्माण की। इसी से वे 'रामदास' बन सके।

समर्थ रामदास की अपनी स्वतन्त्र साधना-प्रणाली—

समर्थ सम्प्रदाय के संस्थापक एवम् सद्गुरु रामदास स्वामी थे। वे अपने आपको महान् बना सके, तथा अनेक शिष्यों को समर्थ और महंत[१] बनाकर अनेक केन्द्रों में उनके द्वारा 'रामोपासना' का प्रचार और प्रसार करते हुए लोक जागृति

१. 'महंत' यह शब्द रामदास स्वामी के द्वारा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मोक्ष प्राप्ति और ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बतला सकने वाला मठ-प्रमुख 'महंत' कहलाता था। ये महंत कुछ नियोजित कार्य किया करते थे जो स्वामी रामदास को अभिप्रेत थे। वे ये हैं—

(१) प्रयत्नपूर्वक बुद्धि पुरस्सर संकटों में सर्वत्र सबको अभय प्रदान कर उससे अलिप्त रहना।

(२) अपनी समर्थ और सिद्ध-साधना प्रणाली से अनेक विध लोगों को सुज्ञ बनाना।

(३) अन्याय का प्रतिकार करना और अपने न्यायी आचरण से कठिन प्रसंगों में धैर्य, बुद्धि और चतुरता पूर्वक सावधानी से सबको आधार एवम् आश्रय देना।

(४) अनेक सुयोग्य लोगों का समुदाय तैयार कर आत्मकल्याण एवम् लोक-कल्याण प्राप्त करना।

(रामदास वचनामृत—डा० रा. द. रानडे प्रकरण ७५, पृ० १३२)

कर सके। इसी से अपने सम्प्रदाय की साधना-प्रणाली के द्वारा स्वधर्म-पालन और स्व-संरक्षण सम्भव हो सका। समर्थ रामदास अपने व्यक्तिगत सघर्ष में अत्यन्त साहसी तथा अध्ययनशील थे।

जो अध्ययन किया हो उसका मनन और चिन्तन करना चाहिए ऐसा उनका आदेश था। भगवद्-प्रेम, तपस्या से साध्य और उद्भूत होता है। अपनी पात्रता और अधिकार सुसम्पन्न जो नहीं कर लेता वह समर्थ, चारित्र्यवान निर्भयी कैसे बन सकता है? जो अपने आपको आश्वस्त नहीं कर सका वह दूसरों को कैसे धैर्य प्रदान कर सकता है? आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति, संस्कृति और आचरण पर निर्भर है। इसलिए परमात्मा के अधिष्ठान पर आश्रित एवम् आधारित तपस्या, सहिष्णुता, विनयशीलता और स्वधर्माचरण के प्रति जागरुकता और परिश्रम करने की तत्परता जब तक साधक में नहीं है तब तक उसे विजय एवम् सफलता मिलना प्रायः असंभव ही है। ऐसी समर्थ रामदास की मनोधारणा थी। उनके मत से जो अध्ययन नहीं करता, उसका सर्वनाश निश्चित है। उनकी, 'यत्न तो देव जाणावा', तथा 'सामर्थ्य आहे चळवळीचें। जो-जो करील तयाचें। परन्तु तेथें भगवन्ताचें अधिष्ठान पाहिजे॥', और 'घडी-घडी बिघडे हा निश्चयो अन्तरीचा। म्हणवुनि करुणा हे बोलतो दीन वाचा॥' जैसी उक्तियाँ उनके द्वारा निर्मित स्वतन्त्र साधना प्रणाली का महत्व और गरिमा सिद्ध करती हैं। इन उक्तियों में वे कहते हैं कि यत्न को ही भगवान् समझना चाहिए। आन्दोलन में सामर्थ्य उसके करने वालों की दृष्टि से अवश्य रहता है, परन्तु भगवान् का अधिष्ठान एवम् आशीर्वाद प्राप्त कर किया गया आन्दोलन ही महत्वपूर्ण होता है। बार-बार अन्तःकरण में निश्चय कर लेने पर भी उसका कृति में पालन नहीं हो पाता है। इसलिए मैं भगवान् से उसे पूरा कर लेने की करुणा-पूर्ण वाणी में दीनता से प्रार्थना किया करता हूँ।[1]

उनके साहित्य-सागर में डुबकी लगाकर उसमें से बाहर सशरीर निकल आना आसान कार्य नहीं है। ईश्वर पर अडिग आस्था रखने वाले, स्वावलम्बी एवम् प्रयत्नशील बनकर और एक सुनिश्चित तन्त्र और साधना-प्रणाली से अध्ययन कर उसमें अवगाहन कर सकते हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समर्थ रामदास के व्यक्तित्व में राष्ट्रगुरु होने की कौन-कौन सी विशेषताएँ विद्यमान थी और उनका अनुशीलन करेंगे।

---

१. देखिए रामदास कृत 'मनाचे श्लोक', 'दासबोध' और 'करुणाष्टक'।

रामदास के व्यक्तित्व मे पायी जाने वाली विशेषताएँ—
'जिससे वे राष्ट्रगुरु बने—

वे अपने मन से कहते हैं—

मना सज्जना भक्ति पंथेचि जावे। तरी श्रीहरी पाविजे तो स्वभावे।
पनीं निंद्य ते सर्व सोडो निद्यावे। जनी वद्य ते सर्व भावे करावे।।[1]

यहाँ पर रामदास अपने मन को 'सज्जन' कहकर सम्बोधन करते हैं, तथा उनको समझाते हैं कि हे मेरे सज्जन मन! तू भक्ति मार्ग से ही चल। क्योंकि इस मार्ग से चलने पर श्रीहरि स्वभावत. और सहज ही तुझे मिल जायेंगे। दुनियाँ मे जो भी निन्दनीय और तिरस्करणीय है उसे छोड दिया जाय और जो भी वदनीय और स्पृहणीय है उसे अपनाया जाय।

इस तरह सबसे प्रथम समर्थ रामदास ने अपने मन पर सुस्पष्ट सस्कार कर उसे सज्जन कहा। स्व-सुसंस्कार करते हुए आत्म-शिक्षा ग्रहण करने का तन्त्र एवम् *साधना-प्रणाली रामदास की अपनी विशेषता है। यह आत्मबोध एक बहुत बडा* सामर्थ्य है जिसका रहस्य वे जानते थे। मन के बारे मे एक सस्कृत उद्धरण मे कहा गया है[2]—

मन एव मनुष्याणाम् कारणम् बन्ध मोक्षयो.।
बंधाय विषयासक्तं मुक्तैः निर्विषम् स्मृतम्।।

मनुष्य का मन ही मानवमात्र के बन्धन और मोक्ष का कारण है। समर्थ रामदास को इसकी शिक्षा दीक्षा तथा यह सामर्थ्य अपनी गुरु परम्परा से उपलब्ध हो गयी थी। अब इसे ही देखने का हम प्रयत्न करेंगे।

आदि नारायण सदगुरु आपुचा। शिष्य हो तयाचा महाविष्णु।
तयाचा हो शिष्य जाणावा तो हंस। तेणे ब्रह्मयास उपदेशिले।।
ब्रह्मदेवे केला उपदेश वसिष्ठा। तेथे धरिली निष्ठा शुद्ध भाव।।
वशिष्ठ उपदेशी श्री रामयासी। श्री रामें दासा सी उपदेशिले।।
ब्रह्म देवे केला उपदेश वसिष्ठा। तेथे धरिलो निष्ठा शुद्ध भाव।।[3]
आत्मरूपी जाला रामी रामदास। केला उपदेश दीनोद्धारे।।

× × ×

---

१. मनाचे श्लोक संख्या २।
२. एक संस्कृत सुभाषित ब्रह्म बिंदूपनिषद्-श्लोक स० २।
३. समर्थाची गाथा—पद २७०, पृ० ८४।

भाविका भजन गुरु परम्परा । सदा जप करा राममंत्र ।।
राम मंत्र जाण त्रयोदश माक्षा । सर्व वेद शास्त्रा प्रकटचि ।।
× × ×
येणे मंत्रे जाण मुमुक्षु साधक । साधक प्रसिद्ध सिद्ध होय ।।
सिद्ध होय राम तारक जगता । मुक्ति सायुज्यता रामदासी ।।[1]

रामदास अपनी सम्प्रदाय परम्परा इन पदों मे बतलाते हैं। आदि नारायण-महाविष्णु से यह परम्परा आरम्भ होती है। आदि नारायण हमारा मूल सद्गुरु है जिसके शिष्य महाविष्णु हुए। इस प्रकार आगे चलकर महाविष्णु के हंस, हस के ब्रह्माजी ब्रह्मा के वशिष्ठ शिष्य हुए। वशिष्ठ ने इस सम्प्रदाय का उपदेश प्रभु रामचन्द्रजी को दिया। रामचन्द्रजी ने रामदास को शिष्य बनाया। ब्रह्मदेव ने वशिष्ठ को जो उपदेश दिया था, उससे उन्होने अपने आराध्य मे दृढ निष्ठा और शुद्ध भाव रखा। प्रभु रामचन्द्रजी को यही उपदेश वशिष्ठ ने दिया जो 'योगवासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध में एकान्त में चर्चा करते समय लक्ष्मण पहरेदार बने थे और दुर्वासाके शाप से पूरे रघुकुल को बचानेके लिये अपनी प्रतिज्ञा-भंग के उपलक्ष मे उनको सरयू मे आत्म-विसर्जन कर देना पड़ा था। प्रभु रामचन्द्रजी ने रामदास को स्वयम् उपदेश दिया और उन्हे हनुमानजी के हाथो मे सौंपकर वे अन्तर्धान हो गये। सांसारिक जीवन के प्रति मैं मनःपूर्वक और प्राणपण से उदास हो गया हूँ। इसीलिये हमारे कुल मे मुख्य उपास्य के रूप मे प्रभु श्री रामचन्द्रजी और हनुमानजी ये दोनो पूजे जाते हैं। दोनो मुझ मे आत्मरूप धरकर निवास करते हैं। अपने इस आत्मरूप का स्वसंवेद्य स्वात्मानुभव प्राप्त कर लेने के कारण मैं राम का दास बन गया हूँ और 'रामदास' कहलाता हूँ।

प्रभु श्री रामचन्द्रजी से जगत् के उद्धारार्थ जो उपदेश मुझे प्राप्त हुआ उसे जगत के लिए प्रदान करूँगा जो इस प्रकार है। भावुक बनकर इस गुरु परम्परा से सम्प्राप्त प्रणाली से भजन करना चाहिए और सदा त्रयोदशाक्षरी राम मन्त्र का जप करना चाहिए। इसके तेरह अक्षर 'श्रीराम जयराम जय जय राम' ये हैं। इनको जपकर ही इनकी महिमा प्रकट होती है। ऐसा सारे वेदों और शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वैसे भी यह राम-मन्त्र इसलिए प्रसिद्ध है कि यह बद्ध और जड जीवों को तार देता है। इससे सकल चराचर के जडजीव तर जाते हैं। काशीपुरी में जो साधक इसको जपते हैं उनका जीवन धन्य है। यह मन्त्र ओंकार स्वरूप और तारक मन्त्र के

१. समर्थांची गाथा—अनन्तदास रामदासी (सम्प्रदाय परम्परा), पद २७०–७१, पृ० ८४।

नाम से प्रसिद्ध है। मुमुक्षुओं के लिए तो यह विश्वरूप प्रदान करता है। इस मन्त्र के सामर्थ्य से मुमुक्षु जीव जागरूक और सतर्क हो जाता है। उसे सुस्पष्ट साधकावस्था प्राप्त हो जाती है। निष्ठापूर्वक इस मन्त्र की साधना करने पर वह सिद्ध बन जाता है। इसे रामतारक मन्त्र के जपने से रामदास को सायुज्य मुक्ति मिल गयी। अन्य लोग भी उसे प्राप्त कर सकते हैं।

रामसत्र-साधना की सिद्धि से मिलने वाला सामर्थ्य—

एक बार इस तारक राममन्त्र की जप-साधना परिपूर्ण कर लेने पर यह आवश्यक नहीं है कि साधक गृहस्थी न बने। क्योंकि इस मन्त्र की साधना और उसकी सागता साधक में यह बल प्रदान करती है, जो उसे सुन्दर रीति से गृहस्थाश्रम को निभाते हुए भी विवेकी बना देती है। अपने 'दास बोध' में समर्थ रामदास बतलाते हैं[१]—

'प्रपंच करावा नेटका। परमार्थ साधावे विवेका॥'

रामदास गृहस्थाश्रम को 'नेटका' अर्थात् सुस्पष्ट और प्रयत्नपूर्वक भली-भाँति करना चाहिए ऐसा बतलाते हैं। इससे ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण विवेक की सहायता से सुसम्पन्न हो जाते हैं। इस विषय का एक स्थान पर वे साधक को बड़ा सुन्दर उपदेश देते हैं यथा—

जीव का कर्तव्य—

ससार करावा सुखे यथा सांग। परी सन्त सङ्ग मनी धरा॥
असोनिया नाहीं माया सर्व कांहीं। विवचुनि पाहीदास म्हणे।[२]

समर्थ रामदास यह उपदेश देते हैं कि मुमुक्षु साधक को प्रथम अपना लौकिक, सासारिक जीवन यथासाग सुखपूर्वक कर्तव्य दक्ष बनकर अत्यन्त सावधान के साथ व्यतीत करना चाहिए। इसे करते हुए स्वार्थरत न रहकर सन्त-सग करने की चिन्ता मन में करते हुए उसे जीवन में बरतना चाहिए। इसका फल यह होता है कि आगे चलकर अपने आप उसका मनन एवं चिन्तन होने लगता है। धीरे-धीरे भगवान् में आस्था जगती है तथा सन्तों और सज्जनों का सहवास प्राप्त हो जाता है। है। इस तरह प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति प्राप्त होकर इहलोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं। सन्तों का अनुभव और उनके वचन इस पार से उस पारतक अर्थात् लौकिक और पारलौकिक जीवन सुधारने में उससे सहायता मिल जाती है। अपनी

१ दासबोध–रामदास।

२. समर्थाची गाथा–पद २७६, पृ० ८६।

प्रतीति से मिले हुए अनुभवों को अन्य सन्तों के आत्मानुभवों में वर्णित निरूपणों से मिलाइये। इससे इन निरूपणों में प्रगाढ़ विश्वास उत्पन्न हो जायगा। संसार में रहकर यदि निरूपण में प्रीति होगी तो निश्चित उद्धार हो जावेगा। आत्मोद्धार में सर्वत्र दिखाई पड़ने वाली माया केवल भासित होती है। वह सत्य नहीं है—यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा परिणामतः ईश्वर मिल जाता है। रामदास कहते हैं कि साधक को इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कर देखना चाहिए। पूर्ण छानबीन करने पर मुमुक्षु को अपने उद्धार की चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। चिन्ता से मार्ग उपलब्ध हो जाता है। मार्ग मिलने से उद्धार हो जाता है यह समर्थोपदेश यथायोग्य और उचित ही है। जीव को मुमुक्षु बनना चाहिए जिससे यह साधन उसे सुलभ हो जाता है।

समर्थ रामदास के इस उपदेश को आचरण में लाने के पूर्व साधक को आत्म-निरीक्षण करना अनिवार्य है। रामदास की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—'आधी केलें। मग सांगितलें' अर्थात् उनकी कृति प्रथम और उक्ति बाद में यह क्रम रहा है। उपदेश देने वाला यदि स्वयम् वैसा आचरण नहीं करता तो उसका उपदेश निरर्थक सिद्ध हो जाता है। समर्थ रामदास उपदिष्ट बात को आचरण में लाकर फिर उसका उपदेश देते हैं। निश्चित है कि उन्होंने अपना आत्म निरीक्षण अवश्य किया था। यह आत्म निरीक्षण उन्होंने किस प्रकार किया इसे देख लेना उपयुक्त ही होगा।

समर्थ रामदास का आत्म निरीक्षण—

समर्थ रामदास अपना आत्मनिरीक्षण एक रूपक के द्वारा समझाते हैं। यथा –

> प्रवृत्ति सासुर निवृत्ति माहेर। तेथे निरन्तर मन माझे॥
> माझे मनीं सदा माहेर तुटेना। सासुर सुटेना काय करूं॥
> तुटि जाय हित मजचि देखतां। प्रेत्न करूं जाता होत नाहीं॥
> होत नाहीं प्रेत्न सन्त संगेविण। रामदास खूण सांगत से॥[1]

मेरी प्रवृत्तियाँ ससुराल है और उसका मायका निवृत्ति है। रामदास कहते हैं कि मेरा मन निरन्तर अपने मायके में तथा ससुराल में रमता है। परन्तु न तो मायके का मोह टूटता है न ससुराल की व्याप्ति छूटती है। निवृत्ति से भगवान् का सान्निध्य मिलता है अतः मन का वहाँ रमना सर्वथा सराहनीय कहा जावेगा। मेरे मन में अपने नैहर की स्मृति मँडराया करती है और छूटती नहीं है। पीहर भी

१. समर्थांची गाथा—पद २८६, पृ० ६२।

नहीं छूट पाता। इस प्रकार से द्विविधा उत्पन्न हो गयी है। एक ओर प्रवृत्तिपरक बातों का आकर्षण है जहाँ सांसारिक प्रलोभन, मोह, प्रतिष्ठा आदि है, तो दूसरी ओर निवृत्तिपरक बातों का भी आकर्षण है जहाँ भगवद्-भक्ति और आनन्द आदि बातें मिल सकती हैं। मेरे सामने यह समस्या है कि मैं किस की ओर जाऊँ? लौकिक पक्ष मेरे हाथ धोकर पीछे पड गया है तो विवेक दूर-दूर भाग रहा है। साधक के लिये विवेक का साथ अनिवार्य है। विवेक जब दूर जाता है तब मेरा हित मेरी आँखों के सामने ही मुझे छोड़कर जा रहा है। यह बात प्रतीत होती है। प्रयत्न करने की इच्छा है पर उसे करते नहीं बनता। केवल इच्छा से ही कार्य नहीं हो सकता। कार्य को कर डालने से ही कार्य समाप्त हो जाता है। अतः मुझे प्रयत्न को कार्यान्वित करना चाहिए। सन्तो का सहवास करने से सत्संग हो जायगा। वह यह सिखा देगा कि प्रयत्न कैसे किया जाय। प्रयत्नपूर्वक किया गया कार्य सफलता प्रदान करता है। रामदास को आत्म-निरीक्षण में इस बात का पता चला कि सत्सङ्ग के बिना प्रयत्न नहीं हो सकता। संत अपने साथियों को बुद्धि पुरस्सर प्रयत्न में रत करा देते हैं। इससे व्यक्ति को परमार्थ के मार्ग का सत्पथ और विवेक जैसा तत्पर साथी भी मिल जाता है।

आत्म निरीक्षण के बाद की सीढ़ी आत्म-कथन है। बिना अनुभूति के आत्म-कथन सम्भव नहीं होता। अनुभूति जब तीव्रतम हो जाती है, तब वह आत्म-कथन का विषय बनकर अभिव्यक्त होती है। व्यक्ति के भीतर छिपी हुई प्रच्छन्न दैविक शक्ति मन में रहती है। इसे आत्म-निरीक्षण में मुमुक्षु साधक को ढूँढना पड़ता है। इस खोज में प्राप्त स्वानुभूत बातों को वह अपने आत्म निवेदन के रूप में प्रस्तुत कर देता है। समर्थ रामदास भी यही करते हैं।

समर्थ रामदास का आत्म निवेदन—

> बोलण्या सारिखे चाले जो सज्जन। तेथ माझे मन विगुंतले ॥
> दास म्हणे जन भावार्थे सम्पन्न। तेथे माझे मन विगुंतले ॥

समर्थ रामदास को सत्संग से जो अवस्था प्राप्त हो गई थी, उसका अनुभव वे अपने से कहकर बतलाते हैं। वे कहते हैं कि मेरा मन उसी स्थल में अटक गया जहाँ पर सज्जनो की उक्ति के अनुसार ही उनकी कृति भी देखने के लिए मिल जाती है। जहाँ सज्जन व्यक्ति में शुद्ध ब्रह्मज्ञान विद्यमान होने पर भी वह पूर्ण निरभिमानी भी है, वहाँ मैं ऐसे व्यक्ति के प्रति मनसा वाचा कर्मणा श्रद्धानत

१. समर्थांची गाथा—पद २६८, पृ० ६४।

और अनुपम हैं परन्तु भक्तों के प्रेम वश होकर राम सगुण बन सकते हैं, और बनते हैं। विचार और चिन्तन दृष्टि का 'निर्गुण' भाव दृष्टि से 'सगुण' बन गया और भक्तों के हितार्थ 'निसिचर हीन पृथ्वी' करने की प्रतिज्ञा अपनी भुजा उठाकर प्रभु राम ने की। तुलसी के आराध्य की यह अन्यतम विशेषता है।

विनय भावना—

तुलसी के मानस में धनुर्धारी राम का किशोर, बाल तथा शक्तियुत अर्थात् जानकी सयुत रूप विद्यमान है, इसी लिये जब वे अपनी विनय से परिपूर्ण पत्रिका अपने आराध्य तक पहुँचाते हैं, तो जानकी जी से भी प्रार्थना करते हैं कि हे माता! कभी मौका देखकर इस भक्त की करुण कथा चलाकर रघुनाथजी को मेरा स्मरण दिलाना। इस अभ्यर्थना में वे अपने उपास्य का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप अपने सामने रखते हैं—

कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ गुन गन गाइ।।[1]

जानकी माता! कभी अवसर मिले तो श्री रामचन्द्र जी को मेरा स्मरण करा देना। मेरे सम्बन्ध का कोई करुण प्रसंग छेड़ देने से मेरा काम बन जायगा। स्मरण दिलाते हुए उनसे कहिए कि आपको एक दासी का दास (तुलसीदास) बहुत दीन, साधन हीन, दुर्बल, पूर्ण-पापी, आपका नाम लेकर पेट भरने वाला है। यदि प्रभु पूछ बैठें कि वह कौन है, तो मेरा नाम लेकर मेरी दशा बता देना। मेरा पूर्ण विश्वास है, कि कृपालु रामचन्द्रजी के इतना सुन लेने मात्र से ही मेरी सारी बिगड़ी बात बन जायगी। हे माता! यदि आपके वचनों से ही इस दास की प्रभु के सामने सिफारिश हो गई, तो यह तुलसीदास आपके स्वामी की गुणावली गाते हुए संसार सागर को सरलता में पार कर जावेगा।

तुलसीदासजी यह भी जानते हैं, कि 'रघुपति भगति करत कठिनाई।' मोदमई मंगलमयि जानकी-पति की दास्य भक्ति तुलसी का जीवन लक्ष्य था। वे गणेशजी से, शंकरजी से और सब से अपने हृदय में राम-सीता बस जाय यही वरदान मांगते हैं। तुलसी के राम का स्वरूप व्यक्तिगत और समाजगत साधना के लिए उपादेय एवम् लोक मर्यादा का संरक्षक तथा विधायक स्वरूप माना जावेगा। एक आदर्श भक्त के नाते विनय की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भावना से भाव विभोर एवम् तन्मयता से परिपूर्ण अवस्था से तुलसी ने अपने उपास्य को जैसे समझा-बूझा है वैसा हर कोई नहीं समझ सकता। अपने आराध्य के उज्ज्वल और मर्यादा

१. विनय पत्रिका पद ४१, पृ० ५४।

पुरुषोत्तम के शील-सौन्दर्य-शक्ति-युक्त-स्वरूप की सगुण रामभक्ति के राजमार्ग को सँवारने का काम तुलसी ने किया। हिन्दु-संस्कृति पर तुलसी का यह एक अतीव एवम् महान् उपकार है।

तुलसीदासजी मानव जीवन में सदाचार और सच्चरित्र को विशेष प्रश्रय देते हैं। परहित के समान पुण्य कारक और कोई कार्य नहीं है, ऐसा उनका मत है। विनय भावना से अहंकार भावना का भजन हो जाता है और भक्त दास्य भक्ति करने का पात्र बन जाता है। भक्त अपनी विमल मति में सिया राम मय संसार में प्रभु का गुणानुवाद करने के लिए आश्वस्त हो जाता है।

तुलसी का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

रामचरित मानस में तुलसीदास ने जीवन के उन मूल्यों की प्रस्थापना की है, जो सामाजिक और व्यक्तिगत रूप में मानव की गरिमा को एक उच्चता प्रदान करते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय उसके नैतिक पक्ष से है। यह नीति सत्ता जीवन को एक स्थिरता दृढ़ता और आस्था प्रदान करती है। व्यक्ति और समाज में जिस आत्मबल की कमी थी, उसे राम भक्ति के तपोबल से एक ठोस आधारशिला देकर तुलसी ने भारतवासियों पर बड़ा उपकार किया है। जनजीवन को तुलसी की यह स्थायी देन है। सांसारिक जीवन में कलह, संघर्ष, छल, कपट के रहते हुए भी निराशा को हटाकर इन सब पर सद्-विवेकिनी बुद्धि से उस पर विजय प्राप्त कर सत्य और आदर्श जीवन की प्रस्थापना के लिए व्यक्ति और समाज को कर्मण्य बनाकर लोक-मङ्गल की चैतन्य पूर्ण प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए, यही तो तुलसी का लोकाभिमुखी दृष्टिकोण है। जीवन से भागने का दृष्टिकोण तुलसी का नहीं है। नैतिक मूल्यों को अपनाते हुए लोक संघर्ष यदि करना पड़े तो लोक मङ्गल की स्थापना के लिए उसे करना चाहिए। अपने समय की लोक दशा को तुलसी ने बराबर देखा था। कलि काल का अकाल, बनारस की महामारी, तथा उस समय की दुर्दशा का वर्णन वे बराबर करते हैं।[1] यथा—

> खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
> बनिक को बनिज नहि चाकर को चाकरी।
> जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच बस,
> कहैं एक एकन सों कहाँ जाईं का करी।
> वेदहू पुरान कही लोक हूँ विलोकियत,
> सांकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।

१. कवितावली उत्तरकाण्ड ९७ कवित्त पृ० ६४।

दारिद-दसानन दवाई दुनी, दीनबंधु,
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।

दारिद्र्यावस्था ही रावण है, जिसने सारे संसार को दबा रखा है। किसी को भी कोई व्यवसाय नहीं है। सब व्यवसायहीन हो गये हैं। शासक वर्ग की क्या जिम्मेदारी नहीं है? संकट काल में राम ने सदा कृपा की है, जिसकी साक्ष्य वेद पुराण भी देते हैं। प्रजापालन का धर्म भूलने वाले शासकों के लिए तुलसी ने भविष्यवाणी कर कहा है, कि रावण की तरह अत्याचार करने वालों का सदा सर्वनाश होगा। इसीलिए उनका आदर्श रामराज्य की कल्पना है, जिसमें दरिद्रता, विषमता आदि न हो। यथा[1]—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिहु पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।

सब स्त्री और पुरुष रामभक्ति में रत हो जायेंगे। परम गति अर्थात् मोक्ष के अधिकारी सब बन जायेंगे। किसी की अल्प मृत्यु नहीं होगी। किसी को पीड़ा नहीं होगी। सब स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाले हो जायेंगे। कोई दरिद्री और दीन एवम् विपन्न नहीं होगा। कोई मूर्ख और लक्षणों से हीन नहीं होगा। तुलसी ने भक्ति को मानव जीवन की समस्त समस्याओं का अमोघ उपाय बतलाया है। भक्ति की लोक-मंगलकारी उपयोगिता से तुलसी ने जीवन और जगत् में आस्थापूर्ण वातावरण निर्माण कर दोनों को ईश्वरोन्मुख बनाया। जीवन को तुलसी शाश्वत मानते हैं। तथा समाज और व्यक्ति की उन्नति में सदाचार और नैतिकता का विशेष महत्त्व मानते हैं। सर्व साधारण के लिए श्रेयस्कर तथा कल्याणकारी उपाय सत्संग, विवेक आदि सद्गुणों का आश्रय करना है, तथा काम, क्रोध, मोह आदि षड्रिपुओं का त्याग भी आवश्यक है। ऐसा करने पर भगवान् के लिए भक्ति का उदय, हृदय में हो जाता है। राम का नाम गाकर उनकी चरित-गाथा सुनकर भगवान् की सेवा करने में तत्पर हो जाता है। सर्वत्र राम मय ही सब कुछ है ऐसा मानकर चलने से रामकृपा हो जाती है। इस रामकृपा से भक्ति उत्पन्न होती है। राम भक्ति से मुक्ति स्वयम् अपने आप चली आती है। भक्ति, मुक्ति का साधन होने पर भी आत्मकल्याण के लिए और लोक-कल्याण के लिए साध्य भी है। भक्ति ही राजमार्ग है अतः वही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। भक्ति करने का अधिकार सब को है और इसी से उद्धार संभव है।

१. रामचरित मानस उत्तरकांड २१।३।

महात्मा सूरदास एवं तन्मय वैष्णव कवि और गायक के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष—

हमारे अध्ययन में आये हुए वैष्णव भक्तों में सबसे विलक्षण रस सिद्ध एवम् तन्मय और भगवद् भक्ति के महान् गायक और भागवत भक्त शिरोमणि सूरदास एक अद्भुत कलाकार हैं। इस अन्धे भक्त ने एक बार ही 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' जिसे माना गया है, उस पूर्ण पुरुषोत्तम, रस पुरुषोत्तम, लीला पुरुषोत्तम, प्रेम-पुरुषोत्तम और सौन्दर्य पुरुषोत्तम एवम् सच्चिदानन्द स्वरूप माधुर्य पुरुषोत्तम को प्रत्यक्ष देखकर अपने हृदय में सदा के लिए स्थित कर लिया था। अपने हृदय में सर्वदा के लिए उन्हें पधराकर कहा था—

'बाँह छुड़ाये जात हो निवल जानि के मोहि।
हिरदय भीतर जाहुगे सबल धरोंगे तोहि।' सूरदास।

भगवान् का सत् चित् और आनन्द की तीन विशेषताओं से युक्त स्वरूप है। आनन्द का भावविग्रह तन्मय रूप सूर में साकार हो उठा है जिसने उनके हृदय में उल्लास का एक अपूर्व अम्बुधि उमड़ाकर उन्हें भाव तत्पर बना दिया है। 'आनन्द ब्रह्मेति व्यजानात्।' इस प्रकार के वचन में तथा आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायानुसार 'ब्रह्म' सच्चिदानद स्वरूप है। तैत्तिरीयोपनिषद में ऐसा बतलाया गया है—'पुरुष एवे दं सर्वम्।'[१] परम पुरुष यही निखिल जगत् है। सूरदासजी एक विरागी और निरीह भक्त थे। उनका मन भगवान् की सगुण स्वरूपी भक्ति में रमा था। वैसे उनमें दास्य भाव की भक्ति का प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदायी पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने के पूर्व काल में निश्चित दिखाई देता है। ऋग्वेद में एक ऋचा है, जो कि आत्मा और परमात्मा की एकता को स्पष्ट करती है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य. पिप्पल स्वादत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।।[२]

प्रकृति-रूपी वृक्ष पर ईश्वर और जीव नाम के दो पक्षी बैठे हुए हैं। दोनों सयुजासखा हैं। इनमें से एक जिसका नाम ईश्वर है वह इस वृक्ष के फल नहीं खाता। परन्तु दूसरा, जिसे जीव कहते हैं, वह स्वाद पूर्वक इस वृक्ष के फल खाया करता है। फल भक्षण करना और फल की इच्छा करना ही आसक्ति है। हरि लीला में अनासक्ति आवश्यक है। आसक्ति के कारण जीव हरि लीला का लाभ नहीं उठा पाते हैं। सूरदास पर भागवत की दार्शनिकता का पूरा प्रभाव है।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद।
२ ऋग्वेद १।१६४।२०।

आध्यात्मिक विद्या के निष्णात भागवतकार थे तो सूरदास भी उनसे किसी तरह कम नहीं दिखाई देते। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम् ।' कहने वाले गीताकार कृष्ण, रास लीला के रसिक कृष्ण ही सूरदास के उपास्य हैं। एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों का अर्थात् जीव और ईश्वर के ऐक्य का प्रदर्शन 'लीला गुण गान' है। इस कार्य में आनन्द है। इसीलिए उस आनन्द रूप श्रीकृष्ण को 'रसो वै स' कहा गया है।

भक्ति के क्षेत्र में प्रभु के निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार दोनों रूप मान्य थे। सूर ने भी निर्गुण भक्ति की महत्ता मानी है पर वे इसे क्लेश कारक बतलाते हैं। गीताकार की यह उक्ति द्रष्टव्य है[1]—

> क्लेशो धिकतर स्तेषाम् अव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
> अव्यक्ताहि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते ॥

अविनाशी, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्तनीय कूटस्थ, एवम् अचल परमात्मा की उपासना करने वाले तथा निर्गुण निराकार में चित्त रमाने वाले व्यक्तियों को बहुत कष्ट होता है, क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त की गति का ज्ञान कर लेना सरल कार्य नहीं है।

सूर द्वारा विवेचित इसी सिद्धांत को देख लेना उपयुक्त होगा—

सगुण लीला क्यों ?

> अविगत-गति कछु कहत न आवै ।
> सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन-पद गावै ॥[2]

अविगत की गति बतायी नहीं जा सकती। जैसे गूँगा आदमी मीठे फल को खाकर उसके स्वाद को अपने भीतर अनुभव कर लेता है। वह परम स्वाद उसके हृदय में अमित सन्तोष उत्पन्न करता है। परन्तु उसका वर्णन करना वाणी के सामर्थ्य की बात नहीं, वरन् उसकी शक्ति से परे की बात हो जाती है। मन और वाणी के लिए अगोचर का ज्ञान केवल उसी को होगा, जो उसको सम्प्राप्त कर लेता है। सर्व साधारण जनों के लिए रूपरेखा विहीन प्रभु के पीछे मन को दौड़ाने का कार्य बहुत ही कठिन है। बिना किसी अवलम्ब को पकड़े अथवा आश्रय लिए सामान्य लोग उधर नहीं जा सकते। सूरदास कहते हैं, मैं इसी कारण से प्रभु के सगुण स्वरूप को मानकर उसकी लीलाओं का गान करता हूँ।

---

१. भगवद्गीता १२।५ ।
२. सूरसागर पद २ (ना. प्र. स.) संस्करण ।

यह लीला-पुरुषोत्तम आविर्भाव और तिरोभाव से अनेक रूप धारण कर सकता है। पुरुषोत्तम परब्रह्म का एक स्वरूप 'अक्षर ब्रह्म' माना गया है। पूर्ण-*पुरुषोत्तम को जब रमण करने की इच्छा होती है तो वह स्वयम् जगत् के रूप में* प्रकट हो जाता है। 'एको ह बहुस्याम।' इस तैत्तिरीयोपनिषदोक्ति के अनुसार अपनी इच्छा से 'अक्षर-ब्रह्म' उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाली शक्तियों में प्रकट होकर ब्रह्मा विष्णु और शिव कहलाता है। इसी प्रकार इस पूर्ण-पुरुषोत्तम *के प्रमुख रूप से पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीकृष्ण बनकर नित्य आनन्दाकार* विग्रह से गोलोक एवम् वृन्दावन में नित्य लीला किया करते हैं। अक्षर ब्रह्म अपनी शक्तियों सहित अवतीर्ण होकर अपने अंश और अंशी रूप में प्रकट होते हैं। एक रूप अन्तर्यामी ब्रह्म का भी है। अविद्या माया के कारण जीव बद्ध रहता है, जो वास्तव में अणु रूप है। विद्या माया से मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अविद्या का नाश भगवान् की कृपा के बिना संभव नहीं है। भगवद् कृपा हो जाने पर दुःख से जीव की मुक्ति होकर वह नित्य आनन्द प्राप्त करने का पात्र और अधिकारी बन जाता है। जीव का भगवान् से संयोग और वियोग होता है, और इन दोनों रसावस्थाओं *की अनुभूति होती है। भगवान् के अनुग्रह से जीव की मुक्ति में विशेष सहायता* मिल जाती है। अतः अनुग्रह के अनुसार अलौकिक शरीर में प्रवेश कर मुक्त जीव भगवान् की लीला का रसास्वादन करता है।

सूर की दृष्टि में श्रीकृष्ण का परब्रह्म रूप—

ब्रह्म निरूपण सूरदासजी इस प्रकार करते हैं[1]—

> सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम।
> पूरन-ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सर्वविधि पूरन काम॥
> आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
> ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार।

श्रीकृष्ण परमात्मा अपार, अमित और अखण्डित शोभा के आगार, तथा आत्माराम हैं। सब प्रकार से पूर्ण काम और प्रकट रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। वे आदि हैं, सनातन हैं, अनुपम हैं और किसी के द्वारा न जाने योग्य हैं। वे मिताहारी, ओंकार रूप आदि वेद असुर-हन्ता और अपार रीति से सगुण एवम् *निर्गुण दोनों हैं।* सूर के अनुसार श्रीकृष्ण भगवान् में प्रकृति और पुरुष की अद्वैतता विद्यमान है। वे पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म और श्रीकृष्ण में ऐक्य प्रस्थापित करते हैं। यथा—

---

१ सूरसारावली ६६२—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ७६।

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विरहत युगल स्वरूप ।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गोपाल ।[1]

× × ×

आदि सनातन हरि अविनाशी । सदा निरन्तर घटघटवासी ।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं । चतुरानन सिव अन्त न जानै ।
गुन-गम अगम निगम नहिं पावै । ताहि जसोदा गोद खिलावै ॥[2]

जो भगवान् सदा एक रस, अखण्डित, आदि, अनादि और अनुपम हैं, वे नित्य हैं। राधा और श्रीकृष्ण बनकर यह युगल जोडी से विहार करते हैं। करोडों कल्प बीत जाते हैं, फिर भी किसी को इसका पता तक नहीं चलता। सृष्टि के सारे तत्त्व, सारा ब्रह्मांड तथा सारे देव समूह सारी माया निरन्तर सब प्रकार से उनमें ही स्थित रहते हैं। श्रीपति पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं और सारे गोपाल उन्हीं के अंश हैं।

ये हरि अविनाशी और सनातन हैं तथा सदा घट-घट में निवास करते हैं। पुराण इनको पूर्ण ब्रह्म के रूप में बखानता है। चतुरानन ब्रह्मा और शङ्कर तक भगवान् का आदि और अन्त नहीं जानते हैं। आश्चर्य इस बात का है, कि भगवान् के गुणों का पारावार आगम और निगमों तक को नहीं लग सका है। परन्तु उन्हीं को जसोदा अपनी गोद में खिलाती है।

अद्‌भुत विराट स्वरूप की विचित्र आरती—

सूर के द्वारा रचित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का चित्रण करने वाली एक धारणा देखिए[3]—

हरिजू की आरती बनी ।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँडी सहस फनी ।
मही सराव, सप्तसागर घृत, बाती सैल घनी ।
रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी ।
उड़त फूल उड़गन नभ अन्तर, अंजन घटा घनी ।

---

१. सूरसारावली–पृ० ८७ १०६६, ११०१ ।
२ सूरसागर पद ६२१ (ना स.) ।
३. सूरसागर पद ३७१ (ना स) ।

नारवादि सनकादि प्रजापति सुर-नर-असुर-अनी।
काल-कर्म-गुन ओर अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सुनिरंतर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रकट ध्यान में, अति विचित्र सजनी।

जो सारे ब्रह्माड में व्याप्त हैं, ऐसे विराट स्वरूप वाले हरिजी की आरती अद्भुत रीति से उतारी गई। सूरदासजी को वह आरती स्वयम् अपने उपास्य के ध्यान मे प्रकट हो गई। इस विराट की व्यापक आरती की सजधज और उसकी तैयारी बडी विचित्र ढङ्ग पर की गई है, जिसका वर्णन कर सकना शारदा के लिए भी सम्भव नही है। जिससे आरती उतारी जा रही है, वह आरती पात्र कच्छप के आसन से बनी हुई है। बडो अनुपमता से उसकी सहस्र फनो से डाडी रची गई है, अर्थात् शेष नागजी जिसकी डाँडी हैं। पृथ्वी उसका सराव है, तथा सप्तसागर घृत के समान है। जिसमे विशाल शैल की सघन बाती है। वह आरती प्रज्वलित है, जो रवि-शशि की आभा से सारे जगत् को परिपूर्ण करती जा रही है। अम्बर मे नक्षत्र इस आरती से उडने वाले फूल हैं जो रात्रि का अन्धकार विनष्ट कर देते हैं। इस अवनी मे सम्मिलित लोगो मे नारद, शुक, सनक आदि ऋषिमुनि, तथा प्रजापति, देव, असुर के समूह विद्यमान है। इस आरती की कोई वेला, कोई, कम, कोई गुण और कोई अन्त नहीं है यह तो प्रभु की इच्छा से रची गई है। इसी दीपक का यह प्रताप है, जो निरन्तर सारे लोगो को भगवद् भजन मे निरत करा देता है।

सूर की वैराग्य भावना—

सन्यासी सूरदास को ससार की निस्सारता तथा क्षण भगुरता को देखकर उसके प्रति प्रथम वही विगर्हणा उत्पन्न हुई जो प्राय सारे भक्तो मे पाई जाती है। अविद्या माया मे साधक उलझ जाता है। उसकी मुक्ति माधव की कृपा से ही होगी यह आशा सूरदासजी के एक पद मे अभिव्यक्त है[1]—

माधौ जू, मन माया बस कीन्हौ।
सूर स्याम सुन्दर जो सेवं, क्यो होवै गति दीन।

हे माधवजी! मेरा मन माया के वश हो गया है और यह ऐसा गँवार है, जो लाभ और हानि आदि कुछ भी नही समझता। इसका कार्य ऐसा ही है जैसे कोई पतग दीपक पर अपना शरीर जला डालता है। मेरी स्थिति कुछ इसी प्रकार की हो गयी है। मेरे लिए गृह-दीपक धन तेल, स्त्री जैसी जलने वाली बाती तथा

१. सूरसागर पद ४६ (ना स)।

सुन-ज्वाला जोर पकड चुकी हैं। मैं ऐसा मतिहीन हूँ कि इससे मृत्यु प्राप्त होगी यह भी मैंने नहीं समझा। अत मैं इन सबके प्रलोभनों मे अधिक जोर से उलझ गया। परिस्थिति यह आगई कि मैं नलिनी में बद्ध भ्रमर की तरह बन गया और बिना रस्सी के ही पकडा गया। मैं ऐसा अज्ञानी हूँ कि मैंने कुछ भी नहीं समझा, फलत दुख-पुंज मे फँस गया और मुझे इन दुखों को सहना पडा। अनेक दिन इसी तरह बीत गये और मैं बुद्धि-हीन मारा-मारा फिरता रहा। इससे सुलझने का उपाय *सूरदासजी अपने मूढ मनको बार-बार बतलाते हैं। साधक को इससे मुक्त होने का उपाय यही है कि वह श्यामसुन्दर की सेवा करे। प्रभु की सेवा करने से दीन गति वशीकर प्राप्त होगी। सेवा न करने का यह फल हुआ कि मेरी गति दीन और हीन* बन गई। साधक का आत्म विश्वास बढ जाने पर साधक की तत्परता भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो जाती है। सूरदासजी के साथ भी यही हुआ। उन्होंने माधव को अपना आत्म निवेदन प्रस्तुत किया।

सूरदास का सारगर्भित आत्म निवेदन—

सूरदासजी अपने एक पद में यह बतलाते हैं—

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
निधरक रहौं सूरके स्वामी, जनि तन जानौं फेरि।
मन-ममता रुचि सो रखवारी, पहिलें लेहु निबेरि॥[1]

माधव! यह मेरी एक गाय है, बडी ही दुष्ट और शरारती! मैं इसे बार-बार बरजता हूँ परन्तु यह फिर भी सर्वदा कुमार्ग पर ही चलती है। बडा अच्छा हो, यदि आज से आप ही इसे अपने आगे करके चराने ले जायें। यह दिन रात वेद के वन मे ईख उखाडती हुई घूमती है। हे गोकुलनाथ! आपकी महान् कृपा होगी, यदि आप अपनी गायों मे इसे भी सम्मिलित कर लें। आपके आश्रय को पाकर आपके स्वीकृति सूचक वचनोंको सुनकर मैं सुखपूर्वक सो सकूँगा। हे भगवान्! यदि मैं इस ममत्व-रुचि से छुटकारा पा सका, तो निश्चिन्त हो जाऊँगा और फिर जन्म धारण नही करूँगा। यह गोचर माया जीव को जन्म-मरण के चक्र मे फँसाती है, अत वह इस माया के बन्धन को तोड दे, तो उसके लिए हितकर होगा। हरिभक्ति ही इससे मुक्त होने का सुन्दर साधन है।

सूरदास की एक उक्ति इसे स्पष्ट कर देती है[2]—

सोइ रसना जो हरि गुन गावै।
सूरदास जैंदे बलि याको, जो हरि जू सौं प्रीति बढावै॥

---

१. सूरसागर पद ५१ (ना स)।
२ सूरसागर पद ३५० (ना स)।

भक्ति और भजन करने में साधक की इन्द्रियों की सार्थकता तभी मानी जाती है जब वे भगवद् भजन में सहायक सिद्ध होती हों। रसना उसे ही कहना सार्थक है जो हरि गुण गाती है। नेत्रों की सफलता इसी में है कि वे मुकुन्द के सौन्दर्य रस को पी लें तथा उस छवि का ध्यान करने लग जाय। निर्मल चित्त उसे ही माना जाय जिसे कृष्ण के बिना और कुछ भी नहीं भाता हो। श्रवणों की यही महिमा है कि हरि कथा को सुनकर उसका सुधारस वे कर्ण रन्ध्रों में घोल लें। हाथ वही हैं, जो श्याम की सेवा करते हैं, तथा चरण उनको ही कहा जायगा, जो चलकर वृन्दावन जायेंगे। क्योंकि उस स्थल में श्रीकृष्ण-लीला हो चुकी है। भक्त के शब्द, स्पर्श, रूप रस गंधादि संवेदनाएँ निर्माण करने वाले इन्द्रिय हरि के शब्द सुनते हैं, हरि को देखते हैं। उनका स्पर्श करते हैं और उनके गुणगान में रस लेते हैं। इस तरह भक्त का सारा जीवन कृष्णमय हो जाता है। सूरदासजी कहते हैं, हम तो ऐसे भक्त पर अपने आपको न्योछावर कर देंगे जो हरि के साथ अपना प्रीति सम्बन्ध बढ़ाते हैं।

श्रीकृष्ण परमात्मा तो प्रेम के वश अवश्य हो जाते हैं[1]—

> प्रीति के बस्य ये हैं मुरारी।
>
> प्रीति के बस्य प्रभु पूर त्रिभुवन बिदित प्रीतिवस सदा राधिका-स्वामी॥

पश्चात्‌ सूरदासजी यहाँ भगवान् लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के बारे में एक तथ्य हमारे सामने अंकित कर देते हैं। ये मुरारी प्रीति के वश में हैं। जो जन उनकी भक्ति करते हैं, उनके लिए सुन्दर नटवर भेष धारण करते हैं, जैसे उन्होंने गोपियों के लिए किया। स्नेह के ही कारण अपने हाथों से गोवरधन पर्वत उन्होंने उठा लिया। इसी प्रेम के वश होकर ब्रज भूमि में ये माखन चोर बन गये, और अपनी माता के द्वारा ऊखल से बाँधा जाना भी स्वीकार कर लिया। इस प्रीति के कारण अपने प्रिय नाम 'गोपी रमण' को उद्‌घोषित किया। प्रीति के ही कारण उन्होंने यमलार्जुन वृक्षों का उद्धार किया। प्रेम के वश होकर वन को अपना धाम बनाकर रासलीला में सबको रस प्रदान किया। नंद के प्रेम से बाध्य होकर वरुण के घर भी गये। प्रभु का इस तरह प्रेम के वश हो जाना सारे त्रिभुवन को विदित है। सूरदासजी कहते हैं कि राधिका के स्वामी इस प्रकार सदा प्रीति के आधीन हो जाते हैं।

सूरदास ने इस सिद्धान्त को भली भाँति समझ लिया था। मुख्य बात यह है कि इस प्रीति के लायक पात्रता भक्त में आ जाय, इसके लिए क्या किया जाय?

---

१ सूरसागर पद २३३६ (ना स)।

यह एक जन्म की तो बात है नहीं। अनेक जन्मों की साधना सत्सङ्ग, विवेक का आश्रय, सदाचरण भगवन्नाम-स्मरण करते-करते जब एक अचचल दृढ़ता एवम् आस्था साधक में जग पड़ती है, तथा अपने उपास्य के स्वरूप में एक विश्वास का ठोस आधार अन्त:करण में स्थिर हो जाता है, तब करुणा निधि भगवान् के प्रति अत्यन्त आत्मीयता से अपनी विनम्र अभ्यर्थना साधक प्रस्तुत कर देता है। इस वृत्ति के द्वारा भगवान् के निकट होने के लिए वह तत्पर बनता जाता है। सर्व प्रथम भगवान् से अपनी सुरक्षा और अपने को शरण में लेने की याचना भी वह करता है। सूर के द्वारा इस प्रकार की गई यह अभ्यर्थना देखना अयोग्य न होगा।[1]

> *जो हम भले बुरे तो तेरे ?*
> *तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।*
> *सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे।*
> *तुम प्रताप बल बदत न काहूँ, निडर भए घर-चेरे।*
> *और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।*
> *सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तें, पाए सुख जु घनेरे।।*

साधक की एकान्तिक निष्ठा का भी इसमें सकेत मिल जाता है। सूरदास कहते हैं कि हे भगवान्! हमारा तो आप पर गाढ़ा विश्वास है और हमने आपको अपना मान लिया है। यदि हम बुरे हैं, तो आपके हैं, तथा भले भी हैं, तो भी आपके ही कहलावेंगे। हे प्रभु! आपको ही सर्वस्व समझकर हम आपकी शरण में आये हुए हैं। आपके प्रताप के बल से मैं किसी से कुछ भी नहीं कहता। घर के सेवक निडर और धृष्ट बन गये हैं। अन्य सभी देवता मेरे लिए रङ्क और भिखारी की तरह हैं तथा बहुतेरों का तो मैंने यूँ ही परित्याग कर दिया है। सूरदासजी कहते हैं कि हे प्रभु! हमने आपकी कृपा से कई प्रकार के सुख उपलब्ध कर लिए हैं।

सूरदासजी अपने मन को सब कुछ त्यागकर मुरारी के चरण भजने का उपदेश देते हैं क्योंकि वही हितकारी है।[2] यथा—

> *सकल तजि भजि मन चरन मुरारि।*
> *स्रुति सुम्रिति, मुनि जन सब भाषत, मैं हूँ कहत पुकारि।*
> *जैसे सुपने सोइ देखियत तैसे यह ससार।*
> *जात बिलै है छिनक मात्र में, उघरत नैन किवार।*

१. सूरसागर पद १७० (ना स)।
२ „ पद ३७४ „

बारंबार कहत मैं तोसो जनम जुआ जनि हारि।
पाछे भई सूर जन, अजहूँ समुझि सँभारि ॥

पूर्व जन्म की स्मृति ईश्वर कृपा से जिसमे उत्पन्न हो जाती है, वह साधक दत्तचित होकर सोचता है, कि वह जन्म तो अकारथ चला गया, वैसे यह न जाय। इसलिए सावधानी पूर्वक सम्हल-सम्हल कर साधक को तत्परता से अपने मन पर संस्कार करने पड़ते हैं। यही सूरदास ने किया। वे अपने मन से कहते हैं, कि सावधानी पूर्वक सब कुछ त्यागकर मुरारी के चरण भजने चाहिए। श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और मुनिजन यह बात सदा बतलाते आये है और मैं भी पुकार कर उसे दुहराता हूँ। यह संसार ऐसा है जैसे स्वप्न मे देखी हुई कोई निस्सार वस्तु। क्षण भर मे ही जिसे देखते हैं, उसका विलयन हो जाता है, और अन्तर्चक्षु-कपाट खुल जाते हैं। वे अपने मन से कहते हैं, कि मैं तुझे बार-बार बताता हूँ कि तू यह जनम-जुआ मत हार बल्कि इसे जीत ले।

सूर की आत्मग्लानि एवम् विनय पूर्ण भावना ने आगे चलकर उन्हे वात्सल्य, सख्य, तथा माधुर्य-भावना और भक्ति से सराबोर कर, लीला गान मे तत्पर बनाया है। भक्त के नाते उनकी साधना किस प्रकार विकसित होती गयी है इसका निरीक्षण करना औचित्यपूर्ण होगा।

सूर की आत्मग्लानि एव विनय भावना—

जिस पद को सुनकर वल्लभाचार्यजी ने कहा कि 'सूर होकर के क्यो घिघियाते हो।' वह पद द्रष्टव्य है—

प्रभु हौं सब पतितन को टीको।
मरियत लाज सूर पतितनि में, मोहूँ तें को नीको ॥[१]

इस पद मे सूर की विनय-भावना, अपना दैन्य तथा अन्त करण की तीव्रतम आकुलता मुखर हो उठती है। इस प्रकार की स्थिति मे अपने उपास्य का उत्कर्ष ही साधक का एकमात्र अवलम्ब रहता है। अपने आपको नि शेष भाव से दे देना, यही स्थिति साधक की रहती है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि भगवान् उसका उद्धार अवश्य करेंगे। इस आत्म-ग्लानि को भक्त के जीवन का महत्वपूर्ण प्रसग समझना चाहिए। सूर के जीवन की यह सब से अनमोल घडी थी, तभी वे अत्यत विनम्रता और आर्तता से पुकार उठे हैं, कि हे हरि! मैं सब पतितो मे सिरमौर हूँ। अपने उपास्य को चुनौती देते है, क्योंकि अपना उद्धार हो जाय यह चिन्ता ही

१. सूरसागर पद १३८ (ना. स)।

उन्हें लगी सी जान पड़ती है। पतितों के उद्धारक श्रीहरि को वे बतलाते हैं, कि अब तक आपने जिन लोगों का उद्धार किया वे जन्म से पतित नहीं थे। मैं तो जन्म से ही पतित हूँ, इसलिए आपको मुझे तारना उतना आसान कार्य नहीं है। वैसे अजामिल, हत्यारे (वाल्मिकि), वैश्या और पूतना को तुमने तारा, पर जब तुम मेरा उद्धार कर लोगे तभी जी का शूल मिटेगा। मैं लकीर खींचकर बतलाना चाहता हूं, कि अघ करने में मेरे जैसा समर्थ कोई नहीं है। सूरदासजी कहते हैं, कि पतितों के बीच मुझ से बढ़कर कौन हो सकता है? अतः प्रार्थना है कि आप मेरा उद्धार करें तो अच्छा होगा।

ऐसा लगता है कि सूर पर ईश्वर की पुष्टि होने वाली थी, इसीलिए वल्लभाचार्यजी ने उन्हें अपने सम्प्रदाय में लिया तथा 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनाकर भक्त का भगवान् से सम्बन्ध जोड़ दिया। गुरु की महिमा कितनी श्रेष्ठ है, इसका पता सूरदासजी के दीक्षित हो जाने से लग जाता है। उनके ये उद्‌गार इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं।

गुरु महिमा—

करम जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो॥
× × ×
अजहू सावधान किन होहि।
माया विषम भुजगिनी को विष उतर्‌यो नाहिन तोहि।[1]
× × ×
कृष्ण सुमन्त्र जिया बल मूरी, जिन जन मरत जिवायो।
बारम्बार निकट स्रवननि ह्वै गुरु गारुडी सुनायो।[2]
× × ×
हरि लीला अवतार पार सारद नहीं पावै।
सतगुरु कृपा प्रसाद कछुक तातें कहि आवै।[3]

कर्म, योग, ज्ञान और उपासना इन साधना मार्गों में से कौन सा मेरे लिए हितकर है, इसे मैं नहीं जान सका था। फलतः भ्रम में पड़ गया था। परन्तु आचार्य श्री वल्लभाचार्यजी ने सबका मर्म समझाकर लीला का रहस्य बतला दिया। सूरदासजी की पुरुषोत्तम की लीला में पैठ हो गयी और वे उसी में तन्मय होकर कृष्ण लीला के गायक बने, यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

---

१. सूर सारावली ११०२, पृ० ८७।
२. सूरसागर पद ३७५ (ना. स)।
३ " ११२० "

एक अन्य स्थान पर वे गुरु की महिमा गाते हैं। सद्गुरु का उपदेश सुनते ही हृदय में धारण कर लेना हितकारी सिद्ध होता है। संसार में माया रूपी भुजंगिनी बड़ा उपद्रव मचाती है। इसने मनुष्यों को डसकर अपने भयानक विष का घातक प्रभाव उनमें छोड़ दिया है। कोई भी मंत्र इस पर नहीं चलेगा। गुरु रूपी गारुड़ी, कृष्ण रूपी मंत्र को कानों कुहरों में बार-बार निनादित कर इस विष को दूर कर मरते हुए साधक को जिला सकता है। सूरदास भी जी उठे। नन्ददास ने गुरु वल्लभाचार्य की कृपा से सूरदासजी की अविद्या दूर कर दी।

हरि-लीला के रहस्य को जानकर तथा उनके अवतार की बात को समझकर, उसको पार पाना शारदा के लिए भी सम्भव नहीं है। सूरदासोक्ति यह है कि यह तो गुरु की कृपा का प्रसाद है, जो कुछ-कुछ हम कह सकने में सक्षम हो सके हैं। वस्तुतः सूर के इस कथन में सत्यता है। स्पष्ट ही है कि अध्यात्म-तत्त्व के अलौकिक सिद्धान्तों से युक्त भगवान् का गुणानुवाद भी विवेक द्वारा सम्पन्न हो जाता है। यह सार तत्व गुरु ही बतला सकते हैं। भक्त सारी अनित्य और अलौकिक वस्तुओं से अपना सम्बन्ध त्यागकर एक विभु की नित्य सत्ता में विश्वास करने लगता है। परिणामतः भक्ति के सारे सोपान और उपकरण साधक को उपलब्ध हो जाते हैं।

सूरदासजी भी वैधी-भक्ति से रागानुगा-भक्ति की ओर आकृष्ट हुए। सूरदास ने अपने उपास्य और गुरु में कोई भेद नहीं माना। गुरु और उपास्य में अभेद मानना चाहिए। इसीलिए सूर की भक्ति में तथा सूर के साहित्य में तन्मयता है। इसी तन्मयता से ईश्वर और गुरु के प्रति उनकी अभेद बुद्धि दिखाई दी। सूर के निर्वाण काल में चतुर्भुजदास ने उनसे पूछा भी कि आपने ठाकुरजी के तो यथावधि पद रचे, परन्तु आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के यशका वर्णन नहीं किया। सूरदासजी ने कहा कि मैंने ठाकुरजी का जो यश वर्णन किया है वही तो आचार्यजी का भी यश-वर्णन है। सूरदास की वार्ता में एक पद इस प्रसङ्ग में मिलता है[1]—

> भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
> श्री वल्लभ नखचन्द छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।
> साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निबेरो।
> सूर कहा कहै दुविधि आँधरो बिना मोल को चेरो॥

सूरदासजी कहते हैं, कि मेरा तो आचार्य महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के श्री चरणों में दृढ़ विश्वास है। श्री वल्लभाचार्य के नखचन्द्र की शोभा के बिना सारे संसार में अन्धकार ही तो था। उन्होंने मुझे पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर मुझ पर

१. सूरदास की वार्ता पृ० ६० (अग्रवाल प्रेस मथुरा)।

बहुत बड़ा अनुग्रह कर दिया है। कलिकाल मे दूसरा ऐसा कोई साधन नहीं था, जिससे मेरा निर्वाह हो जाता। सूरदासजी का यही कहना है, कि यह बिना मोल का सेवक कर भी क्या सकता था। दोनों प्रकार से उसके पास अन्धत्व था। एक तो चक्षु विहीनता का था, और दूसरा अन्धत्व अविद्या माया से उत्पन्न हुआ था। इन दोनों अन्धत्वों से सद्गुरु ने बचाकर भक्ति का साधन मुझे दे दिया।

सूर इस प्रकार पुष्टि मार्ग की भक्ति के रसनिष्णात कवि बन गए। जीव समस्त जगत् को कृष्णमय समझकर उनके प्रेम से प्रेम मय हो परमानन्द का अनुभव करता है। इसी से भगवान् प्रसन्न होकर भक्त को अपनी पुष्टि दे देते हैं। सूर पर भी यह पुष्टि हुई। भावों का अतिशय्य इस मार्ग मे होता है जो सूर मे ओतप्रोत था। यही प्रेम मयी भक्ति सूर की भक्ति है। श्रीकृष्ण की वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव से की गई लीलाओं का वर्णन ही सूरसागर का प्रमुख और मुख्य लक्ष्य है। ब्रज के निवासियो का प्रेम भाव सर्वत्र सूर ने इसमे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम वृत्तियो सहित मंडित कर दिया है।

सूर की भक्ति भावना को प्रकट करने वाले कतिपय उदाहरण लेकर हम उनका अनुशीलन करेंगे।

> मन मैं रह्यो नाहिन ठौर।
>
> सूर इनकै बास कारन, मरत लोचन प्यास।[1]

हमारे मन मे और कोई ठौर किसी अन्य के लिए बचा ही नहीं है। क्योंकि नंद नंदन ही हमारे अन्त करण मे बसे हुए हैं, तब उसमे और किसी को हम कैसे ले आ सकते हैं? चलते-सोते, उठते-बैठते, सोते-जागते तथा स्वप्न मे भी हृदय से वह मदनमोहन कृष्ण की मूर्ति क्षण भर भी कहीं लुप्त नहीं हो जाती। ऊधो! तुम अनेक प्रकार से लोभ लालच देकर अनेक बातें करते हो। पर हम क्या करें? हमारा मन तो प्रेम से परिपूर्ण हो गया है। इस घट में वह सागर नहीं समा सकता। सावला शरीर, कमल के समान मुख तथा लालित्यपूर्ण मृदु मुख पर हास्य विराजित है, ऐसे श्यामसुन्दर के दर्शनार्थ हमारे नेत्र प्यासे होकर मर रहे हैं। सूरदास का यही कथन है।

अहंकार और ममत्व ये दोनों बातें ऐसी हैं, जो जीवन मे सर्वनाश की ओर ले जाती हैं। भक्ति करने वाला साधक आत्मसमर्पण कर इन दोनों का तिरोधान कर ईश्वर की पुष्टि प्राप्त कर सकता है। इसका परिणाम है, प्रेम का उत्पन्न होना। प्रेम की महिमा सूर नित्य ही गाते आये हैं। यथा—

१. सूरसागर पद ४३५० (ना. स.)।

प्रीति तो मरिबोऊ न विचारै।
सावन मास पपीहा बोलत, पिया पिय करि जु पुकारै।
सूरदास-प्रभु दरसन कारन, ऐसो भाँति विचारै ॥[1]

प्रीति जिनसे की जाती है, उनके कारण मृत्यु को भी अपनाना पड़ता है। पावक ज्योति को देखकर, पतग प्रीति के कारण अपने आपको उस पर होम देता है, और स्वयम् जल जाता है। प्रेम के कारण हिरन नाद मग्न होकर वधिक के निकट चला आता है, जो उसको तुरन्त मार डालता है। प्रीति के वश होकर परेवा आकाश मे उड़ता रहता है और नीचे गिरते हुए भी अपने आपको नहीं सम्हाल पाता। श्रावण मास के कारण पपीहा पी-पी कर पुकारता है। गोपियाँ भी प्रभु के दर्शन की अभिलाषा से व स्नेह के कारण इसी प्रकार से विचार करती हैं, कि वे भी अपने सावले कृष्ण के विरह में प्राण त्याग देंगी। भक्ति के क्षेत्र की यह आध्यात्मिकता और आत्म-समर्पण की मनोभूमि सूर की अपनी विशेषता है। इस आत्मसमर्पण के केन्द्रों मे भगवान् की कृपा प्राप्ति का एक अटूट विश्वास रहता है। विश्वास ही प्रेम व भक्ति का मूल मत्र है।

यह ससार सत् है लीला सृष्टि का कारण है। ब्रह्म ही उपादान कारण है। प्रलय के बाद जगत् इसी में लय हो जाता है। जगत् ब्रह्म स्वरूप है, इसकी सृष्टि में ब्रह्म अपना स्वरूप नहीं बदलता। अविद्या ब्रह्म की ही शक्ति है। जीवात्मा इससे ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त करती है। लीला मे भगवान् भक्त की आज्ञा मे रहकर उसकी आज्ञा के अनुसार नाचता रहता है। भक्त भजनानन्द या स्वरूपानद की प्राप्ति के लिए लीला गान मे मग्न रहते हैं यही उसके जीवन का प्रमुख लक्ष्य है।

विनय भावना, वात्सल्य भावना और शृङ्गार-रस के अर्थात् माधुर्य भावना के पद सूर ने लिखे हैं। सगुणोपासना एक ऐसा अमोघ साधन है, जिससे जीवन में इन्हीं तीन भावनाओं मे रसमिक्त होकर अपना जीवन सफल और सिद्ध कर लेते हैं। पुष्टि प्राप्त करना ही भगवद् कृपा है। जीवन मे सास्कृतिक पक्ष की ओर अपनी आध्यात्मिक भावना से जन-जीवन का ध्यान आकर्षित कर श्रीकृष्ण की लीलाओं का आलेखन सगीत की कला को अपनाते हुए रसब्रह्म, सौंदर्य-ब्रह्म और माधुर्य-ब्रह्म की अनुभूति नाद-ब्रह्म के साथ ही कर लेता है। मध्ययुगीन और पूर्व चली आती हुई लोकगीत पद्धति को अपने काव्य में सूर ने विशेष रूप से परिलक्षित किया है। शास्त्रीय सङ्गीत की दृष्टि से सूर के गीत सर्वोपरि होने से अपने काल में और

---

1 सूरसागर पद ३६०८ (ना स.)।

आज भी सङ्गीत के क्षेत्र मे स्वर, ताल, लय और राग का सुन्दर समन्वय सूर की सर्वोत्कृष्टता का सफल प्रमाण है। मानव की रागात्मिका वृत्तियों का उदात्तीकरण सूर ने अपने संगीत और सगुणोपासना मे किया है। भावोन्मेष को जागृत करने वाली अपनी कला से सूर ने मानव को जीवन का उल्लास और उत्सव जागृत कर, जनता को कृष्ण भक्ति की ओर उन्मुख किया। नारी हृदय की बेवसी, बेचैनी और विरह से निसृत वेदना सूर ने अभिव्यक्त कर दी है, साथ ही साथ विभिन्न मनोदशाओं को प्रस्तुत कर दिया है।

सूरदास का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत उन्नति आत्म साधना मे नही करनी चाहिए, वरन् आत्म-समर्पण मे करनी चाहिए। यह आत्म समर्पण पूर्ण-पुरुषोत्तम कृष्ण के प्रति किया जाना चाहिए। जीवन के एक प्रधान रस, शृङ्गार को ही लेकर उसका उन्नयन कर सूर ने जीवन मे रस-ब्रह्म के प्रति अनन्यता और तन्मयता उत्पन्न की है। हम को भी उसी प्रकार करनी चाहिए। राधाकृष्ण के प्रेम की स्थिति घर मे व्याप्त और विद्यमान है। यह मूल रूप मे लौकिक स्त्री-पुरुष का हर दिन का प्रेम है। परन्तु सूर ने भक्ति के माध्यम से उसे अलौकिक बना दिया है। इसी अलौकिकता की ओर दृष्टि मानव-जीवन मे होनी चाहिए। सूर का जीवन विषयक दृष्टिकोण यथार्थवादी होने से वह व्यक्ति के और समाज के हृदय-पक्ष और सास्कृतिक पक्ष की अवहेलना नही करता। मन शान्ति की खोज करने वाला साधक वैराग्य, निर्वेद, शका और विषाद की अवस्थाओं मे अनिवार्य रूप मे अपने आपको अभिभूत कर लेता है। ठीक इनका ही अभिव्यजन कलात्मकता से सूर करते हैं। वात्सल्य भाव मे यशोदा, और सख्य और माधुर्य भाव मे राधा और गोपियाँ जीवन की यथार्थता का सास्कृतिक स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देती हैं। इन भावावस्थाओं से भगवान् का अनुग्रह भक्त को उसका आत्म-कल्याण प्रदान कर देता है।[1] यथा—

जापर दीना नाथ ढरै।
सोइ कुलीन बडो सुन्दर सोइ जापर कृपा करै॥

× × ×

सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै॥

जिस पर दीनानाथ टल जाते हैं, अर्थात् कृपा करते हैं वही कुलीन और सबसे सुन्दर है। पुराणो के कई उदाहरणो से अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करते हुए सूरदासजी कहते हैं, कि भगवान् के भजन किये बिना पुन पुन जननी के जठर

१. सूरसागर पद ३५ (ना. स)।

में गर्भवास की यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, परन्तु जो हरि-भजन करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त कर भक्ति के महानाद का सुख लाभ कर लेते हैं। जीवन में कृष्ण प्रेम और विरह के द्वारा मधुरा साधना से कृष्ण साम्य हो जाते हैं। गोप-ग्वालों की कृष्ण में सख्य भक्ति तथा गोपियों की कृष्ण में माधुर्य भक्ति ये दोनों प्रेम भावनाएँ अटूट प्रेम-सम्बन्ध से ऊँच-नीच भेद-भाव तथा दुराव-छिपाव को तिरोधान कर कृष्णकी ओर सब को अग्रसर कर देती हैं।

मेड़तणी मतवाली प्रेम-साधिका एवं कृष्ण की अनन्य एवम् निस्सीम आराधिका मीराँ के काव्य का आध्यात्मिक पक्ष—

कृष्ण की जन्म जन्मान्तर की साधिन और भक्ति की परमोच्च भावना का अपने भीतर साक्षात्कार करने वाली मतवाली, निरद्वन्द्व, प्रेम मग्ना, मीराँ का पद-साहित्य किस प्रकार की दार्शनिकता से अनुप्राणित है, और वे निश्चित किस साधना के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं इसका अध्ययन करना आसान कार्य नहीं है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' इस भावना का जिन कृष्ण भक्तों पर प्रभाव पड़ा तथा उनके सौन्दर्य पुरुषोत्तम, लीला-पुरुषोत्तम, माधुर्य पुरुषोत्तम एवं रस-पुरुषोत्तम की विशेषताओं पर जिनका ध्यान गया उनमें से किसी ने वात्सल्य भाव से, किसी ने सख्य-भाव से, तथा किसी ने माधुर्य भाव से अर्थात् तन्मयासक्ति के आवेश से कान्ता-भक्ति के महाभाव में आकर भी भक्ति की है। मीराँ अपने गिरिधारी के साथ माधुर्य भाव की पराकाष्ठा पर पहुँचकर कान्ता-भक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। अपने आपको अपने साँवले कृष्ण की 'जनम-जनम की दासी' कहकर वे उनकी सेवा टहल करने को उद्यत हैं। उनकी इस प्रेम और शृङ्गार भावना में शान्ति का अद्भुत सामञ्जस्य है। यह निर्वेद के और आध्यात्मिकता के स्तर पर साधकों को उपलब्ध होने वाली शान्ति है। डा० रामरतन भटनागर का यह कथन ठीक ही है, कि 'कदाचित् ईश्वर-मनुष्य की धर्म भावना का यह चरमोत्कर्ष है, जो मीराँ के हृदय के अन्तरतम में प्रवेश कर अन्यतम बन जाता है।[1]

मीराँ की तन्मयता और विरह-कातरता कृष्ण भक्ति के भावमूलक और रागानुगा-भक्ति की भावावस्था के मधुर साकार रूप प्रस्तुत कर देते हैं। कृष्ण प्रेम के अतिरिक्त मीराँ को और कुछ भी अभीष्ट नहीं है। वे अपने उपास्य को कई नामों से पुकार कर भी उनके मूल व्यक्तित्व को नहीं भूली हैं। राम गोविन्द, आदि कई नामों से पुकारकर उनके अविनाशित्व को प्रकट करने वाली भावना मीराँ की एक ऐसी अन्यतम विशेषता है, जो उनकी मधुरा साधना वैराग्य परक

१. हिन्दी भक्ति काव्य—डा० रामरतन भटनागर।

पद को अभिव्यंजित कर देती है। अपने उपास्य के साथ संयोग और वियोग की अनुभूति में वे अत्यन्त आत्मीय और निकट का स्वरूप सम्बन्ध प्रस्थापित कर देती हैं। उनकी आन्तरिक स्फूर्ति उन्हें अपने गिरधारी एवम् कुंजविहारी की एकमात्र प्रेमिका बना देती है।

मीराँ की भक्ति भावना—

शाण्डिल्य सूत्र में बतलाया गया है—

'सा परानुरक्ति ईश्वरे।'[1] ईश्वर के प्रति अनुराग ही भक्ति है। अपने अभीप्सित इष्ट के प्रति जो एक गाढ़ा आन्तरिक भाव सम्बन्ध रहता है, उसका उत्साह पूर्ण भावयोग तथा प्रेम भावना-भक्ति है, ऐसी भावना किसी पदार्थ या वस्तु के प्रति नहीं होगी यदि होगी, भी तो उसे भक्ति नहीं मानेंगे। भक्ति केवल भगवान् के साथ के प्रगाढ़ प्रेम को माना जाता है। भगवान् के दिव्य गुणों में से भक्त उनकी करुणा पर विशेष आश्रित रहता है। मीराँ भी इसी करुणा पर आश्रित थीं। अपने प्रेमी को एक क्षण भी मीराँ छोड़ना स्वीकार नहीं करती।

मीराँ ने रागानुगा प्रेम साधना की थी।

मीराँ की दार्शनिकता—

गौड़ीय वैष्णव मत के अनुसार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं (१) अन्तरंगिनी-स्वरूपशक्ति (२) तटस्था-जीव शक्ति और (३) वहिरंगिनी-मायाशक्ति। स्वरूपा-शक्ति के आधार पर वे स्वरूप में निवास करते हैं, एवम् स्वरूप को जानकर उनका स्वयम् आस्वादन करते हैं। जीव-शक्ति के आधार पर वे जीव सृष्टा हैं, और उन पर आश्रित स्वरूप की तीन विभूतियाँ मानी गयी हैं। सत्, चित् और आनन्द। सत् अंश से स्वरूपशक्ति संधिनी कहलाती है। चित् अंश को लेकर 'समवेत' कारिणी तथा आनन्दांश को लेकर आल्हादिनी कहलाती है। आल्हादिनी शक्ति के विग्रह रूप को राधा कहते हैं। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आल्हादिनी शक्ति को अपने से पृथक् कर राधा के द्वारा अपने माधुर्य का अर्थात् प्रेम का रसास्वादन कराते हैं। इस तरह उन्होंने अपने को आस्वाद्य और आस्वादक इन दोनों रूपों में प्रस्तुत कर दिया है। मीराँ ने अपने पदों में अपने रमैया, गिरधारी से व्यक्तिगत स्नेह सम्बन्ध को और उनके विरह को अभिव्यक्त किया है। अन्य कृष्ण भक्त कवि-राधाकृष्ण प्रेम लीला का रसास्वादन सखी या सहचरी भाव से करना चाहते हैं। मीराँ अपनी निजी आर्त-

[1] शाण्डिल्य भक्ति सूत्र।

वेदना अपने प्रियतम के प्रेम की प्राप्ति के लिये प्रकट करती है, जो उनका जनम-मरन का और जनम-जनम का साथी है।[1] यथा—

म्हारो जनम मरन को साथी, थाने नहिं विसरूं दिन राती।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणां चित राती।।

मेरे जनम-जनम के साथी एवम् जनम-मरण के चिर सहचर गोपाल कृष्ण! मैं तुम्हें कभी भी नहीं विस्मरण कर सकती। तुमको बिना देखे मुझे चैन नहीं मिलता। इस वेदना को मेरा उर ही जानता है। मैं उच्च स्थानों पर चढ़कर हे प्रिय! आपकी राह देखती रही हूँ और रो-रोकर मैंने आँखें लाल कर ली हैं। ऐसा लगता है कि यह सारा संसार मिथ्या है,और कुल की,जाति की और अन्य सारी रूढ़ियां झूठी हैं। मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि मेरी विनम्र प्रार्थना सुन लीजिये। मेरा मन बड़ा हरामी है वह प्रमत्त हाथी के समान चचल और उन्मत्त हो गया है। परन्तु सद्गुरु ने मेरे सिर पर हाथ रखकर, विवेक के अकुश के द्वारा उसे समझाया। मैं पल-पल तुम्हारा रूप निहारती हूँ, तथा सुख प्राप्त करती हूँ। मीरां के प्रभु गिरिधारीजी! मीरां तो हरि चरणों में रंग गयी है।

मीरां की भागवती-भगवद् भक्ति—

भागवत में वर्णित भक्ति के नवधा प्रकार इस प्रकार माने गए हैं—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्य सख्यं आत्म-निवेदनम्।।'

मीरांबाई में भागवतोक्त श्रवण, कथन, अध्ययन कीर्तन, वन्दन स्मरण, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन से ऊपर अभिव्यक्त आशय है। बचपन से ही विष्णु भक्ति के संस्कार मीरांबाई में पनपे थे। श्रवण और कीर्तन से आगे चलकर वे स्मरण पूर्वक अपने योगेश्वर उपास्य सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण से अपना निजी प्रेम समर्पण करती रहीं। वृन्दावन के इस रासेश्वर से व कहती हैं[2]—

मने चाकर राखोजी, मने चाकर राखोजी।
मीरां के प्रभु गहिर गंभीरा सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दे हैं, प्रेम नदी के तीरा।

इसमें मीरांबाई वृन्दावन में गायें चराने वाले मुरलीधर की दास्य भाव से सेवा करना चाहती हैं। वे अपने पुण्य के उद्यान की मालिन बनना चाहती हैं। इसीलिए वे कहती हैं, कि मुझे सेविका रख लीजिए। मैं इस प्रकार आपके लिए

१. मीरांबाई की पदावली पद १०६—परशुराम चतुर्वेदी।
२. मीरांबाई की पदावली पद १५४—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

बाग लगाऊँगी। उसमें निर्मित पुष्पों को प्रियतम को अर्पित करते समय उनका दर्शन रोज प्रात काल हमें हो जायेंगे। रिक्त क्षणों की घड़ियों में मैं आपकी लीलाओं का गुणगान गाया करूँगी। इस तरह वृन्दावन की कुंज गलियों में मैं विचरण करती रहूँगी। अपनी भावभक्ति की तीव्रता से इन कामों को करते हुए, अपने प्रियतम का स्मरण, कीर्तन और दर्शन ये तीनों सुख एक ही समय प्राप्त होंगे। वे साँवले श्यामसुन्दर, मोर मुकुट और पीताम्बर धारण करते हैं। गले में वैजयन्ती माला पहनते हैं। उनके लिए मैं नई-नई क्यारियाँ सजाऊँगी नए-नए फूल खिलाऊँगी, और अन्त में कुसुमी रग की सारी धारण कर उनको पा लूँगी। यहाँ पर जोगी जोग करने, सन्यासी तप करने तथा हरि-भजन करने साधू और वृन्दावन के वासी आये हैं। इस तरह इस सेवा धर्म में अनेक लाभ ही लाभ हैं। मीराँ को विश्वास है, कि उसके प्रभु बड़े गम्भीर हैं और धैर्यवान हैं तथा वे आधी रात में प्रेम नदी के तीर पर उसे दर्शन देंगे।

'नारी का पुरुष के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, बड़ा-स्वच्छन्द और मधुर। एक सहज कुतूहल जिसमें वासना का लेपमात्र भी प्रश्न नहीं है ऐसी स्वच्छन्द और पवित्र नारी भावना से मीराँ अपने गिरिधर का दर्शन चाहती हैं।' इस प्रकार का अभिमत डा॰ श्रीकृष्णलाल अपने मीराँबाई (जीवन-चरित और आलोचना) नामक ग्रन्थ में प्रकट करते हैं, जो सर्वथा योग्य ही है।[1]

दास्य भक्ति, लीला श्रवण स्मरण, वदन, अर्चन आदि तो मीराँ के पदों में भावपूर्ण भक्ति के रूप तो मिलते ही हैं, परन्तु मूलत सकीर्तन तथा आत्मनिवेदन सख्य और माधुर्य भक्ति विशेष रूप से हैं। गोपी भाव से ही मीराँ का आत्मसमर्पण श्रीकृष्ण के प्रति हुआ था। पर यह उनका वैयक्तिक और निजी भाव है, तथा, वह प्रेम भावना आज की नहीं कई जन्मों की है, तभी तो वे अपने एक पद में उस प्रकार का भाव अभिव्यक्त करती हैं।

> मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ॥टेक॥[2]
> मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ ॥

पूर्व जन्म का स्मरण सब को नहीं रहता। मीराँबाई को भगवान् के साथ किये गये अपने अनेक जन्मों का प्रेम स्मरण है तभी तो वे कहती हैं कि मेरी और

---

१ मीराँबाई (जीवन-चरित और आलोचना)—डा॰ श्रीकृष्णलाल, पृ॰ १०६।
२. मीराँबाई की पदावली पद १७-श्री परशुराम चतुर्वेदी।

उनकी प्रीति पुरानी है। मैं तो उनके बिना एक पल भर भी जीवित नही रह सकती। गिरधारी मेरे सच्चे प्रियतम हैं। उनका दिव्य सौन्दर्य ऐसा है, कि देखते ही उनके रूप पर लुब्ध हो गई थी। रात पडते ही मैं उठकर अपने प्रियतम के पास चली जाऊँगी और प्रात काल होते ही वापस लौट आऊँगी। दिन रात मे उनके साथ खेलती रहूँगी। और वे जिस तरह से या जिस विधि से रीझेंगे वैसे ही मैं भी उनको रिझाऊँगी। वे जो खिलावेंगे उसे ही मैं खाऊँगी तथा जो परिवेश धारण करने के लिए देंगे उसे मैं ले लूँगी। पूरे तौर पर मीराँ ने अपने आपको अपने प्रियतम कृष्ण के हाथों सौंप दिया है। यह निःशेष रूप से किया गया आत्मसमर्पण ही तो भक्त का भगवान् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। मीराँ के प्रभु चतुर है। ऐसा उनका दृढ विश्वास है, इसलिए अपने सौन्दर्य-पुरुषोत्तम पर वे पुन. पुन: न्योछावर होती हैं अपने आपको उत्सर्ग कर देती है।

मीराँ का श्रीकृष्ण के साथ स्वप्न मे परिणय—

श्रीकृष्ण परमात्मा के साथ मीराँ का विवाह स्वप्न में ही हो गया था, जिसकी साक्ष्य हमे उनके निम्नलिखित दो पदों से उपलब्ध हो जाती है। यथा—

मीरा—माई म्हाँने सुपने में, परण गया जगदीश।
सोती को सुपना आविया जी, सुपना बिस्वा बीस।
मा—गैली दीखे मीराँ बावली, सुपना आल जजाल।
मीराँ—माई म्हाने सुपने में परण गया गोपाल।
सुपने में तोरण बाँधियाँ जी, सुपने में आई जान।
मीराँ को गिरधर मिल्या जी, पूर्व जनम के भाग।
सुपने में म्हाने परण गया जी, हो गया अचल सुहाग॥[१]

× × ×

माई म्हाने सुपने में बरी गोपाल।
राती पीती चुनडी ओढी मेहेंदी हाथ रसाल॥
कोई और को वरूँ भाँवरी म्हाँके जग जजाल।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, करी सगाई हाल॥[२]

मीराँ कहती है कि मैया! स्वप्न मे मुझे जगदीश ब्याह कर चले गये। मुझ सोती हुई को स्वप्न मे विश्व दिखाई दिया। तब माँ ने कहा यह तो तुम्हारा

१ मीराँबाई की पदावली पद २७—श्री परशुराम चतुर्वेदी।
२ मीराँबाई की पदावली पद १०५—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

पागलपन है और स्वप्न तो केवल जजाल मात्र है। मीराँ ने पुनः उत्तर दिया मुझे स्वप्न में गोपाल ने वरण किया। मैंने अङ्ग-अङ्ग मे हलदी लगाई जिसके स्मरण मात्र से मेरा शरीर पुलकित हो जाता है, क्योंकि मेरे भीगे हुए गात्रो का मुझे विस्मरण नहीं हुआ है। सचमुच मुझे दीनानाथ ने विवाह कर अपना लिया। मेरे विवाह मे भगवान् दूल्हा बने थे और छप्पन करोड़ लोग उनमे उपस्थित थे। स्वप्न मे ही तोरण बाँधा गया और मेरे जान मे जान आई। पूर्व जन्म के पुण्य से मीरा को गिरधारी मिल गये। मेरे साथ स्वप्न मे मेरा वरण कर मेरा सौभाग्य अचल बना गए।

गोपाल ने स्वप्न मे मुझसे विवाह रचा। मेरे हाथो मे महदी लगी और मैंने रक्त-पीत वर्ण की चुनरी ओढ़ी थी। यदि अब मैं किसी अन्य के साथ भाँवरे भरने जाऊँ तो मेरे लिए वह एक जजाल मात्र होगा। मीराँ के प्रभु ने उसकी प्रेम-सगाई अभी-अभी पूर्ण की है।

इन दो पदो मे बचपन से ही मीरांबाई मे भगवान् श्रीकृष्ण के लिए एक माधुर्यपूर्ण आत्मीयता के सम्बन्ध की लगन उद्भूत दिखाई देती है। इसीलिए उनकी भक्ति भावना दक्षिण की रगनाथ की अन्दाल के साथ तुलनीय हो जाती है। हम उनको किसी विशिष्ट पथ सप्रदाद या दार्शनिक मत की अनुवर्तिनी नही मान सकते। मीराँ को कई लोगो ने विभिन्न प्रकार से भक्ति भावना मे अभिसिंचित बतलाया है। कोई कहता है कि उनकी उपासना गोपी भाव की थी। कोई कहता है कि वे ललिता की अवतार थी, तो कोई उन्हे राधा भावसे महाभावित श्रेष्ठ भक्तिन मानते हैं। उनमे योग-सम्प्रदाय की, निर्गुण सत मत की, और गुणोपासना की भावधाराएँ अभिव्यक्त और प्रकट की गयी उनको गेय रचनाओ मे हमारे दृष्टि-पथ मे आती हैं। अत किसी विशिष्ट मत मे दीक्षित हम उनको नही कह सकते। वल्लभाचार्य के मत मे इनको दीक्षित करने का प्रयत्न किया गया था, पर अपनी अन्तर्मुखी विरह-व्यथित वेदना से आक्रान्त मेडतणी मीरांबाई अपनी भक्ति पर अटल रही। सत, साधु-समागम वे इसलिए करती थी कि जिससे भगवद् भजन, सकीर्तन तथा अपने प्रियतम की लगन बराबर सजग और जागृत रहे। सत रैदास को उनका गुरु बतलाया जाता है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका और मीरांबाई का मेल नहीं बैठता। तुलसीदास से उन्होने दीक्षा ली ऐसा एक प्रवाद है, पर वह भी सत्य नहीं है। जीव-गोस्वामी से वे अवश्य मिली थी, पर यह भी उनको उस सम्प्रदाय से दीक्षित होने का कोई ठोस प्रमाण और अन्तर्साक्ष्य हमारे सामने उपलब्ध नही कर देता। मीराँ की प्रतिष्ठा इसी से प्रमाणित हो जाती है, कि उनका

गिरिधारी से किया गया प्रेम उनका अपने स्वच्छन्द और निर्द्वंद्व अवस्था और स्वतन्त्र एवम् स्वप्रयत्न से किया गया माधुर्य भाव सम्पन्न सहज-स्नेह है। वैराग्य की भावना उनमें बचपन से है। एक करुण कोमल कातरता उनमें ओतप्रोत है। देखिए वे अपने छैल-छबीले मोहन पर कैसी मुग्ध हैं।[1] यथा—

म्हाँ मोहण रो रूप लुभाणी।
सुन्दर बदण कमड़ दड लोचण बाँका चितवण नैणा समाणी।
तण मण धण गिरधर पर वारां चरण कँवड़ मीरां बिलमाणी॥

मैं मोहित करने वाले मोहन के रूप पर कई जन्मों से मुग्ध हूँ, क्योंकि वह मेरा 'जणम-जणम रो साथी' है। उनकी बाँकी चितवन, उनके कमल दल के समान स्वच्छ और सुकोमल नेत्र की शोभा मेरे नेत्रों के अन्तःकरण में समा गई है। जमुना किनारे कन्हैया धेनुएँ चराते हैं, बंसी बजाते हैं, और मीठी वाणी से बोलते हैं। मैंने अपना तनमन धन आदि सर्वस्व समर्पण कर अपने गिरधारी पर वार दिया था। मीरां को उन चरण कमलों में पहुँचने में देरी हुई है।

मीरां वास्तव में एक असाधारण प्रेमिका है जिसने लौकिक कुल कानि अलौकिक 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' के लिए उसी प्रकार त्याग दी है जैसे गोपिकाओं ने। इस दृष्टि से भागवत पुराणोक्त तथा अन्य कृष्ण भक्ति परक साहित्य में गोपियों एवम् राधा की एकान्तिक निष्ठा के समान उसी स्तर पर उतनी उच्च भावभूमि और प्रेम की मनोभूमि लेकर मीरां के समान अन्य कोई उपासिका उत्तर भारत में तो कम से कम अन्य कोई नहीं दिखाई देती। मीरां के साहित्य में श्रीकृष्ण के स्नेह की विरह भावना और उसकी विविध छटाएँ, दशाएँ और अवस्थाएँ हमारे सामने आती हैं। कतिपय उदाहरणों से इसे हम समझने का प्रयत्न करें।

मीरां की अपने उपास्य में अनुरक्ति—

सौन्दर्य श्रेष्ठ रसिक शिरोमणि गिरधर नागर की रूप छटा पर लुब्ध मीरां की यह उक्ति देखिए—

णिपट बकट छव अटके, म्हारे नैणा णिपट बकट छव अटके।
देख्या रूप मदण मोहणो री पियत पियूखण मटके।
बरिज भवाँ अडक मतवारी नैणा रूप रस अटके।
टेढ्या कट टेढें कर मुरडी, टेढ्या पाग लर लटके।
मीरां प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नटके।[2]

१. मीरां स्मृति ग्रन्थ-मीरां पदावली पद ३, पृ० २०।
२ मीरां स्मृति ग्रन्थ-मीरां पदावली पद ५, पृ० २।

व्यकट की छवि पर मेरे नेत्र आकर रुक गये हैं। मदन मोहन के रूप को अरी सखी ! मैंने अच्छी तरह देखा है उनके रूप की शोभा का पियूष मैंने छक कर पिया है। मतवारी अलकें है, कमल के समान भौंहें हैं। इनको देखकर मेरे नेत्रो मे रूपका रस अटक गया है। टेढ़े हाथों से कमर तिरछी कर मुरलीको हाथ मे पकड लिया है, तथा टेढी पगडी पहन रखी है। उनकी इस अद्वितीय भाव भगिमा मे मीरां ने बड़ा आकर्षण देखा और वह उस रूप पर आसक्त हो गई है।

मीरां के नेत्रो को पड़ी हुई आदत का स्वरूप भी द्रष्टव्य है—

> अखिरो मोरे नैणा बाण पडी।
> चित चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
> कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खडी।
> कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन-मूरि जडी।
> मीरां गिरधर हाथ बिकानी लोग कहे बिगडी।[1]

अरी सखी ! मेरे नेत्रों को यह आदत सी पड गयी है कि प्रियतम के सौन्दर्यमय रूप को बार-बार देखकर उनकी माधुरी मूरत मेरे चित्त मे अङ्कित हो गई है, और वह अब तो उर मे आकर अट गयी है। मैं उनको प्रत्यक्ष पाने के लिए लालायित हूँ और उनकी प्रतीक्षा अपने भवन मे खडी होकर कर रही हूँ। वे मेरे लिए मेरे प्राणाधार हैं, तथा मेरे जीवन की जड को मैंने उनमे जडीभूत कर दिया है। अत उनके बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगी ? मैं तो सब तरह से अपने गिरधर के हाथ बिक गई हूँ, पर लोग कहते हैं कि मैं बिगड गई हूँ। मीरां का व्यवहार लौकिक दृष्टि से आक्षेप योग्य है परन्तु अलौकिक से जिसकी लौ लग जाय उसके व्यवहार को अलौकिक दृष्टि से देखना चाहिए। भक्त अमर्याद रूप से भगवान् से स्नेह सम्बन्ध जोड बैठते हैं। यही तो उनकी असाधारणता है जो मीरां मे भी विद्यमान है।

मीरां की कृतज्ञता—

मीरां एक अलौकिक और असाधारण प्रेमिका है। अपने सगुण साकार भगवान् एवम् प्रियतम के द्वारा अनेक भक्तो का सङ्कटों से उद्धार एवम् मुक्ति हुई है—इस बात को वे भली भाँति जानती हैं। कृतज्ञतावश वे उनका स्मरण करती हुई कहती हैं। यथा—

> कौने कौने कहूँ दिलडानी बात वारे वारे कौने कहूँ ।टेक।
> पाडवनी प्रतिज्ञा पाली, द्रौपदीनी राखी लाज रे।
> × × ×

---

1 मीरां माधुरी—प. ५५—बृजरत्नदास पृ० १४।

मीराँबाई' के प्रभु गिरिधर नागर।
तमने मजों ने हुँ तो मई छुँ रे अणि दिन रलियात रे ॥[1]

मीराँ अपने सगुण साकार प्रियतम के गुणों का स्मरण करती है, उनका अन्तःकरण कृतज्ञता से भर आता है, और उनमें से वे एक एक प्रसंग निवेदन करने लगती है। फिर वे कहती है, किन-किन प्रसगों का मैं उल्लेख करूँ वे तो कई हैं। भक्त की रक्षा व उसकी सकट में मुक्ति के एक नहीं अनेकों उदाहरण उनकी आँखों के सामने हैं। अत वे किस-किस का बारी-बारी से उल्लेख करें। पाडवों की प्रतिज्ञा की मर्यादा रखी। द्रौपदी-वस्त्रहरण के समय भगवान् दौड़ आये। सुदामा को सकट मुक्त कर, उनका दारिद्र्य विनाश किया। प्रल्हाद को सकटो से उबारा। गोपियों की बाहें पकड़ कर उनका कार्य पूरा किया अर्थात् उनकी मनोकामना पूरी की। अब मैं सजधज कर महल में पधारी हूँ। मेरे नाथ! मेरे प्रभु! मुझ पर रीझे हैं। हे गिरिधारी! मेरा निवेदन है, कि मैं आपका भजन करते-करते आपकी ही बन गई हूँ, और दिन-रात आपके सम्मिलन का सुख भी प्राप्त कर रही हूँ। मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है।

मीराँ का अनोखा और अद्वितीय आत्मसमर्पण—

मीराँ का वह आत्म समर्पण देखिए—

छोड मत जाज्यो जी महाराज ।टेक।
मैं अबला बल नाँय गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज।
मैं गुणहीन गुण नाँय गुसाईं, तुम समरथ महाराज।
थारो होय के किण रे जाऊँ तुमहि हिवडारो साज।
'मीराँ' के प्रभु और न कोई, राखो अबके लाज ॥[2]

हे कृष्ण महाराज! मुझे छोडकर आप कहीं भी न जाइये। क्योंकि मैं अबला हूँ। मुझमें कोई बल नहीं है। मुझे आपके सिवा और किसी का सहारा शेष नहीं है। मैं गुणहीन हूँ। मुझमें कोई गुण नहीं है। फिर भी मैंने अपना सारा उत्तरदायित्व आपको सौंप दिया है। आप सब प्रकार से सर्व समर्थ हैं। विनय की भावना का और आत्मार्पण का इतना गाढा विश्वास और कहाँ उपलब्ध होगा? मीराँबाई कहती हैं, कि मेरे हृदय के निवासी आप ही हैं। मेरी समस्त हार्दिक भावनाएँ आपके लिए ही हैं अत. आपकी बन जाने पर मैं अन्यत्र कहाँ

१. मीराँ माधुरी ब्रजरत्नदास—पद ४१०, पृ० १०४।
२. मीराँ माधुरी ब्रजरत्नदास—पद १७७, पृ० ४४।

जाऊँ ? सच भी तो है जो भगवान् का हो गया उसे भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र ठौर ही नहीं मिल सकता। मीराँ की यह आस्था सराहनीय है। अब वे पुन पुन प्रार्थना कर कहती हैं कि अबकी बार मेरी लज्जा का आपको संरक्षण करना ही पड़ेगा। सख्य और माधुर्य भावना से और कान्तासक्ति से ही ऐसे उद्‌गार निकलना सम्भव है।

मीराँ का अपने स्नेह-भाजन के साथ यह प्रणय कोप देखिए। इस प्रणय-कोप में गोपी की ही तरह अपने हृदय की बात ऐसे ढङ्ग से व्यक्त की गई है जिसमें एक कलात्मकता और स्त्री सुलभ उपालम्भयुक्त समर्पण का भाव है। यथा—

> छाडो लँगर मोरी बहिया गहोना।
> मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहोना।
> जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन-जोर मेरे प्राण हरौना।
> वृन्दावन की कुंज गली में, रीति छोड अनरीति करौना।
> 'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कमल चित टारे टरौना॥[1]

अपने प्रिय से मिलन भाव की उत्सुकता मीराँ की यह आना-कानी बहुत ही सौजन्यपूर्ण और प्रणय की मधुरिमा की भाव भंगिमा से अभिव्यंजित है। अपने प्रियतम ने जब इनका हाथ पकड़ लिया तब उनकी लगरई अर्थात् धृष्टता देखकर मीराँ ऊपरी तौर पर कहती है कि मेरी बाँह क्यों पकड़ते हो ? इसमें जो झिझक अभिव्यक्त हुई है, वही तो प्रेमिका की शालीनता है। सुनो मैं तो पराये घर की स्त्री हूँ। अब मेरे आसरे हे गुपाल ! तुमको नहीं रहना चाहिए। अर्थात् मुझ पर विश्वास करने से तुम्हें पश्चाताप होगा। फिर भी यदि बलपूर्वक तुम मेरी बाँह पकड़ ही लेते हो, तो नेत्रों के द्वारा मेरे प्राणों को हरण न करो यही प्रार्थना है। व्यावहारिक दृष्टि से तुम्हारी यह बरजोरी ठीक नहीं है। वृन्दावन की कुंज गलियों में सामाजिक मर्यादा छोड़कर अमर्याद रूप में स्नेह के नये ढंग का व्यवहार न अपनाओ। हे मीराँ के प्रभु ! हे गिरधर नागर ! अन्त में यही प्रार्थना है कि आपके चरण-कमलों में ही मेरा चित्त रमा रहे तथा यदि मैं टालने का प्रयत्न करूँ, तो आप मेरे चित्त में सदा विद्यमान रहें, और मेरा चित्त अन्यत्र न डले। अस्वीकृति में स्वीकृति का यह आत्मीयता का संकेत भक्त का भगवान् से निकट सम्बन्ध का भी सूचक है।

मीराँ सगुणोपासिका है, इसमें किसी को अविश्वास नहीं हो सकता। क्योंकि अपने रसिक-पुरुषोत्तम, सौन्दर्य-पुरुषोत्तम, माधुर्य-पुरुषोत्तम और लीला-

१. मीराँबाई की पदावली पद १७३—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

पुरुषोत्तम पर वे पूर्ण रूप से रीझी हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण चन्द्र को सगुण रूप पूर्ण-ब्रह्म मानकर अभिवादन करती है। वे गिरिधर अविनाशी परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं। मीरॉं उनको पूर्व जनम का साथी, भरतार, पीव, धणी, भवनपति, बलमा और वर आदि नामों से सम्बोधन करती है। प्रत्यक्ष मूर्तिमान श्रीकृष्ण से सख्यि-भाव अथवा गोपी भाव से एवम् राधा महाभाव से मीराबाई ने अपनी प्रेम-साधना की है। सगुण साधना को सामने रखने वाले कुछ पद देखिए—

सगुणोपासना—

> बसो मोरे नैनन में नदलाल।
> मोहिनी मूरत सांवली सूरत, नैना बने बिसाल।
> अधर, सुधारस मुरली राजत उर बैजन्तीमाल॥
> छुद्र घंटिका कटितट शोभित नूपुर शब्द रसाल।
> मीरां प्रभु सतन सुखदाई, भगत बछल गोपाल।[1]
>
> ×   ×   ×
>
> माई मेरो मोहन मन हर्यो।टेक।
> दासी मीरां लाल गिरधर दान के ये वर वरयो।[2]
>
> ×   ×   ×
>
> तुम आज्यो जी रामा आवन आस्यां सामा।टेक।
> तुम मिलियां मैं बहु सुख पाऊँ, सरे मनोरथ कामा।
> तुम बिच, हम बिच अन्तर नाही, जैसे सूरज घामा।
> मीरां मन के और न माने, चाहे सुन्दर स्यामा।[3]

हे नदलाल! मेरे नत्रो मे आपकी श्यामल मनोहर मूर्ति बस जाय। आपकी सगुण साकार मूर्ति मोहित कर लेती है। आपकी सांवली सूरत बड़ी लुभावनी है। आपके नेत्र विशाल हैं, और अधरों पर अमृत के समान माधुरी से युक्त मुरली विराजित है। गले मे वैजयन्तीमाला है, और कटितट पर करधनी में छोटी घटिकाएँ सुशोभित हैं। नूपुर मधुर क्वणन करते हैं। आपका स्वरूप भक्त-वत्सलता से भरा हुआ है। आप भक्तों के लिए सुखदायी हैं यही मीरां का निवेदन है।

हे माई! मोहन ने अपनी रूप सपदा से मेरा मन मोहित कर लिया है। *हे सखि! अब मैं क्या करूँ और अन्यत्र कहाँ जाऊँ? मैं तो सारे विश्व के*

---

१. मीरां माधुरी—ब्रजरत्नदास पद ४६, पृ० १७।
२ मीरांबाई की पदावली पद १७४—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६।
३ मीरां माधुरी—ब्रजरत्नदास पद २५१, पृ० ६२।

प्राण-पूर्ण पुरुषोत्तम का वरण किया गया है। मैं तो यमुना का जल भरने गागर लेकर गयी थी। पानी का कलश सर पर रखा ही था कि अकस्मात् किशोर वयस का श्यामसुन्दर कन्हैया दिखाई दिया। उसने मुझ पर कोई जादू टोना कर दिया है। मेरा चित्त उसमें ऐसा अटक गया है कि लोक लज्जा को मैंने भुला दिया है। उस सगुण सुन्दर रूप छवि पर मैं तो मोहित हो गई हूं। मेरा मन अपने वश में नहीं है। अब कोई बात नहीं बनने की मैंने तो इस वरश्रेष्ठ को अच्छी तरह खोजकर प्राप्त कर लिया है। अतः अब वही मेरा एक मात्र एवम् सर्वस्व है।

मीरां बार-बार स्वरूप सुन्दर सगुण पूर्ण ब्रह्म रूप श्याम को गुहारती है और प्रार्थना करती है कि तुम आ जाओ और तुरन्त मुझे दर्शन दे दो। तुम्हारे मिलन से मुझे बहुत सुख प्राप्त होगा। तुम्हारे और हमारे बीच अब कोई भेद-भाव नहीं रहा है। वह सम्बन्ध अब अभेदत्व को प्राप्त कर चुका है। जिस प्रकार सूर्य और उसकी धूप अलग-अलग नहीं है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र और मीरां ये दोनों उसी तरह अभिन्न है।

मीरांबाई की सगुणोपासना का यह स्वरूप है, जो उनके काव्य का तथा उनकी भक्ति का प्रमुख आधार है। भगवान् श्रीकृष्ण मीरां के प्राणेश्वर और पति हैं।

मीरां की निर्गुणोपासना—

सन्तों की शैली में तथा योगियों की पद्धति में और निर्गुण परक उपासना जिसमें अभिव्यंजित हो उठती है, ऐसे भी पद मीरां की काव्य साधना में दिखाई देते हैं। इनके भी कतिपय उदाहरण लेकर हम उन्हें समझने का प्रयत्न करेंगे।

अपने गिरधरलाल के सौन्दर्य से प्रेमासक्त होकर उस अविनाशी और सर्वव्यापी के निर्गुण रूप पर भी उनका विरहोन्मत्त मन माधुर्य भाव से ही कराह और तड़प उठा है। मीरां का यह भाव आध्यात्मिक ही माना जावेगा। गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से प्रेम की अनुभूति तीव्रतम हो जाती है। इस साधना की परिपक्व दशा प्राप्त करने की चेष्टारत मीरां का यह उद्गार देखिए—

> मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होइरी ।टेक।
> आये मेरे सजना फिरि गये अंगना मैं अभागण रही सोइरी ।।
> फाड़ूंगी चीर करूं गल कंथा, रहूंगी बैरागण होइरी ।
> चुरियां फोड़ूं मांग बखेरूं, कजरा मैं डारूं धोइरी ।
> निसबासर मोहि बिरह सतावै, कल न परत मोइरी ।
> मीरां के प्रभु हरि अविनासी, मिली बिछरी मति कोइरी ।।[१]

१ मीरांबाई की पदावली पद ४८—श्री परशुराम चतुर्वेदी ।

मैंने प्रभु को तो जाना भी नहीं कि उनका क्या स्वरूप है। अब मेरी यह चिन्ता है कि प्रभु के साथ किस प्रकार मिलन होगा। मेरे साजन मुझ पर कृपा करके, मेरे आँगन में पधारे थे परन्तु मैं अभागिनी उस समय सो गई। मुझे इस बात का बहुत दुख है। प्रियतम से मिलने के लिए मैंने जो शृङ्गार किया उसका मैं अब परित्याग कर दूँगी। अब मैं योगिनी-तपस्विनी बन जाऊँगी। अपने चीर को फाड़कर गले में कंथा धारण कर लूँगी और वैरागिनी बन जाऊँगी। प्रभु का विरह मुझे दिन-रात व्यथित और बेचैन करता रहता है। मुझे तो कल नहीं पड़ रहा है। मीराँ कहती हैं कि उसके प्रभु अविनाशी हैं। अब एक बार उनसे मिलकर पुन बिछुड़ना नहीं चाहिए।

योगिनी और विशेषत वियोगिनी बन जाने पर अपने योगीराज कृष्ण से-अपने अविनाशी परब्रह्म से वे अनुनय भी करती हैं।

वियोगिनी मीराँ का अनुनय—

> जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइँ पड़ँ मैं चेरी तेरी हौं।टेक।
> प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारा, हमकूँ गैल बता जा।
> अगर चदण की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जलाजा।
> जल जल गई भस्म की ढेरी, अपणे अङ्ग लगाजा।
> मीराँ कहै प्रभु गिरिधर नागर जोत में जोत मिला जा।[1]

हे योगश्वर ! मैं विनय पूर्वक मनाकर कहती हूँ कि तुम मत जाओ। मैं पैरों पड़ती हूँ क्योंकि मैं तो तुम्हारी सेविका हूँ। अगुरु चंदन की चिता रचकर उसमे जलने के लिए मैं तत्पर हूँ। केवल तू अपने हाथ से उसे प्रज्वलित कर चला जा। विरह की आग मे जल करके मैं तो भस्म की ढेरी बन गई हूँ। तू उन भस्म को अपने अंग में लगा ले। भस्म हो जाने से अपने प्रिय का अङ्ग-सङ्ग प्राप्त होगा, यही राधिका की हार्दिक इच्छा है। मीराँ कहती है, कि हे गिरधर नागर ! मेरी जीवन ज्योति को अपनी ज्योति मे समा लो। ज्योति मे ज्योति का समाने मे मीराँ का अभिप्राय जीवात्मा का परमात्मा मे अभिन्नत्व प्राप्त कर लेना है।

प्रमुखत. मीराँ की काव्य साधना दर्द भरी वेदनासिक्त और वियोग की व्यथा से परिव्याप्त है। इस विरह व्यथा का करुण क्रन्दन मीराँ की काव्य साधना की अन्यतम विशेषता है।

यहाँ पर उनके विरह-व्यथा-व्यंजक कुछ उद्गारों को हम देखेंगे। यथा—

---

१ मीरांबाई की पदावली पद ५०।

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोइ ।
मीरां की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद सांवलिया होइ ।[1]

× × ×

दरस बिन दुखण लागे नैण ।टेक।
जबके तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहूँ न पायो चैन ।
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपे, मीठे मीठे बैन ।
बिरह कथा कासूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत ऐन ।
कल न परत पल हरि मग जोवत, भई छमासी रैण ।
मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे, दुख मेटण सुख देण ।।[2]

हे सखि ! मैं तो दर्द के कारण पागल हो गई हूँ। मेरा दर्द कोई नहीं जान सकता। घायल की घायल ही जान सकता है। विरहानुभूति जो ले चुका है, वही उसकी व्यथा समझ सकता है। जवाहरों का मूल्यांकन जौहरी ही कर सकता है, जिसके पास जवाहर हो। हमारी जीवन-चर्या तो सूली के ऊपर लेटने जैसी है। इसलिए बताइए ऐसी परिस्थिति में शयन कैसे सम्भव है। प्रियतम की शय्या तो गगन मंडल में है, तब मिलन तो और भी दुष्कर है। दर्द से पीड़ित होकर कराहती-तड़पती मैं वन-वन भटकती रही, पर मेरी वेदना को समझने वाला, मेरी व्यथा को ठीक करने वाला, कोई वैद्य नहीं मिला। मीराँ की पीड़ा तो तब मिटेगी जब स्वयम् साँवले कन्हैया वैद्य बन जावेंगे।

अपने प्रियतम के दर्शन न पाने से मेरे नेत्र दुखने लगे हैं। क्योंकि जबसे तुम्हारा विछोह हुआ। हे प्रभु ! मुझे तो क्षण भर भी चैन नहीं मिला। आपका कहीं शब्द भी मैं सुन लेती हूँ तो मेरा हृदय काँप उठता है क्योंकि आपके वचनों में एक मिठास है और एक अद्भुत आकर्षण भी। मैं अपनी विरह गाथा किसे सुनाऊँ ? मुझे तो इसका सहना करवत की धार पर दौड़ जाने जैसा लग रहा है ? हरि की बाट जोहते-जोहते रात्रि मेरे लिए छ मास की बन गई है क्योंकि अपने प्रिय के बिना मुझे कल भी तो नहीं पड़ती। दुख मिटाने वाले और सुख देने वाले हे प्रभु ! आप कब आकर मुझे मिलोगे ? मीरां की यह करुण पुकार है। अपनी विरह व्यथा को निवेदित मीरां का यह आक्रोश करुणापूर्ण है। यह करुणा अपने उपास्य को अवश्य खींच लावेगी ऐसा विश्वास उसमें से ध्वनित हो जाता है। भक्त का यह विश्वास श्लाघा के योग्य है।

---

१ मीरां माधुरी—श्री ब्रजरत्नदास पद ११३ ।
२. मीरांबाई की पदावली पद १०३—परशुराम चतुर्वेदी ।

मराठी और हिन्दी के वैष्णव साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष की तुलना का सार—

मराठी और हिन्दी का आध्यात्मिक पक्ष एक ही स्तर का और करीब-करीब समान है। सर्वश्र और सशक्त आत्मकल्याण और लोककल्याण की ओर उन्मुख करने वाला आध्यात्मिक स्वर एकनाथ, रामदास और ज्ञानेश्वर में है वैसा ही तुलसीदास, सूरदास और कबीर में है। केवल वैराग्य और आत्मोन्नति की ओर ले चलने वाला आध्यात्मिक पक्ष तुकाराम, कबीर और मीरां में है। यह कहीं-कहीं पर एकान्तिक भी है तो कहीं-कहीं पर व्यापक और सार्वजनीन । नीति-सदाचार और आस्तिकता से सम्पन्न मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष इसी दृष्टि से तुलनीय है और अद्वैत के ज्ञान पर आधारित और सगुण की भक्ति पर निर्भर होने से सुदृढ और कल्याणकारी भी है। भक्ति का यह सगुण पक्ष व्यक्ति और समाज के सामने एक उच्चाशय और चारित्रिक सबलता को सुदृढ करता है।

अष्टम्–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का साहित्यिक-पक्ष

*

मराठी और हिन्दी के वैष्णव साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष की तुलना का सार—

मराठी और हिन्दी का आध्यात्मिक पक्ष एक ही स्तर का और करीब-करीब समान है। सर्वक्ष और सशक्त आत्मकल्याण और लोककल्याण की ओर उन्मुख करने वाला आध्यात्मिक स्वर एकनाथ, रामदास और ज्ञानेश्वर में है वैसा ही तुलसीदास, सूरदास और कबीर में है। केवल वैराग्य और आत्मोन्नति की ओर ले चलने वाला आध्यात्मिक पक्ष तुकाराम, कबीर और मीरां में है। यह कहीं-कहीं पर एकान्तिक भी है तो कहीं-कहीं पर व्यापक और सार्वजनीन। नीति-सदाचार और आस्तिकता से सम्पन्न मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष इसी दृष्टि से तुलनीय है और अद्वैत के ज्ञान पर आधारित और सगुण की भक्ति पर निर्भर होने से सुदृढ और कल्याणकारी भी है। भक्ति का यह सगुण पक्ष व्यक्ति और समाज के सामने एक उच्चाशय और चारित्रिक सबलता को सुदृढ करता है।

अष्टम्—अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का साहित्यिक पक्ष

(मराठी वैष्णव कवियों में सिरमौर ज्ञानेश्वर का ज्ञानेश्वरी एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। अतः इस ग्रंथ का साहित्यिक अध्ययन करने का ढङ्ग ज्ञात करना होगा।)

ज्ञानेश्वरी का अध्ययन कैसे किया जाय ?

ज्ञानेश्वरी के अध्ययन करने वाले कई प्रकार के लोग होते हैं, और सब अपने-अपने ढंग से उसका अध्ययन करते हैं। इसीलिए कई तरह के निष्कर्ष सामने आते हैं। कोई चीज या वस्तु हमारे केवल सामने है इसलिये उसका सम्यक् और सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। वस्तु सामने है इसलिये पूरा ज्ञान हो गया हो ऐसा भी नहीं दिखाई पड़ता। जिस वस्तु की प्राप्ति नहीं होती प्रायः उस वस्तु को हम अधिक महत्व दे देते हैं। ज्ञानेश्वरी के बारे में कुछ ऐसा ही हो गया है। विचारों के स्वरूप और उनकी धारणाएँ सदा बदलती रहती हैं। वेदान्तपूरक भाष्य या प्रतिपादन कोई समाज में करने लगे तो प्रतिपादक की बातें समझ में आने पर भी ऐसा अनुभव होने लगता है कि ये बातें बिलकुल समझ में नहीं आयी हैं। इसका कारण यह है कि हम एक प्रणाली मानकर चलते हैं, और जहाँ उसमें जरासा भी परिवर्तन होता है, तो हम उसे सहसा स्वीकार नहीं करते। वास्तव में यह परिवर्तन काल-सापेक्ष होता है।

६०० वर्षों के कालखण्ड में महाराष्ट्र की दिनचर्या में परिवर्तन हुआ है। विचार करने की एक नई पद्धति आत्मसात कर ली गई, जिसे तर्क शास्त्र-पद्धति कहा जाता है। तर्क की दृष्टि से जो कुछ कहना पड़ता है, वही प्रायः तर्क की पद्धति नहीं हुआ करती। अपनी शक्ति के अनुसार उसमें अन्तर पड़ता जाता है, इसलिए मनुष्य अपनी युक्ति के अनुकूल तर्क या दर्शन का निर्माण कर लिया करता है। ज्ञानेश्वर को क्या कहना है, इसे प्रथम समझ लेना बहुत कठिन हो गया है। अतएव जो इस मार्ग में जाना चाहता है, उसे अपना मार्ग सही है अथवा गलत उसका सम्यक् निश्चय कर लेना होगा। गीता के अर्थ को व्यास का अनुसरण करते हुए ज्ञानेश्वर प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानेश्वर नवम् अध्याय में कहते हैं-

"जरी एकले अवधान दीजे। तरी सर्व सुखासी पात्र होईजे।
हे प्रतिज्ञोत्तर माझे। उघड आइका।"[1]

---

१. ज्ञानेश्वरी ९।१।

श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं, कि श्रोताओ ! यदि तुम दत्तचित्त होकर सावधानी से श्रवण करोगे तो सारे सुखों के अनुभव करने के अधिकारी बन जाओगे। यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक जानकारों के समाज में कह रहा हूँ। इसका मुझे बराबर परिज्ञान है।

ज्ञानेश्वर की यह प्रतिज्ञा भला झूठ कैसे होगी ? आज ज्ञानेश्वरी हमारे लिये दुर्बोध बन गयी है। पर जिस समय वह आबाल वृद्ध नर नारी आदि के लिए ज्ञानेश्वर ने बखानी, तब वह भोले भाले लोग तथा अशिक्षित जन भी उसे समझ सकते थे। उनकी प्रतिज्ञा में वर्णित अनुभव और सुख बराबर सारे श्रोताओं को मिलता था। फिर आज ऐसी क्या बात हो गई, जिससे वह अनुभव उपलब्ध नहीं होता ? भाषा की दुर्बोधता तो कालान्तर का फल माना जावेगा। 'ज्ञानेश्वर न भाष्यकारों को जो अभिप्रेत था, वह नहीं कहा है वरन जो उन्हें स्वयम् अनुभव हुआ उसका उसमें निवेदन है। अत उस अनुभव का तादात्म्य एवम् साधारणीकरण हो जाने पर सुखों का अनुभव निश्चित होगा। यह एक ध्रुव सत्य है। पात्रता और अधिकार के बिना ज्ञानेश्वरी का वाचन एक दिखावे की बात हो जाती है। पंडितो के विद्वत्तापूर्ण माध्यम से ज्ञानेश्वरी समझने पर वह "यथार्थ दीपिका" नहीं रह जाती।"[1]

ज्ञानेश्वर द्वारा अपने ग्रन्थ का नामकरण—

ज्ञानेश्वर ने विनम्रतापूर्ण इसका नाम "भावार्थ दीपिका" रखा। ज्ञानेश्वर ने आत्म-निरीक्षण किया और यह 'भावार्थ दीपिका" बन गई। प्राय. विचारों की सदोषता, परपरा और काल के द्वारा निर्मित अन्तर आदि ऐसे कारण हैं, जो ज्ञानेश्वरी समझने में बाधक सिद्ध हुए हैं। गुलाब का पुष्प और गुलाब का इत्र इन दोनो का अन्तर हमारी समझ में आ जाता है। गुलाब का पुष्प मन और नेत्रो को प्रसन्न करता है तो गुलाब का इत्र नासिका को सुगन्ध पहुँचा कर ताजगी दे देता है। एक सात्विक सुख देता है, तो दूसरा मादक और राजसी सुख प्रदान करता है। गीता की टीका को अर्थात् ज्ञानेश्वरी को भावो सहित भावमय होकर समझना और विद्वान बन कर उसको पढ़ना उसमें भी यही अन्तर है। ज्ञानेश्वर ने ब्रह्मविद्या के सैद्धान्तिक विवेचन के लिये ज्ञानेश्वरी नहीं लिखी। गीता में जो नहीं था, वह ज्ञानेश्वरी में है। ज्ञानेश्वरी में श्रोताओं के साथ सवाद करते हुए, ज्ञानेश्वर ने जो कुछ समझा उसका वे निरूपण करते हैं। केवल वह हमारी समझ में नहीं आता, इसलिये सारी शङ्काएँ-समस्याएँ आदि निर्माण हो जाती हैं। व्यास की वाणी में जो न था, वह ज्ञानेश्वरी में अवश्य है। महाभारत के कमल-दल के

१ डॉ० रा० प्र० पारनेरकर जी के एक अप्रकाशित प्रवचन पर आधारित।

पराग के समान गीतादम-प्रसंग है, जिसे श्रीरंग भगवान् ने अर्जुन से संवाद रूप मे उपस्थित किया। महाभारत के प्रति ज्ञानेश्वर की बड़ी आस्था है। इसे पूर्ण रूप से समझकर ज्ञानेश्वरी कहने वे प्रस्तुत हुए हैं। महाभारत के अर्जुन, कृष्ण कैसे हैं इसे समझ लेने पर गीता के संवाद किस प्रकार के हैं, यह चीज समझ में आ जाती है। संवादों के लिए जीवन का आधार पूर्व पीठिका के तौर पर आवश्यक और अनिवार्य हुआ करता है। रणक्षेत्र पर जो वाद निर्माण हो गया और पारस्परिक रूप मे जो भ्रान्त धारणाएँ बना ली गयीं, उनको समझना अत्यंत आवश्यक है। शिष्य कहता है—माझे कल्याणाचे मार्ग। "—मेरे कल्याण की बात बतलाओ।" किन्तु गुरु को यह बात क्यों कर अच्छी लगेगी ? शिष्य की दृष्टि से जो बात उचित और कल्याण की जान पड़ती है, वही गुरु की दृष्टि से अनुचित और अकल्याणप्रद हो सकती है। इसका कारण शिष्य मे योग्यता की कमी ही है। गुरु मे पात्रता और अधिकार सम्पन्नता होने से उसे उचित-अनुचित का तारतमिक ज्ञान यथार्थ रूप मे रहता है। शिष्य में इसका अभाव होने से वह ठीक प्रकार से अपने कल्याण की बात नहीं परख पाता। ज्ञानेश्वर ने जो कुछ कहा उसमें एक जिद है, जो अयथार्थ व्यवहार के साथ संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। अर्जुन शिष्य है और श्रीकृष्ण गुरु। इन दोनों के बीच संवाद हुए हैं। श्रीकृष्ण पंडित थे इसलिये उनका महत्व नहीं है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने हाथों मे शस्त्र लेने के लिये प्रेरणा देकर कर्म तत्पर और कर्मरत करवाया। अर्जुन में *केवल विचारों के माध्यम से और संवाद के साधन से वे ऐसा परिवर्तन ला सके।* इतनी बड़ी योग्यता और इतना बड़ा अधिकार श्रीकृष्ण का था। यह श्रीकृष्ण को कैसे प्राप्त हो गया ? गीता इसका उत्तर हमें नहीं देती। ज्ञानेश्वरी मे इसका उत्तर मिल जाता है। ज्ञानेश्वरी का अर्थ स्पष्ट करते समय महाभारत के प्रसंग और संदर्भ हमारी आँखों के सामने रहने चाहिए। यह सब कुछ ज्ञानेश्वरी हमारे सम्मुख उपस्थित कर देती है। धृतराष्ट्र आदि की स्वभावगत विशेषताएँ ज्ञानेश्वरी मे बराबर दिखाई पड़ती हैं।

ज्ञानेश्वर की करामात—

ज्ञानेश्वर ने मानव मन को एक प्रकार की घुमन दी है। उसके लिए बीभत्स रस का निर्माण किया है। ज्ञानेश्वर ने रजोगुण, तमोगुण तथा आसुरी-सम्पत्ति आदि विवेचन विशेष रूप से और विविध प्रकारों से विपुलतापूर्वक किया है। इसका परिणाम इसके प्रति जुगुप्सा और घृणा का उत्पन्न होना है। वस्तुत यह उसके पढ़ने से और समझने से होने वाला परिणाम है। गीता में ऐसा नहीं है। गीता में प्रथम दैवी और बाद में आसुरी संपत्ति का विवेचन है। ज्ञानेश्वर

ने प्रथम आसुरी सम्पत्ति और बाद मे दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया है। ज्ञानेश्वर कैसे व्यक्ति हैं? इसे पहचानना आसान और साधारण कार्य नही है। ज्ञानेश्वरी की प्रथम ओवी इसका जबरदस्त प्रमाण उपलब्ध कर देती है। वह ओवी इस प्रकार है—[1]

ॐ नमो जी आद्या। वेद प्रतिपाद्या।
जय जय स्वसंवेद्या। आत्मरूपा॥

"ॐकार ही परमात्मा है ऐसी कल्पना करते हुए ज्ञानेश्वर यहाँ पर उस महा मंगल करने वाले परब्रह्म को नमस्कार करते हैं। हे सब के आदि और परम बीज तथा वेदों के प्रतिपादन का विषय बनने वाले ॐकार एवम् प्रणवरूप, आपको मेरा नमस्कार है। आप स्वयं ही अपने आपको जानने योग्य हैं और सर्वव्यापी आत्मरूप ओंकार हैं। अतः आपकी जय हो।"

इस ओवी को पढ़ कर यह पता नहीं लग पाता कि इसका स्वरूप भावनामय है अथवा, पंडिताऊ या साहित्यिक प्रवृत्ति मय। बड़े-बड़े पंडित प्रवर भी इसका उत्तर देने मे अपने आपको असमर्थ पायेंगे। ज्ञानेश्वर पर वेदान्त की गहरी छाप थी, ऐसा इस ओवी से हम निश्चित जान सकते हैं। वेदान्त के ज्ञानमय ब्रह्म का, उनके अन्तःकरण पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा हुआ था, इसका हम अंदाज इस वर्णन से लगा सकते हैं। ज्ञानेश्वरी की यह प्रथम ओवी ही देखकर वास्तव मे ज्ञानेश्वरी "ज्ञान के ईश्वर" थे, यह सत्य प्रतीत होता है। ज्ञानेश्वरी की प्रथम ओवी और प्रथम पृष्ठ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बीस ओवियों मे वे गणेश की भव्य और दिव्य वंदना करते हैं। गणपति और सरस्वति का नमन करने के बाद अपने गुरु निवृत्ति नाथ के परमात्मास्वरूप के प्रतीक को भी, उन्होंने वंदन किया है। क्योंकि "गुरु साक्षात् परब्रह्म" यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। ज्ञानेश्वर प्रतिभासपन्न कवि थे, इसलिये रूपकों सहित किये गये ये देवताओं के रसमय वर्णन आँखो के सामने उन्हे साकार रूप मे मूर्त कर देते हैं। इस दृष्टि से ज्ञानेश्वरी के प्रथम अध्याय की प्रथम ३० ओवियाँ द्रष्टव्य हैं[2]—

ज्ञानेश्वरी-अध्ययन की पात्रता व अधिकार

सहृदयतापूर्ण बनकर साहित्यिकता मे ज्ञानेश्वरी का अध्ययन किया जाय ऐसी सूचना ज्ञानेश्वर देते हैं यथा—[3]

१ ज्ञानेश्वरी अ १।१।
२. ज्ञानेश्वरी अ. १।१–३०।
३. ज्ञानेश्वरी अ. १।५६–६१।

जैसे शारदीयेचे चद्रकळे । माजी अमृतकरण कोंवळे ।
ते वेंचिती मन मवाळें । चकोर तलगें ॥
तियापरी श्रोता । अनुभवावी हे कथा । अति-
हळुवार पण चित्ता । आणुनिया ॥
हे शब्दे वीण सवादिजे । इन्द्रिया नेणता भोगिजे ।
बोला आदि झोंबिजे । प्रमेयासी ॥
जैसे भ्रमर परागु नेती । परी कमळ दळे नेणती ।
तैसी परी आहे सेविती । ग्रंथी इये ॥
का आपुला ठावो न सांडिता । आलिंगिजे चन्दु प्रकटतां ।
हा अनुरागु भोगिता । कुमुदिनी जाणे ॥
ऐसे नि गंभीर पणें । थिरावलेनि अन्त करणें ।
आथिला तोचि जाणे । मानू इये ॥[1]

'कथा के माधुर्य का श्रोताओं को अपना मन सुकोमल बनाकर उसी प्रकार अनुभव करना चाहिए और उसी प्रकार सुनना चाहिए, जिस प्रकार चकोर के बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद ऋतु की कोमल चन्द्रकलाओं के कोमल-सुधा कण चुनते हैं। यह कथा वास्तव मे बिना शब्दों की सहायता के ही कही जाती है, इन्द्रियों के बिना पता लगे ही, इसका अनुभव होता है। और श्रवणों तक पहुँचने के पूर्व ही इसके तत्व-सिद्धान्तों का आकलन होता है। भ्रमर जिस प्रकार कमलों के भीतर का पराग ले जाता है और कमल दलों को इस बात का पता भी नहीं लगने पाता, उसी प्रकार इस ग्रन्थ को श्रवण करने वाले लोग भी इसका तत्व ग्रहण करते हैं। केवल कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार अपना स्थान छोड़े बिना ही, उदित होते हुए चन्द्रमा का आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेम का अनुभव किया जाता है। इसीलिये जिसका अन्त करण इस प्रकार की गंभीर वृत्ति से निश्चल हो गया हो, वही गीता का विषय समझ सकता है।'

एक ओवी मे तत्वज्ञान के बारे मे सब कुछ कह देने का सामर्थ्य ज्ञानेश्वर मे है। वे ही ज्ञानेश्वर श्रोताओं से कहते हैं, सुकोमल अन्त करण से इसे पढ़िये। प्रज्ञावन्त होकर ज्ञानेश्वरी पढ़ने के लिए वे कहाँ कहते हैं? शूद्रादिकों का उद्धार करने के लिए ज्ञानेश्वरी लिखी गयी थी। ज्ञानेश्वरी किसके लिए लिखी गई है, इसका उत्तर खोजने पर ज्ञानेश्वरी का मर्म समझ मे आ सकता है। अपने विरोधकों से वे सुनकर कहते हैं कि जरा देखिए तो सही, कि मैं स्त्री पुरुष और

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १।५६-६१।

शूद्रादिको को सब प्रकार के सुख प्राप्त करने की क्षमता और अधिकार किस प्रकार प्रदान करता हूँ। ज्ञानेश्वरी मे भोले भाल लोगो के लिए आश्वासन है और विरोधकों के लिये चुनौती है। *आत्मरग मे रगे हुए ज्ञानेश्वर समार को भूले नहीं थे।* प्रथम ओवी लिखने वाले ज्ञानेश्वर और नवम् ओवी लिखने वाले ज्ञानेश्वर मे विकास एवम् प्रगति दिखाई पडती है। ज्ञानेश्वर का साक्षात्कार होना आवश्यक है। वे किस प्रकार भावो को विषयानुकूल बनाकर परिवर्तित करते रहे हैं तथा किस प्रकार नये भाव निर्माण करते रहे है इसे देखना बहुत जरूरी है।

ज्ञानेश्वरी मे जो शिल्प अपनाया गया है उसे भी हमे देखना पडेगा। प्राय प्रथम शब्द और बाद मे अर्थ इस तरह का शिल्प अपनाया जाता है पर ज्ञानेश्वर ने जो शिल्प अपनाया है वह उनका अपना है। वहाँ अर्थ प्रथम है और शब्द बाद मे आते हैं। "शब्दा आधी भोगिजे प्रमेयासी" या 'अर्थ शब्दाची वाट पाहताहे" *अर्थात् शब्दो के प्रयोग करने के पूर्व ही या बिना उनके प्रयुक्त हुए ही* सिद्धान्तो की जानकारी हो जाती है और अर्थ शब्दो को बाट जोहते रहते हैं। ऐसे विचित्र तत्रो का ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी मे प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि मैं प्रथम अवस्था, मनोदशा आदि निर्माण करूँगा तथा बाद मे उसका नामकरण करूँगा। तुम्हे जो कुछ कहना है वह मेरी समझ मे आ जावेगा, फिर मैं अपना *अभिप्राय दूँगा। जिस तरह चकोरो ने सुकोमल मन धारण किया वैसे ही अपने* आपको बनाकर फिर पढो, तो चीज समझ मे आवेगी। विचारो को एवम् चितनशीलता को भावना के फूलो की शोभा से मडित किया जाय। यही तत्व विशेष महत्व का है। अत करण की ऋजुता व सहृदयता होगी तो यथार्थ रूप से ज्ञानेश्वरी समझ मे आ जावेगी और तर्क कर्कशता से युक्त अत करण होने पर *मोक्ष भी नही मिल सकेगा। कोई बात मस्तिष्क मे चुभती है, इसी से परमार्थ नही* प्राप्त होता। चुभे हुए विचारो से कृति मे इसका रूपान्तर होने के लिये भावना की आवश्यकता रहती है। मानव जीवन मे विचार, भावना, और कृति की त्रयी से जीवन का साफल्य निश्चित किया जाता है। गृह और गृहस्थी के उत्तरदायित्व को निभाते हुए पारमार्थिक हम कैसे बन सकते हैं ? यही ज्ञानेश्वर बतलाते हैं। *तर्क और बुद्धि को चुनौती देने के बदले हृदय की भावना को समझ लेना ही* ज्ञानेश्वरी का उद्दिष्ट और रहस्य है।

सचमुच ज्ञानेश्वरी एक प्रतिभाशाली कवि द्वारा लिखा गया एक रस परिपोषक ग्रंथ है। केवल गीताभाष्य या मात्र अनुवाद ही उसका प्रयोजन नही है। ज्ञानेश्वरी मे अनुभूति पक्ष की उत्कटता है।

अति सूक्ष्म संवेदनशीलता, प्रतिभा की उर्जस्वलता, कोमल और सुकुमार भाव वृत्ति वाले कवि की मानसभूमि ज्ञानेश्वर में विद्यमान है ऐसा ज्ञानेश्वरी में प्रतीत होने लगता है। ये भावार्थ पर जोर देते हैं तथा एक मिस्टिक (Mystic) रहस्यवादी की तरह साक्षात्कार पर भी बल देते हैं। आर्तों को शान्ति मिले यही उनकी मनोकामना है, इसीलिए शांत रस की वृष्टि इस ग्रन्थ के द्वारा ज्ञानेश्वर ने की है। शृङ्गार रस के सर पर शांत रस ने अपना चरण-कमल धर दिया है। कोमल भावना और अन्तःकरण की आर्द्रता से भक्ति का रहस्य ज्ञानेश्वर ने प्रकट कर दिया है।

ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन—

ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी लिखने का अपना प्रयोजन यह बतलाते हैं कि मराठी की नगरी में ब्रह्म-विद्या को मुक्त रूप से बाँटने के लिए सुअवसर मिल जाय। वे कहते हैं—

> तैसा वाग्विलासु विस्तारूं । गीतार्थे विश्वभरू ।
> आनंदाचे आवारूं । मांडू जगा ॥
> दिसो परतत्त्व डोळा पाहो सुखाचा सोहळा ।
> रिघो महाबोध सुकाळा । माजीं विश्व ॥[१]

गीता भाष्य के बहाने वाणी के विलास का विस्तार कर सारे विश्व को गीतार्थ से भर देंगे और सारे संसार को आनन्द के रस से भर देंगे। इससे आत्मा-नात्मविवेक की कमी नष्ट हो जावेगी। कान से और मन से जीवित रहना सार्थक हो जायगा और चाहे जिसे ब्रह्म-विद्या की सदान उपलब्ध हो जायगी। सब पर-ब्रह्म को आँखों से देख सकें। सुखों के उत्सवों का उदय हो जाय तथा सारा संसार ब्रह्मज्ञान की विपुलता से युक्त हो जाय यही मेरी मनीषा है। श्रेष्ठ देवता के समान निवृत्तिनाथ ने मुझे अङ्गीकार कर लिया है। इसीलिए अब तक जो कुछ मैंने कहा है वह उनकी कृपा का फल है और आगे चलकर भी मैं उसी तरह अच्छे शब्दों में बोल सकूँगा।

आज की समस्याओं का भी हल ज्ञानेश्वर के विचारों में मिल जाता है। आज सत्ता की अभिलाषा, धन का लोभ, और सुखोपभोगों के लिये दौड़ और भीषण हिंसा संसार में सर्वत्र फैली हुई है। आज विश्व में शांति कैसे निर्माण होगी यही एक ज्वलन्त समस्या है। ज्ञानेश्वर की उक्ति देखिए—

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३।११५९-६१।

जेथ शांतिचा जिव्हाळा नाही । तेथ सुख बिसरोनी नदिसे कोहीं ।
जैसा पापियाच्या ठायीं । मोक्ष नवरी ॥[१]

जहाँ शान्ति का लगाव नहीं वहाँ, सुख को भूलकर भी क्या मिल सकता सकता है? जिस तरह पापी को कभी मोक्ष नहीं मिल सकता। श्री ज्ञानेश्वर की दृष्टि से साहित्य में विश्व कल्पना को अवश्य स्थान दिया जा सकता है। अन्तिम पसाय-दान (प्रसाद-दान) भी वे इसी प्रकार का मांगते हैं—

ज्ञानेश्वर का प्रसाद दान—

आतां विश्वात्मके देवें । येणें वाग्यज्ञें तोषावें ।
तोषोनि मज द्यावें पसाय-दान हे ॥
जे खळांची व्यंकटी सांडो । तया सत्कर्मी रति वाढो ।
भूतां परस्परे पडो । मैत्र जीवाचें ॥
दुरितांचे तिमिर जावो । विश्वस्वधर्म सूर्ये पाहो ।
जो जे वांछील तो ते लाहो । प्राणि जात ॥[२]

'मेरे द्वारा किये गये इस वाक्‌यज्ञ से यह विश्वात्मक भगवान् सन्तुष्ट हो जायें और दुर्जन सत्कर्मों में रत हो जायें। परस्पर प्राणियों में सद्‌भावना हो और आपस में मैत्री भाव हो। पापों का अंधकार नष्ट हो जाय और विश्व में स्वधर्म सूर्य का उदय होकर ऐसा प्रकाश फैले जिससे प्राणिमात्रों में से जिसे जो भी इच्छा प्राप्त होगी वह पूरी हो जाय।'

इससे एक बात यह अवश्य सिद्ध हो जाती है, कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करे कि वह आत्मस्वरूप है। अतः आत्मरूप धर्म का उदय हो जाय यही उनकी मनोकामना है। डा० राधाकृष्णन् एक स्थान पर कहते हैं[३]—

'The world can be really found together and united at the spiritual level through Religion expressing itself in love. Religion signifies two things in particular. One is the inward awareness of spiritual self, spiritual perception, outwardly it is abounding love to humanity Prajanan and Karuna-wisdom and love contribute true religion.' —Dr Radhakrishnan

मनुष्य स्वभाव से ही धार्मिक रहता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'मनुष्य जात सकळ। स्वभावतः भजन शील।' —ज्ञानेश्वरी।

---

१. ज्ञानेश्वरी।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १८।१७६३–६५।
३. डा० राधाकृष्णन के एक लेख से उद्धृत।

मनुष्यमें मानवता, ममता ये बातें ईश्वर के अस्तित्व पर आधारित हैं। एडमंड बर्क भी कहते हैं—

'Believe me Sir ! when I say, man is a religious animal'[1]

आत्म धर्म प्रचार का साधन भक्ति है क्योंकि इससे ममता प्रस्थापित होने में देर नहीं लगती। ज्ञानेश्वर स्वयम् योग मार्गी थे। योग और भक्ति की तुलना करते समय उन्होंने योग की कभी उपेक्षा नहीं की। वे वेदांती और विवेकवादी दोनों थे। वारकरी सम्प्रदाय के द्वारा ज्ञानेश्वरी धर्म ग्रन्थ समझा जाता है। ज्ञानेश्वरी में भक्ति को साधन रूपमें बतलाया गया है, किन्तु उसका विपर्यास कैसे हो जाता है यह बतलाया गया है। सगुण के परे जाकर निर्गुण का अनुभव लेना ही ज्ञान प्राप्ति की पहचान है। ज्ञान कर्मोत्तर प्राप्त होता है। भगवद्गीता में कहीं भी *कर्मशून्यता प्रदर्शित नहीं की गयी है। किन्तु योगयुक्त होकर समत्व का सन्देश* भगवद्गीता देती है। ज्ञानेश्वरी का यही महत्वपूर्ण सन्देश है। भक्ति मार्ग के विरुद्ध ज्ञानेश्वर न थे। उसे वे पूर्ण ज्ञान होने के पूर्व का मार्ग मानते हैं। उसकी पहचान आचरण में है, ऐसा उन्होंने बार-बार स्पष्ट किया है। कोई तात्विक दृष्टि से कितना ही ब्रह्मज्ञानी क्यों न हो यदि उसके आचरण में समता, भूतदया, निरहंकारित्व, निर्ममत्व न हो तो वह व्यर्थ है।

साहित्यिक दृष्टि से भी ज्ञानेश्वरी के नवम् अध्याय की ओवियों में १४० से १७१ तक भक्ति और सगुणोपासना को स्पष्ट करने वाले विचार हैं, जो चिन्तनीय हैं।

किंबहुना भवा बिहाया। आणि साचें चाड अथि जरी प्रिया।
तरि तुम्ही सा उपपत्ती इया। जतन कीजे ॥

× × ✓

म्हणऊनि पुढती तूं घन जया। म्हणे विसबसी या अभिप्राया।
जे इया स्थूल दृष्टी वाया। आईजेल सा ॥[2]

अधिक क्या कहें ? यदि तुम दुनियाँ से डरते हो और मेरी स्वरूप प्राप्ति के विषय में जानने की यदि तुम्हें सच्ची चाह है, तो ये विचार अच्छी तरह ध्यान में रखो। अन्यथा पीलिया रोग से प्रसित दृष्टि चाँदनी को पीला समझती है, उसी तरह मेरे स्वरूप में भी तुम दोष देखने लग जाओगे अथवा ज्वर से पीड़ित मुख से

१ विश्वास कीजिए-'मानव स्वभावत: धार्मिक प्रवृत्तिशील प्राणी है।'
—*एडमंड बर्क।*

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ९।१४०-१७१।

दूध को कटु विष कहा जाता है उसी तरह मुझे देहधर्म रहित होने पर भी देहधर्म युक्त मैं हूँ ऐसा मानोगे। इसीलिए हे अर्जुन! मैं पुनः एक बार तुम्हें चेतावनी देकर समझाता हूँ कि मेरे द्वारा बतलाये गये इस स्वरूप ज्ञान के अभिप्राय को भूल जाओगे तो उचित नहीं होगा। यह भूलने की चीज नहीं है। क्योंकि स्थूल दृष्टि से मुझे देखने का यत्न करने पर उनका वह देखना न देखने के बराबर ही है, ऐसा निश्चित समझो।

कई दृष्टान्तों से ज्ञानेश्वर ने इसे समझाने का अथक यत्न किया है। यह पूर्ण वर्णन अध्ययन करने योग्य और द्रष्टव्य है। चेतावनी यही है कि इस तरह का विपरीत ज्ञान मेरे शुद्ध स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को ढँक लेता है। स्वप्न में अमृत पीकर कोई अमर कैसे हो सकता है? भक्ति की प्रचलित कल्पना पर ज्ञानेश्वर की आलोचना भी देखने योग्य है[1]—

> तैसा माते किरीटी। भजतो गा आऊटी।
> करुनि जो दिठी विषोमुर्ये॥
> मोच आराधन माझे। कामी कुळ देवता भजे।
> पर्व विशेषे कीजे। पूजा आना॥

ज्ञानेश्वर की वर्णन शैली और विशेषता—

ज्ञानेश्वर अव्यभिचारी भक्ति को विशेष मानते थे। ईश्वर एक ही है, इस तत्व को न समझकर अलग-अलग भाव रखकर भिन्न-भिन्न हेतु से प्रत्येक देवता की उपासना करने वाले लोग ज्ञानदेव को अप्रिय थे। यह उस मनुष्य का मूर्तिमान अज्ञान है जो अपने मन में फल की आशा रखकर मेरी भक्ति इस प्रकार करता है, जैसे कोई व्यभिचारी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुअवसर प्राप्त करने के लिए अपने पति को पूर्ण सन्तोष प्रदान करती है और झूठा विश्वास सम्पादन करने के लिए ऊपरी तौर पर शुद्ध व्यवहार और शुद्ध आचरण बरतती है। हे अर्जुन! यह अज्ञानी पुरुष दिखावटी रूप से मेरी भक्ति करता है, वास्तव में उसकी सारी दृष्टि विषय सुखों की ओर लगी रहती है। जिस तरह अज्ञान किसान नये-नये व्यवसाय एवम् उद्यम करता रहता है, उसी तरह अज्ञानी पुरुष हर दिन नये देवता की स्थापना करता है। प्रथम जितनी उत्सुकता से वह प्रथम देवता को पूजता है उतनी ही उत्सुकता से वह द्वितीय देवता की भी पूजा करता है। जिस गुरु के पास विशेष जमघट या मण्डली रहती है, उसके सम्प्रदाय पर इसका विश्वास हो

1. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३।७०६।२१।

जाना है। वह उसी से मन्त्रोपदेश ले लेता है अन्य का नहीं लेता। वह सब प्राणियों के साथ निर्दयता पूर्ण व्यवहार करता है तथा पाषाण की प्रतिमा इत्यादि को देवता समझकर पूजा करता है। इस तरह उसकी एक निष्ठ-श्रद्धा किसी पर नहीं होती। मेरी मूर्ति को वह प्रतिष्ठित करता है, परन्तु उस मूर्ति को मकान के किसी कोने में स्थापित कर वह अन्य देवताओं के दर्शनार्थ यात्रा के लिये निकल पड़ता है। वैसे सदा मेरा पूजन करता है किन्तु मङ्गल कार्यों में कुल देवताओं की अर्चना करता है। विशेष पर्वों में क्षुद्र अन्य देवताओं की आराधना करता है।

अध्यात्म ज्ञान के अतिरिक्त सारा ज्ञान, योग्यता आदि अप्रमाण एवम् बेकार हैं। जो अध्यात्म ज्ञान को कभी भी नहीं मानता उसे ज्ञान का विषय 'ब्रह्म' क्योंकर देखने जायगा। ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए कहना पड़ता है, क्योंकि उस को सिवा ज्ञान के अन्य किसी भी उपाय से नहीं जाना जा सकता। ज्ञानेश्वर योगमार्गी, नाथ पंथी और अद्वैतानुयायी थे। नामस्मरण का झूठा आडम्बर रचने वाले न थे। उनके अटूट विश्वासानुसार जिसके शरीर में हृदय से धारण किये हुए ज्ञान के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, वही सिद्ध-पुरुष है। वे सिद्ध पुरुष का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

> तैसा आत्मत्वें वेष्टिला होये। तो जया जया दृश्यातें पाहे।
> ते दृश्य दृष्टे परौंसी होता जाये। तयाचे निरुप॥[१]

जिसे आत्म भाव ने व्याप्त लिया है, वह जिस दृश्य पदार्थ को देखेगा, वह दृश्य पदार्थ उसके द्रष्टापन सहित उसी का स्वरूप बन जाता है। आचरण से ही ज्ञान की अनुभूति होती है। अतः ज्ञानेश्वर को जहाँ-जहाँ पर अज्ञान दीख पड़ता था वहीं पर वे उस पर प्रखर हमला करते हुए उसका निर्मूलन किया करते थे। आज की समता की दृष्टि से उसका परीक्षण करना अनुचित होगा। ज्ञानेश्वर की दृष्टि में समता एवम् ममत्व की कल्पना ऐसी है—

मानवता की समता पूर्ण दृष्टि—

> तो मी पुससी कैसा। तरि जो सर्व भूतो सरिसा।
> जेय आप पर ऐसा। मागु नाहीं॥
> पाहें पा सावर्जे हा-तिरं धरिलें। तेणें तया काकुळती।
> मानें स्मरिलें। की तयाचें पशुत्व वावो जाहले। पातलिया मातें॥[२]

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय, १८।४१०।

२ ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।४०७,८,१५,३१,३२,४१,४२।

भक्त जिसका स्वरूप बन जाता है ऐसा मैं कैसे हूँ इसे यदि तुम पूछते हो तो सुनो ! मैं सारे प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हूँ और जहाँ पर अपना पराया ऐसा कोई भेद नहीं है। इस तरह सर्वत्र समान रूप से रहने वाले मुझ को जानकर, पहिचानकर उस ज्ञान से कर्तृत्व के अहंकार को एवम् उसके स्थान को नष्ट कर देते हैं, और मन-पूर्वक कर्म करते हुए उसके द्वारा मेरा भजन करते हैं। शरीर से वे व्यवहार करते दिखाई देते हैं पर वास्तव में वे देह तादात्म्य के बदले मुझ में ही रंगे हुए रहते हैं। उनकी सारी अन्तकरण की वृत्तियाँ मुझ में रंगी रहती हैं। इस तरह प्रेम भाव से भजन करने वाले को पुन यह शरीर प्राप्त नहीं होता। फिर चाहे जिस जाति का भी वह क्यों न हो। व्यर्थ ही अपने शुद्ध कुल का अभिमान और गर्व नहीं करना चाहिए। हमारा ही कुल श्रेष्ठ है, ऐसा कदाचित् आनन्द तुम मान सकते हो, पर इस वृथाभिमान में मत रहो। केवल शास्त्राध्ययन की लालसा रखने से क्या होता ? क्योंकि यदि मेरी भक्ति नहीं है, तो उत्तम रूप जवानी और उसका जोश सब का सब व्यर्थ है। खोखली सम्पन्नता का गर्व किस काम का ? भक्ति करने के लिए उत्तम कुलवान होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नीच योनि में, अथवा अन्त्यज जाति में अथवा पशु योनि में भी कोई पैदा हो जाय पर यदि अन्त करण में मेरी भक्ति है, तो उसे सारी कृतार्थता प्राप्त हो जायगी। गजेन्द्रमोक्ष इसका उत्तम उदाहरण है। उसका पशुत्व लुप्त होकर उसकी भक्ति श्रेष्ठ सिद्ध हुई। ज्ञानदेव के मत में उच्चकोटि ब्राह्मण उसको कहना चाहिए जिसमें ये विशेषतायें विद्यमान है—

> *मग वर्णांमाजी छत्र चामर । स्वर्ग जयाचे अग्रहार ।*
> मन्त्र विद्येसी माहेर । ब्राह्मण जे ॥
>
> जेथ अखंड वसिजे यागीं । जे वेदाची वज्रांगी ।
> जयाचिये दिठीचा उत्संगी । मंगळ वाढे ॥[1]
>
> जे पृथ्वी तळीचे देव जे तपोवतार सावयव ।
> सकळ तीर्थांसी दैव । उदयले जे ॥
>
> *जयाचिये आस्थे वियें वोले । सत्कर्म पाल्हाळीं गेलें ।*
> सकल्पे सत्य जियालें । जयाचेनि ॥[2]

चार वर्णों में जो सबके सिरमौर की तरह रहने वाले हैं, तथा अपने उदर निर्वाह के लिए जिनको स्वर्ग इनाम में मिल चुका है, और जो वेदों की मन्त्र रूप

[1] ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।४७५–७८।
[2] ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।४७५–७८।

विद्या के मूल स्रोत हैं वे ही ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणों में सदा यज्ञों का निवास रहता है। जिनको वेदों का अभेद्य कवच मानते हैं तथा जिनकी मङ्गल दृष्टि-रूप-गोद में कल्याण की वृद्धि होती रहती है। ऐसे ब्राह्मण पृथ्वी तल के सुर हैं। तथा मूर्तिमान तप के अवतार हैं और सब तीर्थों में उदय हुये दैव के समान हैं। जिनकी इच्छा की आर्द्रता से अच्छे कर्मों की लता फैलती रहती है तथा जिनके सकल्प में सत्य भी जीवित रहता है ऐसी विशेषताएँ ब्राह्मणों में रहती हैं।

ज्ञानेश्वरी में ये सारी विशेषताएँ एक साथ देखकर आश्चर्य होता है। आध्यात्मिकता को साहित्यिक और सरस काव्य-पोषक स्वरूप प्रदान करने की अपार शक्ति ज्ञानेश्वर की काव्य शैली में विद्यमान है।

कवि के लिए पोषक साधन और रसत्व की स्फूर्ति—

उत्तम कोटि का आध्यात्मिक ज्ञान संस्कृत में ही होने से सर्व साधारण जनों के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। अत एक मराठी के द्वारा वह ज्ञान सब को सुलभतापूर्ण उपलब्ध कर देने के हेतु वे कहते हैं[1]—

> तोरे संस्कृताची गहने। तोडोनिया महादिया शब्द सोपा ने।
> रचिलो धर्म निधाने। श्री निवृत्ति नाथे॥
>
> दाऊ वेल्हाळ देशीकवी। जे साहित्यांते बोजावी।
> अमृताते चुकी ठेवी। गोडस पणें[2]॥
>
> हे सारस्वताचे गोड। तुम्ही चि लाविले जी झाड।
> तरी आता अवधानामृते वाड। सिंपोनी कीजो॥
>
> × × ×
>
> मग हे रसभाव फुलीं फुलेल। नाथार्थ फळभारें फळा येईल।
> तुमचेनिधर्में होईल। सुकाळ जगा[3]॥
>
> × × ×
>
> तैसे देशियेचें लावण्य। हिरोनी आणिलें तारुण्य।
> मग रचिलें अगण्य। गीतातत्त्व॥
>
> × × ×

---

1 ज्ञानेश्वरी अध्याय ११।६।

२ ,, ,, १३।११५६।

३. ,, ,, ११।१६-२०।

देशिचिये नागरपणें। शांतु शृङ्गाराते जिणें। तरी ओंविया होती लेणें। साहित्यासी। तैसी देसी आणि संस्कृतवाणी। एका भावार्थाच्या सोंकासनी। शोभती आयणी। चोखट आइका ॥

उठावलिया भावा रूप। करिता रसवृत्तिचे लागे पडप। चातुर्य म्हणे पडप। जोडले आम्हा ॥[1]

मराठी का गौरव—

ज्ञानेश्वर देशी भाषाओं के सामर्थ्य को भली भांति जानते थे। तथा उसका सामर्थ्य संस्कृत ही की तरह उच्च कोटि का है इसे भी वे मानते थे। उनके गुरु निवृत्तिनाथ ने उनको यह सामर्थ्य प्रदान किया था। इसीलिये वे निवेदन करते हैं कि अपने गुरु ने मुझे साधन बनाकर और कारणीभूत बनाते हुए संस्कृत भाषा रूपी कठिन ऊँचे कगारों को तोड़-फोड़ कर मराठी भाषा के शब्द रूपी सीढ़ियों का घाट बांध दिया है। केवल शांत रस की यह कथा वाणी के मार्ग से शब्दों के द्वारा बखानी जायगी, किन्तु उसकी योग्यता इस प्रकार की होगी कि वह शृङ्गार रस के मस्तक पर अपने चरण रखेगी। अभिप्राय यह है कि शान्त रस पूर्ण कविता होने पर भी शृङ्गार रस से माधुर्य, प्रसाद,सुकोमलता, सुकुमारता आदि काव्य गुणों में आगे बढ़ जावेगी। इस तरह वह अपने मिठास से देशी भाषा साहित्य को अलङ्कृत करेगी तथा अपनी माधुरी से अमृत की माधुरी से भी सरस प्रतीत होगी। इस तरह अपूर्व और सुन्दर देशी भाषा मराठी का मैं प्रयोग करूँगा। यह तो ज्ञान के वाङ्मय का सुन्दर पेड़ ही मानो लगाया गया है। हे संतो! यह ज्ञान बिरआ आप के ही द्वारा बोया गया है, इसे अमृत सिंचन से बड़ा करने का उत्तरदायित्व हम सब लोगों का है। कवि के नाते कितनी सुन्दरता से ज्ञानेश्वर ने इसे अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं कि संवर्धन किये गये ज्ञान के इस वृक्ष में नवरसों के फूल प्रफुल्लित होंगे। तथा नाना प्रकार के अर्थों के फल-भार से वह लद जायगा। इससे संसार को श्रवण सुख का सुकाल प्राप्त होगा। ज्ञानेश्वर का यह भाव है कि इस तरह मराठी-भाषा का देशी सौन्दर्य लेकर नव-रसों को भी तारुण्य प्राप्त हो गया जिससे असीम सौन्दर्य रचने का कार्य सुसम्पन्न हो गया। पुन. वे कहते हैं कि मराठी भाषा में लिखा हुआ यह मेरा ग्रंथ अर्थात् "भावार्थ दीपिका" अपनी सरसता, सुरसता और सौन्दर्य से शान्तरस युक्त होने पर भी शृंगार रस को जीत लेगी और इसकी ओवियाँ अलङ्कार शास्त्र के लिये भी भूषणास्पद होंगी। शरीर के स्वाभाविक सौन्दर्य से शरीर ही जैसे अलङ्कारों को अलङ्कृत करता है उसी तरह मेरी मराठी भाषा और संस्कृत वाणी दोनों एक ही अभिप्राय युक्त पालकी में शोभायमान हैं। इसलिये इसे हे श्रोताओं, तुम अच्छी

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १०।४७ तथा १०।४२, १०।४५-४६

बुद्धि से सुनो। गीता का प्रवचन करते हुए शृङ्गारादि नव रसो की वर्षा होती रहती है, तथा स्वयम् चातुर्य कहने लगता है कि उसे भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है। ज्ञानेश्वर संस्कृत की सारी सक्षमता सहज और सरसता से मराठी मे ला सकते हैं ऐसा उनका दृढ़ विश्वास कई स्थानो पर उन्होंने प्रकट किया है जो ठीक ही है।

रस की उपलब्धि ज्ञानेश्वरी की दृष्टि से विषयानुकूल और औचित्यपूर्ण होनी चाहिए। उनकी मार्मिकता की श्रोताओं ने भी सराहना की है। इसके लिए ज्ञानेश्वरी के अध्याय १३ की ६३१ से ६४५ ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं।[१] वे कहते हैं कि ज्ञानेश्वर! आत्मज्ञान के विषय का विस्तारपूर्वक आपने सुन्दर विवेचन किया। सामान्य कवि किसी विषय के प्रतिपादन मे बेकार ही लम्बा वर्णन करते हैं जिससे ज्ञान का मूल विषय छूट जाता है, तथा अन्य बातों को महत्त्व मिल जाता है, जो अनुचित है। असामान्य कवि अपने साथ श्रोताओं का भी ध्यान रखते हैं। ज्ञानेश्वर को इसका बराबर ध्यान रहा है, तभी तो श्रोता-गण इसी तरह का प्रशस्ति पत्र ज्ञानेश्वर को प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि हमे ज्ञान के लिए प्रेम है तथा तुम्हें भी ज्ञान के इस निरूपण मे प्रीति है। इसलिये तुम्हारे इस ज्ञान निरूपण में चौगुनी स्फूर्ति आगई है। तुम ज्ञान को खुली आँखो से प्राप्त कर चुके हो इसे हमे स्वीकार करना ही पडेगा। श्रोता आगे चलकर और भी कहते हैं[२]—

तव श्रोता म्हणती राहे। के परिहारा ठावो पाहे॥
बिहिसी का वाये। कवि पोषका॥

ज्ञानेश्वरी श्रवण करने बैठी हुई मडली कहती है कि हे ज्ञानदेव! हे कवि पोषक! तुम क्यो व्यर्थ डरते हो? भगवान् मुरारी का मनोगत और गुप्त अभि-प्राय तुमने अपनी वक्तृत्व शैली से प्रकट कर दिखाया है।

सहज कवित्व का प्रभाव—

ज्ञानेश्वर के इस सहज कवित्व ने सब को पूर्ण आनन्द प्रकट कर दिया। रस-परिपोष की दृष्टि से ज्ञानेश्वर की विदग्ध रसवृत्ति-निश्चित प्रकट हो गई है। कवित्व के तथा ज्ञान के प्रेम से एवम् अभिजात प्रतिभा के बल से आध्यात्मिक तत्व-ज्ञान को ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया जिससे स्फूर्तियुक्त अन्त करण मे रसवृत्ति जागृत हो जाती है। यह रसवृत्ति ऐसी किस प्रकार बन गई, इसका पता बुद्धि को भी नहीं लग पाता। ब्रह्मविद्या के मूल स्रोत श्रीमद्-भगवद्-गीता पर मराठी में जब टीका लिखने श्री ज्ञानेश्वर प्रस्तुत हो गये तो उन्होने प्रारम्भ मे

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १३।६३१-६४५।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १३।८५४।

वाणी के नये-नये विलास प्रकट करने वाली विश्व मोहिनी शारदा का स्तवन अपरिहार्य रूप से किया है। गीता जैसे तत्व ज्ञान परक ग्रन्थ पर टीका लिखते हुए भी दार्शनिक की अपेक्षा ज्ञानेश्वर कवि के नाते ही अधिक रूप से प्रभावी बन गये हैं। वे कहते हैं[१]—

म्हणौनि माझे नित्य नवें। श्वासोच्छ्वास ही प्रबंध हो आवे।
गुरु कृपा कायनोहे। ज्ञान देवो म्हणे॥

काव्य स्फूर्ति—

इसलिये मेरे नित्य बहने वाले अर्थात् निकलने वाले श्वास और प्रश्वास भी काव्य ग्रन्थ बन जाते हैं। गुरु कृपा से असम्भव कुछ भी नहीं है। इसी गुरु प्रसाद से वे आश्वस्त होकर यह प्रतीज्ञा करते हैं[२]—

अगा विश्वैक धामा। तुझा प्रसादु चंद्रमा।
करू मज पूर्णिमा। स्फूर्तीचो जो॥
जी अवलोकिया मातें। उन्मेष सागरी भरितें।
वोसंडेल स्फूर्तीतें। रसवृत्तीचे॥
तरी आतां येणें प्रसादे। विन्यासें विदग्धे। मऊ शास्त्र पदें। वाखाणीना।
म्हणौनि अक्षरी सुभेदीं। उपमा श्लोक कोंडा कोंदी।
म्हाडा देईन प्रति पदीं। ग्रंथार्थासी॥

हे गुरुदेव! आप सारे जगत् का एकमात्र आश्रय स्थान हैं। आपका प्रसन्नतारूपी चन्द्रमा मेरे अन्तःकरण में उदय होकर स्फूर्तिरूप पौर्णिमा का निर्माण करे। हे सद्गुरु! आपने मेरी ओर कृपादृष्टि पूर्वक देखा है, अतएव मेरे बुद्धि रूपी सागर में स्फूर्ति आदि को नवरसों का ज्वार उत्पन्न होगा। फिर गुरु प्रसाद से गीता शास्त्र में मूल रूप से आये हुए सिद्धान्तों प्रमेयों एवम् पदों का चातुर्यपूर्ण शैली में मैं वर्णन करूँगा। मार्मिक अर्थ स्पष्ट करने वाले शब्दों में उपमा और काव्योत्कटता से सराबोर कर गीता ग्रंथ के प्रत्येक पद का अर्थ सुस्पष्ट कर मैं बतलाऊँगा। मेरे गुरु ने मुझे इस विद्या में पूर्ण और निपुण कर दिया।

रमणीय कला विलास में से सम्प्राप्त होने वाला कला बोध—

ज्ञानेश्वर एक कथा कथन कर रहे हैं, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद रूप में चली है। ये संवाद दार्शनिक प्रमेयों और उनके स्पष्टीकरण में भरे

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७३४।

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १४-२३-२४,२६ तथा अध्याय १३-११६४।

हुए हैं। ज्ञानेश्वर को यह सब रसवृत्ति से युक्त होकर कहना है। इस वैदग्धपूर्ण रसवृत्ति में साहित्य की सभी कलात्मक सम्पत्ति का भव्य स्वरूप वे श्रोताओं को उपलब्ध कर देना चाहते हैं। वे इसको तारुण्य और नव्यता भी प्रदान करना चाहते हैं। शारदा का लावण्य भंडार मुक्त करके उसके अनगिनत अनमोल रत्न दोनों हाथों में भरकर श्रोताओं को वे समर्पित करना चाहते हैं। अपनी शैली से माधुर्य को मधुरता, रंगो को सुरंग की विशेषताएँ प्रदान करने की उनकी इच्छा है। संक्षेप में रमणीय, रसात्मक सुरस कविता का स्वैर विलास अपनी मुग्ध शैली में उनको बतलाना है। श्रोताओं के मन कला-विलास की दिव्यता से मुग्ध करते हैं। मराठी के नगर में ब्रह्मविद्या का समृद्ध भंडार उत्पन्न करना है, ऐसा उनका निश्चय है, तथा यह सब उन्हें कल्पना के विलास द्वारा कर दिखाना है।

ज्ञानेश्वर के द्वारा शब्दों का व्यापकत्व भी इसी रस विदग्धता से ही सामने आया है[1]—

> जैसे बिंब तरी बचके विएवढें। परि प्रकाशासि त्रैलोक्य थोकडे।
> शब्दाची व्याप्ति तेणें पाडे। अनुभवावी।
> ना तरि कामि तयाचे इच्छा। फळे कल्पवृक्षु जैसा। बोलू व्यापकु
> होय तैसा। तरी अवधान द्यावें।।

जैसे सूर्य बिंब दिखने के लिए बहुत छोटा रहता है, फिर भी उसके व्यापक प्रकाश की व्याप्ति के लिए त्रैलोक्य भी छोटा पड़ जाता है। शब्द की व्याप्ति का भी यही हाल है। अनुभव भी इस बात का समर्थन ही करता है। बोल एवम् अभिव्यंजना भी व्यापक रहती है जैसे इच्छा करने वाले के संकल्पों के व्यापक फल कल्पवृक्ष देता है। इसी तरह बोल भी व्यापक रहते हैं अत उसे ध्यान देकर सुनना चाहिये। ध्यान देकर सुनने वाले को ज्ञानेश्वर शब्दों के सामर्थ्य की बड़ी सुन्दर महिमा को बतलाना चाहते हैं[2]—

> तेणें कारणें मी बोलेन। बोलीं अरूपाचे रूप दावीन।
> अतीन्द्रिय परि भोगवीन। इन्द्रियां करवीं।।

सद्गुरु की कृपा से मैं निरूपण करूँगा तथा उसमें ब्रह्म का स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष बतलाऊँगा। यों तो यह बात प्रसिद्ध है कि ब्रह्म इन्द्रिय गोचर नहीं है। परन्तु इन्द्रियों को उसका अनुभव होने लगेगा। जब श्रोतागण मेरा निरूपण

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ४।२१४-१५।

२ ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६-३६।

सुनेंगे। अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि शब्दों का योजक रस विदग्ध कवि अपनी इच्छा के अनुकूल गम्भीर अर्थ की निर्मिति शब्दों द्वारा कर सकता है। ज्ञानेश्वर ने सदा सर्वत्र कोमल और सुरम्य शब्दों का प्रयोग किया है। जिन शब्दों में अपना लालित्य होता है और नाद माधुर्य होता है। ज्ञानेश्वर ने केवल इन्हीं का कलात्मक वर्णन मात्र नहीं किया, अपितु शब्दों का आकृति सौन्दर्य, रूप सौन्दर्य अत्यन्त मोहकता से उन्होंने प्रकट कर दिया है। उनकी दृष्टि से, शब्दों में रूप और आकृति भी रहती है। टी एम्. ग्रीन का कहना है कि शब्दों का बाह्य सौन्दर्य और आकृति सौन्दर्य भी हुआ करता है। इसे वे (Formal Beauty) कहते हैं।[1]

शब्द श्रवण गोचर प्रतीक हैं। ऐसे श्रवण गोचर प्रतीकों की संहति ही भाषा कहलाती है। मेरा अभिप्राय काव्य में निरूपण की गई भाषा से है।

ज्ञानेश्वर का यही मन्तव्य है,[2]—

नवल बोलतीये रेखेची वाहणी। देखता डोळयां ही पुरों लागे धणी।
ते म्हणती उघडली खाणी। रुपाची हे॥
ओघ सम्पूर्ण पद उभारे। तेथ मनचि धावें बाहिरे।
बोलु भुजाही आविष्करे। आलिंगावया॥

इस निरूपण की अर्थात् बोलने की पद्धति भी अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण है, जो शब्दों के माध्यम से प्रकट होती है। इसे देखकर आँखों को भी तृप्ति मिल सकती है। इससे तृप्त होकर आँखें कहने लगेंगी कि आपने तो मानो यह हमारे लिए रूप-विषयों का भंडार-घर ही खोल दिया है। शब्दों का बाह्य सौन्दर्य बुद्धि की जिह्वा से ज्ञात न होकर केवल अक्षरों के बाह्य आकृति मूलक सौन्दर्य की शोभा से ही ज्ञात होकर सारे इन्द्रिय-तत्पर रहेंगे अर्थात् इन्द्रियों को समाधान प्राप्त होगा। मराठी भाषा के सौन्दर्य से इन्द्रिय राज्य करेंगे, फिर सिद्धान्तों के ग्राहकों अच्छी तरह तैयारी के साथ आ सकेंगे। जहाँ शब्द नष्ट हो जाता है, ऐसा विवेचन मैं सुन्दर प्रणाली से करूँगा। शब्दों में सारे इन्द्रियों को तृप्त करने का सामर्थ्य रहता है। वस्तुतः शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से उसका बाह्य आकृति सौंदर्य एवम् रूप सौन्दर्य आँखों से अवलोकन किया जा सकता है। ऐसी विलक्षण कल्पना सामने रखकर भी ज्ञानेश्वर की स्वच्छन्द विहार करने वाली प्रतिभा थकती नहीं है। वे इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। वे कहते हैं कि शब्द का एक स्वाद भी रहता है। अतएव शब्द रसनेन्द्रिय का विषय हो सकता है। उनकी यह सूझ अनोखी और बड़ी विलक्षण है। शब्दों में नाद, स्पर्श, रूप, रस और गंध होता है ऐसी अद्भुत

१. दी आर्टस् एंड दी आर्टस् ऑफ क्रिटीसीज़्म—टी एम्. ग्रीन।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय. ६।१८-१९।

कल्पना वे करते हैं। पच कर्मेन्द्रिय शब्द को यथा योग्य रीति से परितृप्त करने की क्षमता रखते है। उदाहरणार्थ देखिए—

नाद-मधुर शब्द—ज्ञानेश्वर नेनाद के भिन्न-भिन्न प्रकार स्पष्ट किये हैं। कोयल की ध्वनि, रणवाद्यो का घोष, मेघ गर्जना, गर्जन तर्जन करने वाले नदियो के प्रवाह, तथा अन्य ध्वनियो का उल्लेख ज्ञानेश्वर करते हैं। शब्दो के अनेक नादो की टकसाल ही मानो ज्ञानेश्वर ने खोल दी है। वाणी की मधुरता से नादब्रह्म का मूर्तिमान अवतार ही शब्दो मे समाये हुए माधुर्य की पराकाष्ठा मानी जावेगी। *नीरवता और शान्तता का मानवी मन को बडा आकर्षण रहता है। अत ज्ञानेश्वर* ने अत्यन्त सुकुमारता मे और कोमलयुक्त होकर शीतल सूर्य प्रकाश और मथर गति से बहने वाली वायु का भी वर्णन किया है।

नाद चित्रो से युक्त (Auditory Images) कल्पनाचित्र ज्ञानेश्वर हमारे सामने इस प्रकार रखते हैं—

यथा—'घोषाच्या कुण्डी। नादचित्राची रूपडी।
प्रणवाचिया मोडी। रेखिली ऐसी॥'[1]

परा वाणी के गमलो मे मध्यमारूपी नाद चित्रो के कई रूप ओकार के आकार मे रेखाकित रहते हैं, ऐसी कल्पना की जा सकती है। ज्ञानेश्वर नाद को रूप तथा रग भी प्रदान करते हैं।[2] जैसे—

जिये कोवळि केचे निपाडे। दिसती नादीचे रग थोकडे।

मेरे द्वारा प्रयुक्त अक्षरो की कोमलता के कारण वे अक्षर सुस्वरों के विभिन्न प्रकारो को दिखावेंगे तथा कम वा अधिक मात्रा मे चित्ताकर्षक सुगध के बल को कम करने मे सक्षम होंगे। स्पर्श सवेदना का आभास उत्पन्न करने वाले शब्द स्वभावत. कोमल और मसृण जैसे मुलायम होते हैं। ज्ञानेश्वर इनका भी निपुणता से प्रयोग करते हैं।[3] जैसे—

वर्षाचे प्रथम दसे। वोहळलया शैला चे सर्वाङ्ग जैसे।
विरुडे कोमलांकुरी तैसे। रोमांच आले॥

× × ×

की भूमिचे मार्दव। सांगे कोंभाची लवलव।
नाना आचार गौरव। सुकुलिनाचे॥

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय, ६।२७६।

२. " ६।१५।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ११।२४७ तथा अध्याय १३।१८०।

वर्षाकाल प्रारम्भ हो गया है, अत. पर्वतो से निर्झर झरने लगे हैं जिसमे कोमल मखमल की तरह मृदु दिखाई पडने वाले तृणाकुरो की हरीतिमा का इसमे वर्णन है। इन तृणाकुरो मे रोमाच हो आया। यहाँ स्पर्श सवेदना प्रकट हो गई है। दूसरे उदाहरण मे ज्ञानेश्वर भूमि की मृदुता का वर्णन करते हुए बतलाते है कि अकुरो की मृदुता भूमि की मृदुता को व्यक्त करती है, तथा आचार अच्छे कुल का बडप्पन प्रदर्शित करता है। ज्ञानेश्वर मे सवेदना जागृति का सामर्थ्य विशेष रूप मे है। स्त्री के स्पर्श से निर्माण होने वाली सुख सवेदना की कल्पना का आध्यात्मिक निरूपण मे ज्ञानेश्वर ने बराबर उपयोग कर लिया है। एक उदाहरण देखिए[1]—

प्रियोत्तमाचिया कठी। प्रमदा घे आटी।
तैशी जीवेंशी कोमटी। करूनि ठाके॥

अपने पति के गले मे अपनी भुजाओ को डालकर जिस प्रकार तरुण स्त्री उसका आलिगन करती है, उसी तरह अपने प्राणो के साथ अज्ञानी अपनी झोपडी मे कालयापन करते हैं।

रूप सवेदना के शब्द तो पूरी ज्ञानेश्वरी मे भरे हुए पडे हैं। रस सवेदना के शब्द अपनी सुरसता एवम् मीठेपन के लिए प्रसिद्ध होते हैं। कुछ बानगी देखिए[2]—

रस सवेदना—

जैसी अमृताची चवी निवडिजे। तरी अमृताचि सारिखी म्हणिजे।
जैसे ज्ञान हे उपमिजे। ज्ञानेंसिची॥
सागे कुमुद दळाचे नि ताटे। जो जेविला चन्द्र किरण चोरवटे।
तो चकोर काई वाळुवटे। चुम्बितु असे॥

अमृत का स्वाद कैसा है, इसे ढूँढने पर वह अमृत की तरह ही है, ऐसा कहना पडता है। उसी तरह ज्ञान की ज्ञान को ही उपमा दी जावेगी। हम कह सकते है, ज्ञानेश्वरी की रस सवेदना भी ज्ञानेश्वरी के रस जैसी ही है।

कमल के पखुडियो के पत्र पर शुद्ध और निर्मल चन्द्र किरणों का भोजन करने वाला चकोर पक्षी मरुस्थल के एवम् निर्जन के पत्थरो को क्यो चाटने जावेगा। ज्ञानेश्वरी के रसिक वाचक चकोर की तरह ज्ञानेश्वरी की शुद्ध रस सवेदना के

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३।७८५।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, ४।१८३ और ५।१०७।

चन्द्र किरणों का भोजन निर्मल और सहृदय अन्तःकरण के कमल की पखुड़ियों के पत्तों पर करेगा, वह अन्यत्र मुँह मारने नहीं जावेगा।

गंध-सवेदना—

गंध सवेदना में सुवासित एवम् सुगंध युक्त शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र ज्ञानेश्वर ने किया है। कमल पराग, तुलसी, सेवती, मोगरा, चपक, स्वर्ण चम्पक, जैसे पुष्पों के सुगंध का निर्देश ज्ञानेश्वरी में मिलता है। चदन सुगंध में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। चदन में सुगन्ध के साथ शीतलता भी एक विशेष गुण है। किसी ने कहा भी है, 'सुगन्धम् चदनम् दिव्यम्।' एक ही समय में ये दोनों विशेषताओं का सवेदन होता है।[1] देखिये—

कां चदना चो द्रतो जैसी। चन्दनी मजी अपेसी।
का अकृत्रिम शशी चन्द्रिका ते॥
तया कर्पूर चन्दन आगरु। हा चन्दनाचा महा मेरु॥

चदन का सुगन्ध जैसे चदन में ही अभेदत्व से विद्यमान रहता है, अथवा चादनी स्वभावतः चद्र में अभेद रूप रहती है, वैसे ही अद्वैत में भक्ति है। इसका अनुभव मात्र किया जा सकता है। वह अकथनीय है। भक्त का समर्पण कितना दिव्य है इसका विवेचन करते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं कि भक्त के द्वारा भक्ति के उत्कर्ष के साथ अर्पण करने की क्रिया में कर्पूर, चदन, अगुर जैसे सुगन्धी द्रव्यों का महामेरु ही मानो मुझे अर्पण किया है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण का निवेदन है।

स्मृति में रहने वाले सुगन्ध का एवम् उसकी गंध-सवेदना का विवेचन भी ज्ञानेश्वरी में विपुल है। साराश यह है कि शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य, कल्पना रम्य चित्र शब्द-सौष्ठव, ध्वन्यात्मकता, उत्कृष्ट-उपमाओं की भरमार ज्ञानेश्वर के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में हैं। वाङ्मय की कृति का अन्तर्गत आशय सौन्दर्य तथा अभिप्राय का सौन्दर्य अथवा रसात्मकता प्रतीत होने के पूर्व ही उस कृति के बाह्य सौन्दर्य के कारण सहृदय रसिक उसमें मग्न हो जाता है। ज्ञानेश्वर को इस सत्य की सत्ता सदा और सर्वत्र मान्य है। वे इस विषय में पूर्ण जागरूक हैं। उनका साहित्य रसविदग्धता से इतना भरा हुआ है कि वह केवल बुद्धि की जिह्वा में शब्द का आशय समझने वाला ही नहीं है अपितु जिसके अक्षरों की शोभा मात्र से ही सारी इन्द्रियों को अपना सुख प्राप्त हो जाता है। मालती पुष्पों के गुच्छ नासिका को सुगन्ध प्रदान करते हैं। तथा उसी समय वे उसकी शोभा से आँखों को भी सुख देते हैं। ज्ञानेश्वर की साहित्यिकता ऐसी ही है। ज्ञानेश्वर के साहित्य में काव्य

१ ज्ञानेश्वरी—१८।११५० तथा ६।३६१।

के आशय तथा अन्तरङ्ग सौन्दर्य के साथ बहिरङ्ग सौन्दर्य और शोभा भी विद्यमान है। भाषा भी लालित्य गुण की विशेषता के साथ-साथ अमृतोपम मिठास को भी मात करने वाली मधुर एवम् प्रसाद गुण से भरी तथा मन्त्रत्व से सिद्ध है।

उपमाओं का प्रयोग—

ज्ञानेश्वर उपमाओ का प्रयोग अपने विवेचन को स्पष्ट करने के लिए तथा अपना प्रमेय मार्मिकता से लोगों के हृदय मे प्रविष्ट हो जाय इस हेतु से करते हैं। अतः उनकी उपमाएँ सार्थक सिद्ध होती हैं। उपमाओ की भरमार कर मैं ज्ञानेश्वरी का विवरण करूँगा ऐसा आश्वासन श्रोताओ को ज्ञानेश्वर दे चुके हैं। इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन ज्ञानेश्वर ने किया है। मालोपमाएँ बहुधा अधिक मात्रा मे ज्ञानेश्वर ने प्रयुक्त की हैं। सादृश्य की अपेक्षा साधर्म्य पर विशेष जोर ज्ञानेश्वर की उपमाओ मे देखने को मिलता है। उपमाओ की तरह रूपको का भी ज्ञानेश्वर ने अनेक स्थानो पर प्रयोग किया है। रूपको की सहायता से रसिक हृदय काव्यात्म-सौन्दर्य का साक्षात्कार कर सकता है। कल्पना शक्ति का स्वैर विहार रूपको के द्वारा ज्ञानेश्वर प्रस्तुत करते हैं। मराठी के काव्य शैलीकार के नाते ज्ञानेश्वर ने कलात्मक प्रकर्ष की चरम सीमा को भी पार कर लिया है। प्रतिभा का नवोन्मेष उनमे सदा होता रहा है, जिससे उनकी अभिव्यंजना ने इतने सुरस और सरस ताने-बाने मे अध्यात्मिक विचार धारा को भी काव्यमय और साहित्यिक बना कर, प्रस्तुत कर दिया है।

आध्यात्मिक विचारो का साहित्यिक शैली मे निरूपण—

ज्ञानदेव का अपने गुरु पर और अपने सामर्थ्य पर पूरा विश्वास था। उन मे विनम्रता है, पर वे कही भी दीन नही बने हैं। वे स्वाभिमानी हैं, पर अहङ्कारी नहीं है।' ऐसा उनके बारे मे श्री जगमोहन लाल चतुर्वेदी का कहना ठीक ही है[1]। प्राकृत भाषा मे आध्यात्मिक विचारो का इतना सरस और अद्भुत निरूपण साहित्यिक शैली मे प्रस्तुत करना ज्ञानेश्वर का सबसे महान कार्य है। पारमार्थिक दृष्टि प्रमुख रूप से उनके सामने थी। उनका समूचा जीवन ही पारमार्थिक था। प्रापंचिक सुख की प्राप्ति न तो उनका निजी लक्ष्य था न वे इस लक्ष्य को समाज के लिए उद्घोषित करने वाले थे। उन्होने समाज के हाथों मे आध्यात्मिक सुख की बहुमूल्य सम्पत्ति प्रदान कर एक बल और सुरक्षा का आश्वासन दे दिया। सब के अभ्युदय की बराबर उन्हे चिंता थी। उनके काव्य का तथा उनके जीवन का सार एवम् लक्ष्य सब का श्रेय और प्रेय परमार्थ ही है।

---

१ संत ज्ञानेश्वर—श्री जगमोहनलाल चतुर्वेदी, पृ० ७६।

ज्ञानदेव के साक्षात्कार मार्ग का नाम 'पथ-राज' है। ईश्वर प्राप्ति में ही दुःख निवृत्ति हो सकती है, ऐसा उनका कहना है। भक्ति का सर्वस्पर्शी रूप उनकी आँखों के सामने था। फलतः दुराचारी भी यदि अपने सर्वस्व के साथ ईश्वर भक्ति करे तो वह ईश्वर रूप बन जाता है, यह भक्ति की महिमा उन्हें मान्य है।

नामस्मरण का माहात्म्य और महत्व ज्ञानेश्वर ने अपने अभङ्गों में व्यक्त कर दिया है। विठ्ठल का नाम एक खुला मंत्र है। जिसे लेने के लिये किसी दीक्षा या किसी प्रकार का कोई मोल नहीं देना पड़ता है।

ज्ञानेश्वर के अभंगों में भी भक्तिरस पूर्ण-रूप से लबालब भरा हुआ है। उसमें भावना की आर्तता, कल्पना की विशालता और शब्दों की सुकुमारता का अद्भुत सम्मिश्रण है। एक अभंग देखिये।[१]

तुझिये निढळी कोटि चन्द्र प्रकाशे।

कमल नयन हास्य वदन भासे॥

घडिये-घडिये-घडिये गुज बोल कांरे।

उभारोनियां कैसा हालविती बाहो।

बाप रखुमा देवीवरु विठ्ठलु ना हो॥

ज्ञानेश्वर का इसमें आत्मानुभव है, परन्तु जब वे उसका विवेचन करने बैठते हैं, तो कल्पना का सहारा अवश्य लेते हैं। विठ्ठल का आश्वस्त करने वाला हाथ उनको दिखाई देता है। वे कहते हैं, हे भगवन्! तुम्हारे शरीर पर करोड़ों चंद्र प्रकाशित होने से भासित होते हैं। तुम्हारा कमल नेत्र वाला मुख हास्य वदन-युक्त सुशोभित है। अरे कृष्ण! जरा आओ तो। मुझे से कुछ बातचीत भी करो। हरघड़ी मेरे साथ प्रेम की बातें करो।

'विद्वत्ता, कवित्व और माधुर्य का त्रिवेणी संगम ज्ञानेश्वर के साहित्य में मिलता है', यह 'पांचसंत कवि में' सुश्री कुमुदिनी घारपुरे का कथन ठीक है।[२] ज्ञानेश्वर ने ऐसा अमोघ साहित्य सर्जन किया जो चिरंतन है। जो सदा तथ्य है तथा भव्य है और उच्च एवम् उदात्त भावों से युक्त है। तथा मानव मात्र के मनको चिरशान्ति और सुख का लाभ प्राप्त करा देने वाला है। उनकी यह वाङ्मय गंगा सबको पुनीत कर अध्यात्म और काव्य का सुन्दर मणि-कांचन-योग

१. ज्ञानेश्वर अभंग पृ० ११६, पांच सन्त कवि—डा० शं. गो तुळपुळे।

२ पांच सन्त कवि—डा० शं गो तुळपुळे कृत में श्रीमती कुमुदिनी घारपुरे का विवेचन पृ० १२६ (द्वितीय संस्करण)।

प्रस्तुत कर देती है। ज्ञानेश्वर के अभंग गीति काव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। वारकरी सम्प्रदाय के साहित्य में अभंग महत्वपूर्ण माने गये हैं।

नामदेव के अभंगो का साहित्यिक पक्ष—

नामदेव की साहित्यिक शैली का यदि हमें आस्वाद लेना हो तो उनके अभंगो में रसपूर्ण शैलीमें अभिव्यक्त किये गये अपने उपास्य के गुणों और लीलाओं का वर्णन विशेष प्रकार से अध्ययन किया जाये।

वैसे देखा जाय तो नामदेव की वाणी अमृत को खदान है। काव्य मर्मज्ञ पंडित भले ही वे न रहे हो। भगवान् का उन्मुक्त प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ है अत. उनके अभंगो में उनकी भक्ति-भावना किसी उदयोन्मुख कवि की तरह ही मुखरित हुई है। बिना परिश्रम के शब्द-कौशल्य, पांडुरंग और हरिनाम संकीर्तन में अपने आप अभिव्यक्त हो गया है। लीला गान और संकीर्तन ही उनकी काव्य-गंगा की बाढ में सरसता से साथ सामने आये हैं। शत कोटी अभंग रचने की प्रतिज्ञा करके भागवत के दशम स्कंध के श्लोकों का आधार लेकर नामदेव श्रीकृष्ण की बाल लीला का वर्णन करते हैं। आरम्भ में वे भगवद् भक्तो को वंदन करते हैं। नामदेव में भक्ति का उन्मेष उत्स्फूर्त प्रेरणा से काव्यनिर्मित में सहायक हो गया है, ऐसा जान पड़ता है। नामदेव कृत बालवर्णन साहित्यिक पक्ष से द्रष्टव्य है।

नामदेव कृत बाल लीला वर्णन[1]—

देवा आदि देवा सर्वंघाच्या जीवा। ऐके वासुदेवा दयानिधे।
नामा म्हणे जरी दाखविसी पाया। तरी वदावया स्फूर्ति चाले॥

हे दयानिधि वासुदेव! आप आदिदेव हैं। सबके प्राणों के प्राण हैं। आप ब्रह्मा और सदाशिव तथा इन्द्रादिकों के द्वारा वंदित हैं। हे वासुदेव! दीनबंधु! मेरी पुकार सुनिये। चौदह लोकपाल आपकी सेवा करते हैं। आप जगद्गुरु हैं तथा योगियों के ध्यान में रहते हैं। आप निर्गुण निराकार हैं, आप माया से बद्ध नहीं हैं। हे करुणा सिंधु! मुझ दीन पर करुणा का जल बरसाइये। हे सुन्दर स्वरूप वाले साँवले कन्हैया आप यदि अपने चरणों में आश्रय देंगे, तो मुझे अपना कथन व निवेदन करने की स्फूर्ति मिल सकती है।

इस तरह अनेक प्रकार से नामदेव करुणापूर्ण वाणी में भगवान् उनकी ओर देखें यही मांगते हैं। भगवान् से मिलने की बेचैनी और तड़पन इनके अभंगो में व्यक्त हो गयी है। पांडुरंग ने प्रसन्न होकर अपना वरदहस्त उनके मस्तक पर रखा

1 नामदेवाची गाथा पृ० २, अभङ्ग ८ सम्पादक वि न, जोग।

तथा श्रीकृष्ण लीला वर्णन करने के लिए कहा। भागवत में इसी तरह के प्रसङ्ग को लेकर एक श्लोक मिलता है—

'वासुदेव कथा प्रश्न पुरुषा स्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छ क श्रोतृन् तत्पाद सलिल यथा।'[१]

कृष्णजन्म—

इसी सन्दर्भ में उनकी बाललीला के वर्णन कितने सरस और मधुर बन गये हैं। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवि सूर की बाल-लीला वर्णन की हमें याद दिला देते हैं। वसुदेव और देवकी चिन्ताग्रस्त हैं और नवमास परिपूर्ण हो जाने पर भगवान् कृष्ण का जन्म होता है। इस प्रसङ्ग का नामदेव कृत वर्णन सरस बन पडा है[२]—

कोटिशा आदित्य मोठे एके ठायी। तेजे दिशादाही उजळल्या।
दण भुण दण भुण वाजताती वाळे। आरक्त वर्तुळ नखी शोभा।
ध्वज वजांकुश जैसी रातोत्पले। नामा म्हणे डोळे दीपताती॥

करोड़ो सूर्यों को एकत्रित कर संचित किया हुआ तेज भगवान् की मूर्ति में विद्यमान था। ऐसे तेजोमय भगवान् की ओर वसुदेव न देख सके। वे सभ्रम और आश्चर्य चकित होकर उस तेज की ओर देखने का प्रयत्न करने लगे। मुकुट पर लगे हुए रत्न नक्षत्रों की तरह चमक रहे थे। केशर का तिलक भाल प्रदेश पर विराजमान था। टेढी भौंहे थीं, तथा कमलवत् कोमल नेत्र थे। शुक चंचुवत् नुकीली नासिका थी। कर्ण कुंडल विद्युल्लता की तरह चमक रहे थे। अधरोष्ठों की रक्तिमा मानो प्रात कालीन अरुणोदय की आभावत् लग रही थी। पैरों में रुनझुन करती हुई पैंजनियाँ बज रहीं थीं। इस तरह सारे शारीरिक अवयवों सहित पूर्ण शरीर का वर्णन सन्त नामदेव करते हैं।

पूतना को कंस ने भेजा है। वह कृष्ण को अपने विष भरे स्तनों से लगाती है उस समय का नामदेव कृत विवेचन देखिये—

पूतना वध—

कृष्णा लावितसे स्तनी। तिसी मारी चक्रपाणी॥
भयानक प्रेत। जन विस्मय करीत॥
रडे तेव्हां माया। वाचलासी बा तान्हया॥

१ श्रीमद् भागवत दशम स्कंध अध्याय, १।१६।
२. नामदेवाची सार्थ गाथा (शुक्ष्म सम्पादित) अभङ्ग ३२, पृ० ३६।

मिळोनिया समस्त । माळी अङ्गारा साधोत ॥
वसुदेवे सांगितले । नंद म्हणे तैसे म्हणे ॥
कुऱ्हाडी आणिती । खंडे करुनी तोडिती ॥
नामा म्हणे दिला अग्नि । वास न माय गगनी ॥[1]

कंस ने कृष्ण नाशार्थ पूतना को भेजा। वह सुन्दर स्त्री का रूप और परिवेश धारण कर आई है। बालक कृष्ण को मारने के लिए उसने अपनी गोद में उठा लिया तथा अपने विष भरे स्तनों से उन्हें पयपान करने के लिए विवश किया। श्रीकृष्ण के स्तनपान करते ही पूतना के प्राण हरण कर लिये गये। प्राणान्त होते ही उसका सुन्दर अप्सरा जैसा रूप भयानक राक्षसी के आकार में परिणत हो गया। यशोदा ने जब देखा, उसका बालक सुरक्षित है, तब उसे आनन्द हुआ, और पूतना के प्रेत के कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करवाकर उसका अग्नि संस्कार करवाया। भगवान् का उसके शरीर से स्पर्श हो गया था। इसलिए दुर्गंध के बदले सुगंध छूटने लगा। बालक कृष्ण बड़े होने लगे हैं। उन्होंने शकटासुर का वध किया तथा और भी अनेक बाल लीलाएँ की, जिनका अत्यन्त मार्मिकता से नामदेव वर्णन करते हैं। तृणावर्त-वध का प्रसंग इस प्रकार चित्रित है—

कंसे पाठविला तेव्हां तृणावर्त। धुळीने समस्त व्यापियेले ॥
चेपोनी नरडी गत प्राण केला। भूमिसी पाडिला दैत्य तेव्हा ॥
नामा म्हणे वरी खेळत गोविंद। पाहोनी आनन्द सकळांसी।[2]

तृणावर्त नामक असुर ने आँधी का रूप धारण कर लिया और कृष्ण को आकाश में ऊँचे स्थान पर उठा ले गया। परन्तु भगवान् ने उसको पकड़कर उसका गला दबाकर प्राण हरण कर लिए। इधर गोपियाँ यशोदा सहित शोक मग्न हो गई, जब उनको भगवान् श्रीकृष्ण न दिखाई दिये। इतने में मरा हुआ दैत्य तृणावर्त आकाश से नीचे धरती पर गिर पड़ा। लोगों ने देखा कि कृष्ण उसके गले को पकड़कर खेल रहे थे। यह देखकर सारे लोग आनंदित और गद्‌गद् हो उठे।

नामदेव कृत कुलाचार के कुछ सांस्कृतिक प्रसंग—

इस तरह कृष्ण के बाल्यकाल में अनेक विपत्तियाँ मुँह बाये सामने आईं। पर प्रत्येक संकट का भगवान् श्रीकृष्ण ने निवारण कर दिया तथा इस तरह व्रज-मण्डल को सदा संकटों से उबारा। एकबार नंद के यहाँ चम्पाषष्ठी का व्रत था।

१ नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबध-सपादित) पद ४६, पृ० ५५।
२ नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबध-सपादित) पद ५३, पृ० ६०।

इसी तरह सकष्टी-चतुर्थी का व्रत भी यशोदा रखती थी। इन दोनों प्रसंगों में अद्‌भुत रस और प्रसङ्गों का निर्माण किया है जो अनोखा है[1] —

> नन्दाचिया घरीं चपाषष्ठी नेम। कुळीं कुळधर्म मार्तंडाचा।
> पक्वाने हि नाना रोडगा भरीत। केली अपरिमित यशोदेने ॥
> करी क्षण माजि वाकडे ची मुख। हरी खात बोख कालवले।
> जाणितला भाव मायेचे अन्तर। करुनिया खरे दावी देव ॥
>
> × × ×
>
> नवसा न पावती गोकुळीच्या दैवता। उपाय मागुता राहिलासे।
> चितावली माय मूर्च्छा आली तिसी। भाली पोरविसी मोहजाळे।
> जाणोनियन्तर म्हणे कृष्णार्पण। तेव्हां आले विघ्न दूर होय।
> नामा म्हणे देव पाहे कृपा दृष्टी। जाणवले पोटी हावि देव ॥

कृष्ण मथुरा के रहनेवाले थे। नद और यशोदा व्रज के निवासी थे। परन्तु नामदेव ने स्वयम् महाराष्ट्रीय होने के नाते इधर के व्रत वैकल्यों को तथा त्यौहारों को कृष्ण के जीवन में चरितार्थ कर दिया है। मल्हारी मार्तंड एवम् खंडोबा महाराष्ट्र के उपास्य होने से तथा यहाँ के जन-जीवन में उनका समावेश रहने से नामदेव ने कुलधर्म और कुलाचार के नाते नन्द और यशोदा के लिए इस महाराष्ट्रीय त्योहार और कुलधर्म का प्रयोग किया है। इससे नामदेव कालीन सामाजिक रस्मों का सांस्कृतिक रूप इस अभंग में प्रकट हो गया है। वैसे उत्तर भारत के जन-जीवन में मार्तंड और खंडोबा की उपासनाएँ नहीं है। पर नन्द व यशोदा के लिए नामदेव इन उपास्यों का उल्लेख करते हैं। मल्हारी मार्तंड कुल दैवत होने से नद बाबा के यहाँ चपाषष्ठी व्रत था। नाना प्रकार के पक्वान यशोदा ने बनाये थे। भुर्ता, रायता, तथा साग चटनी आदि पदार्थ बनाये थे। इतने में देवदासी और पुजारी ने कृष्णागमन की सूचना दी। ऐसे बालकृष्ण खेलते-खेलते वहाँ आ गये और उन्होंने यशोदा से खाना मांगा। नैवेद्य समर्पण किये बिना चम्पाषष्ठी के दिन कोई खाना नहीं खा सकता था। अतएव यशोदा ने बालक कृष्ण को खाना देने से इनकार कर दिया। नैवेद्य की थालियाँ परोसकर देवघर में रखी और आमन्त्रितों को बुलाया। नटखट कृष्ण इतने में वहाँ आ गये और सारा नैवेद्य भक्षण करने लगे। यह देख यशोदा को क्रोध आ गया और उन्होंने बालकृष्ण को डाँटा और कहा भगवान् मार्तंड बडे कठोर हैं तुमने उनका नैवेद्य भक्षण कर लिया। अब वे तुम्हें इसका दड देंगे और तुम पागल हो जाओगे। तब कृष्ण की माया से

---

1. नामदेवाची सार्थ गाथा, (सुबन्ध-सपादित) पद ८१, ८२।

वैसा ही हुआ। यशोदा चिंतित हो गई। उसके अन्तःकरण ने तब भक्ति से कहा कि सब कृष्णार्पण है। तब कृष्ण की कृपा दृष्टि से सारे सङ्कटों का निवारण हुआ।

इसी तरह सङ्कष्टी चतुर्थी व्रत के समय गणपती के लिए नैवेद्यार्थ बनाये गये मोदक सफाई करने वाले कृष्ण खा गये। नामदेव ने इस प्रसङ्ग का बड़ी मार्मिकता से उल्लेख किया है[1]—

> गोपिका म्हणती यशोदे सुन्दरी। करितो मुरारी खोडी बहु॥
> यशोदे प्रती स्या गोळणी बोलती। सङ्कष्ट चतुर्थी व्रत घेई॥
> गणेश देईल त्यासी उत्तम गुण। वचन प्रमाण मानावे हे॥
> गज वदनासी तेव्हां म्हणत यशोदा। माझिया मुकुंदा गुण देई॥
> ऐसे हे वचन ऐकून कृष्णनाथे। सत्य गणेशाते केले तेव्हां॥

गोपियों ने यशोदा से कहा कि तुम्हारा बेटा मुरारी बहुत नटखट है और हम लोग उसकी शरारतों से बहुत तंग आ गई हैं। अब तुम सङ्कष्टी चतुर्थी का व्रत ले लो, जिससे श्रीगणेश कृपा से तुम्हारे बेटे में अच्छे गुण आ जावेंगे। तब माता यशोदा ने श्री गजानन की पूजा की तथा प्रार्थना की, कि मेरे बेटे में सारे अच्छे गुण आजायें। कृष्ण ने जब ये वचन सुन लो गणेशजी के वचनों को सफला प्रमाणित करने के हेतु एक महीने तक अपना नटखटपन छोड़ दिया। यशोदा भी कहने लगी कि गणेशजी सच्चे भगवान् हैं। वैसे यशोदा सदा सङ्कष्ट चतुर्थी के दिन इक्कीस मोदकों सहित चन्द्रोदय के समय गणेशजी का पूजन करती पर एक बार उसी दिन भगवान्-मुखिवेश श्रीकृष्ण यशोदा से पूछने लगे, माँ मुझे तुम लड्डू कब दोगी ? इस समय का वर्णन द्रष्टव्य है[2]—

> यशोदा म्हणत पूजोन गज वदन। नैवेद्य दावून देईन तुज॥
> ऐसे म्हणोनिया माता बाहेर गेली। देव्हा-या जवळी हरी होता॥
> एकांत देखोनि हारा उचलीला। सर्व स्वाहा केला एकदांची॥

यशोदा ने उत्तर दिया कि गणेश पूजन के बाद नैवेद्य समर्पण होगा फिर तुम लड्डू खा सकोगे। ऐसा कहकर माता किसी काम से बाहर चली गई। देवग्रह में श्रीकृष्ण विराजमान थे। एकान्त समय देखकर लड्डुओं से भरा हुआ टोकरा उठा लिया और उसमें के सारे लड्डू स्वयम् खा गये। जब माँ यशोदा ने लौटकर देखा तो नैवेद्य नदारद था। तब उसने कृष्ण से पूछा, 'मोदक कहाँ चले गये ?' तब जो कृष्ण ने उत्तर दिया वह पठनीय है—

---

१ नामदेवाची सार्थ गाथा, पद ८२।
२ नामदेवाची सार्थ गाथा (तुकाराम सम्पादित) अभङ्ग ८८।

> कृष्ण म्हणे सत्य वचन मानी माते । एक सहस्र उन्दीर आले येथे ॥
> त्यांत होता मो मूषक । वरी विनायक बैसला से ॥
> मुखांत गणपती मातेसी बोलत । पूजा वे त्वरित हरि सांगे ॥
> ऐसे देखोनिया समाधिस्त होत । चहूंकडे पाहात तटस्थते ॥[1]
>
> —नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध) अ. ८८ ।

वात्सल्य और अद्भुत रस का वर्णन—

कृष्ण ने उत्तर दिया यहाँ पर एक हजार चूहे आये थे। उनमें एक बड़ा मूषक था, जिस पर भगवान् गजानन आरूढ़ हो गये थे। अपनी सूंड से उन्होंने सारे मोदक इकट्ठे हो उठाकर भक्षण कर लिये। अपने सर्वाङ्ग में उन्होंने सिंदूर का लेपन कर लिया था तथा अपनी भयङ्कर सूंड हिला रहे थे। माता! यशोदा मेरा कथन सत्य मानो, और व्यर्थ ही क्रोधकर मुझे न पीटो। मैं अपना मुंह खोलकर दिखाता हूँ। जब कृष्ण ने अपना मुंह खोलकर दिखाया तब साश्चर्य यशोदा ने देखा कि सारा ब्रह्माण्ड उस मुख में समाया हुआ है। कृष्ण ने अपने नेत्रों से यशोदा की ओर देखा। तब एक चमत्कार और हुआ। कृष्ण के मुख में असंख्य गणपति यशोदा को दिखाई दिये। मुख के गणपति ने यशोदा से कहा कि त्वरित हरि का पूजन कीजिए। यह सब देखकर यशोदा स्तब्ध होकर समाधि अवस्था में पहुँच गई और चारों ओर तटस्थ होकर देखने लगी। यशोदा ने बाद में बालक कृष्ण को गोद में उठाकर उनका चुम्बन कर लिया।

इस वर्णन में वात्सल्य के साथ अद्भुत रस का संयोग नामदेव कर सके हैं, तथा उसके साथ-साथ ही भक्त की परीक्षा ली गई है। इसे बड़ी मार्मिकता से स्पष्ट कर दिया है। गणेश और कृष्ण एक ही स्वरूप है यह भ्रमवश माता यशोदा नहीं जानती थी। इस यथार्थता का दर्शन उसे कराने के लिए भगवान् कृष्ण ने यह कौतुक कर दिखाया।

नामदेव ने बालक्रीडा के अभंगों की रचना का उद्देश्य भक्ति की सरसता को सिद्ध करना बतलाया है, जो उनके बालक्रीडापरक अभङ्गों से स्वत सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर उसकी एक बानगी प्रस्तुत की जाती है[2]—

भक्ति की सरसता का साहित्यिक स्वरूप—

> धन्य त्या गोपिका धन्य त्या गायी। धन्य हेचि मही ब्रह्म म्हणे।
> विश्वात्मा जो हरी क्रीडे या वनांत। तृणादि समस्त धन्य धन्य॥

---

१ नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध सम्पादित) अभङ्ग ८८।

२ नामदेवाची गाथा, चित्रशाळा प्रेस, अभंग १०२, पृ० २४।

विश्वात्मा जो बाप नन्द त्याचा पिता। यशोदे ती माता म्हणतसे ॥
सद्गदित कंठ नेत्री जळ वाहे। नामा म्हणे काय मागतसे ॥

वे गोपियाँ धन्य हैं, वे धेनुएँ धन्य हैं, और यह भूतल धन्य है, जहाँ पर कृष्ण लीला हुई ऐसा ब्रह्मदेव का कथन है। विश्वात्मा हरि कुंजवन मे क्रीडा करते हैं। अतः यहाँ तृण लता गुल्म सभी धन्य हैं। वृन्दावन, गोवर्धन, वृक्ष और पाषाण आदि यहाँ के सभी चराचर मात्र धन्य हैं। ये गोपाल धन्य है, यह गोकुल धन्य है, तथा सारे ब्रज वासियों को भी धन्यवाद देने चाहिए। मुकुंद को अपने स्तनों मे दूध पिलाने वाली यशोदा धन्य है। नामदेव नंद बाबा की भी सराहना करते हैं और बतलाते हैं कि त्रैलोक्यमे उनके जैसा भाग्यशाली और कोई नही है। जो साक्षात् परब्रह्म है, तथा सनातन है और वेद भी जिनका पार नहीं पा सकते, ऐसे श्रीकृष्ण गोपो के साथ जगल मे खेलते फिरते हैं, जो सारे विश्व के स्वामी और पिता हैं उनके नंद पिता बने हैं यही तो कुतूहल और कौतुक का विषय है, जब कि वह यशोदा को अपनी माँ कहकर पुकारता है। इस तरह इन लीलाओंके वर्णन करने मे नेत्रो से आनन्द के कारण जल बहने लगता है तथा कंठ सद्गदित हो जाता है। नामदेव इनकी भक्ति को देखकर कहते हैं कि ये सब परब्रह्म के अवतार कृष्ण से क्या मागते हैं? मैं भी यही करना चाहता हूँ।

गोपियों की विरह व्यथा—

कृष्ण ने गोपियों के साथ रासक्रीडा की, और वे गुप्त हो गये। इसमें गोपियों को विरह व्यथा उत्पन्न हो गयी। नामदेव ने इस व्यथा का भी सरसता के साथ वर्णन किया है जो विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य है।[1]

तुज वाचोनिया वैकुंठ नायका। आम्हासी घटिका युग होय।
अस्तमान होता येसी तूं गोकुळीं। मुखावरी धुळी गोरजाची ॥
कुरळे हे केश सुन्दर नासिका। पाहोनियां सुख फार होय ॥
लवती पापण्या न सोसती आम्हा। अहर्निशीं नामा हेंचि गाय ॥

हे वैकुंठ नायक! तुम्हारे बिना हम अपना जीवन किस तरह व्यतीत करें? हमे एक एक घडी युग के समान लगती है। तुम प्रभात काल मे गायें चराने चले जाते हो और सूर्य अस्तमान हो जाने पर गोकुल में आ जाते हो। तुम्हारे मुख पर गोधरो से उडी हुई धूल लगी रहती है। तुम्हारा यह सुन्दर रूप बहुत ही मनोहर है। घुघराले केश और सुन्दर नासिका देखकर हमे परम सुख मिलता है। एक निमिष भी हमारे नेत्रो की पलकें नही झपती हैं। यह विरह हमसे नहीं सहा जाता। नामदेव इस विरह व्यथा को अहर्निश गाते हैं।

---
१. नामदेवाची गाथा, अभंग १६६, पृ० ३६।

कृष्ण म्हणे सत्य वचन मानी माते । एक सहस्र उन्दीर आले येथे ॥
स्यांत होता मो मूषक । वरी विनायक बैसला से ॥
मुखांत गणपती मातेसी बोलत । पूजा वे त्वरित हरि लागी ॥
ऐसे देखोनिया समाधिस्त होत । घडूंकडे पाहात तटस्थते ॥[1]

—नामदेवाची सार्थ गाथा (मुबन्ध) अ. ८८।

वात्सल्य और अद्भुत रस का वर्णन—

कृष्ण ने उत्तर दिया यहां पर एक हजार चूहे आये थे। उनमें एक बड़ा मूषक था, जिस पर भगवान् गजानन आरूढ़ हो गये थे। अपनी सूंड से उन्होंने सारे मोदक इकट्ठे ही उठाकर भक्षण कर लिये। अपने सर्वाङ्ग में उन्होंने सिंदूर का लेपन कर लिया था तथा अपनी भयङ्कर सूंड हिला रहे थे। माता! यशोदा मेरा कथन सत्य मानो, और व्यर्थ ही क्रोधकर मुझे न पीटो। मैं अपना मुंह खोलकर दिखाता हूँ। जब कृष्ण ने अपना मुंह खोलकर दिखाया तब आश्चर्य यशोदा ने देखा कि सारा ब्रह्माण्ड उस मुख में समाया हुआ है। कृष्ण ने अपने नेत्रों से यशोदा की ओर देखा। तब एक चमत्कार और हुआ। कृष्ण के मुख में असंख्य गणपति यशोदा को दिखाई दिये। मुख के गणपति ने यशोदा से कहा कि त्वरित हरिका पूजन कीजिए। यह सब देखकर यशोदा मग्न होकर समाधि अवस्था में पहुँच गई और चारों ओर तटस्थ होकर देखने लगी। यशोदा ने बाद में बालक कृष्ण को गोद में उठाकर उनका चुम्बन कर लिया।

इस वर्णन में वात्सल्य के साथ अद्भुत रस का संयोग नामदेव कर सके हैं, तथा उसके साथ-साथ ही भक्त की परीक्षा ली गई है। उसे बड़ी मार्मिकता से स्पष्ट कर दिया है। गणेश और कृष्ण एक ही स्वरूप हैं यह भ्रमवश माता यशोदा नहीं जानती थी। इस यथार्थता का दर्शन उसे कराने के लिए भगवान् कृष्ण ने यह कौतुक कर दिखाया।

नामदेव ने बालक्रीडा के अभंगों की रचना का उद्देश्य भक्ति की सरसता को सिद्ध करना बतलाया है, जो उनके बालक्रीडापरक अभङ्गों से स्वतः सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर उसकी एक बानगी प्रस्तुत की जाती है[2]—

भक्ति की सरसता का साहित्यिक स्वरूप—

धन्य त्या गोपिका धन्य त्या गायी। धन्य हेचि मही ब्रह्म म्हणे।
विश्वात्मा जो हरी खोडे या करात। तृणादि समस्त धन्य धन्य ॥

१ नामदेवाची सार्थ गाथा (सुबन्ध सम्पादित) अभङ्ग ८८।
२ नामदेवाची गाथा, चित्रशाळा प्रेस, अभंग १०२, पृ० २४।

विश्वात्मा जो बाप नन्द त्याचा पिता। यशोदे सी माता म्हणतसे ॥
सद्‍गदित कंठ नेत्री जळ वाहे। नामा म्हणे काय मागतसे ॥

वे गोपियाँ धन्य हैं, वे धेनुएँ धन्य हैं, और यह भूतल धन्य है, जहाँ पर कृष्ण लीला हुई ऐसा ब्रह्मदेव का कथन है। विश्वात्मा हरि कुजवन मे क्रीडा करते हैं। अत यहाँ तृण लता गुल्म सभी धन्य हैं। वृन्दावन, गोवर्धन, वृक्ष और पाषाण आदि यहाँ के सभी चराचर मात्र धन्य हैं। ये गोपाल धन्य है, यह गोकुल धन्य है, तथा सारे व्रज वासियो को भी धन्यवाद देने चाहिए। मुकुंद को अपने स्तनो मे दूध पिलाने वाली यशोदा धन्य है। नामदेव नद बाबा की भी सराहना करते हैं और बतलाते हैं कि त्रैलोक्यमे उनके जैसा सौभाग्यशाली और कोई नही है। जो साक्षात् परब्रह्म है, तथा सनातन है और वेद भी जिसका पार नही पा सकते, ऐसे श्रीकृष्ण गोपो के साथ जगल मे खेलते फिरते हैं जो सारे विश्व के स्वामी और पिता हैं उनके नंद पिता बने हैं यही तो कुतूहल और कौतुक का विषय है, जब कि वह यशोदा को अपनी माँ कहकर पुकारता है। इस तरह इन लीलाओंके वर्णन करने मे नेत्रो से आनन्द के कारण जल बहने लगता है तथा कठ सद्‍गदित हो जाता है। नामदेव इनकी भक्ति को देखकर कहते हैं कि ये सब परब्रह्म के अवतार कृष्ण से क्या मागते हैं ? मैं भी यही करना चाहता हूँ।

गोपियों की विरह व्यथा—

कृष्ण ने गोपियो के साथ रासक्रीडा की, और वे गुप्त हो गये। इसमे गोपियो को विरह व्यथा उत्पन्न हो गयी। नामदेव ने इस व्यथा का भी सरसता के साथ वर्णन किया है जो विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य है।[1]

तुज वाचोनिया वैकुंठ नायका। आम्हासी घटिका युग होय।
अस्तमान होता येसी तूं गोकुळीं। मुखावरी धुळी गोरजाची ॥
कुरळे हे केश सुन्दर नासिका। पाहोनियां सुख फार होय ॥
लवती पापण्या न सोसती आम्हा। अहर्निशी नामा हेचि गाय ॥

हे वैकुंठ नायक ! तुम्हारे बिना हम अपना जीवन किस तरह व्यतीत करें ? हमे एक एक घडी युग के समान लगती है। तुम प्रभात काल मे गायें चराने चले जाते हो और सूर्य अस्तमान हो जाने पर गोकुल मे आ जाते हो। तुम्हारे मुख पर गोखरो से उडी हुई धून लगी रहती है। तुम्हारा यह सुन्दर रूप बहुत ही मनोहर है। घुघराले केश और सुन्दर नासिका देखकर हमे परम सुख मिलता है। एक निमिष भी हमारे नेत्रों की पलकें नहीं झपती हैं। यह विरह हमसे नहीं सहा जाता। नामदेव इस विरह व्यथा को अहर्निश गाते हैं।

---

१ नामदेवाची गाथा, अभंग १६६, पृ० ३६।

नामदेव ने बाल लीला के कई प्रसङ्गों का वर्णन किया है। पर अब हम विस्तार भय से उनको यहीं छोड़कर, नामदेव ने ज्ञानदेव के साथ जब तीर्थ यात्राएं की थी, उस समय नामदेव की भक्ति-भावना पर ज्ञान के द्वारा किये गये संस्कार कैसे दृढ़ होते गये उसका अनुशीलन करेंगे। ज्ञानेश्वर यों भक्ति मार्ग को स्वीकार करते थे, परन्तु केवल भक्ति उन्हें स्वीकार न थी बल्कि वे ज्ञानयुक्त भक्ति को अधिक मान्यता देते थे। 'म्हणौनि भक्तु पाही। ज्ञानिया तो।' (ज्ञानेश्वरी ७।१५८) स्वयम् नामदेव एक आर्त भक्त थे। उनकी भक्ति के स्वतन्त्र रूप में दर्शन मिलने कठिन है। इस भाव को हम विभिन्न अभंगों में पढ़कर समझ सकते हैं। इन देहधारी जीव के अस्तित्व के दिन सीमित होने से क्षण-क्षण वह काल के चंगुल में फँसता जाता है। इसलिए इसका महत्त्व पहचानकर हरि भक्ति करनी चाहिए ऐसा वे निवेदन करते हैं। 'सगुण निर्गुण एक गोविंदु' यह नामदेव का मत है। नामदेव की भक्ति में नाम माहात्म्य की बहुत बड़ी विशेषता है। नामदेव मराठी के एक उत्कृष्ट चरित्रकार हैं। ज्ञानदेव परिवार का चरित्र आदि, समाधि और तीर्थावली के प्रकरणों में उन्होंने अभिव्यक्त किया है। काव्य की दृष्टि से भी इन चरित्र का बहुत महत्व है। निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई को प्रतिष्ठान से शुद्धि पत्र लाने के लिए कहा गया। तब निवृत्तिनाथ ने कहा कि हम तो अव्यक्त, अविनाशी और पुरातन हैं। अतः हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ज्ञानदेव लोक-संग्रह तथा सदाचार और शास्त्रीय मार्गों के आधार से चलने वाले होने में उन्होंने ब्राह्मणों के द्वारा की गई शुद्धिपत्र की माग का समर्थन किया। नामदेव ने इन सबके स्वभावों की विशेषताओं को बराबर अभिव्यक्त किया है।[1]

ज्ञानदेव 'आदि' प्रकरण—

> विधि वेद विरुद्ध। सकल्प सम्मन्य। नाहीं भेदा भेद। स्वस्वरूपी॥
> अविधि आचरण। परम दूषण। वेदोनारायण। बोलियेला॥
> प्रत्यवाय आहे अशास्त्रीं चालता। पावन अवस्था जरी झाली॥
> ज्ञानदेवहणे ऐकावी निवृत्ति। बोलिलो पद्धती धर्मशास्त्री॥

वेद और उसके अन्तर्गत आने वाले विविध विधान, उनके परस्पर विरुद्ध वचनों के अनुसार सम्पर्क और सम्बन्ध कृत्रिम भेदाभेद का समर्गं सत्स्वरूप के साथ

१. नामदेवाची सार्थ गाथा (मुडल्य सम्पादित) ज्ञानदेवाची आदि अभङ्ग ९२, पृ० ६०।

नहीं रहता यह मेरा दृढ़ निश्चय है। साधन और साध्य की तरह उक्ति और कृति की क्रियाशीलता आचरण के द्वारा बरतकर दिखाना श्रेष्ठों का परम कर्तव्य हो जाता है। स्वधर्म के अनुसार सप्राप्त अधिकारों को तथा जात्यान्तर्गत भेदों को जो जन्मत या परिस्थित्यनुरूप उपलब्ध हो गये हों उन्हें अपनाना ही ऐसे व्यक्ति के लिये शुद्ध और आचरणीय है। अतएव संतों को उसी के अनुसार सत्क्रियाचरण कर लोगों का पथ-प्रदर्शन करना चाहिये तथा कुल धर्म का रक्षण करना चाहिये और वेद और शास्त्रों के विरुद्ध आचरण कदापि नहीं करना चाहिये। ज्ञानदेव-परिवार का इसके आगे का चरित्र इन वैष्णव मतों का अध्ययन करने वालों को ज्ञात हुआ है। ज्ञानेश्वर ने इस बात को प्रमाणित कर दिखाया था कि उनकी और भैंसे की आत्मा एक ही है। ज्ञानेश्वर ने प्रणव सहित वेद ध्वनि भैंसे से करवाकर पैठण के ब्राह्मणों से अपना श्रेष्ठत्व मान्य करवाया था। पैठण के ब्राह्मणों से उनको शुद्धिपत्र मिला और उन्होंने कहा—'हे परलोकीचे तीन देवत्रय।' ये तो देवत्रय अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इस लोक के जीव नहीं हैं। अतः इनको कौन प्रायश्चित दे सकता है? *नामदेव का कहना है, कि ज्ञानेश्वर ने संस्कृत के ग्रन्थों की बंधी हुई गठानें छोड़कर गीता का मराठी भाषा में भाष्य जहाँ पर लिखा वह स्थल हमारे लिये आदर और श्रद्धा का पात्र है। इसीलिये अलकावती में जाने पर सारे* सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानी और भावुक भक्तों की सहयात्रा—

तीर्थावली का प्रकरण—*तीर्थावली का प्रकरण नामदेव की लेखनी से अत्यन्त सरसता और सौष्ठव के साथ लिपिबद्ध हुआ है। नामदेव से मिलने ज्ञानदेव आये और उन्होंने यह इच्छा प्रदर्शित की कि नामदेव के साथ वे तीर्थ यात्रा करेंगे।* नामदेव को पंढरपूर छोड़ने से बड़ा दुख हुआ। तब दोनों मंदिर में गये। विट्ठल ने नामदेव से कहा—

'सर्व भावें अमुचा विसर न पडावा। लोभ असोद्यावा मजवरी।'

'मेरा स्मरण बराबर करते रहना और मेरा स्नेह सम्बन्ध बनाये रखना' विठोबा के आदेशानुसार दोनों सहयात्रा करते हैं। इस यात्रा में ज्ञानी भक्त ज्ञानदेव और नामी भक्त नामदेव में परस्पर सलाप और वैचारिक आदान प्रदान होता है। नामदेव के व्यक्तित्व पर जो संस्कार प्रभाव डाल सके उनमें यह प्रसंग नामदेव के काव्य-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पंढरपूर के विठोबा को नामदेव का विरह बहुत बेचैन करता था। अतः उन्होंने रुक्मिणी से कहा[1]—

1. नामदेवाची सार्थ गाथा तीर्थावली अभङ्ग ७, पृ० २३२।

भगवान् का भक्त के लिए विरह—

माझे भक्त मज अनुसरले चित्तें । त्याहूनि परियेते मज आणिक नाहीं ।

× × ×

ते माझा आश्रम मी त्यांचा विश्राम । जिहीं रूप नाम केले मज ॥
मी त्याचा सोयरा ते माझे सांगाती । करीतसे एकांति सुख गोष्टी ॥

× × ×

मी तो भक्तरूप भक्त माझे स्वरूप । प्रभा आणि दीप अवघरी ॥
हे गूढ अनुभवी जाणती ते ज्ञानी । ज्या नाहीं आयणी कास याची ॥
त्यांचिया चरणीं चे रज रेणु माझे नामे । जो साडिले रजत में सत्वशील ।
त्याचे भेटी लागी हृदय माझे कळवळे । कंमे देखेन डोळे निवृती माझे ॥[1]

मुझे मेरे भक्तों के अतिरिक्त और कोई अन्य निकट आत्मीय नहीं है। मेरा चित्त जहाँ-जहाँ भक्त जाता है वहाँ-वहाँ उसका अनुसरण करने लगता है। मेरे लिए मेरे भक्त और भक्तों के लिए मैं स्वयम् विश्राम स्थल हूँ। मैं उनका सम्बन्धी हूँ, और वे मेरे सहचर हैं। जिनके साथ मैंने एकान्त में सुखपूर्वक वार्तालाप किया है। जैसे दीपक और उसकी प्रभा एक ही वस्तु के दो रूप हैं, वैसे ही मेरे भक्त और मैं स्वयम् अलग वस्तुएँ नहीं हैं। भक्त मेरा ही स्वरूप है। मेरे इस रहस्य को ज्ञानी जानते हैं, पहिचानते हैं और स्वयं वैसा अनुभव भी करते हैं। उनके चरणों में लगे रज के रजकण मेरे नाम को सार्थक करते हैं, क्योंकि मेरे भक्त सत्वशील हैं और उन्होंने रज और तम को सदा के लिए त्याग दिया है। मेरा हृदय मेरे इसी प्रकार के भक्त ज्ञानेश्वर और नामदेव के विरह में बेचैनी से तिलमिला उठता है। मेरे नेत्र उनका दर्शन करके ही तृप्त होंगे। भगवान् का अपने भक्त के लिए ऐसा मर्माहत करने वाला करुण क्रन्दन आत्मीयता से भरा हुआ और करुणा से ओतप्रोत एवम् सरस अनुभव माना जावेगा।

सहयात्रिक नामदेव और ज्ञानेश्वर का यात्रा करते हुए परस्पर अत्यन्त महत्वपूर्ण संलाप होता रहा। साहित्यिक दृष्टि से इसका अध्ययन विशेष द्रष्टव्य है। नामदेव सगुण भक्त थे अतः भगवान् का विरह उन्हें सता रहा था। इस प्रेम और विरह की तड़पन को देखकर ज्ञानेश्वर ने उन्हें समझाया कि तुम्हारे हृदय में प्रेम की आत्मीयता और भावुकता पांडुरंग के लिए तो नित्य और कई बार उत्पन्न हुई है। तुम भक्त हो इसलिए प्रेम लक्षणा भक्ति से प्रेम की आर्द्रता से तुम्हारा अन्तःकरण सराबोर हो उठा है। अब विरह जन्य पीड़ा से क्यों इतना हताश हो उठे हो?

१. नामदेवाची सार्थ गाथा तीर्थावली अभंग २, पृ० २३२।

तुम्हारे अन्त करण मे ही भगवान् विद्यमान हैं। जैसे वे सर्वत्र सब चराचर चेतन-अचेतनों मे है, वैसे ही तुम्हारे हृदय-स्थल मे इसी समय विराजमान हैं। अत. यदि विचार पूर्वक सोचोगे, तो हे भक्तराज नामदेव! तुम्हारे लिए सुखानन्द स्वरूप विट्ठल तुम अपने पास ही देख पाओगे। इस तरह ज्ञानदेव ने नामदेव को बहुत समझाया। परन्तु विरह जर्जर नामदेव किसी तरह भी नहीं माने। देखिए—

> तो माझा विठ्ठलु दावा दृष्टी सरी। आस मी न करी आणिकाची॥
> व्यापक विठ्ठलु आहे सर्व देशी। जरी साडोनिया पाहसी भेद भ्रमू॥
> तो नाही ऐसा ठाव उरलासे कवण। सर्वत्र संपूर्ण गगन जैसे॥[1]

नामदेव कहते हैं कि मेरा विट्ठल साकार रूप मे मुझे दिखाइये जिससे मै उसे अपनी दृष्टि से देख सकूँ। मैं और किसी भी प्रन्थ की आशा नही करता। तो ज्ञानदेव कहते हैं कि भाई नामदेव! विट्ठल तो सर्वव्यापी हैं। अत वह सर्वत्र है। तुम उन्हें तभी देख सकोगे जब कि सारा भेद भ्रम भुला दोगे। ऐसा कोई स्थल नही है जहाँ वह नही है। जैसे आकाश सर्वत्र रहता है उसी तरह विट्ठल सर्वत्र विद्यमान है।

इस पर भी नामदेव को शान्ति नही मिली। और उन्होंने वेचैनी मे कहा—

> सर्व सुख मज आहे त्याचे पायी। आणि काम्या वाहो न पडेकदा॥
> तेथे मन रंगलेसे भावें। सुख येणे जीवें देखिले डोळा॥[2]

मेरा सुख और उससे सप्राप्त आनन्द विट्ठल के चरणों मे ही मैं देखता हूँ। अत. मुझे आपके द्वारा उपदेशित अव्यक्तोपासना से कोई तात्पर्य नहीं। मेरा मन विट्ठल चरणों मे रग गया है और इस जीव को उसका पूर्ण अनुभव अब तक मिल चुका है।

जैसे जलद के बिना चातक की कोई गति नही है उसी तरह मेरी अवस्था बन गई है। इस तरह नामदेव का विरह पीड़ित करुण क्रन्दन सुनकर नामदेव ने उन्हें पुन समझाया कि आत्म स्वरूप अद्वैत की तुम प्रति मूर्ति हो अर्थात् तुम प्रत्यक्ष प्रेम मूर्ति हो। तुम्हारे द्वारा साक्षात् आनद का स्वरूप ही मानो प्रकट हो गया है ऐसा जान पड़ता है। भक्ति मार्ग के द्वारा तुमने वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है जिससे तुम्हें अविनाशी-अव्यय पद की प्राप्ति हो गयी है। इसीलिए मेरा निवेदन है कि तुम मुझे भी इस भक्ति मार्ग का रहस्य समझाओ। नामदेव ने ज्ञानदेव से कहा कि मैं तो पढरिनाथ की कृपा पर पला हूँ तथा उनके द्वारा प्रदत्त प्रेम मय जीवन का

---

१ नामदेवाची गाथा-अभग १०, पृ० ६०।

२. नामदेवाची गाथा-अभङ्ग १०, पृ० ६०।

भगवान् का भक्त के लिए विरह—

माझे भक्त मज अनुसरले चित्तें। त्याहुनि पढ़ियंते मज आणिक नाहीं।

× × ×

ते माझा आश्रम मी त्याचा विश्राम। जिहीं रूप नाम केले मज॥
मी त्यांचा सोयरा ते माझे सांगाती। करीत्या एकांति सुख गोष्टी॥

× × ×

मी तो भक्तरूप भक्त माझें स्वरूप। प्रभा आणि दीप जयापरी॥
हे खूण अनुभवी जाणती ते ज्ञानी। क्या नाहीं आयणी कास याची॥
त्याचिया चरणी चे रज रेणु माझे नामे। जो साहिले रजत में सत्वशील।
त्याचे भेटी लागी हृदय माझें कळवळे। कैसे देखेन डोळे निवृती माझे॥[1]

मुझे मेरे भक्तों के अतिरिक्त और कोई अन्य निकट आत्मीय नहीं है। मेरा चित्त जहाँ-जहाँ भक्त जाता है वहाँ-वहाँ उसका अनुसरण करने लगता है। मेरे लिए मेरे भक्त और भक्तों के लिए मैं स्वयम् विश्राम स्थल हूँ। मैं उनका सम्बन्धी हूँ, और वे मेरे सहचर हैं। जिनके साथ मैंने एकान्त में सुखपूर्वक वार्तालाप किया है। जैसे दीपक और उसकी प्रभा एक ही वस्तु के दो रूप हैं, वैसे ही मेरे भक्त और मैं स्वयम् अलग वस्तुएँ नहीं हैं। भक्त मेरा ही स्वरूप है। मेरे इस रहस्य को ज्ञानी जानते हैं, पहिचानते हैं और स्वयं वैसा अनुभव भी करते हैं। उनके चरणों में लगे रज के रजकण मेरे नाम को सार्थक करते हैं, क्योंकि मेरे भक्त सत्वशील हैं और उन्होंने रज और तम को सदा के लिए त्याग दिया है। मेरा हृदय मेरे इसी प्रकार के भक्त ज्ञानेश्वर और नामदेव के विरह में बेचैनी से तिलमिला उठता है। मेरे नेत्र उनका दर्शन करके ही तृप्त होंगे। भगवान् का अपने भक्त के लिए ऐसा मर्माहत करने वाला करुण क्रन्दन आत्मीयता से भरा हुआ और करुणा से ओतप्रोत एवम् सरस अनुभव माना जावेगा।

सहयात्रिक नामदेव और ज्ञानेश्वर का यात्रा करते हुए परस्पर अत्यन्त महत्वपूर्ण संलाप होता रहा। साहित्यिक दृष्टि से इसका अध्ययन विशेष द्रष्टव्य है। नामदेव सगुण भक्त थे अत भगवान् का विरह उन्हें सता रहा था। इस प्रेम और विरह की तड़पन को देखकर ज्ञानेश्वर ने उन्हें समझाया कि तुम्हारे हृदय में प्रेम की आत्मीयता और भावुकता पाडुरंग के लिए तो नित्य और कई बार उत्पन्न हुई है। तुम भक्त हो इसलिए प्रेम लक्षणा भक्ति से प्रेम की आर्द्रता से तुम्हारा अन्तःकरण सराबोर हो उठा है। अत विरह जन्य पीड़ा से क्यों इतना हताश हो उठे हो?

1. नामदेवाची सार्थ गाथा सोयविन्नी अभंग २, पृ० २३२।

तुम्हारे अन्त करण मे ही भगवान् विद्यमान हैं। जैसे वे सर्वत्र सब चराचर चेतन-अचेतनो मे है, वैसे ही तुम्हारे हृदय-स्थल मे इसी समय विराजमान हैं। अत यदि विचार पूर्वक सोचोगे, तो हे भक्तराज नामदेव! तुम्हारे लिए सुखानन्द स्वरूप विठ्ठल तुम अपने पास ही देख पाओगे। इस तरह ज्ञानदेव ने नामदेव को बहुत समझाया। परन्तु विरह जर्जर नामदेव किसी तरह भी नही माने। देखिए—

> तो माझा विठ्ठलु दावा दृष्टी भरी। आस मी न करी आणिकाची॥
> व्यापक विठ्ठलु आहे सर्व देशी। जरी साडोनिया पाहसी भेद भ्राम्॥
> तो नाही ऐसा ठाव उरलासे कवण। सर्वत्र सपूर्ण गगन जैसे॥[१]

नामदेव कहते हैं कि मेरा विठ्ठल साकार रूप मे मुझे दिखाइये, जिससे मे उसे अपनी दृष्टि से देख सकूँ। मैं और किसी भी अन्य की आशा नही करता। तो ज्ञानदेव कहते हैं कि भाई नामदेव। विठ्ठल तो सर्वव्यापी हैं। अत वह सर्वत्र है। तुम उन्हे तभी देख सकोगे जब कि सारा भेद भ्रम भुला दोगे। ऐसा कोई स्थल नही है जहाँ वह नहीं है। जैसे आकाश सर्वत्र रहता है उसी तरह विठ्ठल सर्वत्र विद्यमान है।

इस पर भी नामदेव को शान्ति नही मिली। और उन्होने बेचैनी से कहा—

> सर्व सुख मज आहे त्याचे पायी। आणि काच्या बाहो न पडेकदा॥
> तेथे मन रंगलेसे भावें। सुख येणे जीवें देखिले डोळा॥[२]

मेरा सुख और उससे सप्राप्त आनन्द विठ्ठल के चरणो मे ही मैं देखता हूँ। अत मुझे आपके द्वारा उपदेशित अव्यक्तोपासना से कोई तात्पर्य नही। मेरा मन विठ्ठल चरणो मे रग गया है और इस जीव को उसका पूर्ण अनुभव अब तक मिल चुका है।

जैसे जलद के बिना चातक की कोई गति नही है उसी तरह मेरी अवस्था बन गई है। इस तरह नामदेव का विरह पीडित करुण क्रन्दन सुनकर ज्ञानदेव ने उन्हे पुन समझाया कि आत्म स्वरूप अद्वैत की तुम प्रति मूर्ति हो अर्थात् तुम प्रत्यक्ष प्रेम मूर्ति हो। तुम्हारे द्वारा साक्षात् आनद का स्वरूप ही मानो प्रकट हो गया है ऐसा जान पडता है। भक्ति मार्ग के द्वारा तुमने वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है, जिससे तुम्हे अविनाशी-अव्यय पद की प्राप्ति हो गयी है। इसीलिए मेरा निवेदन है कि तुम मुझे भी इस भक्ति मार्ग का रहस्य समझाओ। नामदेव ने ज्ञानदेव से कहा कि मैं तो पढरिनाथ की कृपा पर पला हूँ तथा उनके द्वारा प्रदत्त प्रेम मय जीवन का

---

१ नामदेवाची गाथा–अभग १०, पृ० ५०।

२. नामदेवाची गाथा–अभङ्ग १०, पृ० १०।

लाभ मैंने उठाया है। मेरे पास आपको समझाने लायक ज्ञान कहाँ है? इस प्रकार से प्रेम, भक्ति तथा ज्ञान के बारे मे सौहार्द्रपूर्वक परस्पर वे वार्तालाप और विचार विनिमय करते थे। ऐसे ही भ्रमण करते-करते वापस लौटने हुए उनको प्यास लगी। दोनो ने खोज की तो एक कुआँ दिखाई दिया। वह बहुत गहरा था। उसमे सीढियाँ नहीं थी। अत: समस्या उत्पन्न हुई कि पानी कैसे पिया जाय। नामदेव तृषाक्रान्त अवस्था मे थे। ज्ञानेश्वर ने कहा मुझे तो एक उपाय दिखाई पडता है। लाघिमा सिद्धि का अवलब लेकर पानी बाहर लाया जाय। नामदेव को यह स्वीकार न था। भक्ति से प्रार्थना करने पर तथा आर्तता मे पुकारने पर भगवान् ने कृपा की[1] —

> तृषाक्रान्त नामा करितसे धावा। वेगी जाऊनि देवा साभाळावे ॥
> तव तो आर्त बधु ऐकूनी वचन। मना चेनी मनें वेग केला ॥
> तव गडगडित कूप उनके वोसण्डला। कल्पाती खवळला सिंधु जैसा ॥

तृषाक्रान्त नामदेव के पुकारने पर शीघ्र दौडकर भगवान् ने उनको सम्हाला। अपने आर्त बधु को सकटाच्छन्न देखकर मन के वेग से दौडकर सहायता प्रदान की। उस गहरे कुएँ मे जल इतनी जोर से भर आया कि परिणामत कुआँ पूरा भर कर पानी बाहर उमड आया। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे प्रलय काल मे सागर खौल उठा हो।

ज्ञानदेव ने यह देखा तो उन्होंने कहा कि यह नामदेव का वचन मात्र नहीं है,वरन् यह तो भक्त और कवि नामदेव के कवित्व का अनुपम काव्य रस ही है। अत मे दोनों अपनी यात्रा पूरी कर लौटते हैं। विट्ठल को जब अपनी आँखो से नामदेव देखते हैं, तो सद्गदित हो जाते हैं और कहते है[2] —

> शिणलो पंढरी राया पाहे कृपा दृष्टी ॥
> थोर जालो हिपुटी तुज वीण ॥
> म्हणोनि चरणीची ठाकोनि साडली।
> आलो मज सांभाळी मायबापा ॥

हे पढरी के स्वामी। मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखिए, मैं अब बहुत थक गया हूँ। तुम्हारे बिना मैं बहुत खिन्न हो गया हूँ। मेरे मन मे अज्ञान था। फलत मैं मारे-मारे भटकता रहा। किन्तु पढरपूर सुख के सामने वह सारा भटकना

---

१. नामदेवाची गाथा अभंग १६ पृ० ५३–५४ चित्रशाळा प्रेस।
२. नामदेवाची गाथा अभग २० पृ० ५४।

वेसार ही सिद्ध होना है। स्वप्न मे भी नसीब न होगा। इसीलिये आपके चरणों मे हे विठ्ठल मे आगया हूँ। हे माता पितावत् प्रभो ! मेरी रक्षा करो।

यात्रा का उद्यापन अर्थात् 'मावदा'[१] नामक भोज होना है। इसमे सारी भक्त मडली सम्मिलित होकर प्रेमा भक्ति का आनद लूटते हैं। पढरिनाथ और रुक्मणी अत्यन्त आत्मीयता से भक्तो की महिमा का रहस्य बतलाकर उन्हें नामदेव कितना प्यारा है इसके विषय मे बतलाते हैं—[२]

> जीवींचे गुज गोपा सांगेन वो तूते। ऐक एकचित्ते मनोधर्मे ॥
> आवडते हे माझे भक्त परम सखे। जे सबाह्य सारिखे सप्रेमठ ॥
> तरी मी भक्ताचा की भक्त ते आमुचे। सोयरे निजाचे एकमेक ॥
> म्हणुनी नामयाचे आर्त थोर जीवा। जवळोनि भव जागदूर कोठे ॥

रुक्मिणी से पढरीनाथ ने अपने हृदय का गुप्त भाव स्पष्ट कर दिया है वे कहते हैं कि मेरे परम भक्त मेरे परम सखा एवम् सुहृद हैं। आभ्यतर रूप से वे मेरे प्रेमी कहलाते हैं। उनके सिवा मुझे कोई अन्य प्रिय नही हैं। उनके लिये मुझे नित्य अनेक नाम रूप अवतार लेने पडते हैं। ज्ञानियों के लिये भी ऐसे भक्तों का सहवास सुखद होता है। भक्त वैराग्य का भूषण है। भक्तों का लक्ष्य मैं ही हूँ और भक्त मेरे लक्ष्य हैं। भक्तो के ही कारण मेरा भाग्य फलता है। मेरा भूमिगत धन भी भक्त ही हैं। भक्तो के कारण मेरा यश, कीर्ति, और सारे सुख मुझे मिल जाते हैं। भक्तों से भेट हो जाने ही मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते है। भक्त मेरा निवास स्थान है मेरा अखड नाम-स्मरण भक्त करते रहते हैं, वे मेरे स्वरूप का ध्यान, चितन तथा मनन आदि करते रहते हैं। सपूर्ण शरीर से मुझे आलिंगन देकर स्पर्श-सुख का अनुभव देते रहते हैं, और लेते रहते हैं। चारों पुरुषार्थ तथा चारों मुक्तियाँ अर्थात सलोकता, समीपता, सरूपता, और सायुज्यता मैं जब उनको प्रदान करने लगता हूँ, तो वे उसको स्वीकार नहीं करते। पत्र, पुष्प फल और तोय चाहे जितनी मात्रा मे क्यो न हो यदि वह सर्व भाव से मुझे अर्पण किया गया हो तो ऐसा भक्त मुझे अत्यधिक प्यारा जान पडता है। भक्त और मेरा नाता सगे सम्बन्धी का

---

१ मावदा—यात्रा के उद्यापन को मराठी में मावदा कहते है। आज भी काशी यात्रा के बाद गगापूजन कर ब्राह्मण भोजन करवाया जाता है। यही प्रथा 'मावदा' कहलाती है।

२ नामदेवाची सार्थ गाथा —प्र. सी सुबध पृ० ३३३२, अभग ४७।

है। नामदेव भी मेरा इसी कोटि का भक्त है। अत उससे एक क्षण भी दूर होने की बात मेरे मन मे कदापि नहीं आ सकती।

'समाधि' प्रकरण—

समाधि प्रकरण मे नामदेव ने अत्यन्त हृदय द्रावक शब्दो मे और करुण रस को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। भवभूति की काव्य प्रतिज्ञा 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' इस समाधि प्रकरण पर घटित की जा सकती है। अपनी आँखो के सामने जो घटनाएँ घटी हैं, उनका यथार्थ वर्णन बड़ी ही हृदय द्रावकता पूर्ण तन्मयता से किया है। तीर्थयात्रा के समय का अपना सहयात्री समाधि लेकर चिरन्तन विछोह मे नामदेव को छोडने वाला है इस बात का उन्हे बड़ा दुःख है। यह वेदना उनके अन्त करण को कुरेदती है। सारे वैष्णव भक्त इकट्ठे हो गये हैं तथा समाधि स्थल की ओर जा रहे हैं। इस प्रसङ्ग के कुछ चुने हुए नामदेव कृत उद्गार देखने लायक है।[1] यथा—

१. नामा होतसे हिंपुटी ज्ञानदेवा कारणे ॥

ज्ञानदेव के द्वारा समाधि लेने का निर्णय सुनकर नामदेव मन और हृदय मे अत्यत उद्विग्न हो गये हैं।

२. नामा होतसे खेदे क्षीण ज्ञानदेवा कारणे ॥

ज्ञानदेव के विरह दु खके कारण नामदेव को खेद हो रहा है फलत वे क्षीणकाय बनने जा रहे हैं।

३. मी होतसे कासा वीस। ज्ञानदेवा कारणे ॥

४ मी होतसे व्याकुळ। ज्ञानदेवा कारणे ॥

'ज्ञानदेव के लिये मैं बेचैन तथा व्याकुल हो गया हूँ।'

५. परि ज्ञान देवा वीण मेदिनी शून्य वाटे ॥

किन्तु ज्ञानदेव के बिना मुझे यह सारी धरती शून्य सी नजर आ रही है।

६. मजलागुनी। जैसे मत्स्य जीवने वीण ॥

ज्ञानदेव का विछोह मेरे लिए जल बिना मछली की तड़पन उत्पन्न कर देगा।

७. नामदेवें क्षीण। भाला जीवें ॥

खेद तथा शोक से दग्ध नामदेव का जी आकुल हो उठा है। नामदेव भी शोकाच्छन्न से हो। ज्ञानदेव के समाधि निर्णय को सुनकर दुःख से विह्वल होकर जो करुणाद्र अभग उनके मुख मे निसृत हुए उनमे की गई कल्पनाएँ उचित और

---

१ नामदेवाची गाथा अभग १६-२०, पृ० ७६।

हुए हैं। शोकाकुल नामदेव विठ्ठल चरण में रत हैं। भोजन के लिए सब एकत्र आते हैं। समाधि प्रसंग में वे अपना शोक न सम्हाल सके[1]—

तव म्हणे रुक्मिणी। नामा आणा बुझाउनी।
आपुलेनि हातें चक्रपाणी। त्यासी ग्रास घालावे॥
ऐसें सांगता हरीसी। बुझाविती नामयासी।
तो स्फुंदत उकसा बुकसी। मग चहूँकरीं उचलिला॥
सर्वे सताचा मेळा। तयामाजी परब्रह्म पुतळा॥
नामा बुझावोनि तत्काळा। देहावरी आणिला॥

तब रुक्मिणी विठ्ठल से कहती है, कि नामदेव को समझा बुझाकर ले आइये। सब लोग भोजनार्थ आये हैं, पर नामदेव शोक मग्न हैं उनको आप अपने हाथों से कौर देकर खिलाइये। जब रुक्मिणी ने पांडुरंग को समझाया तब वे नामदेव को समझाते हैं। उन्होंने नामदेव को सिसकियाँ भर कर रोते हुए देखा तब विठ्ठल ने उनको स्वयम् अपनी चार भुजाओं से उठा लिया। साथ में सन्तों का मेला था और उनमें साक्षात् परब्रह्म विठ्ठल उपस्थित थे। नामदेव को समझा-बुझाकर उनकी चित्तवृत्ति स्थिर कर दी। अलकापुरी के समाधि प्रसंग के बाद पूर्व नियोजित तथा भगवान् श्री विठ्ठल की प्रेरणानुसार सोपानदेव ने सासवड में समाधि ले ली। इस प्रसंग पर नामदेवोक्ति इस प्रकार है[2]—

निवृत्ति म्हणे उर्मी तुटल्या शृङ्खला। मार्ग हा मोकळा आम्हा झाला॥
पाडुरंगे पाश आवरिला आपला। म्हणोनि फुटला मार्ग मार्ग आम्हा॥
आवरिली माया पुरातन आपुली। म्हणोनि आम्हा झाली बुद्धि ऐसी॥
नामदेवें मस्तक ठेवियेले पायीं। आतां खेद काही करु नका॥

निवृत्ति कहने लगे कि भावों की उर्मियाँ और उनकी शृङ्खलाएँ टूट गयी। अब हमारे लिये उस पार जाने का मार्ग मुक्त हो गया। तात्पर्य यह है कि ज्ञानदेव ने समाधि ले ली। अब सोपान देव ले रहे हैं। अतः नाते रिश्ते धीरे-धीरे टूटते जा रहे हैं। यह अच्छा ही हुआ कि पांडुरंग ने अपना पाश खींच लिया। अब हमें अपना पथ प्रशस्त हो गया। अपनी पुरातन माया को खींचकर हमें इस प्रकार विचार करने के लिये प्रेरित किया। निवृत्तिनाथ के ऐसे शोकग्रस्त उद्गारों को सुनकर नामदेव उनके चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे अब किसी भी प्रकार से खेद प्रदर्शित मत करो।

---

१. सार्थ नामदेवाची गाथा अभंग ३२ (५-७) पृ० ११२।
२ नामदेवाची सार्थ गाथा अभंग १५२, पृ० २४०।

ज्ञानदेव परिवार मूल्यावन—

> तिन्ही देव ऐसे परब्रह्मी पे ठसे। जसो सूर्य तैसे प्रकाशले ॥
> सोहं मुद्रताच्या गाठी। केली से मराठी गीता देवी ॥
> अध्यात्म विद्येचे वाविसे से रूप। चैतन्याचा दीप उजळिला ॥
> नामा म्हणे ग्रन्थ श्रेष्ठ ज्ञानदेवी। एक तरी ओवी अनुभवावी ॥[1]

निवृत्ति ज्ञानदेव तथा सोपान ये तीनो भाई मानो परब्रह्म के त्रिदेवों के रूपों की प्रत्यक्ष छाप थे। ये ससार में सूर्य की तरह अपने उज्ज्वल चरित्र से प्रकाशित हो उठे। 'सो हम्' के गुप्त मंत्र रहस्य की गठानें खोलकर उसका उद्घाटन मराठी गीता टीका 'भावार्थ दीपिका' मे उन्होंने कर दिया। चैतन्य का दीप प्रज्वलित कर अध्यात्म विद्या के स्वरूप को समझाया। नामदेव कहते हैं, ज्ञानेश्वरी एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है उसकी एक भी ओवी का यदि कोई अनुभव कर ले तो यह कार्य उसके लिए एक सत्कार्य होगा।

नामदेव की अलङ्कार योजना—

हम कह सकते हैं कि रूपकों की तरह दृष्टान्त योजना मे भी नामदेव के अभङ्गो मे भावना की अपेक्षा कल्पना का मेल अधिक रहता है। कृष्ण ने ग्वालिनों को सूत्र सुझाया। नामदेव ने कल्पना की कि विभिन्न भाषायें बोलने वाली ग्वालिनों के साथ कृष्ण ने छेड़-छाड़ की। यह प्रसङ्ग भागवत के दशम् स्कंध के अध्याय ८ श्लोक ३७ का है। पर नामदेव ने उसे अपनी दृष्टि से देखकर मौलिक रूप में प्रस्तुत कर दिया है—

भिन्न भाषा-भाषी ग्वालिनें—

> गोळणी ठकविल्या। गोळणी ठकविल्या एक एक सगतीने।
> मराठी कानडिया। एक मुसलमानी। कोंकणी गुर्जरिणी।
> साडोबा गोविंदा। साडोबा गोविंदा। निरवाणी आज।
> आइ चाल्लो पडचाल्लो। क्षीर फोड्यान फोडो।
> मारी कन्हैया। पानी खेळ्यान खेळो ॥ देखरे कन्हैया।
> देखरे कन्हैया। इज्यत की बडी। कदम पकडूंगी।
> भैया क्टो छुडी। मेरी चुनरी दे। मेरी ले दुल्लडी।
> देवकी नंदना देवकी नंदना। तू एक थोपली उगडी हिंवाची।
> तुज विनवू किती। पाया पडते वा मी येते काकुळती।
> मांभी साडी दे। घे नाकाचे ॥ मोती पावगा दालाला।

---

1. नामदेव कृत अभग नामदेवाची गाथा।

पाणो दातासा । तू नहावा भिनो । माका फडको दो ।
मो हिवान मेलों । घे मभे कोयता । देवा पाया पडलो ।
ज्योरे माधवजी । ज्योरे माधवजी । मे शरण थई । तनका कंपी ।
बाप दयाळू तू ही । मारी साडी अपो । हातणोले ककणी ॥[1]

कृष्ण ने इन ग्वालिनो को बहुत छकाया । यमुना स्नानार्थ एक-एक करके कन्नड, मराठी, मुसलमानी अर्थात् यावनी, कोंकणी, गुजराती भाषा भाषी ग्वालिनें वहाँ आ गई थीं । वे सब की सब अत्यन्त सुन्दर थी । उन्होने यमुना के तीर पर अपने सारे वस्त्र उतार कर रख दिये और नग्न स्नान करने लगी । इतने मे ही कृष्ण ने तीर पर रखे वस्त्र उठा लिए और उनको कदम्ब वृक्ष पर रख दिया । इधर जब ग्वालिनें स्नान कर बाहर निकली तो वस्त्र गायब देखे । तब उनमे से प्रथम एक कन्नड ग्वालिन कृष्ण से प्रार्थना पूर्वक कहने लगी, 'हे मेरे प्रिय गोविन्द, प्रेमी गोविन्द मैं आज निरावरण हो गयी हूँ इसलिए इस पानी मे नही ठहर सकती। मेरे कपडे इधर या उस पार फेंक दो । 'दूसरी ग्वालिन जो मुसलमानिन थी उसने कहा, 'हे कान्हा ! मैं बडी आबरू वाली हूँ अत तुम्हारे पैरो पडती हूँ । हाथ जोडती हूँ । मेरे गले की दुल्लरी[2] तुम्हें प्रदान कर देती हूँ । कृपया मेरी चुनरी मुझे दे दो ।' तीसरी मराठी भाषी ग्वालिन बोली 'मैं विवस्त्रा हूँ । इस जाडे मे मुझे कँप-कँपी छूट रही है । तुझे कितनी विनती करूँ । अरे कृष्ण मेरे नाक का मोती ले लो, पर मेरी साडी मुझे दे दो । कोंकणी ग्वालिन कहती है, 'अरे नन्द-किशोर कृष्ण ! तू नन्द का बेटा है । मैं जाडे मे काँप रही हूँ और मर रही हूँ । मेरा यह हार ले लो पर मेरी साडी मुझे दे दो । मैं तुम्हारे पैरो पडती हूँ । गुजराती ग्वालिन कहने लगी, 'हे माधव मैं तुम्हारी शरण मे आई हूँ । जाडे की शीत मे ठिठुर रही हूँ । तुम दयालु हो मेरी साडी मुझे दे दो बदले मे मेरा कगन ले लो । ये सब बातें सुनकर भगवान् कृष्ण हँसने लगे और कहने लगे कि सूर्य भगवान् को हाथ जोडकर नमस्कार करो । नामदेव कहते हैं कि हे गोपाल तुम्हारी लीला अगाध और अपरपार है ।

नामदेव अपने काव्य को लिखने का सकल्प करते हैं । उनको वाल्मिकी से प्रेरणा मिली थी । वे कहते हैं[3]—

नामदेव का काव्य सकल्प—

चद्र भागे तीरी आम्ह किल्पा गोष्टी । वालिमके शत कोटी ग्रन्थ केला ।
शतकोटी तुझे करीन अभङ्ग । म्हणे पाडुरग ऐक नाम्या ॥

---

१ नाम देवाची गाथा-अभग ५३, पृ० १५० (चित्रशाला प्रेस) ।
२ एक महाराष्ट्रीय आभूषण विशेष जो कि स्त्रियाँ गले में पहनती हैं ।
३. नामदेवाची सार्थ गाथा (नामदेव आत्म चरित्र) अभग २३६, पृ० २३० ।

तयें वेळीं होती आयुष्याची वृद्धि । आताचि अवघी थोडी असे ।
नामा म्हणे जरी न होता संपूर्ण । जिव्हा उतरोन तुज पुढे ॥

चंद्रभागा के तीर पर मैंने ये बातें सुनी कि वाल्मिकी ने शत कोटी ग्रन्थ रचे। इसे सुन कर मेरे चित्त को बहुत क्लेश हुए। मैंने अपनी आयु व्यर्थ ही व्यतीत की। भगवान् के मन्दिर में जाकर वे प्रार्थना करने लगे कि जैसे वाल्मिकी ने रामायण रचा वैसे ही मैं भी यदि आपका सच्चा भक्त हूँ, तो शत कोटी अभंग आपके गुणगान में रचूंगा। मेरा यह सङ्कल्प सिद्ध करो। नामदेव से भगवान् ने कहा कि नामदेव! उस युग में आयु मर्यादा अधिक थी इसलिए वह सम्भव हो सका। अब आयु मर्यादा कम है, अतः तुम ऐसा हठ मत करो। पर नामदेव ने एक न सुनी, और पुन: विठोबा से प्रार्थना की यदि मेरा कार्य सपन्न न हुआ तो मैं अपनी जिव्हा काट कर तुम्हारे सामने धर दूंगा।

अपनी मनोवृत्ति में, अन्तःकरण में, एवम् आभ्यन्तर रूप से भगवान् अखण्ड और सदा उनके साथ हैं यह उनका विश्वास था तथा उसका वे अनुभव भी करते थे। उन्होंने भगवान् की प्रार्थना कर कहा कि तुम मुझे अपने अन्तःकरण में छिपा लो तथा सदा मेरे साथ रहो जिससे काम क्रोधादि रिपु नष्ट हो जाँय। इस तरह उनके काव्य-साहित्य में विशुद्ध काव्यात्मकता उनके आत्म निवेदन परक तथा प्रेम कलह आदि अभङ्गों में प्रतीत होती है।

नामदेव की आत्म स्थिति—

कलियुगी जन मूर्ख शून्य वृत्ति। तारिसी श्रीपति नाम घेता ॥
परम पावना पवित्रा निर्मळा। भक्ताचा समाळ करी देवा ॥
देवा तू दयाळ जिवलग मूर्ति। पुराणे गर्जती वेद शास्त्रें ॥
नामा म्हणे आता नको भागा भाग। सखा पांडुरङ्ग स्वामि माझा ॥[१]

हे श्रीपति! इस कलियुग में जनता मूर्ख और शून्य वृत्ति की होने पर भी आप केवल नामोच्चार से उनका उद्धार किया करते हैं। हे पून और पवित्र बनाने वाले भगवान् आप इस भक्त को सम्हालिए। आप दयालु तथा प्रेम की मूर्ति हैं ऐसा जोरशोर से पुराण और वेदशास्त्र बखानते हैं। पांडुरङ्ग मेरे प्रियतम सखा हैं, अत निश्चित रूप से वे मुझ पर कृपा करेंगे, अत मुझे चिन्ता करने का क्या प्रयोजन है?

ऐसी आत्मस्थिति में सुख और दुःख में समत्व स्थिति प्राप्त हो जाती है।

---

१ नामदेवाची सार्थगाथा (नामदेव आत्म चरित्र) अभङ्ग २३६, पृ० २३०
अभङ्ग २४५, पृ० २३८।

नामदेव की यह समत्व दशा द्रष्टव्य है[१]—

> निद्रिस्ता चे सेजे सर्प का उर्वशी। पाहो विषयासी तैसे आम्ही ॥
> ऐसी कृपा केली माझ्या के शिराजे। प्रतीतीचे भोज एक सरा ॥
> सोष आणि सोनें भासते समान। रत्न का पाषाण एक रूप ॥
> पाया लागो स्वर्ग वर्ष पडो आग। आत्मस्थिति भंग नोहे नोहे ॥
> नामा म्हणे कोणी निंदा आणि वंदा। भालो ब्रह्मानंदाकार आम्ही ॥

श्री पान्डुरङ्ग की कृपा से नामदेव को साम्य रूपात्मक आत्मस्थिति उत्पन्न हो गयी। निद्रिस्य मनुष्य के पास उर्वशी या सर्प सो जाय, तो जैसे उसे उसका कोई ज्ञान नहीं होता, और न कोई संवेदना निर्माण होती है। नामदेव की दशा ऐसी हो गई है। उच्च कोटि की भावानुभूति प्राप्त हो जाने से नामदेव की वृत्ति तदाकार बन गई है।

नामदेव का सङ्कल्प और निश्चय—

इस अभङ्ग में यह निश्चय देखिए—[२]

> कैसा पाडुरगा करावा विचार। सांग बा निर्धार साक्ष रूपा ॥
> काय आले देवा कैसे थोरपण। आकारासी कोणी आणियेले ॥
> आणियेले आता आपणासारिखे। गोपिकासी रूपे दावी नाना ॥
> काया जीवे भावे सकळा समन। सगुण अनत म्हणे नामा ॥

हे पाडुरग! आपकी प्राप्ति मुझे हो जाय, इसलिये मैं किस तरह विचार करूँ, इसे आप ही साक्षी रूप होकर बताइये। आप किस प्रकार बड़े एवम् सर्व-व्यापी बने तथा आपके निराकार होने पर भी साकारत्व आपको किसने प्रदान किया? साकार हो जाने से ही आपने गोपियों को अनेक रूपों में दर्शन दिये हैं। अनन्त विश्व को भी आपका सगुण स्वरूप ही काया-वाचा-मनसा मान्य है। नामदेव का भी यही मत है।

नामदेव ने गौळण, विराणी (विरहन) आदि काव्य प्रकार भी लिखे हैं। नामदेव की एक गौळण (ग्वालिन) देखिये—

नामदेव की प्रसिद्ध गौळण (ग्वालिन) एक साहित्य प्रकार—[३]

> परब्रह्म निष्काम तो हा गोळिया धरीं। वाक्या वाळे मृदु कृष्ण नवनीत चोरी। नामा म्हणे केशवा अहो जो तुम्ही दातारा। जन्मो जन्मी द्यावी तुमची चरण सेवा ॥[३]

---

१. नामदेवाची सार्थगाथा—अभंग २४८, पृ २४०।
२ नामदेवाची गाथा—अभंग २३७ पृ० ३१६ चित्रशाला प्रेस।
३ नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग ३१, पृ० २०।

निष्काम परब्रह्म अपने पैरों मे पैजनिया, बिदनियाँ पहनकर बालकृष्ण बनकर ग्वालों के घर जाकर चोरी करता फिरता है। ग्वालिनें कहती हैं, हरि के चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। राज मन्दिर मे रेंगते हुए कन्हैया आता है, तथा राज भुवन मे लुक छिपकर प्रवेश करता है। नद बाबा अनुपस्थित हैं, यह देखकर स्वयम् सिंहासन पर बैठता है। आज अच्छा हो गया जो देवालय मे ही यह मिल गया। इस चोर को रस्सी से बाँधकर रखना चाहिए। शख, चक्र, गदा पद्म धारण करने वाला शारंगपाणी तो देवगृह में पूजा जाता है, पर आज तो यह पकडा गया है। इस परमात्मा को बहुत परिश्रम से तथा पुण्याई से प्राप्त किया जाता है। हे भगवान्! आपकी लीला अगाध है, और अनन्त है, आपकी माया अगम्य है। नामदेव कहते हैं, हे दयाघन! आपकी चरण-पकज-सेवा हर जन्म मे होती रहे यही मेरी मनोकामना है।

यह मानव जीवन अनमोल है। अत यह दुख मय होने पर भी इसे आनद मे व्यतीत करना चाहिए, ऐसा नामदेव मानते हैं तथा उनकी प्रतिज्ञा भी यही है। वे अन्त करणपूर्वक इसी प्रकार का जीवन व्यतीत किया जाय यही चाहते हैं।

नामदेव का दृष्टिकोण—

> अवघा ससार करीन सुखाचा। जरी झाला दु.खाचा दुर्गम हा।
> नामा म्हणे सर्व सुखाचा सोइरा। मज न विसबे दातारा क्षण भरी।

सारे जीवन भर दैनदिन व्यवहार आदि कर्तव्य-कर्म सुखपूर्वक करता रहूँगा। चाहे मुझे वह कितना भी दुर्गम क्यो न लगे। मैं विठोबा का नाम स्मरण करता रहूँगा, और मनोभाव से उसे गाता रहूँगा। उसका फल यह होगा, कि मेरा चित्त स्थिर हो जावेगा। मेरी इन्द्रियों को भगवान् के सान्निध्य मे सुख होगा। सुन्दर चचल विठ्ठल का साँवला रूप देखकर तथा कर्ण कुडल धारण किये हुए मुख को निरखकर नेत्र तृप्त हो जाते हैं। सन्तों के कीर्तन मे नाचने मे मेरे त्रिविध ताप नष्ट हो जायँगे। सर्व सुखों के इस सहकारी को भला नामदेव कैसे भूल सकते हैं?

नामदेव के लिए पाडुरग ही उनका सर्वस्व है। इसीलिए वे इतने तन्मय होकर अपनी काव्य रचना करते हैं। ऐसी रचनाओं मे भक्ति और काव्य का अद्भुत सगम हो गया है। इस काव्य की मिठास भी दिव्य है।

भक्ति और काव्य का मणिकांचन योग—

नामदेव के लिए विठोबा ही सब कुछ है[२]—

> तू माझी माऊली। मी वो तुझ तान्हा। पाजी प्रेम पान्हा पांडुरगे॥
> नामा म्हणे होसी भक्तिचा वल्लभ। मागे पुढे उभा सांभाळसी॥

---

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग २७१, पृ० २५५।
२ श्री नामदेवाची सार्थ गाथा—अभग २७६, पृ० २६०।

हे ! पांडुरङ्ग तुम मेरी माता हो। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ अत प्रेम का पयपान कराओ। तुम मेरी जननी हो, और मैं तुम्हारा बछड़ा हूँ। अत कृपा का दुध न चुराओ। मैं शावक हूँ, और तुम हिरनी हो। मेरे भव-बंध को छुड़ाइये। मैं अण्डज हूँ, और तुम पक्षिणी हो, अत दया का तृण मेरे सामने डालिए। नामदेव कहते हैं कि तुम भक्ति करने वाले के प्रियतम बन जाते हो तथा आगे और पीछे रह कर उसकी सुरक्षा करते रहते हो।

भक्त और भगवान् के बीच मे प्रेम-कलह भी होता है। इसका कारण नैकट्य, ऋजुता, स्पष्टता और आर्त हृदय की सच्ची आत्म निवेदन परक प्राजलता ही है। नामदेव के काव्य मे ये स्थितियाँ उत्कृष्टता से प्रकट हैं।

भक्त और भगवान् मे प्रेम-संघर्ष की भाव स्थिति—

इसकी एक बानगी देखिए—[1]

> तुझा माझा देवा कारे वैराकार। दु खाचे डोंगर दाखविसी॥
> बळे बाँधोनिया देसी काळा हाती। ऐसे काय चित्ती आले तुझ्या॥
> आम्ही देवा तुझी केली होती आशा। बरवे हृषिकेशा कळो आले॥
> नामा म्हणे देवा करा माझी कींव। नाहीं तरी जीव घ्यावा माझा।

हे भगवन् ! मेरे सामने दु खो के पर्वत निर्माण करने की क्या जरूरत थी ? मैंने तो अपना सारा विश्वास सपूर्णतया तुम्हें सौंप दिया था। पर तुमने बरबस काल के हाथ मे मुझे सौंप देने का निर्णय क्यों ले लिया ? प्रेम-संघर्ष में नामदेव पाडुरग से जवाब तलब करते हैं। मैंने एकमात्र तुम्हारा भरोसा किया था। पर हे हृषिकेश ! तुमने मेरे विश्वास का क्या ही अच्छा फल दिया। अब ऐसी प्रार्थना है कि या तो मुझ पर कृपा करो या मेरे प्राण ले लो।

नामदेव ने भक्त के नाते भगवान् से इस प्रेम भाव मे अनेक बार अनेक तरह से झगड़ा किया है। उन्हें यही चिन्ता है, कि वे अपना प्रेम कैसे व्यक्त करें ? हृदय मे प्रेम और भक्ति भरी हुई है, पर नेत्रों को वैसा अनुभव नहीं मिलता अत दु ख है तब क्या किया जाय ?

नामदेव की चिन्ता (आत्मनिष्ठ शैली मे)

> मनीं जे जे देखे परि दृष्टि नेणे। प्रेमाची ते खूण सांगावया॥
> काय करू माय बापा विठ्ठला। मज का अबोला धरिलासी॥

---

1 श्री नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग ३८९, पृ० ३२५।

मानसी बैसले प्रत्यक्ष पाहाणें । तुझे नाम गाणें तरी साच ॥
नामा म्हणे किती सागावें गा तुज । केशवा हें गुज पुरवी माझें ॥[1]

प्रेम का मर्म वर्णन करने के लिए, मैं किस साधन को अपनाऊँ ? मेरे मन में जो आता है, उसका मैं चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। हे विठ्ठल ! हे सर्वेश ! मैं क्या करूँ। मेरे साथ इस तरह मौन क्यों धारण कर लिया ? तुम मेरे मन में रहो और मैं तुम्हें प्रत्यक्ष देख सकूँ, तथा तुम्हारा गुणगान कर सकूँ तो मेरी भक्ति सत्य है, ऐसा सिद्ध होगा। नामदेव कहते हैं कि हे केशव ! और कितनी बार मैं तुमसे याचना करता रहा हूँ। मेरे अन्तःकरण की यह गुप्त बात पूरी करो।

आत्मनिष्ठ भावपूर्ण काव्य की दृष्टि से विचार करने पर नामदेव की काव्य मर्मज्ञता का पता चल जाता है। नामदेव ने सङ्कीर्तन कर वीणापर अपने रचे अभङ्गों में नाम-स्मरण और भगवद्-भक्ति का गायन किया जो भावोन्मेष और तन्मयता के गुणों से शत प्रतिशत परिपूर्ण है।

नामदेव की आर्तता—

नामदेव की आर्तता से पुकारी गई यह आत्मनिष्ठ अभ्यर्थना काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सरस बन गई है। यथा[2]—

माझ्या बोबडिया बोला । चित्त धावें बा विठ्ठला ॥
धारा जाय भलत्या ठाया । तैसी माझी राग-छाया ॥
गाता देईल तेणेंचि गावें । येरी हरी हरी म्हणावें ॥
तान मान नेणें देवा । नामा विनविती केशवा ॥

नामदेव अत्यन्त विनम्रता पूर्वक पुनः पुनः अभ्यर्थना करते हैं, कि मेरे तुतलाहट भरे वचनों पर हे विठ्ठल ! आप ध्यान दीजिए। जिस प्रकार अनियन्त्रित गति से वायु बहती रहती है, तद्वत् मेरे द्वारा किये गये आपके गुणगान की स्थिति है। सङ्गीतज्ञ और रागों आदि में निपुण व्यक्तियों को ही गीत गाने चाहिए तथा अन्य लोग केवल हरिनाम का जप और स्मरण करें। नामदेव का अभिप्राय यह है, कि वे सङ्गीत कला में अनभिज्ञ हैं। किन्तु फिर भी वे अपनी ओर से गाने की कोशिश करते हैं।

नामदेव की कविता में गीति-काव्य की गेयता है भावों की तीव्रता और गहराई के अतिरिक्त आत्मीयता तथा भक्ति की आर्द्रता के साथ नाद माधुरी भी विद्यमान है। मराठी और हिन्दी की रचनाओं में नामदेव के काव्य गुण एक से ही

१. नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग ४३८, पृ० ३५३।
२ नामदेवाची सार्थ गाथा–अभंग ४३९, पृ० ३५४।

प्रकट हुए हैं। हृदय की प्राजलता, भाव गभीरता विरह की बेचैनी आदि अनेक विशेषताएँ उनके साहित्य मे विद्यमान हैं। भाषा भी अस्पष्ट या जटिल नही है। काव्य की भाषा सरस स्पष्ट और सहजोद्गारो से प्रेरित एवम् उत्स्फूर्त प्रतीत होती है।

एकनाथ की कृतियो का साहित्यिक पक्ष—

एकनाथ ने सगुणोपासना के द्वारा अपनी प्रतिभा का उन्मेष सर्वत्र विशेष रूप से प्रस्थापित कर दिया था। इसका पता हमे उनके खण्ड काव्य, 'रुक्मिणी स्वयंवर', 'भावार्थ रामायण' जैसे महाकाव्य तथा अभङ्गो की गाथा के स्फुट काव्यो मे लग जाता है। एकनाथी भागवत मे एकनाथ की आध्यात्मिकता का पूरा और विस्तृत परिचय हमे उपलब्ध हो जाता है। इसस व्यापक शास्त्रीय ज्ञान और प्रतिभा का उनके साहित्यिक पक्ष मे हमको पता चल जाता है। अपने सगुण उपास्य श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया जाय, और उसे काव्य विषय बनाया जाय ऐसी इच्छा एकनाथ के अन्त करण मे प्रदीप्त होगई थी। वनारस मे जब वे एकनाथी भागवत' रच रहे थे, तभी अपनी इस आन्तरिक इच्छा को साकार काव्यरूप देने का सुअवसर उन्होने प्राप्त कर लिया।

रुक्मिणी स्वयम्वर की प्रेरणा स्रोत—

शक १४९३ के प्रजापति सवत्सर की शुद्ध नवमी के दिन 'रुक्मिणी स्वयंवर' यह खण्डकाव्य एकनाथ ने रचा। इस रचना को पढ कर हमे उनकी अपने उपास्य के गुणो का वर्णन करने की इच्छा की परितृप्ति हो गयी, ऐसा निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है। एक जनश्रुति के अनुसार यह बात प्रसिद्ध है कि उनके घर मे श्रीखड्या नामक एक ब्राह्मण बालक उनकी सेवा मे तत्पर रहता था। यह बालक श्रीकृष्ण भगवान् के अतिरिक्त और कोई न था। लोगो का यह विश्वास था, कि उस बालक के रूप मे अपने भक्त एकनाथ के यहाँ पर भगवान् स्वयम् उनका बहुतसा कार्य कर दिया करते थे। लोगो का यह विश्वास एक श्लोक के आधार पर प्रचलित एवम् सत्य जान पडता है। वह श्लोक इस प्रकार है[1]—

> श्री एकनाथ सदनीं माधवजी सर्व काम हे करितो।
> स्वकरे चदन घासी गगेचे पाणी कावडीं भरितो।

'श्री एकनाथ के गृह मे स्वयम् माधव अपने हाथो से चन्दन घिसते हैं, और गगा से अर्थात गोदावरी का जल कावर मे भरते हैं, और अन्य सारे कार्य करते हैं।' द्वारिका स्थित तपस्या करने वाले एक ब्राह्मण को दृष्टान्त हुआ कि तुम प्रतिष्ठान जाकर नाथ के यहाँ कार्य करने वाले श्रीखड्या से मिलो तो तुम्हे

१. मराठी का एक प्रसिद्ध श्लोक . श्री बा पराडकर कृत।

श्रीकृष्ण दर्शन होगा। वहाँ जाने पर उस ब्राह्मण को श्रीमूर्ति के स्थान पर चतुर्भुज विष्णु का दर्शन हुआ। एकनाथ श्रीमद्भा का विवाह करना चाहते थे। पर अब भगवान् ने अन्तर्धान होने के पूर्व एकनाथ के इस दुःख को समझ कर उनसे कहा कि, 'तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए। मेरा और रुक्मिणी का विवाह तो पूर्व ही हो चुका है। अब इस विषय पर तुम ग्रन्थ रचना करो।' यह जनश्रुति सच है या झूठ इस झगड़े में न पड़कर यदि मार्मिकता से विचार किया जाय, तो तथ्य यह समझ में आ जाता है कि उस समय की प्रचलित विवाह समारोह पद्धति के प्रति एकनाथ के अन्तःकरण में एक विशेष मधुर भावना जागृत थी-जिसे उन्होंने रुक्मिणी-स्वयंवर में अभिव्यक्त किया है। इसका एक अन्य कारण भी है। उनके गुरु ने अपने इस परम लाडले और पावनतम शिष्य का विवाह बड़ी धूमधाम से किया था। उस विवाह के प्रसंग की मधुर स्मृति को अमर करने के हेतु तथा अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण के रुक्मिणी-हरण के प्रसङ्ग को निमित्त बना कर उसे चिरस्मरणीय कर दिया है। विवाह समारोह में होने वाले विविध सांस्कृतिक प्रसङ्गों के वर्णन में उनका यह मधुर तादात्म्य सुस्पष्ट हो उठा है। इसवत पवित्र भोजन अनेक प्रकार के पकवान, आभूषणों की भरमार, मान पमान के प्रसङ्ग आदि के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ यथा तथ्य रूप में किये गये वर्णन आदि आते हैं।

'रुक्मिणी स्वयंवर' के बारे में नाथोक्तियों से ही इनका परिशीलन करने का प्रयत्न किया जायगा। यथा[1]—

> रुक्मिणी हरण वार्ता ॥ जुनाट होय सर्वथा ॥
> परी पाणिग्रहण व्यवस्था। सोच नवी कथा कवित्वाची ॥६२॥
> मूल सांडून सर्वथा। नाहीं वाढविले ग्रथा। पाहतां मुळींच्या पदार्था॥
> अर्थ कथा चालिली ॥६६॥
> नाहीं ग्रथारम्भ सङ्कल्प ॥ नव्हता श्रोतयाचा आक्षेप ॥
> ग्रन्थी उजळला कृष्ण-दीप सुख रूप हरि कथा ॥७०॥

वास्तव में रुक्मिणी-हरण की कथा वैसे तो बहुत पुरानी ही थी। किन्तु पाणिग्रहण कैसे हुआ? उसकी क्या व्यवस्था की गयी आदि बातें कवित्व के लिए नये प्रकार का आधार बन गयी। उससे मूलस्वरूप को छोड़कर ग्रन्थ विस्तार नहीं किया गया है। मूल आधार को ही प्रमुख मानकर अर्थ पूर्ण यह कथा चली है। मेरा ग्रथारम्भ करने का कोई सङ्कल्प न था, और न श्रोताओं का आग्रह

1. एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, पृ० २५४ ओवी सख्या ६२, ६८–७० पृ० १८।

थी। तथा उसकी कोई आशा भी न थी। किन्तु इस ग्रन्थ में कृष्ण का दीपक हरि कथा के बहाने स्वयम् अपने आप ही प्रकाशित हो गया है।

यह ग्रन्थ वाराणसी में कब लिखा गया था। इसे स्वयम् नाथ महाराज के शब्दों में ही सुनना उपयुक्त होगा।[1]

> वाराणसी महापुरी ॥ मनिकर्णिकेच्या तीरीं।
> रामजयन्ती माभारी ॥ ग्रन्थ निर्धारी सम्पविला ॥८४॥
> शके चवदाशेत्र्याण्णव ॥ प्रजापती संवत्सराचें नाव ॥
> चैत्र मासाचें वैभव ॥ पर्व अभिनव रामनवमी ॥८५॥
> ते दिवशी सार्थक अर्थी ॥ रुक्मिणी स्वयंवर समाप्ती ॥
> एका जनार्दन कृपास्थिति ॥ ग्रंथ वाराणसी संपविला ॥

मोक्षदा-पुरी-वाराणसी में मनिकर्णिका के तीर पर शक १४९३ में प्रजापति सवत्सर चैत्र शुद्ध रामनवमी के दिन अपने गुरु श्री जनार्दन की कृपा से यह ग्रन्थ लिखकर प्रकट हुआ। एकनाथ की यह रचना अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस कथानक पर अनेक मराठी कवियों ने लिखा है, पर श्री एकनाथ जी के इस ग्रन्थ की विशेषता कुछ और ही प्रकार की है। इसमें अनेक प्रकार के विविध रसों की अभिव्यजना है, तथा साथ-साथ सगुण हरिभजन को भी वे नहीं भूले हैं। यथा[2]—

सगुण भजन महिमा—

> व्रत तप यज्ञ दान। त्याहून अधिक हरीचें भजन।
> निमिषा माजी समाधान। अमना होऊनि ठाके ॥

हरि का भजन, व्रत, तप, यज्ञ तथा दान से भी बढ़ कर है क्योंकि उसमें एक ही निमिष में समाधान प्राप्त हो जाता है। मन से जो इसमें लीन नहीं हो पाते हरि भजन में लग जाते हैं, अर्थात हरि के गुणानुवाद में लग जाते हैं। ऐसा हरि भजन का प्रताप है। इस खण्ड काव्य में रुक्मिणी ने कृष्ण को जो प्रेम-पत्र भेजा है उसकी भावव्यजना बानगी के तौर पर यहाँ देखी जा सकती है।[3]—

रुक्मिणी का प्रेम-पत्र—

> पत्रिका लिहिले चवथे भक्ती। वाचिताचि सक्त पती ॥
> सहज स्थिति धाविन्नला ॥३॥

यह प्रेम पत्रिका सत्य भक्ति से प्रेरित होकर लिखी गई है। जिसे प्राप्त कर श्रीकृष्ण सहज ही उसके रक्षणार्थ दौड पड़े। इस प्रणय-पत्रिका में आगे चलकर

---

१ एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, पृ० २५७, ओवी सख्या ८४–८६।१८।
२ ,, ,, पृ० ३४, प्रसग ४ ओवी सख्या २२।
३ एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, प्रसङ्ग ४, ओवी ३, पृ० ३१।

यहाँ अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि जो अपने धार्मिक नित्य कर्म में जुटकर उसमें रत रहता है, वही योग्य समय भगवान् में लीन हो सकता है। यों भगवान् में हृदयरत होना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी अभिप्राय से वह आगे चलकर कहती है–

ऐके त्रैलोक्य सुन्दरा सकळ। सौंदर्य वैरागरा॥ तुझेनि सौंदर्य सुरा॥
सुन्दरत्व कैंचो वर्णू॥
तरीच साधेल हे लग्न॥ सरों म्यां केले असेल भगवद् भजन॥
ब्रह्म भावे ब्राह्मण पूजन॥ देवार्चन हरीचे॥१८॥[1]

हे त्रैलोक्य सुन्दर! सकल सौन्दर्य के अधिष्ठाता तुम्हारे सौन्दर्य का मैं क्या वर्णन करूँ? क्या ऐसी भी कोई स्त्री हो सकती है, जो विवाह-योग्य मर्यादा एवं आयु प्राप्त हो जाने पर तुम्हें पति के रूप में प्राप्त करने की वाञ्छा न रखती हो। हे मन मोहन श्रीकृष्ण! यदि तुम कहोगे कि सावले वर्ण के श्रीकृष्ण को वर रूप में क्यों बुला रही हो। तो उसे भी सुनलो। शिशुपाल के साथ विवाह की कल्पना भी मुझे यम से भयानक जान पड़ती है, इसलिए मुझे इस सङ्कट से आकर उबार लो यही मेरी आपसे प्रार्थना है। मेरा उद्धार आप इस अवसर पर उपस्थित रहकर कर सकते हैं। यदि मैंने ईश्वर भजन-पूजन अर्चन आदि किया हो, ब्रह्मभाव से ब्राह्मण की पूजा की हो, तो मेरा श्रीकृष्ण से विवाह निश्चित रूप से सपन्न होगा।

अत एव इस पत्रिका के मिलते ही तुरन्त आ जाओ। क्योंकि[2]—

पत्रिका पाहावो सावधान। विलंब न करावा व्यवधान।
प्रात काळी आहे लग्न। ऐशिया समयीं पावावें॥२६॥ एकला
येऊनि घालिशी उडी॥ तेव्हां मज म्हणशील कुडी॥
बुद्धि घडू कुडी। ऐकावी॥

इस कार्य में जरासी देरी भी अनुचित और घातक सिद्ध हो सकती है। इस लिए इस पत्रिका को पढ़कर शीघ्र ही सावधान होकर आ जाइये। प्रात काल ही लग्नवेला है। यदि समय पर अनुपस्थित रहोगे तो मुझे जीवित न पाओगे। मैं जागते सोते और स्वप्न में सदा तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को भी ध्यान में नहीं लाती हूँ, न किसी को देखती हूँ। मुझे अपनी सेविका बना लो। तुम्हारे बिना इस जीवन का क्या मूल्य है? वह इस प्रकार निश्चय कर लेती है—[3]

तुझी कृपा नस्हता कुडी। कवण जिणियाची आवडी॥ देह दंडाची हे बेडी। कोण कोरडी ओढील॥५९॥ ऐसे घडविता जरी न घडे॥ तरी देह करीन कोरडे॥ व्रते तपे जो अवघडें। तुझिये चाडे करीन॥६१॥

---

1. एकनाथ कृत रुक्मिणी स्वयंवर, प्रसङ्ग ५, ओवी १-१२-१३-१८।
2. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ, पृ० ३५, प्रसङ्ग ४ ओवी २६-२७।
3. „ „ पृ० ४०, प्रसङ्ग ४, ओवी ५६-६१

आपके बिना इस शरीर की किसे चिन्ता है? तुम्हारी प्राप्ती हो जाय इस लिए कठिन से भी कठिन व्रत संकल्प क्यों न करना पडे, मैं उन्हें अवश्य करूंगी। उसके लिए मैं प्राण तक उत्सर्ग कर दूंगी। इस कार्य के लिए एक क्या अनेक जन्म भी लेने पडे तो मैं लेने के लिए तैयार हूं। मैं आपके सिवा और किसी को वरण नही कर सकती।

यह प्रणय-पत्रिका यद्यपि पारमार्थिक शैली मे भाव भीने भक्तियुक्त अन्तःकरण से लिखी गयी है। फिर भी केवल प्रियतम और प्रेयसी के बीच लिखी जाने वाली प्रणय पत्रिकाओ मे वर्णित शृङ्गार रस की दृष्टि से भी इसका अध्ययन किया जाय तो यह पत्रिका प्रेयसी के द्वारा अभिव्यक्त की गई उच्च कोटि की भाव व्यञ्जना से परिपूर्ण एवम् ओतप्रोत है। अतएव अपने ढङ्ग से इसे अनुपम और अद्वितीय स्वरूप को माना जा सकता है। इतनी आत्मीयता पूर्ण प्रणय-पत्रिका पाकर श्रीकृष्ण का हृदय भी भाव-विभोर हो जाता है। वे तुरन्त यह निश्चय कर लेते हैं कि मैं सहायता के लिए जाऊंगा।

इसका वर्णन देखिए[1]—

जो दुजियाची वास पाहे ॥ त्याचे कार्य काहींच नोहे ॥
यश कैसेनि तो लाहे ॥ साह्य पाहे सागती ॥

जो दूसरों की सहायता पर निर्भर रहते हैं, उनका कोई भी कार्य कदापि सफल नही हो सकता। मैं रुक्मी को मुंह की खाने पर मजबूर करूंगा क्योकि द्वेषपूर्ण होकर उसने अपनी बहन का मेरे साथ विवाह करने के कार्य का विरोध किया है, मेरे क्रोध करने पर क्या हो जायगा यह वह अभी नहीं जानता। क्योंकि मैं ऐसा पराक्रम करूंगा, जिससे उसके छक्के छूट जायेंगे।[2] यथा—

जैसा काष्ठ द्वयाच्या अरणीं ॥ मथुनि काढिजे अग्नी ॥
तेवी अरि वीराते विभाडोनी ॥ पवित्र रुक्मिणी पर्णीन ॥

जिस प्रकार यज्ञ के लिए पवित्र अग्नि ईंधन के रूप मे लाये गये दो काष्ठ खडों को लेकर एक दूसरे की रगड से उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार अमोल अनमोल लक्ष्मी जैसी पवित्र रुक्मिणी को मैं शत्रु पक्ष के वीर लोगों के साथ प्रकर्ष रूप से युद्ध करके प्राप्त करूंगा। इतना निश्चय कर श्रीकृष्ण रथारूढ होते हैं, जिसमें शैव्य, सुग्रीव, बलाहक और मेघ पुष्प नाम के अश्व हैं और दारुक नाम का सारथी रथ हांकने बैठा है।

---

१. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ पृ० ४३, प्रसङ्ग ५–ओवी १–२।
२. रुक्मिणी स्वयंवर एकनाथ पृ० ४३, प्रसङ्ग ५–ओवी ४–५।

नारद की विनोद प्रियता का वर्णन—

अपने दिए हुए वचनानुसार श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। तब श्रीकृष्ण, यादव और मागध पक्ष के लोगों में द्वंद्व युद्ध होगा इस भाव से नारद हर्ष से नाचने लगते हैं उनकी चोटी खड़ी हो जाती है। रुक्मिणी स्वयंवर में नारद के स्वभाव का परिपोष बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से वर्णित है[1]—

नारद-चरित्र-चित्रण—

> हर्षे नाचत नारद। आतां होईल द्वन्द्व युद्ध॥ यादव आणि मागध॥
> झोट धरणीं भिडतील॥७३॥ थोर हरिखें भिटीली टाळी॥
> साल्या मेहुणा होईल कळी॥ कृष्ण करील लांडोळी॥ ते मी नव्हाळी पाहीन॥

अब कैसा द्वंद्वयुद्ध होगा। यादव पक्ष के और मागध पक्ष के लोग एक दूसरे के साथ लड़ेंगे और उन्हें तमाशा देखने को मिलेगा। इसी भावना से अत्यन्त हर्ष भरित होकर नारद ताली पीटना शुरू कर देते हैं। साले-बहनोई में द्वंद्व होगा और अब श्रीकृष्ण अपने पराक्रम से शत्रुपक्ष के लोगों को रणक्षेत्र में मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना देंगे। मैं यह सारी करतूत कुतूहलपूर्वक देखूंगा। नारद को इसी का अपार हर्ष है। इसमें नारद के स्वभाव का पूर्ण स्वरूप चित्रित है।

रुक्मी और कृष्ण के युद्ध का एक दृश्य द्रष्टव्य है[2]—

> जे जे धनुष्य रुक्मिया काढी। ते ते तोडी श्रीकृष्ण॥
> रुक्मिया कोपला थोर। कृष्णासी म्हणे स्थिर स्थिर॥
> गुणीं लाविले रुद्रास्त्र। महारुद्र प्रकटला॥ दाढा विक्राळ तिखट॥
> माथा मोकळिया जटा॥ काळिमा आली से कंठा॥
> भिक्षा पिंगट आरक्त॥ श्रीकृष्ण अस्त्रविद्या चतुर॥
> बाणीं योजिला भस्मासुर॥ बाण देखोनि पळेरुद्र।
> धाके थोर कांपतसे॥

रुक्मी के प्रत्येक शस्त्र को श्रीकृष्ण विफल कर देते हैं। इससे रुक्मी को क्रोध आता है और वह श्रीकृष्ण को ललकारता है और कहता है कि रुको। इसके बाद वह अपने धनुष की प्रत्यंचा पर रुद्र का आवाहन करता है। उसकी अभियत्रणा से महारुद्र प्रकट हो जाता है। इसकी प्रखर और तीक्ष्ण दंष्ट्राएँ थीं तथा जिसकी

१ रुक्मिणी स्वयंवर पृ० ८३, प्रसंग ७—ओवियां ७२—७३—७६।

२ रुक्मिणी स्वयंवर पृ० ८३, प्रसंग १२, पृ० १४६, १०२।१०६—१०९।

जटाएँ खुली हुई और उन्मुक्त थी। काले रंग का कंठ था, तथा भयंकर और विकट पीले और भूरे वर्णों की मूछें थी। रुक्मी के द्वारा इस प्रकार की अस्त्र योजना की गयी देखकर अस्त्र-शास्त्र विद्या-निपुण भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने बाण पर भस्मासुर का संधान किया। तब बेचारा रुद्र उसके आतंक से कांप उठा और भागने लगा। इस तरह रुक्मी के द्वारा छोड़े गये प्रत्येक अस्त्र और शस्त्र का विरोधी दूसरा अस्त्र संधानकर उसे रथ विहीन और अस्त्र-शस्त्र से हीन कर दिया। अपने रथ से उसको रस्सी से बाँधकर रथ के पीछे उसे दौड़ाया तथा अपने इस शालक को विद्रूप कर दिया यह भी दृश्य देखिए[१]—

> मस्तक वपना आणा पाणी ॥ नाही आड ना विहीर रणी ॥
> घाला वाटेचे वाटवणी विनोद मेहुणी मांडिला ॥
> अर्ध खांड अर्ध मिशी ॥ पाच पाट काढिले शिसीं ॥
> विरूप करुनिया रुक्मियासी। गळा रुमासी बांधिला ॥
> रुक्मिणीस म्हणे श्रीकृष्ण। पाहे वधूचे वदन ॥ वेगें करी निंब लोण ॥
> सकळ जन हांसती ॥१५०॥

श्रीकृष्ण कहते हैं अरे, दौड़ो-दौड़ो कोई जाकर मस्तक वपन के लिए पानी ले आओ तब किसी ने कहा कि रणक्षेत्र में कुआँ अथवा वापिका कहाँ मिलेगी? अतः रास्ते पर ही इधर-उधर मिल जाने वाला जल लेकर अपने शालक के साथ परिहास आरम्भ कर दिया। इस परिहास में बड़ा तीखा और चुभता व्यंग्य है। रुक्मी की आधी मूँछ मुँडाकर तथा पाँच स्थानों पर सिर मुड़ाकर उसे विद्रूप करके उसके गले में रस्सी बाँधकर उसे रथ से बाँध दिया। फिर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से कहा कि तुम जरा देखो तो सही अपने बंधु को, उसका परिवेश और मुखाकृति देख कर कहीं उसे किसी की नजर न लग जाय इसलिए नमक और नीबू उस पर से न्यौछावर कर दो। श्रीकृष्ण का वचन सुनकर सब हँसने लगे।

कुछ सांस्कृतिक प्रसङ्ग—

विवाह-समारोहों में रुखवत के प्रसंग में वर पक्ष वालों को वधू पक्ष की ओर से अनेक खाद्य पदार्थ भेजे जाते हैं। यह वर्णन भी अत्यन्त सरस और यथातथ्य बन पड़ा है, जो उस युग की समृद्ध दशा का स्वरूप हमारी आँखों के सामने अङ्कित कर देता है।[२] यथा—

> ऐका रुखवताची स्थिति। वाढितसे शुद्धमती ॥
> जे जे धाने कृष्ण पती। क्षुधा पुढती त्या नलगे ॥

---

१. रुक्मिणी स्वयंवर ओवियाँ १४४–१५०, प्रसङ्ग १२।
२ रुक्मिणी स्वयंवर ओवियाँ १०१ से १०३, प्रसङ्ग १४।

> म्ळकती भावार्थाची ताटें। जडित चतुर्विध चोखटें ॥
> स्वानंदरसें भरिलीं वाटें। बोनू कोठें नेणती ॥

गर्गी शुद्धमती व्यंजन के पदार्थों को श्रीकृष्ण के साथ पंक्ति में बैठे हुए लोगों को परोसती है। उनकी क्षुधा मिट जाती है और एक बार इन पदार्थों को खा लेते हैं, पुन उनको भूख लगती ही नहीं। चारों ओर से थालियाँ रत्न जटित हैं जिनमें अच्छे-अच्छे पदार्थ परोसे गये हैं। एकनाथ-साहित्यिक दृष्टि से भी यहाँ पर बड़ी सरसतापूर्ण वर्णन करते हैं। वे थालियाँ मानो भावार्थों की थालियाँ हैं जिनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थों के रत्न जड़े हुए हैं। उनमें स्वानंद रस लबालब भरा हुआ है। अत परोसने के लिए आई हुई वनिताओं के सामने प्रश्न उपस्थित हो जाता है, कि इनमें कहाँ परोसा जाय? इसके आगे और भी यथातथ्य वर्णन है, जिसे विशेष रूप से अध्ययन कर अथवा पढ़कर ही उसका रसास्वादन किया जा सकता है। लेह्य, पेय, चोष्य और अन्य स्वादिष्ट भक्ष्य पदार्थ इस भोजन में विद्यमान थे और परोसे गये थे। इसका और भी विशेष सुरस पूर्ण निरूपण प्रस्तुत है।[1] यथा—

> चतुर्विधा चारी मुक्ती। शुद्धमती पुढें राबती।
> जे जे पाहिजे त्या त्या पक्ती। ते ते देती तें ठायीं।

चारों प्रकार की मुक्तियाँ अर्थात् सलोकता, सरूपता, समीपता और सायुज्यता शुद्ध मति रानी के साथ वहाँ परोसने का कार्य करने आ गई थीं। इससे जिसे जो कुछ भी चीज एवम् पदार्थ की आवश्यकता थी, वह तुरन्त उसे मिल जाता था। इस प्रकार अत्यन्त सुरस और सुन्दर शैली में इसका वर्णन किया गया है। जो अपने मूल रूप में ही द्रष्टव्य है। बड़ी धूम-धाम से और धहल्ले से श्रीकृष्ण रुक्मिणी का विवाह सम्पन्न हो जाता है। दोनों की युगल जोड़ी बड़ी ही मनोहारी लगती है। साँवरे वर कृष्ण को हल्दी लगाई जाती है, उस प्रसङ्ग सौन्दर्य का अनुपम और अनूठा वर्णन किया गया है।[2] यथा—

> कृष्ण देखोनि बहुकाळा। हळदी लावी वेळो वेळा ॥
> उटूनिया घन सावळा अति सोज्वळा करुं पाहे ॥
> जे जे कृष्णा आंगी लागे। ते ते काहीं केलिया न निघे ॥
> सोमकी उटी लावगेगे। मळी न निघे सर्वथा ॥६७॥

कृष्ण के सावले वर्ण को देखकर रुक्मिणी सोचती है कि हल्दी लगाकर मैं

---

१. रुक्मिणी स्वयंवर ओवियाँ १३६-१३७, प्रसङ्ग १४।
२. रुक्मिणी स्वयंवर ओवियाँ ६५-६७, प्रसंग १६।

कृष्ण को भी अपने जैसा गौरवर्णीय बना लूँगी। इसीलिए उबटन हल्दी इत्यादि पीसकर बड़े परिश्रमपूर्वक श्रीकृष्ण के शरीर पर मलती है। आश्चर्य से उसे यह अनुभव होता है कि सारा उबटन और हल्दी कृष्ण के सावले शरीर में ही समा गई है। किन्तु कृष्ण का सावला वर्ण नहीं छूटा। अतः बेचारी रुक्मिणी निराश हो गई। यह वर्णन इतना सुरम्य है कि पढ़ते ही बनता है। एकनाथ युग में छोटी उम्र के बालक-बालिकाओं की शादी हो जाया करती थी। अतः यह घटना और वर्ण्य विषय कौतूहल और आनन्द का विषय बन जाया करता था। गोरे और श्यामल वर्ण के बारे में बाल सुलभ सहज प्रवृत्ति का सफलता से वर्णन करने में एकनाथ सिद्ध हो गए हैं।

रुक्मिणी स्वयवर में और भी अनेक सांस्कृतिक प्रसङ्ग भरे पड़े हैं। नाथ-कालीन विवाह पद्धति के अनुसार घेडा-नृत्य की विधि का सरसतापूर्वक वर्णन भी दृष्टव्य है। प्रौढ विवाह अब महाराष्ट्र में प्रचलित हो जाने से यह प्रथा नष्ट हो गई है। दोनों पक्ष के लोगों में से दो जने आगे आकर उनमें से एक अपने कंधे पर वधू को उठा लेना और दूसरा अपने कंधे पर वर को उठा लेना और फिर नृत्य होता था जिसका सुन्दर वर्णन देखिए। यथा—

> दोन्हीं पक्षीच्या बोधा जणां। कास घालोनी आले रंगणा॥
> सभा देखोनि दाविती खुणा। कळा नाना दाविती॥
> बोध नाचत घेऊनिकृष्ण। नोवरी घेऊनि देहाभिमान॥
> आपुलाले पक्षी जाण। दोघे जण नाचती॥[१]

बालवयस के उस वर-वधू को अपने-अपने कंधों पर उठाकर काछनी काछे हुए दो व्यक्ति घेडा नृत्य करने के लिए मैदान में आ गये। वे सामने बैठे हुए लोगों की ओर देखकर एक दूसरे को इशारे करते हैं, तथा अपने नृत्य की पटुता का प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक हैं। अतः भरसक वे अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। श्रीकृष्ण को अपने कंधे पर बैठाकर नाचने वाला व्यक्ति मानो ज्ञान है। जो सत्व रज तमादि भावों से युक्त होकर नृत्य के तीन तालों सहित नाचते हैं। अपनी सम्यक् बुद्धि से वे इस नर्तन कला में किसी भी प्रकार की गलती नहीं होने देते। दूसरा नाचने वाला मानो देहाभिमान है। यह वधू को अपने कंधे पर बैठाकर नाचता है। नाना प्रकार की शैलियों से दोनों नाचते हैं। अपना नृत्य-कौशल्य बतलाते हैं। संसार और स्वर्ग के बीच अपने नृत्य के फेरे से एक परिक्रमा स्वयम् घूमकर पूरी कर लेते हैं। इस तरह बोध कृष्ण को लेकर तथा देहाभिमान

१. रुक्मिणी स्वयंवर ओवियां ३-७।

वधू रुक्मिणी को लेकर दोनो अपने पक्ष वालो की ओर से नाचते है। तथा अनेक हावभाव करते हैं। यह घेंडा नृत्य बडा ही नयनाभिराम है।

इसके बाद भीमक राजा और रानी शुद्धमती रुक्मिणी को वसुदेव और देवकी के गोद मे बैठाकर प्रार्थना करते है[1]—

> चौथा पुत्राहून आगळी। वाढविली हो वेल्हाळी॥
> आता दिधली तुम्हा जवळी। पुत्र स्नेहे पाळावी।
> दोघी जणी मातापितरी। हाती धरुनि नोवरी॥
> यादवाचे मांडीवरी यथानुक्रमें बैसविली॥

इस प्रसङ्ग को झाल' कहते हैं यह अत्यन्त हृद्य है। वसुदेव देवकी के गोद मे यथानुक्रम से भीमकी को बैठाकर दोनो राजा रानी प्रार्थना पूर्वक निवेदन करते हैं कि हमारे चारो पुत्रो से सबसे अलग और निराली यह कन्या हम आपको सौपते हैं। अत अब आप इसका पुत्रस्नेह युक्त पालन कीजिए। दोनो के कठ गद्गदित हो गये हैं। कृष्ण के साथ उनका श्वसुर-जामात का सम्बन्ध हो जाने से उनका अन्त करण प्रसन्न है। इस मनोहारी दृश्य मे पुरजनो के भाव सस्मरणीय हैं।[2] यथा—

> पाहती नरनारी सकळा। सकळा आसुवे आली त्याचिया डोळा।
> लती न करी भीमक बाळा। माये कडे न पाहचि॥
> कृष्णी लागलिया प्रीति। माया माहेरींची लती।
> सर्वथा न करी चित्ती। निजवृत्ति हरिचरणीं॥

पुरके नर-नारियो के नेत्र इस मनोहारी दृश्य को देखकर श्रद्धा से जल से भर आते हैं। रुक्मिणी की दशा बडी ही मनोरम बन गई है। श्रीकृष्ण से उनकी प्रीति इतनी जग पडी है कि वह अपनी माता शुद्धमती की ओर देखती तक नहीं। अपने मायके की उसे अब कोई चिन्ता नहीं है। अब तो उसकी सारी निजी वृत्तियाँ हरिचरण मे लीन हो गयी हैं।

इस तरह हमने अब तक देखा कि 'रुक्मिणी-स्वयवर' मे श्री एकनाथ जी ने स्वतन्त्र रूप से अपने हृदय की भावना को काव्य मे उडेल कर उसे सरसता के साथ प्रकट कर दिया है। वैसे अन्यत्र वे बुद्धि को प्रश्रय देकर विचार और चितन प्रधान शैली मे अब तक लिखते रहे। *इसके सिवा उन्होंने अन्य स्फुट विषयों पर स्वतत्र*

---

१ रुक्मिणी स्वयवर, ओवियाँ ३-४ प्रसङ्ग १८।
२. ,, ,, ६-६ प्रसङ्ग १८।

रचनाएँ की हैं। पर यहाँ पर उनकी हृदय वृत्ति विशेष रमने से उन्होंने उच्च साहित्यिक शैली में रुक्मिणी स्वयंवर की रचना की।

एकनाथ का सम्पादन कौशल्य—

शके १४९५ में नाथ भागवत पूरा कर, शके १५०६ में ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी अर्थात् भावार्थ दीपिका को शुद्ध कर उसका संपादन उन्होंने किया। जिसका वे यों उल्लेख करते हैं -

श्री शके पघराशे साहोत्तरी। तारण नाम संवत्सरी।
एका जनार्दने अत्यादरी। गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध केली॥
ग्रन्थ पूर्वीच अति शुद्ध परी पाठांतरी शुद्ध। अबद्ध।
ते शोधोनिया एवंविध प्रतिशुद्ध ज्ञानेश्वरी॥

शके १५०६ अर्थात् सन् १५८४ में एकनाथ महाराज ने भावार्थ दीपिका (ज्ञानेश्वरी) का संपादन किया। शक १२९० में ज्ञानेश्वर ने इसे लिखा था। उसके बाद लगभग २००–२२० वर्षों का अरसा बीत गया। लोगों में उसका प्रचार बंद सा होने लग गया था तथा उसकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में कई पाठ भेद घुस गये थे। हस्तलिखित पोथियों में बुद्धि पुरस्सर कोई पाठ भेद नहीं करता। किन्तु लिखते समय लिपिकार के द्वारा सहज ही ये पाठ भेद हो जाते हैं तथा अशुद्धियाँ भी निर्माण हो जाती हैं। लिपिकार के ध्यान में यह बात नहीं आ पाती। इस संपादन कार्य का उन्हें अपनी आगे की कृति 'भावार्थ रामायण' में पर्याप्त उपयोग हुआ। वाल्मिकी रामायण पर जो टीका उन्होंने लिखी उसका नाम 'भावार्थ रामायण' रखा। एक और बात 'भावार्थ दीपिका' का प्रभाव बतलाती है। ज्ञानेश्वरी की आरम्भिक वंदना और भावार्थ रामायण की आरम्भिक वंदना में साम्य है। जो इस प्रभाव की संगति को प्रकट करती है। यथा—

ज्ञानेश्वरी की प्रथम ओवी—

ॐ नमो जी आद्या। वेद प्रतिपाद्या।
जय जय स्व संवेद्या। आत्मरूपा॥१॥[1]

भावार्थ रामायण की प्रथम ओवी—

नमो अनादि आद्या। वेद वेदांत वेद्या।
वंद्या हो परम वंद्या। स्वसंवेद्या श्री गणेशा॥१॥[2]

इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वरी की ही तरह प्रथम गणेश वंदन, बाद में शारदा स्तवन और गुरु स्तुति यही क्रम एवम् पद्धति भावार्थ रामायण में अपनाई गई है।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १, ओवी १।
२. भावार्थ रामायण अध्याय १, ओवी १।

एक और अन्य बात भी ज्ञानेश्वरी का प्रभाव बतलाने वाली सिद्ध होती है। ज्ञानेश्वर अपनी मराठी भाषा के बारे मे प्रतिज्ञा पूर्वक यह कहते है[1]—

माझा मराठाचि बोल क्वतुके। परी अमृताते जिके।
ऐसे ही अक्षरे रसिके मेळवीन ॥

एकनाथ अपने भावार्थ रामायण मे अध्याय ४ मे यह कहते हैं—

याचे मराठी बोल। परी अमृताते करितो फोल।
क्षीराब्धीहूनि अति सखोल। नित्य नवी बोली स्वानन्द सुखाची ॥२६॥

ज्ञानेश्वर की उक्ति दृष्टव्य है-मेरे मराठी बोल अर्थात् मेरी मराठी अभिव्यजना अमृत की मिठास को प्रतिज्ञा पूर्वक कम सिद्ध कर सकती है। ऐसा अभिमत रसिक सहृदय सज्जन प्रकट करते हैं-इसी को एकनाथोक्ति इस प्रकार प्रकट करती है—

"इस भावार्थ रामायण" की मराठी शब्दो मे प्रकट की गई अभिव्यजना अमृत की माधुरी को व्यर्थ सिद्ध करती है। इस वाणी की गभीरता सागर से अधिक है तथा इसमें क्षण क्षण प्रकट होने वाली नयी-नयी स्वानद सुखानुभूति अपने अपने ढग की और अनोखी है।

भावार्थ रामायण के निर्माण की पूर्व पीठिका—

ज्ञानेश्वरी का सपादन कार्य समाप्त कर इस ग्रथ का सर्जन किया। उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने उन्हें दत्तोपासना दी थी। पर उद्धव गीता की रचना करने के बाद वे उपासना मार्ग से भक्ति मार्ग मे आगये। भक्ति मार्ग मे आकर वे श्रीकृष्ण भक्त बने। नाथ भागवत मे कृष्ण के तत्वज्ञान की सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष तात्विक बाते अनेक आख्यानो और उपाख्यानो के माध्यम से अभिव्यक्त की। पर आगे चलकर भक्त के नाते अपने उपास्य का चरित्र गायन "भावार्थ रामायण" रचकर किया। जिस तत्व ज्ञानी का तत्वज्ञान निवेदन किया उसके चरित्र पर यत्रतत्र, स्फुट अभग, गवळण (ग्वालिन) आदि रचकर उसमे चरित्र विषयक विशेषताएँ निरूपित की। बहुदा भक्त अपने इष्ट का चरित्र बखानते है पर एकनाथ ने तो अनेक विषयो को चुनकर कृष्ण के बाद राम का चरित्र निरूपण करने के लिये निश्चित चुनाव कर लिया। ऐसा उन्होंने क्यो किया यह अभ्यासकों की दृष्टि से एक चिन्त्य विषय है। वास्तव मे कृष्ण जैसे योगेश्वर के तत्वज्ञान का वर्णन करने के बाद यदि वे कृष्ण चरित्र पर ही निरूपण करते तो वह सहज और नियमानुकूल एवम् समीचीन लगता। इसका एक कारण यह भी था कि वे कृष्ण भक्त थे अत अपने उपास्य का चरित्र वर्णन अधिक तर्क सगत होता। पर दिखाई देता है, कि

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६, ओवी १४-२६।

उन्होंने जीवन के उत्तर काल मे रामचरित्र को चुनकर 'भावार्थ रामायण' लिखा। उसका कोई कारण हो सकता है तथा यह एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय भी हो सकता है। उनको गणेश, शारदा तथा कुल स्वामिनी की ओर से यही आदेश मिलता है कि वे 'भावार्थ रामायण' अवश्य लिखें। वे इसकी चिन्ता से अखण्ड-चिन्तामग्न हो गये थे। रामचरित लिखा जाय ऐसी उनकी अहर्निश भावना बन गई थी। रामचन्द्रजी ने उनके पीछे पड़कर उनसे यह कार्य करवा लिया ऐसे उद्गारों से कई स्थल भरे पड़े हैं। इनसे एकनाथ की उस मनस्थिति का पता लगता है, जो रामकथा के लिये तत्पर और उत्सुक बन गई थी। वे इसका कारण इस तरह देते हैं[1]—

भावार्थ रामायण की प्रेरणा—

> तू झालासी कैसा वक्ता। पुसाल काशी योग्यता।
> ते हीं भी सांगने तत्वता। सावध श्रोता परिसावी॥
> असो अवद्ध ही रामकथा। पवित्र करी गाता ऐकतां।
> हे न माने व्यासी विकल्पता। त्यासी तत्वता लोटांगण॥

इस कथा के प्रमुख वक्ता और श्रोता शिव और पार्वती हैं। शिव रामायण में यह कथा वर्णित है, ऐसा बतलाकर एकनाथ अपने श्रोताओं की शङ्काओं का उत्तर देने के लिए सिद्ध होकर कहते हैं, कि तुम मुझसे पूछते हो कि रामचरित्र कथा लिखने के लिए क्यों तैयार हुए और कौन सी पात्रता और अधिकार तुम्हें प्राप्त हो गया है जिससे तुम यह कार्य करने को उद्यत हुए हो? मैं तात्विक रूप से उत्तर दे रहा हूँ। इसे सावधान होकर सुनिए। मूल रामायण तो वाल्मीकि के द्वारा संस्कृत मे वर्णित है। मेरी तो उसमे कोई साधिकार पैठ नही है। मेरी ऐसी क्षमता भी नहीं है कि मैं उसे समझ सकूं। मेरी विशेषता यही है कि मैं अज्ञानी और अबोध हूं। मुझ जैसे रामकथा मे अनभिज्ञ से प्रभु श्रीरामचन्द्रजी अपनी कथा कहलवाना चाहते हैं। मैं अपनी इस अनभिज्ञता एवं सामर्थ्य से पूर्ण रूपेण परिचित हूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं रामकथा नही कहूँगा। परन्तु प्रभु रामचन्द्रजी स्वयं रामकथा मुझ मे प्रेरित करते हैं। प्रेरणा देकर भी जब मैं इस कार्य मे कार्यरत नहीं हूँ यह देखकर स्वप्न में प्रभु रामचन्द्रजी ने पूरी रामकथा विस्तारपूर्वक ससंदर्भ और संकेतो सहित एवम् सांगोपांग बतला दी। जब मैं जगा तो मैंने देखा कि पूरी रामकथा मेरी आँखों के सामने स्वयं प्रकाशित होकर नाच रही है। इस तरह अहर्निश रूप मे प्रभु रामचन्द्रजी मेरे पीछे पड़े ही रहे। परिणामतः मेरी दृष्टि रामायण पर आकर स्थित हो गई। फिर भी अपनी हठ-धर्मिता से मैं रामकथा

---

१ भावार्थ रामायण अध्याय ४-८-१८।

जो कथा एकनाथ कह रहे हैं, वह मूल कथा से सुसङ्गत है अथवा नहीं। तब एकनाथ ने इसका प्रतिवाद किया। वे कहते हैं१—

> ऐकोनिया कथा श्रवण। ज्ञाते म्हणती अप्रमाण। नव्हे हे मुळींचे
> निरूपण। तिहीं शिवरामायण पहावें॥

'रामकथा सुनकर उसे श्रवण कर पंडित एवम् जानकार लोग कहने लगे कि यह मूल वाल्मिकी रामायण से असङ्गत है, तब एकनाथ ने उन्हें सावधान किया कि वे 'शिव रामायण' देखें। सन्देह दूर करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है। इसे वे और आगे स्पष्ट करते हैं—

> आतां किती सुचवू परिहार। परिहार तोचि अहंकार।
> मी होऊं पाहे कवीश्वर। हा अपराध थोर मजलागी॥
> श्रीराम वदविता हे आपण॥ परिहारें जालें ब्रह्मपूर्ण।
> कथा निरूपण चालवी॥२

अपनी ओर से अब मैं और कौनसा अन्य प्रमाण उपस्थित करूँ? यदि मैं कोई निन्दा निवारण का उपाय भी ढूँढता हूँ तो उसमें मेरा अहंकार झलकता है और ऐसा प्रकट हो जाता है कि मैं कवीश्वर बनना चाहता हूँ। पर वस्तुतः मेरा ऐसा दावा भी नहीं है। मुझे व्यर्थ ही दोष लगाया गया है। रामायण की कथा कहना या गाना कोई अपराध नहीं है, क्योंकि श्रोताओं में से इस कथामृत की माधुरी से जो तृप्त हो जायगा वह अवश्य मुझ पर लगाये गये लाञ्छन का प्रतिवाद करेगा। इस पर श्रोतागण कहते हैं कि देखिए तो सही कितने कौतुक और आश्चर्य की बात है कि इसके रचने में एकनाथ ने कैसा शुद्ध अन्वयार्थ साधा है। निस्सन्देह ग्रन्थार्थ को अपनी मराठी की मिठास सहित अभिव्यक्त किया है। अमृत की माधुरी को भी यह मात कर देती है। गाम्भीर्य में वह क्षीर-सागर से भी बढ़कर है। क्योंकि इस कथा में नित्य ही स्वानन्द सुख की वाणी सुनने के लिए मिलती है। कथा श्रवण करते ही चित्त में सुख उत्पन्न हो जाता है। इसलिए तुम्हारे जैसा सहृदय रसाल वक्ता धन्य है, जो इस पारमार्थिक कथा को पूज्य मानता है। सचमुच तुम्हारे मुख से प्रभु रामचन्द्रजी अपनी कथा निरूपित करवा रहे हैं। अतः कोई अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, वरन् तुम अपना निरूपण जारी रखो। इस तरह सन्त वचनों को शिरोधार्य मानकर वे रामकथा निरूपण आगे बढ़ाते हैं। ऐसी प्रभु रामचन्द्रजी की इच्छा ही जान पड़ती है कि एकनाथ के हाथों रामकथा

१ भावार्थ रामायण बालकाण्ड अध्याय ४–१।
२ भावार्थ रामायण अध्याय ४–१ बालकाड।

निर्माण हो। अपनी वृद्धावस्था का तथा व्यामोह का प्रभाव उन पर फिर भी बना ही रहा। इसके प्रमाण और भी हमें उपलब्ध हो जाते हैं। किष्किंधा-काड और युद्धकाड के आरम्भ में वे अपनी अवस्था का वर्णन करते हैं जहाँ प्रभु रामचन्द्रजी उनसे यह कार्य करवाते रहे। यथा—

> 'माझ्या अङ्गी मूर्खपण। त्या करवी रामायण।
> श्रीराम वदवी आपण। निग्रहूनि निजबळे॥ साडोनि रामकथा लेखन।
> माझी आवडे महाटी कथा। बळात्कारे होय वदविता।
> न करिता राहोनेदी॥१॥[1]
>
> × × ×
>
> माझे जें वदतें वदन। स्वयें झाला रघुनंदन। वचना वचनीं निर्वचन।
> कथा लिहवीन श्रीराम॥[2]
> विसबेना रघुपति। अहोराती रामकथा॥ रामायण लिहावयासाठी।
> रामे पुरविली माझी पाठी। मी पण हरो निहराहटीं। कथा मराठी
> स्वयें झावी॥१८॥[3]

इस राम कथा का निवेदक मैं नहीं हूँ, प्रत्युत् स्वयम् भगवान रामचन्द्रजी ही हैं। यथार्थ रूप से रघुनाथ ही रामकथा का रहस्य प्रकट करते हैं। मेरे पास केवल दवात और लेखनी है, जिसे मैंने अपने हाथों में पकड़ा है। मुझ से राम कथा लेखन का कार्य करा लेने वाले प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के अतिरिक्त कौन हो सकता है। मेरी दृष्टि में राम कथा साकार करने का कार्य भी प्रभु रामचन्द्र ने करवा लिया। किसी भी स्थिति में कोई भी कार्य करते समय सर्वत्र रामकथा के अतिरिक्त और कोई बात भी प्रकट नहीं होती। भोजन, शयन, उठना, बैठना जल पान, रसास्वाद आदि सभी कार्यों में श्रीराम और रामकथा के अतिरिक्त और कुछ भी सामने नहीं आ रहा था। रामायण की मिठास ऐसी है कि जिह्वा से एक बार उसका रसास्वादन ले लेने पर, जिह्वा के अन्य स्वाद नष्ट हो जाते हैं। सोते जागते, उठते बैठते मुझे बिछौने पर भी रामायण और रामचन्द्र जी ही दिखाई देते हैं। जरा भी आराम नहीं करने देते। अहोरात्र प्रभु की आज्ञा सुनाई देती है कि रामायण लिखो। आगे चलकर तो अपना निजत्व त्याग कर प्रभु रामचन्द्रजी मुझे मराठी में रामायण की कथा बतलाने लगे।

---

१ भावार्थ रामायण किष्किन्धाकाड २-४ और ८-११ अध्याय १।
२. भावार्थ रामायण युद्धकांड ७-१८ अध्याय १।
३. भावार्थ रामायण युद्धकाड अध्याय १।७-१८।

इन सब बातों का निष्कर्ष यही निकलता है कि ग्रन्थ पूरा करने की इसकी चिन्ता एकनाथ को बराबर लगी हुई थी। इसी लिए अन्य ग्रन्थों में जैसे उनके आरम्भ आदि के बारे में कोई तिथि या काल प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। अपने समृद्धशाली प्रौढ़ावस्था के काल में एकनाथी भागवत जैसा महाग्रन्थ करीब-करीब दो वर्ष दस महीनों में उन्होंने समाप्त किया। पर 'भावार्थ रामायण' के पूरा कर सकेंगे इसकी निश्चिन्ती वे अपने मन में न कर सके। वे बराबर रामचरित्र में रम कर ही लिखने का कार्य कर रहे थे। युद्ध काण्ड के चवालीस अध्याय लिख चुकने के बाद उन्हें इस बात की कल्पना आ गयी थी कि अब अपना अन्तकाल निकट आ गया है। तब अपने परम शिष्य गावबा से अपने सामने एक अध्याय लिखवा कर सन् १५९९ में, शक १५२१ में फाल्गुन वदी षष्ठी को उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। गावबा ने भी गुर्वाज्ञा बुद्धि से गुरुऋण से मुक्त होने के लिए उनका स्वर्गवास हो जाने पर दो तीन वर्षों में शेष ग्रन्थांश पूरा किया होगा। एकनाथ ने स्वयम् इस ग्रंथ के सात सौ, सवा सात सौ के लगभग पृष्ठों में युद्धकाण्ड के चवालीस अध्यायों तक राम चरित कथा लिखी। उसके बाद के युद्ध काण्ड के शेष और उत्तर काण्ड लिखकर गावबा ने उसे पूरा किया। गावबा ने कहीं भी तिथि या अपना नाम नहीं दिया है।

४५ वें अध्याय में गावबा के ये उद्गार देखिए[1]—

या परी मी अनाथ। भव दरिद्रें होती पीडित।
एका जनार्दनी येथ। केला सनाथ त्रिजगतीं॥

मैं तो अनाथ था, और सांसारिक दारिद्र्य से मैं पीड़ित था। परन्तु जनार्दनस्वामी के एकनाथ, सद्गुरु ने मुझे त्रैलोक्य में सनाथ कर दिया। अपने गुरु के बारे में उल्लेख देखिये[2]—

माझी मिरासी मूर्खपण। नेणें पद बंध व्याख्यान। माझा हात टेंकोनी
रामायण। करवी रामायण निज सत्ता। जनार्दनाची कृपा ऐसी।
मुर्का हाती रामायणासी। वदविले रामपेसी। कृपा ऐसी सताची॥
सद्गुरुची कृपा घडे। तें पांगुळ पर्वत चढे। एकनाथे तेणें पाडें।
केले रोकडे मज सरते॥

सद्गुरु की कृपा से पंगु भी पर्वत चढ़ सकता है। मुझ पर एकनाथ महाराज की उसी तरह कृपा होगयी और मुझे प्रत्यक्षानुभव दिया। प्रभु रामचन्द्र जी ने जो

१. भावार्थ रामायण अध्याय ४५।१८७।
२. ,, ,, ,, ६२।६९–७१।

रामायण मेरे गुरु से लिखवाई थी उनकी कृपा मुझ पर भी हुई, अतएव मैं भी उसे कह सका। अपनी गुरु परम्परा की वर्णन शैली मे गावबा ने कोई परिवर्तन नही किया।

एकनाथ ने भावार्थ रामायण लिखते समय मूलत: वाल्मिकी रामायण का ही आधार लिया है, परन्तु उसके अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण, शिवरामायण, सेतु-बन्ध रामायण, भागवत की कथा, महाभारत की राम कथा, स्कन्द पुराण का रामख्यान, योगवसिष्ठ, अग्नि-पुराण तथा नारद पुराण आदि पुराणो, काव्यो और नाटको इत्यादि से भी अनेक बातो को लेकर अपने ग्रन्थ मे उनका समावेश कर लिया है।

'भावार्थ रामायण' मे रस परिपोष करने वाले कई साहित्यिक स्थल हैं, जो गुणज्ञ और सहृदयो के लिए पठनीय सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं। पारमार्थिक ज्ञान शब्दों के द्वारा अर्थमय कर प्रतीत करा देना एकनाथ का लक्ष्य जान पड़ता है तभी वे कहते हैं[1]—

भावार्थ रामायण की साहित्यिकला का लक्ष्य—

अफाट न करावा ग्रंथ। ग्रंथीं बोलावा पुरुषार्थ।
पदीं दावावा परमार्थ। हा निजस्वार्थ कवित्वाचा॥
× × ×
मुख्यत्वें ग्रंथींचे राखावें प्रेम। प्रतिपदीं प्रतिपादावें परब्रह्म।
हाचि कवित्वाचा कवित्व धर्म। श्रोते सप्रेम सुखी होती॥

ग्रन्थ को बेकार विस्तृत न बनाकर ग्रन्थ मे प्रमुख रूप से पुरुषार्थ का निरूपण करना चाहिए और पदो-पदो मे परमार्थ सिद्ध करना चाहिए, क्योंकि कवित्व का यही निजी स्वार्थ है। प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक पंक्ति मे परब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए मुख्यत ग्रन्थ का प्रेम धारण करना चाहिए। इससे कवि का कवित्व धर्म सार्थक हो जाता है और श्रोतागण प्रेम सहित सुख लाभ कर लेते हैं।

राम को देव, ब्राह्मण, और गोमाता का रक्षण कर्ता और रावण को इन पर अत्याचार करने वाला प्रदर्शित किया गया है। इसमे एकनाथ के तद्युगीन विधर्मी सम्स्कृति के कारण निर्मित भयावह परिस्थिति का अङ्कन अपने आप आ गया है। ऐसा लगता है कि सोलहवीं शती में विचारवंतों के सामने यह चिन्ता उत्पन्न हो गई थी कि हिन्दू समाज के सामने अवतारो मे से किस अवतार का आदर्श रखा जाय। इसी चिन्ता ने अनेकों के हृदय मे राम के आदर्श का स्फुरण

1. भावार्थ रामायण बालकण्ड अध्याय १८१–१८४।

उत्पन्न किया था। तभी तो उत्तर में तुलसी का 'रामचरित मानस' महाराष्ट्र में 'भावार्थ-रामायण', बङ्गाल में 'कृत्तिवास-रामायण', कर्नाटक में 'तोरवे रामायण' 'कम्ब रामायण' आदि ग्रन्थ लोक भाषाओं में निर्माण हुए। एकनाथ ने कवित्व की अट्टहासिता अथवा कीर्ति की लालसा से प्रेरित होकर अपना ग्रन्थ नहीं लिखा। प्रत्युत अपनी तद्युगीन परिस्थिति से प्रभावित होकर सहज रूप से उत्स्फूर्त वाणी में 'भावार्थ रामायण' की अभिव्यंजना की। रामराज्य स्थापित होकर परचक्र का खंडन हो जाय यही मनोभिलाषा एकनाथ की जान पड़ती है। भावार्थ रामायण में अध्ययनार्थ लिए जा सकते हैं, ऐसे कई सुरम्य स्थल और प्रसङ्ग विद्यमान हैं। यहाँ पर हम कतिपय उदाहरणों से भावार्थ रामायण की साहित्यिकता और सरसता समझने का प्रयत्न करेंगे।

भावार्थ रामायण की साहित्यिकता—

सुमित्रा के चरित्र में सत्सङ्ग के व्यापक प्रभाव का विवेचन है इसे एकनाथ की शैली में देखना ही अच्छा होगा[1]—

> भाग देता कैकेयीसी। कौसल्या अति उल्हासी॥
> सवती भाव नाहीं मानसी। देत उल्हासीं निज भाग॥
> सत्सगाचे निज महिमान। कौसल्या देत आपण समान।

पुत्रकामेष्टियज्ञ करने पर यज्ञ देवता ने प्रसन्न होकर, दशरथ को जो प्रसाद प्रदान किया, वह सब रानियों में बाँटा गया। एकनाथ यह वर्णन करते हुए बतलाते हैं, कि 'सौतिया डाह' नाम की कोई स्वभावगत वैचित्र्य भावना उनमें नहीं थी। कौसल्या अत्यन्त उल्लासपूर्वक प्रसाद का अपना अंश कैकेयी को प्रदान करती है। सत्सङ्ग का माहात्म्य इस तरह से वे बताते हैं। कौसल्या की ही तरह सुमित्रा भी अपना आधा अंश प्रसाद में से कैकेयी को दे देती है। इस तरह सुमित्रा अपना नाम सार्थक करती है। कौसल्या के साथ उसकी अच्छी मैत्री है। मैत्री का व्यापक प्रभाव जीवन पर पड़ता है। सुमित्रा की बुद्धि पर कौसल्या की मित्रता का पर्याप्त परिणामकारी प्रभाव पड़ा है।

एकनाथ कालीन सामाजिक दशा—

एकनाथ कालीन दक्षिण भारत में शान्ति होने पर भी राज्यों के बीच पारस्परिक आक्रमण, लूटमार, ग्रामों-नगरों का ध्वंस, आगजनी आदि काने हुआ करते थी। इन घटनाओं में स्त्री पुरुष नागरिकों की बड़ी दुर्दशा होती थी। लङ्का-

१. भावार्थ रामायण बालकाण्ड। अध्याय ३।२६—३१।

दहन के सदर्भ में इसे देखने पर जो भगदड़ मची है, उसका वर्णन एकनाथ ने किया है। इसी प्रसङ्ग में अन्य रामायणों में वर्णित प्रसङ्गों से यह वर्णन गम्भीर है। तात्पर्य यह कि एकनाथ अपने कालीन सामाजिक दशा को उसमें प्रतिध्वनित करते हैं। जैसे—

येके तूं जळसी रोकडी । तुझी पाठीं आगुडी ।
सवने नागवी उघडी । पडे उघडी लोकलाजे ॥
जळत घराचे पाडिले टेक । फुटाणे खावे लागल्या भूक ।
भाजली भरली शीतोदक । घट सम्यक रांजणें ॥[1]

× × ×

एकी एकाकी म्हणे भ्रतारा । तुझी मी होईन दारा ॥
रूपवती न भेटे आवडता । म्यां तो स्वयें सांडिला ॥
एक सुनसी सुन्दर । भेटे त्यासी म्हणे भ्रतार ।
मी तव तुझी स्वदार । अङ्गीकार करी माझा ॥[2]

भयङ्कर आग के कारण स्त्रियाँ आतङ्कित होकर भाग रही हैं। एक दूसरी से कहती है अरी ! तू जल रही है। दूसरी भागने के प्रयत्न में गतिशील नहीं हो पाती। तब वह विवस्त्र ही भाग निकलती है। पर लोक-लज्जा से औंधी पड़ जाती है। जिन वस्त्रों में आग लग चुकी है उनको मरण भय से उतार देती है, और आगे पीछे हाथ रखकर नगरी में स्त्रियाँ दौड़ रही हैं। अपनी स्त्री के लोभ में जलते हुए गृह में अपनी बूढ़ी जननी को छोड़कर कंधे पर स्त्री को उठाकर कोई भाग निकलता है। पति को जलते हुए गृह में छोड़कर जो हाथ में पड़ गया उसे लेकर स्त्री भाग निकली है। बाहर निकलकर पति से कहती है कि भली-भाँति घर को सम्हालो। जलते हुए चनों का बोरा भरा पड़ा है, इसलिये भूख लगने पर भुने चने खा लेना, और ठंडे जल से घट भरा हुआ है, उसमें से पानी पी लेना। एक स्त्री किसी से कहती है कि अब मैं तुम्हारी कान्ता बनूँगी। आक्रोश करने पर भी मेरे पति अब मुझे नहीं मिल सकते। मैंने स्वयम् उनको छोड़ दिया अर्थात् वे घर में जल मरे हैं। एक स्त्री अपने सौन्दर्य पर गर्व करती हुई जो भी सामने आ जाता है उसे ही अपना पति बनाने के लिए तैयार है। वह कहती है मैं अपने मन से तुम्हारी दारा बनी हूँ अतः मेरा अङ्गीकार करो। सामाजिक स्थिति की यह यथार्थता तुलसीदासजी की कवितावली में विवेचित वर्णन से तुलनीय है।

---

१. भावार्थ रामायण सुन्दरकांड ३५-३७-४५ ।

२. भावार्थ रामायण सुन्दरकांड ३७, ४६ ते ५० अध्याय १६ ।

राम जानकी का विवाह हो रहा है। वधू वर के बीच का अन्तर्पट दूर हो गया है। इसी प्रसङ्ग का एकनाथ कृत वर्णन बड़ा मनोभिराम है।

राम-जानकी परिणय—

> ॐ पुण्याह मुळीची गोष्टी। तेणें शब्द विरे प्रणवाच्या पोटीं।
> अंतःपट फिटे उठा उठीं। सीता गोरटी वरी राम ॥
> श्रीराम स्वयें चैतन्यमूर्ति। सीता तव ते चिच्छक्ती ॥
> लग्न लागलें एकात्मप्रीति। चतुरोक्ती चहूँ ठायीं ॥[1]

ॐकार ध्वनि में स्वस्तिवाचन होने पर उसकी ध्वनि प्रणव में विलीन हो गयी। अन्तर्पट खुल जाने पर गौर वर्णीय जानकी ने राम के गले में वरमाला डाल दी। एक के नेत्रों ने दूसरे के नेत्रों को संलग्न होकर देखा। प्राण पति को पूर्ण रूप से वरण कर लेने पर दोनों प्राण एक हो गये। वसिष्ठ ऋषी के द्वारा उन पर फेंके गये मंत्राक्षतों से पंच महाभूतों की एकात्मता सिद्ध हो गयी। सीता राघव एक हो गये। एक अवयवी तथा एक अवयव रूप दोनों बन गये। दोनों के जीव-भाव एक हो गये। वसिष्ठ ने ऐसी अपूर्वता उनके विवाह में देखी। रघुनाथ के पाणिग्रहण से समस्त क्रियाएँ शान्त हो गयीं और राम में निष्कामता आ गई। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं चैतन्य मूर्ति हैं, और सीताजी स्वयं चित् शक्ति हैं। एकात्म प्रीति के कारण यह विवाह सम्पन्न हो गया ऐसी चतुरों के द्वारा सर्वत्र इसकी प्रशंसा सुनाई दी।

हनुमान के द्वारा सीता का पता लगाये जाने पर लंका पर चढ़ाई करना निश्चित हुआ। पर सागर पार करने की समस्या सामने थी, उसको बिना हल किये लंका पर आक्रमण कैसे किया जाय? राम के पूर्वज का नाम सगर था। उसी के कारण समुद्र का सागर नाम पड़ा था। सागर से प्रभु रामचन्द्र ने प्रार्थना की और उत्तर के लिए तीन दिन तक प्रतीक्षा की। जब कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। जो सामर्थ्यशाली होते हैं, वे निर्बलों की शरण नहीं जाते। ऐसा करने से पराक्रम के उत्कर्ष का अपकर्ष होने लगता है। रामजी के भावों को एकनाथ के शब्दों में सुनिये—

सागर गर्व-हरण—

> मृदुपणें काहीं यश कीर्ति। मृदु पणें नाहीं लाभ प्राप्ती।
> मृदुपणें नाहीं विजयवृत्ती। जाण निश्चितीं सौमित्रा ॥

1. भावार्थ रामायण-बालकांड अध्याय २५-३८-४६।

मर्दव्याते राजे दडिती । अदम्या ते राजे दमिती ।
ते राजे जैं शाती धरिती । तेचि अप कीर्ति तयाती ॥[१]

प्रभु रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कहते हैं कि राजाओं की कर्तृत्व शक्ति सन्याम-परक हो जाने पर शान्त प्रवृत्ति मय बन जाती है। पर यह घातक सिद्ध होता है। इससे सामर्थ्यशाली नृप को यश और कीर्ति-लाभ नहीं होता। मृदुता धारण करने से विजय प्राप्ति कदापि नही होगी। सन्यासियों के लिए मृदुता से पारमार्थिक लाभ और ईश्वर-प्रेम उपलब्ध हो सकता है। परन्तु राजाओं के मृदु बन जाने पर अपयश मिलता है। अतएव सामर्थ्यवान् को शान्ति धारण करना अनुपादेय है। ऐसा कहकर प्रभु रामचन्द्रजी ने एक भयङ्कर बाण अभिमन्त्रित कर सज्ज कर लिया और समुद्र को दण्ड देना चाहा। तब वह ब्राह्मण का रूप धारण कर आया तथा विनम्रता से रामचन्द्रजी को सेतु बांधने का परामर्श देकर चला गया।

वानर वीरो का निश्चय—

राम-रावण युद्ध मे वानर वीरो ने राम के कार्यार्थ अपना बलिदान देने का निश्चय किया वह देखने योग्य है—

देह वेचिता राम कार्यार्थी । ठाक ठोक ब्रह्मप्राप्ती ।
पळोनि जातांचि मागुती । अधोगती नरकात ॥
पळोनि जाता ऐसें घडे । श्रीराम सेवेचे अंतर घडे ।
मुक्ति मुक्तिसी कीर्त उडे । नरकी पडे आकल्प ॥[२]

रामकार्यार्थ यदि शरीरार्पण करना पडता है तो ब्रह्म प्राप्ति अपने आप ही हो जायगी। ऐसा वानर वीरो का गाढा विश्वास है। अपना कर्तव्य-कर्म करते हुए भगवान् के लिए देह पात करने जैसा पुण्य और कौनसा हो सकता है? रण मे भागने पर नरक मे प्रवेश मिलेगा तथा राम का कोई अवकाश नही सम्प्राप्त होगा। यह डर उनके अन्त करण मे बसा हुआ है। विजयी होने पर कीर्ति लाभ है। मृत्यु हो जाने पर मुक्ति मिलेगी यह भी उन्हें ज्ञात है। प्रभु कार्यार्थ अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले वानर-वीर धन्य हैं।

सुग्रीव पर रावण ने शर वृष्टि की जिससे वह मूर्छित हो गया। रावण ने तब सुग्रीव को लङ्का मे ले जाना चाहा। तब लक्ष्मण सुग्रीव की सहायतार्थ दौड पडे। रामचन्द्र लक्ष्मण को इस अवसर पर वीरो के लक्षण बतलाते हैं। ये द्रष्टव्य है—[३]

---

१. भावार्थ रामायण—सुन्दरकाण्ड अध्याय ३६।५६–६१।
२. भावार्थ रामायण-युद्धकाण्ड।
३. भावार्थ रामायण-युद्धकांड।

रणवीरों के लक्षण—

> देहीं न पुटता घावो। शत्रु जीवे मारावा पहाहो।
> हाचि घरोनिया आवो। रण निर्वाहो करावा॥
>
> × × ×
>
> मरण भय ज्याचे पोटीं। तो तव शूर नव्हे सृष्टीं।
> त्याची आशङ्का लागे त्या पाठीं। मरे शेवटीं निज भये॥
> चैतन्य तेजें लखलखाट। देही विदेहत्वाचा नेट।
> ऐसेनि धैर्यें अति सुभट। ते वीर श्रेष्ठ सग्रामीं॥
> तेथे न चले शठ कपट। तेथे न चाले मायेचे कचाट।
> तेथे निर्दले शत्रुपक्ष सकट करी सपाट पाप पुण्या॥

रण क्षेत्र मे शत्रु को जख्मी बना कर छोड़ना नही चाहिए। रणक्षेत्र मे शत्रु के प्राण लेने की प्रतिज्ञा कर के ही जाना चाहिए, तथा वैसा कार्य सम्पन्न करना चाहिए। जो मरण का भय लेकर रण स्थल मे प्रवेश करेगा, वह वीर नही है, क्योंकि सन्देह पूर्ण अवस्था मे वह पहले ही मरा हुआ सा हो जाता है। जिस मे धैर्य विगलित स्थिति वाला हो वह युद्ध क्षेत्र मे क्या युद्ध करेगा? चैतन्य और स्फूर्ति का जिसमे सचार होता हो, तथा देह मे विदेहत्व का भाव विद्यमान हो गया हो वे सग्राम स्थल मे डटे रह सकते हैं। उनको ही श्रेष्ठ सुभट और योद्धा मानते हैं। जिनमे ये सारी विशेषताएँ हों, ऐसे रण बाँकुरों के सामने शत्रु की छलनीति, कपट आदि वाले चल नहीं पाती। शत्रु अपनी माया नही फैला सकता। ऐसे प्रसङ्ग मे वीर-योद्धा शत्रु पक्ष रूपी सङ्कट का पूरा निर्दलन कर पाप को धराशायी कर देते हैं और पुण्य की स्थापना कर देते हैं।

'भावार्थ-रामायण' मे इस प्रकार से रस-परिपोष करने वाले कई स्थल विद्यमान हैं। उनको यहीं छोड़कर अब हम उनकी गाथा मे वर्णित स्फुट काव्य विषयों का अनुशीलन कर उनकी सरसता और साहित्यिकता को निखारने का प्रयत्न करेंगे।

स्फुट काव्यों का परिशीलन—

श्री एकनाथ इन अभङ्गों की गाथा पाच भागों मे विभक्त है। कुल अभङ्ग सख्या ३९८८ है। मात आठ आरतियाँ भी हैं। हिन्दी अभङ्ग रचनाएँ भी मिलती हैं। जिनकी भाषा दक्खिनी हिन्दी है, तथा उन पर मराठी का प्रभाव भी परिलक्षित हो जाता है। भाषा फिर भी समझ मे आने वाली और सरल है।

गाथा मे विवेच्य विषय बहुविध हैं। मङ्गलाचरण गुरु वदना, श्रीकृष्ण की बाल-लीला, गोपी-प्रेम, राम-लीला, गोपसखाओं के साथ खेले गये खेल,

गोपियो का विरह वर्णन, मथुरा की सारी घटनाएँ, श्रीकृष्ण-माहात्म्य, विठ्ठल, राम, शिव आदि देवताओ का माहात्म्य वर्णन आदि कई विषयो पर लगभग १६०० अभङ्ग हैं। द्वितीय भाग मे आत्मस्थिति अद्वैत जैसे आध्यात्मिक विषयो पर लगभग ६७३ अभङ्ग हैं। तृतीय भाग मे जीवन और व्यवहार के कई विषयो पर करीब-करीब ७६६ अभङ्ग हैं। अपने युग के समाज मे दिखाई पड़ने वाले साधको, व्रतधारियो और भावनाओं का इन अभङ्गो मे एकनाथ ने विवेचन किया है। चौथे भाग मे पौराणिक आख्यान आदि हैं। तथा अपने समकालीन सन्तो के चरित्र आदि हैं। इनकी सख्या करीब-करीब ३४० है। पचम भाग मे उपदेशात्मक तथा रूपकात्मक अभङ्ग हैं। इनका वर्ण्य विषय ग्रामों और नगरो के तद्युगीन, दैनंदिन सामाजिक और सास्कृतिक व्यवहारो से सम्बन्धित व्यक्तियो और साधको से हैं। जिनके द्वारा उस समय के दुर्गुणो को हटाकर सबको सद्गुणों की ओर प्रवृत्त कर भगवद् भक्ति मे लीन कर आध्यात्म-प्रवण बनाने का उनका अथकप्रयास एवम् प्रयत्न दिखाई देता है। महाराष्ट्रीय समाज की सास्कृतिक जानकारी प्राप्त करने के लिए एकनाथ की अभङ्ग गाथा उपादेय सामग्री प्रस्तुत कर देती है। इसकी शैली साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक है। इसमे करीब-करीब ३०२ अभङ्ग हैं। अन्तिम अश हिन्दी अभङ्गों से भरा हुआ है। एक विशाल महार्णव की तरह यह गाथा विस्तार है। इसके वर्ण्य विषय ही मानो इस महार्णव के बुदबुद तरगे, प्रवाह आदि हैं। सामाजिक कुरीतियो दम्भों पाखडो आदि का पर्दाफाश इसमे किया गया है। एकनाथ अपनी प्रतिभा और प्रखर साधना मे तथा अपनी हृदय की परम कारुणिक वृत्तियो से पूर्ण इसमे प्रतीत होते हैं। ईश्वरोपासना मे सलग्न हो जाने पर भी तत्कालीन समाज से उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, तथा वे सबकी सर्वतोन्मुखी उन्नति की कामना करने वाले थे, ऐसा परिज्ञान हमें उनकी रचनाओ से हो जाता है। कतिपय उदाहरण इस वक्तव्य की पुष्टि करेंगे। यहा पर बालकृष्ण का वर्णन कितना सहज और सरल वात्सल्य भाव का प्रदर्शन करता है। ग्वालिनें बालकृष्ण का परिवेश तथा स्वरूप देखकर प्रसन्न हो उठी हैं। उनकी प्रसन्नता का यह चित्रण स्वाभाविक है। यथा—

बालकृष्ण वर्णन—

> भिगावे भिगुने। खाद्यावर आपुले। नाचत तान्हुले यशोदेचे।
> एका जनार्दनी एकत्व शरण। जीवे निबलोण उतरती॥[1]

'यशोदा के बाल कन्हैया बालक्रीडासक्त हैं तथा एक छोटा सा गुरवा पहिने

१. एकनाथ महाराज की गाथा—अभग १०८, पृ० ६८।

हुए है। एकनाथ उसका वर्णन बड़े ढङ्ग से करते हैं। ग्वालिनें आती हैं और बालकृष्ण को देखती हैं, जो ऐसे लगते हैं मानो प्रतिबिंब के साथ बिंब खेल रहा हो। ग्वालिनें कान-कन्हैया को समझाती हैं, और उनके चरण पकड़ लेती हैं। गोविन्द को रिझाने के लिए वे तालियाँ बजाती हैं और वे नाच उठते हैं। वे कहती हैं हमारा बालमुकुन्द देवराज है, उनके कमर मे करदोड़ा है, कानों मे बालियाँ है उर पर बाघनख भी सुशोभित है। पैरों मे नूपुर है जो नाचते समय बज उठते हैं। और कर्ण कुंडल हिल उठते हैं। ऐसी मन मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध होकर ग्वालिनें प्रसन्न होकर उन पर न्योछावर हो जाती हैं, और अपने प्राणों से अधिक प्रिय बालगोविंद को नजर न लगे इसलिये नीबू और लवण उतारती हैं।

अब एक विरहिणी का चित्र देखिए

विरहिणी गोपी की दशा का वर्णन—

> बहुत जन्में विरहे पीडली। नेणो कैसी स्थिर राहिली।
> एका जनार्दनी भेटेल हरी। ते विरह नोहे निर्धारी॥
> × × ×
> येई वो श्रीरङ्गा कान्हाबाई। विरहाचे दुःख दाटले हृदयीं।
> एका जनार्दनी ऐसे केले। विरह दुःख निरसिले॥[1]

'अनेक जन्मों मे विरह पीड़ित एक गोपी एकाएक स्तब्ध एवम् स्थिर हो गई। उसके मन की आशा गोविन्द मे बिन्ध गई है, क्योंकि कृष्ण को पाने की इच्छा मे वहाँ गई है। वह कहीं भी हो, कोई भी कार्य क्यो न कर रही हो, सावले कृष्ण का ध्यान उसे बराबर लगा रहता है। उसका विरह अब कैसे दूर होगा। एकनाथ कहते हैं, कि यह पूर्व पुण्य ही था जिसके कारण इस गोपी को इतना असाधारण विरह भाव प्राप्त हुआ। साधारण विरह का कोई महत्व नहीं है।' इस विरही भावना से श्रीहरि निश्चित रूप मे मिलेंगे ऐसी आशा बँध गई है।

हे श्रीरग! हे कन्हैया! आओ, विरह जन्य दुःख मेरे अन्त करण मे एकत्र हो गया है। इससे मुझे कौन मुक्त कर सकता है? मेरे सौभाग्य मे यह परमात्मा सगुण-साकार-शरीर से मुझे प्राप्त हो गया। इसके सगुण और निर्गुण स्वरूप मन को मोहित करते हैं। मेरे मन सद्गदित होकर दोनो स्वरूप की ओर आकर्षित हो गया है। मेरी वाचाशक्ति कुंठित हो गयी है। इन्द्रियो का बोध नष्ट हो गया है। मुझे अन्य किसी भी तरह का परमानन्द अच्छा नहीं लगता। मेरी बुद्धि स्थिर हो गई है, और मेरे मन की वृत्ति का वैराग्य खो गया है। समाधि

१. एकनाथ महाराज की गाथा—अभङ्ग १३०–१३१, पृ० ४१।

अवस्था मे उन्मनी पर वह स्थिर हो गयी है। मेरा मन सङ्गविवर्जित हो गया है। काया, वाचा मन और चित्त एकत्र होकर हे श्रीरगनाथ ! तुम मे ही लीन हो गये हैं। फलत विरह का दुख नष्ट हो गया है।

मुरली बजती है, और उसकी ध्वनि मे गोपी उसकी ओर आकृष्ट हो गई है। अतः अब वह वृन्दावन कैसे जा सकेगी ? वह कहती है—

गोपी की समस्या—

> कशी जाऊ मी वृन्दावना। मुरली वाजवी कान्हा॥
> एका जनार्दनी मनीं म्हणा। देव महात्म्य कळेना कोणा॥[1]

मैं वृन्दावन कैसे जाऊँ ? कन्हैया मुरली बजा रहा है। उस पार श्रीहरी मुरली बजा रहा है और यमुना में बाढ़ आ गई है। पिताम्बर कसा हुआ है, कस्तूरी का तिलक सुरेखित है, कानो मे कुण्डल शोभित है। मेरा मन उसमे रम गया है। अरी ! कोई मुझे बताओ मैं किससे पूछूँ ? नामो की सूची ले आओ तो मैं उन्हें पुकारूँगी। नद के सुपुत्र श्रीहरि ने बड़ा कौतुक किया है। इस मतरङ्ग की बात जानने वाला ही जान सकता है। एकनाथ कहते हैं कि मन मे उसे ध्याये। देव-महात्म्य किसी को भी ज्ञात नही रहता।

हिन्दी अभङ्ग रचनाओ का साहित्यिक पक्ष—

एकनाथ कृत कुल हिन्दी अभङ्ग ४६ हैं। ये भिन्न विषयों पर हैं जैसे—मैलिया, बाजीगर, बुलबुल, जोगी दरवेश गारुड, गारुडी, फकीर, हिन्दू तुर्क सवाद आदि। एकनाथ की गाथा मे सोलह अभङ्ग हिन्दी गुजराती समिश्र रूप मे भी मिलते हैं। यहाँ पर नमूने के तौर पर दो अभङ्ग हम लेते हैं[2]—

हिन्दी-गुजराती अभङ्ग—

> माई मोरे घर आयो श्याम छे। गावडी छोडी मोरे मन छे॥
> दधी दूध माखन चुरावे हमछे। छोकरिया खिलावत देव छे॥
> मारी सुतोवन लगी छे। बालन उनको पकड लीन छे॥
> एका जनार्दन थारो छोड छे। वेड लगाये माई आवछे॥

हे मैया यशोदा ! कृष्ण मेरे घर आये। मेरे घर आकर उन्होंने दूध और माखन चुराकर खाया। मैंने अपनी छोटी बिटिया को अपने मन से छोड़ दिया था, और यह समझ लिया था, कि यह छोकरी है अत इसे खेलने दो। जब वह सोने जा रही थी तब उसके बालो को कृष्ण ने पकड़ लिया और अब वह उसके प्रेम मे

१ एकनाथ महाराज अभङ्ग गाथा ४४ अभग १५५।
२. एकनाथ महाराज अभंग गाथा अभग ८६ तथा ६४।

पागल हो गई है। हे माता यशोदा तुम्हारे बेटे ने तो हमें पागल बना दिया है। आगे वह कहती है—

> भूली भटकी आई कान्हा तोरे गांव छे। मारो नद नदन चित्त जडे।
> तोरे भाव छे लागता ॥ चली आई परपच हाट से।
> तू कॅव धरीयो मेरे बाट छे ॥ आव तू नद नदन लाल छे।
> मैं गारी देऊं तुजमे लालना ॥ एका जनार्दन नाम तोरे गांव छे।
> पीरीत वसे तारे चरण छे लाछना ॥[१]

सावले कृष्ण पर और उसके सौन्दर्य पर रीझी हुई गोपी के ये उद्गार मार्मिक हैं—मैं बाजार में कुछ चीजें खरीदने आई थी, पर मार्ग में तू मुझे मिल गया। मैं इसी स्नेहासक्ति में भूले-भटके तेरे ग्राम में पहुँची हूँ। तू तो नद-नदन है, रसिया है। तूने मेरी ऐसी दशा क्यों कर दी? मैं तुझे गालियाँ दूंगी। एकनाथ कहते हैं कि इस गोपी के मन में प्रीति उत्पन्न हो गयी है और वह कृष्ण के चरणों में अपने आपको सौंप चुकी है।

एकनाथ का एक अभङ्ग कजारन पर तेलुगु, हिन्दी और मराठी के समिश्र रूप में भी मिलता है। यथा—

> हो होरी हो हो री हो। लेवरे रसी। ले ने वाला है पर देनेवाला नहीं ॥ हो ॥
> देने वाला है पर लेने वाला नहीं ॥ हो ॥ सग आइतो। के तान सोडा। अकारी पडवा। आधासान जोडा ॥ हो ॥ १ ॥
> तेलगी वाडवा। पुलान पुलवा। साधन करावा।
> मन आसा फेडवा ॥ हो ॥ फुलवान नवरा ॥ अडा तीन तगो।
> नीताग कोडता। तगीन हाडी हो ॥ जनार्दनी पडवा।
> कजारीण लढवा। कोकनीक करवा। दाताक वरवा ॥ हो ॥[२]

होरी-गीत के रूप में इसे गाया गया है। भावात्मक-एकता का होरी एक सास्कृतिक उत्सव होने से इस अभङ्ग का महत्व है। 'हिन्दु-तुर्क सवाद' नाम का एक बहुत बड़ा अभङ्ग मराठी और हिन्दी मिश्रित भाषा में है। एकनाथ अभङ्ग गाथा का यह ४६७० वाँ पद है। इसकी कुल ६६ कड़ियाँ है। हिन्दू की भाषा मराठी और मुसलमान की तुर्क की भाषा हिन्दी है। दोनों अपने-अपने धर्म की दुहाई देते हैं। दोनों अपना तर्क और दलीलें प्रस्तुत करते हैं, इसी तरह, 'वादे वादे जायते तत्वबोध' की उक्ति सार्थक बन जाती है और समन्वय की दृष्टि दोनों में

१ एकनाथ-अभग गाथा पृ० ३६–६४।
२ एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ३६४।३७५४।

उत्पन्न हो जाती है। इसमें मानव-मानव के बीच समन्वय की दृष्टि होनी चाहिए यह एकनाथ का लक्ष्य समझ में आ जाता है। पूरा अभङ्ग उद्धृत करना विस्तार भय से ठीक नहीं होगा पर कुछ बानगी उदाहरणार्थ यहाँ पर प्रस्तुत है[1] —

भावनात्मक एकता और सांस्कृतिक समन्वय—

> प्राणी एक भजन विरुद्ध। दोहोंचा सवाद परिसावा।
> हिन्दु कू तुरक कहे काफर तो म्हणे विटाळ होईल परतासर।
> दोन्हींसी लागली करकर। विवाद घोर माडिला।
> सुमरे यह मन मेरी बात। तेरा शास्तर सबकू फरात।
> खुदाकू कहते पाऊ हात। ऐसो जात नवाजे ॥ ३ ॥
>
> × × ×
>
> तुम्ही तुरक परम मूर्ख। नेणा सदोष निर्दोष।
> प्राणी प्राण्याते देता दुःख। भिरती मुख तुम्हा कैंचे ॥
> विवादीं जाहला अनुवाद। एका जनार्दनीं निज बोध।
> परमानन्द दोहींसी ॥ ६६ ॥[2]

एक भजन के विरुद्ध प्रचार करता है, तो उसे ईश्वर प्राप्ति हो जाती है। दूसरा भजन के साधन से ईश्वर को अपना लेता है। हिन्दू और तुर्क में इसी बात को लेकर चर्चा छिड़ी और झगड़ा बढ़ गया। हिन्दू तुर्क को म्लेच्छ कहता है तो तुर्क हिन्दू को काफिर कहता है। दोनों अपने-अपने पक्ष का समर्थन और एक दूसरे का खण्डन करते हैं। मुसलमान हिन्दू ब्राह्मण से कहता है, कि तुम्हारा शास्त्र झूठ है, तुम इसमें खुदा को नहीं पा सकते। झूठी बातें न बनाओ। ब्राह्मण इसका प्रतिवाद करता है और मुसलमान से कहता है 'तुम झूठे हो प्राणियों की हत्या करते हो तथा नमाज पढ़ते हो, रोजे रखते हो। तुम क्या समझते हो कि इससे तुम पाक-दामन बन गये हो। जितने बकरे कटते हैं, उसमें से एक भी क्या तुम जीवित कर सकते हो? यदि नहीं तो क्या तुम दोजख के पात्र नहीं हो? इस तरह दोनों अपनी दलीलें पेश करते हैं और झगड़ा बढ़ता ही जाता है। निर्णय कोई नहीं कर पाता। बकरे को काटकर उसकी खाल निकालो तो क्या उसको बहिश्त अर्थात् स्वर्ग मिलने वाला है? वैसे रोजा रखो और नमाज पढ़ो इससे क्या होगा?

हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई हैं। दोनों को खुदा ने बनाया है। हिन्दुओं को पकड़ कर मुसलमान बनाओ ऐसी गलत बात खुदा क्यों कहेगा? केवल तुर्क जो

---

१. एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ४१२।४६७०।

२. एकनाथ गाथा, पृ० ४१२।४६५६–४६६६–७०।

कुछ कहे वही सत्य है ऐसी बात नहीं है। वास्तव में दोनो अपराधी हैं। मुद्रा की सहायता के बिना किसी का कार्य नहीं चल सकता। तुर्क कहता है, ब्राह्मण की बात सत्य है। परमार्थ का रहस्य खुल गया। वाद करते-करते दोनो तत्वदर्शी बन गये। दोनो के मनोरथ परिपूर्ण हो गए। दोनो में ऐक्य उत्पन्न हुआ। दोनों परमार्थी बन गये और दोनो ने आनन्द की प्राप्ति कर ली।

इसी तरह बाजीगरी, गारुड अंजन आदि विषयों पर हिन्दी मे अभङ्ग हैं। हम दो हिन्दी अभङ्गों को लेकर एकनाथ विषयक साहित्यिक पक्ष का अनुशीलन समाप्त करेंगे। देखिए—अंजन पर रचित अभंग[1]—

तप साधन सुखे करना। दो मिलके गीत गाना।
पराये बेटी पर नजर नहीं रखना। चोर की कमान ना लेवना।
एका जनार्दनी अवश्य वाहना। सद्गुरु के चरण पकरना॥

इसकी भाषा मराठावाडा की एकनाथकालीन हिन्दी है। इसमे अंजन पर विवेचन किया गया है। भाषा सरल है अत अर्थ-सुस्पष्ट हो जाता है। भावार्थ रामायण का एकनाथ-गाथा पर भी प्रभाव परिलक्षित हो जाता है। जैसे इस अभङ्ग में गुरु और राम का महत्व अभिव्यजित है[2]—

गुरु कृपा अंजन पावो मेरे भाई। राम बिना कछु जानो नहीं॥१॥
अन्दर राम भीतर राम। जा देखो वहाँ राम ही राम।
जागत् राम सोवत राम। सपनो में देखु तो राजाराम।
एका जनार्दनी भावहोनिका। जो देखो सो राम सरीका॥४॥

इस अभंग मे श्रीरामचन्द्रजी का उन पर समूचे रूप मे प्रभाव पड़ा है। इस बात का विशद वर्णन एकनाथ ने इसमे अङ्कित कर दिया है।

एकनाथ की कृतियो में से उनका साहित्यिक और आध्यात्मिक विचारो का परिशीलन कर लेने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

निष्कर्ष (एकनाथ एक कृतिकार एवम् दार्शनिक)

एकनाथ का कृतिकारत्व और दार्शनिकत्व हमे उनकी कृतियो को देखकर ज्ञात हो जाता है। उनके भीतर एक आज्वल्य और प्रखर आत्म विश्वास था, जिसने उन्हें ब्रह्मज्ञानी और प्रतिभावान् महापुरुष बना दिया था। उनकी साहित्यिक और पारमार्थिक प्रतिभा का स्फुरण और व्यक्तित्व का विकास उनके सद्गुरु की कृपा और मार्गदर्शन का फल है। इसे परम कारुणिक एकनाथ मे अनवरत साधना और

१ एकनाथ अभंग गाथा, पृ० ४१६।३६७५।
२. एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ४१६ (ड) ३६८८।

तपस्या से उपलब्ध कर लिया था। अनुभूति की प्रखर भट्ठी में जलकर जो खरा सुवर्ण निकला वही उनकी अन्त सलिला में करुणासिक्त होकर दुखी और आर्त जनों के उद्धारार्थ उनकी काव्य-गङ्गा के रूप में प्रवहमान हुआ। इस काव्य गङ्गा में मज्जन कर अनेक लोग अपनी दुख निवृत्ति का चरम उपाय पा गये। अनेक विषयों के प्रदेशों से यह काव्य-पयस्विनी बही है। जहाँ आख्यानों, उपाख्यानों, तत्वों, दृष्टान्तों के सुन्दर सोपान, घाट, एवम् विश्राम स्थल हैं। इनसे अनेक सासारिक और पारमार्थिक स्तर के लोग अपनी हृदय-प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुकूल स्थल पाकर रमते रहे।

एकनाथ की समूची कृतियों का सक्षिप्त विहगमालोकन—

एकनाथ की 'आनन्द लहरी' एकनाथ की सब प्रथम कृति है जिसमें उन्होंने अपने हृदय की आनन्दावस्था की लहरें तरगित की हैं। अपने गुरुपदेशामृत के प्राशन से ये निर्माण हुई थी। इस कृति के निर्माण काल में एकनाथ सोलह से अठारह वर्ष के रहे होंगे। इसके बाद 'शुक ष्टक' पर मराठी में टीका उन्होंने प्रस्तुत की है। इसमें अपनी काव्यशक्ति और उसके उपकरणों को तुलनात्मक ढङ्ग पर शुक योगीन्द्रानुभूति के साथ परखकर देखने का सुअवसर उनको मिला है। इस तुलना से उनको आत्म विश्वास की प्रतीति हो गयी और अपनी योग्यता का प्रमाण सद्गुरु के सामने प्रस्तुत करने का सौभाग्य भी उन्हें मिला। लगभग २१ वर्ष की आयु में इसे उन्होंने लिखा।

तृतीय कृति एक स्वतत्र कृति है, जिसमें वश परम्परागत संप्राप्त काव्य प्रतिभा की ईश्वरीय देन को पुन पल्लवित, प्रस्फुटित और विकसित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस कृति को एक अधिकार सम्पन्न सहृदय रसिक ही समझ सकता है। यह 'स्वात्मसुख' नाम से प्रसिद्ध है। एक सुलक्षणी वधू की तरह इसमें उनकी काव्यकला सुसम्पन्न हो गई है।

'शाब्दे परेचनिष्णात' बने हुए एकनाथ 'हस्तामलक' पर मराठी टीका प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उनकी प्रगाढ विद्वत्ता, बुद्धि-वैभव, पाडित्य तथा तत्वदर्शिता के सम्यक् दर्शन हो जाते हैं। यहाँ तक आकर अपने गुरु के सान्निध्य में और मार्ग-दर्शन से जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण में वे उसे हृदयगम करते गये। अपनी अनुभूति की गहराई में उसे परिपक्व कर लेने की क्षमता भी उनमें आ गई। यह करीब-करीब २५-२६ वर्ष की अवस्था की कृति मानी जावेगी।

अपने गुरु जनार्दन स्वामी के यात्रा में उनकी ही आज्ञा से 'चतु श्लोकी भागवत' पर टीका लिखी। इस समय तक वे मध्यम अवस्था वाले अर्थात् लगभग

तीस वर्ष के हो गए थे। सम्पूर्ण रूप से ज्ञानी, तत्वदर्शी पंडित और करुणाप्रवण सत एकनाथ गृहस्थाश्रमी बनकर सगुणोपासना के सिद्ध और गाढ़े जानकार एवम् अनुभवी बन गए। भारत भ्रमण से जन-जीवन के विभिन्न और विविध बातों का तथा विशेषत महाराष्ट्र का सांस्कृतिक जीवन उनके बराबर ध्यान में आ गया।

प्रतिष्ठान और वाराणसी में रहकर उद्धव गीता पर अर्थात् भागवत के एकादश स्कंध पर एक विस्तृत मराठी टीका एक तरफ लिख डाली। दूसरी तरफ वे 'रुक्मिणी स्वयंवर' जैसे खण्डकाव्य को भी लिखते रहे। प्रतिष्ठान में एकनाथी भागवत का श्रीगणेश कर मोक्षदापुरी वाराणसी में उसे समाप्त किया। यहाँ आकर काशी नगरी के महाराष्ट्र-विद्वान पंडितों में उनकी धाक जम गयी। यों स्फुट विषयों पर अनेक अभङ्ग रचनाएँ वे समय-समय पर रचते ही रहे। एकनाथी भागवत में उनके गुरु के द्वारा उनके अभंगों पर उत्कृष्ट अभिप्राय व्यक्त किया गया है। इस तरह कहा जा सकता है, कि उनकी चौथी पाँचवी और छठी कृति उनकी विकास की दशा बतलाने वाली तरतम अवस्थाओं की तीन श्रेणियाँ हैं। एकनाथजी अब तक पर्याप्त स्थिता में प्रौढ़ हो चुके थे। अब इस परिपक्व आयु में अपने ज्ञानामृत के फल वे सबको परम कारुणिक बनकर सहृदयतापूर्ण रीति से चखाते रहे, और एक अधिकार सम्पन्न दैवी महापुरुष के नाते लोगों में मान्यता पाते रहे। ज्ञानेश्वर की 'भावार्थ दीपिका' को लोग विस्मृत कर चुके थे। ज्ञानेश्वर को वैकुंठवासी बनकर २००–३०० वर्षों का अरसा बीत चुका था। उनके ग्रन्थ में अनेक अपपाठ और प्रक्षेप घुस गये थे। उनका निवारण कर उनका शुद्ध पाठ तैयार कर, उनका सुन्दर और योग्य सम्पादन एकनाथ ने किया।

एकनाथी गुरु परम्परा दत्तोपासना की थी। जनार्दन स्वामी की कृपा और अनुग्रह से वे कृष्णोपासक बने। एकनाथी भागवत की रचना करते हुए, वे उदार-चेतस महात्मा और परम भागवत बन गये। भक्ति उनके अन्तःकरण में दृढमूल हो गई थी। ऐसी ही परिस्थिति में प्रभु रामचन्द्र का उन पर अनुग्रह हुआ। उनके आदेशानुसार 'भावार्थ रामायण' रचने का सकल्प कर उसमें वे संलग्न हो गये। प्रभु रामचन्द्रजी और उनका आदेश उन पर इतना हावी हो गया था, कि सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा-सर्वदा सर्वत्र उन्हें रामायण और रामकथा साकार होकर प्रत्यक्ष आँखों के सामने आविर्भूत होने लगी। वृद्धावस्था की असमर्थता के व्यामोह में वे इसकी रचना में प्रभु रामकृपा से दत्तचित्त हो लग गए थे। उनके द्वारा यह कार्य युद्धकांड के ४४ अध्याय तक पूरा हो गया। फिर अपना प्रयाण काल समीप जानकर उन्होंने अपने परम शिष्य गावबा को उसे पूरा करने का आदेश दिया। सन् १५९९ में एकनाथ ने अपना अवतार कार्य समाप्त किया।

गावबा ने गुर्वाज्ञा के अनुसार युद्धकांड के ४५ वें अध्याय से उत्तरकांड तक शेष रचना कर इस कार्य को सुसम्पन्न किया।

अनेक स्फुट विषयों पर रचे गए मराठी और हिन्दी अभंग रचनाओं का महोदधि अपनी गम्भीर और पारमार्थिक अभिव्यंजना और विस्तार के लिये मराठी वैष्णव साहित्य में लोक-विश्रुत है। उनका यह महामहिमा पूर्ण अक्षर-वाङ्मय उन्हें सार्थ रूप में 'मराठी वैष्णव साहित्य का हिमालय' सिद्ध कर उनकी प्रतिष्ठा के स्वर्ण में सुगंध का पक्ष संमिश्र कर उन्हें सम्यक् गौरव प्रदान करता है।

तुकाराम के अभंगों का साहित्यिक पक्ष—

संत श्रेष्ठ और भक्त श्रेष्ठ तुकाराम के अभंगों का साहित्यिक अनुशीलन करते हुए यह प्रमुख रूप से बात ध्यान में आ जाती है, कि उनका काव्य आत्मनिष्ठ और भावपूर्ण परिस्थितियों से सम्पन्न और अनुभूति की मार्मिक दशाओं से युक्त है। इसका कारण उनका तीव्र रूप में किया गया चिंतन, मनन और अध्ययन है। तुकाराम के अभंगों के विषय आध्यात्मिक और उच्च विचारों की तीव्रतम अन्तर्मुख प्रवृत्तियों से युक्त हैं। गुरुपदेश हो जाने के पूर्व उनका अन्तःकरण काव्य के अभिव्यंजना पक्ष की परिपक्वता प्राप्त करने में तत्पर था। काव्य विशेष रूप से स्फुरित और प्रस्फुटित गुरुपदेश के बाद ही हुआ। गुरुपदेश हो जाने के पूर्व भी वे काव्य-रचना करते थे इसका प्रमाण वे इस प्रकार देते हैं—

> *करितो कवित्व म्हणाल हे कोणी। नव्हे माझी वाणी पदरीची।*
> *तुका म्हणे आहे पाइकचि खरा। वागविते मुद्रा नामाचिया॥*[1]

यदि कोई मुझसे पूछता है कि यह कवित्व किस का है? तो मेरा यह उत्तर है कि यह मेरी अपनी वाणी नहीं है प्रत्युत वह विश्वम्भर मेरे द्वारा अपनी वाणी मुखरित करवा रहा है। मैं पामर कुछ भी नहीं जानता। अर्थभेद तथा काव्य प्रकार भी मुझे ज्ञात नहीं हैं। यह सारा गोविन्द की कृपा का और सामर्थ्य का फल है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। विश्व के स्वामी की सत्ता से वह कोई भी कार्य चाहे जिससे करवा लेते हैं। मैं तो भगवान् का सेवक मात्र हूँ, और नाम मुद्रा धारण करता हूँ इसी नाते गोविन्द मुझे मुखरित कर देते हैं। यह विनम्रता आगे चलकर भक्ति की तादात्म्यता से विकसित होकर प्राञ्जल, अनुभूतियुक्त तथा गुरुकृपा से अधिकार सम्पन्न वाणी में परिणत हो जाती है। उनके आत्म भावाभिव्यंजक उद्गार निर्भयता से एक फक्कड की तरह अभिव्यंजित हो जाते हैं। आत्मसमर्पण करने वाले भक्त की वाणी अमृतमयी मधुरिमा से युक्त तथा सीधे अन्तःकरण पर चोट करने वाली प्रतीत होती है।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग (सरकारी गाथा—अभङ्ग १००७)।

तुकाराम एक अधिकारी भक्त थे अतः उनकी यह उक्ति देखिए[1]—

अन्तर्मुख भक्त की अभिव्यंजना—

> सांगा दास नव्हे तुमचा मी कैसा । ऐसे पंढरीशा विचारावी ॥
> कोणासाठी केलो प्रपचाची होळी । या पायां वेगळी मायबापा ॥
> नसेल तो यावा सत्यत्वासी धीर । नये माजू हीर उफराटे ॥
> तुका म्हणे आम्हा आहिक्य परत्री । नाही कुल गोत्री दुजे काहीं ॥
>
> × × ×
>
> काही मागणे हे आम्हा अनुचित । वडिलाची रीत जाणतसे ॥
> देह तुच्छ वाटे सकळ उपाधी । सेवे पाशी बुद्धि राहिली से ॥
> शब्द तो उपाधि अचळ निश्चय । अनुभव हा काय नाही अङ्गी ॥
> तुका म्हणे देह फाकिला विभागी । उपकार अङ्गी उरविला ॥

अन्तर्मुख और आत्मपरक बने हुए तुकाराम के काव्य में अन्तर्मुखता बहुत तीव्रतम मात्रा में है। भक्त के नाते वे भगवान् को चुनौती देकर कहते हैं कि बतादिये तो सही कि हे पंढरीनाथ जी ! मैं आपका दास किस प्रकार नहीं हूँ ? अपने हाथों अपना सर्वस्व जलाकर क्या मैंने आपके चरणों का आश्रय नहीं ग्रहण किया ? आपके सत्यत्व की पहचान हो जाय इसलिए सामर्थ्य, धैर्य आदि की मुझमें कोई कमी हो तो आप उसे मुझे प्रदान कर दीजिए। अब इस संसार में आपके सिवा मेरा कौन है ? अब तो किसी से कुछ भी माँगना मेरे लिए अनुचित लगता है। मुझ से ज्येष्ठ लोगों की प्रणाली का मैंने पालन किया है। आपकी सेवा के अतिरिक्त बुद्धि कहीं अन्यत्र रमती ही नहीं है। केवल शाब्दिक बकवास तो व्यर्थ का बोझ है। भक्ति से सम्प्राप्त मेरा अनुभव क्या यह नहीं बतलाता कि मैंने अपने भीतर केवल उपकार को ही स्थान दे रखा है ? मेरा निश्चय अटल है। आपका नाम अनमोल है, इसका मुझे पूरा भरोसा है।

तुकाराम तो कोरमकोर भक्त थे। बस इसी एक साधन से भगवान् को प्राप्त कर लेना उनका चरम लक्ष्य बन गया था। इसीलिए उनकी एक ही चिन्ता थी, जिसे वे व्यक्त कर देते हैं[2]—

भक्त का मनोभाव—

> काय मी उद्धार पावेन । कृपा करील नारायण ।
> तुका म्हणे नाहीं अपुले बळ । जेणे फल पावेन निश्चयेसी ॥

---

१ तुकारामाचे अभंग, ४०८४, २२३२।

२. तुकारामचे अभंग, ६१६।

क्या सचमुच भगवान् मुझ पर कृपा करेंगे ? मेरा उद्धार हो जावेगा ? क्या मेरे पिछले कर्म और धर्माधर्म का विलयन हो जायगा ? क्या स्थिर बुद्धि में मेरा ध्येय पथ मुझे दिखाई पड़ेगा ? भगवान् के चरणों में झुक कर जब मैं गिर पड़ूंगा। तो क्या वे मुझे उठाकर अपने गले से लगा लेंगे ? जिससे मेरा गला रुधकर भर आवेगा, क्या ये सारी इच्छाएँ परितृप्त हो सकेंगी ? क्या मैं इतना भाग्यशाली हूँ ? भगवान् से मिलने की उनमें बहुत बेचैनी है। उनके न मिलने से चिढ़ और क्रोध की समिश्र भावना स्थान स्थान पर अभिव्यक्त हो गई है।

अपने आराध्य के प्रति नैकट्य की भावना से प्रकट होने वाला क्रोध—

तुकाराम की भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली उक्ति देखिए[1]—

भक्त और भगवान् की अभिन्नता—

> क्षरण क्षरण जीवा वाढतसे खतो। आठवतो चित्तो पायदेवा ।।
> तुका म्हणे वाटे देसी आलिंगन । अवस्था ते क्षरण होत असे ।।

हे नारायण ! मेरा मन उतावला होकर आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। आपकी स्मृति मुझे पीड़ा पहुँचा रही है, आप स्वयम् दौड़ते हुए आकर मुझे क्षेमालिंगन दीजिये। जब तक आप मुझे स्वीकार नहीं कर लेंगे तब तक इस भक्ति के कृत्रिम बहुरूपियेपन से मुझे यह ससार सरिता पार करना कठिन हो जायगा। आपका दर्शन सुख किस प्रकार का होगा ? मैं नहीं जानता। मुझे यह उत्कंठा व्यग्र कर देती है। आपका मुखकमल देख कर मुझे उसका अनुभव हो जायगा। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आप प्रत्येक क्षण मुझे आलिंगन दे रहे हैं। अपना आत्म-दैन्य वे परमात्मा से निवेदन कर देते हैं, और उनकी पतित पावनता की याद दिलाकर उसे अपने लिए कार्यान्वित करने की प्रार्थना करते हैं। जब आत्मैक्य की स्थिति में वे पहुँच जाते हैं, तब वे उसे इस तरह प्रकट करते हैं[2]—

आत्मा-परमात्मा की एकता—

> देह तो पढरी एक पुडलिक। स्वभाव सम्मुख चन्द्रभागा ।।
> विवेका चो वोट आत्मा पढरी राव। जेथे जेथे देव ठसावला ।।
> क्षमा दया दोन्ही राई रखुमाबाई। दोहोंकडे बाही मुक्ति असे ।।
> विवेक वैराग्य गरुड हनुमंत। कर जोडुन तेथे सदा उभे ।।
> तुका म्हणे आम्ही देखिली पढरी। चुकविली फेरी चौ-यांयशीची।

---

१. तुकारामाचे अभग २५६३।
२. तुकाराम कृत अभग।

कुछ भी नहीं कहता। अपने आराध्य विठ्ठल के सम्मुख और सान्निध्य में जो बोल मेरे मुख से उन्होंने अभिव्यजित करवाये उनको ही मैंने अपने स्वामी के बल पर आर्तजनों के सम्मुख रखा है। इसमें तुकाराम अपनी कर्तृत्व भावना को स्वयम् ग्रहण नहीं करते हैं, प्रत्युत उसे विठ्ठल को ही प्रदान कर देते हैं। यह तो उनका दिया संदेश है, जो मैं आप लोगों के लिए वितरित कर रहा हूँ। मुझे कोई चिन्ता इस बात की नहीं है, कि इसमें से कौन कितना ग्रहण करेगा। मैं तो अपने परमेश्वर की आज्ञा का पालन भर कर लेता हूँ। परन्तु उनका उदार अन्त करण जनता की दुखावस्था को देखकर दुखी होता है। अतएव वे पुन: अभ्यर्थनापूर्वक आर्तजनों से कहते हैं[१]—

> सेविलो हा रस वाटितो आणिका। घ्यारे होऊं नका रानभरी॥
> विटेवरी ज्याची पाऊले समान। तोचि एक दान शूर दाता॥
> मनाचे सकल्प पावतील सिद्धि। जरी राहे बुद्धि याचे पायी।
> तुका म्हणे मज धाडिले निरोपा। मारग हा सोपा सुखरूप॥

मैं इस भक्ति रस को प्रथम सेवन करता हूँ और फिर आपको बाँट रहा हूँ। इसे ले लो क्यों व्यर्थ मारे-मारे फिरते हो? जिनके समचरण ईंट पर स्थित हैं ऐसे विठोबा इस रस के प्रदाता दानशूर हैं। इसे ग्रहण करो तो आपके मन में किये गये सकल्प सिद्ध होंगे। एकमात्र शर्त यही है, कि आप अपनी बुद्धि विठ्ठल के चरणों में समर्पित कर दें। मुझे तो उन्होंने संदेश भेजकर यह बतलाया है कि यह भक्ति मार्ग सरल और कुशलता से भगवान् की प्राप्ति का सहज साधन है।

सांसारिक लोग डूब रहे थे। तुकाराम से यह नहीं देखा गया तब उन पर उपकार करने की भावना से प्रेरित होकर वे डूबने वालों को दिलासा देना चाहते हैं। इस उपकार पूर्ण भावना में उनकी आत्मानुभूति और स्वात्म-प्रतीति मिली जुली थी। यह सोलहों आने सत्य का साक्षात्कार था, जिसे वे उनके सामने रख देते हैं। यही मनोभाव यहाँ पर प्रकट कर वे दिखाते हैं।[२] यथा—

> बुडता हे जन न देखवे डोळा। येता कळवळा म्हणोनिया॥
> तुका म्हणे माझे देखतील डोळे। भोग देते वेळे येईल फळो॥

डूबते हुए जनों की दशा मुझ से नहीं देखी जाती। मेरा अन्त करण द्रवीभूत हो जाता है अत मैं अपने स्वानुभूत सत्य का, ज्ञान का सीधे-सादे शब्दों में निवेदन कर देता हूँ। अपनी काव्य वाणी के जलदों से वे सब पर करुणावृष्टि कर

१ तुकारामाचे अभग ३१४।
२. तुकाराम कृत अभङ्ग।

देते हैं। उनकी आत्मानुभूति अपनी निजी आत्म प्रतीति की भट्टी में तपाई गई थी। अपने अनुभव के सत्य को वे यों प्रकट कर देते हैं।

तुकाराम के आत्मानुभव—

हारो माझा अनुभव। भक्ति भाव भाग्याचा॥
केला ऋणी नारायण। नव्हे क्षण वेगळा।
घालोनिया भार माथा। अवघी चिंता वारली।
तुका म्हणे वचना साठी। नामकंठी वारोनिया॥

× × ×

अनुभवे आले अङ्गा। तें या जगा देतसे।[1]
नव्हती हात तुके बोल। मूळ ओल अन्तरींची॥
तुका म्हणे ज्याचे नाम गुणवत। ते नाही लागत पसरावे॥[2]

तुकारामाचे अभंग न० ३२३५।

मेरी अनुभूति भाग्य से ही मेरे हाथ पड़ गई है। भक्ति का भाव उत्पन्न होना सौभाग्य का लक्षण है। नारायण को अपनी भक्ति से ऋणी बना लिया था, इसी से कोई क्षण मेरे जीवन में ऐसा नहीं आया जिसमें नारायण से मैं अलग पड़ गया था। मैंने अपना सारा उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया था। मेरी सारी चिन्ताएँ नारायण ने निवारण कर दीं। भक्त पालक यह अभिधान सत्य सिद्ध करने के लिए भगवान् भक्त को संकट मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार मेरे अनुभव में जो कुछ तथ्य हाथ लगा है, उसे सहृदय पूर्ण बनकर सबको मैं वितरित करता रहता हूँ।' अन्तःकरण की स्वाभाविक आर्द्रता ने तुकाराम को प्रेरित कर दिया था, कि वे आर्त जनों में इस भगवान् के प्रसाद को बाँट दें। ये रत्नों की तरह मोल्यवान अनुभव हैं। जो अपने अद्भुत गुणों से अपनी प्रतिष्ठा सिद्ध कर देंगे। हृदय की भूमि शुद्ध भाव से उर्वर हो गई है उसमें भक्ति के बीज वपन कर दिये जाने पर उसका फल भगवदनुभूति के रूप में सब को अवश्य मिलेगा।

तुकाराम की समाज को देन—

अपनी प्रखर स्पष्ट वादिता से अपने अभङ्गों में लोगों के दोषों और पाखंडों पर जोरदार प्रहार किये हैं। सदाचार और सन्मार्ग पर चलने का वे नित्य उपदेश देते रहे हैं। अपने पूर्व कालीन सन्तों के ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी, एकनाथी-भागवत,

१ तुकारामाचे अभंग २८००, २८४५, ३२३५।
२. तुकारामाचे अभंग संख्या ३२०।

नामदेव की गाथा, आदि का तुकाराम ने कई बार पारायण कर लिया था। इन सबके संस्कार तुकाराम के काव्य पर विद्यमान हैं। सब प्राणियों पर दया, सब में ईश्वरीय तत्व की पहिचान, सर्वात्मभाव, जगत् का क्षण भंगुरत्व आदि सारे भाव उनके काव्य में भरे हुए हैं। इन सबको उन्होंने भक्ति रस में सिंचित कर अपनी भावभंगिमा से अभङ्गों में अभिव्यक्त कर दिया है। यही उनकी महाराष्ट्रीय समाज को सबसे बड़ी देन है। पारमार्थिक क्षेत्र की ये अनुभूतियाँ बड़ी व्यापक और मार्मिक हैं। इन अभङ्गों में तुकाराम का अनन्य भाव और प्रेम से अखण्ड नामस्मरण गूंज उठा है। भक्ति और ध्यान के माध्यम से उनको राज-योग की सभी बातें अपने आप सहज ही प्राप्त हो गयीं थीं। परमेश्वर का दर्शन-आत्मस्वदर्शन और उससे प्राप्त अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि उन्हें हो गयी थी। उनकी पारमार्थिक भूख बड़ी प्रबल थी, इसीलिए सभी प्राणियों को वे ब्रह्म रूप देख सके। विठ्ठल के साथ बातचीत, आलिंगन, दर्शन आदि सभी सुख उन्हें सचमुच में इसी जीवन में प्राप्त हो गये। तुकाराम के अभङ्गों की भाषा सीधी-साधी और प्रांजल है, तथा उनमें थोड़े में बहुत कहने की शक्ति है। उनकी अभिव्यञ्जना में परिपक्व अनुभवों की बातें हैं। यों कहा जा सकता है, कि ये एक सिद्ध की बातें है। उनके अभग रत्नों का अपूर्व भंडार है।[1] यथा—

> देवाचीं ते खूण आलें ज्याचा घरा।
> त्याच्या पडे चिरा मनुष्य पणा॥
> देवाचीं ते खूण झाला जया संग॥
> त्याचा झाला भग मनुष्य पणा॥

'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाता है,' यह कथन तुकाराम के बारे में सार्थक हो जाता है। वे कहते हैं कि जिसके गृह में भगवान् की प्रतिष्ठा है वहाँ पर मानवता के स्थान पर देवत्व विराजमान हो जाता है, और मानवता की शिला में दरारें पड़ जाती हैं। अपने अभङ्गों के द्वारा पराभक्ति के प्रसार का कार्य परमात्मा के लाडले भक्त तुकाराम ने दिल खोलकर किया। तुकाराम के अभंगों की विवेचन प्रणाली निवृत्ति परक है। उनके प्रतिपादन का सार यही है कि मानव का ध्येय ईश्वर-प्राप्ति है। इसके लिए दुर्गुणों का त्याग तथा समुचित रूप में प्रपंच का आश्रय लेकर वैराग्य को अपनाना चाहिए। स्वार्थ, अहङ्कार, मद-मत्सर, पर-पीड़ा, तथा परनारी को त्याग कर भूतदया, क्षमा, शान्ति परोपकार आदि गुणों का प्रादुर्भाव अपने में कर लेना आवश्यक है। समाज के दम्भ और पाखण्ड पर लिखे गये

---

1. तुकारामाचे अभग ३४४६।

उनके १००–१२५ अभंग होते हैं। इनके द्वारा दिया गया काव्योपदेश ही इनका बहुत बड़ा सामाजिक कार्य है। समाज के मूलभूत सद्गुणों की वृद्धि उन्होंने की। अपने समय की राजनीति में वे तटस्थ ही रहे। मानव की मानवता को जगाने का कार्य उन्होंने किया, और समाज की अधोगति से उसे उबार कर मानवता के उच्च स्तर पर लाकर बिठाया। कुछ लोगों का यह आक्षेप कि तुकाराम के उपदेशों से लोग आलसी बन गये, एकदम निराधार और निर्मूल जान पड़ता है।

अब हम तुकाराम कृत हिन्दी रचनाओं पर भी कुछ विवेचन करेंगे। कृष्ण-लीला विषयक कुछ पद तुकाराम ने लिखे हैं। उनके अभंगों की हिन्दी भाषा परिष्कृत नहीं है, परन्तु उसमें एक सहज उत्स्फूर्तता अवश्य प्रतीत हो जाती है। उसे हम व्रज भाषा ही कहेंगे। वैसे कुछ अभंगों में मराठी और गुजराती की छाप अवश्य उभर पड़ी है ऐसा जान पड़ता है। अब कुछ हिन्दी अभंग देखिये।

तुकाराम के हिन्दी अभंग[1]—

कृष्ण-लीला परक दो ग्वालिन का यह चित्र देखिये—

(१) मैं भूली घर जानी बाट। गोरस बेचन आयें हाट॥
कान्हारे मन मोहन लाल। सब ही बिसरूँ देखे गोपाल॥
काहां पग डारूँ देख आनेरा। देखें तों सब वोहिन घेरा॥
हुंतो थकित भैरे तुका। भागारे सब मन का धोका॥

× × ×

(२) भलो नंदजी को डिकरो। लाज राखी लीन हमारो॥
आगळ आतो देवजी कान्हा। मैं घर छोडी आहे हू माना॥
उनसु कळना नव्हे तो भला खसम अहङ्कार दादुला॥
तुका प्रभु पर बल हरी। छपी आहे हूं जगा थी न्यारी॥

यह ग्वालिन कहती है, कि मैं गोरस बेचने बाजार में जो पहुँची परन्तु अपने घर वापस लौटने का मार्ग भूल गई। ऐसा लगता है कि हे कन्हैया! हे मन-मोहन! सब कुछ भूल-भालकर केवल गोपालों को ही देखती रह जाऊँ। अब ऐसी विपन्नावस्था में मैं अपने कदम कहाँ पर रखूँ क्योंकि मेरे सामने अन्धकार है। वैसे मैं जहाँ देखती हूँ वहाँ वह सबको आपने ही घेर रखा है। अतः आपका ही भरोसा है। दूसरी ग्वालिन कहती है कि नन्दजी का यह पुत्र बड़ा सामर्थ्यशाली है क्योंकि इसने मेरी लाज रख ली है। मेरे आराध्य कन्हैया सामने आ जाओ। मैं तो अपना घर छोड़कर आपसे मिलने आई हूँ। मेरे पति को न मालूम हो तो अच्छा है।

१. तुकारामाचे अभंग ३८१, ३८३।

उसी मे मेरा भला है। क्योंकि मेरे पति अहङ्कारी हैं और क्रोधी हैं। मैं तो जग से न्यारी हूँ और हे भगवान् ! छिपकर आपसे मिलने आ गई हूँ। तुकाराम कहते हैं कि प्रभु सर्व शक्तिमान है पर यहाँ पर उस ग्वालिन का सारा बल श्रीहरि के द्वारा प्रदत्त है। तात्पर्य यह है कि उसे कोई अड़चन घर पर और बाहर दोनो स्थानो पर महसूस नही होगी ऐसा उसका विश्वास है। तुकाराम ने कुछ अन्य पद भी हिन्दी मे लिखे हैं। नमूने के तौर पर हम यहाँ पर कुछ पदो को लेंगे—

> क्या गाऊँ कोई सुननेवाला। देखे तो सब जगही भूला।
> खेलों अपने रामहि सात। जैसी वेरनी कर हीं मात॥
> कहाँ से लाऊ मधुरा वानी। रीझे ऐसी लोक विरानी।
> गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नहि जानत तुका॥[1]

× × ×

> वार वार काहे मरत अभागी। बहुरि मनर से क्या तोरे भागी।
> एहितन करते क्या ना होय। भजन भगति करे वैकुण्ठ जाय।
> रामनाम मोल नहि बेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत झगरी।
> कहे तुका मनसूँ मिल राखो। रामरस जिव्हा नित्य चाखो॥[2]

× × ×

> हम उदास तीन्ह के सुना हो लोका। रावण मार विभीषण दिई लंका।
> गोवर्धन नखपर गोकुल राखा। वर्मन लागा जब मैंहु फत्तर का॥
> वैकुंठनायक काल कसासुरका। देनहुवाय सब भन्नाय गोपिका॥
> स्तभ फोड पेट चिरीया कश्यपका। प्रल्हाद के लिये कहे भाई तुक्या का॥

तुकाराम कहते हैं, क्या करूँ मेरी कोई सुनने वाला ही नही है। सारा संसार अपने स्वार्थ मे ही भूला पडा हुआ है। मैं तो अपने राम के साथ मेरा रहता हूँ, और किसी तरह सब को मात करता हूँ। मैं मधुर वाणी कहाँ से लाऊँ ? क्यों कि उस पर जो रीझेंगे ऐसे लोग ही दूसरी कोटि के होते हैं। बस मेरे गिरधारी तो केवल भावों के भूखे हैं। मैं तो गाने की कला तक नहीं जानता हूँ।

× × ×

हे जीव ! तू क्यो वार वार मरता है। वार वार मरने से मुझे कौनसा सौभाग्य प्राप्त होने वाला है। इस शरीर से यदि कोई कुछ कार्य करना हो चाह

---

१. तुकारामाचे अभग ११४१, पृ० ३०६।

२ तुकारामाचे अभग ११७१, पृ० २०६।

तो क्या नहीं कर सकता ? यदि कोई इसी शरीर से भजन-भक्ति करता है, तो वह अवश्य वैकुंठ को प्राप्त कर सकता है। रामनाम माल देने के लिए कवडी (कौड़ी) भी खर्च करनी नहीं पड़ती। किन्तु वही रामनाम सारी माया के झगड़ों से मुक्त कर देता है। तुकाराम कहते हैं कि जिह्वा को नित्य राम रस चखना चाहिए। रामनाम म मन पूर्वक आस्था रखनी चाहिए।

× × ×

जिन के कारण हम संसार से उदास हो गये हैं, उनकी महिमा सुनिये। प्रभु रामचन्द्रजी ने रावण को मारकर विभीषण को लङ्का का राज्य दिया। गोवर्धन को अपने नख पर धारण कर सारे गोकुल की रक्षा की, जबकि मूसलाधार वर्षा इन्द्र के प्रकोप से हुई थी। वैकुंठनायक कंसासुर के काल हैं। गोपिकाओं से सर्वस्व लेकर उनके द्वैत भाव से उन्हें मुक्त किया। प्रल्हाद के लिए हिरण्य कश्यप का पेट फाड़कर उसकी सुरक्षा की।

तुकाराम द्वारा लिखी गयी कतिपय साखियाँ भी द्रष्टव्य हैं[१]—

तुकाराम बहुत मीठा रे। भर राखू शरीर। तनकी करूँ नावरि
उतारूँ पैल तीर ॥११७७॥
तुका प्रीत रामसूँ। तैसी मीठी राख। पतङ्ग जाय दीप परेरे।
करे तन को खाक ॥११८४॥
तुका दास राम का। मन में एक हि भाव। तो न पालटूआव।
येहि तन जाव ॥११९२॥
तुका मिलना तो भला। मनसूँ मन मिल जाय। उपर उपर माटि घसनी।
उनकी कौन बराई ॥११९७॥
खोद मेरे साइयाके। तुका चल.वे पास। सुरा सोहि लरे हमसें।
छोरे तनकी आस ॥१२००॥
कहे तुका भला भया। हुं हुवा संतन का दास।
क्या जानू केते मरता। जो न मिटती मनकी आस ॥१२०१॥

तुकाराम कहते हैं, रामनाम बहुत मीठा है। उसको सारे शरीर में भर रखूँगा। इस शरीर की नौका से भवसागर रामनाम के सहारे पार कर जाऊँगा। राम से प्रीति कर उसके माधुर्य के साथ उसका वैसा ही निर्वाह करना चाहिए, जैसे पतङ्ग दीपक पर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है। तुकाराम कहते हैं, कि राम का दास हूँ। मेरे मन में एक यही भाव है। चाहे मेरा शरीर चला जाय

---

१ तुकारामाचे अभंग साखियाँ ११७७, ११८४, ९२-९७, १२००, १२०१,
पृ० २१०-१२।

परन्तु मैं उसमे कोई परिवर्तन नही करूँगा। तुकाराम कहते हैं, मिलना वही अच्छा है जहाँ मन से मन मिल जाता है। ऊपरी तौर पर मिलना केवल मिट्टी का मलना मात्र है उसकी कोई प्रतिष्ठा नही है। मेरे स्वामी का यह विरद है कि वे शरणागत वत्सल हैं। इसलिए मैं उनके पास आया हूं। जो अपने तन की आशा को छोड़ सकता है वही शूर हमसे लड़कर आजमाइश कर देख ले। मैं सन्तो का दास हूँ यह बहुत अच्छी बात है। वैसे तो न मालूम कितने ही मन की आशा पूरी न होने के कारण रोज मरा करते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि इस अभिव्यंजना मे तुकाराम की भक्ति के स्वर तथा उसकी शैली वही है जो उनके मराठी अभङ्गो मे मिलती हैं। भक्ति तो उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। तुकाराम का साहित्य करुण रस मे परिपूर्ण है।

रामदास के काव्य का साहित्यिक पक्ष—

समर्थ रामदास का साहित्य ओजस्वी तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाला है। बहुत से लोग समर्थ रामदास को साहित्यकार ही नही मानते। वस्तुत यह बात नही है। वे सहृदय तथा प्रतिभावान कवि हैं अपनी काव्य प्रतिभा को अपने उपास्य के गुणानुवाद मे और चरित्र चित्रण मे वे प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त रूप मे व्यवहृत करते हैं। इसे देखना हो तो उनकी कतिपय कृतियाँ अध्ययन कर इसे सिद्ध किया जा सकता है। वैराग्य परक भावना होते हुए एक मुमुक्षु की तरह केवल अपना मोक्ष या आत्मकल्याण की ही चिन्ता उनको नही लगी है। परन्तु लोक-कल्याण की व्यापक दृष्टि भी उनमें है। इसलिए वे व्यापक रूप से सब मे सदाचार और आस्तिकता आजाय, इसके लिए साधनारत तथा प्रयत्नशील जान पड़ते हैं। उनकी काव्य-साधना, आध्यात्मिक-साधना की तरह तपस्या और ईश्वरी अधिष्ठान पर आश्रित होने से उनका साहित्य अनुभूति पर आधारित है। अपने आराध्य के साथ उनका सबध भक्ति की सरसता और भावात्मकता मे शिथिल न था, वरन् परिपूर्ण एवम् सुसम्पन्न था।

उनकी वर्णन शैली गभीर तथा चित्रोपम लालित्य, तन्मयता और गति-शीलता पूर्ण है। इस के साथ लय और एकतानता भी उनके साहित्य मे विद्यमान है। 'दासबोध' जैसी विचार प्रधान कृति मे बुद्धि और चिंतन की गभीरता मिलती है। परन्तु उनके पदो मे और कविताओं मे तथा अन्य भावाभिव्यंजक कृतियो मे सरसता और रस परिपोष करने वाली भावुकता पूर्ण शैली विद्यमान है।

शब्द योजना और ध्वन्यात्मकता प्रदर्शित करने वाली उनकी 'सीता-स्वयवर' वर्णन नाम की कविता द्रष्टव्य है। यथा[1]—

१. समर्थाची गाथा, पद १०३५ पृ० ३११।

तो क्या नहीं कर सकता ? यदि कोई इसी शरीर से भजन-भक्ति करता है, वो वह अवश्य वैकुंठ को प्राप्त कर सकता है। रामनाम मोल देने के लिए कवडी (कौडी) भी खर्च करनी नहीं पड़ती। किन्तु वही रामनाम सारी माया के झगड़ों से मुक्त कर देता है। तुकाराम कहते हैं कि जिह्वा को नित्य राम रस चखना चाहिए। रामनाम में मन पूर्वक आस्था रखनी चाहिए।

× × ×

जिन के कारण हम संसार से उदास हो गये हैं, उनकी महिमा सुनिये। प्रभु रामचन्द्रजी ने रावण को मारकर विभीषण को लङ्का का राज्य दिया। गोवर्धन को अपने नख पर धारण कर सारे गोकुल की रक्षा की, जबकि मूसलाधार वर्षा इन्द्र के प्रकोप से हुई थी। वैकुंठनायक कंसासुर के काल हैं। गोपिकाओं से सर्वस्व लेकर उनके द्वैत भाव से उन्हें मुक्त किया। प्रल्हाद के लिए हिरण्य कश्यप का पेट फाड़कर उसकी सुरक्षा की।

तुकाराम द्वारा लिखी गयी कतिपय साखियाँ भी द्रष्टव्य हैं[1]—

तुकाराम बहुत मीठा रे। भर राखूं शरीर। तनकी करूं नावरि
उतारूं पैल तीर ॥११७७॥

तुका प्रीत रामसुं। तैसी मीठी राख। पतङ्ग जाय दीप परेरे।
करे तन की खाक ॥११८४॥

तुका दास राम का। मन में एक हि भाव। तो न पालटूआव।
यहि तन जाव ॥११९२॥

तुका मिलना तो भला। मनसुं मन मिल जाय। उपर उपर माटि घसनी।
उनकी कौन बराई ॥११९७॥

चोट मेरे साइंया के। तुका चलवे पास। सुरा सोहि लरे हमसें।
छोरे तनकी आस ॥१२००॥

कहे तुका भला भया। हुं हुवा संतन का दास।
क्या जानूं केते मरता। जो न मिटती मनकी आस ॥१२०१॥

तुकाराम कहते हैं, रामनाम बहुत मीठा है। उसको सारे शरीर में भर रखूँगा। इस शरीर की नौका से भवसागर रामनाम के सहारे पार कर जाऊँगा। राम से प्रीति कर उसके माधुर्य के साथ उसका वैसा ही निर्वाह करना चाहिए, जैसे पतङ्ग दीपक पर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है। तुकाराम कहते हैं, कि राम का दास हूँ। मेरे मन में एक यही भाव है। चाहे मेरा शरीर चला जाय

---

१ तुकारामाचे अभंग साखियाँ ११७७, ११८४, ९२-९७, १२००, १२०१, पृ० २१०-१२।

परन्तु मैं उसमें कोई परिवर्तन नहीं करूँगा। तुकाराम कहते हैं, मिलना वही अच्छा है जहाँ मन से मन मिल जाता है। ऊपरी तौर पर मिलना केवल मिट्टी का मलना मात्र है उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। मेरे स्वामी का यह विरद है कि वे शरणागत वत्सल हैं। इसलिए मैं उनके पास आया हूँ। जो अपने तन की आशा को छोड़ सकता है वही शूर हमसे लड़कर आजमाइश कर देख ले। मैं सन्तों का दास हूँ यह बहुत अच्छी बात है। वैसे तो न मालूम कितने ही मन की आशा पूरी न होने के कारण रोज मरा करते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि इस अभिव्यंजना में तुकाराम की भक्ति के स्वर तथा उनकी शैली वही है जो उनके मराठी अभङ्गों में मिलती हैं। भक्ति तो उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। तुकाराम का साहित्य करुण रस से परिपूर्ण है।

रामदास के काव्य का साहित्यिक पक्ष—

समर्थ रामदास का साहित्य ओजस्वी तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाला है। बहुत से लोग समर्थ रामदास को साहित्यकार ही नहीं मानते। वस्तुतः यह बात नहीं है। वे सहृदय तथा प्रतिभावान कवि हैं अपनी काव्य प्रतिभा को अपने उपास्य के गुणानुवाद में और चरित्र चित्रण में वे प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त रूप में व्यवहृत करते हैं। इसे देखना हो तो उनकी कतिपय कृतियाँ अध्ययन कर इसे सिद्ध किया जा सकता है। वैराग्य परक भावना होते हुए एक मुमुक्षु की तरह केवल अपना मोक्ष या आत्मकल्याण की ही चिन्ता उनको नहीं लगी है। परन्तु लोक-कल्याण की व्यापक दृष्टि भी उनमें है। इसलिए वे व्यापक रूप में सब में सदाचार और आस्तिकता आजाय, इसके लिए साधनारत तथा प्रयत्नशील जान पड़ते हैं। उनकी काव्य-साधना, आध्यात्मिक-साधना की तरह तपस्या और ईश्वरी अधिष्ठान पर आश्रित होने से उनका साहित्य अनुभूति पर आधारित है। अपने आराध्य के साथ उनका संबंध भक्ति की तन्मयता और भावात्मकता से रहित न था, वरन् परिपूर्ण एवम् सुसम्पन्न था।

उनकी वर्णन शैली गंभीर तथा चित्ताकर्षक साहित्य, तन्मयता और रसिकता पूर्ण है। इस के साथ लय और एकतानता भी उनके साहित्य में विद्यमान है। 'दासबोध' जैसी विचार प्रधान कृति में बुद्धि और चिन्तन की गम्भीरता मिलती है। परन्तु उनके पदों में और कविताओं में तथा अन्य भावाभिव्यंजक कृतियों में तन्मयता और रस परिपोष करने वाली भावुकता पूर्ण शैली दिखाई देती है।

शब्द योजना और ध्वन्यात्मकता प्रदर्शित करने वाली उनकी 'सीता-स्वयंवर' वर्णन नाम की कविता द्रष्टव्य है। यथा[1]—

1. समर्थांची गाथा, पद १०३५ पृ० ३११।

रामे सज्जीले वितंड परमचंड। रामे उचलिले त्र्यंबक कौशिक ऋषि पुलकांक ॥
रामें मोडिले शिव धनु सीतेचे तनु मनु।
रामे भंगिले भवचाप असुरां सुटला कंप ॥
फर फर फर फर मोडिल कुंजर। धनुष्य आलिले चूर्ण ॥
हर हर हर हर अतिघरण दुष्कर। सुन्दर रघुपति रूपें।

× × ×

जय जय जय जय जयति रघुराज वीर। गर्जति जयकारे ॥
धिम धिम धिम धिम नृपदेव दुंदुभी। गगन गर्जले गजरे ॥
तर तर तर तर मङ्गल तूरे। विविधवाद्ये सुन्दरे।
समरस रस रस दासामानसी राम सीता वधुवरे ॥[1]

रामचन्द्रजी ने परम प्रचंड शिव-धनुष को अपने हाथों में उठा कर सुसज्ज कर लिया है। विश्वामित्रादि ऋषि गण जब प्रभु रामचन्द्रजी ने पिनाक पाणी के धनुष को उठा लिया तब पुलकित हो गये। प्रभु ने शिवजी का धनुष क्या तोड़ा वरन् सीता का तन मन ही मानो छीन लिया। रामचन्द्रजी ने शंकर के धनुष का भंजन किया तब असुरों को भय से कंप छूटा। दिशाओं के गज एक दूसरे से फर फराते हुए टकराने लगे। अत्यन्त दुष्कर शिव-धनुष को उठाकर और खींचकर अपने सुन्दर रूप से दशग्रीवाओं वाले रावण को क्रोध और ईर्ष्या से भर दिया। जनक राजा के कठिन प्रण को जीता। रामचन्द्रजी के द्वारा तोड़े जाने पर उसकी कर कर ध्वनि से सारी पृथ्वी में भूचाल सा आ गया। धनुष कड़ कड़ाहट करता हुआ टूट गया और आकाश में बड़े जोरों की गड़गड़ाहट मच गयी। घड़ घड़ाते हुए चलने वाला रवि रथ भी अपना दैनंदिन मार्ग चूक गया और इधर-उधर डोलने लगा। भूगोल डोलायमान हो गया। स्वर्ग लोक, मृत्युलोक और पाताल लोक एक हो गये, तथा सर्वत्र कण कुहरों से टकराने वाली ध्वनि गर्जना कर उठी। रामदास कहते हैं, कि ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे विधाता ने अपना कार्य बन्द कर दिया। सर्वत्र हलचल और भगदड़ सी मच गयी। पंचमुखी शङ्करजी प्रसन्न हो गये। सिंधु में पर्वत वत हिलोरें उमड़ आयीं। धरती थकित और स्तब्ध हो गई। निशाचरों के कर्ण बधिर हो गए जिससे भयभीत होकर वे चकित हो देखने लगे कि यह सब क्या हो गया है। राम के भयंकर पराक्रम और पुरुषार्थ को देख कर देवता गण पुष्प वृष्टि करने लगे। रत्नमालिकाएँ लख लखाने लगीं। सब रघुवीर की जय हो, रघुवीर की जय हो ऐसा घोषित कर प्रसन्न हो गये। रामदास

[1] समर्थांची गाथा, पद १०३५, पृ० ३११।

स्वामी के मन पटल पर रामचन्द्रजी और सीताजी वधुवर के भेष मे अङ्कित है। देवतागण दुन्दुभी बजाते हैं। सारा आकाश ही मानो उल्लास और आनन्द से गर्जित हो उठा। मङ्गल तुरहीं तथा अन्य वाद्य विविध प्रकार से झङ्कृत हो उठे। रामदास ने इस प्रसङ्ग की योजना ध्वन्यार्थ एवम् व्यंजना के रूप में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत की है। इसमें प्रभु रामचन्द्रजी के शौर्य एवम् अद्भुत पराक्रम का वर्णन है। वीर और अद्भुत रस की एक साथ संयोजना बड़ी सरसता के साथ यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

अब राम-वनवास के दो करुणापूर्ण दृश्य देखिये[1]—

राम-वनवास—

जावाना जावाना राम वाटता हे। नयन सजल कंठ दाटता हे
सर्वहि साडुनि पेल जात आहे ॥ध्रु॥
रामी रामदासी भाव। बळी पडिले देव। सर्व साहुनिया धाव
घातली श्रीरामे ॥

सब पुर जनों को ऐसा लगता है, कि प्रभु रघुनाथ जी का वनगमन के लिए प्रस्थान तो बड़ा अच्छा होगा। सब के नेत्र सजल हो गये हैं। कंठ सदगदित हो गये हैं। सारे नगर में छायी हुई उदासी आँखों में देखी नहीं जाती। वे कहते हैं, कि हे प्रभो! आप हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? हम आपका विरह एवम् वियोग कैसे सहन करेंगे? हमारे व्याकुल प्राण आपके वियोग में अब शरीर छोड़ना चाहते हैं। हमारी आशा को आपने क्यों निराशा में परिवर्तित कर दिया? इतना कठिन वनवास आपने कैसे स्वीकार कर लिया? रामदास कहते हैं, कि सब लोग प्रभु के विरह में उनको खोजते हुए दुख पा रहे हैं। स्वयम् रामदास भी विरहजन्य भावना से राम की खोज में लगे हुए हैं।

आगे चलकर यह विरह क्रन्दन और भी तीव्रतम हो उठा। वे कहते हैं, कि हे निष्ठुर रामचन्द्रजी! हमें आप त्याग कर क्यों जा रहे हैं? हे गुणराम! आपके बिना हम कालयापन कैसे करें? हम शपथ पूर्वक कहते हैं कि प्राण धारण करना हमें आपके बिना कठिन हो गया है। वैसे यदि विनोद में भी कोई शपथ लेकर कहे और आप वनगमन कर लें तो यह निश्चित है, कि मेरे प्राण नहीं बचेंगे। रामदास का अन्तःकरण आक्रोश कर चीत्कार कर उठा। धनुर्भंग कर सीता का आपने पाणिग्रहण किया। उस सुखपूर्ण प्रसङ्ग को हम कैसे विस्मृत कर पावेंगे। एक

१. समर्थांची गाथा, पद १०३८-१०३६, पृ० ३१२।

वह प्रसङ्ग था और एक यह प्रसङ्ग है जब कि आप वनवासी बनने जा रहे हैं। सारे देवतागण रावण की वन्दीशाला मे वन्दी बनाये गये थे। उनकी मुक्तता करने के हेतु श्रीरामचन्द्रजी ने वनवास लेना तय कर लिया है। अतएव सब को छोड छाडकर प्रभु उधर ही दौड पडे हैं ऐसा समर्थ रामदास कहते हैं। समर्थ का यह भाव विशेषता से युक्त है। रामोपासना का लक्ष्य देवताओ की मुक्ति तथा लोक मङ्गल की स्थापना ही है। अत समर्थ इस लक्ष्य की पूर्ति होते देख अपने विरह को भूल जाते हैं, और प्रभु के कृत्य का समर्थन करने लगते हैं।

एक अन्य प्रसङ्ग देखिये। सीता अशोक वाटिका मे बैठी हैं। हनुमानजी भगवान् के दूत बन कर लङ्का मे आये हैं। वे अशोक वाटिका मे देवी जानकी जी से मिलते हैं। जानकी जी अपना दुखडा हनुमानजी को सुनाती हैं। यह काव्य वर्णन भी बडा सरस बन गया है।

अशोक वन मे सीता का हनुमान से दु ख निवेदन—

> साग सखया निर्भ्रांत। भेटईल रघुनाथ। तरी राखेन जीवित।
> अन्यथा राहे चित्त॥
> आत्मा माझा राम वनीं। अतरला मायेचेनि। त्यजिली कीं या लागुनी।
> न पवें का अझुनी॥
> राघव साच न भेटे। शब्दीं तो सुख न पटे। रामालागि प्राण फुटे।
> वियोग क्षण न कठे॥
> तुझें अतवर्य सधान। भेदील हे त्रिभुवन।
> तेथे किती तो रावण। रामदास सोडी पूर्ण॥[१]

समर्थ अपने इस पद मे करुण रस का प्रवाह बहाते हैं। सीताजी की विरह वेदना बडी दुखमय है। बडी करुण और मार्मिक अभिव्यजना सीताजी के द्वारा इसमे प्रस्तुत की गई है। वे कहती हैं कि हे रामचन्द्रजी के सखा हनुमान! तुम निश्चयपूर्वक यह बताओ कि क्या मुझे रघुनाथजी के दर्शन होंगे? यदि उनसे भेंट नहीं होगी तो मैं अपने प्राणो को त्याग दूँगी। प्रभु राम ही मेरी आत्मा हैं। मुझे उन्होने माया वश त्याग दिया था, और वन के उस प्रसङ्ग मे मे मुझे विरह व्यथा सहनी पडी है। मुझे अपने प्रियतम क्या पुन प्राप्त नहीं होंगे? सचमुच यदि रघुवीर न मिले तो मुझे किसी शब्द को सुनने मे भी कोई सुख नहीं है। प्रभु रामचन्द्रजी के लिए मेरे प्राण छटपटाते हैं। वियोग की दशा सहना कठिन और दूभर हो गया है। हे हनुमान! तुम शीघ्र जाकर रघुपति से मेरे

१. समर्थाचा गाथा, पद १०५०, पृ० ३१६।

निवेदन कर दो कि मैं और कितना विरह जन्य दुख सहन करूँ ? अहिरावण ने मुझे क्रोध पूर्वक इस अशोक वन में बन्दिनी बना रखा है। मेरे मन में इस बात का बहुत शोक है, कि मैंने अपने देवर और स्वजन लक्ष्मण को भला बुरा कहा है। मुझे भय के सागर की ओट रखा है। हे कृपा-निधान ! इसमें से मुझे मुक्त करो। उनसे कहना कि आपका शरसन्धान अचूक और अमोघ है। वह तो त्रिभुवन को वेध सकता है। फिर रावण किस खेत की मूली है ? रामदास कहते हैं, कि जानकी का यह पूर्ण विश्वास है, कि प्रभु उनकी मुक्ति कर देंगे। इसी विश्वास भरे वचनों में वे हनुमानजी से निवेदन कर देती हैं, कि रामचन्द्रजी से कहदो कि शीघ्र आकर रावण को मारकर मुझे मुक्ता प्रदान करें।

रामकी विशाल वाहिनी का स्वरूप जिस प्रकार का था उसका रामदास ने वर्णन किया है। इसमें रौद्र और वीर रस का अपूर्व संयोजन है। देखिए। यथा[1]—

रामचन्द्रजी की सेना का वर्णन—

> प्रभु राम राजा प्रभु राम राजा। प्रभु रामराजा कपी भार फौजा। ध्रु०॥
> लागली रणजुरे। भार भारी भरे। मारती नोकुरे एकमेका।
> सकळ तिर्जळ बळे। बद जर्जर सळे। कोंडिले कूटीले रावणानें॥
> ऊठावले भार माडला मडमार। होतसे सहार समराङ्गणीं॥
> शङ्कराच्या वरे। मस्त रजनी चरे। निर्जरे जर्जर दैन्यवाणी।
> देव जाजावले। रघुराज पावले, दास ऊठावले मारिताती॥

अब प्रभु रामचन्द्रजी राजा बन गए हैं। उनकी सेना में कपि समूह और रीछ हैं। युद्ध करने की तीव्रतम इच्छा उनके मन में जागृत हो गई है। वे एक दूसरे को ललकारते हैं। राक्षसों ने देवताओं को बलपूर्वक पकड़कर कूटा पीटा है तथा कारागृह में डाल रखा है। इन सबका संहार रणक्षेत्र में भयानक रीति से हो रहा है। यह देख कर कपि कटक क्रोध से तमतमा कर विकट युद्ध करने के लिए तत्पर हो उठे हैं। वे बलपूर्वक शत्रु पक्ष के लोगों को पकड़ने और पीटने हैं। एक दूसरे को ममलते हैं। पर्वताकार भयानक काले शरीर वाले राक्षस रणक्षेत्र में आ गये हैं। अपने स्वामी जानकीनाथ के कार्य के लिए वे राक्षसों का भयानक संहार करना आरम्भ कर देते हैं। परस्पर भिड़कर एक दूसरे पर प्रहार करते हैं और मीजते हैं। घुड सवारों की सेना ने क्रुद्ध होकर अपनी गति की ध्वनि से घेरा दिया है। युद्ध के लिए वानरों के दल के दल उत्सुक हैं। रीछ और वानर सेना में जब चलने लगते हैं, तो ऐसा लगता है कि मानो पर्वत ही चलायमान हों

१. समर्थाची गाथा, पद १०६१, पृ० ३२१ अनतदास रामदासी।

हैं। परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करने के हेतु जोर जोर से चीत्कार और हुंकार करते हुए पत्थर, वृक्ष और पर्वत उखाड़-उखाड़ कर उनसे प्रहार करते हैं। इससे शोणित के नद उमड़ पड़े हैं। बाणों की सरसराहट करने वाली बौछारें हो रही हैं। भीषण और तुमुल युद्ध चल रहा है। रणक्षेत्र में असुरों और देवों की एक अद्भुत कसरत और करामात चल रही है। बाणों के आघात और प्रत्याघात से जर्जरित एवम् क्षत विक्षत दैत्यों के शरीर धराशायी हो कर पड़े हैं। देवगण आकाश में विजय की दुंदुभी बजाते हैं। पृथ्वी डोलायमान हो गयी है। शङ्कर के वरदान से दैत्यदल प्रमत्त हो गया था, और देवसेना हताश और निष्प्रभ। किन्तु प्रभु रामचन्द्रजी ने उसमें आशा सचारित कर ढाढ़स भर दिया है। अत: जो निष्प्रभ हो गये थे, वे पुन शक्तिमान बन कर प्रभु के साथ युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये हैं।

भगवान् शङ्कर का नृत्य वर्णन—

रामदास के काव्य का अत्युत्कृष्ट उदाहरण देखना हो तो यह नमूना देखिए[1]—

रङ्गी नाचतो त्रिपुरारी। लिलानाटक धारी। मदर जावर त्रिपुर
सुन्दर अर्धनारी नटेश्वर। नाचे शङ्कर सकळ कळाकर। विश्वासी आधार ॥ध्रु०॥

झुल झुल झुल झुल। शिरी गङ्गाजळ। झल झल मुकुटी किळ॥
लळ लळ लळ लळ लळित कुंडले। भाळी इन्दुज्वाल।
सळ सळ सळ सळ सळक्षती रसना। वळ वळ वळिति व्याळ॥
हळ हळ हळ हळ कंठी हळाल। गायन स्वर मंजुळ॥
घुम घुम घुम घुम घुम मेवज गमक्त। दुम दुम दुम अम्बर॥
तत थै तत थै धिक्टि धिक्टि म्हणती विद्याधर॥
थर थर थर थर कंपित गमके। गर गर गर भ्रमर॥
सर सर सर सर कंपित चमके। घुर घुर घुर घुर गभीर॥
पर पर पर पर म्हणती सुरवर। हर हर हर हर शङ्कर॥
वर वर वर दासादिघला। तर तर तर दुस्तर॥

इस पद में लीला नाटक धारी, त्रिपुर सुन्दर, अर्धनारी नटेश्वर सकल कलाकार, भगवान् त्रिनेत्र-शङ्कर, तथा निखिल विश्व के आधार गौरीहर, मन्दराचल पर्वत पर नृत्य करते हैं। समर्थ रामदास ने इस पद में ध्वनि काव्य और संगीत तत्त्व को लेकर अपनी विशेषताओं के साथ रखा है। इस पद में शब्द सिद्धि की

[1] समर्थांची गाथा, पद ११२६, पृ० ३४७।

ऐसी अद्भुत शक्ति है कि इसे पठन करते ही शिवजी के ताण्डव नृत्य की कल्पना अन्त:-चक्षुओं के समक्ष मूर्तिमान हो उठती है।

अपने रङ्ग में आकर त्रिपुरारी अर्धनारी नटेश्वर रूप में मंदराचल पर्वत पर नृत्य करने आ गये हैं। यहाँ पर वे अपनी सकल कलाओं सहित नृत्य आरम्भ करते हैं। शीष के जटा-जूटों से गङ्गाजल अपनी गति से बह रहा है। उनके कानों में ललित कर्ण-कुण्डल जगमगाते हैं। गले में सर्प मँडरा रहे हैं। भाल प्रदेश पर चन्द्रमा विराजित है। नीलकण्ठ में हलाहल विद्यमान है। रसना से गायन के स्वर निसृत हो गये हैं। गले में रुँडो की मालाएँ विराजित हैं। जब डमरु पर धूर्जटी दस्तक देकर उसे बजाते है तो उसे बजाने का हस्त लाघव देखा जा सकता है। व्याघ्राम्बर परिधान किये हुए महादेव अपने सारे शरीर में चिता भस्म को लगाये हुए हैं। इस नृत्य में किंकिणियाँ बज उठती हैं—उनका क्वरणन होता है। त्रिशूल भी बज उठता है। जब वे नाच उठते हैं, तब धरती दनदना उठती है। सनसनाहट से ताल बजते हैं। सब लोग अपनी वाणी से उनका गुण गान करते हैं। निर्वाण एवम् मोक्ष की यही पहिचान और संकेत है। मृदंग गंभीर ताल में टिमक रहा है। डमरु डिमक रहा है। भोज बजते हैं, तथा दुन्दुभी की गर्जना होती है। पखावज दमक रहा है। विद्याधर और शंकर के गण 'तन् थै तन् थै धिकिट' के साथ लयों का उच्चारण करते हैं। भ्रमर गुंजन करते हैं। बिजली कौंधती है, और सरसराहट से चमक जाती है। गम्भीर घोष हो रहा है। हे शङ्करजी! आपकी जय हो, आप सब देवों में श्रेष्ठ देवाधिदेव हैं ऐसा देवगण कहते हैं। रामदास को उन्होंने श्रेष्ठ वर प्रदान कर दिया है, कि तुम इस दुस्तर संसार से तर जाओगे। इस पद का प्रत्येक शब्द औचित्यपूर्ण, ध्वनि अर्थ एवम् संकेत पूर्ण तथा प्रत्यक्ष रूप से भावों को मूर्तिमान करने वाला होने से रामदास स्वामी की एक विशिष्ट पटुता का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

समर्थ ने केवल मराठी काव्य-साधना ही नहीं की अपितु उनकी प्रतिभा ने हिन्दी कविता को भी गौरवान्वित किया है। यहाँ पर उनकी कतिपय हिन्दी रचनाओं का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा।

समर्थ की भक्ति भावना व्यक्त करने वाले दो हिन्दी पद देखिए[1]—

भगतन को तन हो दयाळ। भगतन ॥ध्रु०॥
अंतर की गत अंतर जाने जानत है मन हो॥
मन की पीरत मन में राखो। राखो सतन हो॥
रामदास को अंतर लीला। अंतर भाव न हो॥

हे दयाल! आप भक्तों के लिए शरीर धारण करने वाले हैं।

१ समर्थांची गाथा पद १६०४, पृ० ४८१।

घट घट की घट घट वासी ही जान सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार हे भगवन् आप अन्तर्यामी हैं। इस लिए सब के मन की बात जानते हैं। इस तरह मन की प्रीति को मन में ही रख कर उसका आस्वाद सन्तों ने लिया है। रामदास कहते है कि मेरे पास तो भाव भी नहीं है पर अन्तर्यामी प्रभु ने कृपा कर मेरे साथ वे ही बातें की हैं जो वे अन्य भक्तों के साथ किया करते हैं।

भक्ति भावना वाला दूसरा पद[१]—

नयन मार मोकु सहिय न जाय ॥ध्रु०॥
सुरत सुरत पीरत लागी। अन्तर है सो कहिया न जाय।
जिव की है सो जियरा जाने कहां कहूं रे हय हाय॥
रसिक हेत समेत गुमाया। जिद जावे तिद जातहि जावे॥

भक्त की आँखें जब भगवान् के साकार रूप को देख लेती है, तो उनकी यह दशा हो जाती है, कि वे आँखें कहती है, कि हमसे अपने आराध्य के कटाक्ष सहे नहीं जाते। जिस प्रकार भगवान् के सौन्दर्य पर ये आँखें मुग्ध हो गयीं और हृदय में प्रीति उत्पन्न हो गई यह कहते नहीं बनता। जी की बातें जी ही जानता है। जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिये छटपटाकर कहता है कि हे निष्ठुर! तुम कहाँ छिप गये हो? रसिक जन कहते हैं कि तुम्हारे स्वामी अपने भक्तों सहित उपस्थित हैं। वे जिधर चले आवेंगे उधर के ही हो जाते हैं।

अब कुछ उपदेश परक पद भी देखिये[२]—

बद बाजी सब लोक राजी। रोटी ताजी दुनिया नवाजी।
दोनें बाजी पैगम्बर गाजी ॥ध्रु०॥
खबरदारी अक्ल हुय सारी। बेहुषारी गाफिल की यारी।
उमर सारी होती है खोरी॥ खावे खिलावे, देवे दिलावे।
सुने सुनावे पोंच पोंचावे। अक्ल सुजावे सो बद भावे॥
जन हारा समजन हारा। समजन हारा पियारा॥
पीर मुरीद क्या गैबी क्या गैबी मर्द समजावे॥
हिन्दु मुसलमान कामके पुतले गैब चलावनहारा॥
बद कमीन कहे समजे सो अल्ला मिया का प्यारा॥

बाजी साहब कहते हैं, कि पैगम्बर गाजी है। ताजी रोटी जिसके पास होगी दुनियाँ उसके चरणों में झुकती है। जो बाजी मार ले जाता है, उसी से

१. समर्थाची गाथा, पद १६१०, पृ० ४८१।
२ समर्थाची गाथा, पद १७०३ तथा १७०६, पृ० ४८८।

सब लोग खुश रहते हैं। सारी सतर्कता अक्लमंदी पर निर्भर है। जहाँ पर नादानी है अथवा मूर्खता है उन्हें गाफिल के साथ मित्रता करनी पड़ेगी। सारी उम्र एक गोता खोरी है। क्योंकि वह खाने खिलाने, देने दिलाने, सुनने सुनाने तथा किसी को पहुँचाने या स्वयम् पहुँचने मे व्यतीत हो जाती है। यह तो एक सर्व साधारण सी बात है, परन्तु अक्लमन्दी मे जो यहाँ पर कार्य करता है वही बन्दा खुदा को भाता है।

जो ईश्वर को समझता है, वही सब का प्यारा होता है। पीर मुरीद आदि की गैबी बातें क्या करते हो ? जिसमे हिम्मत हो ऐसा मर्द ही उसे समझ सकता है। पीर के बिना सब लोग इधर-उधर गोते खाते हैं। यहाँ पर कोई अकेला न तो आता है, न जाता है। अन्त मे सारा रहस्य सब लोग समझते समझाते हुए जान लेते हैं। ये हिन्दू मुसलमान आदि सारे उसी भगवान् में ही निवास करते हैं। सब अन्त मे मर जाते हैं। माल, मुल्क और सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाने पर भी अन्त मे सभी गोते लगाते हैं। सब की अक्ल गुम हो जाती है, सारी उम्र और उसका परिपक्व अनुभव भी किसी काम नहीं आता। भगवान् की रहस्यात्मक सृष्टि और उसकी अलौकिकता समझ मे नहीं आती। हिन्दू और मुसलमान दोनो धर्म के पुतले हैं। उनको रहस्यात्मक ढङ्ग से चलाने वाला अल्लाह मियाँ है। यह ससार दो दिन के लिए सबको मिलता है। इसलिए इसमे झगड़ा वैमनस्य परस्पर द्वेष तथा धर्मान्धता से व्यवहार कर क्या मिलेगा ? परस्पर झगड़ने मे अल्लामियाँ का कुछ नहीं जाता है। इसलिए हे यारो ! ये व्यर्थ की बातें छोड़ कर अल्लामियाँ की कृपा प्राप्त कर अपनी आयु व्यतीत कर दो। परस्पर मैत्री भाव एवम् हिन्दू मुस्लिम ऐक्य-विषयक भाव इस पद मे समर्थ रामदास ने अभिव्यक्त कर दिये हैं।

समर्थ रामदास के साहित्य का मूल्याकन—

स्पष्ट है कि समर्थ रामदास स्वामी का साहित्य या सम्प्रदाय का दृष्टि कोण केवल हिन्दू राष्ट्रवाद की सङ्कीर्णता को लेकर ही नहीं था। प्रत्युत व्यापक राष्ट्रवाद का मानवीय स्तर भी सन्त रामदास मे विद्यमान था। वे उनके युग की अमानवीय, आसुरी एवम् अराष्ट्रीय तथा अध पतन की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक मोर्चा प्रस्थापित करना चाहते थे। इसीलिये उनकी बलोपासना, समर्थ भगवान् रामचन्द्र जैसे धनुर्धारी आदर्श आराध्य की भक्ति पर आश्रित थी।

समर्थ रामदास को सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन एवम् उलट फेर का सूत्रधार मानकर, तथा उनके और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्धो पर दृष्टिपात कर प्राय आज तक विद्वानों ने टीका टिप्पणी की है, और अनेक

ग्रन्थों का प्रणयन किया है। किन्तु समर्थ रामदास की वास्तविक महत्ता और उनकी साधना की उपादेयता एवम् उपासना-प्रणाली की पृष्ठ-भूमि में उनकी नूतन और अभिनव साधना-पद्धति की प्रबल शक्ति के सूत्र कार्यरत हैं, जिनका वैयक्तिक क्षेत्र में आत्मोद्धार और लौकिक क्षेत्र में राष्ट्रोद्धार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

इसी दृष्टिकोण से हमने उनकी स्वानुभूत संवेदना प्रवण काव्य-साधना और जीवन-दर्शन के समन्वित और सर्वांगीण स्वरूप का अध्ययन करने का प्रयास किया है। हमारा मत है, कि आत्मोद्धार और लोक-मङ्गल-भावना, सापेक्ष-साधना से ही प्रेरित होकर प्रवाहित हुई है। इसलिए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्र में उनका तत्र, युग-जीवन के अनुरूप नव-निर्माण, एवम् नव चैतन्य की परम्परा प्रस्थापित कर सका है। भगवद्-भक्ति और परमेश्वरी अधिष्ठान से आत्म-कल्याण, और लोक-कल्याण साधने वाली उनकी काव्य धारा सगुणोपासना और पारमार्थिक साधना प्रणाली के प्राणवान और ओजस्वी स्वर हमारे सामने प्रकट करती है।

राम-वरदायिनी-माता से वरदान पाकर, प्रभु रामचन्द्र की भक्ति की सगुण उपासना पद्धति का और आध्यात्मिक चेतना का जो लोक-मङ्गलकारी कार्य समर्थ रामदास ने किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समर्थ का साहित्य प्रेरणा और स्फूर्ति का साहित्य है—शक्ति का साहित्य है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। लकीर के फकीर वैष्णव सन्तों की साधना-पद्धति और भक्ति भावना को केवल भावुक सहृदय की अभिव्यक्ति मानकर निस्सन्देह अपनी अल्पज्ञता और अदूर-दर्शिता का जो लोग परिचय देते हैं उनसे हमारा विनम्र निवेदन है, कि वे वैष्णव सन्त साहित्य-साधना के मूल स्वर को पहचानें तो उन्हें पता चलेगा, कि वैष्णव भक्त केवल सन्त और कोरे भक्त मात्र नहीं थे किन्तु वाणी के वरद हस्त की छाया में उन्होंने अपनी काव्य-साधना प्रस्तुत की है। वही उन्हें उच्चतम और श्रेष्ठ श्रेणी के साहित्यकार, सिद्ध और भक्त घोषित कर देती है। काव्य में रस का महत्व होता है, इसे समर्थ रामदास ने पहिचाना है। रामदास की जैसी मूर्ति है, वैसी ही उनकी काव्य साधना भी भव्य और दिव्य है। अपने करुणाष्टकों में वे भगवान् को कारुण्यपूर्वक उद्गारों से पुकारते हैं। कवि के अधिकार को और काव्य की शक्ति को तथा शब्दों की महिमा के समर्थ पूर्ण जानकार हैं। वे शब्दों को केवल, कोमल, और शृङ्गार प्रवण न बनाकर उन्हें ओज, तथा सामर्थ्यशाली बनाकर प्रस्तुत करते हैं। विचारों की गम्भीरता, अनुभूति की संवेदना तथा अभिव्यक्ति की सत्यता की त्रिवेणी उनके साहित्य में ओतप्रोत है। भक्तिहीन कवित्व निष्प्राण है, ऐसा उनका मत था। सच्चा कवि वही है जो सहज मुखरित होता है। जिस

की वाणी को सुन कर अज्ञान नष्ट हो जाता है, आत्म प्रत्यय बढ जाता है, तथा भगवान् से साक्षात्कार होने लगता है। इसलिए वे कहते हैं[1]—

'मिळमिळीत अवघेचि टाकावे। उत्कट तेचि घ्यावे॥'

इसका अभिप्राय यह है कि जो उत्कट है, उसको अपनाना चाहिए, तथा जो नीरस एवम् छूँछा है उसे फेंक देना चाहिए। समर्थ वाङ्मय वस्तुत: सामर्थ्य-सम्पन्न और दैव प्रेरणा से युक्त है। अत ऐसे साहित्य को पढकर आत्मोद्धार और राष्ट्रोद्धार अवश्य सम्भाव्य है। भगवान् की मित्रता के लिये वे आतुर हैं। स्वयम् समर्थ बनकर सबको समर्थ बना देने की उनकी प्रखर आकाक्षा है। इस आकाक्षा को कृति मे उतारने की अभिव्यजक शक्ति उनके साहित्य की सब से बडी विशेषता है।

इस तरह रामोपासना का सबल आस्था का स्वर मराठी मे एकनाथ तथा रामदास ने अपनी समर्थ वाणी से अभिव्यजित किया तो हिन्दी मे वही कार्य गोस्वामी तुलसीदासजी ने सम्पन्न किया। कृष्ण भक्ति का सास्कृतिक प्रदेय मराठी मे नामदेव, ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ व तुकाराम कृत माना जावेगा तो यही कार्य तुलसी, सूर और मीरां ने हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य से परिपूर्ण कर दिया है। ●

१. दासबोध—रामदास।

नवम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का साहित्यिक-पक्ष

*

नवम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का साहित्यिक-पक्ष

माधुर्य भाव से कभी-कभी अपने को राम की बहुरिया बनाकर उनके साथ आध्यात्मिक विवाह कराने के लिए भी उत्सुक हैं। एक नयी अबोध नायिका की तरह जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की यह उत्कण्ठा और आशंका दर्शनीय है [1]

मन प्रतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढङ्ग।
क्या जाणो उस पीव सूं, कैसे रहसी रङ्ग॥

× × ×

एक अन्य चित्र और देखिये[2]—

अब तोहि जान न दैहूँ राम पियारे।
ज्यों भावे त्यों होउ हमारे॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए। भाग बड़े घर बैठे आए॥१॥
चरनन लागि करौं सेवकाई। प्रेम प्रीति राखो उर आई॥२॥
आज बसो मन मन्दिर चोखे। कहे कबीर परहु मति धोखे॥३॥

× × ×

मोहिं तोहि लागी कैसे छूटे।
जैसे हीरा कोरे न फूटे॥टेक॥
कहै कबीर मन लागा। जैसे सोने मिलत सुहागा॥

कबीर इन प्रतीकों से अपना प्रेम अपने परमात्मा प्रियतम के लिए अभिव्यक्त करते हैं जो बड़ा सरस है। वे कहते हैं—

मेरे मनमें न तो प्रतीति है, न प्रेम है न मेरे शरीर में इस प्रकार के दाम्पत्यभाव के ढङ्ग विद्यमान हैं, जो प्रियतम को रिझालें। न मुझे वे रहस्य ज्ञात हैं, जिनसे उस प्रियतम से मिला जाता है। आगे जब विश्वास उत्पन्न हो गया तब यह अबूझी स्थिति नष्ट हो जाती है तब उनके भाव इस प्रकार के हैं। हे प्यारे राम! अब मैं तुम्हें किसी भी प्रकार से नहीं जाने दूँगी बल्कि रोक लूँगी। मेरी यह अभ्यर्थना है कि तुम्हें अब मैंने पा लिया है। अतः तुम अब कहीं भी नहीं जा सकते। यह मेरा सौभाग्य है जो मैंने आसानी से तुम को पा लिया। इसलिए अब प्रेमपूर्वक मना-मनाकर चरण सेवा करते हुए अपने प्रेम में तुम्हें उलझा कर रखना है। सुख पूर्वक अब मेरे मन्दिर में विराजिए, अन्यत्र कहीं जाने का नाम भी लेकर धोखे में न आइये। प्रेम की आदत भला कभी छूट सकती है? कबीर के द्वारा अभिव्यक्त ये अकाट्य तर्क देखिए—

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास साखी १६, पृ० २०।
२. „ डा० पारसनाथ तिवारी, पद ७ पृ० ६ तथा पद १८ पृ० १२।

मुझे लगी हुई यह लगन एवम् आसक्ति कैसे छूट सकती है ? हीरे को कोई फोडना चाहे तो क्या वह कभी फूट सकता है ? अब तो आदि से अन्त तक इस सम्बन्ध को निबाहना ही पडेगा अब व्यर्थ छिपकर दोनो के बीच दूरी क्यो निर्माण करते हो ? कमल पत्र पर जिस प्रकार रचमात्र जल निवास करता है, वैसे ही तुम आए और चले गए। तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे दास हैं। तुम्हे पाने की लालसा ने मेरी दशा कीट-भृ गन्याय की तरह कर दी है। मेरी तीव्रता एवम् व्यग्रता इतनी बढ़ गई है जैसे कोई सरिता वेग से समुद्र से जा मिली हो। सोने मे सुहागे की तरह मेरा मन आप मे लीन हो गया है।

कबीर की अपने आराध्य की सर्व व्यापकता को प्रकट करने की प्रतीक शैली भी द्रष्टव्य है[1]—

> लोका जानि न भूल हू भाई ।
> खालिक खलक खलक मैं खालिक सबघटि रह्यो समाई ।।टेक।।
> अव्वलि अलह नूर उपाया कुदरति के सभ बन्दे ।
> एक नूर ते सब जग कोआ, कौन भले कौन मन्दे ।।
> ता अल्ला की गति नहिं जानी गुरु गुड दीन्हा मीठा ।
> कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा ।।

ब्रह्म का व्यापकता का इससे और सुन्दर क्या वर्णन हो सकता है ? कबीर के साहित्य को समझने और पढने के लिए भी श्रद्धा-भक्ति चाहिए तब सारा समझ मे आने लगता है। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलिक है। सब घटो मे वह समाया हुआ है। एक ही नूर से सारा ससार जब बना है, तब उसम किसको भला और बुरा कहा जाय ? अल्लाह–राम की गति नही जान सकत। गुरु ने ऐसा मीठा गुड चखाया है कि उन्हे अपना स्वामी सब घटो मे दिखाई पडा। अपने गुरु के प्रताप से वह अवश्य दीख पडा, परन्तु बाहर भीतर, सर्वत्र वह ऐसा व्याप्त है कि कहकर बतलाया नही जा सकता। यही कबीर का द्वैता-द्वैत विलक्षण अगम्य प्रेम पारावार भगवान् निर्गुण राम है।

मर्मग्राही व्यग्य—

कबीर अपनी इसी मस्ती मे आकर मर्मग्राही व्यग्य कसते चलते हैं। उनकी भाषा सीधे मर्म पर प्रहार करती हैं। बिलकुल बेफिक्र होकर लापरवाही के साथ ढकोसलों का भंजन और पर्दाफाश कबीर के सिवा और शायद ही कोई कर सका है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली— डा० पारसनाथ तिवारी पद १०८, पृ० १८५।

साधना के मार्ग में पहुँचे साधक को अपने लक्ष्य की चिन्ता कितनी होनी चाहिए इसे कबीर के एक पद से देखा जा सकता है[1]—

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया।
कहै कबीर दाग कब छुटि है जब साहब अपनाय लिया।

कितनी मार्मिक सूझ है। ऐसी अनेक उक्तियाँ कबीर साहित्य में भरी पड़ी हैं। कबीर के साहित्य में नाम-साधना, अनन्य प्रेम मूलक भक्ति, सर्वात्मवाद, तथा कर्म और वैराग्य का समन्वय और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति पूर्ण रूप में विद्यमान है। कहा जा सकता है कि उनके पूर्व-कालीन संत भक्त नामदेव का उन पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित है। आदर के साथ कबीर ने उनका नाम भी लिया है। द्रविड़ देश की भक्ति को रामनंद ने उत्तर में अंकुरित किया और कबीर ने अपनी भावानुभूति में उसे प्रकट कर उसका परिवर्द्धन किया। कबीर की भक्ति ज्ञानी भक्त की है जो प्रेम तत्व का पूर्ण मर्मज्ञ है। इस प्रेमा-भक्ति में विरह की भावना का भी सर्वश्रेष्ठ महत्व है। यह विरह की देन सद्गुरु के द्वारा कबीर को मिली है। यथा[2]—

सत गुरु मारा बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अङ्गी उघारे लागिया, गई दवा सो फूटी॥
सतगुरु लई कमाण करि, बाहरण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥

सद्गुरु ने अपना लक्ष्य ठीक संधान करके सच्ची पकड़ के साथ विरह का बाण मारा उसने मेरे विशुद्ध शरीर में प्रविष्ट होकर मेरी अज्ञान ग्रन्थि को खोल दिया तथा मेरी आध्यात्मिक चेतना को जगा दिया। वह दावाग्नि की तरह हृदय में फट पड़ी। कबीर का निवेदन है कि इस प्रकार से ज्ञान के तीर जब सद्गुरु प्रेम पूर्वक बरसाने लगे तब उससे हृदय विंध गया और उसमें परमात्मा के लिये प्रेम और उन्हें पाने के लिए विरह का भाव जागृत हुआ। जीवात्मा का परमात्मा से अलग हो जाना ही विरह है। कबीर का प्रयत्न उन्हें मिलाने का है।

कबीर की ये अनुभूतियाँ केवल अटपटी ही नहीं हैं, वे तो भावनाओं से शत-प्रतिशत भरी हुई सरस हैं और कल्पनाओं से परिपुष्ट हैं। कबीर की कविता में जीवन-तत्व है। कबीर की साधारण अनुभूति में असाधारणता से युक्त अलौकिक भावना की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है।

---

१ कबीर वाणी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत कबीर से पद १६५, पृ० ३२५।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास, साखी ८ पृ० २ तथा कबीर ग्रन्थावली डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १:२१ पृ० १३८।

कवित्व की सरसता—

उनके कवित्व माधुरी की सरसता से युक्त ये साखियाँ द्रष्टव्य हैं[1]—

साइर नाहीं सीप नहिं, स्वाति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि॥
सुरति ढिकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कवल कुवा में प्रेम रस, पीवै बारम्बार॥

शून्य शिखर गढ़ में कबीर जैसा जीवन मुक्त साधक उत्पन्न हुआ है। उसके लिए स्वाति बिन्दु सीपी इत्यादि की कोई आवश्यकता ही नहीं उत्पन्न हुई। कबीर जैसे साधक ने शब्द ब्रह्म की ओर उन्मुख चित्त को पानी खींचने के लिए प्रयुक्त होने वाले गड़े हुए घड़े की समानता प्रदान की है। ऐसे स्तम्भ का साधन बनने वाली रस्सी का काम लय के द्वारा लिया गया है। यह सम्भव है कि चित्त की लयावस्था शब्दोन्मुख हो जाने पर सहस्रार से निरन्तर निसृत होते रहने वाले प्रेम रस का पान हमारा मन कर सकता है। सुरति जीवात्मा का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुई है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा की स्मृति बनाए रखने में चित्त की यह लयावस्था सहायक बनती है और निरन्तर प्रेम रस का पान करते रहने का आनन्द प्रदान करती है।

सिद्धों, नाथों, योगदर्शन और वेदांत के अनेक तत्वों से प्रभावित निर्गुण निराकार ब्रह्म और उसका ज्योति दर्शन, अनाहद नाद, सहज, शून्य, कुंडलिनी शक्ति का स्फुरण एवम् जागरण तथा सूफियों की प्रेम साधना की पीर आदि बातें अपने ढङ्ग से कबीर साहित्य में काव्य का विषय बनी हैं। कबीर ने सब का समन्वय करते हुए रामानन्द प्रवर्तित भक्ति-मार्ग को अपनाया और इस प्रकार वे भजनानन्द में तल्लीन हो गए थे। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट करेंगे—

उनमनि सो मन लागिया, गगनहिं पहुँचा धाइ।
चंद बिहूना चांदना अलख निरंजन राइ॥[2]

× × ×

कौन विचारि करत हो पूजा।
आतम राम अवर नहीं दूजा॥टेक॥
बिन प्रतीतैं पाती तोड़ै, ग्यान बिना देवलि सिर फोड़ै।

---

1. कबीर ग्रन्थावली— डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६।१८,१२।६, पृ० १६६।
2. कबीर ग्रथावली—डा० श्यामसुन्दरदास साखी १४, पृ० १३।

सुचरी लपसी आप संवारै, द्वारै ठाढा, राम पुकारै ।
पर आतम जो तत विचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै ॥[1]
पंडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइरे ।
कहै कबीर हरि भगति वाछूं, जगत गुर गोव्यंद रे ॥[2]

× × ×

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ ॥[3]

उन्मनी अवस्था में मन जब लीन हो गया तो वह घटाकाश में जाकर स्थिर हो गया अर्थात् जीवात्मा साधक को परमात्मा की ज्योति का शीतल प्रकाश मन की एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त कर लेने से दिखाई दिया। चन्द्र से विहीन चन्द्रप्रकाश जीवात्मा को ऐसी ही अवस्था में दिखाई देता है और अलक्षित निरंजनराय से मुलाकात हो जाती है।

कबीर कहते हैं कि किस विचार से बाध्य होकर पूजा करते हो? क्योंकि साधक जीवात्मा के भीतर परमात्मा के सिवा अन्य कोई नहीं है। आत्माराम ही तो सर्वत्र विद्यमान है। फिर बाह्य पूजोपचार किस लिए? विश्वास नहीं है, फिर भी पत्तियाँ तोड़कर चढ़ाई जाती हैं। खुद में ज्ञान नहीं है, पूरा अज्ञान व्याप्त है फिर भी मन्दिर में देवता के आगे अपना सर फोड़ते हैं। नैवेद्य के रूप में समर्पित सुचरी, लापसी आदि पदार्थ स्वयं ही भक्षण कर लिए हैं। वास्तव में परमात्म तत्व का चिन्तन करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं, उनकी बलिहारी है। दिखावटी पाखंड कबीर को अमान्य है। वास्तव में कोई भी कार्य प्रतीति और विश्वास पूर्वक किये जाने पर ही उसका महत्व है यही कबीर की आलोचना का सार है।

प्रतीति और विश्वास का साहित्य—

पंडितो! मन से रंजित भक्ति के लिए ही अपना लय योग साधो। प्रेम और प्रीति आदि के साथ मनुष्य को गोपाल का भजन करना चाहिए। इससे अन्य सारे कारण अपने आप दूर हो जायेंगे। दांभिकता से किया गया कार्य कार्य की संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। ज्ञान है किन्तु अन्तःकरण में उसका प्रकाश नहीं पड़ा तो वह केवल व्यवसाय मात्र बन जाता है। भगवान् का स्मरण नहीं है तो श्रवणों का कोई मूल्य नहीं है। शब्द ब्रह्म की प्रतीति न हो तो उसका क्या उपयोग है?

---

१ कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १३५, पृ० १३१।
२. कबीर ग्रथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३९०, पृ० २१७।
३. डा० पारसनाथ तिवारी, साखी ३४–२, पृ० २४२।

ऐसा व्यक्ति नेत्र होकर भी अंधा है। प्रज्ञा चक्षु जब तक नहीं खुले तब तक बाह्य दृगों से मायावी सृष्टि का रूप देखकर उस पर विश्वास करना निरर्थक ही होगा। कबीर कहते हैं कि जिसकी नाभि से निकले कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए और जिसके चरणों से गंगा निकली और तरंगित हुई उनकी भक्ति करना ही मेरे लिए वाछनीय है। गोविन्द जगत् गुरु है। अतः हरि भक्ति ही मेरे लिए एकमात्र उपाय है।

कबीर साहित्य का भाव प्रेम मूलक है—

कबीर का कहना है कि सहज का नाम सब लेते हैं। परन्तु वस्तुतः उस सहज-ब्रह्म का साक्षात्कार कोई नहीं करता। सहज कहकर जटिल साधनों में जुटकर ब्रह्म के दीदार कैसे होंगे? यह तो आत्म वचना है। जिन साधकों को सहज साधनों से सहज का साक्षात्कार हो जाता है, वे ही सहजावस्था को सहज जानते हैं और उन्हें ही सहज कहने का अधिकार मिलता है।

इस प्रकार से कबीर की साहित्यिकता का कुछ अनुशीलन करने का यहाँ पर प्रयत्न किया गया है कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को प्रमाण मानकर, यौगिक साधना की सहायता से तथा सूफी प्रेम-भावना की तीव्रता से प्रेमा-भक्ति को साहित्य में अभिव्यञ्जित किया है। कबीर की निर्गुण पूजा आसान काम नहीं है। वह सार्वजनीन नहीं बन सकती। कबीर की भक्ति कष्ट-साध्य और प्रयत्न-साध्य होने से, सबके लिए सुलभ नहीं है। निर्वेद भाव से वैराग्य परक दृष्टिकोण रखते हुए लोकजीवन व्यतीत करना संसारी जनों के लिए महा कठिन कर्म है। कबीर का मार्ग विरक्त, उदासी तथा सन्यस्त और निवृत्ति मूलक स्वाभाव वाले साधकों के लिए उपयुक्त मार्ग है।

तुलसीदास का साहित्यिक पक्ष—

तुलसीदासजी की सर्वोपरि साहित्यिकता का अनुशीलन यदि हम करना चाहें तो काव्य के सभी क्षेत्रों तथा पद्धतियों को तुलसी ने अपनाया था, यह सब विज्ञ और रसिक जनों को मानना ही पड़ेगा। रघुनाथ गाथा को 'स्वान्त सुखाय' लिखने वाले तुलसी ने उसे 'जगद्-हिताय' बनाकर प्रस्तुत किया इसी से उनकी वाङ्मयीन सार्वभौमिकता का पता हमें लग जाता है। अपने उपास्य के प्रति उत्कट भक्ति की विनय-भावना और दास्य-भक्ति का लोक-मंगल विधायक पक्ष तुलसी के दिव्य चक्षुओं के सामने रहने से सुरसरि के समान सब का हित साधने वाली वाणी उन्होंने अभिव्यजित की। इस साहित्यिक साधना का एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य और शील के माध्यम से सत्य को कल्याणमय रूप से प्रस्तुत करना ही जान पड़ता है। तुलसी सगुणोपासक थे, तथा अवतार के सामाजिक महत्त्व को जानने वाले थे। अतः

भक्ति की रसात्मकता के साथ जीवन के मजुल और सरस तथ्यों को अपने काव्य उपकरणो से सँवार कर महाकाव्य-रामचरित-मानस मे, गीति-काव्य विनय-पत्रिका व गीतावली मे तथा मुक्तक काव्य कवितावली मे अभिव्यजित किया। प्रकृति के सौन्दर्य को तुलसी ने परमात्मा के सौन्दर्य से भिन्न माना है, और इसीलिए वे उनकी असीमता का व्यापक और प्रभावी वर्णन करते हैं। यथा—

'सियाराम मय सब जग जानी। करऊ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

—रामचरितमानस।

आस्था की महत्ता तुलसी के काव्यादर्श की सबसे बड़ी विशेषता है। तुलसी कहते हैं[1]—

आखर अरथ अलकृत नाना छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।

भाव भेद रस भेद अपारा, कवित बोल गुन विविध प्रकारा ॥

काव्य मे अर्थ, अक्षर, अलकार के अनेक विधान हैं, तथा काव्य के वर्णन में भाव तथा उनके भेद भी अपार हैं। कविता की नाना अभिव्यजन पद्धतियाँ हैं। शिव और सुन्दर को सत्य का साक्षात्कार कराते हुए तुलसी ने काव्य रचा है।

भगवान् राम का वर्णन—

गोस्वामी के द्वारा प्रस्तुत मृगया-विहारी रामचन्द्रजी का मनोहारी वर्णन द्रष्टव्य है जो साहित्यिक दृष्टि से भी सुरस और अनुपम है—

सुभग सुरासन सायक जोरे।

तुलसीदास प्रभु बान न मोचत, सहज सुभाय प्रेम बस थोरे ॥[2]

भगवान् राम अपने सुन्दर चाप पर बाण सधान किये हुए मृगया खेलते फिर रहे हैं। यह मधुर मूर्ति तुलसी के हृदय मे सदा निवास करती है। रामचन्द्रजी के कमर मे पीताम्बर और अति सुन्दर चार बाण हैं। उनकी सुन्दर गति को देखकर करोड़ो नट (नृत्यकार) मुग्ध होकर तृण तोड़ते हैं। उन्हे डर है कि कही उनकी नजर उस चाल पर न लग जाय। प्रभु के श्याम शरीर पर पसीने की बूँदें ऐसी शोभायमान हैं, जैसे कोई नवीन मेघ अमृत के सरोवर मे डुबकी लगाकर निकला हो। प्रभु के कन्धे बड़े सुन्दर हैं, भुजाएँ मनोहर हैं वक्षस्थल विशाल है और कण्ठ की रेखाएँ चित्त को लुभाती हैं और उसे चुरा लेती हैं। भगवान् का मुख निरखने से बड़ा आनन्द उत्पन्न होता है और वह मानो शरद चन्द्र की छवि को छीन ले रहा हो। प्रभु के सिर पर जटाओ का मुकुट है और जिस समय वे भौंहे सिकोड़कर

---

१ रामचरितमानस १।८-६-१०।

२. गीतावली-अरण्यकाण्ड पद २।

अपने नेत्र कमलों में निगाने की ओर ताकते हैं उस समय की अपार शोभा तो सारे वन में भी नहीं समाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अपनी मर्यादा छोड़कर चारों दिशाओं में उमड़कर फैल जाती है। उस समय मृग और मृगी भी चकित होकर उन्हीं की ओर देखने लगते हैं, मानो सब के सब प्रभु को कामदेव समझकर उन पर मोहित हो गये हैं। तुलसीदासजी कहते हैं, किन्तु प्रभु उस समय बाण नहीं छोड़ते क्योंकि वे स्वभावतः ही थोड़े से प्रेम के वशीभूत हो जाने वाले हैं।

इसमें तुलसी के उत्कृष्ट गीति-काव्य-शैली का तथा अपने उपास्य को साथ एकान्तिक तादात्म्य भावना से साक्षात्कार किये जाने का उत्कृष्ट संकेत है।

अब हम तुलसी-साहित्य में पाई जाने वाली सर्वोत्कृष्ट साहित्यिकता का अनुशीलन करने के लिए उद्यत होते हैं।

तुलसी की अनुपमेय और सर्वोपरि साहित्यिकता का अनुशीलन—

तुलसीदासजी के रामचरित मानस में ऐसे कई स्थल भरे पड़े हैं जो उनकी काव्यकला तथा भावुकता से परिपुष्ट हैं। काव्य के माध्यम से अनेक भक्ति सोपान तुलसी लोक-जीवनके सम्मुख रखते हैं। रामकथा-गान करना और उसका श्रवण करना एक ऐसा साधन था, जो भगवान् के सगुण-सुन्दर रूप की ओर जनता को भावुकता से आकृष्ट कर सकता था। इसमें अन्तःकरण तथा भाववृत्तियों से स्वरूप ध्यान पर विशेष बल दिया जाता है। ईश्वरानुरक्ति के लिए रूपोपासना आवश्यक थी, जो सदाचार, सत्सङ्ग और आध्यात्मिकता का एक उच्चादर्श व्यक्ति और समाज के सामने रखकर दोनों को उन्नयन-पथ पर अग्रसर कर सकने में सहायता प्रदान किया करती थी। ऐसा लगता है कि अपने साधुमत को और भक्ति पथ को सर्व-सुलभ साधन बनाकर तुलसी प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील हैं। तुलसी के प्रभु भक्तों के दुःख दूर करने के लिए अवतरित होते हैं। उनमें सौन्दर्य और माधुर्य होने पर भी लोक-रक्षक शौर्य और शील पर ही तुलसी का ध्यान विशेष रूपेण केन्द्रित हो गया है। तुलसी के काव्य-साहित्य का यह सर्वोत्कृष्ट गुण है। इन सारी विशेषताओं का और अनुपमेय साहित्यिकता का प्रमाण हमें कतिपय उदाहरणों से उपलब्ध हो जायगा।

पुष्प वाटिका प्रसंग रस परिपोष युक्त है—

एक खास उदाहरण के रूप में राम और सीता का पुष्पवाटिका में परस्पर प्रथम बार एक दूसरे की स्नेह भावना का सात्विक रूप में उदय होने वाला प्रसङ्ग तुलसीदासजी की कलात्मक और सांस्कृतिक सूझ मानी जा सकती है। इस वर्णन में रस परिपोष भी यथा योग्य हुआ है जो द्रष्टव्य है—

देखन बागु कुअर दुइ आए। वय किसोर सब भांति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
कंकन किंकिनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयं गुनि॥
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहं कीन्ही॥
सुंदरता कहुं सुन्दर करई। छबिगृह दीप सिखा जनुबरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेह कुमारी॥[1]

वाटिका देखने के लिए राम लक्ष्मण पधारे। उनकी आयु किशोरावस्था की थी और उनका परिवेश सब प्रकार से लुभावना और सुहावना लगता था। साँवले और गौर वर्ण का सौन्दर्य कैसे वर्णन किया जाय, क्योंकि वाणी के नेत्र नहीं होते और नेत्रों को वाणी की सम्पदा नहीं मिली है। परन्तु सौन्दर्य का दर्शक पर ऐसा गहरा और तीव्र प्रभाव पड़ जाता है कि वाणी देखती ही रह जाती है। और नेत्र मुखर होना चाहते हैं। उनका आगमन सुनकर सारी सयानी सखियाँ हर्षित हुईं। क्योंकि उन्होंने सीताजी के हृदय की उत्कंठा जान ली थी। उनमें से एक कहने लगी कि सुना है, किसी विश्वामित्र मुनि के साथ ये दोनों कुमार कल ही यहाँ पर आये हुए हैं। सारे नगर के लोग उनकी छवि का वर्णन परस्पर करते फिर रहे हैं कि इनकी शोभा सचमुच देखने लायक है। अपने रूप की मोहिनी डालकर नगर के स्त्री पुरुषों को अपने वश में कर रखा है क्योंकि जिसे देखिए वही उनके सौन्दर्य की चर्चा कर रहा है। ये सब बातें सीताजी को बहुत अच्छी लगी और दर्शनार्थ उनके नेत्र आकुल हुए। अपनी एक प्यारी सखी को आगे करके सीताजी चलीं। उनकी पुरातन प्रीति को कोई नहीं लख पा रहा है। नारद के वचनों का स्मरण कर सीता के मानस में पवित्र प्रेम जाग उठा और वे चकित होकर चारों ओर ऐसे देखने लगी मानो डरी हुई मृग-छौनी देख रही हो। कंकरण, किंकिणी और नूपुर का क्वणन सुनकर तथा अपने हृदय में विचार कर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा कि मानो कामदेव ने दुंदुभी बजाकर विश्व को जीतने की इच्छा प्रकट की है।

ऐसा कहकर प्रभु ने उस ओर देखा। सीता का मुख चन्द्रमा बन गया और राम के नेत्र चकोर। रामचन्द्रजी के चारुनेत्र स्थिर हो गये। अर्थात् वे सीताजी के मुख पर स्तब्ध हो गये। ऐसा लगा कि मानो निमि ने पलकों पर रहना छोड़ दिया हो। निमि जनक के पूर्वज थे और अपने वश की कन्या का पति-मिलन देखना अनुचित है इसीलिए संकोच से वहाँ से वे मानो हट गये हों ऐसा तुलसीदासजी संकेत करते हैं।

---

[1] रामचरित मानस—बालकाण्ड २२८-२२९।

प्रभु ने सीता की शोभा देखी और सुख प्राप्त किया। वे हृदय में सीता के शोभा की सराहना करने लगे किन्तु मुख से कोई बात नहीं निकली। मानो ब्रह्मा ने अपनी सारी चतुरता से सीता की रचना करके प्रत्यक्ष दिखा दी हो।

सीता की शोभा सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली है। उनकी छबि ऐसी है मानों सुन्दरता रूपी घर में दीप शिखा जल रही हो। तुलसीदासजी के सामने एक समस्या है। वे कहते हैं कि अन्य कवियों ने सारी उपमाएँ जूठी कर दी है, अतः मैं विदेह कुमारी सीताजी को किससे उपमा दूँ। क्योंकि जो भी उपमा दी जावेगी वह दूसरे का जूठन सिद्ध होगी।

वास्तव में यह सारा प्रसङ्ग ही बड़ा सरस है, पर उसे यहाँ पूरा देना सभव नहीं है। तुलसीदासजी की मौलिकता इस प्रसङ्ग की अवतारणा में सिद्ध होती है।

तुलसी के काव्य विषयक दृष्टिकोण का स्वरूप—

तुलसीदासजी सरलता के साथ विषय और व्यक्ति के उच्चाशय और चारित्र्य का ध्यान रखकर काव्य के लोक-मंगल-विधायक-स्वरूप पर बहुत ध्यान रखते थे। इसीलिए विनम्रतापूर्वक सतर्क होकर कहते है—

'निज बुधि बल भरोस मोहिनाहीं। ताते विनय करऊँ सब पाहीं॥'

—रामचरितमानस।

अपने बुद्धि के बल पर मेरा विश्वास नही है अतएव मैं आपसे विनम्रता-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि विमल-विवेक के साथ मेरी भणिति को देखें और सुनें। क्योंकि इसमें कलि का मल हरण करने की शक्ति रखने वाली सुरसरि के समान रघुनाथ की कथा वर्णित है। मेरी यह कृति 'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' वत् है। फिर भी मेरा विश्वास है कि[1]—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु विमल मति। मोहि मति बल अति थोर।
करहु कृपा हरिजस कहउँ। पुनि पुनि करऊँ निहोर॥

× × ×

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरषइ बर बारि विचारु। होहिं कवित मुकुता मनि चारु॥

× × ×

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरिगज सिर सोहन तैसी॥
नृपकिरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसे हि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

---

१. रामचरित मानस बालकाण्ड १०।

बुद्धिमान लोग उसी कविता का आदर करते हैं जो सरल हो, और जिसमें निर्मल यश का वर्णन हो, जिसे सुन कर शत्रु भी स्वाभाविक शत्रुता को भूल कर प्रशंसा करते हैं। परन्तु ऐसी कविता निर्मल बुद्धि के बिना नहीं होती और मुझमें बुद्धि-बल बहुत ही कम है। इसलिए मैं बारम्बार कहता रहा हूँ कि हे महाकवियो! आप लोग मुझ पर कृपा करें, जिससे मैं श्री हरि के यश का वर्णन कर सकूँ। बुद्धिमान लोगों के अनुसार हृदय समुद्र के समान है, बुद्धि सीप के समान है और सरस्वती स्वाती नक्षत्र के समान है। इसमें यदि सुन्दर विचारों की वर्षा हो, तो मौतिक मणि के समान सुन्दर कविता उत्पन्न हो सकती। अच्छे कवि की कविता उत्पन्न कहीं होती है और शोभा कहीं अन्यत्र प्राप्त कर लेती है। जैसे मणि, माणिक और गज मौतिक के उत्पन्न होने के स्थान क्रमश सर्प, पहाड़ और हाथी का मस्तक हैं, परन्तु ये सारी चीजें राजा के मुकुट और युवती स्त्री के शरीर को पाकर ही अधिक शोभान्वित हो जाते हैं। सरस्वती भी कवि के स्मरण करते ही भक्तिवश होकर दौड़कर ब्रह्म लोक को त्याग कर आ जाती है।

राम ही काव्य का विषय है—

तुलसीदासजी ने काव्य में रामचन्द्रजी को ही विषय क्यों चुना ? इसे भी देख लेना समीचीन होगा[1]—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

× × ×

श्रोता बक्ता ग्यान निधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़॥

× × ×

मैं पुनि निज गुरसन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बाल पन तब अति रहेउँ अचेत॥

संसारी मनुष्यों का गुणगान प्रा य लोग करते हैं अलौकिक तथा भगवान् के उज्ज्वल चरित्र को काव्य का वर्ण्य विषय नहीं बनाते यह देख कर सरस्वती को पश्चाताप हुआ। वस्तुत अनपायिनी एवम् मङ्गल विधायिनी रसात्मक अनुभूति युक्त भक्ति से भावविह्वल हो कर वरदवाणी के साधन से परब्रह्म रामचन्द्रजी का यशोगान करना चाहिए, तथा उनका उज्ज्वल गाना चरित्र चाहिए।

---

१ रामचरित मानस बालकाण्ड, १०।३०, २६–३०, ३२ आदि।

रामचन्द्रजी की कथा अत्यन्त गूढ़ और रहस्यात्मक है। इसे कहने वाले और सुनने वाले दोनों ही परम ज्ञानी और सिद्ध होते हैं। मैं तो अज्ञ जड जीव ठहरा अत उसे कैसे समझ सकता था ?

याज्ञवल्क्य ने यह कथा भरद्वाज को सुनाई है क्योंकि यह कथा उन्हें बहुत ही अच्छी लगी। वास्तव मे सर्व प्रथम इस कथा को रच कर शकरजी ने अपने मानस मे गुप्त रखा था। शङ्करजी ने बाद मे प्रेम पूर्वक उसे गिरिजा को सुनाया, तथा उसी चरित्र को पात्रतम अधिकारी जानकर तथा राम भक्त समझ कर शिवजी ने काक भुशुण्डी को सुनाकर उन्हें यह कथा प्रदान कर दी।

मैंने भी अपने गुरु से सूकर क्षेत्र मे इस कथा को बचपन मे बार बार सुना था, किन्तु उस समय मैं बिलकुल अचेत था तथा बाल्यावस्था के कारण वह कथा मेरी समझ मे नही आ सकी। आगे चलकर मेरी अल्पज्ञता और मूढ़ता पर ध्यान देते हुए भी मेरे गुरु ने उसे मुझे बार बार सुनाया जिससे अपनी बुद्धि के अनुसार मैं जो कुछ भी उसे ग्रहण कर सका, उसे भाषा-बद्ध करना चाहा, जिससे कि मेरे मन को सतोष प्राप्त हो जाय।

वैसे तो राम कथा की कोई मर्यादा नही है, पर जो इसे सुनते हैं वे उसकी अलौकिकता पर आश्चर्य नही प्रकट करते। क्योकि उनके मानस मे यह दृढ विश्वास बना हुआ होता है कि रामचन्द्रजी के नाना अवतार हुए है, तथा रामायण भी सौ करोड एवम् अपार हैं।

वैसे मैं न तो कवि हूँ और न वाक्-चातुरी मुझ मे है, परन्तु राम भक्ति और राम चरित्र मेरे अन्त करण मे उमड आया। रामचन्द्रजी जिसे भक्त के नाते अपना कहते हैं उस पर शारदा की भी कृपा हो जाती है और भगवान तो सब के अन्तर्यामी हैं, अत भक्त पर उनका विशेषाधिकार रहता है इस नाते भी वे सूत्रधार की तरह सब कार्य व्यवस्थित करवा लेंगे। ऐसा गोस्वामी तुलसीदासजी का अटूट विश्वास है।

तुलसीदास का यह विनम्र और शास्त्रीय एवम् आध्यात्मिक दृष्टिकोण काव्य क्षेत्र मे एक अनूठी और अद्भुत देन मानी जावेगी। नाना पुराणो निगमो, और आगमो का निचोड तथा 'छहो शास्त्र सब ग्रन्थन को रस' रामचरित मानस मे होने से यह सद्ग्रन्थ लोकाभिमुख और सर्व कल्याणप्रद बातों से युक्त है।[1] सब रसिकों को इस सुरसरिता मे नहाये बिना अनान्दोपलब्धि नही हो सकेगी। इस रामभक्ति के गङ्गाप्रवाह मे ब्रह्म विचार की सरस्वती भी आकर मिल गई है तथा

१. रामचरित मानस अयोध्या काण्ड, २०६।

संत समाज के द्वारा राम कथा में प्रेम रखना ही तीर्थराज प्रयाग है, और विधि निषेधात्मक कर्मकाण्ड की इस कलियुग में उत्पन्न कल्मषों का प्रक्षालन करनेवाली यमुना भी इसमें आ मिली है। शिव के उपास्य राम और राम के उपास्य शिव इन दोनों का समन्वय कर तुलसी ने एक महान कार्य सिद्ध किया है। अतः इस त्रिवेणी-संगम पर जो भक्त और रसिक आ जाते हैं, वे धन्य हैं।

भरत का चरित्र उदात्त क्यों—

भरत एक भ्राता मात्र ही नहीं, वरन् एक आदर्श भक्त भी हैं। क्योंकि भगवान् राम भी अपने मन में उनका स्मरण करते हैं। इसीलिए जब वे रामचन्द्र जी से चित्रकूट में मिलने चले तो उनके लिए सभी बातें अनुकूल हो गयी। यथा—

> भरतु राम प्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता।
> सिद्ध साधु मुनिवर अस कहहीं। भरतहि निरखि हरषु हिय लहहीं॥[1]

भरत तो रामचन्द्रजी के प्रिय भक्त हैं और फिर उनके छोटे भाई हैं। उनके लिए मार्ग अवश्य मङ्गलदायक होगा। सिद्ध, साधु-मुनिश्रेष्ठ ऐसा कहते हैं कि वे भरतजी को देखकर हृदय में परम हर्षित होते हैं। रामचरित मानस में कई उत्कृष्ट स्थल अलग-अलग स्थानों में और प्रसङ्गों में बिखरे पड़े हैं। उन सब का अनुशीलन तो असंभव ही होगा। पर तुलसीदासजी की साहित्यिकता का क्षेत्र इतना व्यापक और इतना सरस है कि उसके रसास्वादन का मोह संवरण करना कठिन हो जाता है।

मित्र की परिभाषा तुलसी ने जिस प्रकार अपने रामचरित मानस में प्रस्तुत की है वह देखते ही बनती है। यथा—[2]

मित्र वर्णन—

> जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।
> निज दुख-गिरि-सम-रज करि जाना। मित्र-क दुख रज मेरु समाना॥
> जाकर चित अहि-गति सम भाई। असकुमित्र परिहरेहि भलाई॥

यह प्रसङ्ग सुग्रीव और राम की मैत्री का है। प्रभु रामचन्द्रजी सुग्रीव की कातरता और भय का निवारण करते हुए बतलाते हैं कि जो लोग मित्र के दुःखों में दुखी नहीं होते, उन्हें देखना भी भारी पाप है। पर्वत के समान अपने दुख को धूल के कण समान और मित्र के धूली के कण समान दुख को पर्वत के समान समझना चाहिए। जिसमें स्वभावतः ऐसी बुद्धि नहीं है, वे मूर्ख हठ करके क्यों

---

१ रामचरित मानस अयोध्या काण्ड, २१६।

२. रामचरित मानस किष्किन्धा काण्ड, ६ पृ० ३६७ गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण।

किसी से मित्रता करते हैं ? मित्र का कर्तव्य है कि वह अपने मित्र को बुरे मार्ग से बचाकर अच्छे मार्ग पर ले जाये और उसके अवगुणों को छिपाकर गुणों को प्रकट करे, तथा कुछ देते लेते हुए मन में शङ्का न करे। और अपने बल का अनुमान करके सदैव उसकी भलाई करता रहे। वेद और सन्त जन कहते हैं कि मित्र का गुण यह है कि मित्र के संकट काल में उस पर सौगुना अधिक स्नेह होना चाहिए। जो मित्र सामने तो मीठी बातें कहता हो और पीठ पीछे बुराई करता हो तथा मन में कुटिलता रखता हो—वह मित्र नहीं है। हे भाई सुग्रीव ! जिसका मन साँप की चाल के समान टेढ़ा हो, ऐसे बुरे मित्र को त्यागने में ही भलाई है।

रामचन्द्र के द्वारा सुग्रीव से मैत्री की गई जिसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। लङ्कादहन और सीता की खोज तथा उनका सन्देश रामचन्द्रजी तक पहुँचा देना, तथा हनुमानजी की भक्ति, सेवा दौत्य-कार्य आदि अनेक बातें रामचरित-मानस में भरी पड़ी हैं। साहित्यिक-दृष्टि से किसी भी प्रसङ्ग को लेकर देखने से उसकी सरसता और उत्कृष्टता अपने आप ही सिद्ध हो जाती है।

अपनी सेना के साथ प्रभु रामचन्द्रजी विनोद पूर्ण और वैदग्ध्य पूर्ण बातें भी करते रहते थे। ऐसा ही एक प्रसङ्ग देखिए। यथा[1]—

पूरब दिसा बिलोकी प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहिं देखहु ससि हि मृगपति-सरिस असंक॥
पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बलरासी॥
मत्त नाग तम-कुंभ बिदारी। ससि केसरी गगन-बन चारी॥
कहत हनुमत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रियदास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता भास॥

इस संवाद और वार्तालाप में प्रत्येक चरित्र और उसकी बौद्धिक क्षमता मुखरित हो उठी है। प्रभु रामचन्द्रजी ने पूर्व दिशा की ओर देखकर कहा—देखो यह उदित चन्द्रमा सिंह के समान कैसे निःशङ्क है। पूर्व दिशारूपी गिरि-कन्दरा में रहने वाला बड़ा प्रतापी तथा तेज और बल की राशि यह चन्द्रमारूपी सिंह अन्धकार-रूपी मतवाले हाथी का मस्तक फोड़कर आकाश-वन में विचरण कर रहा है। मोतियों के समान बिखरे हुए तारकगण निशा-सुन्दरी के शृङ्गार हैं। प्रभुजी ने कहा—चन्द्रमा में जो काला धब्बा है, वह क्या है ? अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसे समझाकर कहो। सुग्रीव ने उत्तर दिया—हे रघुनाथजी ! सुनिए, चन्द्रमा में पृथ्वी की छाया दीख रही है। किसी ने कहा—चन्द्रमा को राहु ने मारा है, वही

१. रामचरित मानस लङ्काकाण्ड, ११-१२ (गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण) पृ० ४४३।

काला दाग हृदय में पड़ा हुआ है। किसी ने कहा—विधाता ने जब रति के मुख की रचना की, तब उन्होंने उस मुख को बनाने के लिए चन्द्रमा का सार-भाग ले लिया, वही छेद चन्द्रमा के उर में दिखाई दे रहा हैं, जिसके कारण उसमें आकाश की काली परछाईं प्रतीत होती है। रामचन्द्र ने कहा—विष चन्द्रमा का भाई है। इसलिए वह चन्द्रमा को बहुत प्रिय है। इसीसे चन्द्रमा ने उसे अपने हृदय में धारण किया है और विष निर्मित किरणें फैलाकर वह विरह-दग्ध पुरुषों और स्त्रियों को जलाया करता है। हनुमानजी ने कहा हे भगवान् ! सुनिए, चन्द्रमा आपका प्रिय सेवक है। आपकी साँवली मूर्ति चन्द्रमा के हृदय में रहती है, उसी मूर्ति का यह आभास दिखाई पड़ रहा है। इस प्रकार के रसिक विनोद श्री रामचन्द्रजी अपने सैनिक साथियों से किया करते थे।

अब हम तुलसीदासजी के कुछ अन्य साहित्यिक-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाले उदाहरण अपने अनुशीलन के लिए लेते हैं—

राम विरह में दुखी कौसल्या का एक चित्र यहाँ पर प्रस्तुत है[1]—

जननि निरखति बान धनुहिया।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय वचन सवारे॥
कबहुँ समुझि बन गवन रामको रहि थकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी-सी॥[2]

माता कौसल्या बार-बार रघुनाथजी के खेलकूद के धनुष को देखती हैं, और प्रभुजी की नन्हीं-नन्हीं सुन्दर जूतियाँ को बार-बार हृदय से तथा नेत्रों से लगाती हैं। कभी पहले की भाँति प्रातःकाल ही मन्दिर में जाकर इस प्रकार के प्रिय वचनों से उनको जगाने लगती हैं कि हे तात ! उठो, तुम्हारे मुखारविन्द पर माता न्यौछावर होती है। देखो तो सारे अनुज द्वार परे खड़े हैं। कभी कहती हैं बेटा बहुत अबेर हो गयी है, महाराज के पास जाओ तथा अपने साथियों को बुलाकर जो रुचे सो भोजन करो। वे कभी राम के बन गमन का स्मरण कर चकित होकर चित्र लिखित सी रह जाती हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय का वर्णन करने से तो प्रीति सीखी हुई सी जान पड़ती है क्योंकि सत्य स्नेह होने पर तो उसका वर्णन असम्भव हो जायगा, तथा चित्त विवश होकर विरहाग्नि में दग्ध हो जायगा।

---

1 गीतावली अयोध्याकांड पद ५२।

जनकपुरी की सजावट का कलात्मक वर्णन—

> बिधि हि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा ॥
> हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
> रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल ॥
> बेनु हरित-मनिमय सब कीन्हें। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे।
> कनक-कलित अहि बेली बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई ॥
> तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच बिच मुकुता दाम सुहाये ॥
> मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
> किये भृङ्ग बहुरङ्ग बिहङ्गा। गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा ॥
> सुर प्रतिमा खंभनि गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं ॥[1]

इन पंक्तियों मे तुलसी की दृष्टि कितनी बारीकी के साथ कलात्मक संयोजन करती थी इसे देखते ही बनता है। यह कलात्मक सृजन विवाह जैसे मोहक वातावरण मे जनकपुरी का विवरण देते हुए तुलसी के परिष्कृत रसिक दृष्टिकोण का परिचय दे देती है। इस वास्तुकला में सजीवता के साथ नृत्य संगीत आदि का चेतन रूप निखर उठा है। जनक के आदेश पर अनेक विशेषज्ञो को मण्डप बनाने के लिए बुलाया गया। उन्हें उसे सजाने को कहा गया। तब कुशल और चतुर विशेषज्ञ आये। उन्होंने ब्रह्मा का वदन कर कार्यारम्भ किया और सबसे प्रथम केले के स्तंभ सुवर्ण के बनाये। उनमें हरे वर्ण की मणियों के पत्ते और फूल बनाये। पद्म राग माणिक के लाल वर्ण के पुष्प निर्माण किये। मण्डप की अत्यन्त विचित्र रचना देखकर ब्रह्मा का मन भी उसमें रम गया। सब बाँस हरे रंग की मणियों से बनाये। वे सीधे और पत्तेदार बाँस सरलता से पहिचाने भी नहीं जा सकते थे। सोने की सुन्दर नागबेली बनाकर उसे पत्तो सहित विभूषित किया जिसे पहचाना अत्यन्त कठिन था। उस लता से पच्चीकारी कर उसी के बंधनवार बनाये जिनमें बीच-बीच मे मोतियों की लड़ियाँ विद्यमान थीं। लाल माणिक, पन्ने, हीरे और फिरोजे को चीरकर तथा कोरदार बनाकर पच्चीकारी करते हुए उसके रंग बिरंगे कमल के फूल बनाये। भृङ्ग और रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी भी बनाये जो हवा के झोकों से गूँजते और मधुर ध्वनि में कूजते थे। स्तंभों पर देवताओं की मूर्तियाँ खोदी गयीं जो मांगलिक द्रव्य और सामग्री लेकर खड़ी थीं। अनेक तरह के चौक पुराये गये जो गज मुक्ताओ से बने थे और बड़े सुहावने थे। नील मणियों को कोरकर अत्यन्त सुन्दर आम की टहनियाँ बनायी गयीं, जिनमें सोने के आम्र बौर और

---

१. रामचरित मानस बालकाड २८७-८८।

रेशमी डोरी से बंधे हुए पन्ने से बने फूलों के गुच्छ शोभायमान थे। कितना अनोखा और अद्भुत कलात्मक वर्णन तुलसी ने यहाँ पर प्रस्तुत किया है। ऐसा वर्णन साहित्य में बहुत कम मिलता है।

राम लक्ष्मण और सीता के वन गमन की करुण व्यंजना—

राम लक्ष्मण और सीता के वन गमनावसर पर उनकी सुकुमारता और सौंदर्य को देखकर जन-जीवन में उनके लिए श्रेष्ठ कोटि का आदरभाव है तथा कठोर हृदय से जिन लोगों ने उनको बनवास दिया है उनके प्रति और विशेषत कैकेयी के प्रति ग्राम वधूटियों के जो उद्गार निकले हैं उनमें से एक यहाँ पर द्रष्टव्य है—

> रानी मैं जानी अजानी महा पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।
> राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
> ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है?
> आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो है?[१]

एक ग्राम वधू दूसरी से कहती है कि मैं जानती थी कि रानी कैकेयी कितनी कठोर, दुष्टा और अबोध थी, जिसका हृदय पत्थर से भी कठोर है। फिर राजा दशरथ ने भी रामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण को बनवास देते हुए विवेक और विचार से काम नहीं लिया और अपनी कठोर एवम् पाषाण हृदयी स्त्री की बात मान ली। वास्तव में ये ऐसी मनोहर और सुकुमार मूर्तियाँ हैं जिनको आँखों में रखा जा सकता है। इनसे बिछुड़कर उनके प्यारे लोग कैसे जीवित रहे होंगे? जब हमें उन पर जो कठोरता बर्ती गयी है, उसमें इतना दुख होता है तो जो उनके अपने सम्बन्धी एवम् आत्मीय हैं, उनको कितना दुख हुआ होगा। उसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। कितनी करुण भाव-व्यंजना है।

लङ्का दहन का एक भीषण परिणाम—

लङ्का दहन के प्रसङ्ग में हनुमानजी के द्वारा किया गया भीषण परिणाम प्रदर्शित करने वाला उदाहरण द्रष्टव्य है—

> हाटबाट हाटक पिघलि चलो घी सो घनो।
> कनक कराही लंक तलफति ताय सो।
> × × ×
> तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारी कहै।
> बापरे सुरारि बैर किन्हो रामरायसो॥[२]

---

१. कवितावली अयोध्याकांड २०।

२. कवितावली सुन्दरकांड २४।

हनुमानजी ने लङ्का को जलाकर अग्नि का ऐसा प्रकोप किया, कि उसकी उष्णता से घर, बाजार और सवत्र स्वर्णपुरी लङ्का का सोना घी की तरह सघन रूप में पिघल कर बह निकला। स्वर्ण की कड़ाही मे मानो लङ्कापुरी तड़फ रही थी। सारे बलवान राक्षसो को जलाकर, झुलसाकर तथा मार कर नाना तरह के पकवानो की ढेरियाँ और पक्तियाँ मानो हनुमानजी ने सजा दी हो। अभ्यागत रूप मे आये हुए अग्नि जैसे अतिथि को हनुमानजी अपनी रुचि से आग्रह पूर्वक परोस-परोस कर भोजन करा रहे हैं। इस तरह सर्वनाश और आग का भयङ्कर रूप देख कर असुरस्त्रियाँ अपने पति को गालियाँ देकर कहती हैं, हे पागल! देख लिया न, राम-चन्द्रजी से विरोध करने का भीषण परिणाम। वे तो असुरारि हैं। उनसे शत्रुत्व कर क्या फायदा हुआ?

युद्ध क्षेत्र मे राम का व्यक्तित्व—

रामचन्द्रजी ने अपने प्रचण्ड बाहू बल और धनुष के द्वारा छोडे गये बाणों से जो रावण की सेना और उसका भीषण सहार किया उससे उनका रणस्थल मे किस तरह का स्वरूप बन गया था, उसे देख लेना औचित्यपूर्ण ही होगा। यथा[1]—

> राम सरासन तें चले तीर, रहे न सरीर हड़ावरि फूटी।
> रावन बीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनी जुटी।
> सोनित छींटि छटा निछटे तुलसी प्रभु सोहैं, महाछबि छूटी।।
> मानो मरक्कत-सैल बिसाल में फैली चली वर बीर बहूटी।।

राम के बाणो से विद्ध होकर राक्षसो के शरीर जीवित न रह सके। शरासन से सन्धान किये जाने पर जो बाणो की वर्षा हुई उससे, हड्डियों की कतार सी खड़ी हो गई। रावण जैसे महावीर ने इसकी पीडा को कुछ भी नहीं गिना, यह देखकर जोगिनियों ने अपने हाथ मे खप्पर लेकर रुधिर प्राशन करने मे लूट मचा दी। प्रभु रघुपति के श्यामल शरीर और जटाजूट पर शोणित के छींटे और बिन्दु इधर-उधर मडरा रहे थे। तुलसीदासजी कहते हैं कि इससे जो एक महा छबि के दर्शन प्रभु के हुए वे ऐसे प्रतीत हुए मानो मरकत मणियो से युक्त विशाल पर्वत पर लाल-लाल बीर बहूटियाँ फैल चली हो। भगवान् राम का यह रणस्थलीय रौद्ररूप साहित्यिकता का एक चरम प्रश्न है।

तुलसी की सूक्तियाँ—

अब तुलसी की कतिपय सूक्तियाँ भी देखेंगे[2]—

> गोंड गँवार नृपाल महि यमन महा-महिपाल।
> साम न दाम न भेद कलि, केवल दड कराल।।

---

१. कवितावली—लका काण्ड, ५१।

२. दोहावली सरया ५५६, ५५४, ५६५, ५७२, ५६६, ५६७।

कलियुग की भीषण परिस्थिति का उल्लेख तुलसी के ग्रन्थों में बराबर रूप में आया है। कवितावली के उत्तरकांड में तथा रामचरित मानस के उत्तरकांड में तुलसी के युग की सामाजिक और धार्मिक दशा का चित्रण अपने यथार्थवादी रूप में चित्रित है। यहाँ पर इन सूक्तियों में भी साधनात्मक परिस्थितियों और देश की राजनीतिक एवम् सामाजिक परिस्थिति की भांकियाँ प्रस्तुत हैं। इस कलि काल में ऐसे नृपति राज्य करते थे जिनमें योग्यता नगण्य थी। राजनीतिक और सामाजिक उच्चाशयता तो दूर की बात है। इसीलिए गँवार गोंड राजा और यवन-महाराजाधिराज हुआ करते थे। जिनके शासन में साम-दाम और भेद तो शून्यवत् ही था। केवल कराल दण्ड नीति से वे अपना प्रशासन चलाते रहते थे। तुलसी की ये सूक्तियाँ उस समय की यथार्थ दशा पर प्रकाश डालती हैं।

धार्मिक साधनाओं के क्षेत्र में भी यही बात दिखाई पड़ती थी। ढकोसलेबाजी से और पाखंडों से बिना अधिकार और पात्रता के जनता पर प्रभुत्व जमाने वाले साखियाँ, सबदियाँ और दोहरे सुनाया करते थे। कहानी और उपाख्यानों में मन गढ़न्त किस्से सुनाते रहते थे। वेद और पुराणों की घनघोर निन्दा करने वाले तथा कथित भक्त, कलियुग में भक्ति-निरूपण करते थे। भक्ति-शास्त्र का जिन्हें ज्ञान नहीं वे यदि भक्ति का निरूपण करने लगें तो उसमें तथ्य और सात्विकता कितनी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है। कलियुग में कुपथ कुतर्क, कुचाल, कपट दम्भ और पाखंड का बोल बाला अधिक है परन्तु राम का गुणगान इन सबको प्रचण्ड आग में इन्धनवत् जलाकर विनष्ट कर देता है।

भाषा का कोई बंधन किसी भी सहृदय के लिए नहीं है। संस्कृत हो भाषा हो और प्राकृत न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। व्यावहारिक रूप में लोकाभिमुखता के लिए यदि रामचरित्र प्राकृत में गाया जाना ही सरस और सुलभ है, तो संस्कृत का आश्रय लेने की वैसी कोई अनिवार्यता नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं कि जहाँ कम्बल से काम चल जाता है वहाँ रेशमी कपड़ा लेकर क्या उपयोग होगा। अर्थात् कौनसा फायदा होने वाला है।

स्नेहपूर्वक सीताराम का नित्य स्मरण आत्मकल्याणार्थ मध्य में और अन्त तक शुभ परिणाम उपलब्ध हो जाता है। चित्त रूपी चकोर के लिए रामचन्द्र के मुखचन्द्रमा का आकर्षण होने पर रामराज्य में सारे कार्य शुभ अवसर में शुभकारी और सुहावने हो जाते हैं। अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में तुलसी ने अपने साहित्य को रचा है। दोनों पर उनका समानाधिकार है।

इस तरह कहा जा सकता है कि तुलसीदासजी का साहित्य सगुणोपासनापरक

लोकाभिमुख तथा आत्म कल्याण और लोककल्याण इन दोनों पक्षों का हित करने वाला है। उसकी दार्शनिकता लोक-मंगल को ध्यान में रखकर सिद्ध है और साहित्यिकता भी शील, शक्ति और सौन्दर्य के अनन्त गुणों से युक्त होकर जन-जन मानस के हिय का हार बन गई है। यही उसका उज्ज्वल और वरद स्वरूप है। तुलसी इसीलिए सब वैष्णव भक्तों में मूर्धन्य और वरेण्य हैं।

सूरदास का साहित्यिक पक्ष—

सगुण भक्ति-काव्य के वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों को लेकर उसे अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले कृष्ण भक्त सूरदासजी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। सम्भवतः जैसे एक ही गुण को लेकर यदि अध्ययन किया जाय तो कहना पड़ेगा सूरदास बेजोड़ है। उच्च पदस्थ भक्ति-भावना को सूर ने अपने साहित्य में जिस प्रकार अपनाया है, उस स्तर पर पहुँचना सूर के अतिरिक्त और किसी का कार्य नहीं है। सूर सौन्दर्य के आगार एवम् सौन्दर्य पुरुषोत्तम पर तो रीझे ही हैं। परन्तु उनके सम्पर्क में आकर चेतन-अचेतन पर जो एक अमिट प्रभाव और स्पदन, भगवान् श्रीकृष्ण ने निर्माण किया उसका स्पष्ट अङ्कन सरसता के साथ गीतिकाव्य के माध्यम से तथा संगीत की सहायता से करते हुए सूरदासजी ने एक बहुत सर्वश्रेष्ठ कार्य सिद्ध कर दिखाया है। भक्त और भगवान् का सम्बन्ध प्रेम का है। इसे सूर की काव्य भावना का मर्म समझिए।

सूर ने परब्रह्म श्रीकृष्ण की अलौकिकता को तथा उनके रहस्यात्मक स्वरूप को बराबर समझा है। इन्हें समझाने का उनका माध्यम बालकृष्ण की बाल लीलाएँ तथा गोपियों के साथ की गई लीलाओं का संयोग और वियोग की अवस्थाओं तथा अनेक सुकुमार भाव-भंगिमाओं का आलेखन है। सूर मुक्ति नहीं चाहते केवल भक्ति ही उनका लक्ष्य है। सूर की कलात्मकता और साहित्यिकता का अब हम अनुशीलन करेंगे।

सूरदास की साहित्यिकता एवम् कलात्मकता का विवेचन—

कृष्ण जन्म के मंगल अवसर पर बालक कन्हैया को देखने के लिए सब बृजवासियों के अंतःकरण में एक विशेष प्रकार की उत्सुकता दिखाई पड़ती है। ब्रज-वनिताएँ तो कृष्ण को किसी न किसी बहाने देखने जाती हैं। सूरदासजी का इसी अद्भुत अलौकिक इच्छा का वर्णन करने वाला एक पद देखिए—

> हौं सखि, नई चाह इक पाई।
>
> सूरदास प्रभु भक्त-हेत-हित, दुष्टनि के दुखदाई ॥[1]

---

१. सूरसागर पद ४३५० (ना. स)।

एक सखि दूसरी सखी से कह रही है कि मैंने अपने मे एक नई इच्छा जगी हुई पाई। नद के यहाँ ऐसे सुदिन फिरे हैं, कि कन्हैया नाम का एक अति सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ है। प्रणव के साथ इस आनन्द को प्रकट करने वाले मगलवाद्य रुज, मुरज और शहनाई इत्यादि बज रहे हैं। महरनन्द और महरि यशोदा ब्रज के हाथों को लुटवा रहे हैं। उनका आनन्द इतना बढ गया है कि उर मे समाता नहीं है। इसलिए हे सखि! तू भी साथ चल। हम मिलकर चलें और देखें कि कैसा आनन्द सर्वत्र फैला हुआ है। परन्तु देर न करना। उसका प्रस्ताव सुनकर उत्सुक ब्रज-वनिताओं की यह दशा हो गई कि कोई आभूषण पहन रही थी वह पहनकर निकल आई, कोई पहनते हुए बाहर आगई तो अन्य कोई वैसे ही दौडकर चली आई। सबने स्वर्ण के थाल में दूब, दधि और रोली लेकर मगल बधावेके गीत गाती हुई निकल आईं। अनेक प्रकार से युवतियाँ बन ठन कर के आई हैं। बालकृष्ण के अद्भुत और अलौकिक आश्चर्य कारी स्वरूप को देखने से सारी स्त्रियाँ आई हैं। इसका वर्णन किसी भी उपमा से नहीं किया जा सकता। आकाश में अपने-अपने विमानों में बैठे-बैठे ब्रज के इस सुख को देवता निहारते हैं और जय-जयकार करते हैं। सूरदासजी निवेदन करते हैं कि प्रभु भक्त के हितार्थ अवतार लेते हैं और दुष्टों के लिए दुखदायी बन जाते हैं।

अद्भुत रसपूर्ण बालकृष्ण का यह कौतुक देखने योग्य है—

> कर पग गहि अगूठा मुख मेलत।
> प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रग खेलत।
> उन ब्रज-बासिनी बात न जानी, समुझे सूर सकट पगु ठेलत॥[1]
>
> × × ×
>
> जब मोहन कर गही मथानी।
> सूरदास प्रभु की यह लीला, परति न महिमा सेष बखानी॥[2]

हाथो से पैर का अगूठा मुख में श्रीकृष्ण रखते हैं। प्रभु अकेले पालने मे सोये हुए हैं और हर्षित होकर के अपने ही रग मे खेल रहे हैं। बाल रूप पूर्ण ब्रह्म को इस प्रकार अपने ही रग मे खेलते हुए देखकर शकर सोचने लगे, विधाता अपनी सारी बुद्धि खर्च कर विचार करने लगे यथा अक्षय वट बढकर सागर के जल को झेलने लगा। प्रलय काल के बादल यह सोचकर घिर आये कि अब प्रलय काल का क्षण आ पहुँचा। दिशाओं के हाथी दिशा पतियों के सहित हिलने लगे। मुनिगण

१. सूरसागर पद ६८१ (ना स.)।
२. सूरसागर पद ६६२ (ना. स.) १७६२।

मन में भयभीत हो गए। शेषनागजी ने सकोच से अपने सहस्रों फणो को फैलाया। इतनी मारी हलचल ब्रह्माड मे मच गयी, पर ब्रजवासी इस बात को नही जान पाये। सूरदासजी ने यह जान लिया था, कि प्रभु अपने पैरो मे शकटासुर को ठेल रहे थे। क्योकि उसका वध हो गया था।

इसी प्रकार दूसरा अद्‌भुत प्रसङ्ग भी सरस है। जब मोहन ने हाथ मे मथानी उठा ली और दधि से भरे हुए मटके मे उसे डाल कर उसका स्पर्श किया, तब 'नेति नेति' कहने वाले सुरो ने तथा सागरने, मदराचल पर्वत ने और वासु की ने मन में भय मान लिया कि कहीं फिर कोई समुद्र मथन तो नही होने जा रहा है। आप कभी तो तीन पगो मे सारी धरती माप लेते हैं तो इस बाल्यावस्था मे आप अपनी देहली का भी उल्लघन करना नही जानते। कभी तो देवता और मुनियों के भी ध्यान मे नही आते हैं। पर उनको कभी नदरानी यशोदा अपने हाथो से खिलाती है। कभी तो देवताओ के द्वारा बनायी गयी खीर तक उन्हे अच्छी नहीं लगती, परन्तु कभी दही और माखन से ही उन्हे रुचि उत्पन्न हो जाती है। सूरदासजी कहते हैं, यह सारी प्रभु की लीला है। इसकी महिमा शेष नागजी से भी नहीं बखानी जा सकती।

श्रीकृष्ण की शोभा का हृदयग्राही और प्रभावजन्य-स्वरूप वर्णन देखिए—

> सोभा सिंधु न अंत लहीरी।
> सूरस्याम प्रभु इन्द्र नील मनि, ब्रज बनिता उर लाइ गहीरी ॥[१]
>
> × × ×
>
> देखो माई सुन्दरता को सागर।
> बुधि विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर ॥
> देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं विचारि विचारि।
> तदपि सूर तरि सकी न सोभा, रही प्रेम पचि हारि ॥[२]

इस नवजात शिशु पूर्ण-पुरुषोत्तम-कृष्ण की शोभा का क्या वर्णन किया जाय? एक सखि इस शोभा से प्रभावित होकर दूसरी सखी से कहती है कि शोभा के इस सिंधु का कोई अन्त नहीं है। नद भवन मे जाकर जब मैंने उस सुन्दर बालक को अत्यन्त उमङ्ग के साथ देखा तो उससे प्रभावित होकर मैं ब्रज की गलियो मे घूमती फिरी। आज घर-घर दही देकर मैंने सारा गोकुल देखा।

---

१. सूरसागर पद ६४० (ना स)।
२. सूरसागर पद १२४६ (ना. स)।

सहस्रों लोगों के पूछे जाने पर मैं बार-बार उनको वर्णन सुनाने का निर्वाह न कर सकी, क्योंकि किस-किस प्रकार यह अद्वितीय बात अनेक प्रकार से मैं बना कर कहूँ यही मेरी समस्या बन गई थी। सब लोगों ने यही कहा कि यशोदा के अगाध उदर-उदधि से यह अद्भुत शोभा का आगार, बालक कन्हैया उत्पन्न हुआ है। सूरदासजी कहते है, प्रभु रूपी-इन्द्रनील मणि को हर ब्रज-वनिता ने अपने हाथों से उठाकर हृदय से लगा लिया। कितना व्यापक प्रभाव इस बालक के सौन्दर्य का पड़ता है इसकी कल्पना सभव नहीं है। गोपियाँ उस सौन्दर्य-पुरुषोत्तम के संपर्क में आकर और उससे साक्षात्कार कर रसमग्न हो गई हैं। उनकी हृदय की अवस्था का तथा इस सच्चिदानंद के चेतन-सौन्दर्य से प्रभावित गोपियों के उद्गार मननीय हैं। अरी, देख तो सही यह सुन्दरता का सागर। इस के सौन्दर्य का पार नहीं लगता। बुद्धि और विवेक का बल भी इसका रहस्य नहीं जान पाता। मन-सागर भी इस अनुपम सौन्दर्य को देखकर मग्न हो जाता है। इनका शरीर अति श्यामल और अगाध सागर की गहराई लिए है। कमर में पीताम्बर पहना हुआ उनका परिवेश इस सागर में तरंगित हो रहा है। अपने आकर्षक बाँकपन लिये हुए नेत्रों से जब ये किसी को देखते हुए चलते हैं, तो और भी अधिक रुचि अंतःकरण में उत्पन्न हो जाती है। और इस सौन्दर्य सागर के अङ्ग-अङ्ग में भँवरें पड़ जाती हैं। मागन्पव सूरदास ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल से और अपनी विलक्षण कल्पना से प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में इस अद्वितीय सौन्दर्य सागर को देखकर गोपियाँ हैरान हैं। वे श्याम सुन्दर के रूप लावण्य पर लुभा गई हैं, तथा उनके अङ्ग-अङ्ग पर मर मिटी हैं। कृष्ण के नेत्र मछली जैसे चचल, कुडल मकराकृति के हैं, तो दोनों हाथ भुजङ्ग जैसे हैं। दोहरी लहराने वाली मौक्तिक-माला, ऐसी प्रतीत होती है मानो दो सुर-सरिताँ एक साथ आकर इस सौंदर्य-सागर से मिल गई हों। स्वर्ण में जड़े गये मणियों के आभूषण और मुखारविन्द पर दिखाई पड़ने वाले घर्म-बिन्दु ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो सागर को मथने पर उसमें चन्द्रमा, लक्ष्मी और अमृत इकट्ठे निकल आये हों। कहने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा का आकर्षण, लक्ष्मी की श्री और अमृत की तरलता और चैतन्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में समन्वित रूप में विद्यमान है। ऐसे सौन्दर्य को देख कर उसको आत्मसात कर लेना कठिन है, पर गोपियों की व्याकुलता इस बात को स्पष्ट करती है कि ऐसा अलौकिक और दिव्य सौन्दर्य मन और वाणी की शक्ति के परे की चीज है। सूरदास जी कहते हैं बेचारी गोपियाँ ऐसे सुन्दर सगुण स्वरूप को देखकर सोचती हैं कि इसे कैसे देखें ? वे इस शोभा-सागर में तैर नहीं सकीं और प्रेम मग्न होकर चकित हो गयी। सूर की चित्रण कला और व्यजकता सराहनीय है।

यशोदा ऐसे दिव्य बाल-स्वरूप पर न्यौछावर हो जाती है देखिये[1]—

> बलि गइ बालरूप मुरारी।
> पाइ पैंजनि रटनि रुन भुन, नचावति नंदनारि।
> कबहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी चलन सिखावति ग्वारि।
> कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेति अँचल डारि।
> कबहुँ हरि कौं चितै चूमति, कबहुँ गावति गारी।
> कबहुँ लै पीछे दुरावति, ह्या नहीं बनवारी।
> कबहुँ अङ्ग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि।
> सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि॥

वात्सल्य रस के सम्पूर्ण तत्व यहाँ आकर इकट्ठे हो गये हैं। नद के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का यह चित्र सूरदासजी ने प्रस्तुत किया है। यह गतिमान सौन्दर्य हृदय को विमुग्ध किये बिना नहीं रहता। बालरूप कृष्ण की छवि देखिये। उनके मनोहारी पैरों मे पैंजनियाँ रुनक झुनक युक्त झनकार हो रही है। जब कि नन्द की महरी यशोदा उनको नाचना सिखाती है। कभी उनकी पकडकर चलना सिखाती हैं। कभी प्रेमपूर्वक हृदय मे लगा लेती हैं, तो कभी उनका मुँह चूम लेती है। कभी अपने आँचल में छिपा लेती हैं, तो हर्षित होकर कभी गाती है और कभी उनको पीछे की ओर दुराती है। कभी वस्त्राभूषण पहिनाकर राई और नोन से उनकी नजर उतारती है। उनका वात्सल्य प्रेम देख कर सुर, नर आदि सब का मन मोहित हो गया है।

कृष्ण के अङ्गों के सौन्दर्य का प्रभाव.—

कृष्ण के अङ्ग अङ्ग की शोभा सदा एक सी नहीं रहती प्रत्येक क्षण में नव्यता और रमणीयता आती रहती है। प्रत्येक गोपी कृष्ण के किसी न किसी अङ्ग पर रीझी है यथा[2]—

> लख्यो निरखि हरिप्रति-अङ्ग।
> कोऊ निरखि नख-इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग रङ्ग॥
> कोऊ निरखि नूपुर रही थकी, कोउ निरखि जुग जानु।
> कोऊ निरखि जुग जङ्घ सोभा, करतो मन अनुमान॥
> कोऊ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारी।
> कोऊ निरखि हृद नाभि की छवि डारियो तन मन वारि।

१ सूरसागर पद ७३६ (ना स)
२ सूरसागर पद १२५२ (ना स)

रुचिर रोमावली हरि के चारु उदर सुदेस।
मनो अलि-स्रेनी विराजति बनी एकहिं भेस।
रहीं इक टक नारी ठाढ़ी करति बुद्धि विचार।
सूर आगम कियो नभ तें जमुन-सूच्छम धार।

कृष्ण के अङ्ग प्रत्यङ्ग को प्रत्येक तरुणी-गोपी देखती है। कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध होने का यह विविध व्यापार देखिए। कोई कृष्ण के युगल चरणों की रम्य और रक्तिम आभा को देखती है तथा उसके इन्दु की आभा को प्रकट करने वाले नखों को देखकर उसके प्रभाव में मग्न है। कोई जुगल जानुओं को देखकर पैरों में बधे नूपुरों को देखते-देखते विस्मृत हो गई है। कोई दोनों सुडौल जघाओं को देखकर उनकी सुघरता पर मन ही मन अनुमान करने में व्यग्र है। कोई कमर में काली मेखला तथा पीताम्बर को कसे हुए परिवेश को और काछनी की ओर देखती ही रह गई है। कोई नाभि के विवर की छवि देखकर अपना तन मन उस पर वार देती है। कोई कृष्ण के सुन्दर उदर पर जो रुचिर रोमावली है उसी पर लट्टू हो गई है। मानो भ्रमरों की कतार एकसा वेश धारण किये चली आ रही हो। कोई इकटक होकर कृष्ण के सौन्दर्य को देखने वाली नारी खड़ी होकर अपनी बुद्धि से विचार-मग्न हो गई है, कि यह लावण्य आखिर किस कोटि का है? सूर को एक अद्भुत उत्प्रेक्षा सूझी है। वे कहते हैं कि ऐसा लगता है मानो आकाश से यमुना की सूक्ष्म धारा का आगमन हो रहा हो। सचमुच सूर के रूप-लावण्य का चित्रण और उसका व्यापक वर्णन अनोखा है।

सूरदास की शब्द-योजना और सजीव चित्र उपस्थित करने की पटुता भी स्पृहणीय है यथा[1]—

दावाग्नि की भयकरता का भयानकरस में सजीव वर्णन—

भहरात भहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अन्दोर बन, धरनि अकास चहुँ पास छायो॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त है बाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपट लपटत, पटकि फूल फूटत, फटि चटकि लट लट कि द्रुम नत धायो।
अति अगिनि झार झार धुन्धार करि, उचटि अङ्गार झंझार छायो।
बरत बन पात भहरात भहरात, अररान तरुमहा धरनि गिरायो॥
भये बेहाल सब ग्वाल ब्रज बाल तब, सरन गोपाल कहि कै पुकार्‌यो।
तृणा केसी सकट बकी बका अघासुर, बामकर गिरि राखि ज्यों उबार्‌यो।

१. सूरसागर पद १२१४ (ना स)।

इस पद की शब्द योजना कितनी ध्वन्यात्मक है। उदाहरणार्थ भहरात, भहरात, अररात, झमार, घुंघार आदि शब्द रस को हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर उनका आशय मूर्तिमान कर देते हैं। दावानल तीव्र गति से भहराते हुए आया, और उसने चारों ओर से 'घनघोर वन' को घेर लिया। वास्तव में राक्षस ही दावानल का रूप धारण कर वृज-मंडल को लीलने आ पहुँचा था। यह दावाग्नि धरती से आकाश तक छा गई थी। इस आग में जगल के कुश, कास जलकर इधर-उधर गिर पड़ते हैं। जलते हुए बाँस हवा के प्रबल झोंके से यत्र-तत्र उड़कर गिरते हैं। इधर-उधर लपटें झपटती हैं उसके फूल फूटते हैं उनके चटकने की आवाज आती थी। लपटें जलती हुई पेड़ो तक पहुँच गयी थी। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने से सर्वत्र धुआँ छा गया था। उसका सर्वग्रासी भयानक रूप दोनों सहित उचटकर आकाश तक परिव्याप्त था। पत्तियाँ, द्रुम और लताएँ जलकर और दुहरी होकर नीचे की ओर लटक रही थी। बडे-बडे तरु अरराकर जलने के कारण टूट पडे और धरती पर जोरशोर सहित आ गिरे। सारे व्रज के ग्वाल-बाल, और सभी जन अत्यन्त बेहाल हो गए और वे सर्वरक्षक गोपालजी के शरण मे आए। उनका विश्वास उन्हें बतला रहा था कि इसके पूर्व श्रीकृष्ण ने तृणावर्त केशी, अघासुर, बकासुर आदि को मारकर, तथा याभकर से गोवर्धन को उठाकर व्रज की रक्षा की थी। अत इस सकट से भी वे सब अवश्य ही मुक्त हो जावेंगे।

कृष्ण के सौन्दर्य की आसक्ति गोपियो को उनके नेत्रो ने प्रदान की है। प्रेम व्यापार में नेत्रो जैसे इन्द्रिय का बडा मूल्य होता है। उनका अन्तःकरण उनके निजी वश मे नहीं रह सका। इस दोष को स्वय वे स्वीकार कर अपने नेत्रो को वे दोषी ठहराती हैं। उसकी सरस अभिव्यजना द्रष्टव्य है यथा[1]—

नेत्र व्यापार—

> चितवनि रोके हूँ न रही।
> स्याम सुन्दर-सिंधु-सनमुख, सरित उमँगि बही।
> प्रेम-सलिल प्रवाह भवरनि, मिति न कबहुँ लही।
> लोभ लहर-कटाच्छ, घूघट पट-करार ढही॥
> थके पल-पथ, नाव धीरज परति नहिं न गहीं।
> मिलो सूर सुभाव स्यामहि, फेरि हू न चही॥

अपनी दृष्टि को, कटाक्ष को कई बार रोका-टोका परन्तु हमारे किये कुछ न हो सका। उन चितवनों ने स्यामसुन्दर के सौन्दर्य-सागर के सामने उमगित

---

१ सूरसागर पद (ना. स)।

सरिता का रूप धारण कर लिया और वे चचल होकर उसी मे बह गई। प्रेम के जल की गहराई मे वे इतनी डूब गई कि उनको उनकी थाह तक न लग सकी। लोभ की लहरो मे कटाक्षपात होते ही वे बह निकली, तथा घूँघट के कगारो को भी उन्होने ढहा दिया। पल-पथ पर उनकी राह देखते-देखते हम थक गयी, धैर्य की नाव पर उनको आश्रय देना चाहा, परन्तु अब तो वे पकड में किसी भी तरह आ ही नही सकतीं। स्वभावत वे श्याम से जाकर मिल गई हैं और कृष्ण के स्वभाव को उन्होने अपना लिया है, फलत उनको वापस फेरने पर भी वे हमसे फेरी नही जा सकतीं। प्रेम का प्रभाव कितना गहरा और व्यापक होता है इसका सम्यक् उदाहरण सूरदासजी ने यहाँ पर प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेम मे कभी-कभी प्रणयकोप भी होता है इसी को कलात्मक ढङ्ग से एक स्थान पर महात्मा सूरदासजी अभिव्यक्त करते हैं।

प्रणय-कोप तथा मीठी झिडकी का मधुर सयोग देखिए[१]—

मोहि छुओ जनि दूर रहौ जू।
जाको हृदय लगाइ लयो है, ताकी बाँह गहौ जू।
सुनहु सूर मो तन वह इकटक चितवनि, डरपति नाहीं।।

कृत्रिम क्रोध करते हुए श्रीकृष्ण से यह नायिका कहती है कि मुझे कतई स्पर्श न करना। जिसको आपने हृदय मे लगा लिया है, उसी की बाँह ग्रहण करो। आप क्या यह समझते हैं कि सर्वज्ञ केवल आप ही हैं और सब मूर्ख हैं। वे रानी हैं और हम सब दासी हैं। मैं देख रही हूँ, कि वह आपके हृदय मे बैठी हुई है और हम तो आपके लिए एक हँसी मजाक की बात बन गई हैं। एक तो आप समय पर नहीं आए, दूसरे धोखा भी दे रहे हो। बाँह गहते हुए आपको लज्जा भी नहीं आती। यह सब करते हुए आप मनमे बड़ा सुख पा रहे हैं न? सूरदासजी कहते हैं कि यह नायिका उनसे कहती है कि मेरी ओर देखो। ऐसा कहकर वह उनकी ओर एकटक होकर देख रही है जरा भी डरती नही है।

इसी तरह का किन्तु दूसरे ढङ्ग का एक पद और भी द्रष्टव्य है। जिसमें सूरदासजी नेत्रो की धृष्टता तथा उनके द्वारा किये गये व्यापारो का गोपियो के मुख से वर्णन प्रस्तुत करते हैं[२]—

अखियाँ हरि के हाथ बिकानी।
मृदु मुसुकानि मोल इनि लीन्हीं, यह सुनि सुनि पछितानीं।।

---

१ सूरसागर पद (ना स)।
२. सूरसागर पद (ना स) २६६७।

इस पद की शब्द योजना कितनी ध्वन्यात्मक है। उदाहरणार्थ भहरात, भहरात, अररात, झभार, धुंधार आदि शब्द रस को हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर उनका आशय मूर्तिमान कर देते हैं। दावानल तीव्र गति से भहराते हुए आया, और उसने चारों ओर से 'भण्डीर वन' को घेर लिया। वास्तव में राक्षस ही दावानल का रूप धारण कर वृज मडल को लीलने आ पहुँचा था। यह दावाग्नि धरती से आकाश तक छा गई थी। इस आग में जगल के कुश, बांस जलकर इधर-उधर गिर पड़ते हैं। जलते हुए बाँस हवा के प्रबल झोंके से यत्र-तत्र उड़कर गिरते हैं। इधर-उधर लपटें झपटती हैं उनके फूल फूटते हैं उनके चटकने की आवाज आती थी। लपटें जलती हुई पेड़ों तक पहुँच गयी थीं। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने से सर्वत्र धुआँ छा गया था। उसका सर्वग्रासी भयानक रूप शोलों सहित उचटकर आकाश तक परिव्याप्त था। पत्तियाँ, द्रुम और लताएँ जलकर और टूटी होकर नीचे की ओर लटक रही थीं। बड़े-बड़े तरु अररावकर जलने के कारण टूट पड़े और धरती पर जोरशोर सहित आ गिरे। सारे व्रज के ग्वाल-बाल, और सभी जन अत्यन्त बेहाल हो गए और वे सर्वरक्षक गोपालजी के शरण में आए। उनका विश्वास उन्हें बता रहा था कि इसके पूर्व श्रीकृष्ण ने तृणावर्त केशी, अघासुर, बकासुर आदि को मारकर, तथा वामकर से गोवर्धन को उठाकर व्रज की रक्षा की थी। अत इस सकट से भी वे सब अवश्य ही मुक्त हो जावेंगे।

कृष्ण के सौन्दर्य की आसक्ति गोपियों को उनके नेत्रों ने प्रदान की है। प्रेम व्यापार में नेत्रों जैसे इन्द्रिय का बड़ा मूल्य होता है। उनका अन्त करण उनके निजी वश में नहीं रह सका। इस दोष को स्वय वे स्वीकार कर अपने नेत्रों को वे दोषी ठहराती हैं। उसकी सरस अभिव्यंजना द्रष्टव्य है यथा[1]—

नेत्र व्यापार—

> चितवनि रोके हूँ न रही।
> स्याम सुन्दर-सिंधु-सनमुख, सरित उमँगि बही।
> प्रेम-सलिल प्रवाह भवरनि, मिति न कबहूँलही।
> लोभ लहर-कटाच्छ, घूंघट पट-करार ढही॥
> थके पल-पथ, नाव धीरज परति नहिं न गहीं।
> मिली सूर सुभाव स्यामहि, फेरि हू न चही॥

अपनी दृष्टि को, कटाक्ष को कई बार रोका-टोका परन्तु हमारे किये कुछ न हो सका। उन चितवनों ने श्यामसुन्दर के सौन्दर्य-सागर के सामने उमगित

१ सूरसागर पद (ना. स)।

सरिता का रूप धारण कर लिया और वे चचल होकर उसी में बह गई। प्रेम के जल की गहराई में वे इतनी डूब गई कि उनको उसकी थाह तक न लग सकी। लोभ की लहरों में कटाक्षपात होने ही वे बह निकली, तथा घूँघट के कगारो को भी उन्होंने ढहा दिया। पल-पल पर उनकी राह देखते-देखते हम थक गयी, धैर्य की नाव पर उनको आश्रय देना चाहा, परन्तु अब तो वे पकड मे किसी भी तरह आ ही नही सकतीं। स्वभावत वे श्याम से जाकर मिल गई हैं और कृष्ण के स्वभाव को उन्होंने अपना लिया है, फलत उनको वापस फेरने पर भी वे हमसे फेरी नहीं जा सकती। प्रेम का प्रभाव कितना गहरा और व्यापक होता है इसका सम्यक् उदाहरण सूरदासजी ने यहाँ पर प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेम मे कभी-कभी प्रणयकोप भी होता है इसी को कलात्मक ढङ्ग मे एक स्थान पर महात्मा सूरदासजी अभिव्यक्त करते हैं।

प्रणय-कोप तथा मीठी भिडकी का मधुर सयोग देखिए[1]—

मोहि छुओ जनि दूर रहौ जू।
जाको हृदय लगाइ लयौ है, ताकी बाँह गहौ जू।
सुनहु सुर मो तन वह इकटक चितवति, डरपति नाहीं॥

कृत्रिम क्रोध करते हुए श्रीकृष्ण से यह नायिका कहती है कि मुझे कतई स्पर्श न करना। जिसको आपने हृदय मे लगा लिया है, उसी की बाँह ग्रहण करो। आप क्या यह समझते हैं कि सर्वज्ञ केवल आप ही हैं और सब मूर्ख हैं। वे रानी हैं और हम सब दासी हैं। मैं देख रही हूँ, कि वह आपके हृदय मे बैठी हुई है और हम तो आपके लिए एक हँसी मजाक की बात बन गई हैं। एक तो आप समय पर नही आए, दूसरे धोखा भी दे रहे हो। बाँह गहते हुए आपको लज्जा भी नहीं आती। यह सब करते हुए आप मनमें बडा सुख पा रहे हैं न? सूरदासजी कहते हैं कि यह नायिका उनसे कहती है कि मेरी ओर देखो। ऐसा कहकर वह उनकी ओर एकटक होकर देख रही है जरा भी डरती नही है।

इसी तरह का किन्तु दूसरे ढङ्ग का एक पद और भी द्रष्टव्य है। जिसमे सूरदासजी नेत्रो की धृष्टता तथा उनके द्वारा किये गये व्यापारो का गोपियो के मुख से वर्णन प्रस्तुत करते हैं[2]—

अखियाँ हरि के हाथ बिकानी।
मृदु मुसुकानि मोल इनि लीन्हीं, यह सुनि सुनि पछितानी॥

---

१ सूरसागर पद (ना स)।
२ सूरसागर पद (ना स) २९९७।

कैसे रहति रहो मेरे बस, अब कछु औरे भांति ।
अब मैं लाज मरति मोहि देखत, बैठीं मिलि हरि-पाति ॥
सपने की सी मिलनि करति है कब आवति कब जाति ।
सूर मिलीं ढरि नंद-नंदन कौं, अनत नहीं पतियाति ॥

ये आँखें हरि के हाथ बिक गई हैं। हरि के मुखारविन्द पर मडराने वाली मृदु मुसकान पर ये न्योछावर हो चुकी हैं अर्थात् इन्होंने उस मुसकान को मोल ले लिया है। यह सुनकर हमें बडा पश्चाताप होता है। इसके पूर्व नेत्रो का आचरण हमारे वश की बात थी। पर अब इनका व्यवहार कुछ दूसरे ही ढङ्ग का हो गया है। इनके कारण अर्थात् हृदय से कृष्ण स्नेहमयी अवस्था से मैं अब अपने आप ही लज्जित हो जाती हूँ। इनकी धृष्टता तो देखिये ! कि ये तो श्री हरि के साथ उनके निकट स्थित हैं, और मुझे वह सुख उपलब्ध नहीं है। परिणामत श्रीकृष्ण के साथ हमारा मिलन स्वप्न के सदृश हो जाता है और जब इन नेत्रों के मन मे आता है तो वे श्रीकृष्ण के पास चली जाती हैं, और अपनी इच्छानुसार वापस लौट आती हैं। सूरदासजी कहते हैं कि इनकी आँखें नद नदन से मिलकर उनमे ही ढल गयी हैं। अत अब वे अयत्र नहीं जाती।

चर्म चक्षु तो दो होते है जिनसे आँखो के क्षितिज मे आने वाली सभी चीजें देखी जाती है। परन्तु अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को देखने की अतीव इच्छा ने गोपियों के रोम-रोम को ही नेत्र बना दिया है। सच है भक्त पर भगवान् की पुष्टि हो जाने पर उसकी मधुरा भक्ति से सराबोर हो गया हुआ अन्त करण इसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। देखिए एक गोपी की अवस्था। यथा—

रोम रोम ह्वै नैन गएरी ।
ज्यों जलधर परबत पर बरसत, बूँद बूँद ह्वै निचटि-दए री ।
ज्यों मधुकर रस-कमल पान करि, मोते तजि उन्मत्त भएरी ॥
सूरदास प्रभु-अगनित सोभा, ना जानो किहि अङ्ग छये री ॥[२]

नेत्रों की तरह ही श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर और उनके प्रेम [illegible] मेरे रोम-रोम नेत्र बन गए हैं। अरी सखि ! ऐसा लगता है [illegible] बैठे हुए नव-जलधर बूँद-बूँद होकर पूर्णरूपेण बह निकले। [illegible] का रस-पान कर उसे छोड देते हैं, वैसे ही मेरे रोम-रोम व्याप्त [illegible] के रस का पान कर मुझे छोडकर उन्मत्त हो गए

[illegible]

है। सर्प जिस प्रकार केंचुल त्याग देने पर उसकी ओर पुन देखने के लिए उद्यत नहीं होता उसी तरह इन नेत्रो ने कृष्ण को देखा, और उनके साथ ही वे चले गए, और मेरा केंचुलवत् परित्याग कर चल दिए। मैं तो श्यामल श्रीकृष्ण चन्द्रजी के रूप मे मग्न हो गई हूँ और इधर उनकी दशा तो ऐसी हो गई है। सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु की शोभा अगणित है और उसका प्रभाव ऐसा तीव्रतम और सर्वव्यापी है, कि यह गोपी कहती है कि पता नही किये नेत्र कृष्णजी के किन अङ्गो पर मुग्ध होकर छा गए हैं?

सूर की प्रतिभा कृष्ण जीवन सबधी जिन-जिन प्रसङ्गो को लेती हैं उसमे लीन हुई सी जान पडती है। बालकों के स्वभाव मे 'स्पर्धा' और 'क्षोभ' के भाव स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। सूर की चोखी और अनोखी प्रतिभा ने तथा भक्त के सहज अन्त करण ने अपने उपास्य के इन भावो की ओर भी दृष्टिपात किया है। इस प्रसङ्ग के ये दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। यथा[१]—

(१) स्पर्धा का भाव—

> मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
> कितो बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
> तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी-मोटी।
> काँचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन-रोटी।
> सूरज चिरजीवौ दोऊ भैया, हरि हलधर की जोटी।

यशोदा माता से बालक कृष्ण जी पूछते हैं कि उनकी चोटी क्यो नहीं बढ रही है? इसके पूर्व यशोदा अपने पुत्र से कई बार कह चुकी है कि तुम दूध पिया करो और यह चोटी बढती जायगी। बालक कृष्ण दूध तो पीते हैं पर चोटी नहीं बढती। अत बाल सुलभ कौतूहल और सन्देह युक्त होकर पुन. वे अपनी जननी से पूछते हैं, कि माता! मैं तो कई बार दूध पी चुका हूँ पर तेरे कथानुसार यह बल की द्योतक वेणी की तरह लबी-चौडी नहीं बन सकी है? मेरा अनुमान है कि तू मुझे कच्चा दूध पिलाती रहती है, इसी का यह परिणाम है। मुझे तो माखन-रोटी प्रिय है और तू उसे देती नही है। इस प्रकार का उत्तर प्राप्त कर माता ने अपना वात्सल्य भाव प्रकट किया है, जिसका सूरदासजी वर्णन करते हैं, कि यशोदा ने अपने बालक कृष्ण पर रीझ कर कहा तुम्हारी और बलराम की जोडी चिरजीवि हो जाय मैं तुम पर न्यौछावर होती हूँ।

---

१. सूरसागर, पद ७९३ (ना स)

(२) क्षोभ एवम् खीझ के भाव का स्वाभाविक प्रदर्शन—[1]

> खेलत में को काको गुसैंयाँ।
> हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैंयाँ।
> सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत दाउँ दियौ करि नद-दुहैयाँ॥

खेलते हुए कौन किसका मालिक है ? खेल मे हार-जीत तो होती ही रहती है। जिस पर दाँव आता है उसे दाँव देना ही पडता है। अत खेल-खेल मे हरि हार गये और श्रीदामा जीत गये तो क्या हुआ ? क्यो व्यर्थ क्रोध करते हो ? कृष्ण को इस प्रकार उनके सखा समझाते हैं। जाति पाति की दृष्टि से भी तुम हमसे बडे नहीं हो और तुम्हारा दबाव किस लिए ? हम तो तुम्हारी छाया मे आकर थोडे ही बसे हैं ? क्या तुम हम पर इसी लिए अधिकार प्रदर्शित करते हो क्यो कि तुम्हारे पास अधिक गायें हैं। यदि तुम रूठते हो तो रूठे रहो और जहाँ के तहाँ अपनी गायो को लेकर बैठे रहो। सूरदास कहते हैं कि प्रभु तो खेलना ही चाहते थे इसलिए नद-नदन-कृष्ण ने अपना क्षोभ हटा कर दाँव दिया। वास्तव मे स्वाभाविकता तो इसमे है ही परन्तु वात्सल्य भाव से की जाने वाली भक्ति की साधना अपनाने वालो की यह भगवान् के द्वारा ली गई परीक्षा भी है।

मुरली वर्णन—

मुरली पर भी सूर ने कई सुन्दर पद लिखे हैं। कृष्ण को पाना जैसे जीव का लक्ष्य होना है, वैसे ही जड और अचेतन भी चैतन्यराशि कृष्ण के सपर्क मे आकर उनकी सन्निकटता प्राप्त कर लेता है। मुरली का यही हुआ। गोपियो को जो सन्निकटता प्राप्त हुई थी उसमे भी निकटतम सान्निध्य मुरली को प्राप्त हुआ, जिससे गोपियो को ईर्ष्या हुई। परन्तु फिर भी उसके भाग्य की उन्होने सराहना ही की है।

इस पद मे इस की अभिव्यजना देखिए[2]—

> मुरली तप कियो तनुगारि।
> नेहकूँ नहिं अङ्ग मुरको, जब भुलाकी जारि।
> सूर प्रभु तब ढरे है री, गुननि्ह किन्ही प्यारि॥

मुरली के तप और साधना से उसने जो कुछ प्राप्त किया, वह स्वयम् गोपियो के लिए सराहना का विषय बन गया। इस मुरली को जब अपने मूल रूप

---

१ सूरसागर, पद ८६३ (ना स.)
२. सूरसागर, पद १६५८ (ना. स)

से अर्थात् आँग से काट कर अलग किया गया, उसमे छेद बनाये गये। तब अपने किसी भी अङ्ग को उसने नही मोडा। वर्षा शीत और ग्रीष्म के प्रबल आघातो को उसने सहा। और वह भी एक पग पर खडे होकर। कटते हुए अपने किसी अङ्ग को नहीं मोडा ऐसी यह साहसिनी नारी है। अत ऐसी कठिन साधना करने वाली साधिका को तू क्यो गाली दे रही है ? इसने तो श्यामसुन्दर को रिझा लिया है। इतना सब कुछ कर लेने पर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उस पर कृपा की है। उसने अपने गुणो से अपनी ओर ढलने के लिए मजबूर कर दिया। तभी वह कृष्ण की प्यारी बन गई। पुष्टि-मार्ग मे कृष्ण का अनुग्रह एक स्तर से दूसरे स्तर में अपनी पात्रता एवम् अधिकार से सम्पन्न होता है। इस तथ्य का सुन्दर निरूपण इस प्रतीकात्मकता से पाठको को उपलब्ध हो जाता है।

सूर के सयोग वर्णन की उत्कटता और सरसता अद्वितीय है। प्रियतम और प्रेयसी का, पति और पत्नी का और जीवात्मा तथा परमात्मा का मधुर सम्मिलन रास लीला मे तन्मय हो उठा है इसे देखने के लिए एक अनूठा पद सूरदास जी प्रस्तुत कर देते हैं यथा[1]—

रास की सरसता का रहस्य—

मानो माई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनी, दामिनि घन अतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनी॥
सुन्दर ससि गुन रूप-राग-निधि, अङ्ग अङ्ग अभि रामिनि॥
रच्यो रास मिलि रसिक-राइ सौं, मुदित भई गुन ग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुन्दर तन, आनन्द मन बिस्रामिनि॥
खजन - मीन - मयूर-हस-पिक, भाइ - भेद गज - गामिनि।
को जाने गति गने सूर मोहन सङ्ग, काम बिमोह्यो कामिनि॥

राम की चरम पराकाष्ठा पर पहुँची हुई अवस्था और रास-मडल मे किये जाने वाले नृत्य की क्षिप्र गति मे कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ दिखलाई पडते हैं। इसी दिव्य रास का अलौकिक वर्णन सूरदास जी करते हैं। प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण ऐसे दिखाई देते है जैसे एक मेघ अपनी गर्जन-तर्जन के साथ साँवली शोभा लिए हुए हर स्थान पर विद्यमान हैं। जिससे क्षण-क्षण पर बिजली की कौंध से उत्पन्न प्रकाश दिखाई पडता है। यह बिजली अपनी चमक-दमक के साथ राधा और गोपियो का ही रूप प्रदर्शित कर देती है। घनश्याम श्रीकृष्णचन्द्रजी तो बादल का

१. सूरसागर, पद १६६६ (ना. स.)

ही बर्णों लेकर आये हैं। इस दृश्य से ऐसा लगता है, जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में मग्न हो गये हैं। रसिक राज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप हो गयी व्रज वनिताएँ हर्ष से पुलकित और आनंद से भर गयी हैं। खंजन, मीन तथा हंस की शोभा को अपनी-अपनी आनंद छवि से पराजित करने वाली इन सुन्दर और रास-विह्वला गोपियों की गति का कोई क्या वर्णन कर सकेगा? सूरदासजी कहते हैं कि इन गोपियों को श्रीकृष्ण के साथ रासलीला में मिलने वाले आनन्द ने मोह लिया है। अतः उनकी इस विह्वलता का वर्णन कर सकना संभव नहीं है। सूरदासजी स्वयम् इस रास-लीला की प्रणाली के विषय में एक स्थान पर यह कहते हैं[1]—

रास लीला की अगम्यता—

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहां वैसी बुद्धि, कहां वह मन लहौं, कहां यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं, कौन माने जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहीं या रसहि पावै॥
भाव सों भजै, बिनु भाव में ये नहीं भाव ही मांहि ध्यान हि बसावै॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है दरस-दंपति भजन सार गाऊँ॥
यहै मांगो बारबार प्रभु सूर के, नैन दोऊ रहैं, नर-देह पाऊँ॥

इस-रास-लीला का वर्णन सूरदासजी के अनुसार उनके सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसका रहस्य, इसकी रीति, प्रविधि आदि अवर्णनीय है। भगवान् के अपार अनुग्रह से राधा और गोपियों को यह आनन्द-केलि करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनकी-सी बुद्धि, उनका सा मन मेरे पास कहाँ है? जो इन गोपियों के पास विद्यमान है। यहाँ तो चित्त और जी में भ्रमोत्पादकता अपने भुलावे में डाले हुए है। इससे मुक्त होकर इतनी उच्च बुद्धि प्राप्त करना बडी साधना और श्रीकृष्णजी की कृपा पर निर्भर है। यदि कुछ कहूँ भी तो कौन मानेगा? निगमागम आदि में भी इसे दुर्लभ बताया है। बिना कृपा के यह रस आता ही नहीं। इसके लिए वैसा भाव चाहिए। जिसमे ऐसा भाव होगा वही उस भाव से प्रभु को भजता है। बिना भावों के इसकी उपस्थिति एवम् आविर्भाव भी नहीं हो सकता। विश्व की विराट भावात्मक सत्ता का यह मधुर आभास है। क्योंकि इसका निवास भावों में ही स्थित है। श्रीकृष्ण चन्द्र और उनकी ह्लादिनी पराशक्ति राधा की युगल जोडी का ध्यान करना, भावमय होकर इनका भजन करना ही मंत्र है। यही मेरा ध्यान है। इस युगल-दम्पति के दर्शन नित्य करने चाहिए यही भजन का सार है जिसे मैं गाकर

---

१ सूरसागर पद १६२४ (ना स)।

सुनाता रहूँ यही मेरी अभिलाषा है। सूरदासजी प्रभु से बार-बार यही माँगते हैं कि मेरे दो नेत्र भी रहें और मैं नन्देह प्राप्त कर यही मन्त्र, ध्यान, दर्शन आदि कर सकूँ। रसमार्गीय, माधुरी भावना के भक्त एवम् नित्य लीला के आकांक्षी भगवान् की कृपा से इसे प्राप्त करते हैं, यही सूरदासजी का अभिप्राय है। यह राम प्रभु की शाश्वत लीला है जिसका दर्शन प्रज्ञाचक्षु सूर ही एकमात्र कर सके।

सूर साहित्य में विरह भावना का प्रदर्शन—

सूरदासजी की विरह व्यजना वात्सल्य और शृङ्गार रस के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये विवेचन में मिलती है। यहाँ पर हम कतिपय यशोदा के उद्गारों में माता का अन्तःकरण अपने लाल श्रीकृष्ण के लिए विछोह में कितनी दुखित है इसे देखेंगे।[1] यथा—

> जद्यपि मन समुझावत लोग।
> सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग॥
> प्रात काल उठि माखन-रोटी, को बिनु मांगे देहै।
> को मेरे बा कान्ह कुवर कौं, छिनु-छिनु अङ्कम लैहै॥
> कहियो पथिक जाइ, घर आवहु, राम कृष्ण दोउ भैया।
> सूर स्याम कत होत दुखारी, जिनके मो सो मैया॥

यशोदा के मातृ हृदय का सूरदास को अच्छा परिज्ञान था। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा को जो वियोग हो गया था उस अवस्था में कई लोगों ने उन्हें समझाया। वे कहती हैं, कि यद्यपि लोग मेरे मन को समझाते हैं परन्तु नवनीत को देखकर मेरे हृदय में शूल उठता है क्योंकि यह मेरे मोहन के मुख में पड़ने योग्य था। उन्हें अब प्रातःकाल उठकर बिना माँगे कौन माखन रोटी देगा? मेरे कुँवर कन्हैया को कौन खिलावेगा और बार-बार गोद में कौन उठा लेगा? हे पथिक! मेरे बलराम और कृष्ण इन दोनों बेटों को जाकर कह दो कि वे घर पहुँच जावें। तुम क्यों दुखी होते हो। जब मेरे जैसी माता विद्यमान है तो चिंता किस बात की। कृष्ण को अक्रूर रथ में बैठाकर अपने साथ ले गए तब गोपियों की जो दशा हो गई, वह विरहावस्था का आरम्भ ही था। यह भावना आगे चलकर तीव्रतम होती गई। परन्तु विरह कितना प्रसन्नतम था तथा साँवले श्रीकृष्ण से उनका कितना गाढ़ा और सघन रस सम्बन्ध था इसका पता उनके इस पद से लग जाता है। यथा—

---

१ सूरसागर पद ३७६१ (ना स)।

आजु रैनि नहिं नींद परी ।
जगत गिनत गगन के तारे, रसना रटत गोविंद हरी ॥
सूरदास प्रभु जहां सिधारे, कितिक दूर मथुरा नगरी ॥[1]

अक्रूर के द्वारा बाँह गहकर श्रीकृष्ण चन्द्रजी को रथ मे बैठाकर लिवा ले जाने का दृश्य ब्रजवासियो और विशेषत गोपियो के अन्त पटल पर चिरन्तन रूप से अङ्कित हो गया था। दूरी की दृष्टि से ब्रज से मथुरा नगरी बहुत दूर नहीं थी। जहाँ प्रभु चले गए थे, वहा क्या गोपियाँ नहीं जा सकती थी ? वैसे दूध, दही माखन इत्यादि बेचने नित्य ही गोप-ग्वाल और ग्वालिनें आती रही होगी। परन्तु श्रीकृष्ण-चन्द्रजी का उनसे कुछ कहे बिना तथा आश्वासित किए बिना चले जाना मानिनि गोपिकाओ के लिए अपने स्वाभिमान का विषय बन गया। इसीलिए उन्होने विरह दुख सहना स्वीकार किया और वे वहाँ नही गयी। भक्त और भगवान् मे तथा सख्य भक्ति और माधुर्य-भक्ति मे वही नैकट्य की–आत्मीयता की सम्बन्ध-भावना कार्य करती रहती है ऐसा तथ्य हमारे सामने आता है। विरहाकुलता देखिए। आज रात भर किसी को नींद नही आई। सारी रात तारे गिनते हुए व्यतीत हो गई और रसना निरन्तर गोविन्द-गोविन्द, हरि-हरि रटती रही। रथ मे बैठे हुए कृष्ण की वह चितवन, वह रथ मे बैठने की पद्धति और अक्रूर के द्वारा उनकी बाँह *गहा जाना, हमेशा के लिए हमारे हृदय मे अङ्कित हो गई है। हमारी आँखो के* सामने हमारी आँखो की निधि छीन ली गई। हम तो काम के द्वारा दग्ध हो गई थी। विरह से पीडित हो जाने के कारण कुछ कह भी नही सकती थी। अपने मान मे हे सखि ! मुझे व्याकुल रह जाना पडा और इधर आर्य पथ से भी हट गई। इस अगतिकता मे हमें दोनो ओर से दुख उठाना पडा।

सगुण उपास्य की प्रतिष्ठा—

सूरदास के इन गीतो मे मधुर अमृत के साथ अश्रुओं का खारा जल भी विद्यमान है। भावमग्न सूरदास अपने सगुण भजन से सगुण उपास्य मे बराबर लीन रहे हैं। निर्गुन बानी, योग आदि तद्युगीन अन्य साधनाओ को वे जानते थे। पर उसकी निस्सारता भी सूर की समझ मे आ गई थी। व्यावहारिकता की दृष्टि से उद्धव और गोपियो के सवादो मे, भ्रमरगीत के माध्यम से गोपियो का निर्व्याज प्रेम और अपने सगुण उपास्य के प्रति दृढ़ आस्था ही प्रकट होकर हमारे सामने आई है। ऊधो को दिए गए उलाहने तथा सगुण का जोरदार समर्थन विशेष द्रष्टव्य है। यथा—

---

१. सूरसागर पद ३६२२ (ना स)।

निरगुन कौन देस को बासी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरो, सूर सबै मति नासी।[1]

× × ×

काहे को रोकत मारग सूधौ।
सूर मूर अक्रूर गयौ लै ब्याज निबेरत ऊधौ।।[2]

ऊधो की योग, निर्गुण तथा वेदांत की साधना से उनको मुक्त कर उन्हे पुष्टिमार्ग एवम् सगुण-साधना का मर्म समझाने के हेतु भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हे गोपियों के पास सन्देश देकर भेजा था। गोपियाँ अपनी कान्तासक्ति और माधुर्य भक्ति मे पक्की थी। सगुण सौन्दर्य-पुरुषोत्तम को छोड़कर वे निर्गुण निराकार को क्यो और कैसे मान सकती थी? उन्होंने ऊधो से अनेक प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये। वे पूछने लगीं बताओ तो तुम्हारा यह निर्गुण किस देश का निवासी है? हे भ्रमर! शपथ पूर्वक हम तुमसे पूछती हैं कि इसका जनक कौन है, इसकी माता कौन है? इसकी कौन स्त्री है और कौन दासी? यह हम सब सत्य ही जानना चाहती हैं। इसमे कोई हँसी या मजाक नही है। तुम्हारा यह कथित निर्गुण ब्रह्म किस रस का अभिलाषी है। इसका क्या वर्ण है और कौन सा परिवेश है? यदि तुम इन सब प्रश्नों का उत्तर न दे सके, तो तुम अपनी करनी का फल जरूर प्राप्त करोगे। प्रश्नों की यह झड़ी लगी सी देखकर सूरदासजी कहते हैं कि बेचारे ऊधो की बुद्धि मारी गई और बेचारे बावले बनकर मौन ही रह गए।

गोपियो ने ऊधो से विनम्रतापूर्वक अभ्यर्थना करते हुए कहा कि सगुणोपासना का एवम् रागानुगा भक्ति का सरल और सीधा मार्ग हमने अपनाया है। उसे तुम क्यो रोक रहे हो? हे मधुप। निर्गुण की ओर जाने का कटका-कीर्ण मार्ग क्यो हमे चलने के लिये कह रहे हो? किसी को भी राजमार्ग से जाते हुए नही रोकना चाहिए। ऊपरी तौर पर कृष्ण ने तुम्हे भेजा है ऐसा तुम हमे बतलाते हो किन्तु वास्तव मे ऐसा लगता है कि कुब्जा ने ही सिखा पढ़ाकर हमारे पास तुम्हे भेज दिया

से रस-पुरुषोत्तम, सौन्दर्य-पुरुषोत्तम और माधुर्य-पुरुषोत्तम को भी ले जाना चाहते हों। पर यह कैसे सम्भव है ?

नंद को भगवान् कृष्ण ने जो कुछ उपदेश दिया अथवा समझाया बुझाया वह भी उनकी भक्ति भावना की ली गई परीक्षा ही है। सूरदास के द्वारा अभिव्यंजित यह प्रसङ्ग देखिए[1]—

> बेगि व्रज कौं फिरिए नंद राइ।
> हमहिं तुमहिं सुत तात को नातौ, और परयो है आइ।।
> सूर स्याम के निठुर वचन सुनि रहे नैन जल छाइ।।

योगिराज कृष्ण भक्तों के आधीन होने पर भी उनमें कभी भी लिप्त नहीं थे। इसलिए जीवन की दार्शनिकता का उन्हें बराबर ज्ञान रहा करता था। भक्त की मनोवाछा तृप्त हो जाने पर 'तेन त्यक्तेन भुंजी था' वाला सिद्धान्त उसको अपनाना चाहिए यही उनका उपदेश था। लौकिक भावनाएँ मोह-जनित होने से उदात्त बन जाने पर भी उनके पुनः मोहाधीन होने का संदेसा बना ही रहता है। भगवान् कृष्ण दार्शनिक एवम् सर्वेसात्मक संदेश नंद को इस प्रकार देते हैं। हे नंद ! तुम शीघ्र व्रज को लौट जाओ। हमारा और आपका पुत्र का और पिता का सम्बन्ध है। पर अब दूसरा कर्तव्य सामने आ गया है। तुमने हमारा जो बहुत प्रेम से प्रतिपालन किया, वह हमारे हृदय से कभी भी विस्मृत नहीं होगा। माता यशोदा से मिलकर उन्हें सांत्वना प्रदान कर देना। सब सखाओं को गले लगाकर मिलना, और उनको समझाना कि मोह वश हो जाना उचित नहीं है। यों तो यह संसार माया और मोह-जनित होने से इसमें मिलन और बिछुड़न तो लगा ही रहता है। नंद की आँखों में अपने पुत्र श्रीकृष्ण के द्वारा कहे गये कठोर वचन सुनकर जल भर आया ऐसा सूरदासजी बतलाते हैं। गोपाल कृष्ण के बिना गोपियों का तथा सारे व्रज का शोक बढ़ता ही गया। इसे दो पदों के द्वारा देख लेना अनुपयुक्त न होगा। प्रेम की विरहजन्य वेदना जब अगतिक बन जाती है तो विरह भी विरहिणियों से प्रेम करने लगता है यथा—

विरह की मार्मिकता—

> ऊधौ बिरहौ प्रेम करे।
> ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसे परै।।
> सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यौं दुख सुखनि डरै।।[2]

---

१. सूरसागर पद ३७३५ (ना स)।
२. सूरसागर पद ४६०४ (ना स)।

हे ऊधो ! हमसे तो विरह भी प्रेम करता है। विरह मे प्रेम की स्मृति विशेष जागरुक हो जाती है। सच्चा प्रेम विरह मे ही प्रस्फुटित होता है। जिस प्रकार वस्त्र को कई बार रगो का पुट देने पर वह रग पकड लेता है और रस निकल जाता है, या जिस प्रकार कच्चे घट को आँवा मे तपाने पर वह पक्का हो जाता है और बाद मे उसमे अमृतोपम स्वादु जल भरा जाता है, अथवा जैसे बीज बो देने पर फटकर अकुरित हो जाता है और वह शतरूपो मे फलित हो जाता है या जैसे कोई योद्धा रण मे शरो के आघातो को सहकर सूर्य चक्र को वेधकर आगे चला जाता है उसी तरह सूरदासजी कहते है कि हम भी प्रेम-पथ पर चलकर दुखो को अथवा सुखो को सहने से क्यो डरेगी ?

प्रिय की अनुपस्थिति मे प्रिय लगने वाले स्थल भी शत्रुवत् हो जाते है क्योकि उन स्थलो मे प्रिय के साथ सुखद क्षण व्यतीत किये गये हैं पर अब वे ही दुखद हो गये हैं। देखिये—

बिनु गुपाल बैरिनि भइ कुजे।
तब वे लता लगति तन सीतल, अब भई विषय ज्वाल की पुजे॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत वृथा कमल फूलनि अलि गु जे।
पवन, पान, घन सार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजें॥
यह ऊधो कहियो माधो सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लु जे।
सूरदास - प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग - जोवत अखियाँ भई पुजे॥[1]

गोपाल के बिना ये कुज हमारे लिए शत्रुवत् बन गये हैं। इन कुंजो की लताएँ, झुरमुट इत्यादि हमारे प्रियतम श्रीकृष्णजी की उपस्थिति मे अर्थात् सयोग-पक्ष मे अत्यत शीतल जान पडते थे। किन्तु अब वियोगावसर मे ये सब विष ज्वाला के पुँज रूप नजर आते हैं। यह जमुना व्यर्थ ही बह रही है, पक्षियो का कूजन भी निरर्थक है। कमलो का विकसित होना तथा उन पर भ्रमरो का मडराना भी व्यर्थ है क्योकि हमारे प्रियतम यहाँ नही है। वायु, जल, बादल, चन्द्रमा और उसकी शीतल किरणें अब हमारे लिए सूर्य की किरणो के समान जलाने वाली प्रतीत होती हैं। हे ऊधो ! तुम जाकर माधव से यह कह दो कि गोपियाँ मदन की मार से कराह रही हैं। सूरदास का कथन है कि इन गोपियों की आँखें तुम्हारी प्रतीक्षा मे बिछी हुई हैं। उन्हे हे प्रभु ! आप दर्शन दीजिए।

सूर की निगूढ काव्य साधना—

सूरदास की विशुद्ध और निगूढ काव्य-साधना उनकी आत्मपरक भावभूमि से

1 सूरसागर पद ४६८६ (ना स)।

सम्पन्न है। काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। भावों के भेद अपार हैं। सूर की तन्मयता ने अपने गीति काव्य शैली पूर्ण पदों में श्रीकृष्ण परमात्मा की लीला का गान कर भागवत की 'समाधि भाषा' का ही परिणाम पाठकों और रसिकों पर अङ्कित कर दिया है। सूर का काव्य उच्च और उदात्त मानस भूमि के आधार पर ही निर्मित है। श्रीकृष्ण के रहस्यमय सौन्दर्य का दर्शन, उनके दिव्य व रसिकमय व्यक्तित्व का प्रदर्शन तथा भक्ति की महाभाव की दशा से लेकर अनेक अवस्थाओं का चित्रण राधा और अन्य गोपियों के माध्यम से व्रज भाषा में अभिव्यजित करने में वे पूर्ण सफल एवम् सिद्ध हुए हैं। सूरदास रस विशेष की प्रतीति सहृदयों में कर सकने में सिद्धहस्त हैं। उनका सङ्गीत दिव्य है, पदों की तन्मयता दिव्य है और कला भी दिव्य है। सूर के दो उदाहरण लेकर हम यह काव्यानुशीलन समाप्त करेंगे।

राधा और माधव की अंतिम भेंट कुरुक्षेत्र में सूरदासजी ने करवाई है जो बड़ी हृद्य और मरम है।[१] देखिए—

> **राधा माधव भेट भई।**
> **राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जुगई।**
> **माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।**
> **माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥**
> ***बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर यह कहिके उन ब्रज पठई।***
> **सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज - विहार नित नई नई॥**

राधा माधव की यह भेंट उस समय हुई है जब कीट-भृङ्गन्याय से राधा की दशा माधववत् हो गई है। माधव की दशा उसी न्याय से राधावत् हो गई। परस्पर एक दूसरे के विरह को अच्छी तरह समझ चुके हैं। राधा के रंग में माधव और माधव के रंग में राधा रंग गई है। राधा और माधव में परस्पर निरन्तर प्रीति रही है, जो मौन रहकर ही अभिव्यक्त हो गई है। रसना से उसको बखानकर *प्रदर्शित नहीं किया गया है।* विहँसते हुए माधव ने राधा से कहा कि हम तुम में कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह गोपियों से कहकर उनके सहित कृष्ण ने उनको व्रज में वापस भेज दिया है। सूरदास कहते है कि व्रज में इसी प्रकार से लीला-लाघवी श्रीकृष्णजी नित्य नये-नये प्रकार के खेल और क्रीडाएँ आदि किया करते हैं।

लौकिक-कृष्ण और अलौकिक-कृष्ण के चरित्रों को समानान्तर रूप से

१. सूरसागर पद ४६१० (ना स)।

अभिव्यक्त करते हुए एक अभिन्न व्यक्तित्व सूर ने अपने उपास्य को प्रदान कर दिया है। जो वात्सल्य, सख्य, और माधुर्य भरी भक्ति भावना से अभिसिंचित हो उठा है।

सारे सूर काव्य-सागर में सूर की व्याकुल आत्मा अनेक माध्यमों से एक ही पुकार से गा उठी है जो इस प्रकार से है[1]—

> छबीले मुरली नैकु बजाउ।
> बलि - बलि जात सखा यहि कहि, अधर सुधा रस प्याउ॥
> दुरलभ जनम लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरग।
> ना जानिये बहुरि कब ह्वै है, स्याम तिहारो सग॥
> विनति करत सुबल श्रीदामा, सुनहु स्याम दै कान।
> या रस कौं सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

× × ×

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने ठीक ही कहा है कि 'हमारा यह विश्वास है कि यह व्याकुल सुर इतने रङ्गो मे अनुरजित होकर जो सूरसागर मे आया है, वह आकस्मिक नही है। उसमे कवि का आवरण परिधान करके बैठा हुआ भक्त गायक अपनी मर्म वेदना गा रहा है।'[2]

यह पद बहुत लबा है पर सूर की सारी मर्माहत वेदना इसमे मुखरित हो उठी है। सूर की आत्मा इस करुणा भरे गीत मे व्याकुल हो उठी है। अपार और अपरिमित सोभा वाले छविमान घनश्याम श्रीकृष्णजी को तनिक देर मुरली धुन सुनाने की अभ्यर्थना की गयी है। जन्म जन्मातरो की साधना के पश्चात् यह सुर और यह छबि सुनने और देखने को मिली है। अत सारे सखागण इस रूप पर बलिहारी जाते हैं और कहते हैं इस मुरली को पुन-पुन अधर-सुधा का रस पिलाओ, जिससे बार-बार हमे उसकी धुन सुनाई पडे। इसी जीवन मे मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है। फिर वृन्दावन मे जन्म पाना उससे भी दुर्लभ है तथा प्रेम की तरङ्ग मे आकर मुरली की ध्वनि सुनना और भी दुर्लभ है। पता नही इस आवागमन मे पुन हे प्रभु! आपके साथ ऐसा सहवास कब प्राप्त हो। सुबल और श्रीदामा आदि सखा गण मिलकर विनम्र प्रार्थना करते हैं कि आप सचमुच हमारी विनति को सुनिये। क्योंकि आपकी रसात्मता का ध्यान शुक, सनकादि ऋषि करते हैं। फिर भी उसे नही पाते हैं। वास्तव मे चेतन-अचेतन, पार्थिव अपार्थिव तथा स्थूल और सूक्ष्म

---

१. सूरसागर पद १८३४ (ना स.)।
२. सूर साहित्य (सशोधित सस्करण) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ०

आदि सभी ने जिस मुरली के रव को सुना है उसे पुन पुन सुनने की सब की अभिलाषा है जिसे सूरदासजी ने प्रतिनिधिक रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। रासलीला का रहस्य मुरली की तान है। अत उसका स्वनित होना और श्रीकृष्ण की अपरिमेय सौन्दर्य युक्त छवि सबके आकर्षण का प्रधान केन्द्र बन गई है।

विरहिणी राधा का चित्रण—

राधा तो अत्यन्त मलीन वेष धारण कर विरह मग्ना है। सयोग मे हरि के श्रमजल के कारण उसकी सारी का अचल भीग गया था उसको वह धुलाती तक नही है। अपना वदन नीचे की ओर ही झुकाए रहती है। केश पाश बिना सँवारे हुए ही छूटे हुए है। मानो हिमपात हो जाने पर कोई कमलिनी कुम्हला गई हो हरि सदेश सुनकर ऐसी जीवित हो गई जैसे कोई मृतप्राय व्यक्ति सहज जीवन प्राप्त कर ले। वैसे यह एक तो विरहिणी है, दूसरे भ्रमर के द्वारा सतायी गयी है। बेचारी अब कैसे जीवित रह सकेगी ? व्रज-वनिता राधा बिना श्याम के दुखी है। इसे सूर ने बडी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। सचमुच लूटे गये जुआरी की दशा राधा की हो गई है।

> अति मलीन वृषभानुकुमारी।
> हरि स्रम-जल भीज्यो उर अचल, तिहि लालच न धुवावति सारी ।।
> अधोमुख रहति अनत नाहिं चितवनि, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।।
> छूटे चिकुर वदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।।
> हरि सन्देसे सहज मृतक भई, इक विरहिनी दूजे अलि जारी ।।
> सूरदास कैसे करि जीवे, ब्रज वनिता बिन स्याम दुखारी ।।[1]

सूरदास का साहित्यिक पक्ष इसी तरह से भरा हुआ है। इसीलिए तो सूरदास का साहित्य तन्मयता और सरसता का सरोवर है।

मीराँ का साहित्यिक पक्ष—

मीरा गायिका थी अत उनका साहित्य गेय पदो से युक्त है। अत उनके पदो को गीति काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। भक्ति भावना की सरसता तथा विशुद्ध प्रेम इनके साहित्य का विषय है। जयदेव की गीति-परम्परा को ही प्राय कृष्ण-भक्तों ने आगे बढाया है। इसके आदर्श पर मैथिल कवि कोकिल विद्यापति, बङ्गाल के कवि चडीदास, महाराष्ट्र के नामदेव, गुजरात के नरसी मेहता तथा हिन्दी के तुलसी, सूर, कबीर और मीराँ ने गेय पद लिखे हैं। सारा भारतवर्षीय—

1. सूरसागर ना प्र. ४६६१।

वैष्णव साहित्य गीति काव्य की शैली से संपन्न और समृद्ध है। अपने गीतों के रचने के पहले अपने पूर्व वैष्णव कवियों के गेय पदों को मीराँबाई ने सुना होगा, गाया होगा और उसके संस्कार अवश्य मीराँबाई पर हो गए होंगे। वे जब वृन्दावन में गई थी, तब भी वैष्णव गीतों को उन्होंने अवश्य सुना होगा। यों जिस राज घराने से उनका सम्बन्ध था वे संगीत के प्रेमी थे। अतः सङ्गीत के तत्वों का प्रभाव अपने बचपन से पड़ा होगा। आगे चल कर सन्तों के साथ और भक्तों के द्वारा गाये गये गीतों को सुन कर मीराँ ने भी गेय पदों में अपने आराध्य श्रीकृष्ण की लीलाओं का आलेखन किया। मीराँ के पदों में अपने व्यक्तिगत जीवन संबंधी घटनाओं से संबंधित भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं। उनके काव्य के वर्ण्य विषय अनुराग, प्रेम की एकान्तिक निष्ठा, स्नेह की तन्मयता, वियोगजन्य पीड़ा की विह्वलता, हृदयस्थ भावों से परिव्याप्त मिलनेच्छा को व्यक्त करने वाली अनेक दशाएँ आदि बातें रही हैं। श्रीकृष्ण के स्नेह पथ में अनेक बाधाएँ आईं जिनको उन्होंने सहा। ये भाव भी कुछ पदों में अभिव्यक्त हो उठे हैं। मीराँ के पदों में आत्माभिव्यक्ति के साथ संगीत और नृत्य इन तीनों की समन्विति है। अपने प्रीतम को रिझाने के लिए वे नाची हैं, गायी हैं, डोल उठी हैं। इन सब क्रियाओं का एक ही लक्ष्य है तथा एक ही साध्य है कि उनके साँवरे गिरिधारी उनसे प्रसन्न हो जाँय और उनको अपना लें।

मीराँ की काव्य साधना का मर्म—

अपने आपको मीराँ ने व्रज की गोपी ही मान लिया था। स्वकीया के नाते अपने गिरिधारी को बाँह गहे की लाज तथा अपना बिरद सम्हालने की याद वे बराबर देती रही हैं। अपने प्रियतम से उनका आत्मीय संबंध बचपन से ही था। वैसे जो उनके पूर्व जन्म के साथी रह चुके हैं, उनकी प्रीति में मेड़तणी मीराँ मन-वाली होकर यदि कुछ कहती हैं, तो उसमें अवांछनीय कोई बात नहीं है। अपने प्रभु से मिलन और वियोग का साक्षात्कार वे बराबर करती रहीं हैं। अत. अपनी मिलन-जनित आनन्द की और वियोग जनित दुःख की संवेदनात्मक अनुभूतियों का उनके गीतों में मर्म-स्पर्शी निवेदन है। किसी भी विशिष्ट कोटी की साधना की साम्प्रदायिकता का लवलेश भी मीराँ में नहीं है। अपनी भक्ति से भगवान् को आत्मसमर्पण करने की तीव्र तत्परता से जिस-जिस भेष से हरि मिलेंगे वे सब धारण करना उन्हें मान्य है। ज्ञान-योग, कर्म तथा सगुण निर्गुण, स्वकीया परकीया आदि कोई भी साधना क्यों न हो उनका किसी से कोई एतराज नहीं। पर वे किसी के दबाव में भी आने वाली नहीं है। स्वच्छन्द और उन्मुक्त रूप से अपने नटनागर के प्रति अपनी आसक्ति और अनुरक्ति की उदात्ता का अभिव्यंजन ही उनके काव्य

का प्रमुख और मुख्य विषय है। सारी मर्यादाओं के ऊपर उठकर विशुद्ध भक्ति भावना से, निर्मलता युक्त अकृत्रिम पद्धति में गीति काव्य की उद्भावना में मीराँबाई के गीत गूंज उठते है। उनका काव्य विषय उनके अपने व्यक्तित्व तक सीमित है, जैसे उनका चिर सहचर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक है। पर मीरॉं के अपने निजी सबधो के सदर्भ मे और अपने हृदयोद्गारो के सिलसिले मे वे अपने और दीन-दुखीत गोपाल तक ही सीमित है। विरहव्यथा विधुरा सारी मीराँ ने अपने श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र के गीतों का स्वर ऐसे मुखरित किया, जिसमे हिन्दी भाषी ही नहीं तो भारत भर मे वे लोक-विश्रुता बन गई। मीराँ के प्रत्येक गीत को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्रेम की मस्ती से झूम उठेगा।

मीराँ के नारीत्व की महत्ता—

नारीत्व की मर्यादा मीराँ के काव्य का मूल रहस्य है और माधुर्य भाव की भक्ति-धारा नारी जीवन की पवित्रता और महानता से युक्त है। मीराँ की विरह स्पर्शी-भावना का प्रवाह बड़े वेग से बहता है और उसकी बाढ़ तथा गहराई गभीर और अथाह है। इन उच्छ्वासों मे भी एक उल्लास है। अपने साजन की प्राप्ति के लिए मीराँ ने अभिमान और अहंकार का तो त्याग किया, पर अपने आत्माभिमान को अवश्य सुरक्षित रखा। अपनी अविरल भक्ति से भी भगवान् का मिलन न होने पर वे बराबर अपने गीतों मे अपने प्रभु को उपालम्भ और उलाहने देती रही हैं। मीराँ की काव्य-साधना का ताना-बाना विशुद्ध भक्ति और विरह-निवेदन से ही गूँथा गया है। मीराँ की काव्य-साधना का दूसरा नाम प्रेम-साधना है। यह प्रेम अपूर्व और अलौकिक है। भावावेग, हृदयावेग और तन्मयता ये सारे गुण मीराँ के प्रेम पदो मे हमे मिल जाते हैं। अपने गिरिधर के आगे मतवाली मीराँ पैरों में घुंघरू बांधकर नाची है। यह उनका भक्ति-विभोर व्यक्तित्व है, जो उनके गीतो मे प्राजलता से सामने आ जाता है। वे अपने पिया से कभी झुरमुट मे मिलने जाती हैं, तो कभी एकात्मभाव से कह उठती हैं कि मेरे प्रियतम तो मेरे हृदय मे ही बसे हैं। अत. मुझे कहीं भी आना जाना नहीं है। मीराँ अपने विरह-जनित भावों को हृदय की माधुरी से डोकर अपने गीतो में उपालम्भ के रूप मे आत्मीयता से प्रकट कर देती हैं। मीराँ की इस भक्ति-साधना मे वैष्णवी उपासना की जाज्वल्य एकान्तिक जीवन-निष्ठा है जो प्राणवान है। अपने माधव से वे कहती हैं—"सून्य ग्राम मे सब कुछ शून्यवत् है। शय्या सूनी है और अटरिया भी सूनी है। प्रियतम के बिना विरहणी तड़प रही है। जिसको प्रियतम ने त्याग दिया है।

कम से कम अब तो ध्यान देकर सुनिये कि यह मीरां युगों-युगो मे जन्म-जन्मान्तरो क्वारी है अत हे माधवजी अब आप आकर उसे मिलिए।"—

मीरां के पदो मे आकर्षण का तत्व—

मीरां के पदो मे आकर्षण का तत्व विद्यमान है। कोई भी पद कही से भी ले लेने पर उसमे यह बात दिखाई पडती है। जैसे[2]—

मेरे मन राम नाम बसी।
तेरे कारन स्याम सुन्दर सकल लोगां हँसी।
कोई कहै मीरां भई बावरी, कोई कहै कुल नासी।
कोइ कहै मीरां दीप आगरी नाम-पियासूं रसी।
खाँडधार-भक्ति की न्यारी, काटि हैं जम फाँसी।
'मीरां' के प्रभु गिरिधर नागर, सबद सरोवर धँसी॥

× × ×

पिया बिन सूनो है जी म्हारो देस ॥टेक॥[3]
ऐसो हैं कोई पीव कू मिलावे, तनमन करूँ सब पेस।

मेरे मन मे राम बस गया है। हे श्यामसुन्दर! मैं सब लोगो की हँसी दिल्लगी का विषय बन गयी हूँ। क्योकि मैंने तुमसे लौ लगा ली है। कोई कहते हैं कि मीरां पागल हो गई है, तो कोई कहते हैं कि मीरा ने कुल का सर्वनाश कर दिया है। कोई मीरां को दीप जलाने वाली तथा अपने प्रीतम के नाम मे रस-मग्ना है ऐसा कहते हैं। भक्ति की न्यारी तलवार जम की फाँसी को भी काट देगी, और मैं जीवन-मुक्त हो जाऊँगी। हे नटनागर! मैं तो आपका शब्द उच्चारण कर उसके प्रेम सरोवर मे धँस गयी हूँ। मेरा स्थल और मेरा देश अपने प्रिय के बिना शून्य लगता है। कोई ऐसा है जो मुझे प्रियतम से मिला देगा? मैं ऐसा उपकार करने वाले के आगे अपना तन-मन आदि सब कुछ पेश कर दूँगी। हे प्रियतम! तुम्हारे लिए मैंने जोगिन का भेष धारण कर लिया है और तुम्हे पाने के लिए जङ्गल-जङ्गल की खाक छानती फिरूँगी। आपने अपने आगमन की अवधि बतला दी थी। पर आप नही आए। मेरे तो केश भी सफेद हो गए। मीरां कहती है

१ मीरां स्मृति ग्रन्थ का पृष्ठ १३५ का पद—'सूनो गाव देस सब सूनो—मीरां के प्रभु मिलज्यो माधो जनम-जनम की क्वारी॥'

२ मीरां माधुरी, ब्रज रत्नदास, पद १२३।

३. मीरांबाई पदावली, पद १२१।

कि हे प्रभु ! तुम कब आकर मुझे भेंट दोगे अर्थात् कब आकर मिलोगे ? मैंने नगर, नरेश आदि सब को त्याग दिया है। अब तो केवल आपका ही सहारा है। एकाकीपन से अपने आपको मीरां ने कृष्णार्पण कर दिया है।

मीरां के गीत काव्यों की सरसता—

गीति-काव्य की सरसता के कारण सारा भारतवर्ष मीरां के पदों पर मुग्ध है। मीरां के पदों में कीर्तन की मधुरिमा है और ध्रुपदों में उनको स्थान मिलने से उनकी धार्मिकता भी सुरक्षित रही है। भावपूर्ण मीरां के भावोद्रेकता भरे मीरां के सारे पद गेय हैं। और हिन्दी वैष्णव साहित्य की अक्षय निधि हैं। मीरां की भक्ति कांत भाव की थी अतः अपने बालम, सैयां, प्रियतम के प्रेम में उन्हें बदनामी और हँसी मजाक भी सहने में सुख है। मीरां माधुर्य भाव की उपासिका थी। और कृष्ण से माधुर्य भाव ही उनका अभीष्ट है। माधुर्य भाव की साधना उच्च कोटि की मानी गयी है और निष्कर्ष यही है कि मीरां इस साधना की एक उच्चतम साधिका है। रसेश्वर कृष्ण के प्रति रसानुरक्ति ही उनके जीवन का लक्ष्य जान पड़ता है। तभी तो अन्त में वे रणछोडजी की मूर्ति में समा गईं। संपूर्ण आत्मसमर्पण के आगे और क्या चाहिए ? मीरां ने यही किया है अतः वे सर्वश्रेष्ठ-वैष्णवी भक्ति का सगुण साकार रूप मानी जा सकती हैं। मूलतः उनकी उपासना सगुणोपासना ही है। कतिपय उदाहरण इस वक्तव्य को स्पष्ट करेंगे।[1]—

मीरां की प्रामाणिकता—

> बादल देखांझरी स्याम बादल देख्या झरी।
> काला पीला घट्या उमड्यां बरस्या चार घरी।
> जित जोवा तित पानी पानी प्यासा भूमि हरी।
> म्हारा पिय परदेसा बसतां भीज्या बार खरी।
> मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी करस्यां प्रीत खरी॥

मैं श्याम वर्ण के बादल को देखकर प्रेम में मग्न होकर भरने लग गई। बादल से वर्षा होने देखी मैंने भी आसुओं की झड़ी लगा दी। काले और पीले बादलों की घटा उमड आई और चार घड़ियों तक पानी बरसता रहा। जिधर देखा उधर पानी ही बरसता हुआ नजर आया। भूमि हरी-भरी होने के लिए प्यासी थी। मैं भी अपने हरि के लिए प्यासी थी। मेरा प्रियतम परदेश में रहने वाला है पर मैं भीगते हुए भी उसके द्वार पर खड़ी रही। मीरां की अपने अविनाशी प्रभु से यही प्रार्थना है कि वे अपनी प्रीति को सत्य प्रमाणित करें, और स्नेह का *निर्वाह करें।*

---

१ मीरां दर्शन पद संख्या ४६।

मीरां के प्रेम में किसी प्रकार का छलकपट या स्वार्थी भाव नहीं है। अकृत्रिम सहज और दिव्य भावों से आच्छन्न उसके प्राजल उद्गार अपने प्रिय के लिए वे प्रकट करती हैं। विरह की निष्ठुरता से दुखी मीरा अपने गिरिधारी से उनके इस कठोरता पूर्ण व्यवहार की ओर उनका ध्यान आकर्षित करती हैं। यथा—

मीरां के कृष्ण की निठुराई—

देखा माई हरि मन काठकियाँ।
आवन कह गया अजा ना आया कर म्हाने कौन गया।
खान पान सब सुध बुध बिसर्‌या आइ म्हारो प्राणजिया।
थारो कौल विरद जग थारो थे काइ बिसर गयां।
मीरां रे प्रभु गिरिधर नागर चरण कमल बलिहारी॥[1]

हरि ने मेरी ओर से मन काठ की तरह कठोर कर लिया है। मुझे आने का अभिवचन सौंप गये हैं। खाने पीने की क्रिया तथा अन्य सारे दैनंदिन व्यवहारों की सुधि तक विस्मृत हो गई है। मैं किसी तरह अपने प्राण धारण कर जीवित रह पाई हूँ। हे हरी! आपका यह विरद प्रसिद्ध है कि सकटों में पडे हुए अपने जनों के लिए आप दौड़े आते हैं। अभिवचन दिये जाने पर तो अवश्य आना चाहिए। परन्तु ऐसा लगता है कि आप अपने ही प्रण को तथा अभिवचन को भूल गये हैं। मैं अभ्यर्थना करती हुई, हे अविनाशी! आपके चरणों में न्यौछावर हो जाती हूँ। कृपया मुझ पर कृपा कीजिए।

मीरां की इस अभ्यर्थना में कपट का लेप मात्र भी नहीं है। मीरां के हरि होरी खेल रहे हैं। इस प्रसङ्ग की अवतारणा मीरां ने एक पद में द्रष्टव्य है। यथा[2]—

भगवान श्री कृष्ण का होरी खेलना—

होरी खेलत है गिरिधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारी संग जुवति ब्रज नारी।
चन्दन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठि गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी।
छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी।

१ मीरां दर्शन पद संख्या ४१।

२ मीरां माधुरी—ब्रजरत्नदास पद १५१, पृ० ४०।

फाग सु खेलन रसिक साँवरो बाढ़्यो रस ब्रज भारी।
'मीरा' कूँ प्रभु गिरिधर मिलिया मोहन लाल बिहारी ॥[1]

गिरधारी होरी खेलते हैं। मुरली, चंग, डफ आदि वाद्य नाना प्रकार से बजते हैं। होरी खेलने के लिए उधर श्रीकृष्ण के साथ युवती-ब्रज-नारियाँ हैं। *गोपियों पर अपने हाथों से चन्दन-केसर आदि समिश्र रूप में वृन्दावन-*बिहारी छिड़कते हैं। मीराँ भी उनमें से एक है अतः उस पर भी अपने हाथों से श्याम ने चन्दन तथा केसर की वृष्टि की है। गुलाल से भरी हुई मुट्ठियों से वे सब पर गुलाल डाल देते हैं। छैल-छबीले नवल कन्हैया के साथ राधा भी उनके साथ है जो उन्हें प्राणों से भी प्रिय है। धमार राग करने में नारियाँ बजा-बजाकर चार ब्रज युवतियाँ गा रही हैं। इस प्रकार रसिक-प्रवर मोहन-फाग खेलते हैं। इसमे ब्रज में भारी रूप में रस बढ़ गया है। मीरा अपने लाल बिहारी से इसी तरह बार-बार होरी खेलने के लिए निमंत्रण देती हैं।

इस पद में संगीत और संस्कृति एवम् कला और साहित्य का सुन्दर संयोग हो गया है।

अपने प्रियतम को पत्र लिखना चाहने वाली मीरा विरहजन्य परिस्थिति में पत्र लिख नहीं पाती है, इसका मार्मिक विवरण देखिए।

मीरा का विरहजन्य दारुण स्थिति का चित्रण[2] --

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिखियो न जाय।
कलम धरत मेरो कर काँपत है, नैनन है भर लाय ॥
हमरी विपत तुम देख चले ऊधो, हरिजी सूँ कहियो जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, दरसन दीजो आय ॥

मथुरागमन के बाद विरहजन्य परिस्थिति में गोपियों की जो दशा हो गयी थी, उसी की तादात्म्यावस्था में अपने आपको देखने वाली मीरा का यह भाव बड़ा दारुण है। ऊधो ने गोपियों को समझाया पर उन्होंने ऊधो की एक भी बात न सुनते हुए केवल अपनी विरह व्यथा का निवेदन कर दिया। इस प्रसङ्ग में पत्र लिखने की मीरा को इच्छा होते हुए भी बेचारी अपने साजन को पत्र नहीं लिख पा रही है। हृदय भर आया है, नेत्रों से आँसू उमड़ रहे हैं तथा हाथ कृश हो जाने से लेखनी सम्हाल नहीं पाते। अतः ऊधो से वे कहती हैं कृष्ण के विरह में हमारी जो

१. मीराँ माधुरी—ब्रजरत्नदास पद १५७, पृ० ४७।
२ मीराँ माधुरी पद २२२, पृ० ५६।

दारुण अवस्था तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, उसे श्रीहरिजी को जाकर सुना देना और यह देना कि मीरां की इतनी ही प्रार्थना है कि शीघ्र आकर अपने दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ कर दीजिए।

इस पद में मीरा की सगुणोपासना तथा अनन्य प्रेम भावना का स्वरूप चित्रित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। अब प्रीति में एकमात्र निस्सीम भाव से श्रीकृष्ण को सदा सम्मुख रहने की प्रार्थना करने वाली मीरा का यह पद देखिए यथा—

सदा आँखो के सामने श्रीकृष्ण रहें यह अभ्यर्थना—

कृष्ण मेरे नजर के आगे ठाडे रहो रे।
मैं जो बुरी स्याम और भली है, भली को बुरी भोरे दिल रहो रे॥
प्रीति को पेंडो बहुत कठिन है चार कहीं दस और कहो रे।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर प्रीत करो तो मेरा बोल सहो रे॥[1]

आत्म समर्पण करने वाली मीरा अपने प्रेम के सम्बन्ध से श्रीकृष्ण से कहती है कि हे श्रीकृष्ण! आप सदा मेरी नजर के सामने खडे रहिये। इतना अधिकार श्रीकृष्ण पर मीरा जताती है। मैंने आपसे स्नेह किया, अब मैं बुरी हूँ ऐसा लोग कहते हैं तो कहने दीजिए। मुझे उनके दोषारोपण की चिन्ता क्या? मैं चाहे भली हूँ अथवा बुरी हूँ। मेरी यही मनुहार है कि आप मेरे दिल में आकर बस जाइए। प्रेम का मार्ग बहुत कठिन है। कोई चार बार मेरी निन्दा करता है तो आगे चलकर दसवार और करेगा। मैं अपनी एकान्तिक निष्ठा और प्रीति को क्यों त्यागूँ? जैसे मैं लोगों की निन्दा सहती हूँ वैसे आप भी लोकनिन्दा से क्यों डरते हैं? प्रेम किया है तो मेरे बोलों को कठोरता भी सह लीजिए। आपके विरह में तड़प-तड़पकर आपके कठोरतापूर्ण व्यवहार पर हे गिरिधारी! मुझे आपको फटकारना भी पड़ता है।

मीरा तुलनीय—

मीरां का यह अपने पन का और सहज अकृत्रिमतापूर्ण प्यार करने का ढङ्ग अनोखा और न्यारा है। मीरा इसीलिए सर्वश्रेष्ठ उपासिका और अनन्य आराधिका मानी जाती हैं। उनकी काव्य साधना का और उनके गीतों का साहित्यिक पक्ष इतनी उच्च कोटि का है कि वे अतुलनीय ही ठहरती हैं।

---

१ मीरां माधुरी पद २२१, पृ० २५६।

हिन्दी वैष्णव कवियों के साहित्य पक्ष को मराठी वैष्णव कवियों के साहित्य पक्ष से तुलनीयता :

इस तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के वैष्णव कवियों का साहित्य पक्ष, मराठी साहित्य के वैष्णव कवियों के साथ तुलनीय है और सब में मूलतः एक ही प्रकार की साधना पद्धति और भावाभिव्यंजना संप्राप्त होती है। यों अपनी-अपनी विशेषता कम अधिक मात्रा में रहना स्वाभाविक ही है। इसे हम प्रादेशिक अन्तर मान सकते हैं और साधना-प्रणाली का वैविध्य भी कह सकते हैं। यों कबीर नामदेव, ज्ञानेश्वर - तुलसी, सूर - एकनाथ, तुकाराम - मीरा, रामदास-तुलसीदास और एकनाथ - तुलसीदास को हम एकता के साथ अभिन्न और भावनात्मक ऐक्य से ओतप्रोत पाते हैं। सांस्कृतिक पक्ष का साम्य भी अपनी-अपनी प्रादेशिकता और भाषा के साथ झलक उठा है। इनको साथ न लेकर भी इनका तुलनीय पक्ष हमारे सामने निश्चित रूप से स्पष्ट हो उठा है। साहित्यिक शैली और काव्य पद्धतियों के साम्य में छन्दों के वैषम्य का होना खटकता नहीं है। वह तो अपनी-अपनी विशेषता लिए हुए है। ये सब वैष्णव कवि और भक्त होते हुए भी इनका अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, और महत्व भी। पर भक्ति की मूल भावना से और आध्यात्मिक मानवायता के सूत्र से इनमें तद्रूपता और ऐक्य है। मीरां जैसी साधिका का साहित्यपक्ष इसे स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देता है। साहित्यिक स्तर पर भी इन दोनों भाषाओं के संत और भक्त वैष्णव कवियों में तुलनीयता ही अधिक है और अतुलनीयता अपेक्षा कृत कम। मानवीय स्तर पर और आत्मा की दृढ़ शिला पर इनका साहित्य सर्जित हुआ अतएव यह वरेण्य और गौरव की वस्तु है।

दसम् अध्याय

तुलनात्मक निष्कर्ष

मराठी और हिन्दी के वैष्णव काव्य का अनुशीलन और तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अब ऐसी स्थिति हमारे सामने आ जाती है कि इन वैष्णव भक्त कवियों का आध्यात्मिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रदेय निष्कर्ष के रूप में किस स्वरूप का है उसे हम देख लें। इसी का संक्षिप्त और निष्कर्ष रूप में अवलोकन कर लेने का यहाँ पर प्रयत्न किया जायगा।

वैष्णव भक्तों की विचार-धारा सर्वव्यापी, सर्व समन्वयात्मक तथा उदार एवम् बहुमुखी, होने से उसकी परिव्याप्ति विशाल एवम् विस्तृत रही है। मूलभूत रीति से मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि अपनी दार्शनिकता में आस्तिकता और आस्था से संयुत थे। ईश्वर की कल्पना एवम् धारणा उनमें विद्यमान है और वह भी अपने अपने ढङ्ग से तथा साधना पथ की शास्त्रीय और मानवीय सैद्धान्तिक परिधि के अन्तर्गत समाई है। हम कह सकते हैं कि वैष्णवी-साधना की आधार-शिला या नींव आस्तिकता एवम् आस्था के ठोस रूप में टिकी हुई है। साधक और साध्य अर्थात् भक्त और भगवान् का सम्बन्ध पारस्परिक रूप में व्यक्तिगत सम्बन्ध के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। भक्त की भक्ति भावना अपने आपको विशेष रूप से आत्मसमर्पण एवम् आत्मविसर्जन कर देना सिखाती है। इस क्रिया में प्राय प्रत्येक वैष्णव भक्त तत्पर और सिद्ध है। इस तत्परता में भक्त की उपासना पद्धति एवम् आचरण-प्रणाली भी सन्निहित है। अहिंसा, तप, सत्य तथा प्रेम की भावना जिससे प्राणिमात्र का कष्ट न हो यह जागरूकता इन वैष्णव कवि-भक्तों की अन्यतम विशेषता है। धार्मिक सहिष्णुता इनमें आभ्यन्तरिक रूप से होने के कारण अन्य धर्मियों और सम्प्रदायों के प्रति अत्यन्त उदारता का दृष्टिकोण इन भक्तों ने अपने जीवन में बरता है और अपनी स्वसंवेद्य अनुभूतियों को मुक्त रूप से सार्वजनीन मंगल-विधायक दृष्टि से अपनी अपनी अभिव्यञ्जनाओं में प्रकट कर दिया है।

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों का अपनी साधनाओं में जो आध्यात्मिक विवेचन हमारे सामने अपने अध्ययन में अब तक आ गया है, उसका निष्कर्ष तुलनात्मक रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है।

आध्यात्मिक विचार : तुलनात्मक निष्कर्ष—

मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियो ने ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओ का जो अलग विवेचन किया है, उनका परम्परागत आधार अपनी-अपनी साधना पद्धति के अनुसार यत्र-तत्र किंचित परिवर्तित भी हुआ है। परन्तु उनका मूलस्रोत वेदो और उपनिषदो तथा अनेक दर्शनाचार्यों के चिंतन और मनन एवम् अनुशीलन का परिपाक कहा जा सकता है। ब्रह्मानुभूति किये बिना कोई भी भक्त अपनी तत्सम्बन्धी धारणा कैसे बना सकता है? कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि परात्पर ब्रह्म की अनुभूति एक मात्र व्यक्ति के निजी स्वसंवेद्यानुभव की बात हो जाती है। सार्वजनीन रूप से ब्रह्म का साधारणीकरण कर सकना सम्भव भी नही है। बड़े-बड़े परमहंस एवम् पहुँचे हुए सिद्धो तथा ब्रह्म ज्ञानियो ने उसे प्रत्यक्ष कर लिया था, तथा उनके सहवास मे और सत्सग मे हम उस दिव्यत्व का अनुभव भी कर लें, तो भी उसका वर्णन नहीं हो पायेगा। ब्रह्म को प्राय इस तरह स्वानुभव गम्य होने के कारण अकथनीय, अगम्य और अवाङ्मनस-गोचर तथा 'नेति-नेति' बतलाया जाता है। यों प्रत्यक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार और उसका विवेचन एक जटिल एवम् कठिन कार्य है। परन्तु इन वैष्णव साधको ने अपने-अपने ढङ्ग से उसका साक्षात्कार कर लिया है और यथा सभव लोक-कल्याणार्थ उसका विवेचन भी कर दिया है।

भिन्न-भिन्न सिद्धातो के अनुसार ब्रह्म विषयक धारणाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। प्राय. ब्रह्म को सगुण और निर्गुण स्वरूपो मे प्रदर्शित या अभिव्यजित किया जाता है। जगत् का आदि एवम् मूल कारण ब्रह्म कहलाता है। साख्य मतानुसार पुरुष निर्गुण है। वेदान्ताचार्यों के अनुसार ब्रह्म निर्गुण और अद्वैत रूप है। तार्किक ब्रह्म को सगुण बतलाते हैं। श्रुतियाँ ब्रह्म को 'आत्मा' सम्बोधन से अभिहित करती हैं और 'हिरण्यगर्भ' के नाम से उनकी सगुणोपासना करने का आदेश देती हैं। वैसे 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'बृहत्तम' या 'महत्तम' अथवा बड़ा चढ़ा है। 'बढ़ना' क्रिया के सारे अर्थ जिसमें शामिल हो, उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। ब्रह्म अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। ब्रह्म को 'भूमा' भी कहा जाता है यथा 'भूमा एव सुखम् अल्पेसम नास्ति।' 'भूमा' ही अमृत है और अद्वैत भी। अनन्त, अद्वैत, निरपेक्ष स्वतत्र तथा अद्वितीय ये विशेषण प्राय ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन मे अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। ऋचाओ मे यह जानकारी दी जाती है—

'हिरण्य गर्भ. समवर्तताग्रे भूतस्य जात. पतिरेक आसीत।'[1]

यही हिरण्यगर्भ, अक्षर आत्मा के अतिरिक्त निर्गुण पुरुष भी है, ऐसा श्रुति

१ ऋग्वेद १०।१२१।२।

वचन है। उसका वर्णन 'अक्षरात्परतः परः' के रूप में किया जाता है। आत्मा को पुरुष रूप में जानना और निर्गुण रूप से जानना, यह ज्ञान अध्यात्मज्ञान या आत्म-ज्ञान कहलाता है। परमात्मा सच्चिदानन्दमय, आनन्दघन, विज्ञान-घन, विभु आदि नामों से आख्यात है। प्रायः जीवन के चिन्तन-क्षेत्र में, लौकिक और अलौकिक क्षेत्र में, असाधारणत्व एवम् दिव्यत्व की चरम पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए तत्व की ओर स्थिति को ब्रह्मत्व प्रदान कर, गरिमामय प्रतिष्ठा पर आसीन करने का कार्य भारत के मनीषियों द्वारा पुरातन काल से होता आया है। साहित्य में रसानंद को ब्रह्मानंद सहोदर माना गया है। इसीलिए नाद, शब्द, ज्ञान, अन्न, प्राण, प्राण और आकाश आदि को ब्रह्ममय माना गया है। इन सबमें उद्भूत आनन्द भी ब्रह्म ही है। यह अलौकिक दिव्य आनन्द ही ब्रह्मानन्द है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप लक्षण इस प्रकार बतलाए गये हैं—(१) सगुण सविशेष–सोपाधि–साकार - परब्रह्म और निर्गुण, निर्विशेष, निराकार एवं निरुपाधिक परब्रह्म।

सगुण के गुण, लक्षण और विशेषण एवम् चिह्न बतलाए जा सकते हैं क्योंकि उसकी सत्ता इस प्रकार रहती है, जिसको हृदयगम किया जा सकता है तथा पहचाना जा सकता है। 'मुण्डकोपनिषद' ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप इस प्रकार बतलाता है[1]—

दिव्योह्य मूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

यह ब्रह्म निश्चय ही दिव्य अमूर्त, पुरुष, बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है और अजन्मा, अनन्य, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवम् श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है। अपने कर्मेन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। यही उपनिषद और आगे चलकर वर्णन करता है—

'यत्त दद्रेश्यमग्राह्य मगोत्रमवर्णं चक्षुः श्रोत्र तद पाणिपादम्।
नित्य विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्यय तद्भूत योनिं परि पश्यन्ति धीराः॥[2]

अर्थात् वही निर्गुण ब्रह्म, अदृश्य अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से हीन है, तथा अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अव्यक्त, सूक्ष्म और अव्यय है, तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है और जिसे विवेकी सर्वत्र देखते हैं। स्पष्ट ही अभिप्राय सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन से है। स्वाभाविक रूप से ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि जब परमतत्व एक ही है, तब सगुण और निर्गुण दोनो एक ही समय

१. मुण्डकोपनिषद २।
२. मुण्डकोपनिषद १।१।६।

कैसे हो सकता है ? वैष्णव कवियों के पास इसका उत्तर है कि 'सगुन अगुन दुई, ब्रह्म सरूपा ।', तो ज्ञानेश्वर कहते हैं कि, 'सगुण निर्गुण दोन्ही विलक्षण । ब्रह्म सनातन विठ्ठल हा'[१] अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में ही यह शक्ति विलक्षण रूप में विद्यमान है कि वह सगुण और निर्गुण दोनों एक साथ है और जो चाहे सो स्वरूप धारण कर सकता है। क्योंकि वह सनातन और पतित पावन है तथा ध्येय, ध्याता और निरंजन चित्त रूप भी है। वह कभी राम है तो कभी विठ्ठल। अतः सिद्ध हुआ कि दोनों शक्तियाँ उसके सामर्थ्य की ही बातें हैं। ब्रह्म के उभयविध लक्षणों के स्वरूप ये हैं—

(१) तटस्थ लक्षण और (२) स्वरूप लक्षण।

ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप है, तथा विज्ञान और आनन्द रूप भी। ज्ञान, बल और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्म तो स्वाभाविक रूप में है। तटस्थ लक्षणों के अनुसार यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न है और उसी में लीन हो जाता है और उसी के कारण स्थिति काल युक्त हो प्राण धारण करता है। सगुण ब्रह्म इस जगत् के शास्ता, नियन्ता और भोक्ता हैं। भुक्ति और मुक्ति इनसे ही प्राप्त होती है। शुभ कार्यों के करने वालों का मंगल करने वाले और अशुभ कार्य करने वालों का अकल्याण उनका ही कार्य है। यही विराट हिरण्य गर्भ है। निर्गुण को परब्रह्म और सगुण को अपरब्रह्म भी माना गया है। सृष्टि के सारे पदार्थों और तत्वों में अपने से स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है। जो कुछ भी हमें प्रतीत होता है, वह केवल ब्रह्म के बल पर ही।

'तैत्तिरीयोपनिषद' बताता है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यतो जातानि जीवन्ति, यद् प्रयन्त्य भिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति'।[२]

सारे जगत् में उत्पन्न होने वाले जीवधारी उसी से उत्पन्न हो, उसी का आश्रय ले, जीवन धारण करते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख बन उसी में लय हो जाते हैं। विशेष रूप से उसको जानिए, वही ब्रह्म है। 'छान्दोग्य' में सगुण ब्रह्म को, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत।' अर्थात् 'तज्ज', 'तल्ल', और 'तदन्' इन तीनों को इस संक्षिप्त रूप में समझाया गया है।[३]

'केनोपनिषद्' के तृतीय खण्ड में उमा हैमवती ने बताया कि अग्नि में न तो

१. सकल संत गाथा अभङ्ग १९९७ ज्ञानेश्वर पृ० २७६।
२. तैत्तिरीयोपनिषद (३।१)।
३. छान्दोग्य उपनिषद (३।१४।१)।

स्वत: दाहिका शक्ति है और न तृण को उड़ाने की वायु में प्रगभूत सामर्थ्य है।[1] अत: प्राकृतिक शक्तियाँ अपने स्वतः सामर्थ्य पर गर्व नहीं कर सकतीं। वाष्कलिना ऋषि को जब एक बार निर्गुण ब्रह्म के बारे में पूछा गया तो उन्होंने मौनावलम्बन धारण किया। 'बृहदारण्यक' में बताया गया है कि, 'स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्य ते शीर्यो न हि शीर्यते सगो न हि सज्यते सितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यत कल्याण करवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपत'।।'[2]

यह नेति नेति है, अग्राह्य है, अशीर्य है अविनाशी, असङ्ग अनासक्त, निर्बाध, मुक्त, अव्ययित, अक्षय, पाप, पुण्य से परे होने के कारण शोक हर्षादि से रहित, पाप-पुण्यों के फलों से अर्थात् हर्ष, दुःखादि से ऊपर उठा हुआ तथा नित्यकर्म ताप रहित, निष्काम, अशब्द, अरूप, अगंध, नकारात्मक अनादि और अनन्त होने से मन और वाणी का विषय नहीं बन सकता। 'केनोपनिषद' निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा सजीव वर्णन करता है—

> यद् वाचा नभ्युदितयेन वागभ्युद्यते।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिद मुपासते।।[3]

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है। वही ब्रह्म है क्योंकि लोक इस देश कालावच्छिन्न वस्तु की उपासना करता है। पर वह ब्रह्म नहीं है। उस अचिन्त्य, सर्वकाम परमात्मतत्व ब्रह्म को ब्रह्मविद् आत्मा-वेत्ता ही स्वसंवेद्य रूप में जानता बूझता होगा। वह गूंगे की शर्करावत् है। ब्रह्म को प्रणव रूप या ओंकार रूप भी बतलाया जाता है। योग, भक्ति, ज्ञान, उपासना के द्वारा उन तक पहुँचा जा सकता है, तथा साक्षात्कार किया जा सकता है। ब्रह्म जिज्ञासु वैष्णव भक्त कवियों ने अपने-अपने स्वप्रयत्न से तथा उसकी कृपा से उसकी उपलब्धि अपनी-अपनी पात्रता अधिकारानुसार कर ली है।

भिन्न-भिन्न वैष्णवाचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तथा माया सम्बन्धी प्रतिपादन किया, जिसकी गूँज उनके अनुयायियों में अपने-अपने ढंग से प्रतिध्वनित हो उठी है। अद्वैतवादी ब्रह्म को अशरीरी मानते हैं तो अन्य भक्त कवि ब्रह्म को शरीरी मानते हैं। भिन्नताएँ उसके गुण हैं अतएव सगुण ब्रह्म को कुछ वैष्णवों ने माना। यह सगुण ब्रह्म अवतार विशेष भी होता है।

---

१ केनोपनिषद तृतीय खण्ड।
२. बृहदारण्यकोपनिषद (४–२०)।
३. केनोपनिषद (१–४)।

कोरी दार्शनिकता का स्वरूप भक्त में रहना असम्भव था। अत किसी न किसी रूप की धार्मिक आस्था से उसका सम्बन्ध जोडना भी आवश्यक सा ही हो गया।

यहाँ हमें पुन समस्त वैष्णवाचार्यों के सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करना है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने अपनी दार्शनिक धारणाएँ किस प्रकार बना ली थी, उनका तुलनात्मक निष्कर्ष एक संकेत के रूप में प्रस्तुत करने के लिए ब्रह्म विषयक कुछ सैद्धान्तिक चर्चा यहाँ पर हमने कर ली है।

हिन्दी वैष्णव कवियो पर रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, रामानन्द तथा चैतन्य मतों का प्रभाव परिलक्षित होता है। अत हम कबीर, तुलसी, सूर और मीरा के आध्यात्मिक पक्षो का तथा वारकरी सम्प्रदाय और समर्थ सम्प्रदायान्तर्गत मराठी वैष्णव कवियो के आध्यात्मिक पक्षो के स्वरूप का तुलनात्मक निष्कर्ष समझने की चेष्टा करेंगे।

कबीर निश्चित रूप से निर्गुण ब्रह्मवादी हैं। तो ज्ञानेश्वर और नामदेव नाथ सम्प्रदाय के सिद्धातो से प्रभावित होकर अपनी वैयक्तिक साधना के द्वारा ज्ञानमार्गी एवम् निर्गुण ब्रह्मवादी प्रतीत होते हैं। यद्यपि ज्ञानेश्वर और नामदेव ने सगुण ब्रह्मवाद की कतई उपेक्षा नही की है। सामूहिक-चेतना तथा समाज-कल्याण की दृष्टि से सगुण-विठ्ठलोपासना का तथा नामस्मरण का विशेष महत्व इन दोनो ने प्रतिपादित किया। इस साधना के साधनगत मोह मे फँस कर मूल ब्रह्म का स्वरूप साधक न भूल जाँय; इसलिए ज्ञानमय सर्वव्यापी अनन्त को भी साग्रह समझने का तत्व समझाया गया है।

तुलसी और सूरदास तथा मीरा ने और एकनाथ तुकाराम तथा रामदास ने सगुण ब्रह्मवाद का समर्थन किया है। वैसे सब वैष्णव कवि कम से कम एक बात मे एक मत के है और वह है सबका 'नाम माहात्म्य' मे चिर-विश्वास। सगुण और निर्गुण से परे और दोनो का साक्षी इन सबके मत मे 'नाम' है। तुलसी तो कहते ही हैं कि 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।' एक स्थान पर तो वे नाम को ब्रह्म राम से भी बडा मानते हैं यथा 'ब्रह्म राम ते नाम बड' तथा 'मोरे मत बड, नाम दुहूँते।' ब्रह्म-राम मय सारा ससार है तो यह सारा जगत् श्रीकृष्ण का लीला धाम है, ऐसा सूरदास और मीराँ कहती हैं। विठ्ठलमय ससार तुकाराम देखते हैं, तो सियाराम मय जग है, ऐसा तुलसीदासजी समझते हैं। सूरदास के विचार मे जिस ब्रह्म की रूपरेखा और गुण नहीं है, उसको मन का आलम्बन बनाना कठिन है। चचल मन अव्यक्त पर स्थिर नहीं हो सकता। चक्र की तरह भटकता है, इसलिए सगुण ब्रह्म की लीला का गान कर उसी की उपासना करना चाहिए। मराठी

प्रतिपादक ही माना जावेगा। रामदास के अनुसार पिंड में जीवात्मा, ब्रह्माण्ड में शिवात्मा, ब्रह्माण्डातीत परमात्मा और सर्व उपाधियों से रहित निर्मल आत्मा है। अर्थात् यह सब एकत्र और मिलकर ही विश्वात्मा है। परमात्मा ही एक निरपेक्ष सत्यतत्व है। उसे निर्गुण, निर्मल, निर्विकार, अनन्त सबाह्याभ्यन्तर व्यापी, निरंजन जानिए, तथा उसका अखंड अनुसंधान करते रहिए ऐसा रामदास कहते हैं। विवेकाश्रित प्रयत्न ही रामदास का परब्रह्म राम है।

सूर तो प्रत्यक्ष सगुण ब्रह्मवादी हैं और मीरां जैसी प्रेमिका सगुणोपासिका है वैसे ही वे पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवम् माधुर्य पुरुषोत्तम रूप में स्वरूप साक्षात्कार करती हैं। उसको अविनाशी, एक परम-पुरुष भी मानती हैं। गिरिधर-नागर, सौन्दर्य-पुरुषोत्तम, रस-पुरुषोत्तम और माधुर्य-पुरुषोत्तम सूर की ही तरह मीरां मानती है।

जीव, जगत्, माया और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों का निष्कर्ष :

ज्ञानेश्वर—

ज्ञानेश्वर जगत् को ईश्वर से अलग नहीं मानते। नामरूपात्मक विश्व और ईश्वर अभेद रूप है। जल और उसकी कलकल ध्वनि अभेद रूप है वैसे ही जगत् ईश्वर का चिद्विलास है, स्फूर्ति है। वह्नि और ज्वाला—वह्नि के ही रूप हैं तद्वत् ईश्वर और जगत् ईश्वर-मय हैं। जीवभी ईश्वर-मय है अत: उसकी अपनी स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वरमय है, पर विश्व का ज्ञान ईश्वर-ज्ञान नहीं हो सकता। जीव को इसी अज्ञान से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अत: माया ज्ञानमार्ग में संभ्रम पैदा करती है उसका निराकरण कर ईश्वर ज्ञान प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीव अज्ञान के कारण ईश्वर को मनुष्य रूप मानता है। व्यापक अर्थ में मानव से पिपीलिका तक में ब्रह्म को पहिचानना ज्ञान है। यह ज्ञान न होने से बन्धन, मोह, कर्म, जन्म मरण-चक्र आरम्भ हो जाते हैं।

नामदेव—

नामदेव जीव और जगत् को नश्वर और क्षणभंगुर मानते हैं। दो दिन का मेहमान बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माया के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों के प्रलोभनों में पड़कर जीव बंधन में पड़ने की सम्भावना है। अत: जीवन का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि इस संसार सागर में ही रहकर उसके प्रति अनासक्त भाव से विवेकाश्रय से ईश्वर से तादात्म्य तथा उसका स्वरूप

साक्षात्कार कर लेना चाहिए। दंभ और बाह्य परिवेश से वैराग्य प्राप्ति नहीं होगी। विवेक से मन को मोड़कर देहभाव से मुक्ति अर्थात् अहंभाव का विनाश हो जाता है। वासना का उदात्तीकरण होकर बुद्धि शुद्ध हो जाती है। माया के कारण स्वरूपवान परनारी को देखकर उसके संग की वासना उत्पन्न हो जाती है, अत: काया और रूप से हीन स्त्री को परम उपकारी मानना चाहिए, क्योंकि वह जीव को वासना से बचाती है। अपने स्वहित की चिन्ता करते हुए अज्ञान से मुक्त होना चाहिए। जो जीव ऐसा नहीं करते उनके लिए करुणापूर्ण वाणी में वे केशव से प्रार्थना करते हैं कि वे उन पर कृपा करें।

एकनाथ—

एकनाथ मोक्षार्थ, जीव को सांसारिक जीवन से विमुख होकर अपने सांसारिक जीवन को अध्यात्मपरक बनाने का उपदेश देते हैं। अदृष्ट के प्रबल सामर्थ्य का और काल की महत्ता का ध्यान और स्मरण रखते हुए देह विषयक आसक्ति को हटाकर भक्ति और विवेक के आश्रय से अपना उद्धार कर लेना चाहिए। काया, माया और छाया मिथ्या हैं, यह जीव अज्ञान के कारण नहीं समझता। इसीलिए नश्वरता के पीछे मोहवश होकर जीव यत्र-तत्र दौड़ता फिरता है। अपने कर्मों का बोझ लादकर गधे की तरह दुःखमय जीवन ढोता फिरता है। जन्ममरण, गर्भवास के चक्र से वह निर्मुक्त नहीं हो पाता। फजीहत होने पर भी नहीं चेतता। ऐसे अज्ञ जीवों के लिए परम कारुणिक एकनाथ कष्टी होते हैं और उस फजीहत की मुक्ति का अमोघ उपाय भी बतलाते हैं। यह उपाय हरि नामस्मरण करते हुए, जो जीव जिस स्थिति में है, ो भगवद् कृपा समझकर आनन्द के साथ कालक्रमणा करते हुए पश्चाताप युक्त भगवान् की कृपा याचना करते रहना ही है। विकल्प, संदेह आदि भाव-हीनता उत्पन्न हो जाते हैं। कोरा ज्ञान भी जीव के पल्ले नहीं पड़ सकता। माया का ल प्रभाव विषय-वासना में मिठास उत्पन्न कर जीव को अहंकार युक्त कर देता । अत: जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि यह भावना नष्ट हो जाय। ात्मज्ञान से हेतु पुरस्सर श्रद्धा और आस्था से कुलाचार, वर्णाश्रम आदि का पालन रके स्वधर्म रत होते हुए आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण सध जाता है। ईश्वर पा प्राप्त होकर आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों ा संवर्धन करना हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए यही उनका अभिमत है।

तुकाराम—

तुकाराम जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। यह जीव माया के आधीन है। ईश्वर माया चालक है और जगत् ईश्वर का कौतुक है। जगत् मायिक है,

प्रतिपादक ही माना जावेगा। रामदास के अनुसार पिंड में जीवात्मा, ब्रह्माण्ड में शिवात्मा, ब्रह्माण्डातीत परमात्मा और सर्व उपाधियों से रहित निर्मल आत्मा है। अर्थात् यह सब एकत्र और मिलकर ही विश्वात्मा है। परमात्मा ही एक निरपेक्ष सत्यतत्व है। उसे निर्गुण, निर्मल, निर्विकार, अनन्त सबाह्याभ्यंतर व्यापी, निरंजन जानिए, तथा उसका अखंड अनुसंधान करते रहिए ऐसा रामदास कहते हैं। विवेकाश्रित प्रयत्न ही रामदास का परब्रह्म राम है।

सूर तो प्रत्यक्ष सगुण ब्रह्मवादी हैं और मीरां जैसी प्रेमिका सगुणोपासिका हैं वैसे ही वे पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवम् माधुर्य पुरुषोत्तम रूप से स्वरूप साक्षात्कार करती हैं। उनको अविनाशी, एक परम-पुरुष भी मानती हैं। गिरिधर-नागर, सौन्दर्य-पुरुषोत्तम, रस-पुरुषोत्तम और माधुर्य-पुरुषोत्तम सूर की ही तरह मीरां मानती है।

जीव, जगत्, माया और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों का निष्कर्ष :

ज्ञानेश्वर—

ज्ञानेश्वर जगत् को ईश्वर से अलग नहीं मानते। नामरूपात्मक विश्व और ईश्वर अभेद रूप है। जल और उसकी कलकल ध्वनि अभेद रूप है वैसे ही जगत् ईश्वर का चिद्विलास है, स्फूर्ति है। वह्नि और ज्वाला—वह्नि के ही रूप हैं तद्वत् ईश्वर और जगत् ईश्वर-मय हैं। जीवभी ईश्वर-मय है अत उसकी अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वरमय है, पर विश्व का ज्ञान ईश्वर-ज्ञान नहीं हो सकता। जीव को इसी अज्ञान से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अत माया ज्ञानमार्ग में सभ्रम पैदा करती है उसका निराकरण कर ईश्वर ज्ञान प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीव अज्ञान के कारण ईश्वर को मनुष्य रूप मानता है। व्यापक अर्थ में मानव से पिपीलिका तक में ब्रह्म को पहिचानना ज्ञान है। यह ज्ञान न होने से बंधन, मोह, कर्म, जन्म मरण-चक्र आरम्भ हो जाते हैं।

नामदेव—

नामदेव जीव और जगत् को नश्वर और क्षणभंगुर मानते हैं। दो दिन का मेहमान बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माया के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों के प्रलोभनों में पड़कर जीव बंधन में पड़ने की सम्भावना है। अत. जीवन का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि इस संसार सागर में ही रहकर उसके प्रति अनासक्त भाव से विवेकाश्रय से ईश्वर से तादात्म्य तथा उसका स्वरूप

साक्षात्कार कर लेना चाहिए। दम्भ और बाह्य परिवेश से वैराग्य प्राप्ति नही होगी। विवेक से मन को मूडकर देहभाव से मुक्ति अर्थात् अहभाव का विनाश हो जाना है। वासना का उदात्तीकरण होकर बुद्धि शुद्ध हो जाती है। माया के कारण स्वरूपवान परनारी को देखकर उसके सङ्ग की वासना उत्पन्न हो जाती है, अत काया और रूप से हीन स्त्री को पर उपकारी मानना चाहिए, क्योकि वह जीव को वासना से बचाती है। अपने स्वहित की चिन्ता करते हुए अज्ञान से मुक्त होना चाहिए। जो जीव ऐसा नही करते उनके लिए करुणापूर्ण वाणी मे वे केशव से प्रार्थना करते हैं कि वे उन पर कृपा करें।

एकनाथ—

एकनाथ मोक्षार्थ, जीव को सामारिक जीवन से विमुख होकर अपने सामारिक जीवन को अध्यात्मपरक बनाने का उपदेश देते हैं। अदृष्ट के प्रबल सामर्थ्य का और काल की महत्ता का ध्यान और स्मरण रखते हुए देह विषयक आसक्ति को हटाकर भक्ति और विवेक के आश्रय से अपना उद्धार कर लेना चाहिए। काया, माया और छाया मिथ्या हैं यह जीव अज्ञान के कारण नहीं समझता। इसीलिए नश्वरता के पीछे मोहवश होकर जीव यत्र-तत्र दौडता फिरता है। अपने कर्मों का बोझ लादकर गधे की तरह दुखमय जीवन ढोता फिरता है। जन्ममरण, गर्भवास के चक्र से वह निर्मुक्त ही नहीं हो पाता। फजीहत होने पर भी नही चेतता। ऐसे अज्ञ जीवोंके लिए परम कारुणिक एकनाथ कष्टी होते हैं और उस फजीहत की मुक्ति का अमोघ उपाय भी बतलाते हैं। यह उपाय हरि नामस्मरण करते हुए, जो जीव जिस स्थिति मे है, उसे ही भगवद् कृपा समझकर आनन्द के साथ कालक्रमणा करते हुए पश्चाताप युक्त हो भगवान् की कृपा याचना करते रहना ही है। विकल्प, सदेह आदि भाव-हीनता से उत्पन्न हो जाते हैं। कोरा ज्ञान भी जीव के पल्ले नहीं पड सकता। माया का प्रबल प्रभाव विषय-वासना मे मिठास उत्पन्न कर जीव को अहकार युक्त कर देता है। अत जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि यह भावना नष्ट हो जाय। आत्मज्ञान से हेतु पुरस्सर श्रद्धा और आस्था से कुलाचार, वर्णाश्रम आदि का पालन करके स्वधर्म रत होते हुए आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण सध जाता है। ईश्वर कृपा प्राप्त होकर आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। दुर्गुणों को त्यागकर सद्गुणों का सवर्धन करना हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए यही उनका अभिमत है।

तुकाराम—

तुकाराम जीव को ब्रह्म का अश मानते हैं। यह जीव माया के आधीन है। ईश्वर माया चालक है और जगत् ईश्वर का कौतुक है। जगत् मायिक है,

जीव का अस्तित्व क्षणभगुर है। पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, कर्म का बंधन, कर्म का फल, प्रारब्ध, सचित क्रियमाण को तुकाराम मानते हैं। उनके अनुसार ससार के सुख-दुख, प्रतिष्ठा दैव के आधीन है। माया जनित भ्रमात्मक ससार के मायिक प्रलोभनों से, तथा कर्मों की दुर्गति से बचने का एकमात्र उपाय भगवद् कृपा है। अपने से माया जाल से मुक्त होने का सामर्थ्य किसी भी जीव मे विद्यमान नही है। अत अनन्त ने एवम् भगवान् ने जिस प्रकार रखा हो उस मे समाधान मानकर, 'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिए' इस उक्ति को आत्मसात् कर लेना चाहिए। माया प्रसवधर्मिणी होने से अपने मोहपाश मे जीव को रिझाकर घेर लेती है। ज्ञान से भी माया दूर नही होती, क्योकि शुष्क वचनों से भाव उत्पन्न नही होता। माया तो जीव को अपने पिण्ड पोषण और स्वार्थरत झमेलों मे डाल देती है। वह नारी रूप बनकर भजन मे बाधक हो जाती है। *इस माया से मुक्त होने का उपाय अनन्य* गतिक होकर भगवान् की शरण जाना है। तुकाराम के अनुसार जीव के बद्ध, मुमुक्षु, साधक, और सिद्ध ऐसी चार अवस्थाएँ है। जीवन आचरण-शुचिता, परोपकार युक्त कर्म तथा भगवान् की सगुणोपासना युक्त साधना को प्रश्रय देना चाहिए। तुकाराम-सायुज्यता मे ही मुक्ति मानते हैं। जीव असली सुख पारमार्थिक कर्मों से ही प्राप्त कर सकता है। चचल मन को भक्ति के अनुकूल बनाने से मानव विगत कल्मष हो जाता है। इसी से वह भगवान् का प्रिय भी बन जाता है।

समर्थ रामदास—

समर्थ रामदास माया को त्रिगुणात्मक और गुणक्षोभिणी मानते हैं। जीव को सावधानी बरतने वाला दक्ष और साक्षेपी होना चाहिए, तभी उसे मोक्ष मिल *सकेगा। प्रत्येक जीव मात्र भगवान् के चलते-फिरते मंदिर है ऐसी समर्थ की भावना* है। इसकी उपासना ही अन्तरात्मा की उपासना है। ससार नाशवान् है, अत साधक को मरण का स्मरण रखकर अपना आत्मकल्याण ढूंढना चाहिए। जीव एवम् साधक को प्रयत्न की पराकाष्ठा करनी चाहिए और आलस्य का एकदम त्याग करना चाहिए। प्रयत्न ही परमेश्वर है, यह भावना साधक की हो जाने पर आत्मोन्नति दूर नही। जीव का आत्मोन्नति का निश्चय माया के कारण बार-बार बिगडने की सभावना रहती है, अतएव दीन वाणी से भगवान् से याचना करनी चाहिए कि वह निश्चय अटल हो जाय। जीव का मन चचल होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि के प्रलोभनो मे वह फँस सकता है, अत- उस पर सुसस्कार स्वयमेव ही करना उचित है। स्वात्मशिक्षा व स्व-सुसस्कार रामदास की दृष्टि से जीव के कल्याण के दो अमोघ उपाय हैं। सासारिक जीवन, मुमुक्षु को

यथाविधि व यथावत् भगवान् का गुणगान करते हुए तथा उसमें लिप्त न रह कर अपनाने से अपना उद्धार दूर नहीं जान पड़ेगा। जीव को कर्म बन्धन से मुक्ति पाने के लिए विवेक, सदाचार और संयम को अपनाना चाहिए। यह जगत का स्वरूप मायावी और स्वार्थमय भावनाओं से सम्बद्ध है, अतः इस झंझट से दूर रहकर, मरण का स्मरण रखकर अपने स्वधर्म में रत रहने वाला उन्नति अवश्य कर सकता है। जीवन के प्रति आस्था, भगवान् के प्रति आस्तिकता और प्रयत्नवादिता को अपनाने वाला समर्थ रामदास का जीवन-विषयक दृष्टिकोण है। देह भाव अज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञान से उसकी नश्वरता समझकर काम भावना को राम नाम से जीतना चाहिए। जीव, जगत्, माया, मुक्ति आदि सबके बारे में मनन परमार्थाभिमुख और प्रयत्न-प्रवण करने वाला समर्थ का अध्यात्मिक पक्ष स्पृहणीय है। गृहस्थी का त्याग न कर जगत् को भी सत्य मान उसकी अशाश्वतता को समझकर प्रवृत्ति परक आचरण से आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति में जुट जाने का महान उपदेश रामदास ने दिया है। जीवन को तृणवत् मान कर हिम्मत, धैर्य, विवेक और भगवान् के अधिष्ठान से स्वराज्य की स्थापना समर्थ ने छत्रपति शिवाजी से करवाई। समर्थ का कर्मयोग पारमार्थिक कर्मयोग है। दुःखमय तथा कष्टों से भरे हुए संसार से डरने वाले कायर जीव या साधक समर्थ के सर्वंकष साधना-प्रणाली को नहीं अपना सकते। गृहस्थी के द्वैत और पारमार्थिक अद्वैत के काल्पनिक विरोध को मिटाने के लिए समर्थ ने विवेक का आश्रय लेने के लिए कहा है। यही विवेक पारमार्थिक उन्नति में सहायक बन जाता है।

कबीर :—

कबीर जगत् को मिथ्या मानते हैं। माया को ठगिनी और व्यभिचारिणी मानते हैं। सारे पाखण्डों की सृष्टि माया ही करती है। भेद, भ्रम, मोह का निर्माण इसी का कार्य है। जगत् ईश्वर के स्वरूप को न समझकर संसार के आत्मकालीन, भासमान होने वाले कृत्रिम सुखों के पीछे दौड़ता है इसका कबीर को बड़ा दुख है। यदि कर्म और जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पाना है तो माया से दूर रहिए। माया को कबीर डायन तक कहते हैं। संसार विमुख रह कर, विवेक वैराग्य को अपनाने का जीवन-दृष्टिकोण कबीर अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों में प्रकट करते हैं। कथनी, करनी और रहनी में एकता का प्रतिपादन कबीर करते हैं। जीव लौकिक स्वरूप अज्ञान से परिव्याप्त रहता है इसलिए लिप्त रहने का अहंकार जीव को बंधन की चक्रिकापत्ति में डाल देता है। अतः मोक्ष तथा निवृत्ति का उपाय ब्रह्म के साथ तादात्म्य एवम् साक्षात्कार है। जाति-पाँति का बाह्याडंबर कबीर को अमान्य है। पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धान्त कबीर को मान्य

है। कबीर शारीरिक दासता में बद्ध जीव का निषेध करते हैं। अन्ध विश्वासों से ऊपर उठकर ज्ञान मार्ग का अनुसरण कर स्वतन्त्र विचार कर जीवन मुक्त होना चाहिए। बाह्य आचारों के बदले आन्तरिक सदाचारों पर कबीर का अधिक विश्वास है। पाखण्डी कर्मों का निषेध कबीर ने किया है अपनी व्यक्तिगत साधना को उन्नत करने वाले कर्म का तो उन्होंने स्वयम् आश्रय लिया था। इसलिए उन्हें कर्ममात्र का निषेध करने वाला नहीं समझना चाहिए।

तुलसीदास—

तुलसीदास जीव को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं। प्रथम वे साधारण कोटि के जीव है, जो विषय रस का सेवन करते हैं। दूसरे साधक की श्रेणी के तथा तीसरे सिद्ध पुरुष। अधिक मात्रा में विषयों का सेवन करने वाले जीव ही मिलते हैं। जीव अपने में कोई सामर्थ्य नहीं रखता। इन्द्रियों के ये गुलाम होते है, अज्ञानी और बंधन के घेरे में पड़े हुए भी होते हैं। जीव ईश्वर का अंश होने से ब्रह्म का सहज सघाती भी है। अपनी उन्नति की इच्छा, मोक्ष की प्राप्ति कर लेने की प्रविधि जानने के लिए वह प्रयत्नशील भी होता है। जीवों के दुख का प्रधान कारण मानसिक रोगी होना है, जो अनेक प्रकार के मोहों में उसे उलझा देता है। कामक्रोधादि विकारों को जीतने वाला भक्त बन सकता है। श्रुति समस्त हरि भक्ति का मार्ग जीव के उद्धार का अमोघ साधन तुलसीदासजी मानते हैं। जीव माया-प्रेरक होता है। मेरा और तेरा यह विभेद उत्पन्न करने वाली माया है। इन्द्रियों के विषय तथा मन की दौड़ जहाँ तक जाती है वह सब मायान्तर्गत है। तुलसी के अनुसार माया दो प्रकार की होती है विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया में रचना सामर्थ्य होता है और अविद्या माया में सत्प्रतीन-स्थापन सामर्थ्य होता है। जीव को मिलने वाला दुख, पाप तथा जन्म-मरण, अनेक योनियों में भटकने के लिए विवश होना आदि सब कार्य अविद्या मायाकृत हैं। इसका स्वभाव बड़ा दुष्ट है। अहंभावना सारे दुखों का मूल है। ज्ञान से सर्वत्र और सब में ब्रह्म की सत्ता नजर आती है। सत्व, रज और तम के त्रिविध गुणों को जो त्याग सकता है वही विवेकी और वैराग्य सम्पन्न है। माया प्रभु की प्रेरणा है। विद्या माया के कारण जीव शरीर बनता है। पर वह अपने आपको विभु समझता है यही अहङ्कार और अज्ञान है। अविद्या माया का ऐसे जीव पर प्रभाव पड जाता है। तब पाप, बन्धन में पड़ना और दुख भोगना पड़ता है। जीव इससे ज्ञान वैराग्य और भक्ति से बच सकता है। तुलसी इसीलिए सत्सङ्ग साधुमत और लोकमत का समन्वय करने का उपदेश देते हैं। व्यक्ति अपना आत्म-कल्याण साधुमत से कर लेता है तो सारे समाज का एवम् मानवता का

कल्याण लोकमत से सम्प्राप्त कर सकता है। लोक-संग्रह की दृष्टि से तुलसी सत्सङ्ग पर विशेष बल देते हैं। सत्सङ्ग, विवेक और वैराग्य से सम्प्राप्त होता है, विवेक वैराग्य युक्त सत्सङ्ग से श्रद्धा और विश्वास युक्त अन्तःकरण से नाम-स्मरण हो सकता है। परमार्थ के मार्ग में नारी प्रबल और घातक अस्त्र है। अतः तुलसी पारमार्थिकों को उससे सदा सावधान रहने के लिए कहते हैं। भक्ति भी प्रयत्न साध्य नहीं है। वह तो ईश्वरी कृपा पर निर्भर है। भक्ति से ही मोक्ष मिलता है। श्रेय और अश्रेय का ग्रहण अश्रेय और श्रेय का त्याग विवेक हो वैराग्य युक्त हो सिखाता है। इसी से हम ईश्वरी-कृपा के पात्र बनते हैं। वह अनायास ही बरबस प्राप्त हो जाती है।

सूरदास—

सूरदास के मतानुसार जीव गोपाल के अंश हैं। जीव साधारणतया माया से आवृत ही वे मानते हैं। सूरदास के अनुसार शुद्ध जीव नित्य लीला से सम्बद्ध हैं नित्य जीव सासारिक अर्थात् लौकिक क्षेत्र में बद्धरूप से पाये जाते हैं, और बद्ध अर्थात् अज्ञानी जीव अविद्या माया से अपने स्वरूप विस्मृति का कारण बन जाता है। इस दुर्गति से छुटकारा केवल भगवदीय कृपा पर है। वैसे तो माया, जीव, जगत् और अविद्या अर्थात् अज्ञान सम्बन्ध सिद्धान्त वेदान्तानुमोदित सर्व साधारण रूप से कम या अधिक मात्रा में सब में मिलते हैं उसी तरह सूरदास के द्वारा अभिव्यञ्जित साहित्य में मिल सकता है। इसे शङ्कराचार्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी कहा जा सकता है। अज्ञानी जीव में देहाभिमान रहता है, तो ज्ञानी जीव में एक रसता रहती है अतः वह एक मात्र गोविन्द नामस्मरण को ही अपनी उन्नति का साधन मानता है। भाग्य या अदृष्ट की प्रबलता को सूर मान्य करते हैं। इसे ही कर्म गति कहा जाता है। अनेक योनियों में भ्रमण करना तथा अनेक देहों को धारण करना जीव के कर्मों पर अवलंबित है। वैसे जगत् को भी भगवान् का बनाया हुआ सूरदास समझते हैं जो शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार उचित ही है। भगवान् की यदृच्छा से ही ससार निर्मित हुआ जो भगवान् की क्रीडा-स्थली है। अतः यह भी हरिरूप है। मन जब तक कृष्ण में नहीं रत हुआ तब तक इसे माया रूप ही मानना चाहिए। ससार को सूरदास ने सेंमल के समान और जीव को उसके स्वरूप पर मुग्ध हुये हुए तोते के समान माना है। यह मिथ्या भास प्रकट हो जाने पर पछताना पड़ेगा। इसीलिए सूर साधक को चेतावनी देते हैं। माया को सूर भी त्रिगुणात्मिका ही मानते हैं। इससे छुटकारा भगवान् की पुष्टि अर्थात् अनुग्रह से ही सभव है। जीव चैतन्य सहित है तो माया चैतन्य रहित। ससार

का सत्य प्रतीत होना भगवान् की माया का परिणाम और प्रभावोत्पादिता है। भगवान् कृष्ण की अगम्य माया को कौन जान सकता है ?

भगवान् के गुणानुवाद में लीला गान करने में उसका रसानन्द लेने में ही जीव का मोक्ष है। सायुज्य मुक्ति ही सूर के अनुसार उच्चकोटि का मोक्ष है। वैसे चारों मुक्तियों का सूर ने अनुभव किया है। रसरूप रस-पुरुषोत्तम भगवान् का अङ्ग बन जाना ही सूर के जीवन का लक्ष्य या दृष्टिकोण रहा है। कृष्णलीला में प्रवेश और उसका आनन्द ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। आध्यात्मिकता से रास के रहस्य को समझना और महाभाव प्राप्त करना उच्च कोटि का पुरुषार्थ है। सूरदास ने अपनी पात्रता और अधिकार से इसे पुष्ट कर प्राप्त कर लिया था।

मीरां—

मीरां की भक्ति भावना दाम्पत्यरति और प्रेम के मतवालेपन से परिपूर्ण होने से नाम-सङ्कीर्तन और अपने प्यारे सावले कृष्ण से प्रणय-निवेदन और विरहव्यथा का अभिव्यञ्जन ही उनके पदों में देखने को मिलता है। उनके मत से परम-पुरुष पुरुषोत्तम एक मात्र *श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य सारे जीव स्त्री रूप है। प्रकृति* जड होने से अज्ञान और मोह जनित और मिथ्या बातों को सत्य समझने का प्रयास जीव कर सकता है, वे लौकिक मोह में कदापि नहीं फँसी। सदा ही अलौकिक और उदात्त प्रेम से मस्ती में मग्न रहकर अपने प्रियतम को—श्रीकृष्ण को उन्होंने पा लिया। अनेक जन्मों की साधिका तथा अनुरागिनी उपासिका बनकर पूर्ण समर्पण कर अपने प्रिय श्रीरणछोडजी में ही वे समा गई। सारूप्य मुक्ति उन्हें मिली है। मीरां को भक्ति की साकार प्रतिमा कह सकते हैं यही सम्भवत उनके मन मे जीवन की सार्थकता है। लोक-लाज को तजकर कृष्ण प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी मीरां बनी हैं। लौकिक पदार्थों के प्रति मीरां को कोई मोह नहीं है। अत उसने कर्म वचन से ऊपर उठकर अपना जीवन असीम सौन्दर्य पुरुषोत्तम पर न्योछावर कर दिया था। मीरां में प्रेम का भावोन्मेष तथा भावावेश अपने अत्युच्च स्तर पर पहुँच गया था। श्रीकृष्ण में इतना एकाकी प्रेम बहुत दुर्लभ है। गोपी भाव की तरह इसे मीरां-भाव भी कहा जा सकता है।

वैष्णव भक्ति के विविध पंथ और पद्धतियों का कारण तथा उद्देश्य क्या था? तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप में :

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने जो आध्यात्मिक विचार-धारा एवं सिद्धांतों का विवेचन किया है, उसको निष्कर्ष रूप में हम देख ही आये हैं। भक्ति करने का उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का था, ऐसा हम निश्चित कह सकते हैं। भक्ति व्यक्ति के विकास का और आत्म-कल्याण का एक

सर्वोत्कृष्ट साधन है। वह जैसे व्यक्ति के लिए आत्मोन्नति का मार्ग खोल देती है, वैसे ही समाज, राष्ट्र एवम् मानवीय गुणों का प्रकर्ष रूपेण सामूहिक कल्याण के लिए भी पथ प्रशस्त कर देती है। इस संसार के चेतन और सत्य तत्व के साथ अनुरक्ति करना ही भक्ति है जो मानव को मन, बुद्धि और हृदय से इस परमतत्व को जानने और उसके समकक्ष उच्च स्तर पर अपने आपको ले जाने में सहायक हुई है। सगुण भक्ति को विशेष रूप से बहुत अंशों में मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने प्रश्रय देकर अपने-अपने उपासना मार्ग की साधना की है। इसका प्रमुख उद्देश्य है जीव और जगत् की सत्यताको समझना तथा मायावाद से अर्थात् भ्रान्ति से मुक्ति। जीव और ब्रह्म का अभेद तथा सर्वत्र एक ही सत्य के दर्शन ये भी अन्य उद्देश्य जान पडते हैं। समन्वय की भावना से प्रत्येक युग के लोक प्रचलित विश्वास को तथा युगधर्म को अपनी-अपनी पद्धति से अपनाकर वैष्णव भक्तों ने मानवता की एक बहुत बडी सेवा की है। भगवान् से मानव मात्र को मिलाकर मानवत्व को अपूर्व प्रतिष्ठा प्रदान कर दी है।

वाल्मिकी-रामायण, अध्यात्म-रामायण, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण ब्रह्मसूत्र, भागवत-पुराण, नारद-भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, महाभारत, नारायणीयोपाख्यान, श्रीमद् भगवद-गीता, उपनिषद साहित्य और वेद ये सारे ग्रन्थ मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के आधारभूत ग्रन्थ है जिनसे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष पद्धति से भक्ति के तत्व इन साधकों ने लिये हैं। इन साधकों ने भक्ति की आवश्यकता जीवन में इसलिए अनुभव की थी, जिससे उनका आत्मकल्याण हो जाय तथा भगवान् से उनका साक्षात्कार हो जाय। इनमें भक्ति की दार्शनिकता पारमार्थिक सिद्धान्तों पर आधारित थी। भक्ति की भावुकता भगवान् से स्वरूप सम्बन्ध जोडने के लिए और हृदय प्रधान प्रवृत्तियों की उदात्तता एवम् चित्तशुद्धि के लिए अनिवार्य थी। भक्ति की बौद्धिकता भगवद् विषयक ज्ञान के लिए तथा सत्य के तत्व की जानकारी के लिए आवश्यक थी।

भज अर्थात् भजना से भक्ति शब्द बना है। ऐहिक जीवन में तो इसकी आवश्यकता नहीं रहती, पर दिव्य और अलौकिक एवं पारलौकिक जीवन में इसकी आवश्यकता बराबर बनी रहती है। मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों ने इसे अनुभव किया था। नारद इसको परम-प्रेम रूपा और अमृत स्वरूपा मानते हैं। इसको उपलब्ध कर मनुष्य तृप्त और सिद्ध हो जाता है। भगवान् को प्राप्त करने के कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति ये चार साधन प्रमुख माने गये है। सहज सुलभ और सार्वजनीन होने से इसे राजमार्ग के रूप में सब ने स्वीकार किया। धर्म में भक्ति का

महत्व विशेष है। भक्ति हृदय का और मन का भाव है। वह सहेतुक, निर्हेतुक और मोक्ष प्राप्ति के लिए की जाती है। इन वैष्णव कवियो ने आगे चलकर भक्ति को रसत्व भी प्राप्त करा दिया। भक्ति सकाम और निष्काम दोनो प्रकार की होती है।

वैष्णव शास्त्रकार भक्ति के पाँच प्रकार के स्थायीभाव बतलाते हैं, शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमें से आगे चलकर पाच रस उत्पन्न हो गए। वे ये हैं—शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, मधुर या उज्ज्वल रस। भगवान् से व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध प्रस्थापित हो जाने पर उसे दास्य भक्ति भी कहते हैं। विनय भाव से की गई भक्ति दास्य भक्ति है। इसके अतिरिक्त प्रमुख रूप से सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, और मधुरा भक्ति को मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्तो ने अपनाया है।

भक्ति का प्रयोजन—

वैष्णव साधना मे साधक या भक्त परोक्ष शक्ति की खोज मे लगा रहता है। श्रद्धा और विश्वास के साथ भगवान् की स्तुति और प्रार्थना भक्त किया करता है। इसका प्रयोजन यह है कि भक्त ससीम है और भगवान् असीम। अत जीव प्रभु कृपा से पाप-प्रक्षालन करे और पुण्यो का अर्जन करे। कर्म स्वातंत्र्य होने से ससीम साधक पाप और पुण्य का भेद नही जानता। अत भगवान् से प्रार्थना कर वह इसका भेद जान लेगा। मानव की दानवी और देवोपम प्रवृत्तियो मे से वह दानवी प्रवृत्तियों का दमन करे और देवोपम प्रवृत्तियो को सतत जागृत रखे, यही प्रयत्न भक्ति करने वाले साधक का रहता है। कह सकते हैं कि भक्ति से आत्म तत्व की प्राप्ति और आनन्द की उपलब्धि होती है। इसे जीवन का चरमोत्कर्ष भी मान सकते हैं। प्रत्येक साधक अपनी पात्रता और अधिकार तथा अवस्था के अनुसार भक्ति की साधना मे प्रवृत्त होता है। साधना का आरम्भ जो साधक जिस अवस्था मे है वहाँ से आरम्भ होताहै। पर उसे आगे चलकर उन्नति करने की आवश्यकता बनी रहती है। इस उन्नति का मार्ग बतलाने वाले तत्व को गुरु कहते हैं।

भारतीय साधना मे गुरु का महत्व प्रतिपादित है। गुरु को साक्षात् परब्रह्म बतलाया गया है। वैष्णव साधको ने गुरु का महत्व समझा है। गुरु-गोविन्द से मिलाता है। कबीर, तुलसी, सूर और मीरां तथा ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास ने गुरु की महिमा का वर्णन किया है। गुरु, अविवेकी-साधक को ज्ञानांजन देकर विवेकी बना देता है। भक्ति का सुरमा

साधक की आँखों में लगाकर भक्त को सत्, चित् और आनन्द की त्रयी का महत्व समझा देता है। स्पष्ट है कि भक्ति का प्रयोजन असत् का विनाश और तम अर्थात् अज्ञान से मुक्ति और अमृत तत्व की उपलब्धि है। भागवत और भगवद् गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधना-त्रयी का वर्णन है। मानव की असली प्रतिष्ठा इस साधनात्रयी को अपनाने में है। यही वैष्णव भक्ति-शास्त्र का संकेत है। इस संकेत को समझकर ज्ञानाश्रयी एवं ज्ञानोत्तरी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। यही रागानुगा में परिणत होकर रसमय बना देती है।

सद्गुरु महात्म्य —

गुरु का महत्व मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों में बराबर विद्यमान था। सद्गुरु के कारण आध्यात्मिक उपलब्धि हो जाती है। हिन्दी और मराठी वैष्णव भक्त कवियों ने भी ऐसी उपलब्धियाँ कर ली हैं। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक है।

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुसाक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः ॥'

शिष्य में, साधक में या भक्त में जो कमियाँ होती हैं, अथवा जिन आध्यात्मिक गुणों का साधना की दृष्टि से अभाव रहता है उनकी पूर्ति या उन गुणों का प्रादुर्भाव साधक में निर्माण करने का कार्य प्रेम से, गुरु ही करता है अतः गुरु को ब्रह्मा कहा गया है। शिष्य में तमोगुण का या आसुरी प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप से विनाश करने का कार्य गुरु को क्रोध से भी कभी-कभी करना पड़ता है। अतः वह शिव या महेश्वर कहा गया है। शिष्य की गलतियों को उदार दृष्टि से और वात्सल्य भाव से क्षमा कर उसको सत् का पथ बतलाना एवम् उसको सात्विक बनाने का कार्य सद्गुरु का है। अतः वह लोकपालक विष्णु स्वरूप भी माना गया है। साधक का साध्य भगवान् का स्वरूप-साक्षात्कार है। पर भक्त और भगवान् के बीच का अन्तर कम करना ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान को तिरोहित करना, जीवन के कृत्रिम और मायावी व्यामोहों का निर्मूलन करना तथा अमरत्व का प्रस्थापन करना ईश्वर की सत्ता और अस्तित्व में श्रद्धा और विश्वास का जागरण करना आदि ये सब गुरु के कार्य हैं। मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों को अपने-अपने सद्गुरु की प्रतिष्ठा स्वीकृत है तथा उनको अपने गुरु का ऋण भी मान्य है। इसलिए अपने-अपने सद्गुरु के प्रति वे कृतज्ञता-ज्ञापन भी करते हैं। उनका यह कार्य सर्वथा समीचीन और श्लाघनीय ही माना जायेगा।

ज्ञानेश्वर और कबीर को अपने गुरु के प्रति अपार श्रद्धा है। अत्यंत विनम्रता और सद्भाव एवम् समादर से दोनों अपने सद्गुरु के प्रति अपनी आस्था और वन्दना प्रकट करते हैं। कबीर के लिए तो गुरु और गोविन्द समान लगते हैं। फिर भी वे गोविन्द को प्रत्यक्ष प्रदान करने वाले गुरु पर अपने प्राणको न्योछावर करते हैं। ज्ञानेश्वरी अर्थात् भावार्थ-दीपिका में ज्ञानेश्वर अनेक स्थानों पर अपने गुरु निवृत्तिनाथ के प्रति आदरांजलि समर्पण करते हैं।

निगुरे नामदेव की पंढरीस्थ वैष्णव भक्त मण्डली में विशेष प्रसिद्ध है। परन्तु विसोबा खेचर से ज्ञान-दीक्षा मिल जाने पर नामदेव का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। सगुण-साधना का महत्त्व समझने पर सिद्ध भक्त नामदेव भगवान् के सर्वव्यापकत्व का रहस्य जानकर नाम-संकीर्तन करते हुए भागवत धर्म की पताका पंजाब जैसे सुदूर प्रान्त में प्रस्थापित कर फहराते हैं। भक्ति तत्त्व का प्रचार वे जन-भाषा में अर्थात् व्रज-भाषा में करते हैं। क्या यह कम सराहनीय कार्य है। निर्गुण और सगुण साधना में परिपक्व नामदेव को इसीलिए कबीर ने भी समादर की दृष्टि से देखा।

शिष्य-प्रबोधन में समर्थ सद्गुरु जनार्दन स्वामी परम कारुणिक सन्त एकनाथ को पावनतम शिष्य बनाकर आदर्श भागवत भक्त के बौद्धिक, मानसिक और हृदय-पक्ष की सभी प्रवृत्तियों सहित एक आदर्श गृहस्थ और संत का सन्तुलित व्यक्तित्व उन्हें प्रदान कर देते हैं। जगद् वरेण्य तुलसीदास, महामोह तम-पुंज को नष्ट करने वाले वचनों का प्रभाव जिनकी वाणी में है, ऐसे कृपा-सिन्धु नररूप हरि अर्थात् नरहर्यानंद का आस्था और श्रद्धानत हो स्मरण करते हैं। महात्मा सूरदास तो गुरु और भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र में अभेद मानकर भगवान् की लीला गान में प्रवृत्त हुए हैं। तुकाराम, रामदास और मीरों के साधना रत जीवन में गुरु का महत्व स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है। तुकाराम को स्वप्न में बाबाजी चैतन्य ने 'रामकृष्णहरि' यह मंत्र दिया था। मीरां को भी सत्य का दर्शन सद्गुरु के द्वारा सम्पन्न हुआ था, एवम् एक अनमोल वस्तु उन्हें सद्गुरु ने प्रदान की है ऐसा वे कहती हैं। तुकाराम को पुन. सद्गुरु नहीं मिले इसका अपार दुख है। समर्थ रामदास भी अपनी गुरु परम्परा देकर अपने गुरु के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं।

इससे सारत्य में एक बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि पारमार्थिक आत्मोन्नति में एवम् राष्ट्रोन्नति में सद्गुरु का श्रेष्ठत्व एक चिरंतन तत्त्व है। भक्ति करने वालों के लिए तो इसका एक अपार महत्व है ही। आध्यात्मिक परिपक्वता से

इस प्रकार अहर्निश अनन्य होकर जो मेरा नामस्मरण करते हैं, उनका योगक्षेम मैं चलाता हूँ। श्रीकृष्ण के इस आश्वासन का सभी वैष्णव भक्तों ने यथावत् परिपालन किया है। इसलिए मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों ने नाम-माहात्म्य गाया है और स्मरण कर के भक्ति के पात्र और अधिकारी बन गये हैं। ध्यान पूर्वक भक्ति करना ही राजयोग है। ज्ञानेश्वर ने इसे मराहा तथा तुलसी इसकी प्रशंसा करते हैं। कबीर, नामदेव, रामदास, तुकाराम, सूरदास, मीरां और एकनाथ सभी नाम-स्मरण और हरि-कीर्तन कर तर गये हैं। अत इस चीज को कौन मिथ्या मान सकता है? मन को उस परम चैतन्यम के साथ सम्बद्ध करने के लिए और अन्य कोई साधन नहीं है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को इसी से वश में किया था। शबरी के बेर इसी के कारण राम ने चखे थे। एकनाथ के यहाँ श्रीखण्डा बन इसीलिए श्रीकृष्ण उन पर अनुग्रह करते रहे। रघुनाथ के हस्ताक्षर इसीलिए तुलसी की विनय पत्रिका पर हुए। मीरां के प्रभु 'गिरधारी' इसीलिए उनके बालम बने। इसीलिए कबीर ने राम की बहुरिया बन कर उनको अपना प्रिय बनाया। नामदेव पर, विट्ठल की इसी से सदा कृपा होती रही। तुकाराम के अभङ्गों में और सूरदास के पदों में इसीलिए तन्मयता है और भगवान् गुणानुवाद का यथार्थ लीला-रहस्य और अद्भुत हो सका है। दोनों इसलिए सगुण स्वरूप साक्षात्कार करने में सिद्ध बन सके हैं।

भक्ति में भक्त का अहंभाव विसर्जन एक अनिवार्य कर्म है। भगवान् के प्रति शरणागति, आत्मनिवेदन, अनन्य भाव से आत्म समर्पण आदि कार्य भक्तों ने किये हैं। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की प्रथमावस्था इसकी जिज्ञासा है। अपने उपास्य का स्वरूप उनकी जानकारी, ज्ञान और पहिचान जिज्ञासा के अन्तर्गत आने वाले विषय हैं। इसके बाद की सीढी ममत्व अर्थात् भक्त की भावना के साथ घनिष्ठता एवम् परिचय वृद्धि गत होने की है। प्रभु रामचन्द्रजी का मैं दास हूँ, यह तुलसी का भाव और प्रभु समर्थ रामचन्द्रजी हैं, अत मेरी ओर वक्र दृष्टि से कौन देख सकता है यह रामदास की आस्था तथा इसी तरह की अन्य मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों की भावनाएँ इस द्वितीय कोटि की अवस्थान्तर्गत आने वाली बातें हैं। इन भावनाओं से भक्त भगवान् के निकट पहुँचने का मार्ग और अधिकार पा लेता है। तुकाराम, सूरदास, कबीर, एकनाथ, ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, मीरां और नामदेव इस अधिकार को प्राप्त कर भगवान् रामचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और विट्ठल का नैकट्य पा गए। इसके बाद भक्त भगवान् में डूब कर महाभाव युक्त होकर तद्रूप हो जाता है। ऐसा माधुर्य भाव कबीर, मीरां, सूर, तुकाराम आदि में उपलब्ध हो गया है।

भक्ति करने वाले वैष्णव भक्तों में सामान्यत. अनासक्तिपूर्ण कर्तव्य कर्म-तत्परता और प्रवृत्ति मूलक भगवद् भक्ति पाई जाती है। आत्मा के अमरत्व की ये सारे वैष्णव कवि उच्च स्तर से घोषणा करते हैं। स्वय कर्म परायण बनकर व्यक्ति और समाज के निकम्मेपन को तथा निराशा को नष्टकर इन वैष्णव कवियों ने दोनों को आश्वासन और क्रियाशील बनाया है। मराठी और हिन्दी के इन वैष्णव साधकों का यह एक महान कार्य है। अनासक्ति का यह पूर्ण परिपाक हो जाता है कि भक्त केवल भक्ति ही मुख्य मानने लगता है।

भक्ति करने से फलाकांक्षा अनायास छूट जाती है। साधक को कर्मफल पाने की इच्छा छोड़कर कर्म की ओर अग्रसर होना चाहिए यही इनकी भक्ति का निवेदन है। वैष्णवी भक्ति प्रवृत्तिपरक है। गीताकार का भी यही आदेश था। आगे चलकर सामाजिक कल्याण और हित को ध्यान में रखकर भक्ति भावना में अहिंसा, प्रपत्ति, परोपकार,करुणा,शील जैसे तत्त्व आकर मिल गए। इसे हम भागवत की देन मान सकते हैं। इसमें निवृत्ति परक भक्ति को भी प्रश्रय मिल गया। निवृत्तिपथ का उपदेश भागवती भक्ति ने देकर संसार की असारता, क्षण भंगुरता की ओर संकेत किया। धार्मिक क्षेत्र में एक धरातल पर आकर सारे भक्त एक ही हैं, फिर वे किसी वर्ण, जाति या प्रदेश के क्यों न हों यह भावना दृढमूल होती गयी। इसका परिणाम समन्वयवादी, मानवी और उदार दृष्टिकोण को अपनाते हुए भक्ति को सर्वोपरि माना गया।

भक्ति मन्दाकिनी के पवित्र जल से वैष्णव आचार्य हिन्दी मराठी के वैष्णव भक्त कवियों ने अपने आपको पवित्र तो किया ही, परन्तु कोटि-कोटि मनुष्यों के कल्याण का प्रशस्त राजपथ भी देशी भाषाओं में भी मुक्त रूप से खोल दिया। यहाँ पर इस वैष्णवी भक्ति द्वारा जो महान् कार्य हुआ उसका सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व अत्यंत गौरव की वस्तु है। राष्ट्रीय अभ्युदय में और आध्यात्मिक उन्नति में इस भक्ति-धारा ने जो सहायता प्रदान की वह अविस्मरणीय चीज है। यह भक्ति प्रयत्न साध्य होने पर भी ईश्वरीय कृपा पर भी निर्भर है।

भक्ति और भक्तों के प्रकार—

वैष्णवी भक्ति दो प्रकार की है—(१) परा और (२) गौणी। गौणी भक्ति के भी तीन प्रकार हैं—(१) सात्विकी अर्थात् कर्तव्य कर्मानुरूप की जाने वाली भगवान् की भक्ति। (२) राजसी अर्थात् किसी विशिष्ट कामना से की जाने वाली भक्ति और (३) तामसी अर्थात् किसी दूसरे को नुकसान पहुँचाने के उद्देश से की जाने वाली भक्ति। भक्त भी-आर्त,जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी ऐसे चार कोटि के

माने गये हैं। परामक्ति गौणी भक्ति से श्रेष्ठ मानी जाती है। इसमे भक्त सर्वात्मना अपने आप को भगवान् मे लीन कर देता है।

वैसे भक्ति के नौ प्रकार माने गए हैं, जो नवधा भक्ति कहलाती है। अपने उपास्य के गुणों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण सेवा, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन ये भाव आते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम-लक्षणा और पराभक्ति को मिलाकर एकादश विधाएं भक्ति की हो जाती हैं। भागवती-भक्ति प्रारम्भ से ही सगुणोपासना को प्रश्रय देकर चली है। अन्य पदार्थों के गुणों से विहीन होने के कारण निर्गुण-भक्ति और अपने गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण-भक्ति कहलाई।

प्राय मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त अपने उपास्य के सगुण रूप को लेकर भक्ति क्षेत्र मे आगे बढ़े। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सगुण भक्ति का स्वरूप मान दास्य भक्ति को अपनाकर भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी, एकनाथ और समर्थ रामदास ने अपनी भक्ति एव साधना प्रणाली को चलाया और जन-भाषाओं में राम-भक्ति का प्रचार कर जीवन मे व्यक्ति के कल्याण का और समाज के कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया। जनता मे जीवन के दोनों क्षेत्रो के आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम राम में आकर केन्द्रित हो गये। इसमें आत्मनिवेदन और शरणागति का भाव भी सन्निहित है। भगवान् के आगे पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ, दैन्य निवेदित कर आस्तिकता और विश्वासयुक्त अन्तःकरण से प्रभु राम के सामर्थ्य मे श्रद्धा बढ़ी और लोक-मगल की स्थापना हुई तथा विपत्ति मे सहायता का आश्वासन देने वाले अवतारवाद की प्रतिष्ठा भी इसमे मडित हो गई। उत्तर भारत मे और महाराष्ट्र मे इस राम-भक्ति ने जनता के नैराश्य को दूर कर उसे प्राणवान बनाया जिससे भारतीय सस्कृति सुरक्षित रही। शिवाजी इस रामवरदायिनी भक्ति को देन माने जा सकते हैं। सारी हिन्दू जनता सास्कृतिक स्तर पर एकत्रित होकर स्वराज्य के मधुर फल चखने लगी। सारा भारतवर्ष रामराज्य मे अटूट आस्था रखने लगा।

सगुण भक्ति-साधना प्रणाली के दो स्वरूप और हमे देखने को मिल जाते हैं। सौन्दर्य पुरुषोत्तम, रसेश्वर, और माधुर्य-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण तथा पढरपुर के विट्ठल की लीलाओं का तन्मयता से गुणगान करते हुए वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-भाव से हिन्दी के भक्त श्रेष्ठ सूर ने, मीरां ने और मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ने भक्ति की है। इसमे व्यक्ति और समाज के यथार्थवादी और सांस्कृतिक रूप मे जीवन के आनद की पूर्ण रूप से आस्था और

विश्वास के साथ उदात्त भाव से श्रीकृष्णार्पण कर देने का संकेत सामने आया। पावना और अधिकारानुसार पुष्टिमार्गी भक्तों ने बाललीला और गोपी-प्रेम-लीला का उत्पूर्त हृदय से अंकन किया। एकनाथ, नामदेव तथा तुकाराम ने भी कृष्ण भक्ति के इन दोनों स्वरूपों को आत्मसात कर लीला गान किया है। भक्ति की जो भाव-प्रवणता, गहराई तथा तन्मयता हिन्दी के कृष्ण भक्त वैष्णव कवियों में मिलती है वह मराठी में भी है। किन्तु उसकी तुलना में मराठी सन्तों की भक्ति ज्ञानोत्तर भक्ति है और हिन्दी सन्तों में श्रद्धामूलक भक्ति भाव अधिक है। ज्ञान की अपेक्षा वे भक्ति को हृदय के अधिक निकट रखते हैं। एक प्रादेशिक विशेषता मराठी वैष्णव कवियों की है। कृष्ण-भक्ति करने वाले इन कवियों ने इन दैवी पुरुषों की लीलाओं में अपनी प्रादेशिक सांस्कृतिक बातों को भी समाविष्ट कर दिया है। विठ्ठल भक्ति श्रीकृष्ण भक्ति ही होने से बाललीला का अर्थात् वात्सल्य भक्ति का समावेश हिन्दी की तरह मराठी वैष्णव कवियों में विद्यमान है। परन्तु ऐश्वर्य पक्ष की ओर ध्यान मराठी का अधिक है तो हृदय प्रधान तथा सौन्दर्य पूर्ण और रस-परक-भाव-भूमियों की ओर हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों का ध्यान सरसता के साथ गया है। वैसे सगुण-रूप पुरुषोत्तम को सूर और एकनाथ एवम् नामदेव, तुकाराम ने भी यथार्थ रूप में समझा है। पर उसमें रस मग्न होने वाले सूर ही हैं। माधुर्य भाव से कान्तासक्ति की भावना लिए हुए भी भक्ति पद्धति सूर-मीरां ने अपनाई है। गोपियों के संयोग और वियोग की दशाएँ तथा उपालंभ मधुरता से हिन्दी कृष्ण भक्तों में विद्यमान हैं। मराठी वैष्णव कृष्ण भक्तों में उनका वर्णन रोचक हो गया है पर उतना सजीव नहीं जितना सूर और मीरां में मिलता है।

ज्ञानोत्तर भक्ति की विशेषता वारकरी सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। जो ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ में विशेष रूप से और सर्व सामान्य रूप से तुकाराम में विद्यमान हैं। केवल कोरमकोर सगुण भक्त सूर की तरह तुकाराम ही हैं। निर्गुण भक्ति करने वालों में प्रेम-मूला और भावमूला भक्ति करने वाले कबीर अद्वितीय हैं। एक तरफ माधुर्य-भावना है तो दूसरी ओर ज्ञानी भक्त की सारी विशेषताएं कबीर में विद्यमान हैं। यही ज्ञानाश्रयी भक्ति है। नामदेव भी मूलतः सगुणोपासक होने पर ज्ञानी भक्त बनकर निर्गुणाश्रयी भक्ति का प्रचार करते हुए अपनी भागवती भक्ति-साधना-प्रणाली से युक्त हैं। राम की निर्गुणी भक्ति कबीर ने की और विठ्ठल की निर्गुणी भक्ति करने वालों में ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि हैं।

भक्ति जैसे भाव है वैसे रसानुभूति भी। भक्ति रस का आस्वाद उन भावुकों या सहृदयों के अन्तःकरण में होता है, जो पाप, मोह से मुक्त हैं तथा जिनके चित्त

प्रसन्न और उज्ज्वल है। यह पूर्व सम्वारोलग्न भी मानी गयी है। जिस उपास्य के प्रति जैसी भक्ति होगी वही स्थायी भाव होगी। जैसे रामभक्त में राम-रति-रूप स्थायी भाव है, कृष्ण भक्त है तो कृष्ण-रति-रूप स्थायी भाव है। इसी प्रकार विट्ठल भक्त में विट्ठल-रति रूप स्थायी भाव विद्यमान होगा। अल्लाह निर्गुणी रामभक्त में उसके प्रति रति-रूप स्थायी भाव मिलेगा।

भक्ति के वैधी और रागानुगा या प्रेमा भक्ति ये अन्य दो प्रकार भी माने गये हैं। आत्म-ग्लानि, प्रपत्ति, आत्म-निवेदन, विनय-भावना, दीनता-प्रदर्शन, याचना आदि दास्य भक्ति के अङ्ग है, जो दास्य-भक्ति करने वाले मराठी और हिन्दी-वैष्णव भक्तों में बराबर विद्यमान हैं। जैसे तुलसी रामदास और एकनाथ की भक्ति तथा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व की सूरदास की भक्ति इसके अन्तर्गत आती है। सभी वैष्णव भक्तों में यह सामान्य रूप से आरम्भिक अवस्था में पाई जाती है।

सख्य भक्ति में भक्त भगवान् के प्रति मैत्री भाव रखता हुआ भगवान् से अहैतुक प्रेम व्यवहार करता है। ऐश्वर्य नागरी सौन्दर्य-सागर श्रीकृष्ण के प्रति सूर की, नामदेव की, अथवा विट्ठल के प्रति तुकाराम की निष्काम-भक्ति का विशुद्ध-आनन्दात्मक रूप मिलता है। भक्त के हृदय के सख्य प्रेम-रस को भगवान् ही पहिचान पाते हैं। गोप-गोपियों के साथ की गई क्रीडाएँ, खेल, लीला, उत्सव, रास आदि का तन्मयता पूर्ण वर्णन सख्य-भक्ति के वर्ण्य विषय है। ये नित्य तथा नैमित्तिक रूप में भी अभिव्यंजित किये गये हैं।

प्रेम-रूपा-भक्ति के अन्तर्गत वात्सल्य भाव की भक्ति आती है। इस प्रकार के भाव के सूर ही एकमात्र भक्त हैं। उन्हें बाल स्वभाव का, बाल चेष्टाओं का, तथा मातृ हृदय का गाढ़ा परिज्ञान था। वात्सल्य भक्ति में माता का अपने शिशु से संयोग और वियोग परक अनुभूतियों का चित्रण है। बाल-सौन्दर्य का और रूप-माधुरी का सुख बालक की क्रीडाओं के वर्णन में नटखटपन और चचलता के गुणों को देखकर भक्तों के अन्तःकरण पर होता है। सूर इस भक्ति भावना में बेजोड़ हैं इनके साथ नामदेव ही तुलनीय हैं। वियोग जन्य दुख भगवान् के लिए भक्त में होता है, क्योंकि उसमें मिलने की उत्कट अभिलाषा भी होती है। ये वियोग जन्य भाव प्राय मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों में समान रूप से विद्यमान हैं।

कान्ता-भाव अर्थात् मधुर-भाव से की गई भक्ति भगवान् में आध्यात्मिक सम्बन्ध जोडने के लिए होती है। इसमें आत्म निवेदन और आत्म समर्पण प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। मीरां और गोपियों में तथा महाभाव की दशा में

यह सभाव्य है। इसमे आत्मोत्सर्ग और सम्पूर्ण आत्मविस्मृति अपने पूर्ण रूप से भक्त में आ जाती है। राधा और गोपियो के प्रेम मे भक्तों की अन्तरात्माओ का स्वरूप इस भक्ति के द्वारा प्रकट होता है। मीरां मे माधुर्य भावना की सगुणोपासना परक माधुरी भक्ति का रूप दिखाई पड जाता है। निर्गुणोपासक मधुरा भक्ति कबीर मे दर्शनीय हो उठी है।

भक्ति की जीवन मे आवश्यकता—

अब तक निष्कर्ष रूप मे जो भक्ति के विविध प्रकारो, स्वरूपो और भक्ति की विविध साधना प्रणालियो का विवेचन कर लेने के बाद यह स्थिति हमारे सामने आ जाती है कि मानव-जीवन मे भक्ति की क्यो आवश्यकता है? इस पर भी विचार कर लिया जाय। हमारे अध्ययन मे आए हुए नौ वैष्णव भक्त कवि मानव थे और उन्होंने भक्ति की थी, यह एक मानी हुई बात है। क्या उनको अपने जीवन मे इस साधना को अपनाने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी? पूर्ण रूप से और शान्त चित्त मे विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि इस जगत् मे मानव योनि ईश्वर का एक सर्वोत्तम वरदान है। इस शरीर के साधन से भगवान् के स्वरूप के साथ सम्बन्ध साक्षात्कार किया जा सकता है। भगवान् की सर्वोत्तम कृति, विविध गुणो का समुच्चय, हृदय के अष्ट सात्विक भाव, सौन्दर्य का रसोद्रेक, ब्रह्मानुभूति कर सकने की सक्षमता मानव के अतिरिक्त और किसी मे भी सभव नही है। सत्, चित्, आनन्द रूप परब्रह्म का ज्ञान, स्वरूप की पहचान, भगवान् से ममता, नैकट्य का अनुभव, भगवान् की कृपा एवम् अनुग्रह प्राप्त कर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण साधने के लिए भक्ति की जीवन मे आवश्यकता है। वह सहेतुक और निर्हेतुक तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी मानवी जीवन मे नितान्त आवश्यक है। निस्सीम भाव से आध्यात्मिक आनन्द को इन वैष्णव कवियों ने भक्ति-साधना द्वारा उपलब्ध कर लिया था तथा सबको उदार होकर उपलब्ध करा दिया था। भक्ति जीवन मे आदर्श और यथार्थ का सतुलन और समन्वय करने के लिए भी आवश्यक है। भावात्मक एकता का सर्वांग परिपूर्ण साधन मानवी जीवन मे भक्ति के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता। इसे सब कोई निश्चित रूप से मान लेंगे।

मराठी वैष्णव और हिन्दी वैष्णव कवियो की काव्य शैलियो और काव्य रूपो की तुलना तथा उनके कारणों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप मे अब हम कुछ तथ्यों की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करेंगे।

काव्य का प्रयोजन—

काव्य का प्रयोजन आचार्य मम्मट के अनुसार यह है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे ॥[1]

काव्य एवम् साहित्य की सर्जना यश प्राप्ति के लिए, द्रव्य लाभ के लिये, सांसारिक व्यवहार-ज्ञान की प्राप्ति के लिये होती है अमगल के विनाश के लिए और लोकातीत आनन्द की प्राप्ति के लिए है तथा पत्नी के समान मधुर, प्रिय लगने वाले उपदेश की सप्राप्ति के लिए होती है। 'काव्य से वैयक्तिक, सामाजिक लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रयोजनों का सकेत मिल जाता है।' डा० भगीरथ मिश्र का यह कथन ठीक ही है।[2]

मराठी वैष्णव भक्त कवियों और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों ने अपने वैयक्तिक उन्नयन के लिए, तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए काव्य जैसे साधन का प्रयोजन समझकर किया था। नामदेव को वाल्मिकी से प्रेरणा मिली थी तो तुकाराम को नामदेव ने स्वप्न में काव्य रचने की प्रेरणा दी थी। तुलसी ने 'स्वात सुखाय' रघुनाथ गाथा गाई थी। सूर ने स्वरूप-साक्षात्कार से सतुष्ट एव पुष्ट होकर तथा साक्षिकार भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गायन किया था। ब्रह्मविद्या लोगों के लिए सार्वजनीन और सुलभ हो जाय इस हेतु से ज्ञानेश्वर ने अपनी 'भावार्थ-दीपिका' लिखी। लोगों की विपन्नावस्था देखकर परम कारुणिक एकनाथ ने भगवान् वासुदेव और रामचन्द्रजी का चरित्र और यश गाया। समर्थ रामदास ने स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना से सबको स्वधर्माचरण और कर्तव्य दक्ष होने में भगवान् का अधिष्ठान प्राप्त हो जाय इसलिए समर्थ रामचन्द्र का गुणगान गाया। तो प्रेम उन्मादिनी मीरों ने अपने साजन कन्हैया को रिझाने के लिए नृत्य-गायन और सकीर्तन किया। कबीर ने अपनी मौज में आकर ब्रह्मानुभूति लेते हुए उसको प्रेम से प्रकट किया तथा राम की बहुरिया बने।

मानव जीवन का उपभोग लेते हुए, मानव जीवन का अनमोल महत्व आँकते हुए, उसका सदुपयोग करने का निश्चय कर उसे व्यवहार में बरतने का कार्य इन वैष्णव कवियों ने किया। बदलते युग के अनुसार सहगामी अपना दैनंदिन आचरण होना चाहिए, इसका ज्ञान इन कवियों को हो गया था। विदेशी आक्रमणों में समाज की सुरक्षा हो और चाहे जैसी प्राप्त परिस्थिति में समाज का ऐक्य (जिसे

१. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट।
२. काव्य शास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३०।

आज हम भावनात्मक एकता के नाम से अभिहित करते हैं) बना रहे इसलिए संस्कृत भाषा के सैद्धांतिक तत्वदर्शी ग्रन्थों के विचार प्रान्तीय भाषाओं में साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किए। उनका यह कार्य भारतीय जन-समाज की सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्वर्णाक्षरों में अङ्कित किये जाने योग्य है। इन लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि ईश्वरीय सत्ता है। भगवान् की कृपा होती है। सत्सङ्ग करना चाहिए। नाम और नामी का अभेद इनको मान्य था। भगवान् भक्त-काम कल्पद्रुम है, दयालु हैं, दया सागर और कृपामेघ हैं इसलिए वे भक्त की पूरी सुरक्षा करने की व्यवस्था करेंगे ऐसा इनका विश्वास था। इन सबकी अपनी अनुभूति से वर्ण्य-विषय बनाकर काव्य के माध्यम से वैष्णव-साहित्य-सर्जन हुआ। यह इन वैष्णव कवियों का सर्वोत्तम कार्य ही माना जावेगा।

इनमें दार्शनिक और आचार्य के स्तर के वैष्णव भक्त कवि भी थे जैसे ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, एकनाथ और रामदास जो काव्य-शास्त्र और तत्वज्ञान के गाढ़े पंडित थे। अतः साहित्यिक निकष लगाये जाने पर भी इन भक्त कवियों के द्वारा रचित ग्रन्थ, उच्चकोटि के महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य और गीति-काव्य सिद्ध हुए। ज्ञानेश्वरी, रामचरित-मानस, एकनाथी-भागवत, भावार्थ-रामायण, जानकी-मंगल पार्वती-मंगल, रुक्मिणी-स्वयंवर, दासबोध-गीतावली, विनयपत्रिका, ज्ञानेश्वर की अभंग-गाथा, तुकाराम के अभङ्ग, नामदेव पदावली एकनाथी-गाथा, समर्थ-गाथा और समर्थ-रामायण आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हमारे सामने उपलब्ध कर देते हैं।

केवल भक्त और कवि जैसे या केवल दार्शनिक और भक्त जैसे भी लोग इन वैष्णव भक्तों में विद्यमान है। सूरदास, तुकाराम, कबीर और मीरां को हम इस कोटि में रख सकते हैं। इनकी कृतियाँ, कबीर की साखियाँ और पद तथा दोहे, नामदेव के अभंग, तुकाराम की गाथा और मीरां के पद, गीतिकाव्य, मुक्तक-काव्य और स्फुट-काव्य के अतर्गत रखे जा सकते हैं।

काव्य रूपों और शैलियों की तुलना का निष्कर्ष—

महाकाव्य के लेखक तुलसी और एकनाथ की शैली लोक साहित्यकार की होने से उनके महाकाव्य लोगों के द्वारा स्वीकार किए गए। युग धर्म, व्यक्ति धर्म, स्वधर्म, सदाचार और जीवन के नैतिक स्तर के उच्चाशय आदि की अभिव्यक्ति, अपने उपास्य प्रभु राम और कृष्ण के चरित्रों के द्वारा गरिमामयी उदात्त शैली में प्रकट हुई है। कथानकों का आधार सुप्रसिद्ध है तथा जीवन के सभी पहलुओं के सर्वाङ्गीण अनुभव सूक्ष्मता के साथ रखे गये हैं। शैली दोनों की अपनी-अपनी

जैसे आनन्द लहरी, सुकाष्टक स्वात्मसुख इत्यादि आते हैं। वैष्णव भक्त कवियों के द्वारा प्रदत्त कृष्ण-काव्य और रामकाव्य में गीतिकाव्य का सर्वोत्कृष्ट नैसर्गिक स्वरूप मिलता है। इनमें निर्गुण निराकार ब्रह्म को सगुण साकार, लीला वपुधारी एवं अवतारी रूप में प्रकट किया है। राधा-कृष्ण का प्रेम, गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम, बाल-रामचन्द्र और बाल-कृष्ण की बाल-लीलाएँ आदि को केन्द्र मानकर उनके रूपगुण एवं को संकीर्तन के लिए चुना है। असीम लावण्य-राशि का और सौन्दर्य का चैतन्य मय और गतिमान अद्भुत संवेदनशील और भावुकतापूर्ण गीति रचना के लिए एक आवश्यक उपादान है। माधुर्य भाव का, वात्सल्य भाव का और सख्य भाव का इसमें समावेश होने के कारण गीतिकाव्य में मैत्री, करुणा, दैन्य, आत्म-निवेदन, अभ्यर्थना, उलाहने, उपालंभ, मुदिता, रतिभाव, विरहाकुलता, कातरता दुख आदि का रसोद्रेक हो जाता है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने इसमें बराबर का स्तर रखा है। रसिकता और सुरमता में गहराई और तीव्रोपमता अवश्य मराठी से हिन्दी में अधिक मात्रा में है। तन्मयता और भावों की प्रांजलता दोनों भाषाओं के गीति काव्यों में विद्यमान है। भ्रमर-गीत, मुरली-माधुरी, विनय-पत्रिका, तुकाराम-नामदेव के आत्म-निवेदन तथा प्रेम-कलह के अभङ्गों में गीतों की आत्मा साकार हो उठी है। इसमें भी समर्थ रामदास का मनोबोध और तुलसी की विनय-पत्रिका अद्वितीय हैं।

गीति काव्य को आत्माभिव्यञ्जकतापूर्ण शैलीमें प्रदर्शित काव्यभी माना जाता है। भावों का आधिक्य सहसा रसोद्रेक के रूप में हृदय से अचानक उमड़ पड़ता है। आकाश में बादल जैसे सहसा गर्जन-तर्जन के साथ बरस पड़ते हैं वैसे ही वैष्णव भक्त कवियों के अन्त करण अपने उपास्य के प्रति प्रेम भाव से पुलकित हो जाते हैं, कृतज्ञता से गद्‌गद् हो उठते हैं, विरविरह-व्यथा से आर्द्र हो मिलन की उत्कण्ठा से बेचैन और व्यग्र भी हो जाते हैं। ये सारे भाव वैष्णव 'गीत प्रबन्धम्' में सूर, मीरां के पदों में तथा नामदेव, तुकारामादि के अभङ्गों में अभिव्यंजित हो उठे हैं। डा० भगवानदास तिवारी अपने प्रबंध में गीतिकाव्य की यथार्थ परिभाषा देते हैं—

"गीतिकाव्य अनुभूति संयुक्त आत्मा की सङ्गीतात्मक सहज अभिव्यक्ति है।"[1]

सङ्गीत के स्वर, ताल, लय और गति के अनुकूल कोमल कान्त पदावली, शृङ्गार रस माधुर्य और प्रसाद गुण संयुक्त शब्द लालित्य और सौकुमार्य प्रदर्शित

१ मीरां की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन—
डा० भगवानदास तिवारी कृत अप्रकाशित प्रबंध से।

करने वाले शब्द कल्पना तथा सौन्दर्य प्रकट करने वाली भाषा की मधुरिमा मराठी और हिन्दी की सन्त पदावली को अपनी अन्यतम विशेषताएँ हैं। भक्ति भावना को सिंचित करने मे तथा रसोद्रेकावस्था के निर्माण मे इनका पारस्परिक निष्कर्ष प्राप्त होता है। अपने युग मे सूर, मीराँ के गीत देशाधिपति अकबर तक को प्रभावित कर चुके हैं। तुकाराम और नामदेव के अभङ्ग गीतों ने अपने युग म लोगों को प्रभावित किया था। आज भी सूर-मीरां के पद, विनय-पत्रिका के तुलसी के पद, तथा तुकाराम और नामदेव के अभग अपनी प्रभावोत्पादकता को प्रकट करते हैं। समर्थ रामदास भी बड़े सङ्गीतज्ञ थे। गीतिकाव्य के काव्य रूपों और शैली की विशेषता मे ही इन मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों ने सङ्गीत के क्षेत्र मे भावनात्मक ऐक्य को सकेत और प्रभाव अक्षुण्ण रखा है, जो भारत के लिए एक अनमोल वरदान है। मीरां के गेय पदों के बारे मे डा० भगवानदास तिवारी का यह कथन कितना समीचीन है[1]—

'मीरां के काव्य मे भाव, अनुभूति, कल्पना और जीवन के निर्विकल्प सत्योद्गारों की अटूट परम्परा है। उनकी भक्ति-साधना और उनका जीवन-दर्शन उनके गीतों मे साकार हो गया है। इसीलिए मीरां का प्रत्येक पद प्रभविष्णु और हृदयहारी है। मीरां के प्रत्येक पद के पीछे मीरां का व्यक्तित्व बोलता है। यही उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

मीरां के बारे मे जो सही है वही सूर, रामदास तथा तुकाराम, नामदेव और तुलसी एवम् कबीर के पदों के बारे मे कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि वैष्णव गीतिकाव्यकार मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि अपने व्यक्तित्व को अपने अभङ्गों तथा पदों में अभिन्न रूप मे प्रतिध्वनित कर साकार कर देते हैं। श्रोताओ के मनमयूर इनको सुनकर थिरक उठते हैं।

इसी प्रकार से स्फुट और मुक्तक काव्यों के बारे मे निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों के साहित्य मे समान स्तर पर शैली-गत और काव्य-रूपगत साम्य है। भाषा पक्ष की दृष्टि से हिन्दी कवियों ने ब्रज को अपनाया है, तो मराठी को मराठी वैष्णव कवियों ने। दोनों की विशेषता कोमल कान्त नाद माधुर्य से युक्त शब्दावली का प्रयोग है। दोनों का वर्ण्य विषय उपास्य का प्रेम, विरह, राधा-कृष्ण तथा गोपियों और कृष्ण के सयोग और वियोग

1 मीरां की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन—
डा० भगवानदास तिवारी कृत अप्रकाशित प्रबंध से।

जनित भावों का विशद प्रकटीकरण और विरह में प्रेम और विरह का संवेदनापूर्ण कथन है। इन पदों में भक्ति रस के साथ जीवन की सांस्कृतिक बातों का यथार्थ चित्रण नित्य और नैमित्तिक रूप में झलक उठा है जो देखते ही बनता है।

रस विधान, अलंकार विधान और भाषा के सम्बन्ध में दृष्टिकोण—

रस का परिपोष प्रतिभापूर्वक ज्ञानेश्वर करते हैं। सचमुच उनका शान्त रस शृङ्गार रस को मात करता है। तुलसी तो सभी रसों को पूर्ण सिद्ध रूप में अपनी कृतियों में प्रस्तुत करते हैं। शृङ्गार, शान्त, करुण, वीर, अद्भुत, भयानक तथा हास्य एवं वीभत्स तक को वे अपने सांगोपांग उदाहरणों सहित प्रकट करते हैं। सहृदय उनका आस्वाद बराबर लेते हैं। रामचरित-मानस और कवितावली इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। रस पुरुषोत्तम या 'रसोवैसः' जिनको कहा जाता है, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों से भरे वर्णन शृङ्गार और करुण रस को रसराज की संज्ञा प्रदान करते हैं। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियों ने जिस रस को लिया उसको पूर्ण स्वरूप सिद्धावस्था तक पहुँचा दिया है। ब्रह्म को यशोदा और कौशल्या की गोद में साकार शिशु के रूप में अवतरित कराने वाले ये रससिद्ध कवि रसों की अवतारणा में भला पीछे कैसे रह सकते थे?

जनपदीय भाषा का प्रयोग—

भाषा के बारे में सब के मत में ऐक्य है। भाषा में अर्थात् जनपदीय भाषा में लौकिक, अलौकिक, आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन करना पुण्य है, पाप नहीं है, ऐसा इन सभी का अभिमत है। सच्चा प्रेम किसी भाषा का बंधन स्वीकार नहीं करता, निर्मल नीरवत् वह भाषा का जल स्वच्छन्द और अबाध गति से बहता है। मराठी अमृत के समान मधुर हो सकती है और है इसका प्रमाण ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और नामदेव दे देते हैं। हिन्दी में भी इन सब की रचनाएँ मिलती हैं। इनकी हिन्दी रचनाओं की भाषा, ब्रज और दक्खिनी हिन्दी है। तुलसी की अवधी, सूर और मीरा की ब्रज तथा कबीर की सधुक्कड़ी भाषा प्राकृत रूप में इस तथ्य का बोध करा देती है। ये भाषा के बारे में लकीर के फकीर नहीं हैं। संस्कृत की सारी विशेषताएँ देशज भाषाओं में ले आना आसान कार्य नहीं है। अवधी में रामकाव्य फबता है, तो ब्रज में कृष्ण काव्य। मराठी में दोनों जंचते हैं। नामदेव ने ब्रज में भागवत धर्म की आनोखी भक्ति का तथा निर्गुण मत का प्रचार कर एक अद्भुत पुरुषार्थ का कार्य किया, ऐसा माना जाता

चाहिए। रामानन्द और कबीर को जिसने प्रभावित किया वह भला महान् भक्त क्यों नहीं होगा ? *भाषा के बारे में इन वैष्णव कवियों का अभिमत कोरा सिद्धान्त* नहीं है, वह तो एक व्यावहारिक प्रयोग भी है। पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर और गवेषणात्मक बौद्धिकता तथा तार्किकता मराठी में विद्यमान है, तो प्रासादिकता, प्रांजलता, सहजता और भाव-प्रवणता अवधी और ब्रजभाषा में विद्यमान है। भावनात्मक-ऐक्य और राष्ट्रीय-ऐक्य के लिए इन वैष्णव कवियों का यह प्रदेय चिरंतन महत्त्व का है। आज के वैषम्यपूर्ण और क्षत विक्षत किन्तु स्वतन्त्र भारत को भाषा की संकीर्णता से ऊपर उठकर सह-अस्तित्व और भावनात्मक ऐक्य को अपनाने का संदेश इन वैष्णव कवियों का भाषा विषयक दृष्टिकोण अवश्य देता है। किसे अपनी जन भाषा के भक्ति कालीन साहित्य पर गर्व नहीं होगा ? भाषा विषयक अभिमत का इससे बढ़कर और प्रमाण क्या हो सकता है, कि यह समूचा *साहित्य स्वर्णयुग का साहित्य माना जाता है।*

अलंकार विधान की दृष्टि से मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त-कवियों ने उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, भ्रान्ति, सन्देह, यमक आदि का समान धरातल पर उपयोग किया है। फिर भी *ज्ञानेश्वर अपनी उपमाओं और दृष्टांतों के लिए* विशेष प्रसिद्ध हैं तो तुलसी एकनाथ आदि साग रूपकों की भरमार करने के लिए अपने समकक्ष किसी को नहीं रखते। विशेषतः सादृश्य और साधर्म्यमूलक अलंकारों का प्रयोग इन कवियों ने किया है।

एक और सांस्कृतिक विशेषता की ओर हम निःसंदेह रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। इसे हम भाषा के क्षेत्र में भी रख सकते हैं। राम और कृष्ण उत्तर भारत के प्रदेश में पैदा हुए थे। राम अयोध्या के और श्रीकृष्ण ब्रजभूमि के थे। दोनों भाषाओं के कवियों ने 'अतिमानव' के रूप में या लोकोत्तर अवतारी पुरुष के रूप में तथा सगुण परब्रह्म के रूप में चित्रित किया। मराठी वैष्णव भक्तों ने इन महापुरुषों का मराठीकरण किया है। इसके आभूषण उत्तर भारत के हैं परन्तु जन मन पर प्रभाव उत्पन्न करने के लिए महाराष्ट्रीय जन-जीवन को और सांस्कृतिक अंगों को वैसे ही अबाधित एवं अक्षुण्ण रहने दिया है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के सामने यह समस्या ही नहीं थी। विठ्ठल, कर्नाटक प्रदेश के उपास्य देव थे। इसीलिए उसे 'कानडा-विठ्ठल' भी कहते हैं। पर महाराष्ट्र में आकर *विठ्ठल पूर्ण रूप से महाराष्ट्रीय बन गये हैं। उपास्य के व्यक्तित्व में परिवर्तन करने* की यह चमत्कृति या जादू पाठकों को बिना जानकारी दिए मराठी वैष्णव भक्त कवि कैसे कर सके ? इसका ज्ञान केवल उन्हीं को हो सकता है जो दोनों भाषाओं के जानकार हैं तथा मर्मज्ञ हैं।

छंद विधान:—

हिन्दी के वैष्णव-कवियों ने अवधी में दोहा, चौपाई, छन्द, और पदों को लिया है, तो ब्रजभाषा में राग-रागिनियों से युक्त गेय पद हैं। यहाँ पर हिन्दी छन्द-विधान के बारे में विशद अनुशीलन नहीं करना है। परन्तु मराठी वैष्णव कवियों के द्वारा प्रयुक्त ओवी, अभङ्ग पर कुछ विशद विवेचन अवश्य किया जावेगा। वास्तव में यह एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय भी हो सकता है। समर्थ रामदास ने भी राग-रागिनियों में पद लिखे हैं। इससे एक बात यह सिद्ध होती है कि गेय पदों के राग-रागिनियाँ मराठी और हिन्दी में समान हैं।

ओवी और अभंग रचना में गणात्मक या लयत्वात्मक आवर्तन नहीं मिलते, प्रत्युत केवल अक्षर सम्ख्यानुक्त रचना रहती है। ये रचनाएँ गेय है। छादम रचनाओं से इनका सम्बन्ध है। दिंडी सदृश पद्यात्मक आवर्तन की पद्धति के पद जनाबाई, एकनाथ, तुकाराम और रामदास रचित पदों में उपलब्ध हो जाते हैं।

दिंडी वृत्त का उल्लेख 'दासबोध' में आता है। यथा—

> डफ गाणे माचिगाणे। दंडी (दिंडी) गाणे कथागाणे।
> नाना माने नाना जसने। नाना खेळ ॥[1]

—दासबोध १२।८ ५।

डफ गायन, डन्डे से बजाकर गायन, वाद्य-यंत्र गायन और कथा गायन ये गायन प्रकार नाना प्रकार के उत्सवों में तथा क्रीडा तथा मेलों के अवसर पर व्यवहार में लाये जाते हैं।

जिसे हम निर्विवाद रूप में मराठी छन्द कह सकते है ऐसे छन्द, 'ओवी' और 'अभङ्ग' है जिन्हें प्रायः मराठी वैष्णव कवियों ने अपनाया है, किन्तु ओवी, छन्द हिन्दी में अनुपलब्ध है।

ओवी छद का विवेचन—

प्रसिद्ध मराठी लेखक श्री वि. का. राजवाडे ओवी की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—मूल धातु ऊत=मूत पिरोना, इससे 'ओवी' शब्द बना। आ+ऊयन= ओयन=ओयनिका=ओवनिका=ओवणिका=ओवइआ = ओवीआ=वोवीया= ओवीया=ओवी।[2]

दूसरी व्युत्पत्ति स्वर्गीय प्रो. ह. दा. वेलणकर देते हैं "अर्ध चतुष्पदी शब्द में

---

१. मराठी छन्द—वि. का. राजवाडे।

२. मराठी छन्द—वि का राजवाडे।

यौगिक प्रक्रिया मे अउठोट्टुवई = अउडुउआई = अद्दुडवई=डुदवई=हुहवइ= हुवआई=होवई=ओवई=ओवी। इस व्युत्पत्ति को डा० वर्वे अग्राह्य मानते हैं। प्रो द. वा बेन्द्रे के मतानुसार ओवी का सम्बन्ध कन्नड 'त्रिपदी' से मिलता है।[1] कन्नड जनपद गीत त्रिपदी छन्द मे होते हैं। लोरियाँ भी इसी छन्द मे गाई जाती थी और अन्त मे 'ओई' या 'होई' कहते थे। इसी से 'ओवी' शब्द बना है। कन्नड भाषा मराठी भाषा के पूर्वकाल मे ही सुस्थिर हो गई थी। अत इसी से मराठी मे ओवी छन्द आना स्वाभाविक है। मराठी वैष्णव कवियों का उपास्य विठ्ठल भी तिरुपति बालाजी से निकलकर कर्नाटक मे कानडा विठ्ठल बनकर आया तो उसके उपासको का ओवी छन्द मे उसको मनाना रिझाना और प्रसन्न करना हमे स्वाभाविक सा लगता है।

ओवी छन्द ग्राथिक और गेय इन दो प्रकार का माना गया है। ग्राथिक-ओवी मुक्त रूप होती है। गेय ओवियाँ पीसते समय, कूटते समय तथा अन्य ऐसे ही प्रसगो मे गायी जाती हैं। इसके तीन पाद प्रासयुक्त होते हैं और गेय भी।[2] देखिए—

> उवीच च स्वरी चर्या रोहडी दतिका तथा।
> एते सूडेषु नो गेया प्रबधा लौकिका मता॥
> विप्रकीर्णा प्रणालस्या स्वापारेषु पृथक् पृथक्।
> त्रिपदी कडने चैव शृङ्गारो विप्रलम्भके॥
> पादशोस्त्रिभिरेवैषा गेया नानार्थ सूचिका।
> कथा॥ पद्मदोयोल्या विवाहे धवले तथा॥
> उत्सवे मंगलेगेया शूर्या योगी जनै स्तथा।
> महाराष्ट्रेषु योषित्भिरोवी गेया तुकंडने॥[3]

महाराष्ट्र की योषिताएँ अनाज कूटते समय, योगी, शूर जनो के सत्कार स्वागत प्रसङ्गो मे विवाहोत्सवो मे ओवियाँ गाया करती थीं। यों शृङ्गार पक्ष मे सयोग और वियोगावसरो मे भी इनका पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग हुआ करता था।

'सगीत रत्नाकर' नाम का एक ग्रन्थ १४ वी सदी का है। उसमे निम्न उल्लेख मिलता है—

---

१ मराठी साहित्य पत्रिका वर्ष ७ स० ५।

२ मानसोल्लास—अभिलषितार्थ चिन्तामणि—सोमेश्वर।

३. मानसोल्लास-अभिलषितार्थ चिन्तामणि-सोमेश्वर-गान प्रकरण, खण्ड ३।

'खण्डत्रय प्रासयुक्त गीयते देशभाषया ।
ओवीपद तदन्ते चे दोवी तज्ज्ञै स्तदी रिता ।।
त्रयाणा चरणानां स्युरेकाद्या वृत्तिरे मिदा' ।
आदि मध्यान्तगं. प्राप्ते रेकाद्यंश्च पदे पदे ।।
छन्दोभिबहुभि गेया ओव्यो जन मनोहरा' ।
सानु प्रासंस्त्रिमि स्वर्ड्मण्डिता प्राकृतं पदं ।।[1]

देशी भाषा मे गाया जाने वाला तीन खण्डो से युक्त और अन्त मे ओवी पद आने वाला पद्य 'ओवी' कहलाता है। ये तीन पाद प्रासयुक्त होते हैं। अनेक प्रकार के छन्दो मे मनोहर ओवी पद गाया जाता है। 'उर्वीपद' तुर्वीपद', 'ऊवी पद' ऐसे तीन पाठ और मिलते हैं। मानसोल्लास मे 'ऊवी' रूप आया है। उर्वी=पृथ्वी के अर्थ मे, यह पद पृथ्वी का है अर्थात् देशज है ऐसा अर्थ सकेतित होता है। इस प्रकार इस छन्द का ऊवी, ओवी यह अभिधान तैयार हुआ।

ओवी का एक रूप अधिक नियत है तो अन्य दृष्टि से वह अनियत है। नियत अर्थात् जिसमे प्रथम तीन चरण यमक बद्ध और चौथा चरण प्राय तीनो मे अपेक्षाकृत छोटा रहता है। नियम ऐसा नही है, पर प्राय ऐसा पाया जाता है। इसमे प्रथम तीन चरण सयमक हो जाने पर चौथे चरण के मध्य के बाद पुन उसी अक्षर को साधकर और अन्य चार पाँच अक्षरो से ओवी छन्द पूर्ण हो जाता है। अनियत मे ओवी के प्रत्येक चरण मे कितने अक्षर हों इसका कोई नियम या बधन नही है। केवल सुर में गाये जाने योग्य होना ही इसकी विशेषता रही है। क्योकि महाराष्ट्रीय स्त्रियो के द्वारा इस अपौरुपेय लोक-वाङ्मय की निर्मिति प्राय अधिक मात्रा मे हुई है। अत इसे लोक गीतों वाला छन्द भी कहना चाहिए। ऐसी ओवियाँ प्राय नियत होती है। अनियत प्रायिक ओवी साढ़े तीन या साढ़े चार चरणो की भी मिलती हैं।

मराठी वैष्णव भक्त कवियो के साहित्य मे ओवी के उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं—

देशि येचेनि नागरपणे। शातु शृङ्गाराते जिणे।
वोवियां की होती लेणे। साहित्यासी ।।
× × ×
तो कृष्णार्जुन सवादु। नागरो बोलो विशदु।
सायोदाऊ बधु। वोवियें क्या ।।[2]

---

१ सगीतरत्नाकर ३०६–३०७–३०८ कुलानिधि टीका।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १० और अध्याय १३।

ज्ञानेश्वर ओवी को मराठी का विशेष छन्द मानते हैं तथा इसे आबाल सुलभ बद्ध गीतों के बिना रंग में ले आने वाला साधन और अस्मिता को जागृत रखने वाला छन्द मानते हैं। एकनाथ भी ज्ञानेश्वर की ओवियों के गुणों को जानते थे। उनका अभिमत है।

ज्ञानेश्वरी पाठी। जो ओवी करील मराठी।
तेणे सुवर्ण चिया ताटी। जाण नरोटी ठेविली॥

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर के बाद क्षेपक रूप में जो ओवी मराठी में रचकर, रखेगा वह स्वर्णजटित थाली में नारियल की कटोरी रखेगा ऐसा समझिये।

मराठी साहित्य भंडार ओवी बद्ध वाङ्मय से भरा पड़ा है और विविधता भी उसमें इतनी है कि नियमन नहीं किया जा सकता। मराठी का मुक्त छन्द भी ओवी में ही विकसित हुआ है। ज्ञानेश्वर की ओवियाँ अर्थानिबंधात्मक हैं तो एकनाथ की अधिक बंधात्मक। ज्ञानेश्वर की ओवी का प्रत्यचरण चतुरक्षरी, स्वैर और अनिर्बंध है, तो एकनाथ की ओवी की विशेषता यह है कि वह साढ़े चार चरणों, यमकों से युक्त और समतोल सूचक शब्द संहति में युक्त होती है।

एकनाथ का ओवी-विषयक अभिमत आध्यात्मिक ढंग में वर्णित है यथा—

'या शुक मुखाष्टके पवित्रा। ओंट चरणी विचित्रा।
वोविया नव्हती अर्धमात्रा। ओंढावी हे॥
ओवी दावली विवेकाते। पावन करी औंट हाते।
एक देशी सरते। व्यापका माजी॥'[1]

ओंकार में अ, ऊ और म ये साढ़े तीन मात्राएँ होती हैं। ओवी छंद के भी साढ़े तीन पाद होते हैं। मानव की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था और तुर्यावस्था होती है। इन्हें भी ओंकार से सम्बन्धित समझा जाता है। ओंकार में अर्धमात्रा सानुनासिक है। आध्यात्मिक दृष्टि से वह तुर्यावस्था का संकेत देती है। ब्रह्मानुभूति तुर्यावस्था में ही स्वसंवेद्य हो जाती है। ओवियाँ प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति का साधन मानिए, यह एकनाथ का भाव है। साढ़े तीन हाथ का शरीर धारण करने वाला ससीम मानव इस ब्रह्मानुभूति को कैसे आँक सकता है? अर्थात् तुर्यावस्था में सुषुप्ति स्वप्न और जागृति ये अवस्थाएँ समाहित हैं। एकनाथ ने व्यापक परमेश्वर को भी प्रत्यक्ष रूप से ओवी के उदात्त स्वरूप में निहित तथा उस अवस्था में कर दिया है।

अभङ्ग—*कन्नड कवि चौंडरस १३ वीं सदी में हुए थे। इनका कहना है कि* विठ्ठल विषयक ओवी-प्रबन्ध को अभंग कहते हैं। अभंग छोटे और बड़े दो प्रकार

---

१ शुकाष्टक ओवी संख्या २७-२८।

के होते हैं। छोटा अभंग सोलह अक्षरों का, दो समचरणों पर आधारित होता है। इसमें ताल-छन्दोभंग नहीं होता। अन्य रचनाओं में गण, यति, लघु, दीर्घ, विसर्ग आदि बातें रहती हैं जो बड़ी जटिल हैं। देखिए नामदेवकृत अभिमत—

'मुख्य मातृकाची संख्या। सोळा अक्षरे नेटक्या।
समचरणी अभंग। नव्हे ताळ छन्दो भंग॥
चौक पुलिता विसर्ग। गणपति लघु दीर्घ।
जाणे एखादा निराळा। नाना म्हणे तो विरळा॥'

—नामदेव कृत अभंग।

इसका अर्थ ऊपर ही अभिव्यक्त कर दिया है। फिर भी सार यह है कि विट्ठल का ध्यान जिस प्रकार समचरण में अभङ्ग है उसी तरह छोटे अभंग में ताल-छन्द भंग नहीं होता वरन् वह उनके परे अभंग है।

बड़े अभंग की रचना में अक्षर संख्या दीर्घ प्रचुर हुआ करती थी। बाईस अक्षर के साढ़े तीन भाग होते हैं। क्योंकि तीन चरण के १८ अक्षर और आधे के भाग के चार छः चरण हो जाने पर अभंग पूरा हो जाता है। मराठी वैष्णव कवियों में से प्रायः प्रत्येक ने अभंग लिखे हैं। परन्तु तुकाराम के अभंग विशेष प्रसिद्ध हैं क्योंकि इस गेय छन्द का तुकाराम ने विशेष रूप से प्रयोग किया है। अभंग किसी भी राग में गाया जा सकता है। कोई विशेष नियम इसके बारे में नहीं मिलते। तुकाराम कहते हैं कि अभंग में विट्ठल के गुण गाते-गाते मैं भी अभंग बन गया हूँ। अपने अभङ्गों को मैंने तोला तो वे अभङ्ग ही रहे। तुकाराम के अभङ्गों की गाथा इन्द्रायणी में डुबोयी गई थी, पर उन्हें वह अभङ्ग रूप में पुनः मिल गई। कहा जा सकता है ओवी छन्द यदि लोकगीत है तो अभङ्ग अध्यात्म गीत-छन्द है। मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य का प्रदेय, सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् राष्ट्रीय रूप में किस प्रकार का है, तथा इन वैष्णव भक्त कवियों ने समवर्ती और परवर्ती जीवन पर क्या प्रभाव छोड़ा, इसे उपसंहार के रूप में देखकर हम अपना निष्कर्ष समाप्त करेंगे।

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि व्यक्तिगत रूप में अपनी-अपनी परिस्थितियों में तथा सांसारिकता में उलझे हुए थे। जीवन की विषमता मुँह बाये उनको ग्रसने के लिए तैयार थी। माया मोह की मृग मरिचिका ने और दैनंदिन जीवन की आवश्यकताओं ने उन्हें पूर्ण रूप से घेर लिया था। जीवन की कठिनाइयों ने उनको परिव्याप्त कर लिया था। फिर भी ये समस्त मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि अपने पुरुषार्थ के बल से विषम परिस्थिति के ऊपर उठ गये थे।

पारमार्थिक जीवन का यथोचित आनंदोपभोग इन सब ने कर लिया। समन्वय और सहिष्णुता की भावना ने सबको प्रेम दिया और सबका प्रेम पाया भी। शिव-विष्णु उपासना का समन्वय, सगुण-निर्गुण का समन्वय, योग-ज्ञान का समन्वय, हिन्दु-मुस्लिम समन्वय, संस्कृत-देशज भाषाओं का समन्वय तथा आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण का समन्वय कर 'संहति कार्य साधिका,' इस उक्ति को इन्होंने सत्य रूप में चरितार्थ किया है। तद्युगीन समाज में आस्था-विश्वास और आस्तिकता को जागृत कर इन हिन्दी मराठी वैष्णव संतों ने समाज को स्वधर्माचरण में तत्पर किया। इससे संस्कृति सुरक्षित रह सकी। साहित्य वर्धिष्णु हुआ जनवादी कलाएँ जी उठीं। संगीत भक्ति सुधा से भर गया। राम और कृष्ण की राम लीला और रासलीला के रूप में जीवनोत्सव ही सामने आ गया।

इस युग में जीवन, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक रूप में ब्रह्म को व्यापक अनन्त सत्ता को स्वीकार कर चैतन्यमय बन गया था। पाखंडियों को और ज्ञान के अभिमानियों को इनकी स्पष्टोक्तियों ने धराशायी कर उनके दंभ का मूलोच्छेदन किया। इन सबकी वाणी ने युग धर्म को पहिचानकर जागृति का शंख फूंका है तथा अपने स्वानुभूत सत्य का तत्व बोध विवेकपूर्वक जनजन को कराया है। वैसे भौगोलिक मर्यादाओं का अर्थात् प्रान्तीय विशेषताओं का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में भासित होता है जो स्वाभाविक ही है। गंगा-यमुना के उर्वर प्रदेश में रहने से जो तरल और सरल भावधारा वही उसका प्रभाव हिन्दी के वैष्णव साहित्य पर पड़ा। यह भक्ति धारा रामभक्ति के आदर्शमय गंगा रूप में तथा कृष्ण भक्ति की यथार्थमय जमुना रूप में और ब्रह्मानुभूति के सरस्वती रूप में त्रिवेणी के समान जन-जन के हृदय-प्रयाग राज में एकत्र हुई। यह संगम अपूर्व और अनोखा था। महाराष्ट्र प्रदेश अपेक्षाकृत यथार्थवादी होने से तथा बुद्धिवादी और वीरप्रसू देश होने से कृष्ण-काव्य की एकान्तिक परम्परा उत्कर्ष का स्वरूप यहाँ नहीं दिखाई देता। पर परवर्ती काल में उत्तर भारत में इस उत्कर्ष का जो अपकर्ष हुआ उससे यह प्रदेश बचा रहा। रीतिकाल की ह्रासोन्मुखी धारा यहाँ उतनी प्रचुरता से और शीघ्रता से नहीं फैल पाई, जितनी हिन्दी भाषी प्रदेश में फैली। राधाकृष्ण प्रेम की तन्मयता जीवन का उदात्तीकरण सिखाती है जो हिन्दी वैष्णव काव्य की अपनी राष्ट्रीय-भावनात्मक-ऐक्य की देन है। इसे मराठी और हिन्दी का वैष्णव साहित्य अवश्य प्रदेय के रूप में दे सकता है। नारद और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, श्रीमद्-भगवद्गीता, श्रीमद् भागवत, रामायण, महाभारत से प्रभावित हिन्दी और मराठी वैष्णव संतों का साहित्य आज हिन्दी और मराठी भाषा-भाषी जनों के लिए ही

नहीं अपितु सम्पूर्ण देश के गौरव का विषय है। गीता ने हमें कर्मयोग सिखाया है, रामायण ने आदर्श और महाभारत ने यथार्थ। इनका समन्वित विवेचित आचरण व्यष्टि और समष्टि के लिए उपकारक और उपादेय है। हिन्दी जगत के विद्वान कवि एवं पूना निवासी हरिनारायण व्यास के 'भागवत पर कुछ विचार' इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है—

'श्रीमद् भागवत में गृहस्थाश्रम की अवहेलना नहीं की गई। उसमें वेद उसका महत्व प्रदर्शित करते हैं, तथा जीवन में उसे आवश्यक मानते हैं। श्रीमद् भागवत् भारतीयों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसने जन-जीवन को इतना प्रभावित किया है कि हमारे साहित्य, समाज और संस्कृति की जड़ में इस ग्रन्थ के तत्व मौजूद हैं। वेद कालीन उन्मेष कारिणी ऋचाओं में पुलकित होती हुई विचार-धारा 'श्रीमद् भागवत' में आकर व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संघर्षों का दर्पण बन जाती है।'[1]

हम श्री हरिनारायण व्यासजी के विचार से पूर्ण सहमत हैं। हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य का यह प्रदेय बड़ा अनमोल और महत्वपूर्ण है। वैष्णवी भक्ति का ही रूप है। भक्ति और वैराग्य के आदर्श आज के युग में भी जनता को एक ठोस आधार दिला देते हैं, जिस पर श्रद्धा और विश्वास से दृढ़ता पूर्वक खड़े होकर व्यक्तिगत उत्कर्ष और सामाजिक प्रगति सम्भव है। इस महत्ता को महर्षि अरविन्द ने बराबर पहिचाना था। श्री व्यास के ही शब्दों को हम पुनः उद्धृत करते हैं—

'आज के ज्ञान-विज्ञान का विकास मनुष्य का भौतिक मस्तक सम्हाल नहीं पाता। आत्मकल्याणार्थ प्राचीन योग पद्धति को अपनाकर आन्तरिक विधान से बचा जा सकता है।' अरविन्द का दर्शन कल्पना में दिव्य जीवन और दिव्यता पर विशेष बल देता है। रामकृष्ण के अवतारों में 'अति मानस' के अवतरण को उन्होंने देखा है। आज पृथ्वी पर जब 'अतिमानस' अवतरित होगा तब वह स्थिति आ सकती है।

यह कथन वास्तव में सही है। अतः शान्त चित्त से विचार करने पर मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के साहित्य का मर्म समझकर उसके तथ्य बोध को ग्रहण करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसे उपलब्ध करना एक मानवीय कर्तव्य सा लगता है। आज के युग में तो इस चीज की अतीव आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

१. श्रीमद् भागवत पर कुछ विचार—श्री हरिनारायण व्यास के एक शोध-निबन्ध से।

वास्तव मे सारे वैष्णव भक्त कवि महान् साहित्यकार और साधक थे। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा करोडो हृदयो को रसविह्वल कर तद्युगीन अत्याचारो से पिसी हुई जनता की वेदना को बराबर पहचान कर उसे दूर करने का अमोघ उपाय भी ढूँढ निकाला। कबीर, सूर, मीरॉ, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम और समर्थ रामदास के करुण स्वरों में जनता की मर्म-व्यथा ही अभिव्यक्त होती है। अपने हृदय-सागर मे स्थित अनुभूति की सीपी से चैतन्य के रूप मे सत्य का जो ओजस्वी मोती प्रकट हुआ था, उसे उन्होंने सौन्दर्य, शील और शक्ति के पानी से आवेष्टित किया। इन वैष्णव कवियों ने सत्य के इस विराट स्रोत को मानवीय बनाकर आदर्श और यथार्थ के दो कूलो मे अजस्र रूप से प्रवाहित किया है। यह कार्य जहाँ एक ओर अपने आप मे बडा ही भव्य एवम् दिव्य सिद्ध हुआ है, वहाँ इसके द्वारा ही दूसरी ओर भावनात्मक एकता की प्रतिष्ठा भी उस युग मे सम्भव हो सकी।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत भावना रही है अनैक्य मे ऐक्य की स्थापना, और संस्कृति के इस उद्घोष मे तथा इन वैष्णव कवियों मे एक सहज ही तारतम्य स्थापित रहा है, जो आज तक युग-युग की मान्यताओ को लाँघकर भी जनमन में प्रवहमान है। वस्तुत देखा जाय तो आज की भारतीयता को आवश्यकता भी इसी स्नेहानुबन्ध की है।

आज भी हिन्दी के एक प्रतिभावान तरुण कवि श्री ललितमोहन भारद्वाज के 'भारतवासी महान्' शीर्षक गीत की ये पंक्तियाँ हमारी उस चिरंतन भावनात्मक एकता की द्योतक हैं—

> 'गूँजे क्षिति अन्तरिक्ष, गूँजे यह आसमान।
> भारत माता की जय, भारतवासी महान॥
>
> संस्कृतियाँ बहुत गईं, अनगिन इतिहास रिले।
> अपनी श्रद्धा को नित नूतन विश्वास मिले।
> सद्भावों का उपवन, तृप्त और निस्पृह मन।
> भारत की माटी में साथ अश्रु हास खिले॥
>
> हमने निजको सबमें, सबको देखा निज में।
> कोटि जीव एक जान, भारतवासी महान॥'[1]

तुलसी ने जिस प्रकार सबको 'सियाराम-मय' देखा, तथा मराठी के वैष्णव कवियो ने जैसे सभी मे भगवान् के दर्शन किये उसी प्रकार आज भी प्रत्येक भारत-

---

[1] श्री ललितमोहन भारद्वाज—'भारतवासी महान' गीत से।

वास्तव में सारे वैष्णव भक्त कवि महान् साहित्यकार और साधक थे। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा करोड़ों हृदयों को रसविह्वल कर तद्युगीन अत्याचारों से पिसी हुई जनता की वेदना को बराबर पहचान कर उसे दूर करने का अमोघ उपाय भी ढूँढ़ निकाला। कबीर, सूर, मीरां, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम और समर्थ रामदास के करुण स्वरों में जनता की मर्म-व्यथा ही अभिव्यक्त होती है। अपने हृदय-सागर में स्थित अनुभूति की सीपी से चैतन्य के रूप में सत्य का जो ओजस्वी मोती प्रकट हुआ था, उसे उन्होंने सौन्दर्य, शील और शक्ति के पानी से आवेष्टित किया। इन वैष्णव कवियों ने सत्य के इस विराट स्रोत को मानवीय बनाकर आदर्श और यथार्थ के दो कूलों में अजस्र रूप से प्रवाहित किया है। यह कार्य जहाँ एक ओर अपने आप में बड़ा ही भव्य एवम् दिव्य सिद्ध हुआ है, वहाँ इसके द्वारा ही दूसरी ओर भावनात्मक एकता की प्रतिष्ठा भी उस युग में सम्भव हो गयी।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत भावना रही है अनेकत्व में ऐक्य की स्थापना, और संस्कृति के इस उद्घोष में तथा इन वैष्णव कवियों में एक सहज ही तारतम्य स्थापित रहा है, जो आज तक युग-युग की मान्यताओं को लाँघकर भी जनमन में प्रवहमान है। वस्तुतः देखा जाय तो आज की भारतीयता की आवश्यकता भी इसी स्नेहानुबन्ध की है।

आज भी हिन्दी के एक प्रतिभावान तरुण कवि श्री ललितमोहन भारद्वाज के 'भारतवासी महान्' शीर्षक गीत की ये पंक्तियाँ हमारी उस चिरंतन भावनात्मक एकता की द्योतक हैं—

'गूँजे क्षिति अन्तरिक्ष, गूँजे यह आसमान।
भारत माता की जय, भारतवासी महान॥
सस्कृतियाँ बहुत गईं, अनगिन इतिहास रिले।
अपनी श्रद्धा को नित नूतन विश्वास मिले।
सद्भावों का उपवन, तृप्त और निस्पृह मन।
भारत की माटी में साथ अश्रु हास खिले॥
हमने निजको सबमें, सबको देखा निज में।
कोटि जीव एक जान, भारतवासी महान॥'[१]

तुलसी ने जिस प्रकार सबको 'सियाराम-मय' देखा, तथा मराठी के वैष्णव कवियों ने जैसे सभी में भगवान् के दर्शन किये उसी प्रकार आज भी प्रत्येक भारत-

१ श्री ललितमोहन भारद्वाज—'भारतवासी महान' गीत से।

वासी यदि अपने में उस विराट के दर्शन करने लगे, तो भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म आदि के भेद-भाव कदापि न टिक सकेंगे। साथ ही मराठी तथा हिन्दी के वैष्णव कवियों के द्वारा प्रदत्त भावनात्मक एकता का मानवीय सन्देश हम यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकेंगे, यह सांस्कृतिक प्रदेय हमारे लिए एक अपूर्व निधि है तथा प्रत्येक हिन्दी-मराठी भाषा-भाषी के लिए गौरव का विषय भी है।

हिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य में इस ऐक्य के सम्यक् दर्शन पग-पग पर होते हैं। संत ज्ञानेश्वर में एक दार्शनिक, ज्ञानी, कवि और भक्त का हम ऐसा स्वरूप पाते हैं जो सच्चिदानंदमय भगवान् के चैतन्य की प्रदीप्ति प्रकट करने वाला है। ज्ञानेश्वर जैसे उच्च कोटि के साधक की इस उच्च स्तरीय अवस्था तक पहुँचना जन-साधारण के लिए कठिन हो जाता है। वैसे वे स्वयम् प्रयत्नशील रहे हैं कि मानव मात्र चैतन्यानुभूति को उपलब्ध कर ले।

मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वर की ज्ञानोत्तरी भक्ति तथा तत्वज्ञान को सम्यक् रूप में आत्मसात कर सर्व सुलभ करा देने का अद्‌भुत कार्य नामदेव करते हैं। नामदेव समाज के ऐसे निम्न स्तर में पैदा हुए थे, जहाँ लोगों को उच्च आध्यात्मिक ज्ञान और भक्ति का अधिकार प्राप्त न था। नामदेव ने मराठी भाषी जन-सामान्य को आध्यात्मिक ज्ञान और भक्तिमार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। और न केवल मराठी भाषी जन साधारण को ही यह पथ उपलब्ध कराया अपितु हिन्दी भाषी प्रदेश में—सुदूर पंजाब में—आकर अपनी ज्ञानोत्तरी भक्ति का सन्देश व्रजभाषा में दे, हिन्दी भाषी जन साधारण को भी उसका आस्वाद प्रदान किया। भक्ति के इस अनमोल नैवेद्य को हिन्दी के प्रथम वैष्णव कवि कबीर ने शिरोधार्य कर (नामदेव के ऋण को) अपनी मान्यता प्रदान की। यही आगे चलकर संत परम्परा की निर्गुण ज्ञानाश्रयी साधना बनी।

वास्तव में नामदेव के कार्य को कबीर ने उत्तर भारत में और आगे बढ़ाया। ज्ञानेश्वर की शास्त्रीय, तात्विक, आध्यात्मिकता पूर्ण साधना, और नामदेव की प्रांजल भावमूलक भक्ति का अपूर्व समन्वय परम कारुणिक संत एकनाथ महाराज में अवतरित हुआ। जहाँ एकनाथ ने भागवती-भक्ति और अद्वैती ज्ञान के शास्त्रीय एवं आध्यात्मिक पक्ष को पाण्डित्यपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किया है, वहाँ नामदेव की उत्कट भक्तिजन्य भावुकतापूर्ण शैली भी उनकी कृतियों में विद्यमान है और यह भी लोकाभिमुख होकर देखा जाय तो एकनाथ की विवेकाश्रित नैतिकता ने स्वधर्म और स्वराज्य के लिए अनुकूल वायुमण्डल निर्माण किया। जनता ने इसे चिन्तनपक्ष और आचरण पक्ष में आत्मसात कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप भक्ति की अनन्यता को

ग्रहण कर उसे पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले जनता के कवि तुकाराम की अवतारणा हुई। फलतः शूद्र कुलोद्भव तुकाराम की उक्तियाँ साधना और व्यवहार में लोगों के जिह्वाग्र पर मडराती है।

दूसरी ओर समर्थ रामदास ने 'प्रयत्न' और 'कर्म योग' को भगवान् के अधिष्ठान, बल और दैवी प्रेरणा से सम्पन्न किया। आध्यात्मिकता सचेतन हो अपने पूर्ण स्वरूप में समर्थ में उद्‌भासित हुई है।

स्वराज्य और स्वधर्म के सम्यक स्फुरण ने उत्तर में भी एक दिव्य प्रेरणा दी। कबीर के भक्तिमार्ग को तुलसी ने अपनी लोकाभिमुख सगुण भक्ति-साधना से नवजीवन प्रदान किया। इसी भक्ति का भावोत्कट स्वरूप कृष्ण की मधुरोपासना से सूर और मीरां में प्रस्फुटित हुआ। एकान्तिक रूप में मीरां ने उसे चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया, तो सार्वजनीन रूप में सूरदास ने भक्ति की वह मधुर रागिनी छेड़ी जो तन्मयता के साथ जन-जन के रसिक हृदयों ने आनन्द विभोर हो सुनी और वे गद्‌गद् हो झूम उठे। आगे चलकर तुलसीदास ने अपनी उच्च स्तरीय चैतन्यानुभूति को एकनाथ की तरह युगधर्म बनाकर जन सामान्य तक पहुँचा दिया। अस्तु भावनात्मक एकता की यह अपूर्व प्रतिष्ठा हिन्दी और मराठी वैष्णव कवियों की भारत के लिए एक सार्वकालिक देन है।